व्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः । अर्थ–सुनने के योग्य माननेके योग्य वारं-वार ध्यानकरने के योग्य है ब्रह्म श्रवण के पश्चात् मनन व निदिध्यासन को कहा है तिससे केवल उपासनाविधिविषयतासंयुक्त शास्त्र से ब्रह्मका प्रमाण होना पायाजाता है अब इसका उत्तर व सिद्धान्त यह है कि कर्मफल के समान ब्रह्मज्ञानफल मोक्ष विधिसे प्राप्त होने के योग्य नहीं है क्योंकि कर्म व ब्रह्मज्ञान की विलक्षणता है शारीरिक वाचिक मानसिक तीनप्रकार का कर्म है अर्थात् कर्म्म व वाक्य व विचारसे प्रवृत्ति व निवृत्ति होती हैं कर्म दो प्रकारका जिज्ञासा की योग्य है एक धर्मकी प्रवृत्ति के लिये द्वितीय हिंसाआदि अधर्म की निवृत्तिके लिये यह अर्थ अनर्थ धर्म अधर्म के फल प्रत्यक्ष सुख दुःख शरीर वाक् मनसे भुज्यमान (भोगे जाते हुए) विषय व इन्द्रियसंयोगसे उत्पन्न ब्रह्मासे लेकर स्थावर पर्य्यन्त में प्रसिद्ध है मनुष्य से ब्रह्मा पर्य्यन्त देहवानोंमें सुख के हेतु धर्मका तारतम्य (न्यून व अधिक व अतिशय अधिक होना) वे ऐसेही ऊर्द्धगति व अधोगति में देहवानोंमें दुःख के हेतु (कारण) अधर्म का तारतम्य देखाजाता है अविद्या आदि दोषसंयुक्त धर्म अधर्म के तारतम्य (न्यून व अधिक भाव) के निमित्त से शरीर के उपादान पूर्वक सुख दुःख का तारतम्य श्रुति स्मृति न्याय से प्रसिद्ध है । अविद्या आदिदोष कहनेसे अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश (सब प्राणियों में प्राप्त मरण त्रास) से प्रयोजन है जबतक पुरुष शरीर व इन्द्रियों के अहङ्कार संयुक्त है तबतक अविद्या दोषजन्य जो सुख व दुःख हैं वह नहीं छुटते जैसा इस श्रुति में कहा है **न वै सशरीरस्य सतः प्रिया-प्रिययोरपहतिरस्ति।** पदार्थ–(न) नहीं (वै) निश्चयकरके (सशरीरस्य सतः) शरीरवान् सन्त के (प्रियाप्रिययोः) सुख दुःख की (अपहतिः) निवृत्ति (अस्ति) है. वाक्यार्थः–निश्चयसे शरीरवान् अर्थात् शरीरके अभिमानसंयुक्त सत्पुरुषके सुख दुःख का नाश नहीं है अर्थात् शरीर के अभिमानी अज्ञानसंयुक्त के सुख दुःख नहीं छुटते और शरीरके अहङ्काररहितको इसी श्रुतिके उत्तरभाग-में यह कहा है **अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः।** अर्थ–(अशरीरं सन्तं) शरीररहित अर्थात् शरीर के अभिमानरहित विदेह सन्त को(प्रियाप्रिये) सुख दुःख (न स्पृशतः) स्पर्श नहीं करते अर्थात् नहीं होते । सुख दुःख से अभिप्राय सांसारिक विषय सुख दुःख से है अर्थात् वैषयिक सुख दुःखोंका स्पर्श नहीं होता वैषयिक सुखसे परे जो सुख है उसका निषेध नहीं है शरीरअभिमान-रहित आत्मज्ञानी को मोक्षफलरूप जो सुख होता है वह किसी धर्म कर्म का फल नहीं है ज्ञानमात्र का फल है क्योंकि धर्म कार्य्य होने में सुख दुःख क प्रतिषेध नहीं प्राप्त होता । जो यह शंका हो कि कर्मके विचित्र दान (फलदान)

---

१ वाव यह अव्यय उपदेशके धारण कराने व स्मरणकराने के अर्थमें वाच्य होता है भाषामें यथार्थ अनुवाद नहीं होसक्ता इससे छोड दिया है यह श्रुति छान्दोग्य उपनिषदकी है.

के सामर्थ्य से शरीररहित हो मोक्ष को प्राप्तहोना भी धर्महीं का फल है तो मोक्ष को प्राप्तहोना साक्षात् किसी कर्म का फल नहीं है मोक्ष केवल आत्मा व परमात्मा के तत्त्वज्ञान होने व मिथ्याज्ञान के नाश होने ही से प्राप्त होता है क्योंकि मिथ्याज्ञानही से रागआदि दोषों से युक्त कर्मोंमें प्रवृत्त हो शरीर आदिके साथ जीव बंधको प्राप्त रहता है पारमार्थिकरूप से आत्मा शरीर व इन्द्रियों के सङ्गसे रहितही है जैसा कि बृहदारण्यकके उपनिषद्के अध्याय ४ ब्राह्मण ३ मंत्र १६ में यह वर्णन कियाहै **सयत्तत्रकिंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गोयंपुरुषः।** अर्थ-(सः) वह जीवात्मा (तत्र) तिसमें स्वप्नअवस्था में (यत् किञ्चित्) जो कुछ (पश्यति) देखता वा जानता है(तेन) उसके साथ अर्थात् उस स्वप्न में किये वा देखे हुये पुण्य व पाप के साथ(साथ)ही जिससे कि (अयं पुरुषः अनन्वागतः) यह पुरुष जीवसम्बंधरहित होताहै अर्थात् जीव को पाप व पुण्य नहीं लगता इससे (असङ्ग)सङ्गरहित है अर्थात् कर्मका सम्बंध मूर्त पदार्थ शरीरही के साथ होताहै आत्मा अमूर्त है इससे कर्मसे असङ्ग है तात्पर्य यह है कि जो आत्मा का साक्षात् पुण्य व पापके साथ मेल होता तो स्वप्न में भी परस्त्रीगमन आदि देखे हुये कर्मोंका दोष आत्मा को लगता परन्तु कोई स्वप्न में देखे व किये हुये पापका दोष नहीं मानता न उससे लोक में कर्त्ता को दण्ड दिया जाताहै न त्याग किया जाताहै इससे पुरुष अपने पारमार्थिक तत्त्वरूपसे असङ्ग है केवल अविद्या से शरीरअभिमानी हो कर्मफल भोगता है इससे अविद्या (मिथ्याज्ञान) के नाश होनेपर सर्व संसार विषयभोगसे विराग होनेपर व ब्रह्ममें श्रद्धा व प्रेम उत्पन्न होनेपर ब्रह्म के उपासना व ध्यानसे अपने ऐसे पारमार्थिक शुद्ध स्वरूपको जीवात्मा प्राप्त होकर जिस नित्यसुखरूप सम्पूर्ण क्लेशरहित मोक्षको प्राप्त होताहै वह मोक्ष केवल ज्ञान का फल है किसी कर्मका

---

१ शांकरभाष्य में जीव के असङ्ग होने के प्रमाण में इस श्रुति का पाठ ऐसा लिखा है "अप्राणो ह्यमनाःशुभ्रोऽसंगोऽयं पुरुषः"सो ऐसा पाठ नहीं है'असङ्गोयं पुरुषः'इस उक्त मंत्र का अवयव लेकर अप्राण इत्यादि यह अन्य मंत्र जो परमात्मा प्रतिपादक है उसमें मिलाकर उक्त प्रकारसे लिखा है इससे यथार्थ नहीं है अप्राणः इत्यादि यह मुण्डक उपनिषद्के मंत्र का उत्तर भाग है पूरा मंत्र वाक्य ऐसा है "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः"सो यह श्रुति ब्रह्मप्रतिपादनपर है शाङ्करभाष्य हीमें "विवक्षितगुणोपपत्तेश्च"इस सूत्र के भाष्य में यह लिखा है कि"अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः"अर्थ—प्राणरहित मनरहित शुद्ध निर्मल है यह श्रुति शुद्धब्रह्मके विषयमें है इससे स्पष्ट विदित होताहै कि अप्राण-आदिशब्दों के साथ जो 'असङ्गोयं पुरुषः' इतना यह भी एक श्रुति में मानाजाय तो पुरुष शब्द भी ब्रह्मही अर्थवाचक ग्राह्य होगा क्योंकि शुद्धब्रह्म विशेषणोंके साथ विशेष्य भी ब्रह्मही होना युक्त है । असङ्ग होनेमें जो स्वप्न का दृष्टान्त दिया है यह परीक्षक ज्ञानियोंके लिये यथार्थ होना विदित नहीं होता परन्तु लौकिक जनोंके समझाने के लिये कहा है जैसा कि हितैषी विशेषज्ञ पिता बुद्धिमान् पुत्रको गूढ आशय वर्णन करके समझाता है अज्ञानपुत्रको साधारण लोकदृष्टान्तसे समझाता है ऐसाही यह उपदेश समझना चाहिये ।

वेदान्तदर्शनम्.

व्यासमहर्षिमुनिप्रणीतम् ।

वेदान्ततत्त्वप्रकाशभाषाभाष्यसमेतम् ।

बाँदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामनिवासिश्रीमत्प्या-
रेलालात्मजश्रीमत्पण्डितप्रभुदयालुनिर्मित,

देशभाषाकृत-भाष्यसमेतम् ।

तदेतत्

खेमराज श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना

मुम्बय्यां

स्वकीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) यन्त्रालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

शके १८२४, संवत् १९५९.

वेदान्तदर्शनके अधिकरणोंका सूचीपत्र।

अथ प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः।

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः।

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः।

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

इति प्रथमोऽध्यायः ।

इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमःपादः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयःपादः ।

समाप्तश्चेदं वेदान्ततत्त्वप्रकाशभाष्याधिकरणविषयसूचीपत्रम्॥

॥ श्रीः ॥

वेदान्तसूत्रभाषाभाष्यस्योपोद्घातः ।

ॐ परमात्मने नमः ॥ सत्यं परं ब्रह्म विनम्य तत्त्वज्ञानोपदेशाय सुदेशभाषया । लोकोपकृत्यै परिभाव्य तत्त्वं वेदान्तभाष्यं सरलं विरच्यते ॥ १ ॥

अर्थ-सत्य परब्रह्म परमात्मा को प्रणाम करिकै तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मतत्त्वज्ञान वा आत्मविद्या जो जीव के कल्याण प्राप्त होने का वही एक द्वार है उसके उपदेशकेलिये लोक के उपकार के अर्थ अर्थात् लोकही में आसक्त पारलौकिक पारमार्थिक ज्ञान रहित मनुष्यों को पारमार्थिक आत्मज्ञानप्राप्तिरूप उपकार होनेके लिये वेदान्तदर्शन का तत्त्वार्थ (यथार्थ अभिप्राय) को विचार वा ग्रहण करके वेदान्तभाष्य को सरलतायुक्त उत्तम देशभाषा में निर्मित करताहूँ अर्थात् वर्णन करताहूँ ॥ १ ॥

१ भाष्य वर्णन करने के पूर्वही जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी व आवश्यक जानकर कुछ वेदान्त व उसके मतभेदनिर्णयविषयक व्याख्यान को लिखताहूँ उपनिषद् आत्मतत्त्वनिरूपणविद्या है अर्थात् आत्मा व परमात्मा के निरूपणकी विद्या है परन्तु उसमें मुख्यता केवल परमात्मा ब्रह्म की होनेसे ब्रह्मविद्या नाम से वाच्य होतीहै यह आत्मतत्त्व वेद के मंत्रसंहिताओं में संक्षेप से विवेचित (निरूपण कियागया) है ब्राह्मणभागरूप उपनिषद् में जिज्ञासु, श्रद्धालु, मुमुक्षुजनों को अच्छेप्रकार से समझ में आनेके लिये सरलरीति से वर्णन करने की इच्छा से शिष्य आचार्य उदासीन पुरुषों के सम्वाद व आख्यायिका (कथा) द्वारा इसका विशेष उपदेश कियागया है यद्यपि यह आत्मतत्त्व उपनिषद् ग्रंथों में स्पष्टता से उपदेश किया गया परन्तु विना तर्क व निर्णय के बुद्धिमानों को भी संदेह होगा यथोचित समझ में न आवेगा यह विचार कर उपनिषद् में उपदिष्ट आत्मतत्त्व के निर्णय के लिये श्रीमहर्षि व्यासजी ने तर्कसंयुक्त निरूपण करने के विषय में चार अध्याय में वेदान्तदर्शन को निर्मित किया । यह चतुरध्यायी शास्त्रमें काल की महिमा से द्वैत अद्वैत विशिष्टाद्वैतपर बहु मतवाद

---

१ लोकशब्दसे यहाँ लौकिक अर्थात् लोकबुद्धिवाले संसार में आसक्त मनुष्यों के कहने का तात्पर्य है विद्वान् लोकसे पर हैं यथा—न्याय में कहा है 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः' अर्थ—लौकिक व परीक्षक (विद्वान्) इस कथन से लौकिकों से विद्वानों को भिन्न किया है ॥

होजाने से यथार्थ अर्थ वा आशय क्या है इसके निर्णय में अच्छे बुद्धिमानों को भी भ्रम संदेह होना व निश्चय न होना विचार कर श्रीमहर्षि बोधायनजी ने अतिविस्तारसे विशिष्टाद्वैतपर वेदान्तसूत्रों का व्याख्यान किया और उसका ब्रह्मसूत्रवृत्ति नाम रक्खा इस आर्ष (ऋषिप्रणीत) वृत्ति को अवलम्बन करके ब्रह्मसूत्रों के अर्थ को समझे व विचार कियेहुये विशिष्टाद्वैत अनुयायी टङ्क द्रमिड गुहदेव आदि पूर्वआचार्य्यों ने शिष्यों की बुद्धि में सरलता से तत्त्वज्ञान प्राप्त होने के लिये वाक्य व भाष्य आदि ग्रंथों को बनाया और अपने ग्रन्थों में अनेक स्थलों में प्रमाण के लिये उक्तवृत्ति के प्रतीक को रक्खा है उक्तवृत्ति जो वेदान्तदर्शन के निर्णयविषयमें उद्धाररूप ज्ञात होनेसे अत्यन्त प्रचारको प्राप्त हुईथी वह बहुत विस्तारयुक्त होने से बहुत अल्पायु पण्डित बुद्धिमानों से उसका पढ़ना पढ़ाना व लिखना छूट गया, कोई अधिक परिश्रम व समय की आवश्यकता जान कर उसके पढ़ने आदि को छोड़ दिया इसीप्रकार से छूटते जाने व प्रचार कम होते जाने से कुछ काल में नाश को प्राप्त होगई श्रीमद्रामानुजाचार्य्य के होने से पहिलेही इसका नाश होगया था ऐसा विदित होता है क्योंकि श्रीरामानुज स्वामी ने आपही अपने शारीरक मीमांसाभाष्य के आदि में यह लिखा है कि, भगवान् बोधायनजी की अतिविस्तार से बनाई हुई जो ब्रह्मसूत्रवृत्ति थी उसको पूर्वाचार्य्यों ने संक्षिप्त करके वर्णन किया है उनके मत के अनुसार में सूत्रों के अक्षरों का व्याख्यान करूंगा । उक्तवृत्ति पूर्वाचार्य्यों के ग्रंथों में पाठरूप से और कहीं उसके अर्थव्याख्यानरूप से स्थापित की गई है । वेदान्तसूत्रों के यथार्थ अर्थ समझने में वह वृत्ति आचार्यों को परम शरण वा आधाररूप हुई है । उपनिषद् में वर्णित श्रुतियों का आशय वेदान्तसूत्रों के अर्थनिरूपणही से निरूपित होजाना समझकर टङ्क द्रमिड आदि आचार्य उपनिषदों के पृथक् अर्थनिरूपण में प्रवृत्त नहीं हुये अर्थात उनने पृथक् उपनिषदों के भाष्य को वर्णन नहीं किया परन्तु महर्षि बोधायनजी ने ब्रह्मसूत्रों के समान गीतासहित उपनिषदों का भी व्याख्यान किया है उक्त महर्षि की व्याख्या वा वृत्ति को श्रीशङ्कराचार्यजी ने अपने गीता उपनिषद् व ब्रह्मसूत्रों के व्याख्यानों में अनेक स्थलों में खण्डन किया है । उक्त आर्षवृत्तिमें वर्णित ऋषिसंमति से सिद्ध विशिष्टाद्वैत मत ही युक्त व अतिप्रसिद्ध है जो आर्षवृत्ति ग्रंथ सब आचार्य्यों को परम आधार व प्रमाणरूप था व प्राप्त होने में अब भी ऐसाही है, उस के आर्ष होनेपरभी श्री शङ्कराचार्यजी ने अपनी प्रसिद्धि वा अपने मत प्रचारके लिये उसको विरुद्धपक्षमें स्थापन करके उसके विपरीत व्याख्यान किया है उपनिषदों का अर्थ जो शङ्कराचार्य जी ने ऋषिप्रणीत वृत्ति के विरुद्ध अद्वैतपक्ष में वर्णन कियाहै उसमें उनको केवल भर्तृहरिभाष्य ही उपजीव्य है जो यह ज्ञात होताहै श्रीभर्तृहरिजी का बनाया हुआ है शांकरभाष्यसे पहिले कोई अद्वैतमतविषयक व्याख्यान या उसका उपजीव्य

था इसका निश्चय नहीं होता अर्थात् अद्वैतमत उक्त ऋषि व पूर्वाचार्योंकी अपेक्षा आधुनिक है भर्तृहरि व श्रीशङ्कराचार्य ही के समयसे प्रचलित होना विदित होता है श्रीबोधायन ऋषिके मतसे सिद्ध विशिष्टाद्वैत ही को सब टङ्क द्रमिड गुहदेव आदि व रामानुजाचार्यने स्वीकार किया है इससे यही यथार्थ व मन्तव्य है क्योंकि ऋषि व बहु आचार्योंकी सम्मतिसे एक वा दो विद्वानोंकी सम्मतिकी श्रेष्ठता नहीं हो सकी और तर्क, हेतु व युक्ति द्वारा भी सर्वथा अद्वैतका मानना युक्त होना सिद्ध नहीं होता । विशिष्टाद्वैतप्रतिपादक महर्षि व आचार्य, भेदअभेदप्रतिपादक श्रुतियोंका अर्थ व आशय अच्छे प्रकारसे समझमें आनेके लिये अभेदप्रतिपादक श्रुतियोंका आशय प्रलय कालमें जब चित् (जीवात्मा) व अचित् (प्रकृति जगत्का कारण) सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें प्राप्त होनेसे ब्रह्मसे भिन्न लक्ष्य व व्यवहार के योग्य नहीं होते चित् व अचित् विशिष्ट एक ब्रह्मही वाच्य होता है ऐसे ब्रह्म के वर्णन करने का, और भेदप्रतिपादक श्रुतियों का स्थूल जगत् पृथक् विद्यमान होने की अवस्था में ब्रह्मके प्रतिपादन करनेका, और निर्गुणप्रतिपादक श्रुतियों का आशय नैर्घृण्य (निर्घृण होना) व वैषम्य (विषम होना) आदि जे दुर्गुण त्याग के योग्य हैं उनकी प्रसक्ति (मेळ) से रहित होने का, व सगुण कहनेवाली श्रुतियोंका अतिशय शक्तिमान् सर्वज्ञ होने आदि गुणोंसे संयुक्त होने का, वर्णन करते हैं, जीव का अणु स्वरूप होना, परमात्मा का विभु रूप (व्यापक) होना, जगत का सत्य होना, जगत्के मिथ्या कहने का तात्पर्य जगत्के पारिणामिक (रूपान्तर को प्राप्त होनेवाला) होनेसे स्थिर न रहनेसे अनित्य बोध करानेका उपदेश चित्तमें वैराग्य होनेके लिये उपयोगी होना प्रतिपादन करते हैं । चित् अचित् व ईश्वर इन तीन तत्त्वों में चितों का (जीवोंका) अनन्त होना व बंध मोक्ष के योग्य होना अर्थात् अयथार्थज्ञानरूप अनादि अविद्या से जीवों का बंध और उपासना से परमात्मा ब्रह्म के प्रसाद से अविद्या की निवृत्ति में मोक्ष होना, अचित् (प्रकृति वा प्रधान) का निरन्तर परिणामधर्मवाला होना, और ईश्वर को वैषम्य नैर्घृण्य आदि दुष्ट गुणों से शून्य सब जगत् व्यापार करने को समर्थ अनवधिक (जिससे अधिक अन्य न हो) अतिशय असंख्येय (संख्या के योग्य नहीं) कल्याण गुणों का आकर होना ऐसेही अन्य उत्तम गुणों संयुक्त मानते हैं विशिष्टाद्वैत प्रतिपादक महर्षि व आचार्यों के मत में कहीं मिथ्या प्रतिपादन विदित नहीं होता प्रत्युत सत्यही का प्रतिपादन है परन्तु जीवात्मा के अणु होने वा विभु होने का तथा उपाधिमात्र से परमात्मा ही जीवात्मा है वा होजाता है जैसा अद्वैतपक्षवादी वर्णन करते हैं अथवा जीवात्मा व परमात्मा जातिमात्र से एक हैं व्यक्ति से भिन्न हैं इसका निर्णय करना जिज्ञासुओं के लिये विशेष आवश्यक है क्योंकि आत्मा के अणु होने का व विभु होने का दोनों प्रकारका वर्णन उपनिषद् वाक्यों में उपलब्ध होता है (पायाजाता है) यथा विभु होने में यह वर्णन है-"योयं

विज्ञानमयः प्राणेषु, अर्थ-जो यह प्राणों में विज्ञानमय है ऐसा जीवात्मा को कहकर यह कहा है-**स वा एष महानज आत्मेति.** अर्थ-वह यह महान् (व्यापक) अज (जन्मरहित) आत्मा है अणुत्वविषय में यह वाक्य है-**एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः** इत्यादि, अर्थ-यह अणु (सूक्ष्म) आत्मा चित्त से जानने योग्य है इत्यादि इससे और ऐसा ही अन्य वाक्यों से यह संशय होता है कि, दोमेंसे क्या मन्तव्य है (मानने योग्य है) इस संशयके निवृत्त होने के लिये अभी यहाँ उपोद्घात में संक्षेप से प्रतिपक्ष के स्थानमें 'शङ्का' शब्द व उसके उत्तरमें 'उत्तर' शब्द कोष्ठ में रख कर समाधान को वर्णन करते हैं (शङ्का) आत्मा को अणु मानना युक्त नहीं है क्योंकि-**स वा एष महानज आत्मेति.** अर्थ-सो यह आत्मा महान् (व्यापक) अज (जन्मरहित) है **आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः.** अर्थ-आकाश के समान सर्वत्र व्यापक नित्य है ऐसा उपनिषद् वाक्यों में अर्थात् उपनिषद् में वर्णित श्रुतियों में वर्णन किया है तथा कणाद ऋषिने वैशेषिकदर्शन अध्याय ७ आह्निक १ सूत्र २२ में यह वर्णन किया है-**विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा** अर्थ-सर्वत्र होनेसे जैसा आकाश व्यापक है ऐसाही आत्मा है और महात्मा कपिलदेवजी ने सांख्यदर्शन में आत्मा को विभुत्व अंतःकरण उपाधिमात्र से आत्मा का गमन आगमन वाच्य होना वर्णन किया है यथा-**गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत्** अ० १ सू० ५१ अर्थ-गतिप्रतिपादक श्रुति भी आकाश के समान उपाधियोग से है आशय यह है कि, जैसे व्यापक आकाश चलना नहीं है तथापि घट के चलने में घटाकाश अर्थात् घटाकार आकाश का चलना विदित होता है वा कहा जाता है ऐसेही अंतःकरण उपाधियोग से व्यापक आत्मा की गति वर्णन करनेवाली श्रुति है अर्थात् घटाकाश के गमन के समान आत्मा की गति श्रुति में वर्णित है तथा न्यायदर्शन में-**युगज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः** आह्नि० २ सूत्र २० अर्थ-एक साथ अनेक ज्ञेयं पदार्थों की उपलब्धि न होने से मन का नहीं है अर्थात् ज्ञान मन का गुण नहीं है आशय यह है कि, एक साथ अनेक पदार्थों का ज्ञान न होना यह मन का लक्षण है मन अनेक पदार्थों को एक समयमें ग्रहण नहीं करसक्ता आत्मा अपने ज्ञान से अनेक पदार्थों को भी एक समय में जानता है इससे ज्ञान आत्माही का गुण है मनका गुण नहीं है इस सूत्र के भाष्य में श्रीवात्स्यायन ऋषि ने यह वर्णन किया है-**योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि निर्माय तेषु तेषु युगज्ज्ञानान्युपलभंते तच्चैतद्विभौ ज्ञातर्य्युपपद्यते नाणौ मनसीति**, अर्थ ऋद्धि उत्पन्न होने अर्थात् प्राप्तहोनेमें करणों की (इन्द्रियोंकी) अपेक्षारहित अर्थात् शरीरविशेष में प्राप्त इन्द्रियों की अधीनता रहित योगी योगबलसे इन्द्रियोंसहित अन्य शरीरों को उत्पन्न करके उन अनेक शरीरों में एकसाथ अनेक ज्ञानों को प्राप्त करता है अर्थात् अनेक पदार्थोंको जानताहै सो ऐसा

१ प्रकृतकी सिद्धिके लिये जो चिन्तन वा विचार है उसको उपोद्घात कहते हैं ।

विभु ज्ञाता आत्मा में होना संभव है वा सिद्ध होता है मन अणु में ऐसा नहीं होसक्ता तथा महाभारत में भी ऐसा वर्णन है-**आत्मनो वै शरीराणि बहूनि मनुजेश्वर ॥ योगी कुर्य्याद्बलं प्राप्य तैश्च सर्वां महीं चरेत् ।** अर्थ-हे मनुजेश्वर!(राजन्)योगी योगबल को प्राप्त करके आत्मा से बहुत शरीरों को उत्पन्नकरै और उन शरीरोंसे सब पृथिवीमें विचरै अर्थात् ऐसा करसकने से योगी अनेक शरीर धारण करके अनेक स्थान में विचरताहै विना विभु हुये ऐसा करना वा होना संभव नहीं होसक्ता क्योंकि अणु सूक्ष्मदेश मात्र में चेष्टा वा व्यापार करसक्ता है सब देहों में सम्पूर्ण देह मात्र में भी व्यापार नहीं करसक्ता न सब देह के अवयवों में प्राप्त पदार्थों को जान सक्ता है सहस्र कोस में विद्यमान पदार्थ को योगी देखता है और वहां शरीर व इन्द्रियों का सामर्थ्य नहा है इससे विभु होना सिद्ध है यह अनेक ऋषिवाक्यों के देखने वा मिलने से और आत्माके उक्त सामर्थ्य से यही विदित होता है कि, आत्मा विभु है परन्तु अंतःकरण उपाधि प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न होने से उपाधिभेद वा योग से भिन्न भिन्न शरीरों में पृथक् पृथक् विषयों का व दुःख सुख का ज्ञान होता है और इसीसे यह भी सिद्ध होता है कि. आत्मा व परमात्मा दो नहीं हैं विभु (सर्वत्र व्यापक) परमात्मा ही उपाधि योग व भेद से घटाकाश मठाकाश के समान जीव शब्द से वाच्य होता है (उत्तर) उक्त वाक्यों से यद्यपि विभु होना ज्ञात होताहै परन्तु अच्छे प्रकार से पूर्वापर वेदान्तवाक्यों वा श्रुतियों का आशय विचारने व युक्ति हेतु से निर्णय करने से जीवात्मा का विभु होना सिद्ध नहीं होता वाक्यों को देखकर साधारण स्थूल दृष्टि से सिद्धान्त मान लेने से तत्त्व का निर्णय नहीं होता विशेष विचार व सूक्ष्मदृष्टि से निर्णय करना चाहिये-**स वा एष महानज आत्मा।** अर्थ-वह यह आत्मा व्यापक वा जन्मरहित है इसको विभु होने के प्रमाण में कहना युक्त नहीं है यह श्रुति परमात्मा के वर्णन में है जैसा कि. वेदान्तसूत्रों के निर्माता श्रीमहर्षि व्यासजी ने आपही-**नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्।** अर्थ-अणु होने के विपरीत श्रुति होने से आत्मा अणु नहीं है जो ऐसा माना वा कहा जावै तो इतर अर्थात् अन्य जो परमात्मा है उसका अधिकार होने से आशय यह है कि, यह आत्मा महान् अज है तथा आकाश के समान सर्वत्र प्राप्त नित्य है ऐसा विभुत्वप्रतिपादक श्रुतियां प्रकरण में मुख्य लक्ष्य व उपास्य परमात्मा का उपदेश करना इष्ट होने से परमात्मा का अधिकार होने से परमात्मा ही के विषय में हैं जीवात्मा के प्रतिपादन में नहीं हैं इससे जीवात्माके अणु होने का प्रतिषेध नहीं होता जीव के अणुत्वप्रतिपादन में यह श्रुतियां प्रमाण हैं-**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।** अर्थ-(यस्मिन्) जिसमें अर्थात् जिस शरीरमें (प्राणः) प्राण (पंचधा) प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान पांच प्रकार के भेदों से (संविवेश) अच्छे-प्रकार से प्रविष्ट हुआ है उसमें (एषः अणुः आत्मा) यह अणु आत्मा (चेतसा)

चित्त से वा ज्ञान से (वेदितव्यः) जानने योग्य है इत्यादि तथा-**वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ॥ भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।** अर्थ-बाल के अग्रभाग के सौ भाग के सौ भाग कल्पना किये गये का जो भाग है वह जीव का परिमाण जानने योग्य है और वह जीव अनन्त होने के लिये कल्पना किया जाता है अर्थात् मुक्त अवस्था व योगसिद्ध होनेकी अवस्थामें परमात्मा में प्राप्त प्रकाशद्वारा सूर्य्य के समान अपने ज्ञान गुण व सामर्थ्यसे सर्वत्र व्याप्त होनेसे अनन्त सामर्थ्य ज्ञानवान् होनेसे अनन्त होने के लिये कल्पना किया जाता है इससे जीवात्मा अणुपरिमाणही है अणु होने में सब देह में व्यापक न होनेसे सब देह वा देहके अवयवोंमें प्राप्त पदार्थों का ज्ञाता न होसकने व योगीको सिद्धि ऋद्धि प्राप्ति न होसकनेकी शङ्काका उत्तर यह है कि, योग सिद्ध होने व मुक्त होनेकी अवस्थामें जो विभुत्व वर्णन किया गया है उसका आशय यह है कि. बंधअवस्थामें राग द्वेष मोह व दोषोंसे युक्त अविद्या आवरणसे जीवात्माका ज्ञान संकुचित रहता है शरीरमें अपने ज्ञान गुणसे व्याप्त व स्थित इन्द्रियों से ज्ञेय द्रव्यमात्रको इन्द्रियद्वारा जानता है योगबल प्राप्त होनेमें शुद्धस्वरूप होनेसे विना शरीर देशके बंधके आत्माका ज्ञान व सामर्थ्य सब देशमें प्राप्त होता है आत्माका विभुत्व प्रदीप अर्थात् एकदेश में स्थित सब गृहमें अपने प्रकाशसे प्रदीपके व्याप्त होनेके समान देहके एक देशमें स्थित आत्मा सब देहमें प्राप्त इन्द्रियों से प्राप्य वा ज्ञेय पदार्थोंको जानता है योगसिद्ध होनेकी अवस्थामें जैसे अपने कक्षामें स्थित भी सूर्य्य अपने किरणों से सब जगत्को स्पर्श करता है ऐसेही अपने ज्ञान व शक्तिविशेषसे योगी सब स्थानमें प्राप्त होताहै व सब पदार्थोंको जानता है मुख्य सिद्धांत यह है कि. शरीरअभिमान बंधरहित योगी आत्मा सर्वव्यापक परमात्माके योगविशेष को प्राप्त होताहै परमात्माके प्रसाद वा अनुग्रहको प्राप्त उसके योग व सहायतासे संसारी जीवोंकी अपेक्षा अपरिमितज्ञान व सामर्थ्यवाला होता है इसीसे अनेक शरीरोंके धारण करने भूमण्डल व लोकान्तरके पदार्थोंके जानने व वहां प्राप्त होने की शक्ति योगियों में वर्णन की गई है श्रुतिविषयक शङ्काका उत्तर वर्णन करनेके अनन्तर अब कणादआदि ऋषियों के सूत्र व वाक्य सम्बंधी शङ्का का समाधान वर्णन किया जाता है सर्वत्र होने से जैसे आकाश महान् (व्यापक) है ऐसेही आत्मा है यह जो कणादजीने कहा है इसमें आत्मा शब्दमात्र कहा है आत्मा शब्द जीवात्मा व परमात्मा दोनों का वाचक है आत्मा शब्द से दोमें से एक को यथेष्ट वा दोनों को ग्रहण करसक्ते हैं इससे जीवात्मा का विभु होना संभव न होनेसे यहां आत्मा शब्द से परमात्माही को ग्रहण करना चाहिये अथवा यह सिद्धान्त मानना चाहिये कि, आत्मा शब्दमात्र से आत्मा जातिको व्यापक कहा है क्योंकि परमात्मा हो वा जीवात्मा हो कोई स्थान ऐसा नहीं है जहां आत्मा जातिपदार्थ न हो इससे आकाशके समान आत्मा

जातिपदार्थ जो जीवात्मा व परमात्मा दोनोंमें सम्बंध रखता है वह व्यापक है जीवात्माको विभु नहीं कहा क्योंकि महात्मा कणादही ने प्रथम तृतीयाध्याय आह्निक २ सू० ४ में जीवात्मा का यह लक्षण वर्णन किया है-**प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर-विकाराःसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि**। अर्थ-श्वासका ऊपर आना, नीचे जाना, पलकों का खुलना व बन्द होना, जीना (प्राण का धारण करना) मनका व्यापारहोना, एक इन्द्रिय से ज्ञातहुये विषय में अन्य इन्द्रिय में विकार होना, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष व प्रयत्न का होना ये आत्मा के लिङ्ग (चिह्न) हैं यह लक्षण कहनेही से जीवात्मा का विभु न होना सिद्ध है क्योंकि आकाश के समान विभु होने में सब शरीर इन्द्रियों से ज्ञेय सब पदार्थों का ज्ञान आत्माको होना चाहिये ऐसा नहोने व शरीर विशेष मात्रमें ज्ञाता होनेसे उक्तलक्षणसे आत्मा परमात्माके समान विभु नहीं है यह विदित होता है पूर्वही विभुता के विरुद्ध लक्षण वर्णन करके फिर विभु कहनेमें अपनेही कहेहुये के विरुद्ध कथन होगा इससे परमात्मा सर्वव्यापक को अथवा आत्माजातिमात्र को सप्तमाध्याय में आकाश के समान विभु होना वर्णन किया है यह निश्चय करना चाहिये परन्तु आत्मा को विभु कहकर उसके आगे सूत्र में-**तदभावादणुमनः**। अर्थ-उसके अर्थात् विभुत्वके अभावसे मन अणु है यह वर्णन किया है मन का व जीवात्माही का सम्बंध है इससे जीवात्मा ही को विभु कहकर उसके सम्बंधी मन को वर्णन किया है ऐसा अनुमित होने से जीवात्माही को महान् कहाहै यदि ऐसा माना जावै तो यह युक्त नहीं है क्योंकि सब अनन्त आत्माओं को आकाश के समान महान् मानने में सब शरीर व अन्तःकरणों का सुख दुःख सब आत्माओं को होना चाहिये और सब आत्मा सब आत्माओं में परस्पर मिले व गुथे ठहरेंगे ऐसा मानना युक्त नहीं है यदि अनेक आत्मा न मानकर ऐसा मानाजावे कि, एकही व्यापक आत्मामें अनेक अंतःकरण होनेके भेदसे अनेक जीव माने जाते हैं तो कणाद मुनिका मत ऐसा नहीं है क्योंकि वह आपही एक न मानकर अनेक होना वर्णन किया है यथा-**व्यवस्थातो नाना**। अर्थ-अवस्थाभेद होने से अनेक हैं (आत्मा अनेक हैं) अर्थात् एकही में नाना प्रकार का अवस्था भेद नहीं हो सक्ता अवस्थाओं के भेदसे आत्मा अनेक हैं इससे जीवात्माका विभु मानना युक्त नहीं है उक्त हेतु-ओंसे कणाद मुनिका भी आशय जीवात्माके विभु कहने का सिद्ध व अनु-मित नहीं होता और केवल आत्मनिरूपण उक्त महात्मा का विषय नहीं था सामान्य से पदार्थनिरूपण प्रकृत था प्रसंगसे साधारण आत्माजातिमात्रके परिमाण को वर्णन कर दिया है। जीवात्मा व परमात्मा के विचार का मुख्य शास्त्र वेदान्त है जो जिस मुख्य विषय व पदार्थके निर्णय करने में प्रवृत्त होता है वही उसका विशेष विचार व निर्णय करता है इससे वेदान्तसे अर्थात् व्यास

जीके कहेहुये ब्रह्मसूत्रोंसे सिद्ध और उसके उक्त पूर्व भाष्यकारोंके व्याख्यान से अणु होना प्रतिपादित है और युक्ति व हेतुसे भी यही सिद्ध होताहै इससे यही मानने योग्य है । अब आत्माके परिमाण विषयमें कपिल मुनि के मत का विचार किया जाता है विचारने से यह विदित होता है कि, उक्त मुनि ने पूर्वोक्त सूत्रमें उपाधिभेद से आकाश के समान अर्थात् विभु आकाश का घटादि उपाधि हेतु से घटाकाश आदिके चलने के समान आत्मा के गमन के वर्णन में श्रुति है यह वर्णन किया है और—**जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्** अर्थ— जन्मआदि व्यवस्था से अर्थात् जन्म मरण स्वर्ग नरक गमन बंध मोक्ष दुःख सुख होना आदि अनेक अवस्थाभेदसे पुरुषों का बहुत होना सिद्ध होता है अर्थात् पुरुष बहुत हैं इस वर्णनसे जीवात्माओं का अनेक होना माना है इससे अनेक आत्मा आकाशके समान व्यापक मानना सिद्ध हुआ इसमें पूर्वोक्तही प्रतिषेध अर्थात् सब चेतनों का सब शरीर व इन्द्रियों में योग होने से सब शरीर व इन्द्रियों में सर्वत्र सुख व दुःख का साथही बोध होना चाहिये और बंध मोक्ष भी एक ही साथ वाच्य होना चाहिये यदि अदृष्ट नियमसे भेद होना माना जावे तो साङ्ख्यदर्शन के वक्ता कपिलमुनि जो आत्माको विभु व अनेक मानते हैं वह आत्माको अकर्ता नित्यमुक्त मानते हैं अंतःकरण बुद्धिही को कर्ता भोक्ता मानते हैं कर्ताही को कर्मफल का भोग भी होना चाहिये इससे कर्ता व भोक्ता होना दोनों अन्तः-करणही में घटित होना चाहिये परन्तु अंतःकरण जड पदार्थ में दोनों संभव नहीं होसक्ते जो जपाकुसुम (गोडहर का फूल) के रंगका आभास स्फटिकमें बोध होने के समान जड प्रकृतिके कार्यरूप अंतःकरण से कियेहुये कर्म व उसमें प्राप्त हुये सुख दुःखरूप भोग का मिथ्याज्ञान से आत्मा में आभास होना आत्माका भोग है और चेतन पुरुष के संयोग से बुद्धि में चेतनता व कर्तृत्व शक्ति होती है ऐसा सांख्याचार्य के मतानुसार मानलियाजावे तो विभु होने से सब चेतनों का संयोग सब अंतःकरणोंके साथ एकही समान है पुरुषचेतन का कर्म व भोग के साथ सम्बंध न होने से अदृष्ट नियम होनेकाभी कोई हेतु जिससे विशेष जड अंतःकरण का आत्मा के साथ सम्बंध होवे नहीं होसक्ता क्योंकि जड अंतःकरण के किये-हुये कर्म का भोग मिथ्याज्ञान से वा किसीप्रकार से विना हेतु चेतनपुरुषमें न होना चाहिये और सृष्टि होने व मिथ्याज्ञान प्रथम होने का कोई हेतु होना चाहिये जो सांख्यमें वर्णन कियेहुये के अनुसार कि, प्रकृति अपने पारमार्थिक बंधके मोक्षके लिये व पुरुष के मिथ्याज्ञानसे हुये बंध के मोक्ष के लिये सृष्टिको करती है और मिथ्याज्ञान विना किसी हेतु आपही से हो जाता है तो जड प्रकृतिका अपने व परके मोक्ष व बंध का विचार करना व अनेक नियमयुक्त विचित्र सृष्टिकी रचना करना असंभव है व श्रुतिविरुद्ध है और मिथ्याज्ञान स्वाभाविक होने में उसके हेतुसे हुये बंधसे कभी मोक्ष न होना चाहिये और आत्मा को विना उसके कर्मसम्बंध अकस्मात् स्वाभाविक भोग होने में विना हेतु विशेष सब अंतःकरणों का संयोग व सब प्रकारके सुख दुःख

आदिका भोग सब आत्माओंको होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता इससे आत्मा को अणु मानना व एकदेशमें स्थित होनेपर भी अपने प्रकाशसे देशान्तर में व्यापक तेजवान् द्रव्य मणि, प्रदीप, व सूर्य्य के समान शरीर के हृदय देशमें स्थित अपने ज्ञानगुणसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होना व कर्ता होना मानना युक्त है कणाद व कपिल तथा अन्य ऋषि महात्माओं का भी वर्णन उनके कहेहुये हेतुओंसे वा उनके श्रेष्ठ माननीय होने से सामान्य से प्रतिषेधके योग्य न समझेजानेपर भी उनके मत के विरुद्ध मानने के विषय में मुख्य सिद्धान्त यह है कि, श्रुति जो सब से उत्कृष्ट व सबको माननीय है उसके विरुद्ध न होना चाहिये उसके विरुद्ध न होने का व श्रुतिमें अणुत्व प्रतिपादन होनेका प्रथम वर्णन कियागया है उक्त ऋषियोंके मतके विरुद्ध भी जो किसी श्रुति विरुद्ध कहेहुये अंशमें माना जावे तो दोष नहीं है क्योंकि उक्त महात्माओं ने कहीं कहीं विना वेदकी सम्मति का विचार रक्खे केवल अपने विचार व अनुमान से लिखाहै यथा प्राण अपान इत्यादि इस आत्मा के लक्षणमें वर्णन किये हुये पूर्वोक्त सूत्र में ज्ञान शब्द आत्माके लक्षण में न कहने व मनही के सन्निकृष्ट होने व न होने में आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होना व न होना आदि वर्णन करने से कणाद जीका आत्माको स्वयं ज्ञानस्वरूप वा ज्ञानवान् होना न कहना वा न मानना और कपिलदेवजीका प्रकृतिका सृष्टिकर्ता होना व ईश्वर के कर्ता होने आदि का प्रतिषेध करना आदि इसीसे महात्मा पाराशर ने यह कहा है—**अक्षपादप्रणीते च काणादे सांख्ययोगयोः ॥त्याज्यः श्रुतिविरुद्धोंशः श्रुत्येकशरणैर्नृभिः। जैमिनीये च वैयासे विरुद्धांशो न कश्चन**, इत्यादि। अर्थ— अक्षपादप्रणीत (गोतमजी के बनाये हुये) न्यायदर्शनमें काणाद (कणादजी के कहे वा बनाये) वैशेषिक में और सांख्य व योगमें जो कोई अंश श्रुति के विरुद्ध हो वह श्रुतिही एक जिन को शरण वा आधार है ऐसे मनुष्योंको त्याग करना चाहिये जैमिनीय (जैमिनि ऋषिके कहेहुये)पूर्वमीमांसामें व वैयास (व्यासजीके कहे हुये) वेदान्त वा उत्तरमीमांसामें श्रुतिसे विरुद्ध कोई अंश नहीं है श्रुतिके विरोधही से श्रीव्यासजीने कपिलदेव व अन्यके विरुद्ध कहेहुये अंशका प्रतिषेध किया है महर्षि व्यासजी ने वेदान्तदर्शन के द्वितीयाध्याय तृतीय पादमें आत्माके परिमाण व कर्तृत्वनिरूपणमें सूत्रोंको वर्णन किया है उनसे व महर्षि बोधायन व उनके अनुयायी आचार्यों के मतानुसार कियेहुये भाष्य वा व्याख्यान से विदित होगा अद्वैतवादी स्वामी शंकराचार्यजीने उक्त सूत्रोंके अर्थको किसी प्रकारसे कल्पना करिकै परमात्मा व जीवात्माको अभेद कहकर जीवात्मा के विभु व अकर्त्ता होनेमें योजित किया है उसका संक्षिप्त आशय विभु वर्णन करने व परमात्मा व जीव के अभेद होनेके विषयका लिखकर समीक्षा की जाती है श्री शंकराचार्यजीने—**तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्**, इस सूत्रके व्याख्यानमें यह वर्णन किया है कि, बुद्धिगुणही सार होनेसे अंतःकरण बुद्धि

के परिमाण से आत्मा अणु कहा जाता है वास्तवमें परमात्मा ब्रह्म ही उपाधि योग वा हेतु से जीव शब्दसे वाच्य होता है इससे जितना परिमाण परब्रह्म का है उतनाही जीवका होसक्ता है इससे परब्रह्म के समान जीव भी व्यापक अनन्त है इस सूत्र का यथार्थ आशय उक्त पूर्व आचार्यों के व्याख्यान व हमारे कियेहुये व्याख्यान से विदित होगा अब जो श्रीशंकराचार्य वा अन्य अद्वैतवादी के मतानुसार यही मान लिया जावै कि, बुद्धिरूप अंतःकरणही का गुण जीव होने में सार है बुद्धिके गुणोंसे रहित होनेमें आत्माका जीवत्व नहीं है बुद्धि गुण सार होनेसे बुद्धिही के परिमाणसे आत्मा का परिमाण अणु होना वर्णन कियागयाहै बुद्धिउपाधिरहित जीव परमात्मा रूप नित्य मुक्त अकर्त्ता अभोक्ता है इस वर्णनसे भी जीवका अणु होना जो अपना पक्ष है सिद्ध होता है क्योंकि अणुरूप बुद्धि में आत्मा के जितने देश का संयोग है अथवा जितने देशमें बुद्धि आत्माके सम्बन्ध को प्राप्त है उतनेही को जीवत्व है अन्यदेश वा अंश को जीवत्व नहीं है अर्थात् बुद्धिसम्बन्धरहित देश जीवशब्दसे वाच्य नहीं है परमात्मा वा परब्रह्मही रूप है बुद्धिपरिच्छिन्न आत्मा जीवशब्दवाच्य अणुही परिमाण सिद्ध होता है इसको अद्वैतवादी भी मानते हैं इससे अणु परिमाण है अब केवल यह निर्णय करना शेष रहा कि व्यापक परब्रह्मही अंतःकरण बुद्धि उपाधिसे जीववाच्य होता है वास्तवमें जीव अंतःकरण विशिष्ट परब्रह्मही का खण्ड वा सूक्ष्मदेश है वा उससे पृथक् है यदि परब्रह्मही का अंशवा खण्ड होना विचार से सिद्ध होजावै तो वस्तुतः अद्वैतही पक्ष युक्त व मन्तव्य सिद्ध होजावै परब्रह्महीके अंश वा देश होने व उपाधि उपहित होने मात्रसे जीवत्व होनेके निर्णयके लिये इन शंकाओंका उत्तर वा समाधान होना चाहिये कि, जो उपाधि उपहित ब्रह्मही अणुपरिमाण जीव है तो उपाधिसे अवच्छिन्न ब्रह्म का खण्ड अणुरूप जीव है अथवा अच्छिन्न (खण्डता वा पृथक्ता को न प्राप्त हुआ) अणुरूप उपाधिसंयुक्त ब्रह्मका प्रदेश विशेष जीव है अथवा उपाधिसंयुक्त ब्रह्मस्वरूप ही है अथवा उपाधिही जीव है विचारने से इन कल्पों वा प्रकारोंमें से एक का भी युक्त होना विदित नहीं होता क्योंकि ब्रह्म के अच्छेद्य होने से (खण्ड करने योग्य न होने से) खण्ड मानना अयुक्त है और जो श्रुति जीवको अनादि नित्य वर्णन करती है **यथा—न जायते म्रियते वा विपश्चित्** । अर्थ—ज्ञानवान् आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है इत्यादि उसके विरुद्ध जीवका आदिमान् तथा नाशवान् होना भी सिद्ध होगा इससे प्रथम कल्प स्वीकार के योग्य नहीं है द्वितीय में अर्थात् अखण्डही ब्रह्म का प्रदेश विशेष होने में सब दोष जीव के ब्रह्मही को होवेंगे उपाधिके चलने में जिस जिस देश को उपाधिरूप अंतःकरण छोडता जायगा उस उस देशमें ब्रह्म बद्ध हो हो कर छूटता जायगा और जहाँ जहाँ अंतःकरण चलता वा पहुँचता जायगा उस उसदेशमें

मुक्त ब्रह्म बद्ध होताजायगा इसप्रकारसे क्षण क्षण में ब्रह्मको बंध व मोक्ष दोनों होवेंगे अखण्ड सर्वव्यापक ब्रह्म के प्रदेशोंमें सब उपाधियों (अंतःकरणों) का संसर्ग होने में एक ब्रह्मही के सब प्रदेश होवेंगे जीव सब एकही ब्रह्मके प्रदेशस्वरूप होनेसे सब जीवोंका भेदरहित एकही समान प्रतिसंधान (स्मरण) होगा वा होना चाहिये यदि प्रदेशभेदसे क्योंकि शरीर वा अंतःकरण एकही स्थान वा देशमें सदा नहीं रहते प्रतिसंधान (स्मरण) न होवे तो उपाधिसहित चलनेमें एक को भी प्रतिसंधान न होना चाहिये ऐसा न होने में दूसरा भी प्रतिषिद्ध है तीसरे कल्पमें अर्थात् ब्रह्मस्वरूपही उपाधि सम्बंधसे जीव होना माननेमें उससे भिन्न उपाधिरहित शुद्ध ब्रह्मही की सिद्धि न होगी और सब देहोंमें एकही जीव होना स्थित होगा यह भी अयुक्त व प्रमाणके योग्य नहीं है चौथे उपाधिही जीव माननेमें जीव जन्म मरणधर्मक होगा क्योंकि औपाधिक आकाश के दृष्टान्त में अनित्यही घट मठ आदि उपाधियोंका वर्णन कियाजाता है और उपाधिका नित्य होना संभव नहीं है अनित्य उपाधियों के समान उपाधिरूप जीवके अनित्य होने में जीव को नित्य वर्णन करनेवाली श्रुति मिथ्या होगी और प्रथम उपाधिरूप जीव की उत्पत्तिमें विनाकर्म सुखदुःखकी प्राप्ति होने व नाशहोने में शेष कर्मों का भोग न होनेमें कृतनाशाकृताभ्यागमदोष प्राप्त होगा अर्थात् विना किये का भोग व किये का नाश होने का दोष प्राप्त होगा और जो उपाधि नित्य है यह मान लिया जावे तो उपाधि जड है जीव भी जड होगा यदि चेतन योगसे चेतनता मान लीजावे तो जो ब्रह्ममें उपाधि स्वाभाविक नित्य सत्य जो कभी हुई नहीं ऐसी मानी जाय तो नित्य सिद्ध को उपाधि क्यों मान लेवे क्योंकि उससे रहित शुद्ध ब्रह्मका होनाही असंभव है अनित्य मानने में पूर्वोक्त प्रकार से जीव उत्पन्न व नाशवान् ठहरेगा जीव का नित्यत्व श्रुतिमें प्रतिपादित होने व तर्कसे भी युक्त होने से अनादि जीव का शारीरिक अथवा शरीरके अभावमें मानसिक कर्मों के साथ अनादि सम्बंध होने से कर्मानुसार सृष्टिसमय में उनके उत्कृष्ट व निकृष्ट शरीरों व भोगों का होना वर्णन किया है यथा इस वेदान्तसूत्र में कहा है—**न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्।** अर्थ—कर्मों के विभाग न होने से न होवे अर्थात् उत्कृष्ट निकृष्ट शरीरों व भोगों के होने का कोई हेतु सृष्टि के आदि में न होवे जो ऐसा माना जावे नहीं अनादि होने से अर्थात् कर्म के अनादि होने से ऐसा मानना वा समझना युक्त नहीं है इन हेतुओं से अयुक्त व प्रमाणके योग्य न होने से ब्रह्मही का उपाधियोग से जीव होना मानने योग्य नहीं है और इससे भी अद्वैत मत अयुक्त सिद्ध होता है कि, सर्वज्ञ परब्रह्म का अज्ञान होना असंभव है और घटाकाश आदिके उदाहरण में घटाकाश आदि के चलने में घटाकाशआदि का चलना व होना आदि मानने में मिथ्याज्ञान, उपाधि व उपाधिमान् आकाश से पृथक् तीसरे द्रष्टा

को होता है जड आकाश ज्ञानरहितही है यदि वह चेतन होता तो उसको अपने व्यापक न होने व घटाकाश आदि होने का भ्रम न होता क्योंकि ऐसा होना विचारसे संभव नहीं होसक्ता ब्रह्म के जीव होनेमें तीसरे द्रष्टा का अभाव है परब्रह्म सर्वज्ञ को अपने में मिथ्याज्ञान व उपाधियोग से जीवत्व का बोध होना सर्वथा अयुक्त व असंभव है इसीप्रकार से जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानना भी अद्वैत मत में स्वीकार के योग्य नहीं है क्योंकि प्रथम तो प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त साकार रूपवान् पदार्थही में यथार्थ घटित होसक्ता है ब्रह्म निराकार नीरूप है जो किसीप्रकार से किसी अंश में मान भी लियाजाय तो ब्रह्म से भिन्न पृथक् कोई द्रष्टा न होने से ब्रह्म को स्वच्छ निर्विकार द्रव्य में प्रतिबिम्ब दृष्ट होने में लोकमें अनुभूत वा ज्ञात होने के समान या तो भेदरहित अपने स्वरूपाकारही निर्विकार सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् विभुरूप प्रतिबिम्ब भासित होना चाहिये अथवा सम्पूर्ण वा किसी अवयव वा खण्डमात्र में विकार दृश्य होने के लिये सम्पूर्ण वा अवयव वा अंशविशेष में ब्रह्महीमें दोष व विकार होना चाहिये यदि प्रतिबिम्ब के अधिकरण द्रव्य के (जिस में प्रतिबिम्ब भासित होताहै उस द्रव्य के) विकार संयुक्त होने से प्रतिबिम्ब में विकार भासित होना माना जावै तो प्रतिबिम्ब को तो कुछ ज्ञानही नहीं होता जो प्रतिबिम्बस्थानी जीव में माना जाय तो लोक में कोई अल्पज्ञ भी प्रतिबिम्ब को सदोष व सविकार देखकर वह विकार व दोष अपने में होना नहीं मानता सर्वज्ञ ब्रह्म का अपने में अज्ञान राग द्वेष आदि दोष वा विकारयुक्त जीवत्व का मानना किसीप्रकार से युक्त नहीं हो सक्ता । इससे परमात्मा ब्रह्म का जीव होना मानने योग्य नहीं है और पूर्वोक्त हेतु व प्रमाण से जीव का अणुरूपही होना व ब्रह्म के साथ जातिमात्र से अभेद कथित होना स्वीकार करना युक्त है (शङ्का) ब्रह्म व जीव के सजातीय (एक जातिवाले) होने में दोनों को व्यापक सम परिमाणवाले मानना चाहिये एक को व्यापक व दूसरे को उसके विरुद्ध अणु मानना असंगत है (उत्तर) अनेक व्यक्तियों में किसी साधर्म्य से (समान धर्म होने से) अनुवृत्ति प्रत्यय (समान धर्म होने का ज्ञान) होने से उनका सजातीय होना माना जाता है सब अंशों व धर्मों में समानता होने की आवश्यकता नहीं होती यथा द्रव्यत्व व जडत्व साधर्म्य से विभु आकाश, काल व पृथिवी, जल, तेज, वायु व अणुरूप मन सब सजातीय हैं अन्य अंश परिमाण आदिकों में वैधर्म्य होनेमें भी उनके सजातीय होने का प्रतिषेध नहीं होता आकाश व मनके समान परमात्मा व जीवात्मा के सजातीय होने व जीवात्मा को अणु मानने में दोष नहीं है इससे जीव का अणुरूपही होना सिद्धान्त है योगसिद्ध होने की अवस्थामें प्रकाशमान द्रव्यों का अपने प्रकाशसे व्यापक होने के समान अपने ज्ञान व सामर्थ्यविशेष से योगी के आत्माका व्यापक होना पूर्वही वर्णन कियागया है परन्तु उपमा किसी एकदेश में जिस में समानधर्मता विदित

होती है ग्रहण की जाती है इससे तेजवान् द्रव्य का दृष्टान्त केवल प्रकाश गुण से देशान्तर में प्राप्त वा व्याप्त होने मात्र में ग्रहण करना चाहिये तेजवान् द्रव्य के पिण्ड व अणुओं के न्यून अधिक होने के अनुसार तेज के न्यून अधिक होने के अंश में दृष्टान्त को न ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ऐसा दृष्टान्त आत्मा में घटित न होने से असंगत होगा इससे मुख्य सिद्धान्त यह है कि, आत्मा आप भी तेजवान् पदार्थ के समान ज्ञान गुण से दूरदेश में व्यापक होता है और विशेष ज्ञान व शक्ति उसको इन्द्रिय व शरीर के सम्बंध वा अभिमानरहित होने व सर्वव्यापक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म में प्राप्त होने में उसके योग व सहायता से प्राप्त होती है जिससे व्यापक सर्वज्ञ के समान सर्वत्र सब पदार्थों के जानने व सब कार्य करने में समर्थ होता है इस प्रकार से उक्त हेतुओं से विशिष्टाद्वैत ही मत सत्य व माननीय होना विदित होता है इससे महर्षि बोधायनजी व पूर्व आचार्यों की सम्मति से व अपने विचार से भी विशिष्टाद्वैत मत को तत्त्व निश्चित करके इस हेतुसे कि, वेदान्तसूत्र व भाष्य संस्कृत में वर्णित हैं व इस काल में बहुत मनुष्य संस्कृत वाणी में अधिकार न होने से उक्त शास्त्र के पढ़ने व जानने में असमर्थ हैं वेदान्तसूत्रों के अर्थ व उनके भाष्य को विशिष्टाद्वैत पर इस क्रमसे कि, प्रथम मूलसूत्र संस्कृत में लिखकर उसके नीचे उसका अर्थ व उसके पश्चात् उसका भाष्य भाषा में वर्णन करता हूँ जो कहीं संस्कृत शब्द विशेष रक्खाजायगा उसके आगे ऐसा ( ) कोष्ठ चिह्न बना के कोष्ठ के मध्य में उसका अर्थ भाषा शब्द में रख दिया जायगा और जो अधिकवर्णन करने की आवश्यकता होगी तो भाषावाक्य में व्यक्त कर दिया जायगा इसी प्रकार से श्रुति, श्लोक, वाक्य, जो प्रमाण में लिखे जायँगे उनका भाषा में अर्थ लिख दिया जायगा और भाषा में अर्थ लिखने में उनके संस्कृत पदों के अर्थ पृथक् पृथक् ज्ञात होने के लिये संस्कृत शब्द रखके उसके आगे कोष्ठ में उसका भाषार्थ लिखा जायगा अथवा कोष्ठ, में संस्कृत शब्द रखकर उसके आगे भाषा में अर्थ, वाक्यार्थ वर्णन करने में लिखा जायगा और जिस वाक्य का अर्थ प्रत्येक पद का भाषा में अर्थ लिख कर एकवार वर्णन करादियाजायगा द्वितीयवार जो वही श्रुति वा मंत्र, श्लोक, वा वाक्य कहीं फिर लिखा जायगा तो उसके प्रत्येक पद के अर्थ भाषा में लिखने का नियम नहीं रक्खा जायगा केवल वाक्यार्थ भाषामें लिख दिया जायगा और जो तर्क व प्रश्न कियाजायगा तो प्रायः 'प्रश्न' के आदि में 'प्रश्न' शब्द व उत्तर के आदि में 'उत्तर' शब्द स्पष्ट पृथक् जानने के लिये कोष्ठ के मध्य में रख दिया जायगा और जहां कहीं किसी वाक्य वा शब्द का विशेष भाव वा अर्थ जानने के लिये उसके व्याख्यान की आवश्यकता पाई जायगी वहां उस वाक्य वा शब्द के ऊपर आदि में कोई चिह्न बनाकर वही चिह्न मूल से पृथक् पृष्ठके नीचे बना-

कर उसका व्याख्यान लिख दियाजायगा । वैशेषिक, न्याय, योग और सांख्य इन चार शास्त्रोंके सूत्रोंका अनुवाद सहित भाष्यों को वर्णन करके अब इस पांचवें वेदान्त वा उत्तरमीमांसाशास्त्रके सूत्रों का अनुवाद सहित भाष्य को वर्णन करता हूँ। पूर्वमीमांसा का भाषाभाष्य मैंने नहीं किया इन पांच शास्त्रों में पदार्थ निरूपण, अर्थांशविचार व मानसिक ज्ञानवृद्धि की विशेषता जानकर इनके सूत्रों के अनुवाद व उनके व्याख्यान में उत्साह विशेष होनेसे इनका अनुवाद व भाष्य किया है अब इसके सूत्रों का अनुवाद व भाष्य पूर्ण होने के पश्चात् पूर्वमीमांसा के सूत्रों का भी जो अनुवाद व भाष्य भाषा में होजायगा तो उत्तम है उसमें हिंसा बलिदान के विषय में निर्णय करके लिखा जायगा और जो न भी होवै तो इतना अभी जिज्ञासुओं को विज्ञापन करता हूँ कि. जो पशुवध आदि हिंसा का विधान यज्ञ में वर्णन करतेहैं यह मांसाहारी टीका वा भाष्यकारों का यथेष्ट अर्थ कल्पना करना जानना चाहिये केवल पक्षपात से अनर्थ कियाहै मीमांसा के किसी सूत्र में हिंसा का विधान साधारण वाक्यार्थ से सिद्ध नहीं होता कल्पना करके कल्पित वा भ्रामिक अर्थ से हिंसा का विधान वर्णन किया है और कोई आचार्य वा ग्रंथकार वर्णन भी करै तो हिंसा करना वेद के विरुद्ध है इससे अनुचित है जैसा कि, महात्मा व्यासजी ने महाभारत के शांतिपर्व के अध्याय २६६ व उत्तरार्द्ध मोक्षधर्म वर्णन मात्र के अध्यायगणना में अध्याय ९२ में स्पष्ट यह लिखाहै.

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा ॥
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद्वेदेषु कथ्यते ।

अर्थ—मद्य मछली और पशुओं का मांस तथा नरमेधनामक यज्ञमें ब्राह्मण आदि मनुष्यों का बलिदान धूर्तों से यज्ञ में प्रवर्तित हुआहै अर्थात् हिंसक दुष्ट राक्षस मांसाहारियों ने यज्ञमें चलाया है यह वेदों में नहीं कहा गया । और प्रत्यक्ष व विचार से भी दया व सत्कर्म के विरुद्ध सिद्ध होताहै इससे सर्वथा त्याग के योग्य है विद्वानजनों से यह प्रार्थना है कि, जो कहीं सूत्रार्थ व भाष्यमें किसी कारण से अशुद्धता होजावै तो अपने सद्गुणग्राहकतारूपधर्म से उसको विमार्जित करलेवें ।

---

१ किसी पुस्तक में इस श्लोक का पाठ ऐसा पायाजाता है "सुरां मत्स्यान्मधुमांसमासवं (मद्यभेद) कृसरौदनम् (तिलमिश्रौदनम् अर्थात् तिलमिलाहुआ भात) धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम्" परन्तु ऐसा पाठ यथार्थ ज्ञात नहीं होता क्योंकि धूर्तैः तृतीयान्त कर्ताके सम्बंध में सुरा व मत्स्य में द्वितीया विभक्ति न होनाचाहिये यदि पूर्वसम्बंधमें योजित करके किसी प्रकारसे लगायाजावै तो सुरा आसव मद्य एकार्थ वाचक अनेक शब्द होना व यज्ञ शब्दरहित पाठ होना उत्तम नहीं है अयुक्त विदित होता है यदि ऐसा भी मान लिया जाय तौ भी मद्य व मांस का निषेध अभीष्ट है उसमें भेद नहीं है ।

ॐ

वेदान्तदर्शनम्

वेदान्ततत्त्वप्रकाशभाषाभाष्यसमेतम् ।

अथ ससूत्रानुवादशारीरकमीमांसाभाषाभाष्यप्रारंभः

ब्रह्मजिज्ञास्य वा विचार्य्य होने में सू० १ अधिकरण १ ।

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ ॥

अनुवाद–अथ इससे ब्रह्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) करना चाहिये ॥ १ ॥

भाष्य–अथ शब्द जो सूत्र में कहा है वह अनन्तर अथवा मंगल अर्थ में ग्रहणके योग्य है अर्थात् साधनचतुष्टयके अनन्तर (पश्चात्) ब्रह्म की जिज्ञासा करनाचाहिये इस भावका सूचक अथ शब्द सूत्र में वर्णन कियाहै अथवा अथ शब्द मंगलवाचक है इससे शास्त्र के प्रारंभ में सूत्र के आदिमें वर्णन किया है परंतु विशेष यही भाव ग्रहण के योग्य है कि, साधनचतुष्टय के अनन्तर ब्रह्मकी जिज्ञासा करना चाहिये (प्रश्न) क्यों ब्रह्मकी जिज्ञासा करना चाहिये ब्रह्म की जिज्ञासा से क्या लाभ है अग्निहोत्र आदि यज्ञ करने व दान आदि करने से स्वर्गआदि सुख प्राप्त होंगे ब्रह्म की जिज्ञासा से क्या अधिक होगा जिससे ब्रह्म की जिज्ञासा करनाचाहिये (उत्तर) अग्निहोत्र आदि यज्ञोंका फल अनित्य है अग्निहोत्र आदि कर्मसे जो स्वर्गको प्राप्त होताहै वह जब अग्निहोत्र आदि कर्मका पुण्य क्षीण होजाताहै तब फिर मर्त्य-लोक में पतित होके क्लेश भोग करता है अग्निहोत्र आदिमें अनित्य फल होता है यह श्रुति प्रमाण से सिद्ध है श्रुति यह है–**तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते ।** अर्थ–यथा इस संसार में कर्म-संचित लोक अर्थात् कृषिकर्म आदि से संचित अन्न आदि क्षीण होतेहैं इसी प्रकार से कर्मकरनेवाले के कर्मसंचित स्वर्गआदि सुख क्षय को प्राप्त होतेहैं ब्रह्मज्ञान का फल नित्य है अर्थात् ब्रह्मज्ञान को प्राप्त हो परम सुख को लाभ करता है जो कर्मसे प्राप्त सुखके समान क्षय को नहीं प्राप्त होताहै इससे अर्थात् इस हेतुसे ब्रह्म की जिज्ञासा करना उचित है अग्निहोत्र आदि कर्म ब्रह्मजिज्ञासाकी अपेक्षा तुच्छ हैं यह सूत्रका भाव है अब साधनचतुष्टय क्या है जिस के अनन्तर ब्रह्मकी जिज्ञासा करनाचाहिये वर्णन करतेहैं विवेक विराग षट्सम्पत्ति मुमुक्षा यह साधनचतुष्टय हैं नित्य अनित्य वस्तु का ज्ञान होना विवेक है संसार व स्वर्ग आदिके फलभोग से उदासीनता होना विराग है शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान यह छः साधन षट्सम्पत्ति हैं लौकिकव्यवहार से मनके शांत होजाने को शम कहते

हैं बाह्य करणों (इन्द्रियों) का शांत करना दम है ज्ञान के निमित्त विहित नित्यकर्म आदि का संन्यास करना उपरति है शीत उष्ण अर्थात् शरदी गरमी द्वंद्व क्लेश सहना तितिक्षा है सर्वत्र आस्तिकता करना ईश्वरभाव उदय रहना वा मानना श्रद्धा है निद्रा आलस्य प्रमाद राग से रहित हो मनका स्थिर होजाना समाधान है यह षट्सम्पत्ति हैं चौथे मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा होना) यह चार साधनचतुष्टय है इस साधनचतुष्टयसम्पत्ति के पश्चात् अथवा मीमांसा का पूर्व-भाग कर्मज्ञान होने से प्रथम वेदविहित कर्म व धर्म ज्ञान प्राप्त करके उसके अनन्तर (पश्चात्) कर्म का अल्पफल होना जानके मोक्षके अर्थ ब्रह्म की जिज्ञासा करनाचाहिये अर्थात् कर्मज्ञान व साधनचतुष्टय करने के अनन्तर ब्रह्म की जिज्ञासा का अधिकारी होता है साधनचतुष्टयरहित ब्रह्म की जिज्ञासा का यथार्थ अधि-कारी नहीं होसक्ता इससे अथ शब्द सूत्र में अनन्तर अर्थवाचक यह सूचक है कि, कर्मज्ञान व साधनचतुष्टय के अनन्तर ब्रह्मकी जिज्ञासा करनाचाहिये व इससे यह शब्द सूत्र में हेतु (कारण) वाचक है अर्थात् जो यह शंका हो किस हेतु वा कारण से ब्रह्म की जिज्ञासा करनाचाहिये तो जैसा पूर्वही कहागयाहै उत्तर यह है कि, अग्निहोत्र आदि कर्म जो कल्याण के करनेवाले हैं वह अनित्यफलदायक हैं उनके पुण्य क्षीण होने से फिर जीव पतित होते हैं परम मोक्ष को बिना ब्रह्म ज्ञान के नहीं प्राप्तहोते हैं ब्रह्मका जाननेवाला ही परम मोक्ष को प्राप्त होताहै जैसा श्रुति में कहाहै–**ब्रह्मविदाप्नोति परमिति** । अर्थ–ब्रह्म का जाननेवाला पर अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होताहै इस हेतुसे ब्रह्म की जिज्ञासा करनाचाहिये अब प्रश्न यह है कि, जिस ब्रह्म की जिज्ञासा करनाचाहिये वह प्रसिद्ध है अथवा अप्र-सिद्ध है क्योंकि जो प्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा न होनाचाहिये और जो अप्रसिद्ध है तो उसकी जिज्ञासा नहीं करसकते बेजाने किसकी जिज्ञासा होसक-तीहै उत्तर यह है कि, ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है कि, ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म का होना श्रुतिप्रमाण से व जगत् कार्य से कर्ता होने के अनुमान से सिद्ध होताहै अथवा आत्माके होने को यह सब निश्चय करते हैं कि, मैं हूं अर्थात् मैं चेतना कर्तृत्व-शक्तिमान् हूं ऐसे आत्मा के ज्ञान से आत्मा से विशेष जगत् के कर्ता परमज्ञान-वान् परमात्मा ब्रह्मके होने का अनुमान होताहै परंतु भ्रमरहित ज्ञान होने के लिये आत्मा (जीवात्मा व परमात्मा) की जिज्ञासा करनाचाहिये बिना जिज्ञासा चेतन आत्माका निश्चय नहीं होता क्योंकि कोई प्राकृत जन देहमात्र चैतन्यविशिष्ट को आत्मा मानते हैं कोई इंद्रिय चेतन हैं यही आत्मा हैं यह मानते हैं कोई मनही को आत्मा कोई देह से भिन्न संसारी कर्त्ता भोक्ता पुरुषको आत्मा मानते हैं कोई यह कहते हैं भोक्ता है कर्त्ता नहीं है कोई आत्मा से परमात्मा ब्रह्म को भिन्न कहते हैं कोई आत्मा परमात्मा को एकही मानते हैं इसतरह बहुत संदेह वाक्य हैं इस भ्रम निवारण के व वेदान्तवाक्य से यथार्थ ज्ञानप्राप्ति के लिये व विरुद्ध तर्क दूर होने के

लिये ब्रह्म की जिज्ञासा करना उचित है अधिक शंका समाधान आगे ग्रंथमें वर्णन किया है इससे यहाँ संक्षेप से कहागया विस्तार नहीं किया अब ब्रह्म को है और उसका क्या लक्षण है यह आगे सूत्र में वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मलक्षण में सूत्र २ अधिकरण २ ।

जन्माद्यस्य यत इति ॥ २ ॥

अनु०—जन्मआदि इसके जिससे ॥ २ ॥

भाष्य—जन्मआदि जो सूत्र में कहा है आदि शब्द से स्थिति नाश से अभिप्राय है जन्म आदि अर्थात् जन्म स्थिति नाश इसके अर्थात् संसारके जिससे होते हैं वह ब्रह्म है यह सूत्र का भावार्थ है सूत्र वेदवाक्य के अनुसार है वेद में कहाहै **यतो वा इमानि भूतानि जायंते येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म इति** अर्थ—जिससे यह भूत उत्पन्न होते हैं व जिससे उत्पन्न हुये जीते हैं जिसमें लय (नाश) को प्राप्त होतेहैं उसके जानने की इच्छा कर वह ब्रह्म है. अब विशेष व्याख्यान यह है कि. इसके अर्थात् इस प्रत्यक्ष सावयव कार्यरूप जगत् चेतनकृत रचना सूचकनियम व उत्तम कारीगरीयुक्त अनेक लक्षणमय के जन्म स्थिति व नाश जिससे अर्थात् जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारणरूप से होते हैं वह ब्रह्म है चेतनकृत रचनासूचक नियम व अद्भुतउत्तम कार्यरूप अनेकलक्षण कहने का तात्पर्य्य यह है कि, इस जगत् में अनेकप्रकारके लक्षण कारणकार्य सम्बन्धयुक्त आवश्यकता अनुसार यथोचित रचना कियेजाने आदि अनेक नियम व बुद्धिमत्ता के चिह्न पायेजाते हैं जो यह सूचित करते हैं कि, इसका उत्पन्न करनेवाला चेतन (ज्ञानवान्) है अर्थात् अनेक प्रकारके नियम व यथोचित रचनारूप अनेक लक्षण देखने व विचारने से यह अनुमान से सिद्ध होता है कि, यह जगत् चेतन ब्रह्मसे उत्पन्न कियागया है इससे जो जड़ प्रधान (प्रकृति) को जगत् का स्वतंत्र कारण व उत्पन्नकर्त्ता मानते हैं उनका मत असत् है जो यह कहाजाय कि ब्रह्माआदि सिद्ध व समर्थ पुरुष इस संसार के कारण हैं तो जैसे जीव स्थूल सूक्ष्म देहधारी कार्यरूप का अज्ञान व संसार में पतित होने व कार्यरूप नित्य न होने से जगत् का कारण होना संभव नहीं होसकता ऐसेही ब्रह्माआदि भी कार्यरूप हैं कार्यरूप होने से अनित्य नाशमान कर्मआशयसंयुक्त हैं इससे जगत् के कारण नहीं हो सकते क्योंकि जगत् के कारण कार्य सम्बन्ध व काल व क्रियाफलनियम आदि चेतनकृत रचना-सूचक लक्षणमय होने से केवल ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् का जगत् का स्वतंत्र कारण होना सिद्ध होता है अब जगत् के जो कारणकार्यसम्बन्धमय होना इत्यादि विशेषण कहेगये हैं उनका पृथक् २ विवरण कियाजाता है विचारने से जगत् के

प्रत्येक कार्यपदार्थ में कारणकार्यसम्बन्धनियम विदित होता है यथा पृथ्वी कारण से घटआदि कार्य व अनेक बीजविशेष कारणों से अनेकवृक्षविशेष कार्य होतेहैं अर्थात् जिस कार्य का जो कारण है उसी कारण से वह कार्य होताहै यह नियम विना चेतन समर्थ नियमकरनेवालेके नहीं होसक्ता तथा कालनियम यह है कि, काल-विशेष के नियम अनुसार वर्षा शीत उष्णता रात्रि दिन गर्भउत्पत्ति शरीरवृद्धि क्षय बाल युवा वृद्धअवस्था आदि का होना विदित होताहै क्रियाफलनियम यह है कि, धर्मक्रिया से स्वर्गसुख व अधर्म से नरक व दुःख अदृष्ट फल जो आप्तवाक्य से सिद्ध है और विद्या अध्ययन व अन्य सत्कर्मों से बुद्धिकी वृद्धि चित्त की प्रसन्नता व व्यभिचार व चोरी आदि असत्कर्मों से बल की हानि अप्रतिष्ठा चित्त में ग्लानि व विचारसे अधिक पश्चात्ताप यह दृष्ट (प्रत्यक्ष से विदित) फल होता है इस प्रकारसे उत्कृष्ट निकृष्ट फल का नियम है व चेतन-कृतरचनासूचक लक्षणमय जगत् है अर्थात् प्रत्येक कार्य में कोई चेतन बुद्धि व विचार के अनुसार इस संसार की रचना की है इस बोध के सूचक (जनानेवाले) लक्षण इस संसार में विचारनेसे विदित होतेहैं परंतु जो अनन्त जगत्के पदार्थोंमें चेतनकृतसूचक लक्षणोंका व्याख्यान कियाजाय तो अन्त नहीं होसक्ता तथापि संक्षिप्त वर्णन केवल जिज्ञासुओंको लक्ष्य जनानेके प्रयोजनसे कियाजाता है विचा-रना चाहिये कि, केवल शरीरमें ऐसी चेतनकृतरचना विदित होती है कि, जिससे एक २ अंगमें ईश्वर की कारीगरी सिद्ध होतीहै यथा नेत्रोंमें जो पलकें मूँदनेको न होतीं तो ऐसे कोमल थे कि, एक दिनमें धूलि तृण आदि पड़नेसे नष्ट होजाते जैसे हाथ पैरमें हड्डी हैं ऐसेही जो जिह्वामें होती तो कठिन होनेसे न नम्र होती न जल्दी तालु दन्तस्थानमें पहुँचती न अक्षरोंका मुखसे उच्चारण होसकता मुखमें दाँत न होते तो भक्षण चर्वणमें कोई समर्थ न होता दांतोंमें भी आगेके दांतोंसे भक्ष्य पदार्थोंको काटना होता है इससे पैने किया है और दंष्ट्रा (डाढें)जिनमें मर्दन करना पडता है चौड़ बनाया है पैरमें हाथमें अंगुलियोंमें जोड़ न होते तो न कोई बैठ सक्ता न हाथसे कोई वस्तु ग्रहण करसक्ता न उठासक्ता यह ज्ञानवान की रचना है कि, जहां कोमल चाहिये वहां कोमल जहां कठिन चाहिये वहां कठिन मांस जोड़ हड्डी यथायोग्य निर्माण किया है तथा अन्नउत्पत्तिके लिये जलवृष्टि क्षुधा पिपासा निवृत्तिके लिये अन्न जल उत्पन्न किया इस अनन्तसृष्टिमें इस प्रकारसे अनंत नियम कारण ब्रह्मकी सर्वज्ञता व बुद्धिमत्ता सूचन करते हैं व उसके सर्वशक्तिमान् होनेमें भी प्रमाण व हेतु हैं क्योंकि लाखों मनुष्य एकत्र होके चाहें कि, एक कोस पृथ्वीमें ऐसी जलकी पूर्णता सींचकर करदेवें जैसे वर्षाकालमें सम्पूर्ण नदी तड़ाग व पृथिवीमें होजातीहै और कृषि आदिको उत्पन्न करें तो कोई यत्नसे समर्थ नहीं होसक्ते ऐसे अनेक ब्रह्मके अनन्तशक्तिसूचक कार्य हैं इससे ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है ब्रह्मसे भिन्न कोई अन्य जगतका कारण संभव नहीं होता इसका वर्णन विस्तारसे

आगे तर्कपादमें कियाजायगा कुछ संक्षेपसे यहां भी कियाजाताहै यह जाननाचाहिये कि उक्त (कहेहुये) कारणकार्यसंबंधनियमादि जगत्में होना वर्णन करनेसे जड़ प्रधान व शून्यके जगत्के कारण होनेका निषेध (खण्डन) कियागयाहै तथा जड़ परमाणुके कारण होनेमें समझना चाहिये क्योंकि प्रधान वा परमाणु किसी जड़ पदार्थ का स्वतः (आपसे) विना चेतन ईश्वरकी इच्छा व प्रेरणाके सामर्थ्य के अभाव से जगत् का आरंभक (उत्पादक) होना संभव नहीं है जो यह कहाजाय कि, विना प्रेरक कारण की अपेक्षा स्वभाव से होगया तो पूर्वोक्त प्रकार से (जैसे पूर्वही कहागयाहै उससे) कारणकार्य आदि यथोचितनियमसंयुक्त कार्यरूप जगत् का विना चेतन की अपेक्षा होना संभव नहीं है विना कर्ता व कारण के कर्म कार्य नहीं होता जो कर्मरूप कार्य है वह सकर्तृक है अर्थात् कर्त्तासंयुक्त वा कर्त्तासे उत्पन्न है इस व्याप्तिज्ञान से जगत् के कर्मरूप कार्य होने से ईश्वरके कर्त्ता वा कारण होने का अनुमान होता है कोई तर्क करनेवाले यह मानते हैं कि, उक्त प्रकार से अनुमान से ईश्वर का ज्ञान होता है श्रुतिप्रमाण का कुछ प्रयोजन नहीं है परंतु यह मानना यथार्थ नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है अंकुरआदिकी उत्पत्तिमें किसी जीवका कर्त्ता होना प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता जीवसे भिन्न अन्य सब पदार्थ जड हैं इससे अन्य पदार्थ कर्त्ता नहीं होसके यह निश्चित होताहै और ईश्वरका भी कर्त्ता होना इस हेतुसे सिद्ध नहीं होता कि, ईश्वर शरीररहित है विना शरीर कर्म होना प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं है जो यह कहा जाय कि, शरीररहित मनसे संकल्प करके इच्छामात्रसे सृष्टि की रचना किया है तो शरीर विना मनका होना व इच्छा करना इच्छामात्रसे शरीररहितसे कोई कर्म होना प्रत्यक्ष से सिद्ध नहींहै तथा अनेक पदार्थोंकी उत्पत्ति व उनका विनाश क्रमसे होना विदित होताहै पृथ्वी पर्वत महार्णव असंख्य कार्य विचित्र रचना व नियम-युक्त सृष्टिका एक ही वार एक ब्रह्मसे होना प्रत्यक्षसे सिद्ध कोई दृष्टान्त नहीं होसक्ता इससे जगत् के सावयवकार्य मात्र होनेसे ब्रह्मको सृष्टिका कर्त्ता मानना युक्त नहीं है क्योंकि विना पूर्व प्रत्यक्ष अनुमान नहीं होसक्ता इससे जो कार्य है वह सकर्तृक है यह व्याप्तिज्ञान असिद्ध है व अनुमानाभास (मिथ्या अनुमान) है तिससे अतीन्द्रिय (जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है) पदार्थमें श्रुतिप्रमाण अंगीकार करना युक्त है श्रुति के अर्थ की संभावनाके लिये अनुमान व युक्तिका भी ग्रहण करना उचित है अनुमानाभास कहना यथार्थ नहीं है सांसारिक सामान्य जीवों का विना शरीर कर्म करना प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता शरीरवान् सिद्धपुरुष इच्छा-मात्रसे सिद्धियोंके द्वारा विचित्र रचना करतेहैं तथा देवता विना शरीर इच्छा मात्रसे कर्म करनेमें प्रवृत्त होते हैं यह आप्तवाक्यसे सिद्ध होताहै जब ईश्वरकी उपासना के प्रभावसे तपसे योगी व सिद्धोंको विना शरिर कर्मकरनेकी शक्ति प्राप्त होती है तो ईश्वरमें क्या संदेह होसक्ता है जो यह प्रमाण तार्किक, आग्रही, हेतुवादी, इस हेतु

से कि, योगी व देवताओं के कार्य व सामर्थ्य भी प्रत्यक्ष के विषय न होने से प्रत्यक्ष-मूलक अनुमान आदि प्रमाण के विषय नहीं हैं इससे दृष्टांत भी साध्य है अंगीकार न करै तो पूर्वोक्त (पूर्वही कहे हुये) नियम चेतनकृतरचनासूचक लक्षणसे केवल चेतन कर्त्ता अनुमान से सिद्ध होता है कोई जीव ऐसी विचित्र सृष्टि का कर्ता पाया नहीं जाता प्रधान आदि अचेतन का कर्त्ता होना संभव नहीं है इससे ब्रह्महो केवल जगत् के जन्म आदि का कारण सिद्ध होता है जो वे शरीर कर्म नहीं होता यह तर्क है यह संसारी शरीरधारी जीवों के अवस्था में यथार्थ है ईश्वर व सिद्धों की अवस्था में अवस्थान्तर होने से ऐसा तर्क यथार्थ नहीं होसक्ता क्योंकि समअवस्था में सम धर्म होने का अनुमान करना व उसके विरुद्ध होने में दोष देना व खण्डन करना युक्त है अवस्थान्तर में विलक्षण धर्म प्रत्यक्ष व अनुमान से मानने के योग्य है इससे विनाशरीर के कर्म होने का अवस्था विशेष में खण्डन नहीं होसक्ता यद्यपि प्राप्त अवस्था में निश्चय न हो तथापि पूर्वही जैसा अनुमान वर्णन कियागया है उससे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान ब्रह्म से जगत् का जन्म आदि होना सिद्ध होचुका है इससे ब्रह्म के जगत्के कारण होने का पक्ष सबल व ग्राह्य है श्रुतिप्रमाण व अनुमान दोनोंसे यथार्थ सिद्ध है श्रुति के अर्थ के निश्चय व दृढ़ता विशेष होनें में अनुमान से सहायता होती है इस अनुमान से जो वेद से विरुद्ध न हो उससे वेद के अर्थकी पुष्टता करना योग्य है अब श्रुति में यह कहा है **श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति** अर्थ–ब्रह्म सुनने के योग्य मानने के योग्य वारम्वार ध्यान करनेके योग्य है इस श्रुतिमें भी तर्क व अनुमान उपयोगी है विना बुद्धि व विचार के केवल वेद का सुन लेना हितकारी नहीं है यथा यह दृष्टान्त है कि, किसी बुद्धिमान् को गंधार देश वा किसी देश से पकड़कर चोरों ने नेत्र बांधकर कहीं किसी वन में छोड़ दिया फिर जब उसको किसी जाननेवालेने बंधन खोलकर उसके देश का मार्ग बतलाया तब वह बुद्धिमान उसके वचन को ग्रहण करके और अपनी बुद्धिसे भी तर्क व विचार करके अपने देशको प्राप्त होगया ऐसेही इस संसारवनमें जीव अविद्या काम आदिकों से फेंकागया है उसको जब कोई आचार्य गुरु दया करके यह उपदेश करता है कि, चेत तू संसारी नहीं है तू शुद्ध चेतन शरीर से भिन्न जरामृत्युरहित है तब बुद्धिमान् तर्ककुशल चेत कर अपने स्वरूपको जानता है बुद्धिरहित अपने को नहीं जानता न अपने शुद्धरूप को प्राप्त होता है क्योंकि जैसे धर्मजिज्ञासा में केवल वेद प्रमाण है ऐसा ब्रह्मजिज्ञासा में नहीं है ब्रह्म जिज्ञासा में श्रुतिप्रमाण व मनन निदिध्यासनकी भी आवश्यकता है धर्म के नित्य परोक्ष साध्य होने व साक्षात् होने की अपेक्षा न होने व साक्षात् का होना असंभव होनेसे जो कुछ वेदमें कहा है कि इस कर्मका यह फल है उसको मानकर अनुष्ठान के अर्थ प्रवृत्त होना योग्यहै अनुभव व मनन की अपेक्षा विशेष नहीं है ब्रह्मज्ञान में अनुभव मनन आदि की अपेक्षा है कर्त्तव्यकर्म पुरुषआधीन है पुरुष लौकिक

वैदिक कर्मके करने न करने वा अन्यथा करनेको समर्थ है कर्तव्य स्वतंत्र कोई वस्तु नहीं है पुरुषआधीन कर्म है यथा देवदत्त प्रातःकाल हवन करताहै सायंकाल हवन करता है इच्छा नहीं होती तो किसी कालमें नहीं करता घोडेपर जाताहै व पैदल जाता है और इच्छा नहीं होती तो किसी प्रकारसे नहीं जाता न चलता है, कर्तव्य विधिनिषेधयुक्त होता है विधि (करनेके अर्थ उपदेश) व निषेध (मनाकरना) की कल्पना कर्तव्य धर्ममें होती है व कल्पना पुरुषकी बुद्धिकी अपेक्षासे होती है आत्मज्ञान पुरुषआधीन नहीं है वस्तुतंत्र (वस्तुअधीन) है जैसे एक स्थाणू (लकडीका थुंभा या ठूंठ) में यह ज्ञान होता है कि स्थाणु है वा पुरुष है वा अन्य कोई पदार्थ है इसमें पुरुष है वा अन्य है यह मिथ्या ज्ञान है केवल भ्रमसे कल्पना मात्र है स्थाणूहीका ज्ञान तत्वज्ञान है क्योंकि यथार्थभूत वस्तुका ज्ञान है इससे तत्वज्ञान है अन्य कल्पनामात्र मिथ्या है ऐसाही ब्रह्मज्ञान भी भूतवस्तु (जो वस्तु है वह वस्तु) विषयक होनेसे अर्थात् भूतवस्तुका ज्ञान होनेसे वस्तु तंत्र व सत्य है (प्रश्न) जो ब्रह्मज्ञान भूतवस्तुविषयक (भूतवस्तु विषयवाला) है तो अन्य प्रमाणका भी विषय होगा अर्थात् अन्यप्रमाणसे भी सिद्ध होगा फिर वेदान्तवाक्योंका विचार करना वृथाही होगा (उत्तर) ब्रह्मके इन्द्रियग्राह्य न होनेसे प्रत्यक्षके अभावसे व्याप्तिग्रह (व्याप्तिग्रहण) के योग्य न होनेसे प्रमाणान्तर (अन्यप्रमाण) का विषय ब्रह्मका होना सिद्ध नहीं होसक्ता ब्रह्मका इन्द्रियग्राह्य न होना प्रत्यक्षसे सिद्ध है इन्द्रियाँ बाह्य व स्थूलपदार्थकी ग्रहणकरनेवाली हैं ब्रह्मकी ग्रहणकरनेवाली नहीं हैं जो इन्द्रिय का विषय ब्रह्म होता तो यह ग्रहण किया जाता कि कारण ब्रह्मके साथ सम्बंधयुक्त यह कार्य है. कार्यमात्रके प्रत्यक्ष वा ज्ञात होनेसे यह निश्चय नहीं होता कि इसका ब्रह्म कारणके साथ वा प्रकृतिके साथ वा अन्य किसी कारण के साथ सम्बंध है इससे **जन्माद्यस्ययतः** यह सूत्र विशेष अनुमान के लिये नहीं है वेदवाक्य प्रदर्शन (जनाने) के लिये है वह वेदान्त वा उपनिषद्वाक्य यह है **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयंत्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म इति** । पदार्थ-यतः (जिससे) वा (निश्चय करके) इमानि (यह) भूतानि (प्राणी) जायन्ते (उत्पन्न होतेहैं) येन (जिससे) जातानि (उत्पन्नहुये) जीवन्ति (जीतेहैं) यत्प्रयंति (जिसमें जाते वा प्राप्त होतेहैं) अभिसंविशन्ति (अन्तर्गत होतेहैं वा लय होते हैं) तद्विजिज्ञासस्व (उसके जाननेकी इच्छाकर) तद्ब्रह्म (वह ब्रह्म है) वाक्यार्थ-जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं जिससे उत्पन्नहुये जीते हैं व जिसमें लय होतेहैं उसके जाननेकी इच्छा कर वह ब्रह्म है ऐसे ही और भी श्रुतिवाक्य हैं अब जगत्के कारण ब्रह्मको जो सर्वज्ञ वर्णन किया है उसकी सर्वज्ञता पुष्ट करने और उक्त हेतुओंसे उसके साधन मुख्य शास्त्रही प्रमाण वर्णनकरनेके लिये यह सूत्र है जो आगे वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

ब्रह्मही वेदका कर्ता होने अथवा ब्रह्मका प्रमाण वेदही से सिद्ध होनेमें सूत्र ३ अधिकरण ३ ।

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

अनु०-शास्त्रयोनि होनेसे ॥ ३ ॥

भाष्य-शास्त्रयोनि होनेसे कहनेका अभिप्राय यह है कि महत् ऋग्वेद आदि शास्त्रके योनि (कारण) होनेसे ब्रह्म का सर्वज्ञ होना सिद्ध होता है क्योंकि अनेक शाखा भेद व भिन्न देवता तिर्यग्योनि मनुष्य वर्ण आश्रमआदि विभाग के हेतु दृष्ट अदृष्ट कर्मफल के वर्णन संयुक्त जो ऋग्वेदादि शास्त्र हैं उनका कारण विना सर्वज्ञके नहीं हो सका ऐसे शास्त्रों के प्रकट करनेका कारण ब्रह्म है इससे सर्वज्ञ है अथवा ऋग्वेदादि शास्त्रही ब्रह्म के योनि (कारण वा प्रमाण) होनेसे अर्थात् ब्रह्म के प्रमाणके ऋग्वेदादि शास्त्र योनि होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ व जगत् के जन्मआदिका कारण है यह सिद्ध होता है शास्त्रान्तर्गत ब्रह्म के जगत के कारण व शक्तिमान् होने के प्रमाण में यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वाक्य है-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्यादि** । इसका अर्थ पूर्वसूत्रके व्याख्यान में वर्णन किया गया है वही यहाँ जान लेना चाहिये (शंका) ब्रह्म का शास्त्र से प्रमाण होना कहना युक्त नहीं है क्योंकि जैमिनि आचार्य ने मीमांसादर्शन में वेद को क्रियाअर्थपर होना वर्णन किया है इससे क्रिया अर्थरहित वाक्य को अनर्थ होना कहा है इसके प्रमाण में यह सूत्र है-**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां** पदार्थः- (आम्नायस्य) वेदके (क्रियार्थत्वात्) क्रिया अर्थ होनेसे (आनर्थक्यं) अनर्थ होना अर्थात् वृथा होना (अतदर्थानां) उसके अर्थरहितों का । वाक्यार्थ-वेद के क्रियाअर्थ होनेसे (क्रिया विधान ही अर्थपर होनेसे) क्रियारहित वाक्यों का अनर्थ होना है अर्थात् क्रिया अर्थरहित वेदान्तवाक्य अनर्थ वा वृथा हैं यह पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त में यह वर्णन किया है-**विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः**।अर्थ-(स्तुत्यर्थेन) स्तुति अर्थ के द्वारा (विधीनां) विधेय अर्थोंका अर्थात विधान के योग्य अर्थोंका (विधिना त्वेकवाक्यत्वात्)विधिवाक्यके साथ एक वाक्य होनेसे (स्युः) अर्थवाद सफल होवें वा होंगे अर्थात् सफल मानना चाहिये वा सफल हैं अर्थवाद सफल ये शब्द वाक्य में नहीं हैं परन्तु पूर्वसम्बंध से प्रकरण से ग्रहण किये जाते हैं वाक्य में शेष हैं आशय इसका यह है कि, विधिवाक्य जो क्रिया करने के उपदेशरूप है उसके साथ अर्थवाद वाक्यों

---

१ वाक्य के तीन भेद हैं विधि, अर्थवाद व अनुवाद, जो करने अथवा न करनेके लिये उपदेश वा आज्ञारूप वाक्य है वह विधि है । अर्थवादके चार भेद हैं १ स्तुति अर्थात् प्रशंसाकरना जिससे उसके फलको जाननेसे करनेवालेको श्रद्धा हो २ निन्दा अर्थात् दोष देखाना जिससे अनुचित कर्मका त्याग हो ३ परकृति परके कियेको दृष्टान्त-

का जो क्रिया में श्रद्धा उपजाने के प्रयोजन से उसके फल की प्रशंसा आदिरूप हैं एक कार्य में योगरूप एकसम्बंध रहनेसे अर्थवाद भी सफल है इससे यह सूचित किया है कि, वेदान्तवाक्य अनर्थ नहीं हैं अनर्थ कहने का अभिप्राय यह है कि, जैसे लोक में सिद्धवस्तु का कथन निष्फल होना व प्रमाणान्तर से सिद्ध वस्तु का ज्ञान होना पायाजाता है वैसेही सिद्ध ब्रह्मपर जो वेदान्तवाक्य है वह मानान्तर (अन्य प्रमाण) की अपेक्षायुक्त व निष्फल होने के प्रसङ्ग से प्रमाणरूप नहीं हैं अथवा कर्त्ता देवता आदि के स्वरूप प्रकाश करने के द्वारा वेदान्तवाक्यों

—से देखाना कि अमुकने ऐसा किया उसको ऐसा फल हुवा । ४ पुराकल्प-परम्परासे अच्छे जनोंके करनेसे कर्त्तव्य ठहराना । जो कहाहुवा शब्द किसी अर्थ वा प्रयोजन से फिर कहाजाय अर्थात् कईवार कहाजाय उसको अनुवाद कहते हैं उनका विशेषव्याख्यान न्यायदर्शनके द्वितीय अध्याय प्रथम आन्हिकके सूत्र ५० से ६६ तक के भाष्यमें देखना चाहिये । सिद्धानुवाद वा भूतानुवाद भी अनुवादहीका भेद है जो कार्य वा वस्तु लोककी वर्तमानपरिपार्टीके अनुसार वा स्वभावसे संसारमें होता है उसके कहनेको सिद्धानुवाद कहते हैं उक्त अर्थवाद विधिमें आश्रित होते हैं विना विधि के अर्थ-वाद नहीं होते जो होते हैं तो विधिही के लिये होते हैं इससे विधि की मुख्यता है ।

१ विना कर्ताके कर्म नहीं होसक्ता इससे कर्मोंकारके अथवा कर्मोंमें कर्ता अपेक्षित है कर्ममें (वैदिक क्रियाओंमें) अपेक्षित जे ऋत्विक् यजमान आदि कर्ता देवता अर्थात् चेतन पुरुष कर्ता हैं उनके स्वरूप अर्थात् उनके शुद्ध बुद्धस्वरूप शरीरसे पृथक्भूत आत्मा-का स्वरूप व स्वर्गप्राप्तिआदि कर्मफल प्रकाश करने वा उपदेश करनेसे वेदान्त (वैदिक-सिद्धान्त) वाक्यों का क्रियाविधिशेषत्व है अर्थात् क्रियाओंके उपदेशसंयुक्त विधिरूप जो प्रधान वाक्य हैं उनमें शेष (बाकी) रहनेसे वेदान्तवाक्यों का क्रियाविधिशेषत्व है अर्थात् वेदान्तवाक्योंका अर्थवादरूप होनेसे प्रधान क्रियाविधिवाक्योंमें अप्रधा-नत्व है । शेष शब्द यहां अप्रधान अर्थवाचक है क्योंकि मीमांसक शेषि-शब्द को प्रधान अर्थमें व शेष शब्दको अप्रधान अर्थ में व्यवहार वा ग्रहण करते हैं । वेदान्तवाक्य जे कर्ता चेतन पुरुष के स्वरूपप्रकाशक हैं उनका क्रियाविधिमें अप्रधान कहनेका हेतु यह है कि प्रयोजन प्रति यद्यपि कर्ता प्रधान होता है परन्तु प्रयोजन की सिद्धि में क्रियाही प्रधान होती है प्रयोजन की सिद्धिमें क्रिया ही प्रधान होने से व क्रिया के साधनत्व में कर्ता अभिमत होनेसे वेदान्त वाक्यों को मीमांसक अप्रधान मानते हैं क्रियाफल में वेदान्तवाक्यों का कुछ उपयोगी होनेसे उनका क्रियाविधिशेषत्व है उपयोगी होना यह है कि जन्म होनेसे लेकर देही आत्मा है ऐसा माननेवाला यजमान जब यज्ञ के अनुष्ठानसे पूर्वही कर्ता आत्माको देहसे पृथक् शुद्ध चेतन जानकर स्वर्ग के अर्थ यजन करता है तब वीर्यव-त्तर फलको प्राप्त होता है आत्मज्ञानरहित कर्ता को वीर्यवत्तर फल नहीं होता वीर्यवत्तर अर्थात् अतिउत्कृष्ट उत्तमफल आत्मज्ञानही से कर्म में प्राप्त होनेसे वेदान्तवाक्यों का क्रियाविधि-शेषत्व है यह मानना चाहिये अथवा ऐसा अर्थ कर्ता देवता आदि का ग्रहण करना चाहिये कि वेदान्तमें जीव और ब्रह्म का विषय वर्णित है यज्ञ आदि कर्म जो वेदविहित हैं उनमें कर्ता जीव और देवता ब्रह्म दोनों की अपेक्षा रहती है इस लिये कर्माङ्गों का जो वर्णन है वह यज्ञआदि की पुष्टि के लिये है इससे जीव व ब्रह्म व जीव ब्रह्म ज्ञानके फलके प्रतिपादक वेदान्त वाक्य यज्ञआदि क्रियाविधिके शेष हैं ऐसा मीमांसकोंका पूर्वपक्ष है ।

का क्रियाविधिशेषत्व (क्रियाविधिमें शेष होना) वा कार्यपरत्व (कार्यपर होना) कहना चाहिये अथवा उपासनाआदि क्रियान्तर विधान के अर्थ होने से वेदान्त वाक्यों का क्रिया विधिशेषत्व वा कार्यपरत्व है अर्थात् यह उपासनाविधि जो है कि, मोक्षार्थी जीव ब्रह्म की उपासनाकरै व आदिशब्द से श्रवण मनन निदिध्यासन जो वेदान्त में कहाहै उससे प्रयोजन है उपासना व श्रवणआदि के कहनेसे वेदान्त का कार्य (कर्म व क्रिया) पर होना कहना चाहिये जो यह संशय हो कि, ब्रह्म विषय तो श्रुत है अर्थात् श्रुतियोंसे प्रतिपादित सुनागया है कार्यपरत्व श्रुत नहीं है जो श्रुत नहीं है उसको क्यों कहना वा मानना चाहिये तो उत्तर यह है कि, पारिनिष्ठित वस्तुका (सर्वत्र समभाव से निश्चयसे स्थित वस्तुका) प्रत्यक्ष आदि विषय होनेसे स्वरूप प्रतिपादन (अज्ञात को वेदवाक्यसे जानना) संभव नहीं होता सिद्ध अर्थ विना अन्य प्रमाणके वेदवाक्य मात्रसे जाना नहीं जाता यथा सिद्ध घट पदार्थके कथनसे घटका यथार्थ ज्ञान नहीं होता जबतक यह न जाने कि, घट क्या पदार्थ है किसप्रकारसे होताहै व सिद्ध पदार्थका जानना मात्र निष्फल है, निष्फल इस हेतुसे है कि सिद्धपदार्थके प्रतिपादन में क्या हेय (त्यागके योग्य) है व क्या उपादेय (ग्रहणके योग्य) है यह विधानरहित होनेसे फलका अभाव होताहै क्योंकि दुःखका नाश होना व सुखका प्राप्त होना यह मुख्य फल है व प्रवृत्ति निवृत्ति द्वारा साध्य है और प्रवृत्ति व निवृत्ति उपादेय प्रवृत्तिके प्रयत्न कार्यरूप व हेय निवृत्तिके प्रयत्न कार्य्यके ज्ञानसे उत्पन्न होतीहै सिद्धके ज्ञानसे नहीं होती कि, ब्रह्म है यह जाननेसे फलप्राप्त होजाय यथा अग्नि हिमका भेषज है इस कथनसे विना क्रिया साधन कुछ फल नहीं होता इससे वेदान्तवाक्य अर्थवाद रूप स्तावक होने मात्रसे अर्थवान् होनेसे क्रियाविधि शेष हैं इषेत्वा इत्यादि यजुर्वेदआदि मंत्रसंहिताके मंत्रोंमें क्रिया व क्रियासाधनका वर्णन होनेसे सर्वत्र वेदमें क्रियासमवायित्व (नित्य कर्मसम्बंध होना) पाया जाताहै कहीं वेदवाक्योंमें विधिरहित अर्थवान् होना ज्ञात नहीं हुवा न होना संभव है । विधिके क्रियाविषयरूप होनेसे परिनिष्ठित वस्तुस्वरूप जो ब्रह्म है उसमें विधि संभव नहीं होती तिससे कर्मोंसे अपेक्षित कर्त्ता देवताओंके स्वरूप प्रकाश करनेसे वेदान्तवाक्योंका क्रियाविधिशेषत्व है जो भिन्न प्रकरण होनेसे यह अङ्गीकार न कियाजाय तो वेदान्तगत जो उपासना आदि करनेकी क्रियाका वर्णन है उससे कर्मपर होना विदित वा सिद्ध होताहै इससे ब्रह्मका शास्त्रप्रमाण होना सिद्ध नहीं होता अब इस संशय निवारणके लिये इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करतेहैं ॥ ३ ॥

वेदान्तवाक्यों का ब्रह्मबोधक होने और ब्रह्ममें अवसित होनेमें सू० ४ अधि० ४ ।

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

अनु०-वह (उक्तशास्त्र प्रमाण) तो समन्वय से अर्थात् समयोग वा मेलसे ॥ ४ ॥

भाष्य-सूत्रमें तु शब्द जो है जिसका अर्थ तो रक्खागयाहै वह संस्कृत में कहीं भेद जनाने, कहीं निश्चय करने व कहीं पादपूरण करनेमें कहाजाता है. तु शब्द यहां पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति (निवारण) वा भेद जनानेके लिये है अर्थात् तु शब्द यह भावसूचक है कि, जो कोई ब्रह्मके होने व उसके शास्त्रप्रमाण होने में संदेह करै तो यथार्थ नहीं है क्योंकि वह उक्त शास्त्रप्रमाण ब्रह्मके जगत्की उत्पत्ति स्थिति व लयके कारण होनेमें वेदान्तवाक्योंसे ज्ञात वा सिद्ध ही होताहै कैसे सिद्ध होता है समन्वयसे अर्थात् वेदान्तवाक्योंका एक दूसरेके समान गति होने वा परस्पर सब का योग नाम मेल होनेसे अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य वा तत्त्वसे सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगत्के उत्पत्ति स्थिति व लयके कारण ब्रह्मके प्रतिपादनमें समन्वय (मेल) है एक दूसरेके समान सबका एकही ब्रह्म अर्थसम्बंधमें प्रयोजन है इससे ब्रह्मके होनेमें शास्त्र प्रमाण वा कारण है ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतियाँ यह हैं-**सदेव सौम्येदमग्र आसीत्** । अर्थ-(सौम्य) हे प्रियदर्शन! (इदम्) यह अर्थात् यह संसार (अग्रे) आगे अर्थात् संसारकी उत्पत्तिसे पहिले (सदेव) सतही था अर्थात् सत् ब्रह्मरूप ही था आशय यह है कि, कारणरूप ब्रह्म में होने व पृथक् विदित न होनेसे ब्रह्मरूपही था एक ब्रह्मही सृष्टिसे पहिले था यह स्थूलरूप जगत् न था यह फलितार्थ है उसीके विशेषणमें यह कहा है-**एकमेवाद्वितीयम्** । अर्थ-एकही अद्वितीय था अर्थात् वह सत् (सत्तामात्रसे विद्यमान ब्रह्म) एकही अद्वितीय था एकही अद्वितीय कहनेका आशय यह है कि, प्रकृति सत्तामात्रसे विद्यमान को ब्रह्मकी शक्तिरूप मानके शक्ति व शक्तिमानको अभेदभावसे ग्रहण किया है व प्रकृतिसहित एक ब्रह्मसे भिन्न स्थूल जगत्के न होनेमें द्वैतका व्यवहार घटित न होनेसे वह सत् ब्रह्म अद्वितीय एकही था द्वितीय का अभाव था इस प्रकारसे वर्णन करके उद्दालकने सिद्धान्तमें यह कहा है-**ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो** । पदार्थ (ऐतदात्म्यं) यह सत् ब्रह्म जिसका आत्मा है ऐसा (इदं सर्वं) यह सब

---

१ यह छान्दोग्य सामवेदकी उपनिषद् में उद्दालकने अपने पुत्रसे ब्रह्मके उपदेशमें कहाहै.

२ ऐतदात्म्यं इसका अर्थ संस्कृतमें इस प्रकारसे होगा एतत्सदात्मा यस्य तदेतदात्मा तस्य भाव ऐतदात्म्यम् ।

(तत्) वह (सत्यं) सत्य है (स आत्मा) वह आत्मा है अर्थात् वह अपना आत्मा आप है उसका अन्य कोई आत्मा नहीं है और सब का आत्मा वह है (तत्त्वमसि) वह तू है अथवा उस आत्मक तू है (श्वेतकेतो) हे श्वेतकेतु ! वाक्यार्थ व भावार्थ हे श्वेतकेतो ! यह सब जगत् इस उक्त ब्रह्मात्मक है अर्थात् ब्रह्म कारण (सूक्ष्म) रूप से सबमें व्यापक है ब्रह्म से रहित व भिन्न कोई पदार्थ नहीं है वह सत्य है वह आत्मा है अर्थात् वह सब का आत्मा है उसका अन्य आत्मा नहीं है अपना आत्मा आपही है अथवा सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्वआदि गुणसंयुक्त अनुपम अद्वितीय आत्मा वहीहै वह तू है अर्थात् वही चेतनपदार्थजाति से एकही तू है अथवा तत्त्वमसि शब्दका तदात्मकत्वमसि तत्त्वमसि इस प्रकारसे समास करने व मध्यपद आत्मकशब्द का समास से लोप करने से यह अर्थ है कि, तदात्मक (ब्रह्मात्मक) तू है अर्थात् यथा सब जगत् का आत्मा व्यापक ब्रह्म है तथा वह तेरा (तुझ जीवात्मा का) आत्मा है इससे सब जगत् व हे सौम्य ! तू ब्रह्मात्मक है तथा यह कहा है- **अत्र वाव किल सत्सौम्य न निभालयसे ।** पदार्थ-(अत्र) इसमें (वाव किल) यह दोनों अव्यय आचार्य के उपदेश के स्मरण कराने के लिये हैं (सत) विद्यमान ब्रह्म (सौम्य) हे प्रिय ! (न निभालयसे) नहीं जानता है । वाक्यार्थ- हे सौम्य ! इस संसारसंघात में स्थित प्रसिद्ध सत् ब्रह्म को नहीं जानता है अर्थात् उसके ज्ञान को नहीं लाभकरता है तथा ऋग्वेदीय ऐतरेय उपनिषद् में कहा है- **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।** अर्थ-यह सब जगत्आत्मा है अर्थात् सर्वत्र आत्मा (ब्रह्म) के व्यापक होने से आत्मामय है उपचार वा लक्षणा से आत्मारूप कहा है व आगे अर्थात् जगत् की उत्पत्ति से पहिले एक आत्माही था यजुर्वेदीय वाजसनेयि ब्राह्मण उपनिषद् बृहदारण्यक के मधुकाण्ड के अंतमें यह सिद्धान्त वाक्य वर्णन किया है-**तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभूः ।** अर्थ-(तत) वह अर्थात् उक्त अपनी सर्वव्यापकता से अनेक प्रकृति के कार्यों में विद्यमान (एतद्ब्रह्म) यह ब्रह्म अर्थात् सब में प्रत्यक्ष यह ब्रह्म (अपूर्व) कारणशून्य है (अनपर) कार्य्यरहित अर्थात् किसी कार्यका उपादानकारण नहीहै इससे कार्य्यरहित है (अनन्तर) जात्यन्तररहित है अर्थात् एकरस है (अबाह्य) बाह्यरहित है अर्थात् सब

---

१ भल धातु चुरादि गणमें आभण्डन अर्थात् परिभाषण अर्थमें है और भ्वादिगण में भी परिभाषण हिंसा व दान अर्थमें पठित है परन्तु उपसर्गवशसे धातुका अर्थ बदल जाता है । इससे निउपसर्गपूर्वक चुरादिगणसे णिच्प्रत्यय होनेसे आत्मनेपदमें भल धातुसे निभालयसे होता है और उसका अर्थ जानताहै यह होता है ।

२ कारण कार्य्यसे पूर्व होता है इससे पूर्वशब्द कारण सूचक रक्खा है ।

३ कार्य्य कारण से अपर होता है इससे अपर शब्द कारणवाचक रखकर उसके निषेधमें अनपर कहा है ।

पदार्थ उसके अन्तर्गत हैं उससे भिन्न कुछ नहीं है (सर्वानुभूः) सबका अनुभव करनेवाला अर्थात् जाननेवाला चेतनस्वरूप है अथर्व वेद के मुण्डक उपनिषद् में द्वितीयमुण्डक द्वितीय खण्ड में यह वाक्य है-**ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्दक्षिणतश्चोत्तरेण । अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।** अर्थ-ब्रह्मज्ञानियों की बुद्धि में (इदं) यह प्रत्यक्ष (अमृत) अविनाशी (पुरस्तात्) सामने (ब्रह्मैव) ब्रह्मही विद्यमान है ब्रह्मही (पश्चात्) पीछे (दक्षिणतः) दाहिनीओर (उत्तरेण) बाँईओर (च) और (अधः) नीचे (च) तथा (ऊर्ध्वं) ऊपर (च) और (प्रसृतं) सबओर फैला अर्थात् विद्यमान (ब्रह्मैव) ब्रह्मही है अर्थात् ब्रह्मही स्थित जानपडताहै (इदं विश्वं) यह सब जगत् (वरिष्ठम्) उत्तम ब्रह्मही है आशय इसका यह है कि, अतिश्रद्धा व प्रेम से जब ज्ञानीका चित्त ब्रह्म में लगजाता है व प्रतिक्षण उसीके ध्यानमें मग्न रहताहै तब सब पदार्थोंसे प्रयोजनरहित हो वह सर्वत्र एक ब्रह्मही को देखताहै सबकाल सबस्थानमें उसको ब्रह्म है ऐसा ध्यान रहताहै इत्यादि चारों वेदके (उपनिषद्) वाक्योंसे वेदान्तवाक्योंका ब्रह्मप्रतिपादनमें समन्वय होने में अर्थान्तरकी कल्पना करना अर्थात् क्रियाअर्थपर होना वा क्रियाविधिशेष होनेकी कल्पना करना युक्त नहीं है क्योंकि ऐसी कल्पना करनेमें श्रुतकी हानि व श्रुतसे भिन्न कल्पना करना है अर्थात् जो वेदवाक्य है उसके अर्थको न मानकर अन्य अर्थ कल्पना करना है और न ऐसे वाक्योंका कर्त्ता देवताआदिकों के स्वरूपप्रतिपादनपर अर्थात् कर्त्ता आदिके स्तावक होनेमें कर्मका शेष होना विदित होताहै किन्तु इन वेदान्तवाक्यों वा श्रुतियोंसे ज्ञानद्वारा कर्म व कर्मसाधनका निषेध सिद्ध होताहै यथा ज्ञान प्राप्त होनेमें वेदान्तमें कहाहै **तत् केन कं पश्येत्** इत्यादि । अर्थ-(तत्) वह अर्थात् उक्तब्रह्मज्ञानी (केन) किससे अर्थात् किस करणसे (कं) किसको अर्थात् किस विषयको (पश्येत्) देखै तात्पर्य यह है कि, जब एक ब्रह्मके ध्यानमें आसक्त हो अन्यविषयको भूलजाता है व अपने में ध्याता ध्येय का ज्ञान नहीं रहता ब्रह्मरूपही अपनेको देखताहै तब द्वैतबुद्धि न रहनेमें किससे किसको देखै इत्यादि इन वाक्योंसे ऐसी दशामें कर्मका अभाव ही सिद्ध होताहै । जो यह कहाहै कि, सिद्ध वा भूतवस्तु होनेसे ब्रह्म प्रमाणान्तर से (अन्य प्रमाणसे) जाननेके योग्य है वेदके अर्थमात्रसे जाननेके योग्य नहीं है तथा परिनिष्ठित वस्तु प्रत्यक्षका विषय होनेसे उसका स्वरूप प्रतिपादन संभव नहीं होता इसका उत्तर यह है कि परिनिष्ठित वस्तुरूप होनेपर भी प्रत्यक्षका विषय होना सिद्ध नहीं होता प्रथम आत्मज्ञान व ब्रह्मभाव वेदही द्वारा सिद्ध होताहै नहीं तो पाकके समान साध्य होनेसे प्रमाणान्तर जानने योग्य होनेसे धर्म भी वेदार्थ नहीं है अर्थात् वेदहीमात्रसे प्रतिपादित अर्थ नहीं है जो यह

१ सर्वमनुभवतीति सर्वानुभूः ।

कहाजावे कि, धर्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है विना वेद के उपदेश धर्म का ज्ञान व निर्णय नहीं होसक्ता इससे अन्यप्रमाण से उसका ज्ञान नहीं होसक्ता इससे वह वेदार्थ है (वेदमें प्रतिपादित अर्थ है) तो ऐसेही ब्रह्ममें भी विना यथार्थ ब्रह्मज्ञान हुये ब्रह्मप्रत्यक्षका विषय न होनेसे जानना चाहिये कि, विना वेदप्रमाण के उसका ज्ञान नहीं होता । जो हेय (त्यागके योग्य) व उपादेय (ग्रहण के योग्य) अर्थरहित होनेसे उपादेय का अनर्थ होना कहा है यह दोष ग्रहणके योग्य नहीं है क्योंकि हेय व उपादेयशून्य ब्रह्मज्ञान के प्राप्त होनेहीं से सब क्लेशों की हानि होनेसे पुरुषार्थ सिद्ध होता है, जब एकब्रह्म होने का ज्ञान उदय होता है तब द्वैतके अभावसे हेय व उपादेय का अभाव होता है जब द्वैतज्ञान नहीं है अर्थात् जब एक ब्रह्मसे भिन्न विषयान्तर को चित्त ग्रहण नहीं करता तब ब्रह्म में उपासनाविधिशेष होने का प्रतिपादन नहीं होसक्ता यद्यपि वेदान्त को छोड़कर अन्य कर्मकाण्डआदिमें वेदमें क्रियाविधिरहित होने का प्रमाण नहीं होता व विनाक्रिया विधिवाद के अर्थवाद निष्फल होता है, व आत्मविज्ञान फलके अर्थपर होनेसे विनाक्रिया कारण होनेके शास्त्रप्रमाण नहीं होसक्ता यह शंका होती है तथापि यथा कर्मविधान व उसके स्वर्ग आदिक अदृष्टफलमें कोई प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाण नहीं है केवल शास्त्रप्रमाण है. ऐसेही ब्रह्मविज्ञानमें ज्ञानमात्रसे अर्थ सिद्ध होनेमें अनुमान व दृष्टान्त प्रमाणकी अपेक्षा नहीं है वेदप्रमाणही चक्षुआदि के समान स्वतःसिद्ध है इससे वेदान्तवाक्योंके समन्वय से ब्रह्मका शास्त्रप्रमाण होना सिद्ध होता है । कोई यह कहते हैं कि, यद्यपि ब्रह्ममें शास्त्रप्रमाण है तथापि उपासनाविधिविषयताही से ब्रह्म वेदमें स्मरणकियाजाता है व ब्रह्मकी उपासना से मुक्ति होती है उपासनाके विषय सत्यधारण आदि विधिपर वेदवाक्यों के उपदेश से ब्रह्मका स्मरण व ध्यान कियाजाताहै जैसे कि आहवनीय आदि विधिशेषता से शास्त्र में वर्णन किये जाते हैं **यथा आहवनीये जुहुयात् इन्द्रं यजेत्** अर्थ—आहवनीय अग्नि में हवन करै इन्द्रको यजन (पूजन) करै इन विधिवाक्यों में आहवनीय व इन्द्रको हैं यह जाननेके लिये यह लक्षण वर्णनकिया है कि आधानमें (स्थापनक्रियासे) अथवा आधानमें (अग्निस्थापनकरनेके कुण्डमें)संस्कृत (संस्कारकीगयी) जो अग्नि है वह

---

१ यदि यह शंका हो कि आधान का अर्थ कुण्डका कैसे होता है तो आधान शब्द में अधिकरण में ल्युट्प्रत्यय करनेसे यह अर्थ होता है कि जिसमें धारण अर्थात् स्थापन किया जाय वह आधान है यज्ञ विषयमें अग्निके धारणसे प्रयोजन है इससे संस्कृतमें ऐसा आधान शब्दका निर्वचन होगा आधीयतेऽग्निरस्मिन्नित्याधानमग्निकुण्डम् अधिकरण में ल्युट्प्रत्ययविधायक "करणाधिकरणयोश्च" यह पाणिनिसूत्र है तथा लिङ्गानुशासनमें अन्यसूत्र "करणाधिकरणयोर्ल्युट्" यह सामान्यसे धातुओंसे अधिकरण अर्थमें ल्युट् प्रत्यय विधायक है यह भी पाणिनिसूत्र है इसीसे आसन आदि शब्दसिद्ध होते हैं आङ्उपसर्गपूर्वक डुधाञ्धारणे धातुसे ल्युट् प्रत्यय करनेसे आधान शब्द सिद्ध होता है ।

आहवनीय है वज्र है हाथमें जिसदेवताके वह इन्द्र है इत्यादि वाक्यविधिशेषमें समझे जातेहैं ऐसेही ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य हैं वेदके विधिपर होनेका हेतु यह है कि शास्त्र का प्रवृत्ति व निवृत्ति प्रयोजन है । शास्त्र (वेद) के जनानेवाले यह कहते हैं **दृष्टोहितस्यार्थःकर्मावबोधनंनाम** । अर्थ-(तस्यार्थः) उसका अर्थ अर्थात् पूर्वोक्त वेदका अर्थ (कर्मावबोधनं) कर्मका जनानेवाला (हि) निश्चयसे (नाम) प्रसिद्ध (दृष्टः) देखा वा जानागया है और धर्मका लक्षण जैमिनि आचार्य्यने यह वर्णनकियाहै **चोदनालक्षणोर्थो धर्मः** ।(चोदनालक्षणोर्थः)चोदना शब्दका अर्थ प्रेरण है परन्तु यहाँ प्रेरणासे तात्पर्य्य क्रिया के प्रवर्तक वेदवाक्यसे है अर्थात् क्रियाका प्रवर्तक (प्रवृत्तकरानेवाला) वचन वा वाक्य जिसका लक्षण (जाननेका हेतु) है ऐसा अर्थ (धर्मः) धर्म है **तस्यज्ञानमुपदेशः** । अर्थ-(तस्य) उसका अर्थात् धर्मका (ज्ञानं) जाननेका कारण वा हेतु (उपदेशः) उपदेश है अर्थात् धर्मका ज्ञापक (जनानेवाला) जो वेदमें विधिवाक्य है वह उपदेश है यह फलितार्थ है यह कहकर कार्यसंयुक्तही अर्थमें पदोंकी शक्ति है इस प्रतिपादन में यह सूत्र कहा है **तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः** । पदार्थ-(तत्) तिसमें (भूतानां) भूतोंका अर्थात् सिद्धअर्थोंका (क्रियार्थेन) क्रिया अर्थके साथ (समाम्नायः) साथ उच्चारण कर्तव्य है. वाक्यार्थ यह है कि तिसमें (वेदमें) भूतोंका अर्थात् जो सिद्ध अर्थमें निष्ठ पद हैं उनका क्रियार्थ (कार्य्यवाचीपद) के साथ उच्चारण करना चाहिये क्योंकि विना वाक्यार्थरूप कार्य्य बुद्धि के पदार्थ का ज्ञान नहीं होता कार्यवाचीपद के साथ पदार्थस्मरण द्वारा कार्य्य ही वाक्यार्थको बोध कराता है यह भाव है इससे वेदान्तका कार्य्यपर होनेमें अर्थवान् होना सिद्ध होताहै तथा **आम्नायस्यक्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्** । अर्थ-वेदके क्रियार्थपर होनेसे अर्थात् क्रिया अर्थ प्रतिपादनपर होनेसे उससे (क्रिया अर्थसे) रहित वाक्योंका अनर्थ होना पाया जाताहै आशय इसका यह है कि कहीं पुरुषको किसी विधिविशेष में प्रवृत्त करने और कहीं किसी विधि विशेषसे निवृत्त करने के अर्थमें शास्त्र

---

१ इस सूत्रवाक्य के अर्थ में ज्ञान शब्दका ज्ञापक अर्थ कैसे ग्रहणकियागया वा ग्राह्य है इसका व्याख्यान यह है कि यहां ज्ञानशब्दमें भावमें ल्युट्प्रत्यय नहीं किया करणअर्थमें प्रत्यय किया है इससे ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ऐसा संस्कृतमें निर्वचन होगा इसका अर्थ यह है कि जिससे जानाजाय वह ज्ञान है वा उसको ज्ञान कहते हैं जिससे जो जानाजाता है वही उसका ज्ञापक (जनानेवाला) समझाजाता है व स्वीकार कियाजासक्ताहै । इससे ज्ञापक अर्थ ग्रहण किया गयाहै अथवा ऐसा समझना चाहिये कि करण को ज्ञानके हेतु होनेसे प्रयोजक के समान मानके उपचार वा गौण अर्थसे ज्ञापक अर्थमें ज्ञानशब्द को कहाहै व करण अर्थमें ल्युट्प्रत्ययविधायक " करणाधिकरणयोश्च " यह पाणिनिसूत्र है तथा लिंगानुशासनमें "करणाधिकरणयोर्ल्युट्"यह पाणिनिसूत्र है।२ इसका विशेष व्याख्यान पूर्वही किया गया है इससे वाक्यार्थ मात्र यहां वर्णन कियाहै ।

(वेद) है इससे क्रियार्थ वा विधिपर होनेसे जैसे स्वर्गआदि की इच्छा करनेवालों को अग्निहोत्रआदि साधन का विधान है ऐसेही मोक्षकी इच्छा करनेवालों को ब्रह्मज्ञान का विधान युक्त है परन्तु जो यह शंका हो कि कर्मकाण्डमें होनेवाले साध्य धर्मको जिज्ञास्य (जिज्ञासाके योग्य) कहा है वेदान्त में भूत नित्यनिवृत्त ब्रह्म जिज्ञास्य है धर्मज्ञान से जिसमें अनुष्ठान की अपेक्षा है ब्रह्मज्ञान का फल विलक्षण होना योग्य है तो यह नहीं होसक्ता क्योंकि कार्य्य विधि संयुक्त ब्रह्मका प्रतिपाद्यमान होना विदित होताहै यथा **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः** । अर्थ–निश्चयकरके आत्मा द्रष्टव्य (जाननेयोग्य) है– **य आत्मापहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः**।अर्थ–(यः) जो (आत्मा) परमात्मा (अपहतपाप्मा) पापरहित है (सः) वह (अन्वेष्टव्यः) खोजकरनेयोग्य है (स विजिज्ञासितव्यः)वह जिज्ञासा करनेयोग्य है **आत्मेत्येवोपासीत** अर्थ–आत्माही है यही उपासना करै अर्थात् सर्वव्यापक सर्वात्मक आत्माही परमात्माही है यह उपासना करै **आत्मानमेवलोकमुपासीत** अर्थ–ज्ञानस्वरूप आत्माही की उपासना करै **ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति**।अर्थ–ब्रह्मका जाननेवाला ब्रह्मही होता है अर्थात् ब्रह्महीमें प्राप्तहो स्थित होताहै इत्यादि वाक्योंमें जिसकी उपासनाका विधान है वह ब्रह्म कैसा है यह जनाने के लिये उसका यह लक्षण वेदान्त में वर्णन किया है **नित्यस्सर्वज्ञस्सर्वगतोनित्यतृप्तःशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोविज्ञानमानन्दंब्रह्म**। अर्थ–नित्य सर्वज्ञ सर्वगत (सब में प्राप्त व्यापक) नित्यतृप्त शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव विज्ञानरूप व आनन्दरूप ब्रह्म है इत्यादि वाक्य हैं ब्रह्मके उपासना से शास्त्र (वेद) में वर्णन कियाहुवा अदृष्टफल मोक्ष होगा यह कहना कर्तव्य विधिमें वस्तुमात्र कथन में त्याग व ग्रहण के संभव न होनेसे सातद्वीपयुक्त पृथिवी है यह राजा जाता है ऐसे वाक्यों के समान वेदान्तवाक्यों का अनर्थ (निष्फल) होना सिद्ध होगा जो यह कहाजाय कि वस्तुमात्र कहना भी यथा यह रस्सी है सर्प नहीं है इत्यादि कहने में भी भ्रान्ति से उत्पन्न भय निवृत्त होनेसे अर्थवान् होना सिद्ध होता है तथा यहाँ भी असंसारी शुद्ध आत्मा वस्तु के कथन से संसारी धर्मरहित परमात्मा के ज्ञान होनेसे व देह विकार से भिन्न अपने आत्मा के शुद्ध ज्ञान होने व भ्रान्ति निवृत्त होनेसे अर्थवान् होना मानना चाहिये तो यह तब मानाजासक्ता है जब जैसे रस्सी के सुने से सर्पकी भ्रांति दूर होजाती है ऐसेही ब्रह्मस्वरूपके सुननेमात्र से ब्रह्मकी प्राप्ति व अविद्या की निवृत्ति होजाय सो नहीं होती ब्रह्म के सुनेपर भी पूर्वके समान सुख दुःख आदि संसारी होनेके धर्म देखेजाते हैं **श्रोत-**

---

१ लोकृ दर्शने इस धातुसे लोक शब्द बनता है दर्शन का अर्थ देखना है व ज्ञान भी है यहाँ ज्ञान अर्थ ग्राह्य है इससे लोक शब्दका अर्थ ज्ञानस्वरूप रक्खागया है ।

२ इस वाक्य तथा इसके पूर्ववाले य आत्मा इत्यादि वाक्यों का अर्थ बहुत ही सरल है इससे इनके पदों का अर्थ पृथक् २ वर्णन नहीं किया ।

फल नहीं है नित्य आत्माके ज्ञानसे नित्य फल मोक्ष होना संभवहै अनित्य कर्त्तव्य कर्मसे नित्यफल नहीं हो सक्ता कर्त्तव्य कर्मसे साध्य जो मोक्ष प्राप्त होगा तौ अनित्यही होगा अर्थात् ऐसा होनेमें जैसे कर्मफल कहागयाहै ऐसेही मोक्ष भी अनित्य होगा परन्तु मोक्ष नित्य प्रतिपादितहै इससे कर्त्तव्य शेष होनेसे (होनेके द्वारा) मोक्षका उपदेश करना युक्त नहीं है केवल ब्रह्मज्ञान ही से मोक्ष होता है जैसा इन श्रुतियोंमें कहाहै **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति** अर्थ—ब्रह्मका जाननेवाला ब्रह्मही होताहै अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त हो ब्रह्मही में रहताहै ब्रह्मसे पृथक्ता न होनेसे ब्रह्मही होना कहाहै **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।** अर्थ (तस्मिन् परावरे दृष्टे) उस पर व अवरके दृष्ट होनेमें अर्थात् उस इन्द्रियोंसे अग्राह्य परोक्ष जो सब इन्द्रियों व विषयोंसे पृथक् व स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीरोंके सम्बंधसे रहित होनेसे निर्गुण पर है और सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणोंसे युक्त सगुण अवर है ऐसे दोनों प्रकारके ब्रह्मके दृष्ट साक्षात् किये पर (अस्य) इसके अर्थात् इस ब्रह्मज्ञानीके (कर्माणि) कर्म अर्थात् शुभ अशुभ फलदायक सब कर्म (क्षीयन्ते) क्षीण होजाते हैं अर्थात् नष्ट होजातेहैं **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन** अर्थ—ब्रह्मके आनन्दको वा आनन्दस्वरूप को प्राप्त होकर विद्वान् कहीं कभी मरणआदिसे नहीं डरता **अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि** अर्थ—हेजनक तू अभयको अर्थात् अभयब्रह्मको प्राप्तहै **तत्र को मोहः कश्शोक एकत्वमनुपश्यतः** अर्थ (तत्र) उसमें अर्थात् ब्रह्मज्ञानअवस्थामें एक ब्रह्मभाव देखते हुये को अर्थात् सबको ब्रह्मात्मक देखनेवाले को मोह क्या है शोक क्या है अर्थात् कुछ नहीं है इसप्रकार से यह श्रुतियाँ व अन्य श्रुतियां ब्रह्मविद्या के पश्चात् मोक्षकी जनानेवाली मध्यमें कार्य्यान्तरको (अन्य कार्य्यको) निवारण करतीहैं जैसे यह कहनेमें कि स्थिर होताहुवा गाताहै स्थिर होने व गाने इन दोनोंके मध्यमें स्थिर होने व गानेवाले को कार्य्यान्तर नहीं है यह सिद्ध होताहै तथा मोक्षके विषयमें श्रुति में यह कहाहै **तरति शोकमात्मवित्** अर्थ—आत्मा का जाननेवाला शोकके पार होजाताहै अर्थात् सम्पूर्ण शोक से रहित होजाताहै इत्यादि श्रुतियाँ मोक्षके प्रतिबन्धका निवृत्त होना ही आत्मज्ञानका फल मोक्ष है यह जनाती हैं मोक्षका प्रतिबन्ध (रोकनेवाला) मिथ्या ज्ञान है मिथ्याज्ञान निवृत्त होनेसे आत्मज्ञानका फलरूप मोक्ष प्राप्त होता है जैसा कि महात्मा गोतमाचार्यने न्यायदर्शन के द्वितीय

---

१ यह श्रुति मुण्डक उपनिषद् की है। २ यह तैत्तिरीय उपनिषदके चतुर्थ अनुवाक की श्रुति है । ३ बृहदारण्यकमें यह वाक्य याज्ञवल्क्यने जनक से कहा है । ४ यह ईशावास्य उपनिषद् की श्रुति है ।५ यह वाक्य सनत्कुमारने नारद प्रति आत्मज्ञानके फलवर्णनमें छांदोग्य उपनिषद्में कहाहै ।

सूत्रमें वर्णन किया है **दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः** अर्थ-- (दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां) दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष व मिथ्या ज्ञानों में से (उत्तरोत्तरापाये) एक एक का एकएक के उत्तर (पश्चात्) नाश होनेमें (तदनन्तरापायात्) उसके अनन्तर अर्थात् उक्त तत्त्वज्ञान के अनन्तर (अपायात्) नाशहोने से अर्थात् क्रमसे दुःखादिकोंका सबका नाश होनेसे (अपवर्गः) मोक्ष होता है इस सूत्रका अर्थ-- नीचे त्रुटि में संस्कृतमें भी लिखदिया है इस सूत्र का स्पष्ट व्याख्यान यह है कि तत्त्वज्ञान होनेपर दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष व मिथ्याज्ञानों का एक एक के उत्तर क्रमसे नाश होता है अर्थात् तत्वज्ञान होनेसे मिथ्याज्ञान का नाश होता है मिथ्याज्ञान के नाश से दोषोंका नाश दोषों के नाशसे प्रवृत्ति का नाश प्रवृत्ति के नाशसे जन्मका नाश जन्मके नाशसे दुःखका नाश व दुःखके नाश से सुखरूप मोक्ष होता है जब आत्मा व ब्रह्म का तत्त्वज्ञान होताहै तभी अज्ञान का नाश होता है जब अज्ञान का नाश हुवा तब दोष आदि सब अपने २ हेतुओंके नाशहोनेसे क्रम से नष्ट होजातेहैं व मुक्ति प्राप्त होती है बिना ब्रह्म व आत्माके एक शुद्ध चेतनरूप होनेके ज्ञान हुये ब्रह्म से भिन्न अनेक पदार्थोंके ज्ञान होनेमें व उनमें बुद्धि लगाने से मुक्ति नहीं होती जैसा श्रुति में कहा है **मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।** अर्थ--मृत्युसे वही मृत्युको प्राप्त होता है जो इस संसार में अनेक को जानता है अर्थात् अनेक को उपास्य जानताहै अथवा जबतक अपनेमें व ब्रह्ममें भेद देखता है तबतक जीव मृत्युके भयसे नहीं छूटता इसप्रकारसे श्रुतिमें अद्वैतभावका प्रतिपादन कियाहै जो अद्वैतका भाव यह ग्रहण करतेहैं कि विशेषणरहित आत्मा व परमात्मा सर्वथा एकही है यह ग्रहण योग्य नहीं है क्योंकि पूर्वापर श्रुतियोंमें विरोध होताहै जो यह कहाजाय कि उपाधिसे भ्रममात्रसे द्वैतका बोध होताहै पारमार्थिकरूप से आत्मा द्वैतभावरहित है श्रुतियोंमें पारमार्थिक कारणरूप व औपाधिक (उपाधिसंयुक्त) कार्यरूप दोनों प्रकारसे वर्णन कियाहै इस प्रकारसे भावान्तर भेद माननेसे विरोध न होगा तो जीवमें ब्रह्मधर्म असंभव होनेसे और नित्य शुद्ध सर्वज्ञ ब्रह्ममें अविद्या व भ्रमकी प्राप्ति असंभव होने आदि अनेक हेतुओंसे युक्ति, हेतु व प्रमाणके विरुद्ध ग्रहणके योग्य नहीं होसका

---

१ संस्कृत में इस सूत्रका वाक्यार्थ इस प्रकारसे होगा दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां मध्ये एकैकस्योत्तरोत्तरस्य क्रमादपाये नाशे सति तदनन्तरम् उक्तज्ञानानन्तरम् अपायात् अर्थात् तेषां दुःखादीनामपायात् अपवर्गो मोक्षो भवतीत्यर्थः। अथवा दुःखादीनां मध्ये यदुत्तरमुत्तरं तेषामपाये नाशक्रमे सति तदनन्तरं नाशक्रमानन्तरम् अपायात् क्रमात् सर्वेषां दुःखादीनां नाशादपवर्ग इति एतयोर्वाक्यार्थयोः पूर्वं यत्तच्छब्देन तत्त्वज्ञानस्य ग्रहणं तत्परापेक्षया पूर्वसूत्रेण तत्त्वज्ञानस्यानुवृत्तेस्तस्यैव मिथ्याज्ञानस्यापायहेतुत्वाच्च समीचीनमित्यवधार्य्यम् । २ यह मुण्डक उपनिषद् की श्रुति है ।

जो अर्थ तर्क से भी सिद्ध होसके व श्रुतिके विरुद्ध भी न हो वही ग्रहण करनाचा हिये जैसा कि मनुस्मृति में कहा है **आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः** अर्थ-(यः) जो (आर्षं) ऋषि के कहेहुये वा माने हुये को (धर्मोपदेशञ्च) व धर्म के उपदेश को (तर्केण वेदशास्त्राविरोधिना) ऐसे तर्क से जो वेद शास्त्र से विरोधरहित हो निश्चयकरके (अनुसन्धत्ते) धारण करताहै (सः) वह (धर्म वेद) धर्मको जानता है (नेतरः) दूसरा नहीं जानता इससे पूर्वापर श्रुतियोंका विरोधरहित तथा युक्ति हेतु से सिद्ध अद्वैतभाव प्रतिपादन का अभिप्राय यह स्वीकार करना चाहिये कि सम्पदरूप समधर्म चेतन होनेसे आत्मा व परमात्मा को एकही पदार्थभावसे अभेद माना है इसीप्रकारसे श्रुतियों में कहीं अध्यासरूप ब्रह्मको उपास्य वर्णन किया है किसी अप्रधान वस्तुमें प्रधान वस्तु वा पदार्थ का भाव मानकर उसीका ध्यानकरना अध्यास है जैसा श्रुति में कहा है **मनो ब्रह्मेत्युपासीत आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत** अर्थ-मन ब्रह्म है यह उपासना करे सूर्य ब्रह्म है यह उपासना करे यहाँ मन व सूर्य्यमें ब्रह्मभावका अध्यास किया है ऐसे ही क्रिया वा गुण के साधर्म्यसे गौण वा भाक्त अर्थसे सम वा एकही होने का उपचार किया जाताहै जैसा श्रुति में कहा है **वायुर्वाव संवर्गः प्राणो वाव संवर्गः** अर्थ-वायु संवर्ग है प्राण संवर्ग है अर्थात् जैसे वायु प्रलयकाल में अग्निआदि को संहारकरता है ऐसेही सोने के समय में प्राण रागआदि को संहार करता है क्रिया में समयोग व साधर्म्य होने से प्राण व वायु को संवर्ग कहा है इस प्रकारसे साधर्म्य होनेसे उपचारकरके विशेषभाव से अन्यपदार्थ में अन्य होने का भाव भेदरहित के समान अंगीकार कियाजाता है परन्तु क्रियायोग व अध्यास विजातीय पदार्थमें मानाजाता है आत्मा व ब्रह्म चेतनरूप सजातीय एकही पदार्थ है इससे क्रिया के योगसे अध्यास से एक होने का उपचार करनेकी आवश्यकता नहीं है केवल सम्पदरूप से अर्थात् चैतन्यकी (चेतन होनेकी) समता से जीव व ब्रह्मका एक अद्वैत होना अङ्गीकार करनाचाहिये कोई अद्वैतवादी अद्वैत पक्षमें सम्पदरूप होना भी नहीं मानते सर्वथा अभेद एकही मानतेहैं व यह कहतेहैं कि सम्पदरूप माननें में "**अहं ब्रह्मास्मि**" अर्थ-मैं ब्रह्म हूँ "**तत्त्वमसि**" अर्थ-वह तू है इन श्रुतियों में विरोध होगा । यह कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि प्रकरण में पूर्वापर सम्बंध मिलाने से इन वाक्यों का अभेद होने का अर्थ नहीं है जहाँ आगे कहीं विशेष वर्णन कियाजायगा वहाँ इन श्रुतियों के आशय का व्याख्यान किया जायगा और जो अभेदही अर्थ ग्रहण कियाजाय तो सम्पदरूप से ग्राह्य होसका है श्रुतियों में अनेक विषय वर्णन में औपचारिक अर्थ का ग्रहण

---

१ यह छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुति है ।

होता है सर्वत्र मुख्य अर्थ ग्रहण करनेकी विशेषता व आवश्यकता नहीं है जिस अर्थसे निर्दोष अर्थ का जो पूर्वापर विरोधरहित व युक्ति हेतु के अनुकूल हो ग्रहण होसके वही ग्रहणकरना युक्त है वह चाहे मुख्य अर्थ हो चाहे गौण हो और जो इसके विपरीत हो वह त्यागके योग्य है अब यह संशय है कि विना अद्वैतभाव के मोक्ष होने का अभाव कहा है इसमें दोष आवैगा इससे अद्वैतभाव माननाचाहिये व यथार्थ है अथवा नहीं अद्वैत वर्णनका यथार्थ आशय क्या है इसका उत्तर यह है कि मोक्ष के लिये अद्वैतभाव यथार्थ है परन्तु अद्वैत के वर्णन का तात्पर्य्य व अद्वैतभाव चित्तमें होना यह है कि जब उपासक ज्ञानी अतिप्रेमसंयुक्त एकाग्रचित्त हो परमात्मा के ध्यान में मग्न होता है तब ध्याता ध्येय पृथक् होने का बोध नहीं रहता ध्याता ध्येयही रूपभेदरहित अपने को जानता है उसी अवस्थाविशेष के लिये न अन्य को देखता है न अन्य को जानता है इत्यादि कहाहै यथा **यत्रत्वस्यात्मैवाभूत् तत्र केन कं पश्येत् केन कं जिघ्रेत्** इत्यादि अर्थ—(यत्र) जिसमें अर्थात् जिस ब्रह्मज्ञानअवस्थामें (अस्य) इसका ब्रह्मज्ञानीका (आत्मैवाभूत्) आत्माही होगया अर्थात् ब्रह्ममें लग्नचित्त होनेसे अपने को ब्रह्मरूप देखने लगा व अपने आत्मामय सबको देखने लगा (तत्र) तिसमें, उस अवस्थामें (केन कं पश्येत् केन कं जिघ्रेत्) किससे किसको देखै किससे किसको सूंघै इत्यादि सब इन्द्रियों के विषय का निषेध करके इसी श्रुति में यह कहकर किससे किसको जानै यह कहा है कि **येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्** अर्थ—जिससे इस सब को जानता है उसको किससे जानैं आशय इसका यह है कि जब योगनिष्ठ चित्त में द्वितीय की बुद्धिही नहींहै तब किससे किसको जानै अर्थात् उस अवस्था में न अन्य को देखता है न अन्य को जानता है परन्तु योगी जब पृथक्भाव से जगत् के पदार्थों के जानने की इच्छा करता है तब ईश्वरकी अनुग्रह से सम्पूर्ण पदार्थों को अपने इन्द्रियों व मनसे जानता है परन्तु ब्रह्म किसी इन्द्रिय से जानने योग्य नहीं है केवल आत्मज्ञानही से जानाजाता है इससे यह कहा है कि जिससे इस सबको (सब जगत्को) जानता है उसको किससे जानै अर्थात् वह किसीसे जाना नहीं जासक्ता उसके जानने से और सब जाना जाता है इस श्रुतिसे पूर्वापर अर्थ विचारने से यही सिद्ध होता है कि जब उपासक ज्ञानी का चित्त ब्रह्मध्यानमें अत्यन्त एकाग्र होजाताहै द्वैत बुद्धि नहीं रहती तब सब ब्रह्मस्वरूपही देखता है जब द्वैतज्ञान नहीं है तब भेद का व्यवहार कहाँसे हो और चेतन पदार्थ मात्र होने की दृष्टिसे भी आत्मा व परमात्मा के एक जाति होनेसे अद्वैत वाच्य होता है अथवा ब्रह्मके समान कोई अन्य सर्व व्यापक नहीं है सबमें व्यापक सर्वशक्तिमान् अन्तर्यामी ब्रह्म

१ यह बृहदारण्यक उपनिषद् का वाक्य है ।

अद्वैत कहा जाता है परन्तु मोक्षके लिये अतिश्रद्धा व प्रेम में प्राप्त हो ध्यानमें आसक्त वा मग्न अपने व परमात्मा में भेद को न जानना यही अर्थ ग्राह्य है जब केवल ब्रह्म (परमात्मा) को जानता है तब उसके अनुग्रह को प्राप्त हो मोक्ष को प्राप्त होता है यद्यपि यह व्याख्यान सूत्र के अर्थ के प्रयोजनसे अधिक है परन्तु कोई भाष्यकार वा अन्य वेदान्तवादी अद्वैत मतका प्रतिपादन किया है व करते हैं इससे संक्षेप से यथार्थ अद्वैत वर्णन के अभिप्राय को व्यक्त किया है अब यह जानना चाहिये कि वेदान्त को जो क्रियाविधिशेषहोना कहा है वह स्वीकार करने योग्य नहीं है क्योंकि मोक्ष जो वेदान्त में प्रतिपादित आत्मज्ञान का फल है वह किसी क्रियासाधन का फल नहीं है क्रियाके फल माननेमें पूर्वोक्तानुसार मोक्ष भी अनित्य होगा अर्थात् चार प्रकार के क्रिया के अनित्य कार्यरूप फल हैं एक उत्पाद्य (उत्पन्न होने के योग्य) दूसरा विकार्य्य (विकार होने के योग्य) तीसरा आप्य (प्राप्त होने के योग्य) चौथा संस्कार्य्य (संस्कार के योग्य) मोक्ष इन चार प्रकार में से किसीप्रकार का क्रियाफल विदित नहीं होता क्योंकि जो उत्पाद्य वा विकार्य्य मानाजाय तो जैसे उत्पाद्य घट आदि व विकार्य्य दधि (दही) आदि नित्य नहीं होते ऐसे ही मोक्ष भी अनित्य होगा आप्यभी नहीं है क्योंकि जो न हो उसका होना प्राप्त होना है ब्रह्म सर्वव्यापक नित्य है इससे नित्यही प्राप्त है केवल अज्ञानसे ज्ञात नहीं होता और संस्कार्य नहीं है क्योंकि गुण के आधानसे अथवा दोष के दूर करनेसे संस्कार होता है जैसे व्रीहि आदिमें मोक्षण आदि से गुणका आधान व वस्त्र आदि में धोनेसे मल दूर करने वा दूर होने रूप संस्कार होता है मोक्ष, जिसमें कोई गुण का आधान संभव नहीं है केवल ऐसे ब्रह्म के स्वरूप की प्राप्ति है और नित्यशुद्ध ब्रह्म में दोष नहीं है जिसका दूर होना मानाजाय इससे केवल ज्ञान का फल है जो ऐसा मानाजाय कि जैसे मलयुक्त दर्पण में घर्षणक्रिया से उसकी चमक व स्वच्छता प्रकट होती है ऐसेही अपने आत्मा का धर्म जो तिरोभूत है वह मोक्षरूप क्रिया से आत्मा में संस्क्रियमाण होनेसे प्रकट होता है तो आत्मा का क्रिया का आश्रय होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि क्रिया के आश्रय वस्तु में संयोग वियोग विकार होते हैं आत्मा में विकार नहीं होता जैसा कि श्रुतिमें कहा है **अविकार्य्योयमुच्यते** अर्थ–यह (आत्मा) अविकार्य्य (विकार रहित) कहा जाता है और आत्मा में विकार मानने में आत्मा के अनित्य होने का प्रसङ्ग होगा व अन्य आश्रय में (देहमें) जो क्रिया है वह आत्मा के संस्कार का हेतु न होनेसे उससे आत्मा संस्कार को नहीं प्राप्तहोता स्नान आचमन यज्ञोपवीत धारण आदिक क्रिया से देह मात्र संस्क्रियमाण होता है आत्मा नहीं होता केवल

---

१ स्थित के अवस्थान्तर होने को विकार कहते हैं विकार को जो प्राप्त हो वह विकार्य्य है ।

संहत (मेल वा संगति) को प्राप्त आत्मा अविद्या से देह के साथ संस्कार को प्राप्त हुआ मानाजाता है । स्नान आदि का देह समवायी होना अर्थात् देहहीके साथ सम्बंधयुक्त होना प्रत्यक्ष है आत्मा को केवल देहअभिमान से अपने में संस्कार होना बोध होता है जैसे देह जिसका आश्रय है ऐसी चिकित्सा से अर्थात् देहमें हुई चिकित्सा निमित्त से धातुओं के समभाव होने से देहमें संहत को प्राप्त देह के अभिमानी जीव को आरोग्य फल होता है व उसको यह बोध होता है कि मैं अरोग हुआ अरोग हूँ ऐसे ही स्नान आचमन क्रिया आदिमें मैं शुद्ध हूँ संस्कृत हूँ ऐसी बुद्धि होती है अहङ्कार मन व इन्द्रिय युक्त आत्मा कर्म फल को भोग करता है अहङ्कारआदि से रहित हो ज्ञानरूप शुद्ध निरशरीर पापरहित होता है क्योंकि आत्मा स्वभाव से विकाररहित शुद्धरूप है अंतःकरण इन्द्रिय व गुणों के सम्बंध से विकारी व मलिन भासित होता है ब्रह्मज्ञान होनेमें नित्यशुद्ध मुक्त ब्रह्म में प्राप्त हो आप भी ब्रह्मसम शुद्धरूप को प्राप्त होता है जिस ब्रह्मस्वरूप को प्राप्तहोता है वह ब्रह्म कैसा है यह ईशावास्य उपनिषद के मंत्र में वर्णन किया है मंत्र यह है **स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरंशुद्धमपापविद्धम्** इत्यादि अर्थ (सः) वह अर्थात् जिस पूर्वोक्त आत्मा के ज्ञान होने में शोक मोह आदि निवृत्त होते हैं वह परमात्मा (पर्य्यगात्) सर्वत्र व्याप्त है वा होरहा है अर्थात् आकाश के समान व्याप्त है वह परमात्मा कैसा है (शुक्रं) शुक्र है अर्थात् प्रकाशमान है (अकायम्) स्थूल सूक्ष्म और लिङ्गशरीररहित है शरीररहित होने ही से (अव्रणम्) व्रणरहित है अर्थात् छेद फोडा फुंसी रहित (अस्नाविरम्) नाडी नसों के बन्धनसे रहित है (शुद्धम्) शुद्ध है अर्थात् शरीररहित होनेही से मल मूत्र आदि शरीरमलों से रहित शुद्ध निर्मल है (अपापविद्धम्) पापफलों से रहित है क्योंकि शरीरही से पापहोना संभव है उसके न होनेसे पापशून्य है इत्यादि ऐसे ब्रह्ममें प्राप्त हो ब्रह्म समभाव होना मोक्ष है यह मोक्ष ज्ञानमात्र का फल होनेसे संस्कार्य्य भी नहीं है क्योंकि ज्ञानक्रिया नहीं है इन उक्त चारविधसे अधिक क्रियाफल नहीं है इससे कोई मोक्ष में क्रिया के प्रवेश वा सम्बंध का हेतु वर्णन नहीं किया जासक्ता तिससे केवल ज्ञानही मोक्ष का हेतु है इसमें कुछ भी क्रिया का योग होना विदित नहीं होता जो यह कहाजाय कि ज्ञान मानसी क्रिया है तौ विलक्षण होनेसे क्रिया होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि क्रिया वह है जो विना वस्तु स्वरूप की अपेक्षा उदय हो व पुरुषके चित्त के व्यापार के अधीन हो जैसा मानसी क्रिया का उदाहरण इस वाक्यमें है **यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्** अर्थ—(यस्यै देवतायै) जिस देवता के लिये- (हविर्गृहीतं) हविर्गृहीत हो अर्थात् अध्वर्यु करके हवि गृहीत हो (तां) उसको (वषट्कारिष्यन्)वषट्करनेवाला वा करैयाँ अर्थात् हविदानकरनेवाला(ध्यायेत) ध्यान

करे तथा सन्ध्यां मनसा ध्यायेत् अर्थ—मनसे सन्ध्याका ध्यान करै इन वाक्योंमें जो ध्यान मनसे होना कहाहै उसका करना न करना व अन्यप्रकारसे करना पुरुषके अधीन है ज्ञान ऐसा नहीं है ज्ञान प्रमाणजन्य है प्रमाण वस्तु विषयक है इससे ज्ञान करने न करने व अन्यथा करनेके योग्य नहीं है केवल वस्तु अधीन है न प्रेरणवचन के अधीन है न पुरुषके अधीन है तिससे मानस (मनसम्बंधी) होने पर भी विलक्षण होनेसे ध्यान वा चिन्तनके समान ज्ञान मानसी क्रिया नहींहै मानसी क्रियाका अन्य निदर्शन इस वाक्यमेंहै **पुरुषो वाव गोतमाग्निर्योषा वाव गोतमाग्निः** अर्थ—हे गोतम पुरुष निश्चयकरके अग्नि है स्त्री अग्नि है यहाँ पुरुष व स्त्री में अग्निबुद्धि मानसी है व केवल विधिवाक्य प्रेरणाजन्य होने व पुरुष अधीन होनेसे क्रिया है और जो प्रसिद्ध अग्नि में अग्नि बुद्धि है वह पुरुषतंत्र (पुरुषके अधीन) है वह प्रेरणतंत्र नहीं है प्रत्यक्ष विषय वस्तुतंत्र है इससे ज्ञान है क्रिया नहीं है ऐसेही सब प्रमाणविषयकवस्तुमें जानना चाहिये । ब्रह्म आत्माविषयक ज्ञान भी प्रेरणातंत्र नहीं है इससे क्रिया नहीं है जो यह कहा जाय कि जो क्रिया विधि से भिन्न है प्रेरणा व पुरुषके अधीन नहीं है तो **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः** इत्यादि विधि के समान वाक्यों को क्यों वर्णन किया है इसका उत्तर यह है कि अज्ञान व भ्रान्ति से इन्द्रियों के शब्द आदि विषयसम्बंधी प्रवृत्तिसे चित्तको विमुख करनेके लिये इन वाक्योंका वर्णन है तात्पर्य्य यह है कि जो ज्ञान से बहिर्मुख इस इच्छासे प्रवृत्त होता है कि मेरा मनोरथ पूर्ण होवे व जो मेरी इच्छाके विरुद्ध है वह न होवे उसको मोक्ष जो अत्यन्त पुरुषार्थ है नहीं प्राप्त होता जो आत्यान्तिक पुरुषार्थ की वाञ्छा करताहै उसके ज्ञानके निमित्त इन्द्रिय के विषय कार्य्यकारण-सम्बंधी प्रवृत्तिगोचर पदार्थोंसे विमुख करने व आत्मतत्त्वज्ञान के उपदेशमें **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो** मन्तव्यः अर्थ अरे निश्चय करके आत्मा जानने के योग्य सुननेके योग्य है इत्यादि वाक्यों का वर्णन है यह वाक्य मुमुक्षु को आत्मा के अन्वेषण (खोज) में प्रवृत्त करते हैं जो आत्मा के अन्वेषणमें प्रवृत्त होताहै उस जिज्ञासुके अर्थ जो त्याग व ग्रहण के योग्य नहीं है ऐसे आत्मतत्त्वका अद्वैत भावना करनेके लिये ऐसा उपदेश कियाजाताहै यथा **इदं सर्वं यदयमात्मा** अर्थ—जो यह सब है अर्थात् सब जगत् है यह आत्मा है **यत्रत्वस्यसर्वमात्मैवाभूत्तत्केनकंपश्येत्तत्केनकंविजानीयात्** अर्थ—जिसमें अर्थात् जिस ब्रह्मज्ञान अवस्था में इसका अर्थात् ब्रह्मज्ञानी योगीका सब आत्माही हो गया अर्थात् ब्रह्मध्यानमें अतिश्रद्धा व प्रेमसे मग्न एकाग्रचित्त होनेसे अपने व ब्रह्ममें भेदबुद्धि न रहनेसे एक आत्मा वा ब्रह्ममय सब उसको देखपरने लगा उस अवस्थामें वह किससे(किस करणसे) किसको देखै किस इन्द्रियसे किसको

१ इस मंत्रका व्याख्यान पूर्वमें भी होगया है।

जाने अर्थात् द्वैतबुद्धि न रहनेसे दूसरा पदार्थ होने व ज्ञाता ज्ञेय होनेका अवकाशही नहीं रहता और ब्रह्मज्ञान होनेमें श्रुतिमें सब कर्मके निषेध में यह वर्णन किया है **किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्** अर्थ—किस इच्छासे किस कामना के लिये शरीरको तप्यमान करै पूर्वशेष भागसहित इसका आशय यह है कि जब एकब्रह्महीके प्रेम व ध्यानमें मग्न हो ब्रह्मको सब में देखने लगा तब आनन्दमय ब्रह्म आत्मासे कोई अधिक इष्ट व उत्तम पदार्थ न होनेसे किससे अर्थात् किस इच्छासे व किस प्रयोजन के लिये तप आदिमें प्रवृत्त होवै वा उपासनाआदि करै क्योंकि एक ब्रह्मज्ञान होनेसे जीव कृतार्थ हो जाता है तपश्चर्य्या आदि का प्रयोजन नहीं रहता तिससे उपासना वा क्रिया विधि विषयता से ब्रह्मका कुछ सम्बंध नहीं है यहाँ साधक व जिज्ञासुओंके लिये इस कर्त्तव्यता के निषेध व मोक्ष के क्रियाफल न होने के वर्णन का आशय विशेष जनाना उचित समझकर यह वर्णन किया जाता है कि जो क्रिया फल होने का निषेध वर्णन कियागया है यह केवल चतुर्थ आश्रम में यथार्थज्ञान होने ही में मानने योग्य है यद्यपि मोक्ष ज्ञानही का फल है साक्षात् क्रिया का फल नहीं है तथापि क्रिया वा मानसी क्रिया धारणा ध्यान आदि अंतःकरण की शुद्धि व उसको सत्वगुण व ज्ञान उदय होने के योग्य करने के लिये उपयोगी है इसीसे ब्रह्मचर्य्य आदि तीन आश्रमों में क्रिया का विधान है उक्त क्रिया फल होने का जो निषेध वर्णन कियागया है वह अन्य भाष्यकार के मत अनुसार है मेरी सम्मति यह है कि यद्यपि मोक्ष संस्कार्य्य व क्रिया का साक्षात् फल नहीं है तथापि मिथ्याज्ञान का नाश विचार व ध्यान आदि मानसी क्रिया व धर्मानुष्ठान की सहायतासे होनेसे तत्वज्ञान उपचार से संस्कार्य्य व आप्य वाच्य होसक्ता है व तत्वज्ञान व आत्मज्ञान का फल होनेसे मोक्ष का भी उपयोगी कर्म होना सिद्ध होताहै इससे कर्म का सर्वथा प्रतिषेध समझना युक्त नहीं है वेदान्तही में ईशावास्य व बृहदारण्यक उपनिषदके मंत्रमें केवल कर्म वा केवल ज्ञान में रतहोना दोनों अयुक्त होना वर्णन किया है मंत्र यह है **अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ततो भूय इव ते तमो यउ विद्यायां रताः** अर्थ-(ये)जो अर्थात् वेद के तत्व रूप अर्थ के न जाननेवाले(अविद्यां)कर्म को (उपासते) सेवन करते हैं अर्थात् इस कर्मसे इस फल को प्राप्त होंगे इस बुद्धिसे रात दिन कर्मही में लगे रहते हैं (ते) वे (अंधंतमः) आत्मज्ञान के प्रकाशरहित उत्तम मध्यम निकृष्ट योनियोंमें (प्रविशन्ति) प्राप्त होतेहैं उस प्रवाह से पार नहीं होते (यउ) और जो (विद्यायां) ब्रह्मचर्य्यआदि तीन आश्रमोंमें सेवने योग्य कर्मको छोड कर विनाआत्मज्ञान प्राप्त हुये ज्ञानकाण्डही में रमतेहैं (ते) वे(ततः) उस अविद्यारूप कर्मकरनेवाले से भी (भूयइव) अत्यन्त (तमः) अंधकारको प्राप्त होतेहैं इससे सिद्धान्त यह है कि विनायथार्थ आत्मज्ञान हुये ज्ञानकी प्रशंसा मात्र सुनके कर्म को न त्यागना चाहिये

अब जो कर्मकाण्डही को प्रधान मानते हैं उनके मतके खण्डन के लिये उनका मत स्थापन करके उसका उत्तर वर्णन किया जाता है यद्यपि कोई यह कहते हैं कि प्रवृत्ति निवृत्ति विधि व विधिशेष से भिन्न केवळ वस्तुवाद वेदभाग नहीं है व वेदके क्रियाअर्थपर होनेसे क्रियाअर्थरहित वेदान्तवाक्य का प्रमाण नहीं है परन्तु यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि उपनिषद से सिद्ध परमात्मा किसी अन्यका शेष नहीं है क्रिया विधि वा कार्यका शेष न होने से व उपनिषद् में प्रतिपादित उपनिषद से जानने योग्य होनेसे सम्पूर्ण वेदका कार्यपर होना सिद्ध नहीं होता और न यह वाच्य (कहने योग्य) होसक्ता है कि वक्ताके वाक्य में जो पद होते हैं उनकी कार्य संयुक्तही पदार्थ में अर्थ ग्रहण में शक्ति होती है इससे सिद्ध पदार्थ का वाक्यार्थ (वाक्य का अर्थ) न होना कहना योग्य नहीं है क्योंकि तेरे पुत्र उत्पन्न हुआ इस वाक्यके सुननेवाले पिता के हर्ष के चिन्ह से इष्ट पुत्रजन्म होनेका अनुमान होने से पुत्र आदि पदोंकी सिद्ध पदार्थ में संगति ग्रहण होने से सिद्धका भी वाक्यार्थ होना पाया जाताहै ऐसेही सिद्ध ब्रह्मका भी वाक्यार्थ होना सिद्ध होता है जो असंसारी पुरुष ब्रह्म उत्पाद्य आदि उक्त चार प्रकारके कार्य द्रव्य से विलक्षण वेद भाग उपनिषद ही से जानने योग्य है उसका यह कोई नहीं कह सक्ता कि नहीं हैं अथवा सम्पूर्ण माया के कार्य्योंके निषेध करने से कि यह नहीं हैं यह नहीं है जो शेष रहता है वह आत्मा है यह उपदेश किया गया है शेष आत्मा का होना अङ्गीकार करने से सब दृश्य के निषेध करने से आत्मा ब्रह्मका खण्डन नहीं हो सक्ता और पूर्वोक्तानुसार (पूर्व कहे हुये के अनुसार) अखिल (सम्पूर्ण) जगत् अनेक नियमसंयुक्त का उत्पन्न करनेवाला अवश्य बुद्धिसे निश्चय करने के योग्य है क्योंकि जड़भूतों से अथवा किसी प्राकृत संसारी जीव से जगत् की रचना होना सर्वथा असंभव है इससे भी सर्वशक्तिमान आनन्द स्वरूप ब्रह्मका होना सिद्ध है इससे ब्रह्मका खण्डन किसी प्रकार से नहीं होसक्ता सर्वव्यापक सबका अंतर्यामी आत्मा होने से न हेय (त्याग के योग्य) है न उपादेय (ग्रहण के योग्य) है, सम्पूर्ण जो विकाररूप उत्पन्न होता है वह नाश को प्राप्त होता है पुरुष विनाश के हेतु के अभाव से अविनाशी है व विक्रिया हेतुके अभाव से अर्थात् विकार होनेका हेतु न होने से कूटस्थ (निश्चल) नित्य है इससे नित्यशुद्ध मुक्त स्वभाव है इसीसे यह कहा है **पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः** अर्थ–(पुरुषात्) पुरुषसे (न परं किञ्चित्) परे कुछ नहीं है (सा काष्ठा) वही सब की मर्य्यादा (परागतिः) उत्कृष्ट गति है इस प्रकारसे आत्मा को वेदान्त में सर्वमय वर्णन किया है ऐसा ज्ञान वेदान्तही से होता है इससे वेदान्त वा उपनिषद् से जानने के योग्य कहा है इसमें यह

श्रुति प्रमाण है **तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि** अर्थ–उस उपनिषदगम्य (उपनिषद से जानने वा प्राप्त होनेके योग्य) पुरुष को पूँछता हूं इससे वेद प्रमाण होनेसे यह कहना कि भूतवस्तुप्रतिपादन पर जो भाग है वह वेद भाग नहीं है कथन वा साहस मात्र है; जो शास्त्रके तात्पर्य्य के जाननेवालों ने यह कहा है कि उसका (वेदका) अर्थ कर्मका जनानेवाला है यह दृष्ट (जाना गया) है यह केवल धर्मका विचार विषय वा प्रयोजन होनेसे विधि निषेध शास्त्रका अभिप्राय है यह वर्णन करना समझना चाहिये इससे वेदान्त वाक्यों के ब्रह्मपर होने का प्रतिषेध नहीं होता और जो यह कहा है **आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्** अर्थ- वेद के क्रियाअर्थप्रतिपादक होनेसे जो क्रियाअर्थरहित वाक्य हैं उनका होना अनर्थक है अर्थात् वह वृथा हैं इसको जो ऐकान्तिक (सर्वत्र एकसमान होनेके) नियम से मानते हैं उनको **सोमेन यजेत** अर्थ–सोमसे यजन करै **दध्ना जुहुयात्** । अर्थ--दधिसे हवन करै इत्यादि वाक्यों- में सोम दधि आदि शब्दोंको अर्थशून्य मानना चाहिये और जो प्रवृत्ति निवृत्तिरूप विधि वा कार्य्य से भिन्न दधि आदि कार्य्य शेषभूत वस्तु को वेद उपदेश करता है तौ नित्यकूटस्थ भूतको उपदेश नहीं करता यह कहने में क्या हेतु है अर्थात् कूटस्थ (निश्चल ब्रह्म) का क्रिया न होना अथवा क्रिया शेष न होना क्या हेतु है जो यह कहा जाय कि दधि सोम आदि कार्य्य में सम्बद्ध कार्य्य से भिन्न न होने से कार्य्यभावसे (कार्य्यरूपसे) उपदेश के योग्य हैं कूटस्थ के कार्य्य न होने से उसके उपदेश का अभाव है तौ उपदेश कियागया भूत वस्तु क्रिया वा कार्य्यरूप नहीं होता कार्य्यशेष होताहै दधिआदिके भेदरहित कार्य्य होने में कार्य्य वा क्रिया शेष होने की हानि है इससे उपदिश्यमान भूतका क्रिया से भिन्नही होना सिद्ध होता है जो यह कहा जाय कि क्रिया न होने में भी भूतके क्रियासाधन रूप होनेसे क्रियाअर्थही के समान भूत का उपदेश है कूटस्थ ब्रह्मका क्रियाशेष अर्थात् कार्य्यशेष न होनेसे उपदेश नहीं है तौ यह दोष नहीं हो सक्ता क्यों कि जो भूतका कार्य्यशेष होना शब्दके अर्थ से माना जाय तौ दधिआदिकों के कार्य्यशेष होने में भी शब्दसे वस्तु मात्रही उपदिष्ट (उपदेश किया गया) है अन्विताार्थमात्रमें (जिस अर्थ के साथ सम्बंध है केवल उसमें) शब्दोंकी शक्ति ग्रहण होनेसे कार्य्यान्वयी शब्दार्थ नहीं है अर्थात् कार्य्य अर्थ के साथ शब्द का सम्बन्ध नहीं है इसपर उत्तर यह है कि क्रियाही के लिये भूत का प्रयोजन होनेसे अङ्गीकार के योग्य है अर्थात् दधि आदि भूत विशेष का क्रियाशेषत्व फल उद्देश करके अंगीकार किया जाता है ब्रह्मका क्रियाशेषत्व न होनेसे अङ्गीकार नहीं होता जो यह शंका हो कि भूत

१ इसका विशेष व्याख्यान पूर्वही होगया है ।

के कार्य्यशेषत्व अङ्गीकार करनेमें भूत में स्वतंत्रता से किस प्रकारसे शब्दार्थता सिद्ध होती है तौ उत्तर यह है कि फलके अर्थ शेषत्व अंगीकार करने मात्रसे शब्दार्थ होने में भङ्ग नहीं है और भूतवस्तुके सफल होने में युक्ति यह है कि यद्यपि दधि आदि स्वतः (आपसे) निष्फल हैं तथापि क्रिया द्वारा सफल होने से उपदिष्ट हैं (उपदेश किये गये हैं) अब भूत वस्तु के क्रियाद्वारा सफल होने पर भी यह शङ्का है कि ब्रह्म के क्रियाद्वारा सफल होनेके अभाव से ब्रह्मवादी को दधि आदि के दृष्टान्त से कुछ फल नहीं है इसपर सिद्धान्त उत्तर यह है कि भूत पदार्थ के सफल होने में केवल क्रियाही द्वार ह यह नियम नहीं है क्योंकि यह रस्सी है सर्प नहीं है यह सुनकर रस्सी के ज्ञानमात्र होने से विना क्रिया सर्पभय दूर होनेकी सफलता जानीजाती है ऐसेही ब्रह्म का स्वतः विना क्रिया व दधिआदिकोंका क्रियाद्वारा सफल होना सिद्ध होता है सफलता होनेमें दधि आदि व ब्रह्म की समता है ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने से संसार हेतु (संसार का हेतु रूप) मिथ्याज्ञान का निवृत्त होना प्रयोजन है और वेदान्तवाक्योंका निषेध वाक्य के समान भी सिद्ध वा भूतअर्थपर होना मानने के योग्य है यथा **ब्राह्मणो न हन्तव्यः** अर्थ-ब्राह्मण मारने के योग्य नहीं है अर्थात् ब्राह्मण को न मारना चाहिये इत्यादि इस प्रकार से जो निवृत्ति का उपदेश कियाजाता है यह न क्रिया है न क्रियासाधन है । क्रिया अर्थरहित उपदेश अनर्थक है यह माननेसे ब्राह्मण को न मारना चाहिये इत्यादि निवृत्तिरूप उपदेशों का अनर्थक होना प्राप्त होता है यह युक्त व इष्ट नहीं है जो यह मानाजाय कि निषेध रूप क्रिया अर्थात् न मारना रूप क्रियाको करै यह क्रियार्थ है (क्रिया रूप अर्थ है) तौ न मारना, क्रियानिवृत्तिरूप में अर्थात् जो क्रियाका निषेधरूप है उसमें क्रिया के होने की कल्पना नहीं होसक्ती क्योंकि नकार जो स्वभाव होता है उस अपने सम्बंधि स्वभाव के अभाव को जनाता है अभाव बुद्धि उदासीन होने की कारण है और जैसे अग्नि ईंधन को दग्ध करके आप भी शान्त होजाता है ऐसेही अभाव बुद्धि मारना आदि इष्ट साधन में रागद्वेष को नष्ट करके आप भी शान्त होजाती है तिससे क्रियानिवृत्ति व उदासीनता उपदेशक ब्राह्मण को न मारना चाहिये इत्यादि वाक्योंमें प्रजापतिव्रत आदिको छोडकर केवल निषेध अर्थ को हम मानते हैं । प्रजापतिव्रत में कहा है कि प्रजापतिव्रत का अनुष्ठान करनेवाला उदयहोते हुये सूर्य्य को न देखै यहाँ देखने के निषेध में जो नकार हैं वह प्रजापतिव्रत संकल्प क्रियालक्षणरूप है इससे निषेधमात्र वाचक नहीं है सिद्धान्त यह है कि जो क्रियाअर्थरहित को अनर्थक होना कहा है उसका अभिप्राय यह है कि जो उपाख्यानआदि मोक्ष के उपयोगी नहीं है उनके भूत अर्थवाद विषयको अनर्थक जानना चाहिये जो ब्रह्मज्ञान व पुरुषार्थ के उपयोगी हैं वह सफल हैं । यद्यपि यह कहा है कि कर्तव्यविधिरहित वस्तु-

मात्र का कहना अनर्थक है यथा यह कहना कि सात द्वीपकी वा सातद्वीपवाली पृथिवी है इस कहने से सात द्वीपका बोध नहीं होता परन्तु इसका उत्तर यह है कि वस्तुमात्र कहने में भी प्रयोजन सिद्ध होता है यथा यह रस्सी है सर्प नहीं है यह कहनेही से भ्रमभय दूर होजाता है अब शङ्का यह है कि ब्रह्म के सुनने के पश्चात् पूर्व के समान संसारी होना देखाजाता है रस्सी के स्वरूप कहनेके समान अर्थवान् होना विदित नहीं होता उत्तर यह है कि जिसको ब्रह्म आत्मा का भाव नहीं प्राप्त हुवा उसका पूर्व के सदृश संसारी होना नहीं कहा जायसक्ता क्योंकि उसका संसारीभाव निवृत्तही नहीं हुआ यथा शरीर आदि को जो आत्मा मानता है विषयमें आसक्त है उसका अज्ञानवश विषयसुखमें दुःखभय आदिमान् होना नहीं देखा जाता उसीको ब्रह्मात्मज्ञान प्राप्त होनेमें शरीर आदि को आत्मा मानने का अभिमान निवृत्त होने पर मिथ्याज्ञान निमित्त है जिसका ऐसे संसारिदुःख भय आदि का बोध होना विदित होता है । जैसे धनी गृहस्थ धनाभिमानी को धनसञ्चय वा संग्रह हेतु से जो दुःख होता है वह दुःख नहीं जानपरता है उसी गृहस्थ पुरुष को जब संन्यास धारण करता है तब धनाभिमान रहित संन्यासी को धनसंग्रह से जो दुःख होता है वह ज्ञात होता है तथा कुण्डली को कुण्डली होने के अभिमान से जो सुख होता है वह सुख होना विदित नहीं होता उसी को कुण्डलरहित होने में कुण्डली होने का अभिमान जब नहीं है कुण्डली होने से सुख होता है अर्थात् वर्तमान अवस्थामें उसके विरुद्ध वा विलक्षण अवस्था में जैसा सुख वा दुःख का बोध होता है नहीं होता. इससे आत्मज्ञान होने से अवस्थान्तर प्राप्त होने से शरीररहित संसारी दुःखसुख से रहित मुक्त होता है जैसे जीवन्मुक्त को इस श्रुतिमें वर्णन किया है **अशरीरंवावसन्तं न प्रियाऽप्रियेस्पृशतः** अर्थ-(अशरीरं) विदेह (वावसन्तं) सन्तको अर्थात् जीवन्मुक्त ज्ञानी सन्तको (न प्रियाऽप्रिय स्पृशतः) सुख दुःख स्पर्श नहीं करते जो यह शंका हो कि जीते में ज्ञानी का विदेह अर्थात् शरीररहित होना नहीं होसक्ता मरने में शरीर-रहित होना संभव है तौ शरीररहित होने से तात्पर्य्य शरीर अभिमानरहित होनेसे है शरीर अभिमानरहित होनेसे उपचार से शरीररहित होना कहाहै जब शरीर का अभिमान छूटजाताहै तब ज्ञानी को ज्ञानप्रभावसे व अभिमानके अभावसे शरीर के सम्बंध से जो दुःख सुख होते हैं वह नहीं प्राप्त होते क्योंकि अभिमान निवृत्त होजाने की अवस्था में शरीर का होना न होनेके समान है बृहदारण्यक उपनिषदमें भी ब्रह्मज्ञानी के शरीररहित होने को इसप्रकारसे वर्णन किया है **यथाऽहिनिर्ल्वयनीवल्मीकेऽमृतप्रत्यस्ताशयीतैवमेवेदं शरीरं शेते अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेजएवइति** अर्थ-(यथा) जैसे (अहिनिर्ल्वयनी) सांप की केचुल (वल्मीके) बांबीमें (अमृतप्रत्यस्ता) जीते

हुये से अर्थात् जीतेहुये सर्प से छोडी हुई (शयीता) वर्तमान रहती है (एवमेव) ऐसेही (इदं शरीरं) यह शरीर (शेते) स्थित रहता है (अथ) इसके अनन्तर (अयं) यह अर्थात् ज्ञानी (अशरीरं) शरीररहित अमृत प्राणरूप ब्रह्मैव ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त ब्रह्मही के समान (तेजएव) स्वयंतेजरूप होता है भाव इसका यह है कि जैसे सर्प की केचुल जिसका अभिमान सर्प ने छोडदिया है वह बांबी में जीते हुये सर्प से छोडी हुई वर्तमान वा स्थित रहती है ऐसेही ज्ञानी जिस शरीर का अभिमान छोडदिया है ऐसा उसका शरीर स्थित रहता है इसके पश्चात् जैसे केचुल छोडाहुवा सर्प केचुलरहित होता है ऐसेही ज्ञानी देहरहते हुये अभिमान के अभाव से शरीररहित अमृत प्राणरूप ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त ब्रह्मके समान स्वयंतेजरूप होता है इसकी पुष्टि में अन्य श्रुति में यह कहाहै **सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव** अर्थ—ब्रह्मज्ञानी (सचक्षुः) नेत्रसंयुक्त (अचक्षुरिव) विना नेत्रके समान (सकर्णः) कर्णसंयुक्त (अकर्ण इव) कर्ण रहित के समान (सवाग्) वाक्सहित (अवागिव) वाक्रहित के समान (समनाः) मनसंयुक्त (अमनाइव) मनरहित के समान (सप्राणः) प्राणसंयुक्त (अप्राणइव) प्राणरहित के समान है वा होता है तिससे इत्यादि प्रमाण से जिसको ब्रह्मात्मा का भाव प्राप्त है वा प्राप्त होता है उसको पूर्व के समान संसारीभाव नहीं हो सक्ता जिसको पूर्व के सदृश संसारीभाव है उसको ब्रह्मात्मा के भाव की प्राप्तिही नहीं है यह समझना चाहिये जो श्रवण के उत्तर मनन निदिध्यासन विधि देखने से ब्रह्मका विधिशेष होना कहा जाय तो मनन निदि-ध्यासन केवल ब्रह्मबोधके प्राप्त होने के लिये उपयोगी हैं ब्रह्मज्ञान के प्राप्त होने में किसी विधि का अङ्गीकार नहीं है इससे मनन निदिध्यासन भी श्रवण के समान ब्रह्मात्मज्ञान की प्राप्ति के लिये उपयोगी हैं ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने की अवस्था में विधि का संभव नहीं है इससे क्रिया व उपासना विधिविषयता से अर्थात् विधिविषयताद्वारा ब्रह्मका शास्त्रप्रमाण होना संभव नहीं है वेदान्तवाक्यों के समन्वय से स्वतंत्र ब्रह्म का शास्त्र से प्रमाण होना सिद्ध है ऐसा होने में अर्थ इससे ब्रह्मकी जिज्ञासा करनाचाहिये इस उपदेशसे शास्त्र का आरंभ करना उचित है क्योंकि धर्मव्याख्यान व क्रिया विधि के आरंभ करने से मीमांसा में जो **अथातो धर्मजिज्ञासा** अर्थ—अथ इससे धर्म की जिज्ञासा करना चाहिये इस सूत्र से धर्म विज्ञापन व क्रिया विधि के वर्णन में शास्त्र को आरंभकिया है वही आरंभ करना होता अर्थात् जिसका आरंभ पूर्वही होगया है उसीका आरंभ करना पाया जाता यह पृथक् शास्त्र न होता इस हेतुसे कि जैमिनिकृत मीमांसा दर्शन में यज्ञ क्रिया अर्थ की प्रतिज्ञा है ब्रह्मात्मा ज्ञान के उपदेश की प्रतिज्ञा नहीं है इस लिये ब्रह्म की जिज्ञासा विषयमें जो

इस शास्त्र का आरंभ किया गया है वह युक्त है यहाँ तक ब्रह्म के जिज्ञास्य होने व वेद प्रमाण से सिद्ध होनेका वर्णन किया गया ॥ **इति चतुस्सूत्री समाप्ता ॥**

अब उक्त प्रकार से ब्रह्म को सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगत्के उत्पत्ति स्थिति व नाश का कारण वर्णन करके साङ्ख्य आदि में जो प्रधान आदि को कारण माना है उस के प्रतिषेध को वर्णन करते हैं विदित हो कि साङ्ख्यमतवाले प्रधान को जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण मानते हैं व वेदान्तवाक्यों को प्रधान आदि में योजित करते हैं और कणाद मतवाले ईश्वर को निमित्तकारण व परमाणु को समवायि वा उपादान कारण मानते हैं साङ्ख्यमतवाले जो त्रिगुण रूप प्रधान (प्रकृति वा माया) अचेतन को जगत् का कारण मानते हैं वे यह कहते हैं कि जिन वेदान्त के वाक्यों से सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को जगत् का कारण होना वर्णन किया जाता है उनही वाक्यों का अर्थ प्रधान पक्षमें लग सक्ता है इससे प्रधानही पक्षका अर्थ ग्रहण करना चाहिये प्रधानका लक्षण साङ्ख्य में यह वर्णन कियाहै कि सत्व रज तम इन तीन गुणों की जो सम होने की अवस्था है उसको प्रकृति कहते हैं व प्रकृति से इसप्रकार से सृष्टि होने का क्रम वर्णन किया है कि प्रकृति से महान् (महत्तत्त्व) होता है पुरुष अर्थात् आत्मा व प्रकृति के संयोग होने से सत्वगुण से प्रकृति कारण का आदि कार्य्यरूप जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसको महत्तत्त्व कहते हैं महत्तत्त्व कारणसे अहङ्कार कार्य्य होता है अहङ्कार से दो कार्य्य होते हैं एक पांच मात्रा अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गंध द्वितीय बाह्य व अन्तर इन्द्रिय बाह्य इन्द्रिय दश हैं पांच ज्ञानइन्द्रिय कर्ण, नासिका, नेत्र, रसना, त्वक् (चमडा) व पांच कर्म इन्द्रिय वाक् हस्त पाद उपस्थ (लिङ्ग वा योनि) व पायु (गुदा) और अन्तरइन्द्रिय ग्यारवाँ मन व पांचमात्रासे पांच स्थूलभूत आकाश वायु तेज जल पृथिवी कार्य होते हैं प्रकृति व महत्तत्त्व आदि कार्य्य चौबीस यह व पचीसवाँ पुरुष इन पचीसपदार्थोंके गण को सृष्टिका कारण कार्यरूप मानतेहैं सत्व रज तम इन तीनों गुणमय एक प्रकृति मानी जाती है इससे पचीस होते हैं और जो तीनों गुणों को भी पृथक् करके तीन व तीन के सम होनेकी अवस्थामें समुदायरूप एक प्रकृति मानते हैं तौ पचीस व तीन २८ अठ्ठाईस पदार्थ का गण वाच्य होता है सृष्टि की मुख्य आदि कारण प्रकृति है इससे उसको प्रधान नामसे कहते हैं प्रधान अन्य की भी संज्ञा होती है अर्थात् जब एक की अपेक्षा दूसरा श्रेष्ठ व मुख्य होता है वह प्रधान कहा जाता है परंतु साङ्ख्यमत में सृष्टि के कारण होने में सबसे आदि मुख्य कारण होनेसे प्रकृति को प्रधान नाम से वर्णन किया है और प्रकृति को अव्यक्त अलिङ्ग व माया नाम से भी कहते हैं जिज्ञासु जो साङ्ख्यमत को न जाने हों उनके जानने के लिये संक्षेप से यहाँ साङ्ख्यमत को वर्णन किया है अब जो ब्रह्मप्रतिपादक वेदान्त

वाक्य हैं वह प्रधान पक्षमें कैसे घटित होते हैं यह वर्णन कियाजाता है सम्पूर्ण का आदि कारण होने से प्रधान को सर्वशक्तिमान् कहना योग्य है व स्मृति में लिखा है **सत्वात्संजायते ज्ञानं** अर्थ–सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है सत्वगुणविशिष्ट प्रधान को सर्वज्ञ कहना उचित है इस सत्वगुण के उत्कृष्ट होने से योगी सर्वज्ञ प्रसिद्ध होता है जो यह शंका हो कि प्रधान को सर्वज्ञ कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि केवल सत्वप्रधान होने की अवस्था में प्रधान को सर्वज्ञ कल्पना कर सक्ते हैं प्रकृति त्रिगुणात्मक अचेतन हैं अन्य गुणों की अपेक्षा सर्वज्ञ होना सिद्ध नहीं होता तो इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म को जो सर्वज्ञ कहते हो वह केवल सर्वज्ञानकी शक्ति होनेहीसे सर्वज्ञ कहा जाय सक्ता है सब विषय का ज्ञान करते हुये अर्थात् जानते हुये ब्रह्म वर्तमान नहीं रहता ऐसेही प्रकृतिपक्ष में जानना चाहिये क्योंकि जो सब विषयों का ज्ञान करता हुवा ब्रह्म का वर्तमान रहना माना जावे तो ज्ञानक्रिया के नित्य होने में ज्ञानक्रिया में ब्रह्मका स्वतंत्र होना न मानना चाहिये और जो ज्ञान अनित्य अंगीकार कियाजाय तो ज्ञानक्रिया के शान्त होजाने में ब्रह्म का भी शान्त होजाना अंगीकार करनाचाहिये इससे सर्वज्ञान में शक्तिमान् होनेही से ब्रह्मका सर्वज्ञ होना सिद्ध होता है दूसरे सृष्टि की उत्पत्ति से पहिले तुम (वेदान्ती) ब्रह्म को सब कारकशून्य मानते हो ज्ञानके साधन करनेवाले शरीर इन्द्रियों के अभाव में ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती इससे ब्रह्ममें ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होसक्ती और अनेकात्मा प्रधान का परिणाम संभव होने से मृत्तिकाआदि के समान उसका कारण होना अनुमान से सिद्ध होता है ब्रह्मके एकात्मा संहतिरहित व परिणामरहित होनेसे ब्रह्मका कारण होना सिद्ध नहीं होता इस प्रकार से प्रधान के जगत् उत्पन्न करने का जो प्रतिपादन है. उसका निषेध आगे सूत्र में वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

प्रधान के जगत के कर्ता होने के निषेध में सू० ५ से ११ तक अधि० ५

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

अनु०–(ईक्षतेः) विचार पूर्वकदेखनेसे वा विचारनेसे अशब्द (जो वेद में कथित नहीं है) नहीं है अर्थात् जगत् का कारण नहीं है ॥ ५ ॥

भाष्य–इस सूत्र वाक्यका अभिप्राय यह है कि प्रधान अचेतन जो अशब्द अर्थात् वेदमें कथित नहीं है जगत् का कारण नहीं है किस हेतुसे कारण नहीं है जगत् के कारण में इच्छा होने से अर्थात् वेद ईक्षा पूर्वक कारण से सृष्टिकार्य्य होना कहा है कारण में ईक्षा होने से चेतन जगत्का कारण है अचेतन जो अशब्द है

अर्थात् वेद शब्द में नहीं कहागया जगत्का कारण नहीं है छान्दोग्य उपनिषद्में यह कहा है **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्** अर्थ-हे सौम्य यह संसार आगे अर्थात् सृष्टि उत्पत्ति से पहिले सत्ही था अर्थात् व्यापक ब्रह्ममें कारणरूप से माप्त सत्ही था **एकमेवाद्वितीयं** अर्थ-(एकमेव) एकही (अद्वितीयं) द्वितीयरहित था । अर्थात् ब्रह्मसत्ता के अन्तर्गत उससे भिन्न जगत् विदित व व्यवहार के योग्य न होनेसे एक ब्रह्महो वाच्य था यह कहकर यह वर्णन कियाहै **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय** अर्थ-(तदैक्षत) उसने (ब्रह्मने) ईक्षाकिया (बहुस्यां) बहुत होंऊ (प्रजायेय) उत्पन्न होंऊँ **तत्तेजोऽसृजत्** अर्थ-(तत्) उसने (तेजोऽसृजत्) तेज को उत्पन्न किया इस मंत्रमें जो बहुत होंऊँ उत्पन्नहोंऊँ कहा है इसका आशय ब्रह्महो के उपादान कारण होने का नहीं है इसमें शक्ति व शक्तिमान् का अभेदान्वित पक्ष लेके सृष्टि उत्पत्ति का प्रतिपादन किया है तात्पर्य्य यह है कि ब्रह्म परमेश्वरके प्रतिपादन व स्वतंत्र जगत्के कारण होनेमें यह मंत्र है इससे जैसे राजा प्रजाजन सेना शस्त्र आदि अनेकप्रकारकी बाह्यसामग्रीसे सिद्धहोताहै अर्थात् बाह्य सामग्री के विना राजत्व सिद्ध नहीं हो सकता सब बाह्यसामग्री सहितही राजा कहाता है ऐसेही कार्य्य कारणरूप जगत् सब ईश्वर शक्तिरूप ईश्वरकी विभूति है उसके अध्यक्ष होनेही से परमेश्वर वा ईश्वर कहाता है कारण अवस्था में अव्यक्त परमाणुआदि ईश्वर शक्ति के अतिसूक्ष्म होने से बहुत शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती किन्तु एकाकार प्रतीत होनेयोग्य होता है इसलिये कहा है कि मैं अपनी शक्ति उपादानकारणसहित कार्य्यरूप बहुत होऊं उत्पन्न होऊँ अथवा ऐसा समझना चाहिये कि जैसे राजा वा स्वामी विचार करता है कि मैं ऐसा करूँ व उसको सेवकद्वारा करता है अर्थात् करूं का अर्थ सेवकद्वारा करूं का होता है क्योंकि अपने प्रधान अधिकारी सेवकों से कराता है यद्यपि सेवकों से कराता है तथापि अपनाही करना कहता व मानता है व लोकजन भी राजाही वा स्वामी का करना मानते हैं तथा राजा के सेवकों को प्राप्तहुआ जय पराजय राजा का जय पराजय कहाजाता है ऐसाही मैं बहुत होंऊँ उत्पन्नहोऊँ का तात्पर्य्य यह है कि प्रकृतिद्वारा अनेक कार्य्य करूं व उत्पन्न होंऊँ अर्थात् प्रकृतिद्वारा अनेक कार्य्य कराऊं व उत्पन्नहोने का निमित्त होऊँ प्रकृतिकार्य्यों सहित होने से अनेक कार्य्योंसहित मैं अनेक हो स्थित वा वर्तमान होऊं परन्तु इसप्रकारसे कर्ता मानने का पूर्वसूत्र के व्याख्यानमें शांकरभाष्यमें ऐसा निषेध वर्णन किया है कि धन दान आदि से उपार्जित भृत्य (सेवक) सम्बंधी होनेसे राजाओं का कर्तृत्व (कर्ताहोना) सिद्ध होता है धनदानआदि के समान आत्मा का शरीरआदि के साथ सेवक व स्वामी सम्बंध का कुछ निमित्त होना कल्पना नहीं कियाजासक्ता ऐसे ही परमात्मा का प्रकृतिके साथ सम्बन्ध न होने का प्रतिषेध वाच्य है इसका उत्तर यह है कि यह प्रतिषेध युक्त नहीं है केवल

प्रसिद्ध एक अंशके साधर्म्य से उपमान की सिद्धि होजाती है सब अंश वा देशमें समता होने की आवश्यकता नहीं है यहां भी जड प्रकृति आप से जडत्व कारण से सृष्टि करनेमें समर्थ न होने ब्रह्मके अधीन होने से ब्रह्म व प्रकृति में स्वामी सेवक के समान सम्बन्ध ग्रहण होने से उपमान का युक्त होना स्वीकार के योग्य है सर्व धर्म में समहोनेमें उपमा उपमेय वा दृष्टान्त दार्ष्टान्त में भेदही न रहै न दो नाम से वाच्य हो सकें और सिंहपुरुष चंद्रवत् यश सूर्य्यवत् प्रताप यह सब पूर्वसत्पुरुषों वा लोक में उक्त उपमा मिथ्या होजायँगी आत्मा का स्वयं मुख्य अर्थ से उपादान कारण होना किसी प्रकार तर्कप्रमाण व युक्ति से सिद्ध नहीं होसक्ता क्योंकि चेतन निरवयव जड व सावयव नहीं हो सक्ता व होने में उसका निज स्वरूपही नाश होता है क्योंकि जो ब्रह्मकार्य्य होगा तो सम्पूर्णही होगा एकदेश निरवयव में मान नहीं सक्के माननेंमें निरवयव नहीं होसक्ता व निरवयव प्रतिपादक श्रुतियां मिथ्या हो जायँगी व सावयव होनेसे नाशमान् अनित्य होगा इससे लाक्षणिक वा औपचारिकही अर्थ ग्राह्य है और जो आत्मा का स्वतः व सन्निधिमात्र से उक्तसूत्रके भाष्य में दोनों प्रकार से कर्त्ता न होना वर्णन किया है यह भी युक्त नहीं है वेदान्त का विषयही आत्मा के अकर्त्ता होनेके प्रतिपादन का नहीं है आदिही में वेदान्त में जन्मआदि जिस से जगत् के होते हैं वह ब्रह्म है यह वर्णन किया है तथा इसी सूत्र में ईक्षापूर्वक सृष्टिउत्पादक ब्रह्मका प्रतिपादन है व उसने ईक्षा किया इत्यादि इस छान्दोग्य उपनिषद् के मंत्रमें उसने तेज को उत्पन्न किया तथा अन्यत्र उसने ईक्षा किया व लोकों को उत्पन्न किया प्राण को उत्पन्न किया यह उत्पत्तिक्रियाविधायक मंत्र हैं जीवों के कर्मप्रतिपादन में इस शंका के उत्तर में कि, किसी को सुखी व किसी को दुःखी आदि करने से ईश्वर में वैषम्य व नैर्घृण्य दोष आता है वक्ष्यमाण सूत्र में यह कहाहै कि, जीवों के कर्मकी अपेक्षा से जीवों के नाना प्रकारके शरीर ब्रह्म उत्पन्न करता है व सुख दुःख फल देता है इत्यादि इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि, जड देहआदि कर्ता नहीं हो सके सुख दुःख फल भोगकरनेवाला जीव कर्ता है इन उक्त वाक्योंसे परमात्मा व जीव दोनों का कर्ता होना वेदान्त से सिद्ध होता है मूलसे विरुद्ध भाष्य वा टीका स्वीकार के योग्य नहीं है पुरुष को अकर्ता प्रतिपादन करना केवल साङ्ख्य का विषय है वेदान्त का नहीं है वेदान्त में मुख्य कर्तृत्वही प्रतिपादित है । ऐतरेय उपनिषद् में ईक्षापूर्वक ब्रह्मके कर्ता होने में यह वर्णन किया है **आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीन्नान्यत्किञ्चनमिषत् स ऐक्षत लोकान्नुसृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत** अर्थ-(अग्रे) आगे अर्थात् सृष्टिउत्पत्ति से पहिले (इदं) यह अर्थात् वर्तमान कार्य्यरूप जगत् (वै) निश्चय (आत्मा एक एव) एक

---

१ वैका सन्धि होनेमें प्रथम वायू होकर यकारका लोप होजाने से वा होगया है ।

आत्माही (आसीत्) था अर्थात् कारणरूप अतिसूक्ष्म व्यापक आत्मा में प्राप्त भिन्न प्रतीत न होने व निश्चय एक आत्माही प्रतीति योग्य होनेसे एक आत्माही था (अन्यत् किश्चन) अन्य कुछ (मिषत्) चलताहुआ (न) नहीं था अर्थात् प्रकृतिसहित एक ब्रह्म स्थिर (निश्चल) रूप था कार्यरूप पदार्थ जगत् चलताहुवा अर्थात् क्रम से रूपान्तर व नाशको प्राप्त होताहुवा कुछ नहीं था (सः) उसने अर्थात् निश्चल व्यापक आत्मा ब्रह्मने (ऐक्षत) ईक्षाकिया अर्थात् विचार किया कि, (लोकान्नुसृजै) लोकों को उत्पन्न करूँ (सः) उसने (इमाँल्लोकान्)इन लोकों को (असृजत) उत्पन्नकिया तथा अन्यत्र यह वाक्य है **स ईक्षांचक्रे स प्राणानसृजत** । अर्थ-(सः) उसने (ईक्षांचक्रे) ईक्षाको किया (सः) उसने अर्थात् ईक्षाके पश्चात् उसने(प्राणं)प्राणको (असृजत) उत्पन्न किया इत्यादि वाक्यों में ईक्षापूर्वक सृष्टिका होना वर्णन किया है ईक्षा ज्ञान होना चेतन का धर्म है अ-चेतनका नहीं है इससे अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं है जो यह कहाजाय कि, ज्ञान सत्त्व का धर्म होने से प्रधानही ज्ञानवान् चेतन माननाचाहिये तो यह युक्त नहीं है क्योंकि प्रधान अवस्था में गुणोंके सम होने से सत्त्वगुण का धर्मज्ञान होना संभव नहीं होता जो यह कहा जाय कि, सर्व ज्ञान शक्तिमान् होने से अर्थात् सब ज्ञानों की शक्तिसंयुक्त होने से ज्ञानवान् व सर्वज्ञ मानाजाय तो यह भी नहीं हो सक्ता जो गुणों के सम होने की अवस्था में सत्त्वधर्म को ज्ञान-शक्तिका आश्रय मानकर प्रधान सर्वज्ञ कहाजाय तो रजोगुण व तमोगुण को ज्ञान के रोकनेवाले मानकर प्रधान अल्पज्ञ वा मूढ होना भी कहना चाहिये अचेतन प्रधान का साक्षी होना नहीं होसक्ता इससे प्रधान का सर्वज्ञ होना सिद्ध नहीं होता योगियोंको जो सत्त्वगुण वृत्ति से सर्वज्ञान होता है वह चेतन आत्मा निमित्त से होता है इससे चेतन ब्रह्मही मुख्य जगत् का कारण है । जो पूर्वपक्षवादी ने यह कहा है कि ज्ञानक्रिया के नित्य होनेमें ज्ञान क्रिया में ब्रह्म का स्वतंत्र होना संभव न होने से ब्रह्म का भी मुख्य होना व सर्वज्ञ होना सिद्ध नहीं होता तो इसमें यह प्रश्न होना चाहिये कि, जो नित्यज्ञान क्रिया के होने में मुख्य व सर्वज्ञ होनेका प्रतिषेध किया गया और अनित्य होने में जो कहीं जानता है व कहीं नहीं जानता वह असर्वज्ञ भी होगा तो यह मानना कि, जब जानता है तब सब जानता है इसमें कोई हेतु युक्त नहीं है इससे सर्वज्ञ होना सिद्ध नहीं हो सक्ता फिर किस प्रकारसे सर्वज्ञ मानना चाहिये क्योंकि अन्य कोई हेतु नहीं होसक्ता इससे यह दोष ग्रहण के योग्य नहीं है । जो यह शङ्का है कि, ज्ञान के नित्य होने में ज्ञानविषय में स्वतंत्र होना नहीं कहा जासक्ता इसका उत्तर यह है कि, प्रकाश की गरमी से तप्त होने व भस्म होने में भी सूर्य्य भस्म करता है प्रकाशकरता है यह कहने से भस्म व प्रकाश करने की क्रिया में सूर्य्य को स्वतंत्रकर्ता कहाजाना प्रसिद्ध है ऐसाही

ब्रह्म में जाननाचाहिये यदि यह शङ्का हो कि, ज्ञान ब्रह्मका स्वभाव नित्यसिद्ध गुण है क्रिया नहीं है जो ज्ञान करता है वा जानता है यह कहाजाय तो उत्तर यह है कि, बिना क्रिया भी क्रिया के समान जैसे सूर्य्य के प्रकाश में व्यवहार कियाजाता है ऐसाही ब्रह्म में जानने योग्य है अर्थात् जैसे प्रकाश करना क्रिया सूर्य्य में कहीजाती है यद्यपि प्रकाश सूर्य्य का स्वभाव है क्रिया नहीं है ऐसेही यद्यपि ज्ञान स्वभाव है तथापि **तदैक्षत** । अर्थ—उसने ईक्षा किया ज्ञान-क्रिया का होना ब्रह्म में कहाजाता है इससे दोष नहीं है अब यह जानना चाहिये कि, क्रिया कर्म की अपेक्षा से होती है जैसे जिसमें प्रकाश व दाह प्राप्त होता है उसकी अपेक्षा से सूर्य्य में प्रकाश व भस्म करनेकी क्रिया कहीजाती है वह कौन कर्म है कि, जो उत्पत्ति से पहिले ब्रह्म के ज्ञान का विषय होता है वह कार्य्यरूप नामरूप प्रकट करने की इच्छा कीगई ऐसी सूक्ष्मकारण मात्र प्रकृति है। जिस ब्रह्मकी कृपा व प्रसाद से योगियों को भूत भविष्यत् का ज्ञान योगाभ्यास से होता है यह योग के करनेवाले व योगशास्त्रके जाननेवाले कहते हैं उस नित्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप ईश्वर के सृष्टि स्थिति संहार विषय के नित्यज्ञान होने में क्या संदेह होसक्ता है जो यह संशय है कि, सृष्टिउत्पत्ति से पहिले सृष्टिउत्पत्ति के लिये शरीर इन्द्रियोंके सम्बन्ध बिना ब्रह्म में ईक्षा-ज्ञान होना संभव नहीं है इसका उत्तर यह है कि, अविद्यावान् संसारी जीवात्मा को ज्ञानसाधन के लिये शरीर व इन्द्रियों की अपेक्षा होती है नित्यज्ञानरूप ज्ञान के रोकनेवाले कारणरहित ईश्वर को नहीं होती जैसे श्वेताश्वतर उप-निषद् के इन मंत्रों में वर्णन किया है **न तस्य कार्य्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥१॥अपाणिपादो जवनो ग्रहीता प-श्यत्यचक्षुःसशृणोत्यकर्णः।सवेत्ति वेद्यं न च तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥२॥** अर्थ—(तस्य) उसके अर्थात् ईश्वरके (कार्य्यं) शरीर (करणञ्च) और इन्द्रिय (न विद्यते) नहीं है (च) और (तत्समं) उसके समान (अधिकश्च) व उससे अधिक (न दृश्यते) देखा नहीं जाता अर्थात् विदित नहीं होता (अस्य) इसकी अर्थात् ज्ञानदृष्टिसे प्रत्यक्ष ईश्वर की (शक्तिः) शक्ति (परा) पररूप अर्थात् अपने महत्तत्त्व आदि कार्य्यों से पर उत्कृष्ट नाम(विविधैव) नानाप्रकारहीकी अर्थात् विचित्र कार्य्योंकी करनेवाली होनेसे विचित्ररूप (श्रूयते) सुनीजाती है (च) और इस ईश्वर की (स्वाभाविकी) स्वभावसे होनेवाली (ज्ञानबलक्रिया) ज्ञान व बलसे हुई सृष्टिक्रिया (श्रूयते) सुनीजाती है अर्थात् वेद से प्रतिपादित शब्दों से ज्ञात होती है ॥१॥ (सः) उक्त ईश्वर वा ब्रह्म (अपाणिपादः) बिना हाथ व पाँव (जवनो ग्रहीता) वेगसे चलनेवाला व ग्र-हण करनेवाला है (अचक्षुः) नेत्ररहित (पश्यति) देखता है (अकर्णः)

कर्णरहित (शृणोति) सुनता है (सः) वह (वेद्यं) जाननेयोग्य सर्वपदार्थोंको (वेत्ति) जानताहै (तस्य) उसका (वेत्ता) जाननेवाला (न) कोई नहीं है ऐसा जो कोई है (तं पुरुषं) उस पुरुषको (अग्र्यं) सबसे प्रथम अनादि (महान्तम्) व्यापक (आहुः) कहते हैं अब यह शंका है कि, जब श्रुतिमें **नान्योऽस्ति द्रष्टा नान्योऽस्ति विज्ञाता।** अर्थ–न कोई दूसरा देखनेवाला है न कोई दूसरा जाननेवाला है यह वर्णन किया है तब संसारी को शरीर आदि की अपेक्षा है ईश्वर को नहीं है यह कहना युक्त नहीं है इसका उत्तर यह है कि, सर्वात्मक सब में आकाश के समान व्यापक होने के भाव से ब्रह्म को कहा है कि, अन्य कोई द्रष्टा (देखनेवाला) व विज्ञाता (जाननेवाला) नहीं है अथवा अतिश्रद्धा व प्रेमदशा में एकब्रह्ममय द्वितीयरहित भावना करने वा ध्यानहोनेमें यह कहना है कि, कोई अन्य द्रष्टा व विज्ञाता नहीं है अथवा जैसे लोक में अतिश्रेष्ठ अधिकारी को तुमही हो और कोई नहीं है अर्थात् तुम्हारे समान अन्य कोई नहीं है इस भाव से कहते हैं ऐसेही यह कहना है कि, अन्य द्रष्टा व विज्ञाता नहीं है अर्थात् जैसा द्रष्टा व विज्ञाता पूर्णज्ञानवाला ब्रह्म है वैसा अन्य कोई नहीं है । अब यह कहा है कि, प्रधान के अनेकात्मक होने से मृत्तिकाआदिके समान प्रधान का कारण होना संभव है संहत (अनेक का संयोग वा मेल) रहित ब्रह्म का कारण होना संभव नहीं है इसका उत्तर प्रधान के अशब्द होनेसे अर्थात् वेद में कथित न होना कहनेही से कहदियागया है अब पूर्वपक्षवादी का यह उत्तर है कि, जैसे तर्क से ब्रह्म चेतन का कारण होना वर्णन कियाजाता है प्रधान आदि के कारण होने का निषेध कियाजाता है ऐसाही विलक्षणताहेतुसे जगत् कार्य्य में ब्रह्म के कारण होने का निषेध युक्त है और जो मंत्र में ईक्षा-होना कहा है इस चेतन होनेके हेतु से अचेतन प्रधान का कारण होना सिद्ध नहीं होता यह कहा है इसका उत्तर यह है कि, अचेतन में भी चेतनके समान उपचार होना देखा जाता है जैसे बहुत जल्दी गिरने के लक्षण देखकर कवार गिरने की इच्छा करता है अथवा गिरने चाहता है यह लोक में कहाजाता है तथा श्रुतिमें कहा है **तत्तेज ऐक्षत ता आप ऐक्षन्त** अर्थ–उस तेजने ईक्षाकिया उन जलोंने ईक्षा किया चेतन पुरुषके संयोग से अचेतन प्रधानमें भी उपचारसे अर्थात् गौण अर्थसे चेतनके समान जैसा श्रुतिमें तेज व जल को वर्णन किया है वर्णनकरना युक्त है जो यह शंका हो कि, मुख्यके साथ कोई समता अर्थात् साधर्म्य होनेसे गौण अर्थ कहाजाता है प्रधानकी चेतनके साथ क्या समता है तो उत्तर यह है कि, जैसे चेतन यह इच्छा करके कि, स्नान करके भोजन करके दिनके दूसरी वेला में रथपर चढकर गाँवको जाऊँगा उसी नियम व विचार अनुसार प्रवृत्त होताहै ऐसेही प्रधान भी महत्तत्त्व

आदि कार्य्यरूप होनेके नियमसे प्रवृत्त होताहै तिससे चेतनके समान उपचारसे (गौण अर्थसे) ईक्षाकरना वर्णन किया है इस गौण अर्थ होनेके पक्ष के खण्डन में अब यह सूत्र है जो आगे वर्णित है ॥ ५ ॥

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ ६ ॥

अनु०-गौण होवै नहीं आत्मा शब्द होनेसे ॥ ६ ॥

भाष्य-यदि ऐसा कहा जाय कि ईक्षा का होना जो चेतन आत्मा में कहाजाता है वह गौण अर्थ से प्रधानही में माना जाय व सत् शब्द से प्रधानही वाच्य समझा जावै तो ऐसा मानना यथार्थ नहीं है क्यों नहीं है आत्मा शब्द होने से इसका व्याख्यान यह है कि, छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतु के पिताने श्वेतकेतु को उपदेश करनेमें यह वर्णन किया है **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्** ।अर्थ-हे सोम्य! यह नामरूप विशेषण युक्त कार्य्यरूप वर्तमान जगत् आगे अर्थात् सृष्टि उत्पत्तिसे पाहिले सत्ही था यहाँ सूक्ष्मकारणरूप ब्रह्म में प्राप्त उससे भिन्न प्रतीतियोग न होनेसे व ब्रह्मकी मुख्यता होने से सत्रूप एक ब्रह्महीं था यह अर्थ ग्रहणके योग्य है क्योंकि प्रथम यह कहकर उसी सत् को यह कहा है **तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत** अर्थ-उसने ईक्षा (विचार) किया व उसने तेजको उत्पन्न किया इस प्रकार से ईक्षापूर्वक तेज, जल व पृथिवी की सृष्टि को क्रम से वर्णन करके उसी सत ईक्षाकरनेवाले ब्रह्म को यह कहा है **सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि** अर्थ-(सा इयं देवता) वह यह देवता अर्थात् सो जो सत् संज्ञक तेज जल पृथिवी का उत्पन्नकरनेवाला यह जिसका प्रकरण है व व्याख्यान हो रहाहै देवता (ऐक्षत) ईक्षाकिया अर्थात् तेज जल पृथ्वी तीन देवताओंको उत्पन्न करके फिर यह ईक्षाकिया कि, (हन्त[2])० (अहं) मैं (इमाः[3] तिस्रो देवताः) इन तीनदेवताओं में अर्थात् तेज जल पृथिवी में अर्थात् इन देवता महाभूतों से आरब्ध देहोंमें) अनेन[4] जीवेन आत्मना) इस जीवआत्मासहित

---

१ इस मंत्रका व्याख्यान विशेष पूर्वही होगया है ।

२ हन्त यह अव्यय है यह हर्ष विषाद अनुकम्पा व वाक्यारंभ में कहाजाताहै यहाँ वाक्यारंभ में कथित समझना चाहिये भाषामें इसका अनुवाद यथार्थ होने योग्य न समझकर इसका अर्थ छोडदियाहै संस्कृत वाक्यके आरंभमें ऐसा कहने की वचनपद्धति है ।

३ इमाः आदि द्वितीयाके बहुवचन हैं परन्तु भाषामें भाषाप्रयोग के अनुसार सप्तमीका अर्थ रक्खा गया है ।

४ अनेन जीवेनात्मना इन शब्दोंमें सहार्थ में तृतीया विभक्ति ग्राह्य है जो जीव व ब्रह्मका अभेद होना अर्थ ग्रहण करते हैं वह युक्त नहीं है यह जीव आत्मा कहने का तात्पर्य पूर्वकल्प अनुभूत कर्म संस्कार युक्त आत्माका है व इस सहित वा यह कहनेसे पृथकता का बोध होता है विना पृथक् अन्य के मैं व यह और वह ऐसा व्यवहार नहीं होता न होसक्ताहै औरसजा

(अनुप्रविश्य) प्रवेश करके (नामरूपे) नाम रूप को (व्याकरवाणि) प्रकट करूं अर्थात् अनेक प्रकारके स्थूल कार्य्य शरीर व उन के रूप स्पष्ट व प्रकट करूँ इस उपनिषद् वाक्य में आत्मा शब्द होने से परमात्माही सृष्टि को उत्पन्न करनेवाला विदित होता है क्योंकि जो प्रधान अचेतन गुणवृत्ति से ईक्षा करनेवाला कहनेका आशय होता तो देवता शब्दमात्रही से कहाजाता जीवआत्मा सहित प्रवेश करके सृष्टि का उत्पन्न करना न कहाजाता जीवात्मा सहित कहनेही से परआत्मा शब्द ब्रह्मको व जीवात्मा शब्द उससे भिन्न जीव को जिसके लिये आत्मा ब्रह्मने इस सहित यह पृथक्ता सूचक शब्द कहा है आत्मा का दो होना सूचित करदिया है आत्मा शब्द चेतन जीव जो शरीर का अध्यक्ष प्राणों का धारणकरनेवाला है व चेतन परमात्मा ब्रह्म में कहाजाता है व ईक्षा चेतन ही में होती है जडमें नहीं होती इससे चेतनब्रह्म ही ईक्षापूर्वक सृष्टि कर्ता मानने योग्य है अब यह पूर्वपक्ष है कि, चेतन ही में आत्मा शब्द कहने का नियम नहीं है अचेतन प्रधान भी आत्माके सर्वार्थकारी होनेसे आत्मा शब्दसे वाच्य हो सक्ता है यथा राजा सब अर्थमें अतिहितकरनेवाले अपने सेवक को यह कहता है कि, यह मेरा आत्मा है और अन्य भी उसको यह कहते हैं कि, यह राजाही है ऐसेही प्रधान भोग्य विषयमें सेवकके समान पुरुष आत्माके अर्थ साधक होने से आत्मा शब्दसे वाच्य होने योग्य है अथवा आत्मा शब्द चेतन व अचेतन दोनोंमें कहाजाता है जैसे भूतात्मा इन्द्रियात्मा यह कहाजाता है इससे आत्मा शब्दसे वाच्य होनेसे प्रधानमें गौण अर्थसे ईक्षा होना कहने का निषेध नहीं होसक्ता इसका उत्तर अगले सूत्रमें वर्णन किया है ॥ ६ ॥

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

अनु०—उसमें (आत्मामें) निष्ठा (चित्तकी स्थिति) है जिसकी उसका मोक्षका उपदेश होनेसे ॥ ७ ॥

भाष्य—उसमें निष्ठा है जिसकी उसका मोक्षका उपदेश होनेसे अचेतन प्रधान गौण अर्थ से सत् व आत्मा नामसे वाच्य नहीं होसक्ता इसका विवरण यह है कि, छान्दोग्यउपनिषद्में यह वर्णन किया है **सयएषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो** अर्थ—(स यः)सो जो सत् (एषः) यह कहा गया (अणिमा) अति सूक्ष्म अर्थात् परमसूक्ष्म जगत्का मूलकारण ब्रह्म है (ऐतदात्म्यं) यही आत्मा है जिसका ऐसा इस सत् आत्मारूप (इदं सर्वं) यह सब जगत् है अर्थात् यही सत् आत्मा ब्रह्म सब जगत्का आत्मा है ऐसा जो आत्मा

—तीय होनेमें ऐसा अर्थ ग्रहणमें कि, जीवात्मारूप व अपने आत्मा साक्षीरूपसे गौण प्रवेशकरके नामरूप का व्याकरण करूं कोई दोष नहीं है संस्कृतमें वाक्यार्थ ऐसा होगा अनेन जीवेनात्मना सह स्वात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ।

(तत्) वह (सत्यम्) सत्य है (स आत्मा) वह आत्मा है अर्थात् अपना आत्मा वह आपही है उसका कोई अन्य आत्मा नहीं है (श्वेतकेतो:) हे श्वेतकेतो! (तत्त्वमसि) तदात्मक तू है अर्थात् जो सब जगत् में व्यापक सब का आत्मा है वही ब्रह्म तेरा अन्तर्यामी आत्मा है अभिप्राय यह है कि, सबका तथा अपना आत्मा रूप एक ब्रह्मही सर्वत्र व्यापक है इस भावसे उपासना कर यह उपदेश का तत्वार्थ है जो इसभावसे चित्त को केवल ब्रह्म में स्थित करता है वह उस ब्रह्ममें चित्त स्थिरकरने से तन्निष्ठ कहा जाता है और वही मोक्षको प्राप्त होताहै. तत्त्वमसि शब्द जो इस मंत्रमें है इसमें तदात्मक शब्द का त्वं के साथ मध्यमपदलोपी समास करनेसे आत्मक शब्द का लोप होजाने से तदात्मकस्त्वमसि का तत्त्वमसि होजाता है इससे तत्त्वमसिको जिसका अर्थ वह तू है यह होता है तदात्मकस्त्वमसि यह समझना चाहिये इसका अर्थ जैसा कहागया है कि, तदात्मक (ब्रह्मात्मक) तू है यह स्वीकार करना चाहिये वही तू है यह अर्थ युक्ति हेतु व इस वेदान्त दर्शन के **"नेतरोऽनुपपत्तेः"** **"भेदव्यपदेशाच्च"** **"भेदव्यपदेशाच्चान्यः"** इत्यादि जीवात्मा व परमात्मा के भेदप्रदर्शक(जनानेवाले) वक्ष्यमाण सूत्रों के विरुद्ध होने से ग्रहण के योग्य नहीं है और जो जातिपरत्व से अर्थात् चेतन मात्र होने से यह अर्थ ग्रहणकियाजाय कि, वह तू है अर्थात् ब्रह्मचेतन है वही चेतन पदार्थ तू है तौ कुछ दोष नहीं है सर्वथा अभेद मानना युक्त नहीं है क्यों कि अन्य उपनिषद् मंत्रों वा श्रुतियोंके विरुद्ध है यथा बृहदारण्यक के चतुर्थाध्याय पंचम ब्राह्मण के चौदहवें मंत्र में यह कहा है **यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः इत्यादि** अर्थ-(यश्चायं) और जो यह प्रकृत ब्रह्म (अस्मिन् आत्मनि) इस आत्मा में अर्थात् जीवात्मा में तेजमय अमृतमय पुरुष है इत्यादि तथा ऋग्वेद व मुण्डक उपनिषद् व श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह मंत्र है **द्वासुपर्णासयुजासखायासमानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योअभिचाकशीति** अर्थ-(सयुजा) साथरहनेवाले अर्थात् व्याप्य व्यापक सम्बंध से घट आकाश के समान संयुक्त रहनेवाले (सखाया) मित्र वा मित्र के समान वर्तमान (सुपर्णा) अच्छे पंखवाले पक्षी (द्वा) दो अर्थात् जीवात्मा व परमात्मा (समानं वृक्षं) एक वृक्ष में अर्थात् शरीर वृक्ष में (परिषस्वजाते) सब ओरसे संगकिये स्थित हैं (तयोः) उन दोमें से (अन्यः) अन्य एक जीवात्मा (स्वादु) स्वादिष्ट अभिलाषा किये गये (पिप्पलं) फल को अर्थात् कर्मोंका वा वृक्षके फल को (अत्ति) खाताहै और (अन्यः) दूसरा परमात्मा (अनश्नन्) न खाताहुवा अर्थात् कर्म वा वृक्षके फल के भोगका अनुभव न करता हुवा फलभोगरहित (अभिचा-

१ ये सूत्र आगे इसी शास्त्र में हैं वहाँ इनका व्याख्यान लिखाही आयगा इससे इनका अर्थ व व्याख्यान यहाँ नहीं लिखागया ।

कशीति) साक्षीरूपसे शुभ अशुभ कर्मों को देखता है साक्षीरूप देखनेका आशय यह है कि, यथार्थ कर्मों को जानकर यथोचित फल देताहै । इत्यादिके व इस दर्शनके उक्त सूत्र आदि के विरुद्ध है यहाँ प्रसङ्गसे अन्य आप्तवाक्यों से विरोध-रहित सत्यअर्थ विदित होनेके लिये यह विशेष व्याख्यान किया गयाहै अब सूत्र के व्याख्यानमें **स एषोऽणिमा इत्यादि** इस मंत्रके लिखने का तात्पर्य्य यह है कि, उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मनिष्ठ होनेके लिये इस प्रकारसे सत् आत्मा का उपदेश करके यह कहा है **आचार्य्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्यते** अर्थ–आचार्य्यवान् पुरुष (वेद) जानता है अर्थात् जो पुरुष आचार्य्य से उपदेश को सुन-कर यथार्थ तत्त्वज्ञान को प्राप्त होता है वही उक्त सत् आत्मा को जानता है (तस्य) उसका वा उसको अर्थात् आत्मज्ञानी को (तावदेव) तभीतक (चिरं) विलम्ब है (यावत्)जबतक(न विमोक्ष्ये)मोक्ष को न प्राप्त होगा अर्थात् नहीं प्राप्त होता (अथ) मोक्ष होनेके पश्चात् अर्थात् कर्म संस्कार वा बन्धन से छूटनेपर (सम्पत्स्यते) सत् आत्मा ब्रह्ममें प्राप्तहोगा अर्थात् कर्म संस्कार-रहित हो देह त्याग करते ही सब कर्मफल भोग दुःख से निवृत्त हो ब्रह्म में प्राप्त हो मुक्तहोता है ऐसा मोक्षउपदेश होनेसे यह सिद्ध होता है कि, प्रधान अचेतन गौण अर्थ से सत् व आत्माशब्द से वाच्य नहीं है क्योंकि जो अचेतन प्रधान को सत् आत्मा शब्दसे वाच्य मानकर यह स्वीकार (अंगीकार) किया जाय कि, वह तू है अर्थात् अचेतनप्रधान तू है अथवा अचेतन प्रधानात्मक तू है प्रधान तेरा साक्षी आत्मा है तो मोक्षकी इच्छा करनेवाले चेतन को तू अचेतन है यह कहना विपरीत वाद व पुरुष के अनर्थके निमित्त होना सिद्ध होगा व प्रमाण विरुद्ध होगा तथा उक्त मोक्षके उपदेश वा वर्णन के अनुसार शरीरत्यागके पश्चात् ज्ञानवान् अचेतन प्रधान में प्राप्त होगा वा अचेतन रूप होगा ऐसा कहना प्रमाण के योग्य नहीं है इससे आत्मा शब्द चेतनही वाचक मानना युक्त है जो अज्ञान मोक्ष की इच्छा करनेवाले को कोई अचेतन अनात्मा को आत्मा होनेका उपदेश देवै और वह श्रद्धा विश्वास से अङ्गीकार करके परि-त्याग न करै तो उसको अभीष्ट मोक्ष न प्राप्त होगा उसके विरुद्ध अनर्थ प्राप्त होगा जैसे कोई दुष्टात्मा किसी अंधेसे जो महावन के मार्ग में परा अपने बन्धुके नगरको जाना चाहताहै यह कहै कि,मैं तुझको नगर जानेका मार्ग व उपाय बताता हूं वह यह सुन-कर अतिहर्षको प्राप्त होवै और यथार्थ मानकर यह कहै कि, अहोभाग्य जो आप आये और मुझ दीन को नगरमें प्राप्त करने को कहतेहो और वह मार्ग बतानेवाला जवान बैलकी पूँछ उस अंधे को पकडा कर यह कहै कि, इसकी पूँछ को न छोडना और वह विश्वास करके पकडले व न छोडै उससे अभीष्ट नगर को न प्राप्त

१ पुरुष व्यत्यय होने से विमोक्ष्यतेके स्थान में विमोक्ष्ये कहाहै इससे विमोक्ष्ये को विमोक्ष्य-ते ऐसा समझना चाहिये ।

हो महा अनर्थरूप भयानक स्थान व क्लेश को प्राप्त होवे ऐसेही प्रधान को आत्मा मान ने व मोक्षकी अभिलाषा करने में जानना चाहिये और जैसे स्वर्गकी इच्छाकरनेवाले को अग्निहोत्रआदिका उपदेशकिया है ऐसेही मोक्ष की इच्छाकरनेवालेको स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो अर्थ—हे श्वेतकेतो! जो सब का आत्मा है उस प्रधानात्मक तू है अर्थात् वह प्रधान तेरा आत्मा है अथवा जो पदार्थ वह है वह तू है यह उपदेशकिया है ऐसा मानाजाय तो मोक्ष की अपेक्षा तुच्छ अनित्य फल होगा और मोक्षका उपदेश न होगा इससे प्रधान का वाचक आत्मा शब्द नहीं है मोक्ष उपदेश होने मात्र विशेष हेतुसे अन्यप्रकार स्वामी सेवकभाव व उपचार आदिसे आत्मा शब्द प्रधानके लिये ग्रहणकरना युक्त नहीं होसक्ता क्योंकि आत्मा शब्द मुख्य चेतनवाचक है अचेतनमें उपचार से ग्रहणकिया जाता है परन्तु मोक्ष उपदेश किसी प्रकारसे अचेतनमें ग्राह्य नहीं है इससे भिन्न भिन्न अन्यहेतु व शंकाके उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं है । जिन भाष्यकारोंने प्रत्येक शंकाका भिन्न २ उत्तर वर्णन कियाहै उससे बहुवाद मात्र फल है क्योंकि मोक्ष उपदेश होना जो हेतु महात्मा सूत्रकारने वर्णन किया है इसीसे पूर्वपक्षवादी के जो अन्य तुच्छ वा साधारण हेतु आत्माशब्दसे प्रधानके वाच्य होनेमें हैं उनका खण्डन होजाता है अन्य हेतु विशेष अगले सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

अनु०--(च) और (हेयत्व) त्यागके योग्य होनेका (अवचनात्) वचन न होनेसे ॥ ८ ॥

भाष्य—इस सूत्रका अभिप्राय यह है कि,जो अनात्मा प्रधानही सत् व आत्मा शब्दसे वाच्य सत् आत्मा तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे उपदेशकियागया मानाजाय तो प्रथम अमुख्य प्रधान को सत् आत्मा को कहकर मुख्य आत्मा के जनानेकी इच्छा करनेवाला अमुख्य को त्याग के योग्य होना वर्णनकरता अर्थात् जैसे अरुंधती के देखाने की इच्छाकरनेवाला पहिले उसके समीप जो स्थूलतारा है उसको अरुंधती कहकर पश्चात् यह कहकर कि, यह अरुन्धती नहीं है मुख्य सत्य अरुंधती यह है क्रम से मुख्य को ग्रहण कराता है ऐसेही प्रथम प्रधान को आत्मा कहकर पश्चात् उसको त्याग के योग्य कहकर मुख्य आत्मा का उपदेश करता परन्तु ऐसा नहीं कहा इससे त्याग के योग्य होने का वचन न होने से अरुन्धतीन्याय से प्रधान सत् आत्मा शब्द से वाच्य नहीं है । अब अन्य हेतु प्रधान के सत् व आत्मा शब्द से वाच्य व जगत् के कारण न होने का वर्णन करतेहैं ॥ ८ ॥

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

अनु०-अपने में लय होनेसे ॥ ९ ॥

भाष्य-अपने में लय होने से यह अभिप्राय है कि सुषुप्ति अवस्था में जीव अपने सजातीय चेतन सत् आत्मा ब्रह्म अपने आत्मास्वरूप में लय होकर स्थित होता है तब केवल पुरुष सत्तासम्पन्न एक रहजाता है और इन्द्रिय अन्तःकरण का लय होजाता है जैसा इस छान्दोग्य की श्रुतिमें वर्णन है **यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति** अर्थ- हे सोम्य ! (यत्र) जब (एतत्पुरुषः) यह पुरुष (स्वपिति-नाम) सोताकहानाता है तब (सता सम्पन्नः) सत् के साथ मिलकर एक (भवति) होता है आत्मा सत् रूप में प्राप्त वा लय होताहै अब शङ्का यह है कि, प्रधान के कार्य्य इन्द्रिय विषय आदिका लय होना तो युक्त है नित्य जीव का लय होना कैसे हो सक्ता है उत्तर यह है कि, जाग्रत् स्वप्न अवस्था के उपाधि लय होने से व सत्तामात्र अपने आत्मा चेतनरूप से रहने से अपने में लय होना कहा है अर्थात् जाग्रत् स्वप्न उपाधि संयुक्त रूप से लयको प्राप्त हो सत् उपाधिरहित अपने आत्मास्वरूप आत्मा ब्रह्म में रहता है । इन्द्रिय व मनकी वृत्तियां उपाधि हैं इन से घट पट आदि स्थूल पदार्थ इन्द्रियों के अर्थोंको देखता व बोधकरता हुआ विश्व जडपदार्थरूपमें आसक्त होनेसे जाग्रत् अवस्थामें जाग्रत्का स्वामी आत्मा विश्वनाम से कहाजाताहै व जाग्रत्अवस्थाके वासनाओंका आश्रय मनसे विशिष्ट जो सत्आत्मा है व स्वप्नमें मनद्वारा विचित्र वासनाओंसे प्रधानके परिणामरूप कार्य्योंको देखता है उसको तैजस कहते हैं वह स्वप्न अवस्था का स्वामी है व सुषुप्ति में इन दोनों स्थूलसूक्ष्म उपाधि के शान्त होनेपर मैं मनुष्य हूँ मैं कर्ता हूँ यह विशेष अभिमानके अभाव होनेसे लीन होनेका उपचार किया जाताहै सुषुप्तिअवस्था में चेतन आत्मा सब इन्द्रियग्राह्यपदार्थोंके ज्ञानरहित केवल निज चेतनमात्ररूपसे स्थित की प्राज्ञ संज्ञा है वह सुषुप्ति अवस्थाका स्वामी है चतुर्थ जो तुरीय अवस्था है उसका ज्ञानमय नित्य अविद्यारहित ब्रह्म स्वामी है उक्त (कहेहुये) भाव से सुषुप्ति में चेतन अपने आत्मा में जो सत्आत्मा शब्दसे वाच्य है उसमें लय होता है यह उपचारसे कहाजाता है चेतन आत्मा का अचेतन प्रधानमें लय होना कहना अयुक्त व अनर्थरूप है चेतन जडके स्वरूपसे प्रतिपादित नहीं होसक्ता और चेतन आत्मामें लय होनेमें यह श्रुति प्रमाण है **प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदान्तरं** अर्थ-

---

१स्व ज्ञाति आत्मा आत्मीय अर्थात् अपने सम्बंधी व धनका नाम है जैसा अमरमें कहाहै "स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने।"यहां चेतनत्व सम्बंध होनेसे अपने सजातीय परमात्मामें लय होनेसे अथवा चेतनत्व वा आत्मत्व मात्र के लक्ष्यसे आत्मा में लयहोनेसे यह अर्थ ग्राह्य है क्योंकि चेतनत्व व आत्मत्व में जीवात्मा व परमात्मा में भेद नहींहै ।

(प्राज्ञेनात्मना) ईश्वर आत्माके साथ अर्थात् सुषुप्तिमें ईश्वर आत्माके साथ (सम्परिष्वक्तः) मिला हुवा (किञ्च) कुछ (बाह्यं) बाहर को (न वद) नहीं जानता है (न अन्तरे) न अन्तरमें अर्थात् अन्तरमें कुछ नहीं जानता है अर्थात् बाहर व भीतर कुछ नहीं जानता है । इससे सुषुप्ति में चेतनहीं में लय होनेका प्रमाण होताहै जिस चेतन में सब चेतनोंका लय (शुद्ध चेतन समरूपसे प्राप्त होजाना) होता है वह चेतन सत् शब्दसे वाच्य जगत् का कारण है अचेतन प्रधान जगत् का कारण नहीं है ॥ ९ ॥

और प्रधानके जगत् के कारण न होनेमें अन्य हेतु वर्णन करते हैं–

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

अनु०--गतिके समान होनेसे वा समानगति होनेसे ॥ १० ॥

भाष्य–सब वेदान्तवाक्यों में चेतन के कारण होने की गति (प्राप्ति) एकही समान है इससे चेतनही का स्वतंत्र कारण होना सिद्ध होता है यथा चेतन आत्मा के कारण होनेमें यह श्रुति प्रमाण है **यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वदिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन् एवमेवैतस्मादात्मनःसर्वे प्राणायथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्योदेवा देवेभ्यो लोका इति तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूत इति तथा आत्मन एव इदं सर्वमिति तथा आत्मन एष प्राणो जायते** अर्थ– (यथा) जैसे (ज्वलतः) जलते वा बरते हुये (अग्नेः) अग्निसे (विस्फुलिंगाः) तिनगे (सर्वदिशः) सब दिशाओंको वा सब दिशों में (विप्रतिष्ठेरन्) स्थित होते हैं अर्थात् अग्नि से उत्पन्न हो सब दिशों में जाकर स्थित होतेहैं (एवं) ऐसेही (एतस्मात् आत्मनः) इस आत्मासे (सर्वे) सब (प्राणाः) प्राण चक्षु आदि इन्द्रिय (यथा आयतनं) अपने २ स्थान वा आश्रय प्रमाण वा गोलक प्रमाण युक्त (विप्रतिष्ठन्ते) उत्पन्न हो स्थित होते हैं (प्राणेभ्यो देवाः)प्राणोंसे अर्थात् प्राणों के पश्चात् देवता सूर्य्य आदि (देवेभ्यो लोकाः) देवताओं से अर्थात् देवताओं के पश्चात् लोक उत्पन्न होते हैं (तस्मात्) तिससे (वै) निश्चय (एतस्मात् आत्मनः) इस आत्मासे (आकाशः संभूतः) आकाश उत्पन्न हुवा तथा (आत्मन एव) आत्माही से (इदं सर्वं) यह सब अर्थात् यह सब उत्पन्न होताहै तथा (आत्मनः) आत्मासे (एष प्राणः) यह प्राण (जायते) उत्पन्न होता है इत्यादि सम्पूर्ण वेदान्तवाक्योंमें आत्माही को कारण वर्णन कियाहै आत्मा शब्द केवल चेतनवाचक है नेत्रआदिकोंका रूप आदिकों में समानगति होनेके समान वेदान्तवाक्योंका चेतन कारण होनेमें समानगति होना सिद्ध होता है इससे समानगति होनेसे सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है ॥ १० ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

अनुवाद-श्रुत (सुनागया) होनेसे भी अर्थात् शब्द श्रुत होनेसे भी ॥ ११ ॥

भाष्य-वेद में चेतन वाचक सर्वज्ञ सर्ववित् शब्द से ईश्वरको कारण वर्णन किया है इन शब्दोंके श्रुतहोने से भी केवल चेतन जगत्का कारण है अचेतन नहीं है यह विदित होता है यथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के मंत्रमें ईश्वर को सर्वज्ञ कहकर यह वर्णन किया है **सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चि-ज्जनिता न चाधिपः** अर्थ-(सः) वह अर्थात् उक्त सर्वज्ञ ब्रह्म वा ईश्वर (करणाधिपाधिपः) करण अर्थात् इन्द्रियों का अधिप स्वामी जो जीव है उसका अधिप स्वामी (कारणं) कारण है अर्थात् सब जगत् का कारण है(च) और (अस्य) इसका अर्थात् ब्रह्मका (कश्चित्) कोई (न जनिता) न उत्पन्न करनेवाला है (च) और (न अधिपः) न अधिप(स्वामी) है इससे केवल सर्वज्ञ ब्रह्म जगत्का कारण है अचेतन प्रधान वा अन्य कोई नहीं है **जन्माद्य-स्य यतः** इस सूत्रसे लेकर **श्रुतत्वाच्च** इस सूत्र पर्य्यन्त ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्ति-मान् जगत् के उत्पत्ति स्थिति व लय के कारण होने के विषय में व्याख्यान किया है अब ग्रंथ के आरंभ का अभिप्राय क्या है यह वर्णन कियाजाता है। ब्रह्म व जीवरूप से चेतन आत्मा का विज्ञापन करना व ब्रह्ममात्र के ध्यान व प्रेम में मग्न होनेसे अर्थात् द्वितीय विषय की भावनारहित केवल ब्रह्ममात्र के ध्यान व भाव में मन स्थिर करने से मोक्ष प्राप्त होने का उपदेश करना इस ग्रंथ वा इस शास्त्र के आरंभकरने का अभिप्राय वा प्रयोजन है। जानना चाहिये कि, आत्मा दोरूप से विदित होता है एक नाम रूप विकार भेदविशिष्ट जीव दूसरा इसके विपरीत सब उपाधिरहित परमात्मा ब्रह्म सर्वव्यापक जो अपने सदृश वा अपने से पृथक् अन्य को देखता वा सुनता है वह उपाधिविशिष्ट अल्प जीव है जो न अन्यको देखता है न सुनता है वह अद्वितीय व्यापक ब्रह्म है और जब जीव ब्रह्मध्यान में मग्न हो सर्वत्र ब्रह्मभाव से देखता है अन्य को नहीं देखता न सुनता है तब ब्रह्म सम शुद्धरूप हो ब्रह्म में प्राप्त हो मुक्तरूप होता है यथा इस छान्दोग्य की श्रुति में वर्णन किया है **यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति सभूमा अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतं अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्** । अर्थ-(यत्र) जिसमें अर्थात् जिस ब्रह्म-ज्ञानअवस्था में अद्वैतभावसे सब ब्रह्ममय देखता हुवा ज्ञानी अथवा जिस निज

---

१ "जनिता मंत्रे" अष्टाध्यायी अ० ६ पा० ४ सू० ५३ इस सूत्रसे वेदमें जनयिता के स्थानमें जनिता होजाता है इससे जनिता का अर्थ उत्पन्न करनेवाला होताहै ॥

ब्रह्मअवस्था में परमात्मा ब्रह्म (न अन्यत्) न अन्यको (पश्यति) देखता है (न अन्यत्) न अन्यको (शृणोति) सुनता है (न अन्यत्) न अन्यको (विजानाति) जानता है अर्थात् सर्वव्यापक होनेसे ब्रह्म अपने से भिन्न न देखता है इत्यादि (सः) वह (भूमा) व्यापक ब्रह्म वा व्यापक ब्रह्ममय देखताहुवा ब्रह्म में प्राप्त मुक्तरूप ब्रह्मज्ञानी है (अथ) और (यत्र) जिस अवस्था में(अन्यत्) अन्यको(पश्याति) देखता है अर्थात् जीव जिस निज अवस्थामें (अन्यत्) अन्यको (पश्यति) देखता है (अन्यत् शृणोति) अन्य को सुनता है (अन्यत् विजानाति) अन्यको जानता है (तत्) वह (अल्पं) अल्प है अर्थात् परिच्छिन्न एकदेशिय जीव है (यः) जो (वै) निश्चय (भूमा) व्यापक परमात्मा है (तत्) वह (अमृतं) नित्य मोक्षस्वरूप है (अथ) और (यत्) जो (अल्पं) अल्प है (तत्) वह जीव (मर्त्यं) देहत्यागरूप मृत्यु को प्राप्त होने योग्य अनित्य नाशवान् है इस प्रकार से द्वैत अद्वैत प्रतिपादक वाक्य हैं। अविद्या-अवस्थामें जब जीव बन्ध में प्राप्त है तब कोई ब्रह्म की उपासना मुक्ति के लिये कोई स्वर्गप्राप्ति के लिये कोई कर्मसमृद्धि के लिये की जाती हैं यद्यपि एकही परमात्मा भिन्न भिन्न विशेषगुणों से विशिष्ट होने से भेदसहित उपास्य होता है तथापि उपासक जिस गुण व भाव से उपासना करता है उसी गुण व भाव के अनुसार भिन्न फल को प्राप्त होता है जैसा श्रुति में कहा है **यथा यथोपास्ते तदेव भवति** अर्थ-(यथायथोपास्ते) जिस जिस प्रकार से उपासना करता है अर्थात् उपासक जिस गुणभाव से ब्रह्मकी उपासना करता है (तदेव) वही (भवति) होता है अर्थात् वैसाही फल प्राप्त होता है तथा अन्यश्रुतिमें कहा है **यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति** अर्थ-(अस्मिन् लोके) इस लोक में (पुरुषः) पुरुष अर्थात् जीव (यथाक्रतुः) जैसा ध्यान वा सङ्कल्प करनेवाला (भवति) होता है (तथा) वैसाही (इतः प्रेत्य) इहाँसे वा इस शरीर से मरकर लोकान्तर में जाकर होता है अर्थात् संकल्प वा ध्यान के अनुसार जीव की गति होती है जीव अविद्या को प्राप्त कर्म व संकल्प अनुसार नाना प्रकारकी उत्कृष्ट व निकृष्ट योनियों में प्राप्त होता है ब्रह्म नित्य शुद्ध मुक्तरूप है जो ब्रह्म नित्यमुक्त सर्वज्ञ है वही सम्पूर्ण जगत् का निमित्तकारण है व उपास्य है उसके नित्य सर्वज्ञ होनेसे उसमें अविद्या का सम्बंध कभी नहीं होता न उसमें उपाधि होने की संभावना होसक्ती है केवल उसकी उपासना से जीव कृतार्थ होता है इससे उसको जानने के योग्य व उपासनाके योग्य वेदान्त में वर्णन किया है ब्रह्मके प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों का समन्वय (मेल) वा समगति होनेसे अचेतन कारण होने का खण्डन किया है अब जो उपास्यपरमात्मा नित्य आनन्द स्वरूप है व जिसकी उपासना से जीव मुक्त व आनन्दरूप होता है उपनिषद् में उसीको आनन्दमय कहा है आनन्दमय शब्द से वही वाच्य होने का हेतु वर्णन करते हैं ॥ ११ ॥

आनन्दमय कोशके परमात्मा होने और आनन्दमय ब्रह्मके आधार होने में सू० १२ से १९ अधि० ६ ।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

अनु०–आनन्दमय अभ्यास से अर्थात् आनन्दमय ब्रह्म है अभ्याससे ॥ १२ ॥

भाष्य–तैत्तिरीय उपनिषद् में क्रम से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय को कहकर यह वर्णन किया है **तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः** अर्थ–(तस्मात् वै एतस्मात् विज्ञानमयात्) उस पूर्वोक्त इस विज्ञानमयसे (आनन्दमयः) आनन्दमय (अन्यः अन्तरः आत्मा) भिन्न अन्तर आत्मा है। इसमें इस संशयकी प्राप्ति है कि, इसमें जो आनन्दमय कहाहै इस आनन्दमय शब्दसे केवल ब्रह्म वाच्य है अथवा अन्नमय आदि के समान ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ वाच्य है क्योंकि इसी श्रुतिमें आगे **तस्य प्रियमेव शिरः** अर्थ–उसका अर्थात् आनन्दमय का प्रियही शिरहै इत्यादि तथा **तस्यैष एव शारीर आत्मा यःपूर्वस्य इत्यादि** अर्थ–(तस्य पूर्वस्य)उस पूर्वोक्त विज्ञानमय का (एष एव) यही (शारीर आत्मा) शरीरमें होनेवाला अर्थात् विज्ञानमय शरीरमें रहनेवाला वा विज्ञानमय शरीरवान् आत्माहै (यः)जो अर्थात् जो आनन्दमय है अर्थात् विज्ञानमय शरीरका उससे सूक्ष्म आत्मा आनन्दमय है इत्यादि इस प्रकार अवयव व शरीर के योग सुनने से तथा अन्नमय आदि अमुख्य आत्मा के साथ कथित होनेसे अमुख्य को कहना संभव होनेसे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म वाच्य नहीं है जीव को आनन्दमय कहा है परन्तु यह विचारनेसे कि शरीरवान् जीव का दुःखरहित आनन्दमय होना असंभव है शरीरवान् सर्वथा दुःखरहित कभी नहीं होता उसको जो सुख होता है वह भी कुछ दुःख के मेलसहित होता है मेलरहित शुद्ध सुख नहीं होता संसारी विषय में आसक्त जीव आनन्दमय नहीं कहाजासक्ता इससे जीव को आनन्दमय कहना निश्चित नहीं होता इस संशयनिवारण के लिये सूत्रकार महर्षिने यह कहा है आनन्दमय अभ्यास से अर्थात् केवल परमात्मा आनन्दमय कहागया है वा वाच्य है किस हेतु वा प्रमाण से अभ्यास से अर्थात् परमात्माही के लिये आनन्द शब्द का श्रुतियों में अभ्यास (वारंवार कथन) है इससे परमात्माही वाच्य है यथा तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मानन्दवल्ली में आनन्दमय को पूर्व में कहकर फिर उसके प्रशंसा व अभ्यासमें यह वाक्य वर्णित हैं

रसो वै सः अर्थ-(सः) वह अर्थात् पूर्वोक्त सुकृत (पुण्यस्वरूप) ब्रह्म (वै) निश्चय करके (रसः) रस है अर्थात् तृप्तिका हेतु रसके समान आनन्द देनेवाला है ऐसा आनन्दमय को रस होना कहकर यह कहा है **रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति कोह्येवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष एवानन्दयाति,** अर्थ-(अयं) यह जीवात्मा (रसं हि एव) रसहीको अर्थात् उक्त प्रकार आनन्दस्वरूप ब्रह्मरसही को (लब्ध्वा) पाकर (आनन्दी) आनन्दयुक्त (भवति) होताहै (यत्) यदि (एषः) यह (आकाशः आनन्दः) आकाश आनन्दरूप अर्थात् आकाशके समान व्यापक निराकार वा प्रकाशमान आनन्दस्वरूप ब्रह्म (न स्यात्) न हो वा न होता तो (कः) कौन (अन्यात्) चेष्टाकरै वा करता अर्थात् चले फिरै वा चलता फिरता (कः) कौन (प्राण्यात्) जीवै वा जीता अर्थात् कोई नहीं क्योंकि वही प्राणोंका प्राण व जीवनका जीवन वा कारण है तिससे (एष एव, यही आनन्दरूप ब्रह्मही (आनन्दयाति) आनन्दित करता है तथा **"सैषानन्दस्य मीमांसा भवति" एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति** अर्थ-(साएषा) सो यह आगे कहे रूपसे (आनन्दस्य) आनन्दकी अर्थात् ब्रह्मरूप वा ब्रह्मसम्बंधी आनन्द की (मीमांसा) विवेचना (भवति) होती है अर्थात् ब्रह्मानन्द का विचार किया जाता है (एतं) इस (आनन्दमयं आत्मानं) आनन्दमय आत्मा को (उपसंक्रामति) प्राप्तहोता है अर्थात् विद्वान् अन्नमयआदि को कर्मानुसार अज्ञानदशामें प्राप्त होता है तत्वज्ञान को प्राप्त हो सब सुखों से उत्कृष्ट आनन्दमय आत्मा ब्रह्म को प्राप्तहोता है **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन** अर्थ-(विद्वान्) ज्ञानी (ब्रह्मणः आनन्दं) ब्रह्मके आनन्द को प्राप्त हो (कुतश्चन) किसीसे (न बिभेति) नहीं डरता **आनन्दोब्रह्मेतिव्यजानात्** अर्थ-आनन्द ब्रह्म है अर्थात् आनन्दरूप ब्रह्म है यह जाना वा जानताभया **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** अर्थ-विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म है इसप्रकार से मंत्रों वा श्रुतियों में आनन्द शब्द का ब्रह्ममें वा ब्रह्म के लिये अभ्यास (अनेक वार कथन) होने से आनन्दमय ब्रह्म ही का होना सिद्ध होता है अर्थात् आनन्दमय शब्द से ब्रह्मही वाच्य होना निश्चित होता है जो यह कहाजाय कि अन्नमय आदि के साथ वर्णित होने से अन्न-मय आदि के समान आनन्दमय भी मुख्य आत्मा होना न मानना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि इसमें दोष नहींहै आनन्दमय ब्रह्म के सबके अन्तर में होनेसे अमुख्यमेंभी मुख्य आत्मा का होना व्यापक भावसे ग्राह्य है व मुख्य

---

१ वैदिक प्रयोग होनेसे लेट लकार से आनन्दयाति होताहै लोकमें आनन्दयति यह समझना चाहिये ।

२ रसो वै सः से लेकर इहांतक सब तैत्तिरीयउपनिषद के ब्रह्मानन्दवल्ली व भृगुवल्लीके वाक्य हैं ।

आत्मा के उपदेश की इच्छा करनेवाला शास्त्र लोकबुद्धिके अनुसार प्रथम अमुख्य आत्मा को देखाकर मुख्य आत्मा को उपदेश करता है अर्थात् अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय व आनन्दमय यह पांच संज्ञा जो देह प्राण मन बुद्धि व परमात्मा स्वरूप अर्थ वाचक हैं इनमें से अन्नमय आदि को जो आत्मा नहीं है उनको गौणअर्थसे मूढोंको आत्मा कहकर एक एक से सूक्ष्म व उत्कृष्ट को क्रम से वर्णन करके अन्त में परमात्मा ब्रह्म को जनाता वा ग्रहण कराता है जैसे लोक में जिसको अरुन्धती दृष्टिमें नहीं आती उसको दिखाने वाला इस क्रमसे दिखाता है कि उसके समीप जो अन्य उससे स्थूल तारा हैं उनको देखाकर क्रमसे उनको देखाता व देख पडनेपर एकको छोडाकर अन्यको देखाता अन्त में जब अरुन्धती को देखाता है व देखनेवाला देखता है तब कहता है कि यह अरुन्धती है ऐसे ही आनन्दमयके वर्णन में समझना चाहिये अब जो यह शंका हो कि विज्ञानरूप शरीरसंयुक्त होना तथा यह कहाहै **तस्यप्रियमेवशिरःमोदोदक्षिणःपक्षः** इत्यादि अर्थ–उसका प्रियही शिर है मोद दक्षिणपक्ष है इत्यादि मुख्य आत्मा (परमात्मा) में शिर आदि अङ्गोंकी कल्पना नहीं होसक्ती तो इसका उत्तर यह है कि यह उपचारसे कल्पना वा रूपक कथन मात्र है वास्तविक नहीं है इससे दोष नहीं है तिससे जो परमात्मा संसारी जीव नहीं है सब उपाधि व विकाररहित है वही ब्रह्म आनन्दमय है यह अन्नमय आदि पांच कोश कहनेका आशय यहहै कि उपचारसे यह पांच क्रमसे जीवके स्थान हैं अन्न शब्द यहाँ देहवाचक है अन्न, प्राण, मन, विज्ञान, आनन्दसे देह, प्राण, मन, बुद्धि व परमात्मा ग्राह्य हैं क्रमसे एक एकसे सूक्ष्म बुद्धि पर्य्यन्त दुःख सुख को जानता वर्तमान वा अवस्थित रहता है व ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होकर आनन्दमय ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो आनन्दरूप स्थिर होता है जो आनन्दरूप ईश्वर का विकार मानकर आनन्दमय जीव की संज्ञा ग्रहण करके अन्नमय,प्राणमय,मनोमय,विज्ञानमय,आनन्दमय इन पांच को यथाक्रम से देह,प्राण, मन, बुद्धि, व जीव के वाचक मानते हैं उनका मत यथार्थ नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमानसे जीव का आनन्दमय होना किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होता व सूत्रकार आपही **नेतरोऽनुपपत्तेः** अर्थ–इतर (जीव) आनन्दमय नहीं हैं क्यों नहीं हैं (अनुपपत्तेः) संभव न होने वा सिद्ध न होने से इत्यादि सूत्रवाक्यों से प्रतिषेध किया है । इससे शरीरमें साक्षीरूप सर्वव्यापक परमात्मा का भी संबंध रहनेसे आनन्दमय परमात्माही को मानना चाहिये इसी अर्थ के साथ आगे सूत्रकार के सूत्रवाक्यों से संगति होती है अन्यथा नहीं होती और **अन्नमयमुपसंक्रामति** । अर्थ--अन्नमय को प्राप्त होता है इत्यादि कहकर **आनन्दमयमुपसंक्रामति** । अर्थ–आन-

न्नमय को प्राप्त होता है यह कहा है इससे भी जीव का भिन्न होना विदित होता है क्योंकि प्राप्त होनेवाला प्राप्यसे कर्त्ता कर्मसे भिन्नही होता है ॥ १२ ॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्य्यात् ॥ १३ ॥

अनु०—विकारशब्द से नहीं यदि यह कहा जाय नहीं अधिक होने से (अधिक अर्थ में होनेसे) ॥ १३ ॥

भाष्य—यदि यह शङ्का हो कि, परमात्मा आनन्दमय नहीं होसक्ता क्यों नहीं होसक्ता विकार शब्दसे (विकारअर्थवाचक शब्दसे) अर्थात् व्याकरण में वर्णन किये गये के अनुसार मयट् प्रत्यय विकार अर्थ में होता है उसका टकार लोप होजाता है मयमात्र रहजाता है आनन्द के साथ मयशब्द मिलानेसे आनन्दमय होता है ऐसही अन्नमय आदि को समझना चाहिये इससे अन्नका विकार (कार्य्य) अन्नमय, प्राणका विकार प्राणमय का अर्थ होता है मृत्तिका का विकार घट होने के समान विकार अर्थ में मय शब्द अन्नमय आदि में निश्चित होता है ऐसेही अन्नमय आदि के समान आनन्दमय में मय शब्द विकारशब्द अर्थात् विकार अर्थ वाचक शब्द है व आनन्दमय का अर्थ आनन्दका विकार होता है इससे आनन्दमय परमात्मा नहीं हो सक्ता तो इसका उत्तर यह है कि, नहीं अर्थात् यह शंका युक्त नहीं है आनन्दमय शब्द से परमात्मा ब्रह्मही वाच्य है क्योंकि मयट् प्रत्यय अधिक अर्थ में भी होता है अधिक अर्थमें होनेसे यहां आनन्दमय में अधिक अर्थ में मय शब्द ग्राह्य है जैसे अन्नमय यज्ञ कहाजाता है अर्थात् बहुत अन्न हो जिस यज्ञ में वह अन्नमययज्ञ कहा जाता है ऐसेही अतिशय नित्य आनन्द होनेसे ब्रह्म आनन्दमय है इसी प्रकरण में तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म आनन्द के व्याख्यान में मनुष्यों के आनन्द से शतगुण (सौ गुण) अधिक गंधर्वों का आनन्द है इसप्रकार से एक एक से उत्तरशत शत गुणित अधिक आनन्द वर्णन करते हुये अंत में सब से अधिक जिस से अधिक अन्य को नहीं कहा ब्रह्म आनन्द को वर्णन किया है तिससे प्राचुर्य्य (अधिक होने) अर्थही में आनन्दमय में मयट् प्रत्यय वा मयशब्द है यह सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

अनु०—उसके हेतु कथन से भी ॥ १४ ॥

भाष्य—उसका अर्थात् आनन्द का हेतु ब्रह्म को श्रुति में वर्णन कियाहै इस आनन्दके हेतु कथन से भी मय शब्द का प्राचुर्य्य (अधिकहोने) अर्थ में होना विदित वा सिद्ध होताहै श्रुति में कहा है एष ह्येवानन्दयाति अर्थ—यही अर्थात् प्रकृत आनन्दरूप ब्रह्मही आनन्दित करता है अर्थात् जो उसमें मेलकरता है

उस में चित्त स्थिरकरता है उसको आनन्दयुक्त करता है जो अन्य को आनन्दित करदेवै वही मचुरआनन्द है अर्थात् वही अधिक आनन्दवाला है जैसे जो अपने धनदान से अन्य को धनी कर देता है वह लोक मचुर धन अर्थात् अधिक धनवान् समझाजाता है ऐसेही जो अन्य को आनन्दयुक्त वा आनन्दित करता है वह परमात्मा अतिशय आनन्दयुक्त होनेसे आनन्दमय है इससे मयट् मत्यय वा मय शब्द माचुर्य्ये अर्थ में है ॥ १४ ॥

अब ब्रह्मही आनन्द का कारण होने में अन्य हेतु वर्णन करते हैं।

मांत्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

अनु०—और मन्त्र के वर्णों से उक्त (कहागया) ही कहाजाता है अर्थात् इसमें कहाजाता है ॥ १५ ॥

भाष्य—और इससे भी परआत्माही आनन्दमय है कि, मंत्र के वर्णोंसे जो मतिपादित वा उक्त ब्रह्म है वही इस आनन्दमय वर्णक वाक्य में कहाजाता है अर्थात् उसीका वर्णन इसमें है इस में यह शब्द सूत्र में शेष (बाकी) है आकांक्षा से आक्षेप किया जाता है इसका विशेष व्याख्यान यह है कि, तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मानन्दवल्ली में आदिमें **ब्रह्मविदाप्नोति परमिति** अर्थ—(ब्रह्मवित्) ब्रह्मका जाननेवाला (परं) कल्याणरूप मोक्ष को (आप्नोति) माप्त होता है यह कह कर यह वर्णन किया है **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ—सत्य ज्ञानरूप अन्तरहित ब्रह्म है इत्यादि इस आदि मन्त्र में जिस ब्रह्मको सत्य ज्ञान अनन्त विशेषणों से कहा है उसी को इस आनन्दमय वाक्य में एकही मकरण व सम्बंध होनेसे और आनन्दमय से अधिक अन्य कोई आत्मा वर्णन न करनेसे आनन्दमय कहा है यह सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

जो यह संशय हो वा कहा जाय कि, जीवही को आनन्दमय कहना मानने में क्या दोष है तो इसके उत्तर में यह सूत्र है।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

अनु०—संभव वा सिद्ध न होनेसे इतर (अन्य) नहीं है ॥ १६ ॥

भाष्य—इतर(अन्य)अर्थात् ईश्वर से भिन्न जीव आनन्दमय नहीं है क्यों नहींहै सिद्ध न होनेसे अर्थात् जीव आनन्दमय शब्द से नहीं कहागया क्योंकि आनन्दमय ब्रह्म को मथम कहकर उसी मकृत ब्रह्म को यह वर्णन किया है **सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्** अर्थ—

१ प्रजायेय शब्दका अर्थ यद्यपि उत्पन्न होऊँ है परन्तु शक्तिरूप मकृति कारण व शक्तिमान् ब्रह्म में अभेदविवक्षा से यह कथन है फलितार्थ शक्तिद्वारा उत्पन्नकरूँ यह है इससे उत्पन्नकरूँ यह अर्थ रक्खागया है इसका ममाण उत्तर वाक्य में सबको उत्पन्न किया इस कथन से होता है अन्यथा सब आप उत्पन्नहुवा ऐसा कहना उचित था जैसा राजा ऐसा करूँ यह कहता है-

उसने इच्छा किया कि, मैं बहुत होऊँ उत्पन्न करूँ उसने तपसे (ज्ञानसे) सबका यथावत् अनुसंधान करके इस सब जगत् को उत्पन्न किया इस प्रकारसे आनन्दमयको सृष्टि उत्पत्ति कर्ता वर्णनकिया है जीव में सृष्टि उत्पत्ति का सामर्थ्य होना सिद्ध नहीं होता वा संभव नहीं है व प्रत्यक्षसे जीवात्मा का संसार में दुःखरहित होना सिद्ध नहीं होता इससे जीव का आनन्दमय होना वा आनन्दमय शब्द से उक्त वाक्य में वाच्य होना सिद्ध व संभव न होने से जीव आनन्दमय नहीं है आनन्दमय शब्द से पर आत्मा ब्रह्मही वाच्य है ॥ १६ ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

अनु०—भेदकथनसे भी ॥ १७ ॥

भाष्य—आनन्दमय के अधिकार में आनन्दमय ब्रह्म को रसरूप वर्णन करके उसमें व जीव में भेद होना कहा है इस भेदकथन से भी जीव का आनन्दमय होना सिद्ध नहीं होता इसका व्याख्यान यह है कि, आनन्दमय अधिकार में यह वर्णन किया है **रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति** अर्थ—रसको अर्थात् तृप्ति का हेतु आनन्द रसरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर यह जीवात्मा आनन्दयुक्त होता है । जो आनन्दित होता है व जिसको पाकर आनन्दयुक्त होता है दोनों एक नहीं होसक्त तथा अन्य श्रुतियोंमें भेद कथन से जीव आनन्दमय नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

अनु०—कामना होनेसे अनुमान की अपेक्षा नहीं है वा न करना चाहिये ॥ १८ ॥

भाष्य—श्रुति ने कहा है **सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय** अर्थ—उसने इच्छा किया कि, मैं बहुत होऊं उत्पन्न होऊँ यह कामना (इच्छा) होनेसे अनुमान रूप प्रधानके अर्थात् अनुमान से कल्पना कियेगये प्रधान के आनन्दमय व कारण होने की अपेक्षा न करना चाहिये अर्थात् प्रधान को आनन्दमय व

—परन्तु अपने सेवकसे कराता है ऐसेही उत्पन्न होऊं का अर्थ अपनी शक्ति जड अव्यक्तरूप से उत्पन्नहोऊं अर्थात् जड कारण को बहुप्रकार का उत्पन्न करूँ यह भाव है इसका विशेष व्याख्यान पूर्वही कियागयाहै ।

१ यद्यपि 'ईक्षतेर्नाशब्दं' इस पूर्वउक्त सूत्र का व इस सूत्रका तात्पर्य्य एकही है परन्तु इसम अन्य श्रुतिवाक्य का प्रमाण होनेसे पुनर्वार प्रधान के कारण होने का उसी हेतुसे निषेध कियाहै ।

कारण होना न मानना चाहिये क्योंकि प्रधान अचेतन में इच्छा नहीं हो सकी इच्छा चेतनही में होती है ॥१८॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

अनु०—और इससे कि, इसमें इसका उसके साथ योग होने को उपदेश करता है (शास्त्र उपदेश करता है) ॥ १९ ॥

भाष्य—पूर्वोक्त हेतुओं से और अधिक हेतुसूचक चकार सूत्र में रक्खा है इससे चकारका अर्थ और रक्खा है व इससे अर्थात् इस हेतुसे यह वाक्य पूरा होने के लिये आकांक्षित होनेसे कहागयाहै शास्त्रशब्द सूत्र में शेष है उपदेश क्रिया से उसके कर्ता शास्त्र का आक्षेप कियाजाता है कर्ता के आक्षेप-सहित सूत्रका पूरा वाक्यार्थ यह है कि, और इससे अर्थात् इस हेतुसे भी कि, इसमें अर्थात् आनन्दमय प्रकृत ब्रह्म में इसका जीवका उसके साथ अर्थात् आनन्दमय के साथ योग होने को शास्त्र उपदेश करता है अर्थात् पर-मात्मा के साथ योग होना जो मुक्ति है उसको शास्त्र उपदेश करता है जीव व प्रधान के लिये आनन्दमय शब्द नहीं है योग होने के उपदेश में यह तैत्ति-रीय उपनिषद् का मंत्रवाक्य प्रमाण है **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति** अर्थ—(यदा ह्येव) जबही (एषः) यह जीवात्मा (एतस्मिन्, अदृश्ये, अना-त्म्ये, अनिरुक्ते, अनिलयने) इस अदृश्य अर्थात् स्थूलप्रपञ्चशून्य निर्विकार, शरीर-रहित, अनिरुक्त अर्थात् जिसका आकृति रूप आदि नहीं कहा जासक्ता ऐसा वचन से न कहने योग्य, निराश्रय अर्थात् सबको आश्रय व आप आश्रयरहित में अर्थात् ऐसे विशेषणयुक्त ब्रह्म में (अभयं प्रतिष्ठां) भयरहित स्थितिको (विन्दते) प्राप्तहोता है (अथ) ब्रह्म में निर्भयता के साथ स्थिति होनेपर (सः) वह जीव (अभयं गतः) अभयरूप मुक्ति को प्राप्त (भवति) होताहै (यदा ह्येव) जबही (एषः) यह जीवात्मा (एतस्मिन् उत् अरं) इस ब्रह्म में थोडा भी (अन्तरं कुरुते) अन्तर करताहै अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न पदार्थ में चित्त लगाता है वा ब्रह्मके ज्ञान के उपाय के अनुष्ठान में थोडा भी व्यवधान वा अतिकाल करता है (अथ) तब उस अन्तर करनेपर (तस्य भयं) उसको भय (भवति) होताहै अर्थात् जब कुछभी ब्रह्मसे भिन्न अन्यको प्रिय व उपास्य जानताहै तब जन्ममरण भयको प्राप्त होता है ऐसा योग होनेरूप मोक्षका उपदेश केवल परमात्मा ब्रह्म के ग्रहण करने में घटित होता है वा होसक्ता है प्रधान व जीव के ग्रहण में नहीं होसक्ता तिससे आनन्दमय केवल पर-

मात्मा सिद्ध होता है अब यह शङ्का होतीहै कि, अन्नमय आदि पंच कोश में विकारही अर्थ में मयट् प्रत्यय अर्थात् मय शब्द ग्राह्य है क्योंकि पंचकोश वर्णन में ऐसा वर्णन किया है **स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः तस्माद्वा एत-स्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः तस्मादन्योन्तर आ-त्मा मनोमयःतस्मादन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयःतस्मादन्योन्तर आत्माऽऽनन्दमयः** अर्थ–वह जो यह अन्नरसमय पुरुष है उस इस अन्नरसमयसे अन्य अन्तरआत्मा प्राणमय है उससे अन्य अन्तरआत्मा मनोमय है उससे अन्य अन्तरआत्मा विज्ञानमय है उससे अन्य अन्तरआत्मा आनन्दमय है इस प्रकारसे वर्णित अन्नमय आदिमें जब विज्ञानमयतक विकार अर्थ में मयट् प्रत्यय का होना अंगीकार करने के योग्य है वा अंगीकार किया जाता है तब विकार अर्थ वाचक मयट् प्रत्यय युक्त अन्नमय आदिकोंके साथ वर्णन किया गया विकार अर्थ के प्रवाहमें प्राप्त जो आनन्दमय शब्द है उसमें अकस्मात् प्राचुर्य्य अर्थमें अर्थात् अधिक होने अर्थमें मयट् प्रत्यय का ग्रहण करना किस प्रकार से स्वीकार के (मानने के) योग्य होसक्ता है जो मंत्रवर्णों से प्रतिपा-दित होने ब्रह्म अधिकार होने से मानाजाय तो अन्नमय आदिकों का भी ब्रह्म होने का प्रसङ्ग है इसका उत्तर यह है कि, अन्नमय आदि का ब्रह्म न होना व विकाररूप होना युक्त है क्योंकि उससे अन्य उससे अन्य अन्य से अन्य अन्तर आत्मा कहेजाने से विज्ञानपर्य्यन्त किसी का ब्रह्म होना संभव नहीं होता आनन्दमय से अधिक अन्य अन्तर आत्मा को नहीं कहा इससे आनन्दमय मात्र का ब्रह्मत्व है ब्रह्म का विकाररूप होना युक्ति व आप्त वाक्य से विरुद्ध है इससे आनन्दमय में प्राचुर्य्य ही अर्थ में मयट् प्रत्यय अर्थात् मय शब्द ग्रहणकरना उचित है अब यह शङ्का है कि, यद्यपि अन्नमय आदिके समान आनन्दमयसे अधिक अन्य अन्तर आत्मा को नहीं वर्णन किया तथापि आनन्दमय को ब्रह्मत्व नहीं है अर्थात् आनन्दमय ब्रह्म को कहना युक्त नहीं है क्योंकि आनन्द को कहकर यह कहाहै **तस्य प्रियमेव शिरः मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा** अर्थ–उसका प्रियही शिर है अर्थात् इष्ट अर्थके (जिस अर्थ की अभिलाषा वा चाह है उसके) देखने वा जानने से उत्पन्न जो सुख है वह शिर है मोद अर्थात् प्रिय की प्राप्ति से हुआ हर्ष दक्षिणपक्ष (दहिना पंख वा भाग) है प्रमोद अतिप्रिय के मिलने से उत्पन्न हर्ष उत्तरपक्ष (बायाँ पक्ष) है अथवा स्मरण से उत्पन्न सुख को मोद कहते हैं वह दक्षिणपक्ष व प्रमोद[1] अर्थात् अभ्यास से उत्कृष्टता को प्राप्त मोद उत्तरपक्ष है आनन्दकारणरूप आत्मा अर्थात् शिर

---

१ प्रिय मोद आदिमें एक दूसरे के अर्थ में भेद ज्ञात होने के लिये अर्थात् शब्द रखकर अर्थ विशेष लिखदिया है ।

व पुच्छ के बीच में मध्यभाग है व ब्रह्मपुच्छ व प्रतिष्ठा (स्थिति का स्थान नीड वा घोंसला) है। जो **ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ—सत्य ज्ञान रूप अनन्त ब्रह्म है इस मंत्र वर्ण में वर्णन किया गया है उसीको इस प्रिय शिरआदि वर्णन करनेवाले मंत्र में पुच्छप्रतिष्ठा वर्णन किया है ब्रह्म को आनन्दमय का अवयव मानकर अन्नमय आदि अवयवी पदार्थों के समान आनन्दमय अवयवी पक्षी का ब्रह्म पुच्छप्रतिष्ठा कहा जासक्ता है तिससे ब्रह्म का प्रधान होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि वही आनन्दमय आत्मा अवयवी वही ब्रह्म पुच्छप्रतिष्ठा अवयव एक व सम नहीं होसक्ता अन्य अवयवी स्वीकार करने में ब्रह्म पुच्छप्रतिष्ठा कहना युक्त हो सक्ता है और ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा यही कहने में ब्रह्म शब्द का संयोग है जिस वाक्यमें आनन्दमय को वर्णन किया है उसमें ब्रह्म शब्दका संयोग नहीं है इससे भी आनन्दमय का ब्रह्म होना सिद्ध वा निश्चित नहीं होता. उत्तर यह है कि, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा कहकर यह कहा है **तदप्येष श्लोको भवति** अर्थ—उस उक्त ब्रह्म के प्रतिपादन में यह श्लोक जो आगे कहा जाता है प्रमाण होता है अर्थात् प्रमाण है वह श्लोक यह है **असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् अस्तिब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः** अर्थ—(चेत्) यदि जो कोई (असत् ब्रह्म) ब्रह्म नहीं है (इति) ऐसा (वेद) जानता है (सः) वह (असन्नेव) न होने के समान (भवति) होता है (ब्रह्म अस्ति) ब्रह्म है (इति चेत्) जो ऐसा (वेद) जानता है तो (ततः) तिससे अर्थात् इसी कारण से (एनं) इसको अर्थात् ब्रह्म है ऐसा जाननेवाले ब्रह्मज्ञानी को (सन्तम् इति) सन्त ऐसे नाम से विद्वान् लोग (विदुः) जानते हैं व कहते हैं इस श्लोक में ब्रह्मके जानने व न जानने से जीव के गुण दोष अर्थात् जीव का श्रेष्ठ होना व न होना वर्णन करने से यह सिद्ध होता है कि, आनन्दमय ब्रह्महीको कहना मानना चाहिये ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा इस वाक्यमें ब्रह्महीका प्रधान होना अङ्गीकार के योग्य है आनन्दमय के ब्रह्म होने में शंका करना युक्त नहीं है और जो यह शंका है कि, प्रिय, मोद, प्रमोद आदि आनन्दमय के अवयव के समान वर्णित होने से सत् ब्रह्म स्वप्रधान रूपका आनन्दमय का पुच्छ अवयव विशेष होना वाक्य से सिद्ध होता है ऐसा स्वप्रधान (आपही प्रधान) ब्रह्म को क्यों कहा है उत्तर यह है कि, यद्यपि पुच्छ शब्द का अर्थ पूँछ है परन्तु यहाँ आनन्दमय का पूँछ होना असंभव व प्रमाणविरुद्ध है इससे पुच्छ शब्द यहाँ पूँछ निकलने के स्थान से नीचे भागका बोधक वा सूचक है जिसके व पृथिवी के संयोगसे पक्षी वा अन्य पुच्छधारी प्राणी बैठते वा आराम से अपने शरीर का विशेष आधार करते हैं फलितार्थ पुच्छ के समान आधार

कहने को है इस भावसे उपचारसे आधार अर्थ पुच्छ शब्दका व मुख्य नीड अधिष्ठान अर्थ प्रतिष्ठा शब्दका ग्रहण कियाजाता है अर्थात् ब्रह्म आनन्दमयका आधार वासस्थान है आनन्दमय उसमें आश्रित है इससे ब्रह्म की प्रधानता है मुख्य अधिष्ठान कहने से अभिप्राय यह है कि, ब्रह्मानन्द सम्पूर्ण आनन्दोंका आधार वा आश्रय है अन्य आनन्द उसके अवयव अर्थात् अवयव के समान न्यून हैं व उसमें आश्रित हैं जैसा श्रुति में कहा है **एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति** अर्थ-इसी आनन्द ब्रह्मके मात्रा को आश्रय करके अन्य भूत (प्राणी) जीते हैं । यह अभिप्राय पुच्छ प्रतिष्ठा कहने का है ब्रह्म को पुच्छ अवयव वर्णन करने का नहीं है जो पुच्छवत् (पुच्छके समान) कहने से आधार अर्थ ग्रहण करने में कोई तर्क व संदेह करै तो श्रीशंकराचार्य्य भाष्यकार व अन्य पूर्व आचार्य्योंने भी यही अर्थ ग्रहण किया है व अन्यथा कोई उत्तम अर्थ नहीं हो सक्ता इससे ऐसाही अर्थ ग्रहणके योग्य है जो पुच्छ शब्दका पुच्छही अर्थ ग्रहण किया जाय तौ यद्यपि साधारण देखनेमें किसी पक्षी का पुच्छ यथार्थ आधार होना विदित नहीं होता परंतु यहाँ ब्रह्म को आधार मानना इस हेतुसे भी युक्त है कि, वाक्य में पुच्छ मात्र नहीं कहा प्रतिष्ठा पद भी कहा है प्रतिष्ठा पद के योग से आधार होने का अर्थ ग्राह्य है ब्रह्म को पुच्छवत् आधार व प्रतिष्ठारूप वर्णन किया है प्रतिष्ठा शब्द से अभिप्राय मुख्य नीड कहने से है अर्थात् आनन्दमय पक्षी के रहनेका स्थान घोंसला कहने से है नीड (घोंसला) में पक्षीका शिर आकाश वा नीड में प्रवेश करने के छिद्र द्वार की तरफ रहता है व अन्त अवयव पुच्छ नीड अधिष्ठान में मिलकर आधारभाव को प्राप्त होता है इससे नीड अधिष्ठान के संयोग में पुच्छ को आधार कहना तथा नीड आधारस्थान रूप ब्रह्म के वर्णन करने में ब्रह्म का आधार रूप व प्रधान होना व आनन्दमय का उसमें आश्रित होना सिद्ध होता है अब यह शङ्का है कि, आनन्दमय को ब्रह्म मानने में ब्रह्म को प्रिय शिरआदि अवयव विशेषण सहित माननाचाहिये जो अवयव व विशेषणयुक्त है वह मन वाक् व इन्द्रियगोचर है आनन्दही ब्रह्म को मनवाक् से पर वर्णन किया है इसके प्रमाण में यह तैत्तिरीयउपनिषद् का पुच्छ वाक्य के आगे ब्रह्मानन्दही वल्लीका श्लोक है **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन** अर्थ— जिस ब्रह्म को प्राप्त न होकर मनसहित जिससे वाणी लौट आती है उस ब्रह्म के आनन्दस्वरूप को प्राप्त हो विद्वान् पुरुष किसी से नहीं डरता इस मंत्रवाक्यके विरुद्ध मानना युक्त नहीं है और जो मयट् प्रत्यय का विकार अर्थ न ग्रहण किया जाय प्राचुर्य्य ही अर्थ ग्रहण कियाजाय तौ भी प्रचुर आनन्द होने का अर्थ ग्रहण करने से

कुछ आनन्द का अभाव दुःख होना भी मानना होगा क्योंकि विरुद्ध धर्म का पदार्थ कम होनेकी अपेक्षा प्राचुर्य्य अर्थात् अधिकता कहीजातीहै यथा यह ग्राम ब्राह्मणमय है वा बहुत ब्राह्मण इस गाँवमें हैं यह कहनेसे शूद्र वा अन्य वर्ण कम हैं यह विदित होताहै ब्रह्मको श्रुति वा मंत्र वाक्य में सर्वव्यापक अनन्त कहाहै इससे उसका कहीं अभाव नहीं होसक्ता कि, किसी देश में न होना मानाजाय इसका विवरण वा व्याख्यान यह है कि, आनन्दमय के प्रिय आदि अवयव भेद होने से प्रतिशरीर में भेद होगा ब्रह्म सर्वव्यापक प्रति शरीर में भेद को नहीं प्राप्त होता क्योंकि **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ—सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म है इस मंत्रवाक्य में ब्रह्म को अनन्त वर्णन किया है तथा यह श्रुति है **एको देवः सर्वभूतेषु गूढस्सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** अर्थ—एक देव सब प्राणियों में छिपा सब में व्यापक सब भूतोंका अन्तर आत्मा है इससे आनन्दमय को ब्रह्म मानना युक्त नहीं है व यह भी संशय का हेतु है कि, मंत्रवाक्यों में आनन्द शब्द मात्र का अभ्यास ब्रह्म के लिये है आनन्दमय शब्द का अभ्यास नहीं है यथा **रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति तथा को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** इन वाक्यों के अर्थका वर्णन पूर्वही हो चुका है इससे यहाँ फिर वर्णन नहीं किया इन वाक्यों में आनन्द मात्र ब्रह्म वाचक शब्द का अभ्यास होने से व प्रिय शिरआदि अवयव कहेजाने से आनन्दमय का ब्रह्म होना सिद्ध नहीं होता व अन्नमयआदिक अनात्मा विकाररूपों के क्रमसम्बंध में कहे जाने से और जैसे अन्नमय आदि के लिये यह वर्णन किया है कि, **अन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति** अर्थ— अन्नमय आत्मा को उपसंक्रमण करता है अर्थात् ज्ञानी इस शरीर से भिन्न होकर ब्रह्मलोक में प्राप्त होकर इस अन्नमय आत्मा को उपसंक्रमण करता है अर्थात् त्यागकरता है उपसंक्रमण का अर्थ पूर्व को छोंडकर आगे अन्य में जाना है इससे अन्नमय आत्मा से दूर होजाता है ऐसा फलित अर्थ होनेसे त्याग का अर्थ ग्रहण कियागया है व त्यागका अर्थ घटित होता है क्योंकि ब्रह्म में प्राप्त होने व मोक्ष होनेमें अन्नमय आदि अर्थात् शरीरआदि का सम्बंध नहीं रहता ऐसेही अन्नमय आदि के साथ **एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति** अर्थ--इस आनन्दमय आत्मा को त्यागकरता है यह वर्णन किया है इससे विकाररूप अन्नमय आदि के समान उपसंक्रमण के योग्य आनन्दमय के ब्रह्म होने में ब्रह्मज्ञानी को ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष फल होना न कहाजायगा वा कहने योग्य न होगा. उत्तर यह है कि, विचारसे यह दोष नहीं प्राप्त होसक्ता क्योंकि आनन्दमय के उपसंक्रमणही वर्णन से पुच्छप्रतिष्ठारूप वर्णन किये गये ब्रह्मकी प्राप्तिका फल मोक्ष वर्णन किया है आनन्दमय को

उपसंक्रमण करना कहने में उपसंक्रमण का अर्थ प्राप्ति का ग्रहणके योग्य है इसमें त्याग का अर्थ घटित नहीं होसक्ता क्योंकि अन्नमयआदि से अधिक प्राणमय आदि का वर्णन है इससे पूर्वको त्याग कर अन्य में गमन करना वा प्राप्त होना ग्रहण के योग्य है आनन्दमय से अधिक आगे किसी का वर्णन नहीं है जो प्राप्य समझा जाय व ऐसा अर्थ घटित होसके इससे जैसे अन्न-मय आदि में विकार अर्थ में व आनन्दमय में प्राचुर्य्य अर्थ में मयट् प्रत्यय (मयशब्द) ग्रहण के योग्य वर्णन किया है ऐसेही अन्नमय आदि से भिन्न वा विलक्षण आनन्दमय में उपसंक्रमणका दूसरा अर्थ प्राप्ति का ग्रहण करना उचित है और यह भी आनन्दमय के ब्रह्म होने व उपसंक्रमण का अर्थ प्राप्त होना ग्राह्य होने में प्रमाण है कि, आनन्दमय को उपसंक्रमण करता है यह कहकर इसी के आगे यह वर्णन किया है **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन** अर्थ–जिस परमात्मा को न प्राप्त होकर मन सहित वाणी लौट आती है उस पर-मात्मा ब्रह्म के आनन्द को अर्थात् आनन्दस्वरूप को [1]प्राप्तहोकर विद्वान् किसी से नहीं डरता इसस प्राप्त होने का आशय विदित होताहै और आनन्द जो चेतनका गुण सबका परमप्रयोजन वा मनोरथ व जिसके होनेका ज्ञानही मोक्षकी अभिलाषाका हेतु है उसके त्यागका अर्थ किसी प्रकारसे स्वीकारके योग्य नहीं होसक्ता और आनन्द-मयके सन्निधान में (निकट में) जो यह श्रुति है **सोऽकामयत बहुस्यां प्रजा-येय स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च** अर्थ-- उसने इच्छा किया कि, बहुत होऊँ उत्पन्न होऊँ अर्थात् अपनी शक्तिद्वारा अनेक प्रकारके कार्यरूप प्रकटकरूँ उसने तप (ज्ञान) को फैलाया व तप को तपकर के अर्थात् पूर्वसृष्टि व जीवों के कर्मोंका अनुसंधान करके जो कुछ यह है इस सब जगत् को उत्पन्न किया यह ब्रह्मपुच्छप्रतिष्ठा के अति निकट कहेजाने से ब्रह्मके साथ सम्बंध को प्राप्त जो आनन्दमय है उसका ब्रह्म होना बोध कराती है अर्थात् उसके ब्रह्म होने को जनाती है क्योंकि सृष्टि को उत्पन्नकरना जीव का कर्म व सृष्टिउत्पत्तिका सामर्थ्य जीव में नहीं होसक्ता और जो यह शंका किया है कि, अधिक आनन्द कहने से उसके विरुद्ध अल्पदुःख होने का भी प्रसंग होता है जैसे ब्राह्मणमय ग्राम कहने से उसमें शूद्र वा अन्य वर्ण के कम होने का बोध होता है तथा दूसरी जो यह शङ्का होती है कि, श्रुति में **आनन्दो ब्रह्म व्यजानात्** अर्थ--आनन्द ब्रह्म है यह जाना इस श्रुति में जिसमें आनन्द ब्रह्म है यह कहाहै मयशब्दसहित नहीं कहा तथा अन्य श्रुतियों में जो पूर्वही वर्णन की गई हैं आनन्दशब्दमात्र कहा है मयशब्द न कहनेसे व प्रियाशिर आदि

---

१ प्राप्त होकर यह शब्द वाक्यमें शेष है आक्षेपसे ग्रहण किया जाता है क्यों कि वाक्य में अपेक्षित है । २ इसका विशेष व्याख्यान पूर्वही किया गया है वह यहां समझलेना चाहिये ।

अवयव न कहनेसे आनन्द शब्द ब्रह्मवाचक होना युक्त है प्रियशिरआदि अवय-व ब्रह्म में संभव नहीं होते जो ब्रह्म मन वाक् से अगोचर है उसको अवयव विशेषसहित प्रतिपादन करना युक्त नहीं है इन दोनों शङ्काओं का उत्तर यह है कि, तत्प्रकृतवचने मयट् इस महर्षि पाणिनिकृत सूत्र का जिसमें मयट् प्रत्य-य का विधान है दो प्रकार का अर्थ होता है एक यह कि, प्राचुर्य्य से (अधिक-तासे) प्रस्तुत (प्रशंसा कियागया) को प्रकृत कहते हैं प्रथमा विभक्ति में समर्थ अर्थात् प्रथमाविभक्तियुक्त शब्द से प्रकृत वचन में अर्थात् प्रकृत उपाधिक शब्द के अर्थ में स्वार्थमें (अपनेही अर्थमें) मयट् प्रत्यय होताहै यथा प्रकृतरूप (अतिप्र-स्तुत) अन्न को अन्नमय कहते हैं अर्थात् अतिप्रशंसायुक्त अन्नही अन्नमय कहाजाता है यथा सूर्य्य प्रकाशमय है यह कहने में यह विदित होता है कि, गुण गुणी को वा धर्म्म धर्म्मी को अभेदभावकी विवक्षासे स्वार्थहीमें वक्ता का मयशब्द कहनेका आशय है अर्थात् प्रकाशमय सूर्य कहनेका यह अर्थ है कि, सूर्य प्रकाश स्वरूपही है क्योंकि सूर्य्य में अधिक प्रकाश है इससे कुछ अन्धकार भी है ऐसा मानना असंभव व प्रमाणविरुद्ध है ऐसेही आनन्द व आनन्दमय कहनेमें समझना चाहिये आनन्दमय में अधिकआनन्द व कुछ दुःख होने की शंका करना युक्त नहीं है और आनन्दमय का अर्थ अतिआनन्दस्वरूपही होने का ग्रहणके योग्य होने से आनन्द शब्द के अभ्यास से आनन्दमय का अभ्यास मानना युक्त है क्योंकि स्वार्थही में अर्थात् धर्मधर्मी को अभेद मान के आनन्दही अर्थ में मयशब्द का प्रयोग है और दूसरा अर्थ यह है कि, प्रकृत जिसमें कहाजाय वह प्रकृतवचन है प्रथमाविभक्ति शब्द से प्रकृत वचन कहने योग्य में मयट् प्रत्यय होता है यथा अन्न जिसमें प्रकृत हो (अधिकता से प्रस्तुत हो) वह अन्न-मय यज्ञ है यहाँ विशेष्यविशेषण भावसे कहनेसे अन्य द्रव्य पदार्थ में मयट् प्रत्यय वा मय शब्द का ग्रहण कियाजाता है । इससे जहाँ धर्म व धर्मी में भेद होने के भावसे आनन्द धर्मका आश्रयरूप ब्रह्म को वर्णन कियाहै वहाँ रूपकमात्र वर्णन करने की कल्पनासे प्रियआदि को शिर के समान कहकर ब्रह्म को पुच्छ व नीडके समान कहा है मुख्य अर्थ से पुच्छ व अवयव कहने का आशय नहीं है पुच्छ व प्रतिष्ठा (नीड) इसी प्रयोजनसे कहाहै कि, जिससे पुच्छ शब्द कहने से रूपक का भी निर्वाह होजाय व प्रतिष्ठाके साथ कहने से ब्रह्म के प्रधान व आधार होने में दोष प्राप्त न हो क्योंकि धर्मी वा द्रव्य धर्म वा गुण का आश्रय होता है इससे प्रचुरआनन्द का आश्रय धर्मी ब्रह्म होने से ब्रह्म आनन्दमय कहाजाता है ऐसा अर्थ ग्रहण करने में भी अन्य लौकिक न्यून आनन्द की अपेक्षा ब्रह्म में अधिक आनन्द होने से आनन्दमय कहना

---

१ दोनों प्रकारके अर्थों को आचार्य्योंने स्वीकार किया है व दोनों प्रकारके अर्थ ग्राह्य होनेसे आनन्दमयमें स्वार्थ में मयट् ग्रहण किया जाता है ।

समझना चाहिये ऐसेही अन्य न्यून प्रकाशमान की अपेक्षा सूर्य्य प्रकाश-मय कहाजाता है उसीमें अल्प विरुद्ध धर्म भी अङ्गीकार कियेजाने के आशयसे प्राचुर्य्य अर्थ में मय शब्द का वर्णन नहीं है इससे ब्रह्म आनन्दका आश्रय सिद्ध होने से व केवल देश में उपचारमात्र से अवयव के समान कथन होने से व मुख्य अर्थ से व पूर्वापर सम्बंधसे ब्रह्म को प्रधान व आनन्दस्वरूप वर्णन किया जाना सिद्धहोनेसे ब्रह्महो को आनन्दमय वर्णन किया है यह निश्चय करना चाहिये । पूर्वापर वाक्यों में संशय निवारण के लिये यह शंका समाधान का व्याख्यान सूत्र के अर्थ के व्याख्यान से अधिक लिखागया है । अब अन्य वाक्य जो ब्रह्म के प्रतिपादन में हैं उनमें जो जो शब्द संशय के कारण हैं उनको उनके समाधान के हेतु सहित ब्रह्म का प्रतिपादन आगे सूत्रों में वर्णन करते हैं ॥ १९ ॥

आदित्य के अन्तर्गत हिरण्मय पुरुष ब्रह्महो होने के वर्णनमें सू० २० व २१ अधि० ७ ।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

अनु०—मध्यमें (सूर्य्य के मध्यमें) उसके धर्मके उपदेशसे ॥ २० ॥

भाष्य—मध्य में उसके धर्मके उपदेश से यह कहने का आशय यह है कि, छान्दोग्य उपनिषद् में उपास्य ब्रह्म के वर्णन में यह वाक्य है **अथ य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः। तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणि, तस्योदिति नाम, स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद** अर्थ—(अथ यः) अथ जो अर्थात् जो पूर्वेही कहा गया वह (एषः) यह अर्थात् प्रत्यक्ष (अन्तरादित्ये) मध्यमें सूर्य्यमें अर्थात् सूर्य्य के मध्यमें (हिरण्मयः)ज्योति वा प्रकाशमय (पुरुषः) पुरुष (दृश्यते) देखाजाता है (हिरण्यश्मश्रुः) जिस की ज्योति ही डाढी है (हिरण्यकेशः) ज्योतिरूपही जिसके केश हैं (आप्रणखात्) नखपर्य्यन्त अर्थात् जो नखपर्य्यन्त (सर्व एव सुवर्णः) सब सुवर्ण है अर्थात् प्रकाशरूप है और (यथा) जैसे (कप्यासं) जलको पीताहुआ स्थित

---

१ पूर्व वर्णन के उपरान्त उपासना वर्णन का प्रारंभसूचक अथ शब्द है ।

२ नेत्रोंके उपमान पुण्डरीक के विशेषण में कप्यास शब्द का जो अर्थ जलको पीता व स्थित व उसका विवरण लिखा है उसका व्याकरण से संस्कृत में शब्दार्थ से यथार्थ होना जनानेके लिये तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी इस वाक्य अवयव का जिसमें कप्यास शब्द है संस्कृत में व्याख्यान लिखते हैं तस्येति, तस्य पुरुषस्य यथा-

अर्थात् अपने मूल व नाल से जल को ग्रहणकरता वा पीताहुआ जलरससंयुक्तासे ताजापन व प्रफुल्लतारूप तेज को प्राप्त अपने वृक्ष नाल में स्थित (पुण्डरीकं) कमल हो (एवं) ऐसे (तस्य) उसके (अक्षिणी) दोनों नेत्र हैं अथवा यह अर्थ है कि, किरणों से जल खींचने से जलका पीनेवाला कपि जो सूर्य्य है उससे विकासित वा प्रफुल्लित जो पुण्डरीक (कमल) है उसके समान उस पुरुषके नेत्र हैं (तस्य) उसका (उत) उपर वा पर (इति नाम) यह नाम है (स एष) वह यह (सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः) सब पापों से (उदितः) भिन्न वा रहित है (यः) जो (एवं) ऐसा (वेद) जानता है (सः) वह (सर्वेभ्य पाप्मभ्यः) सब पापोंसे (ह वै) निश्चय करके (उदेति) रहितहोता है ऐसा अधिदैवतरूप से वर्णन करके अध्यात्मरूप से ऐसा वर्णन किया है **अथ य एषोन्तराक्षिणि पुरुषो दृश्यते** अर्थ-(अथ) अब वा और (यः एषः) जो यह (अन्तराक्षिणि) नेत्र के मध्यमें (पुरुषः) पुरुष (दृश्यते) देखाजाता है इत्यादि इन वाक्यों में जो (अन्तः) मध्यमें अर्थात् सूर्य्य व नेत्रों के मध्य में पुरुष का देखाजाना अर्थात् होना वर्णनकिया है इसमें यह संशय होता है कि, विद्याकर्म के अतिशय से (अधिक होनेसे) उत्कृष्टता को प्राप्त किसी संसारी पुरुष को सूर्य्यमण्डल में व चक्षु में उपासना के योग्य श्रुति में कहा है वा नित्य सिद्ध परमात्मा को कहा है क्योंकि वेदान्त में परमात्मा ब्रह्म उपास्य वर्णन करने का विषय होने से व व्यापक ब्रह्म का सूर्य्य व नेत्र दोनों में होना संभव होने से ब्रह्म का वर्णन कियाजाना विदित होता है परन्तु रूपवान् होना आदि वर्णन कियेजाने से संसारी जीवात्मा का वर्णन होना

—पुण्डरीकम् एवं अक्षिणी कथंभूतं पुण्डरीकं कप्यासं कं जलं पीयते इति कपी नपुंसकत्वात् ह्रस्वत्वे कपि आस्ते इत्यासं कपि च तदासं च कप्यासं अर्थात् यत्पुण्डरीकं स्वमूलनालाभ्यां कं जलं पीयते कोऽर्थः जलमाकर्षति गृह्णाति वा जलमाकृष्यार्द्रत्वं प्रफुल्लनञ्च प्राप्तमस्ति तदेवास्ते इति कप्यासं न स्ववृक्षाद्भिन्नमनार्द्रं निस्तेजोरूपं पुण्डरीकमित्यर्थः । कप्यासमित्यस्य शब्दस्य योऽयमर्थो गोविन्दानन्देन शांकरभाष्यटीकायां लिखितः कपेर्मर्कटस्य आसः पुच्छभागोऽत्यन्ततेजस्वी तत्तुल्यं पुण्डरीकं यथा स न ग्राह्यो बीभत्सार्थापत्तेरनुत्तमत्वात् । गोविन्दानन्दलेखानुसारेण अरुणरूपतार्थप्राप्त्यै तदर्थो ग्राह्य इति चेन्नान्यवर्णवतोऽपि कप्यासस्य दर्शनात्पुण्डरीकशब्दस्य सिताम्भोजे नियतत्वादन्ययुक्तशब्दोपमावर्णने वक्तुरक्षमत्वसिद्धत्वाच्च । कप्यासमिति समासान्तशब्दे कपी—आसशब्दौ स्तस्तयोः कमिति कर्मपूर्वक पीङ् पाने इति धातोः क्विप्प्रत्ययान्तः कपीशब्दस्तथा आस उपवेशने इति धातोरच्प्रत्ययान्तः आसशब्दो ज्ञातव्य इति अथायमर्थः समीचीनः कं पिबतीति कपिरादित्यः तेनास्यते क्षिप्यते विकास्यते इति कप्यासन्तत्राह वाक्यकारः आदित्यक्षिप्तं वा श्रीमत्वादिति ।

१ उदित शब्द उत्उपसर्गपूर्वक इण् गतौ धातुसे बना हुआ है व अर्थ उसका ऊपर गया है वा होता है यहां फलितार्थ भिन्न वा रहित होनेका ग्रहण किया जाता है अथवा उपसर्गसे धातुका अर्थ बदल जाताहै इससे रहित होना अर्थ ग्राह्य है ।

समझाजाता है क्योंकि आदित्यपुरुष में (सूर्य्यमें) ज्योतिर्मय श्मश्रु (डाढी) ज्योतिर्मय केश इत्यादि वर्णन से रूपका वर्णन कियाहै तथा नेत्रपुरुषमें भी ज्योतिरूप होने से व श्रुति में ऐसा कहने से **तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं** अर्थ-(तस्य एतस्य) उस उक्त इसका अर्थात् जिसका वर्णन अभी होरहा है ऐसे चक्षु में विद्यमान पुरुषका (तदेव रूपं) वही (ज्योतिर्मय) रूप है (यत्) जो (अमुष्य रूपं) इसका रूप है अर्थात् जिसका अभी वर्णन होचुकाहै वा होगया है इस सूर्य्यमण्डलमें विद्यमान पुरुषका रूप है इसप्रकारसे सूर्य्यमण्डलस्थ पुरुष में व नेत्रस्थ पुरुष में दोनों में रूपका वर्णन है परमात्माको रूपरहित वर्णन किया है यथा श्रुतिमें कहा है **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं** अर्थ-(अशब्दं) शब्दरहित (अस्पर्शं) स्पर्शरहित (अरूपं) रूपरहित (अव्ययं) नाशरहित है तथा आधार कहनेसे परमात्मा का होना सिद्ध नहीं होता अर्थात् जो यह आदित्य के मध्य में पुरुष देखाजाता है यह कहने से सूर्य्य का आधार होना ज्ञात होता है परमात्मा सर्वव्यापक का कोई आधार नहीं होसक्ता श्रुतिमें कहा है **आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः** अर्थ-(आकाशवत्) आकाश के समान (सर्वगतः) सब में प्राप्त अर्थात् सर्वव्यापक (च) और (नित्यः) नित्य है इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से व्यापक होने से परमात्मा एकदेशीय मूर्तिमान् नहीं है इससे सूर्य्य व नेत्र के मध्य में परमात्मा नहीं है और इससे भी परमात्मा का होना संभव नहीं होता कि, आदित्यपुरुष व आक्षिपुरुष के ऐश्वर्य्य की मर्य्यादा श्रुति में कही है छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुति यह है **स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषाञ्चेष्टे देवकामानाञ्च** अर्थ-(अमुष्मात्) इससे अर्थात् सूर्य्यसे (पराञ्चः) उपर वा ऊँचे (ये च लोकाः) जो और लोक हैं (तेषाञ्च) उनका भी (स एषः) वह यह अर्थात् जो उत् नाम से कहागया है वह यह प्रकृत कहागया आदित्यपुरुष (ईष्टे) ईश्वर होता है अर्थात् ईश्वर है (देवकामानाञ्च) देवताओं के काम्यमान अर्थात् इच्छा कियेगये फलविशेषों वा भोगोंका भी अर्थात् देवताओंके भोग वा फलविशेषों का भी ईश्वर है ऐसाही अक्षिपुरुषके नीचे के लोकों का ईश्वर होना कहनेसे अक्षिपुरुष की मर्य्यादा श्रुति में कही है यथा **स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषाञ्चेष्टे मनुष्यकामानाञ्च** अर्थ-(एतस्मात्) इससे अर्थात् अक्षि (नेत्र) से (अर्वाञ्चः) नीचे (ये च लोकाः) जो और लोक हैं (तेषाञ्च) उनका भी (स एषः) वह यह अर्थात् जो उपर कहागया है वह यह अबभी वर्णन कियाजाता हुवा चाक्षुषपुरुष (ईष्टे) ईश्वर है (मनुष्यकामानाञ्च) मनुष्यों के भोगों का भी अर्थात् मनुष्यों के भोगोंका भी ईश्वर है परमात्मा के ऐश्वर्य्य की मर्य्यादा नहीं है उसको श्रुतिमें ऐसा वर्णन कियाहै **एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारण एष लोकानामसम्भेदाय** अर्थ-

(एषः)यह (सर्वेश्वरः) सबका ईश्वर है (एष भूताधिपतिः) यह भूतोंका अधिपति (स्वामी)है (एष भूतपालः) यह भूतों का पालनकरनेवाला है (एषां लोकानां) इन लोकों के (असम्भेदाय) संभेद न होने के लिये अर्थात् मर्य्यादा में भेद न होने के लिये वा मर्य्यादा में रखने के लिये (एष विधारणः सेतुः) यह धारणकरनेवाला सेतु है अर्थात् जैसे जलों के न मिलने व मर्य्यादा में रखने के लिये लोक में सेतु होता है ऐसेही लोकों के सम्पूर्ण नियमों के धारण करनेवाला सबको मर्य्यादा में रखने का हेतु होनेसे यह परमात्मा सेतु है (सेतुके समान है) इस विशेष मर्य्यादारहित सबका ईश्वर परमात्मा वर्णनकियेजानेसे मर्य्यादायुक्त कहागया सूर्य्यस्थ व अक्षिस्थ पुरुष परमात्मा नहीं है इस संशयके निवारण के लिये यह कहाहै मध्यमें उसके धर्मके उपदेशसे अर्थात् मध्यमें परमात्मा ही है उसके धर्म के उपदेशसे परमात्मा वा ब्रह्महीं है इतना सूत्र में शेष है तात्पर्य्य यह है कि, सूर्य्य व नेत्र के मध्यमें जो पुरुष कहागया है वह परमात्मा वा परमेश्वरही है किस हेतु से परमेश्वर है यह सिद्ध होता है उसके धर्म के उपदेश से अर्थात् परमेश्वर के धर्मका उपदेश कियाहै इससे परमेश्वर का होना सिद्ध होताहै परमेश्वर के धर्मका उपदेश यह है कि, यह जो सूर्य्य के मध्यमें पुरुष देखाजाता है ऐसा कहकर यह कहा है **तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः** अर्थ--उसका (आदित्यपुरुषका) उत् (पर) यह नाम है सो यह सब पापोंसे रहित है ऐसेही अक्षिपुरुष को कहा है सब पापों से रहित केवल परमात्मा को श्रुति में कहा है **यथा य आत्मा अपहतपाप्मा** इत्यादि अर्थ– जो आत्मा (परमात्मा) पापों से (सब पापोंसे) रहित है इत्यादि वाक्यों में परमात्मा को पापरहित वर्णन किया है पापरहित होना जो परमात्मा का धर्म है उसके कहने से सूर्य्यमण्डल व नेत्र के मध्य में परमात्मा ब्रह्महीको कहा है अन्य पुरुष को उपास्य नहीं कहा अब यह शंका है कि, सूर्य्यस्थ व अक्षिस्थ पुरुषमें उक्त प्रकारसे रूप व मर्य्यादा का होना विदित होताहै उनको परमात्मा मानने में परमात्मा को शब्द स्पर्श रूप आदि रहित जो श्रुति में वर्णन किया है उसमें दोष आवेगा इसका उत्तर यह है कि, जैसे आकाश व्यापक होनेसे यद्यपि घटआदि अनेक पदार्थों के उपाधि से घटआदिकोंके परिमाण मात्र नहीं होता परन्तु घटाकाश (घट में आकाश) कहाजाता है ऐसेही सर्वव्यापक परमेश्वर को आदित्य व अक्षिपुरुषरूप से वर्णन किया है व आधिदैवत व आध्यात्मरूप विभाग वर्णन करने की अपेक्षायुक्त मर्य्यादासहित उपासनाके लिये आदित्य व आक्षि में होना कहा है अर्थात् जो सर्वव्यापक रूप से परमेश्वर को जानकर उसके ध्यान में मनको स्थिर नहीं करसके उनके

ध्यानकरने व चित्त स्थिर करनेके प्रयत्न (उपाय) के लिये सूर्य्य आदि में परमेश्वर का होना वर्णन किया है व सर्वव्यापक का सूर्य्य अक्षि में होना सत्यही है इससे सूर्य्य अक्षि में परमेश्वर होनेका उपदेश किया है ॥ २० ॥

जो सूर्य्य में परमेश्वर है वा सूर्य्य पुरुषरूप परमेश्वर है तो सूर्य्य ही को परमेश्वर मानना चाहिये उससे पृथक् परमेश्वर न मानना चाहिये अथवा परमेश्वर भिन्न है यह संदेह दूर होनेके लिये आगे सूत्र में भेद होने का हेतु वर्णन करते हैं–

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

अनु०–भेद कथन से भी अन्य है ॥ २१ ॥

भाष्य–परमात्मा के धर्म उपदेश से आदित्यआदि शरीरअभिमानी जीवों से अन्य परमात्मा का उपदेश होना सिद्ध होता है दूसरा हेतु यह है कि, भेद कहने से भी परमात्मा आदित्य से भिन्न है यह सिद्ध होताहै जिस श्रुति में भेद वर्णन कियाहै वह बृहदारण्यउपनिषद् में वर्णन की गई श्रुति यह है **य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्य्याम्यमृतः** अर्थ–(यः) जो (आदित्ये) सूर्य्यमें (तिष्ठन्) रहतेहुये (आदित्यात्) सूर्य्यसे (अन्तरः) भिन्न है (यं) जिसको (आदित्यः) सूर्य्य (न वेद) नहीं जानता है (यस्य) जिसका (आदित्यः) सूर्य्य (शरीरं) शरीर है (यः अन्तरः) जो भिन्न परमात्मा (आदित्यं) सूर्य्यको (यमयति) नियमित करता वा नियम में रखता है (एषः) यह (अन्तर्यामी अमृतः) अन्तर्यामी अमृतमुक्तरूप (ते आत्मा) तेरा आत्मा है अर्थात् उपदेशक यह उपदेश करता है कि, हे जिज्ञासो! जाननेकी इच्छाकरनेवाले सूर्य्यमें स्थित जिसको सूर्य्य नहीं जानता है इत्यादि जिसका वर्णन किया गया है ऐसा यह अन्तर्यामी अमृतस्वरूप परमात्मा तेरा अर्थात् तू जो जीवात्मा है उसका आत्मा है तात्पर्य्य यह है कि, शरीर अभिमानी तुझ जीवात्मा का आत्मा है ऐसा कहने में कि, जिसको सूर्य्य नहीं जानता है इत्यादि यह स्पष्ट विदित होता है कि, न जाननेवाले आदित्य आत्मा से अन्तर्यामी आत्मा (परमात्मा) भिन्न है वही यहाँ सूर्य्यके मध्यमें वर्णन कियागया है यह स्वीकार करना चाहिये और वही जो आदित्यआदि शरीर अभिमानी जीवोंसे भिन्न है उपास्य देव है यह निश्चय करना चाहिये ॥ २१ ॥

आकाश शब्दसे परब्रह्मही वाच्य होनेमें सूत्र २२ अधि०८ ।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

अनु०—आकाश ब्रह्म है उसके लिङ्ग से अर्थात् आकाश शब्द ब्रह्मवाचक है उसके (ब्रह्मके) लिङ्ग (लक्षण) से ॥ २२ ॥

भाष्य—इसका आशय यह है कि, छान्दोग्य उपनिषद् में शालावत्यब्राह्मण व जैवलि के संवाद में प्रश्न व उत्तर का ऐसा वर्णन है **अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त इत्याकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवेभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्** अर्थ—(अस्य लोकस्य) इस लोक की (का गतिः) क्या गति है अर्थात् इसका पृथिवी लोक का वा अन्य का आधार को है (इति) यह प्रश्न है (आकाश इति) आकाश है यह उत्तर (ह उवाच) निश्चयसे कहा (वै) निश्चय (सर्वाणि इमानि भूतानि) सब यह भूत (आकाशात् एव) आकाशही से (समुत्पद्यन्त इति) उत्पन्न होते हैं (आकाशं प्रति) आकाशमें (अस्तं यन्ति) लय को प्राप्त होते हैं आकाशः हि एव एभ्यः) आकाशही इनसे अर्थात् इन सब भूत स्थावर जङ्गमोंसे (ज्यायान्) महान् अर्थात बड़ा है इससे (आकाशः परायणं) आकाश परायण है अर्थात् तीनों काल में सब भूतों का परम आश्रय वा आधार है इसमें यह संशय होता है कि, आकाश शब्द से परब्रह्म को कहा है वा भूत आकाश को वर्णनकिया है क्योंकि आकाश शब्द का प्रयोग दोनों में विदित होता है भूतआकाश में लोक व वेद में प्रसिद्धही है व कहीं ब्रह्मको भी आकाश नाम से कहा है जैसे इस वाक्य में कहा है **यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्** अर्थ—जो यह आकाश अर्थात् निराकार प्रकाशमान आनन्दस्वरूप ब्रह्म न हो तो कौन चले कौन जीवै अथवा कौन अपानसम्बंधी नीचे की क्रिया करै और कौन प्राण धारणकरै वा प्राणक्रिया करे इत्यादि। मुख्यअर्थ से आकाशशब्द भूतआकाश में निष्ठ है ब्रह्म आकाश के समान सब में व्यापक है इससे गौणअर्थ से ब्रह्म में आकाश शब्द का प्रयोग होता है तिससे मुख्यअर्थ के सम्बन्ध से भूतही आकाश का ग्रहण संभव होता है (उत्तर) भूतआकाश के ग्रहणकरने में यह जो कहा है कि, यह सब भूत आकाशही से उत्पन्न होते हैं यह अर्थ आकाश में घटित नहीं होसक्ता इससे आकाश शब्द ब्रह्मही वाचक मानने के योग्य है अब इसमें पूर्वपक्ष यह है कि, भूतआकाश को भी वायुआदि की उत्पत्ति का कारण वर्णन किया है यथा इस श्रुति में कहा है **एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आ-**

---

१ यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वाक्य है ।

काशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी अर्थ-(एतस्मात् आत्मनः) इस आत्मासे (आकाशः संभूतः) आकाश उत्पन्न हुवा व (आकाशात् वायुः) आकाशसे वायु (वायोः अग्निः) वायुसे अग्नि (अग्नेः आपः) अग्नि से जल उत्पन्न हुये और (अद्भ्यः पृथिवी) जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई इससे आकाशशब्द से भूतहीं आकाश का ग्रहण होता है इसके उत्तर व संशय के निवारण के लिये यह कहा है आकाश उसके लिंग से अर्थात् आकाश शब्द ब्रह्महीं वाचक है अथवा आकाश शब्दसे ब्रह्महीं का ग्रहण युक्त है क्यों युक्त है उसके (ब्रह्मके) लिङ्ग (लक्षण वा हेतुवाचक शब्द) होने से। जिससे ब्रह्महीं का वाचक होना निश्चित होता है वह ब्रह्मलिंग यह है कि, यह सब भूत आकाशही से उत्पन्न होते हैं यह कहने से ब्रह्महीं का ग्रहण होता है क्योंकि सब भूतों का उत्पन्न करनेवाला कारण केवल ब्रह्महीं है भूतआकाश को वायु आदि की उत्पत्तिक्रम वर्णन में कारण होना कहा है आकाश मुख्य कारण नहीं है इससे अधिक यह भी कहा है कि, आकाश में लय को प्राप्त होते हैं यह वर्णन तथा आकाश इन भूतों से श्रेष्ठ है आकाशपरायण (मुख्य आधारस्थान) है यह वर्णन ब्रह्म होने का लिंग (लक्षण वा चिह्न) है क्योंकि सब से श्रेष्ठ वा अधिक केवल परमात्मा को वर्णन किया है यथा ब्रह्म के श्रेष्ठ व अधिक होने के प्रतिपादन में यह श्रुति वाक्य है **ज्यायान् पृथिव्याः ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः** अर्थ-(पृथिव्याः ज्यायान्) पृथिवी से श्रेष्ठ वा अधिक है (अन्तरिक्षात् ज्यायान्) आकाशसे श्रेष्ठ है (दिवो ज्यायान्) स्वर्ग लोक से अधिक है (एभ्यो लोकेभ्यः ज्यायान्) इन लोकों से श्रेष्ठ व अधिक है सब का कारण व आधार होने से सब से श्रेष्ठ व परायण केवल परमात्मा है यह लक्षण भूतआकाश में नहीं होसके ऐसे ब्रह्म के लिङ्ग से आकाशशब्द परमात्मा ब्रह्महीं वाचक है यह सिद्धान्त है ॥ २२ ॥

आकाश शब्द के समान प्राणशब्द ब्रह्मवाचक होनेके वर्णनमें सू० २३ अधि० ९ ।

अत एव प्राणः ॥२३॥

अनु०—इसीसे प्राण है अर्थात् प्राणशब्द ब्रह्मवाचक है ॥२३॥

भाष्य--इसीसे अर्थात् ब्रह्मलिंग होनेके हेतु से आकाशशब्द के समान प्राण शब्द ब्रह्मवाचक है यह सूत्रवाक्य का अर्थ व आशय है इसका विशेष व्याख्यान यह है कि, छान्दोग्यउपनिषद् में उद्गीथप्रकरण में ऋषिचक्रायण ने प्रस्तोता से यह कहा है कि, हे प्रस्तोतः[1] ! जो देवता प्रस्ताव (सामभक्ति) को प्राप्त होता

१ जो सामवेद की स्तुतिवाक्योंका गान करता है उसको प्रस्तोता कहते हैं ।

है उसको जो तू न जानकर वा प्रस्तावभक्ति को न जानकर उसकी स्तुति करेगा अर्थात् मुझ विद्वान् के समीप स्तुति करेगा तो तेरा शिर गिरपड़ेगा यह सुनकर प्रस्तोता चुप होरहा और भययुक्त होकर पूँछा कि, वह देवता को है तब कहा कि, प्राण है इत्यादि उत्तर देने का वाक्य यह है **प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता** अर्थ-(प्राण इति ह उवाच) प्राण है यह कहा अर्थात् प्रश्न करने पर यह उत्तर दिया कि, वह देवता प्राण है वह कैसा है यह जनाने के लिये यह कहा है (हवा) निश्चय है कि, (सर्वाणि इमानि भूतानि) सब यह भूत अर्थात् स्थावर जङ्गम सब यह प्राणी (प्राणमेव) प्राणही में (अभिसंविशन्ति) प्रवेश करते हैं अर्थात् लय होते हैं (प्राणम् अभ्युज्जिहते)प्राण को अभिलक्ष करके अर्थात् सब ओर सर्वत्र लक्ष्यकरके उत्पन्न होते हैं अर्थात् प्राणही से उत्पन्न होतेहैं (सा एषा देवता) सो यह देवता (प्रस्तावम् अन्वायत्ता) प्रस्तावको अर्थात् प्रस्तावभक्ति वा सामभक्ति को अनुगत होता है अर्थात् जो प्रस्ताव वा सामभक्ति अर्थात् सामवेद में वर्णित स्तुति को प्रेम में मग्न होकर गान कियाजाताहै उसके पश्चात्ही ध्यानमें प्राप्त होता है इत्यादि इस वाक्यमें पूर्वहीके समान वायुसे उत्पन्न होना व उसमें लय होना सब भूतोंका संभव न होनेसे प्राणशब्द ब्रह्मही वाचक विदित होताहै तथा यह श्रुति है **प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत इत्यादि** अर्थ-प्राण का भी प्राण चक्षु (नेत्र) का भी चक्षु इत्यादि तात्पर्य्य यह है कि, ब्रह्म प्राण का भी प्राण चक्षु का भी चक्षु है यहाँ प्रतीकमात्र रक्खा गया है पूरा वाक्य नहीं लिखागया पूरा वाक्यार्थ व विवरण यह है कि, बृहदारण्यक उपनिषद् में यह वर्णन किया है कि, जे विद्वान् ब्रह्म को प्राणका भी प्राण इत्यादि जानते हैं वे ब्रह्म के जाननेवाले हैं इससे भी प्राण शब्द ब्रह्मवाचक सिद्ध होता है क्योंकि ब्रह्म को प्राणनाम से वा प्राणरूप कहा है परन्तु प्राणका प्राण कहने से संबंध संबधीभेद से प्राणसे भिन्न है यह निश्चित होता है । सूत्र में इसी से अर्थात् पूर्वके समान ब्रह्मलिङ्ग होने से प्राणशब्द ब्रह्मवाचक है यह कहनेका हेतु यह है कि, प्राण शब्द प्राण अपान आदि जो पांच प्रकारके वायुविकार हैं उनका वाचक न मानाजाय अर्थात् यहाँ भी ब्रह्मलिङ्ग (लक्षणविधायकवचन) से ब्रह्मप्रकरण में आकाशशब्द के समान प्राणशब्द ब्रह्मही वाचक ग्रहण करना युक्त है ब्रह्मका लिङ्ग यह है कि, सब भूतों का प्राणसे उत्पन्न होना व उसमें लय होना जो वर्णन किया है यह ब्रह्मही में संभव है जड वायु में संभव नहीं है अर्थात् उत्पन्न व लयकरना जडका कर्म नहीं होसक्ता इससे जिस ब्रह्ममें लय व उत्पत्तिकरने का सामर्थ्य है वह प्राणशब्द से ग्रहण कियाजाता है अब यह

---

१ उत शब्द यहां अपिअर्थवाचक है इससे अनुवाद में उसका अर्थ भी रक्खा गयाहै ।

शङ्का है कि, मुख्य अर्थ से प्राणशब्द वायुविकार ही वाचक मानाजाता है गौण अर्थ से ब्रह्म के लिये प्राणशब्द कहा है मुख्यअर्थसे वायुविकार अर्थ ग्रहणकरने में भी लय व उत्पत्ति कहने में दोष नहीं है क्योंकि सुषुप्ति काल में सब इन्द्रियों का प्राण में लय होता है जागने में फिर प्राण से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है इसके प्रमाण में यह श्रुति है **यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः** इत्यादि अर्थ-जब पुरुष (जीवात्मा) सोता है तब प्राण में वाक् लय होती है प्राण में चक्षु इन्द्रिय लय होता है इत्यादि उत्तर यह है कि, सोने व जागने में केवल इन्द्रियों की जिनका प्राण आश्रय है लय उत्पत्ति होती है सब भूतों का प्राण में लय नहीं होता न प्राणसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है यहाँ प्राण में सब भूतों का लयहोना व उत्पन्न होना कहा है इससे प्राण शब्द ब्रह्मवाचक मानना युक्त है ॥ २३ ॥

ज्योतिरधिकरण अर्थात् ज्योतिशब्दसे ब्रह्म प्रतिपाद्य होनेके वर्णनमें सूत्र २४ से २७ तक अधि०१० ।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

अनु०-ज्योति चरण के अभिधान (कथन) से ॥ २४ ॥

भाष्य०-ज्योतिशब्द ब्रह्मवाचक है चरण अर्थात् पद के कथन से ब्रह्मवाचक शब्द सूत्र में शेष है ज्योतिशब्द ब्रह्मवाचक है यह सिद्ध होने के लिये चरण के कहने से यह हेतु वर्णन किया है अर्थात् पदका कहना ब्रह्मलिङ्ग होनेसे ज्योति-शब्द ब्रह्मही वाचक है यह सिद्ध होता है अब इसका विशेष व्याख्यान यह है कि, छान्दोग्य उपनिषद् में ऐसा वर्णनकिया है **अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नंतः पुरुषे ज्योतिः** अर्थ-(अथ अतः दिवः) इस द्युलोक से अर्थात् स्वर्गलोक से (यत् परः[1] ज्योतिः) जो परं ज्योति (विश्वतः पृष्ठेषु) विश्वसे ऊपरवालोंमें अर्थात् (सर्वतः पृष्ठेषु उत्तमेषु अनुत्तमेषु) सब विश्व संसार से ऊपर उत्तमलोकों में जो ऐसे हैं कि, उनसे अधिक उत्तम नहीं हैं उनमें प्रकाशित होता है (तद् इदं वाव) वह यही है (यत् इदं) जो यह (अस्मिन् पुरुषे) इस पुरुषमें (अन्तःज्योतिः) अन्तर्ज्योति है अर्थात् उदरके मध्यमें जठराग्निरूप ज्योति है इसमें यह संशय होता है कि, इस मंत्र में ज्योतिशब्द से सूर्य्य आदि की ज्योति के कहनेका अभिप्राय है अथवा ब्रह्मके कहनेका है जो यह कहाजाय कि, ब्रह्मलिंग (लक्षण) होनेसे अर्थात् ब्रह्म का लक्षण ज्ञात होनेसे ज्योतिशब्द परमात्मा वाचक है तो यह विचारना

---

१ वैदिक प्रयोग होनेसे यत् परं कहने के स्थान में यत् परः कहाहै यहां लिङ्गका व्यत्यय है।

चाहिये कि, ब्रह्मलिङ्ग (ब्रह्मका लक्षण) है वा नहीं है प्रथम पूर्वपक्ष यह है कि, ज्योतिशब्द से सूर्य्यआदिही की ज्योतिको ग्रहण करना चाहिये क्योंकि लोकमें तम (अंधकार) व ज्योति प्रसिद्ध हैं जो रात्रि में होनेवाला चक्षु(नेत्र) वृत्तिका रोकनेवाला पदार्थ है उसको अंधकार कहते हैं और अंधकार का नाश करनेवाला नेत्रकी वृत्तिका अनुग्राहक अर्थात् जिससे (जिसके द्वारा उसकी सहायतासे) नेत्रकी वृत्ति अनेक प्रकारके रूपों के ग्रहण करने में समर्थ होती है उसको ज्योतिपदार्थ कहतेहैं ज्योति वा प्रकाश एकप्रकारका रूप है सूर्य्यआदि ज्योतिरूप कहे जासकते हैं ब्रह्मरूप आदि से रहित नेत्र से देखने योग्य पदार्थ नहीं है और संपूर्ण चराचरका आत्मा जो व्यापक ब्रह्म है उसकी द्युलोकपर्य्यन्त मर्य्यादा कहना युक्त नहीं है मंत्रमें दिवलोक (स्वर्गलोक) की मर्य्यादा वर्णन किया है कार्य्यज्योतिही में दिवलोक की मर्य्यादा होना युक्त है क्योंकि कार्य्य-ज्योति परिच्छिन्न (परिमाणयुक्त) पदार्थ है जो रूप होनेकी शंकाके उत्तर के लिये यह कहाजाय कि, ब्रह्म तेज इस भौतिक इन्द्रियगोचर तेज से विलक्षण अतीन्द्रिय (इन्द्रिय से ग्रहण के योग्य नहीं) पदार्थ दिवलोक से प्रकाशित होता है तो ऐसे तेजके होने व मानने में प्रयोजन न होनेसे ऐसा कहना वा मानना युक्त नहीं है जो यह कहाजाय कि, उपासना के योग्य होना यही एक प्रयोजन है तो ध्यान के योग्य भी न होनेसे यह भी प्रयोजन नहीं होसक्ता जो अन्य प्रयो-जन अंधकार नाश करने आदि के लिये सूर्य्यआदि की ज्योति है उसीको उपास्य (उपासना के योग्य) होना वर्णन कियागया मानना चाहिये क्योंकि ब्रह्म की विशेषता व दिवलोक आदि की मर्य्यादा के निषेध होने में व सूर्य्य ज्योति से पृथक् होने में कोई हेतुवचन उक्त मंत्र वाक्य में नहीं कहा इससे ज्योतिशब्द भौतिकतेजवाचक है और यह भी भौतिक होनेका हेतु है कि, जो दृश्य पदार्थ है वह सब त्रिवृत्कृत अर्थात् पृथिवी जल व तेज तीन भूतोंके भागसे रचित है ज्योति भी दृश्य पदार्थ है इससे त्रिवृत्कृत है व दिव लोक से नीचे अग्निआदि की ज्योति होनेसे दिवलोक मात्रसे ज्योति कहना युक्त नहीं है जो यह कहाजाय कि, यद्यपि सर्वत्र ज्योति की प्राप्ति है तथापि उपासना के लिये देश-विशेष ग्रहण करने में दोष नहीं है तो यह कहना यथार्थ नहीं है प्रदेश (देश का खण्ड वा अवयव) विशेषरहित ब्रह्मका प्रदेशविशेष कल्पना करना उचित नहीं है न ब्रह्म पुरुष के अन्तर्गत ज्योति है क्योंकि परिच्छिन्न (मूर्त्तिमान् छोटा) तुच्छ फलवान् होने में ब्रह्मभाव नहीं होसक्ता इससे दिवलोक मर्य्यादा युक्त प्राकृतज्योति यहाँ ग्रहण करना चाहिये इस शङ्का व पूर्वपक्षके उत्तर व समाधान के लिये सूत्र में यह कहा है कि, ज्योतिचरणके अभिधान से (कथनसे) इसका आशय यह है कि, ज्योतिशब्दसे यहाँ ब्रह्मही ग्राह्य है वा ज्योतिशब्द ब्रह्मही वाचक है किस हेतु से चरण के अर्थात् पद के कहनेसे । पदके कहने से

कहने का तात्पर्य्य यह है कि, इस ज्योतिप्रतिपादक वाक्य के पूर्वमें रूपकालङ्कार से गायत्रीनाम व गायत्रीरूप से ब्रह्मको चतुष्पाद वर्णन किया है व प्रथम यह कहकर **गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च वाग्वै गायत्री येयं पृथिवी यदिदं शरीरं यदस्मिन् पुरुषे हृदयमिमे प्राणाः सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री इति** अर्थ-(इदं सर्वं भूतं) यह सब भूत अर्थात् उत्पन्न प्राणी (यत् इदं किञ्च) जो कुछ यह स्थावर वा जङ्गम हैं वह सब (गायत्री वा) गायत्री ही है (वाक्) वाणी (गायत्री वै) गायत्रीही है (या इयं पृथिवी) जो यह पृथिवी है (यत् इदं शरीरं) जो यह शरीर है (यत् अस्मिन् पुरुषे हृदयं) जो इस पुरुषमें हृदय है (इमे प्राणाः) ये प्राण हैं (सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री) सो यह चारपदवाली छः विधकी गायत्री है गायत्रीरूप से निर्देश कियेहुये ब्रह्म के चार पदों को इसप्रकारसे वर्णन किया है **तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि** अर्थ--(अस्य) इसका अर्थात् गायत्री में वर्णन कियेहुये पुरुष ब्रह्मका (तावान्) उतना अर्थात् जितना भूत, वाक्, पृथिवी, शरीर, हृदय व प्राण कार्यरूपसे छः विध व चारपदवाले गायत्री नामक ब्रह्मका वर्णन कियागया है उतना यह महिमा विभूतिका विस्तार है (च) और (ततः) उससे अर्थात् उस कार्यरूप उक्तप्रपंचसे(पुरुषः ज्यायान्)पुरुष अधिक है अर्थात् जो यह समझाजाय कि, इतनाही पुरुषका महिमा है तो यह न समझना चाहिये क्योंकि पुरुष ब्रह्म इससे भी अधिक है वह अनन्त है व उसकी महिमा उक्तमहिमा से बहुत अधिक है अधिकता के वर्णन में यह कहाहै कि, (सर्वा भूतानि) सब भूत अर्थात् आकाशआदि पृथिवीपर्य्यन्त व स्थावर जङ्गमरूप सब जगत् (अस्य) इस पुरुषका (पादः) एकपाद (अंश) है अर्थात् यह सब जगत् एक अंश में वर्तमान है और (अस्य दिवि) इसके प्रकाशस्वरूप में (अमृतं) मोक्षसुख है व (त्रिपात्) तीनपाद हैं अर्थात् प्रकाश्यमान जगत् से इसकी प्रकाशक विभूति त्रिगुण है व ब्रह्म आप मोक्षस्वरूप कल्पित जगत् से अनन्त है अथवा (अस्य दिवि) इसके स्वप्रकाशरूप में (त्रिपात् अमृतं) अमृत (मोक्ष)रूप तीनपाद अर्थात् तीन भाग हैं वा त्रिगुणविस्तार है । इस मंत्रमें जिस चतुष्पाद ब्रह्म के अमृत दिवसम्बधी (प्रकाशमान लोकसम्बंधी) वा प्रकाशस्वरूप अर्थात् ज्योतिरूप तीनपाद वर्णन किये गये हैं वही यहाँ दिवलोकसम्बंध से वर्णन कियागया है यह प्रकरणसे व सम्बंधसे सिद्ध होता है उसको त्यागकर प्राकृत ज्योति की कल्पना करनेमें प्रकृत का (जिस विषय के वर्णन का आरंभकियागया है व उसका प्रबंध है उसका) त्याग व जो प्रकृत

---

१ छन्द चार चरण का होता है गायत्री छन्द है इससे चतुष्पदा (चार चरणवाली) कहा है वा भूत वाक् पृथिवी शरीर हृदय प्राण इन छः रूप से होना कहने से षड्विधा (छःविधकी) कहा है गायत्री में वर्णन कियेहुये गायत्री अर्थ में प्राप्त ब्रह्मको उपचार से गायत्री नाम से वर्णन किया है । २ यह छांदोग्य उपनिषद्का पाठहै ।

नहीं है उसका ग्रहण होजायगा यह अयुक्त है जैसे चार पाद वर्णनकियेगये ह ऐसे प्राकृत वा भौतिक ज्योति में न होसकने से चरण (पद) के कथन से ज्योतिशब्द ब्रह्महो वाचक है यह सिद्धान्त मानना चाहिये और इससे अधिक यह भी प्रमाण है कि, केवल ज्योतिवाक्यही में ब्रह्म की अनुवृत्ति नहीं है ज्योतिवाक्यके आगे भी ब्रह्महो के वर्णन का सम्बंध चलागया. यथा **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** अर्थ– यह सब निश्चय ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्ममय है इत्यादि ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य हैं एकही ब्रह्मप्रतिपादन का प्रकरण होने और पूर्व व उत्तर में पहिले व पीछे ब्रह्मका वर्णन होने से मध्यमें जो ज्योतिवाक्य है वह ब्रह्महो पर है यह निश्चय मानने के योग्य है अन्यथा मानना संभव व युक्त नहीं है । जो यह कहाजाय कि, ज्योति प्रकाशित होता है वा प्रकाशकरता है ऐसा व्यवहार कार्य्यज्योति में होता है वा होना प्रसिद्ध है ब्रह्ममें नहीं होसक्ता तो यह शङ्का करना युक्त नहीं है क्योंकि जो चक्षुग्राह्य प्रकाश है केवल उसी में ज्योति शब्द का प्रयोग होनेका नियम नहीं है अन्यत्र भी होता है अर्थात् जो किसी अर्थका प्रकाशक होताहै वह ज्योतिशब्द से कहाजाता है यथा आज्यस्तुतिमें कहा है **आज्यं जुषतां मनोज्योतिः प्रकाशकं भवति** अर्थ–(आज्यं जुषतां) घृत सेवन करनेवालों का अर्थात् पीनेवालों का (मनोज्योतिः) मनरूप ज्योति (प्रकाशकं भवति) प्रकाशकरनेवाला होता है अर्थात् जैसे ज्योति से दृश्यपदार्थ देखे जाते हैं ऐसेही मनसे पदार्थ जानेजाते हैं इससे मनको प्रकाशक मानके ज्योति कहाहै इसीप्रकारसे चेतनरूप सब संसार के प्रकाशित वा प्रकट होने का कारण होनेसे ब्रह्मको ज्योतिरूप कहना युक्त है व अन्यत्र भी मुण्डकउपनिषद् में यह वर्णन किया है **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** अर्थ- (सर्वं)सब (तम् एव भान्तमनुभाति) उसी प्रकाश करते हुये वा प्रकाशमान हुयेके पीछे प्रकाश करतेहैं अर्थात् उस ब्रह्मके प्रकाशको पाकर सब सूर्य्यआदि प्रकाशित होते हैं (तस्य) उसके (भासा) प्रकाशसे (इदं सर्वं) यह सब अर्थात् सब जगत् (विभाति) प्रकाशित होता है इत्यादि प्रमाण से ज्योतिशब्द ब्रह्मवाचक है. शङ्का–यद्यपि ज्योतिशब्द ब्रह्मवाचक हो तथापि दिवमात्र की मर्य्यादा ब्रह्ममें मानना युक्त नहीं है. इसका उत्तर यह है कि, सर्वव्यापक ब्रह्मका भी उपासना के लिये प्रदेशविशेष के ग्रहण करने में दोष नहीं होता जो यह कहाजाय कि, प्रदेशरहित ब्रह्मका प्रदेशविशेष कल्पना करना युक्त नहीं है तो प्रदेशरहित ब्रह्म में भी उपाधिविशेष के सम्बंधसे प्रदेश के कल्पना की प्राप्ति होतीहै जैसे घटआदि उपाधि के सम्बंध से घट प्रदेश में आकाश के परिच्छिन्न होने आदि की कल्पना होती वा कीजाती है ऐसेही सूर्य्य हृदयआदि प्रदेश-

---

१ ज्योतिशब्द का अर्थ प्रकाश है व सूर्य अग्नि भी है अर्थात् ज्योतिशब्द प्रकाश व सर्य्य अग्निका भी वाचक है।

विशेष में ब्रह्म की उपासना करना कहा है यद्यपि प्रदेशविशेष में ब्रह्म की उपासना का उपदेश कियाजाता है परन्तु अल्पफल होने से उससे मोक्ष सिद्ध नहीं होता अर्थात् जहाँ गुणविशेषसम्बंध वा प्रतीकविशेष के सम्बंध से ब्रह्मका उपदेश किया है उस उपासना से संसार में जो इन्द्रियों के विषयरूप पदार्थ हैं उनके न्यून व अधिक प्राप्त होनेसे न्यून व अधिक सुखरूप नाशवान् फल प्राप्त होता है जो निर्विशेष प्रतीक सम्बंधरहित आत्मा का उपदेश किया जाता है उस प्रकारसे उपासना करने से सब दुःखों की निवृत्ति व अनन्त सुख की प्राप्तिरूप मोक्षफल प्राप्त होता है इससे ब्रह्म सर्वव्यापक ज्ञान प्रकाश संयुक्त ज्योतिशब्द से ग्रहण करना चाहिये ॥ २४ ॥

अब अल्प शंका समाधान आगे सूत्रों में वर्णन करते हैं ।

छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पण- निगदात्तथाहि दर्शनम् ॥ २५ ॥

अनु०—छन्द के कहनेसे न होवे नहीं वैसेही चित्तका अर्पण (चित्तका समाधान) कहने से व वैसाही दर्शन है अर्थात् अन्यत्र दर्शन है इससे ॥ २५ ॥

भाष्य— यदि यह शङ्का हो कि, पूर्ववाक्य में जो यह कहाहै **गायत्री वा इदं सर्वं यादिदं किञ्च** इत्यादि अर्थ—निश्चय यह सब जो कुछ है सब गायत्री है इत्यादि गायत्री नाम छन्दको ऐसा आदि में कहकर उसी को भूत पृथिवी शरीर हृदय वाक् प्राण भेदों से व्याख्यान करके सो यह चतुष्पदा छः विधकी गायत्री है यह कहाहै और व्याख्यान की गई जो गायत्री है उसी में **तावानस्य महिमा** अर्थ—उतना इसका महिमा है इत्यादि इस मंत्रका सम्बंध है अर्थात् गायत्री ही के चार पद के वर्णन करनेके लिये यह मंत्र है और जो यह कहाहै **यद्वैतद्ब्रह्मेति** अर्थ—जो यह अर्थात् यह जिसके तीन पाद अमृतरूप प्रकाशवान् लोक में वा अपने प्रकाश स्वरूप में स्थित हैं वह ब्रह्म है यहाँ ब्रह्मशब्द भी छन्द के प्रकृत होने से छन्दही के विषय में है अर्थात् छन्दही के लिये कहाहै इससे छन्द के कहने से ब्रह्म प्रकृत नहीं है अर्थात् उस परिमाण इसका महिमा है इत्यादि वर्णन ब्रह्म के लिये नहीं है क्योंकि ब्रह्मका विषय वा प्रकरण नहीं है तो उत्तर यह है कि, नहीं अर्थात् यह शङ्का युक्त नहीं है क्यों नहीं है

---

१ हि शब्दका अर्थ जिस कारणसे संस्कृत में कहाजाताहै परन्तु प्रचरित देशभाषामें इससे जिसका अर्थ इस कारणसे है कहनेमें वही अर्थ व आशय ज्ञात होना जानकर व भाषाके व्यवहारकी रीति से ऐसा कहना उचित समझकर हि शब्दका अर्थ अनुवाद में इससे रक्खा है।

वैसेही चित्तका अर्पण (समाधान) कहनेसे अर्थात् वैसेही गायत्रीनामक छन्दही के द्वारा उसमें (गायत्रीमें) अनुगत (प्राप्त अर्थात् वर्णित) जो ब्रह्म है उसमें चित्तका अर्पण करना "निश्चय यह सब गायत्री है" इस ब्राह्मणवाक्य से वर्णन कियागया है क्योंकि गायत्री छन्द जिसमें अक्षरमात्र का सम्बंध है उसका सर्वात्मक होना संभव नहीं होता न अक्षरमात्र में चित्तका अर्पण श्रेय के लिये कहा जासक्ता है तिससे गायत्रीनामक छन्द विकाररूप में अनुगत जो जगत्का कारण ब्रह्म है उसको गायत्री नाम से और "वह यह सब है" यह कहा है और जैसे इस गायत्री में चित्त अर्पण करने को कहा है वैसाही अन्यत्र भी विकारद्वारा ब्रह्मकी उपासना का दर्शन है अर्थात् ब्रह्म की उपासना का वर्णन देखाजाता है यथा–**एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते, एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः** अर्थ– (एतं) इसको अर्थात् ब्रह्मको (बह्वृचाः) ऋग्वेद के जाननेवाले (महत्युक्थे) ऋग्वेद वा शास्त्रमें (मीमांसन्ते) विचारकरते हैं वा उपासना करते हैं (एतं)इसको (अध्वर्यवः) यजुर्वेदके जाननेवाले (अग्नौ) अग्निमें अर्थात् अग्निमें उपासना करते हैं (एतं) इसको (छन्दोगाः) सामवेदवाले (महाव्रते) यज्ञमें अर्थात् यज्ञ में उपासना करते हैं तिससे छन्द के कहने में भी पूर्ववाक्य में ब्रह्मही निर्देश कियागया है और वही इस ज्योतिवाक्य में विचार कियाजाता है उसी का कथित होना इस में सिद्ध होता है इन उक्त हेतुओं से छन्द का कथन नहीं है सर्वथा पूर्ववाक्य में ब्रह्मही प्रकृत है व उसीको ज्योतिशब्द से इस ज्योतिवाक्य में कहा है यह जानना चाहिये ॥ २५ ॥

अब अन्य हेतु पूर्ववाक्य में ब्रह्म प्रकृत होने में वर्णन करते हैं–

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

अनु०–ऐसेही भूतआदि पाद कहने की सिद्धि होनेसे ॥ २६ ॥

भाष्य–जैसे पूर्वसूत्र में कहेहुये हेतु से ब्रह्मही प्रकृत है यह सिद्ध होता है ऐसेही भूतआदि पाद कहने की सिद्धि से भी सिद्ध होता है यह सूत्रवाक्य का अर्थ है तात्पर्य यह है कि, भूत, पृथिवी, शरीर हृदय को कहकर सो यह छः विधि की चतुष्पदा (चार पदवाली) गायत्री है यह कहा है ऐसा वर्णन करने से यह विदित होता है कि, गायत्री छन्दमात्र के भूत आदि पाद होना संभव नहीं है ब्रह्म के आश्रय होने में अर्थात् गायत्री नाम व गायत्रीरूपसे ब्रह्मही

---

१ महान् उक्थ का अर्थ अधिक कहागया, है यहां बहुत ऋचा होने वा अधिक गुण व स्तुतिप्रतिपादक वाक्योंके होनेसे ऋग्वेदको महान् उक्थ नाम से कहाहै व वेदको शास्त्र नाम से भी कहते हैं ।

प्रतिपाद्य होनेमें भूतआदिकों के पद होने का अर्थ घटित हो सक्ता है और **तावानस्य महिमा** अर्थ—उस परिमाण इसकी महिमा है इत्यादि इस ऋचा का सम्बंध होसक्ता है और जो यह कहा है कि, सब भूत इसका (पुरुषका) एकपाद् अर्थात् एक अंश है अर्थात् सब भूतरूप जगत् एकअंश में वर्तमान है व इसके दिव में स्वप्रकाशस्वरूप में तीनपाद् अमृतरूप है अर्थात् प्रकाश्यमान जगत् से इसकी प्रकाशक विभूति त्रिगुण है व निजस्वरूप से आप अनन्त है इस ऋचा से ब्रह्म सब का आत्मा व्यापक होने से व पुरुषसूक्त में भी यह ऋचा ब्रह्महीके प्रतिपादन में वर्णित होने से ब्रह्महीका वर्णन कियागया है यह निश्चय करना चाहिये इससे इस पूर्व वाक्य में ब्रह्मही प्रकृत है और वही ब्रह्म ज्योति-वाक्य में दिवलोकसम्बंध से स्वीकार किया गया (मानागया) है यह विचारसे सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात्॥२७॥

अनु०—उपदेश के भेदसे न होय नहीं दोनों में भी विरोध न होनेसे ॥ २७ ॥

भाष्य—पूर्ववाक्य में अर्थात् **त्रिपादस्यामृतं दिवि** अर्थ—इसके तीन पाद अमृतरूप दिवलोक में अर्थात् स्वर्ग वा स्वप्रकाशस्वरूप में हैं इसमें सप्तमी विभक्ति से दिवलोक आधार होना उपदेश कियागया वा कहागया है और **यदतः परो दिवो ज्योतिः** इत्यादि अर्थ—इस दिवलोक से जो परं ज्योति इत्यादि इस ज्योति वाक्य में पंचमी विभक्ति से दिवलोक को मर्यादा-रूप होना उपदेश किया है इस उपदेश भेद से प्रकृत ब्रह्मका होना स्वीकार के योग्य नहीं है जो ब्रह्मके होने में ऐसा संशय होवे तो उत्तर यह है नहीं अर्थात् यह संशय युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है दोनों में भी विरोध न होने से अर्थात् सप्तमी व पंचमी दोनों विभक्तियों से उपदेश करने में भी ब्रह्मके प्रत्यभिज्ञान (अंगीकार) में विरोध नहीं होता जैसे लोक में वृक्षके अग्रभाग में सम्बंध को प्राप्त जो श्येन (बाज) है वह दोनों प्रकार से कहाजाता है वृक्षके अग्रभाग में श्येन है वृक्षके अग्रभाग से परे (ऊपर) श्येन है अथवा कोई यह कहते हैं कि, जैसे वृक्षके अग्रभाग के साथ सम्बन्ध रहित भी जो श्येन है वह दोनों प्रकार से कहाजाता है वृक्ष के अग्र में श्येन है वृक्ष के अग्रभाग से परे श्येन है ऐसेही दिवलोकही में जो ब्रह्म है वह दिवलोक से पर उपदेश कियाजाता है अथवा दिवलोक से परभी जो ब्रह्म है वह दिवलोक में है ऐसे कहाजाता है तिससे पूर्वमें जिस ब्रह्मका निर्देश किया

गयाहै यहाँ इस ज्योतिवाक्य में उसी ब्रह्मका प्रत्यभिज्ञान (स्वीकार) है इससे ज्योतिशब्द परब्रह्महीं वाचक है यह सिद्ध है वा सिद्धहुवा ॥ २७ ॥

प्राणशब्द से परब्रह्महीं प्रतिपाद्य होनेमें सू० २८ से ३१ तक अधिकरण ११ ।

प्राणस्तथानुगमात् ॥ २८ ॥

अनु०—तथा अनुगम से (समगति वा मेल होनेसे) प्राण है (प्राण ब्रह्मवाचक है) ॥ २८ ॥

भाष्य—इस सूत्रका व्याख्यान यह है कि, कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् में यह कथा है कि, दिवदास का पुत्र प्रतर्दन नाम राजा पौरुष करके इन्द्रके प्रियधाम को गया इन्द्र ने उससे कहा कि, हे प्रतर्दन ! हम तुमको वरदान देते हैं तुम वर माँगो प्रतर्दन ने कहा कि, जो अतिहित हो ऐसा वरदान आपही विचारकर मुझको देवें तब इन्द्र ने कहा कि, **प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुममृतमित्युपास्व** अर्थ—मैं जो प्राणप्रज्ञात्मा हूँ उस मुझ आयु अमृत रूप को उपासनकर इस वाक्यमें इन्द्रदेवता ने अपने को प्राण कहा है इन्द्रका ऐसा कहना इन्द्रका प्राण के देवता होने में लिङ्ग (प्रमाण) है और प्राण मुख्यप्राण होने के लक्षण से भी कहागया है यथा इस उत्तरवाक्य में कहा है **अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मा इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति** अर्थ— (अथ खलु) अथ निश्चयसे (प्राण एव प्रज्ञात्मा) प्राणही प्रज्ञात्मा (इदं शरीरं) इस शरीरको (परिगृह्य उत्थापयति)ग्रहण वा धारण करके उठाताहै इसमें वाक् आदिकों को देह धारण में असमर्थ निश्चय करके प्राण को देह धारण करनेवाला व उठानेवाला कहा है तथा प्राणके जीव होने में वक्ता होना लिङ्ग (लक्षण) कहा है यथा इस वाक्य में **न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्** अर्थ— (वाचं न विजिज्ञासीत) वाक् को जानने की इच्छा न करे (वक्तारं विद्यात्) वक्ता को अर्थात् वक्ता प्राणको जाने अन्तमें प्राण को ब्रह्म होने के लक्षण से वर्णन किया है यथा इस वाक्य में कहा है **स एष प्राणएव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः** अर्थ—(स एष प्राण एव) सो यह प्राणही (प्रज्ञात्मा, आनन्दः, अजरः, अमृतः) प्रज्ञात्मा आनन्द अजर व अमृत (मोक्षरूप) है । इन वाक्यों से संशय होता है कि, प्राणशब्द से यहाँ वायुमात्र को कहा है वा देवता वा जीव वा परब्रह्म को क्योंकि अनेक लक्षण ज्ञात होनेसे एक में निश्चय नहीं होता और केवल ब्रह्म के लिङ्ग (लक्षण) की उपलब्धि नहीं होती ऐसा संशय होने से प्रसिद्ध जो वायु है उसीको मानना चाहिये यह जो संशय है इसके समाधान के लिये यह कहा है "तथा अनुगमसे प्राण है" आशय इसका

यह है कि, प्राणशब्द ब्रह्मवाचक है किस हेतु से ब्रह्मवाचक है तथा (वैसेही) अर्थात् पूर्वापर शब्दों से विचार करने में वाक्य में पदों के अर्थोंको एकहीप्रकार अनुगम होने से अर्थात् समगति वा सम्बंध होने से अर्थात् ब्रह्म के प्रतिपादन में सबकी संगति मिलती है सब ब्रह्महो प्रतिपादनपर है इससे, आदि में जब इन्द्र ने यह कहा कि, प्रतर्दन ! वर माँग तब प्रतर्दन ने परमपुरुषार्थ वर की प्रार्थना किया, कहा कि, जो आप मनुष्य के लिये अर्थात् मुझ मनुष्यके लिये अतिहित समझते हो वह वर आपही मुझे देवैं उसके लिये अतिहित मान के उपदेश किया गया प्राण परमात्मा को छोड के अन्य कैसे होसक्ता है क्योंकि विना परमात्मा के ज्ञान अन्यमें वा अन्य से परमहित की प्राप्ति नहीं है वा नहीं हो सक्ती, यथा **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** अर्थ-(तम् एव विदित्वा) उसीको अर्थात् उक्त परमात्मा को जानकर(अतिमृत्युम् एति) अतिमृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् उस मृत्यु को प्राप्त होता है जिससे फिर जन्म लेकर मृत्यु को नहीं प्राप्त होता अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है(अन्यः पन्थाः) और दूसरा मार्ग (अयनाय) प्राप्ति के लिये अर्थात् मोक्षप्राप्तिके लिये (न विद्यते) नहीं है अर्थात् और कोई मार्ग ऐसा चलनेके लिये नहीं है जिससे चलकर मोक्षको प्राप्त होवे इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण से केवल ब्रह्मज्ञानही अतिहितकारी है अन्य श्रुतियाँ इसी प्रमाण में यह हैं यथा **स यो मां वेद नह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न च भ्रूणहत्यया** (स यः) सो जो अर्थात् जो कोई (मां वेद) मुझको अर्थात् मुझ ब्रह्मरूप को(वेद) जानता है अर्थात् साक्षात् अनुभव करता है (तस्य) उसका अर्थात् ज्ञानीका (लोकः) लोक अर्थात् ब्रह्मलोक मोक्ष (ह वै) निश्चय से (केनचन कर्मणा)किसी कर्मसे(न मीयते) हिंसा अर्थात् बाधाको नहीं प्राप्तहोता अर्थात् उसका मोक्ष किसी कर्मसे नहीं रुकता(न स्तेयेन) न चोरी से(न च भ्रूणहत्यया) न गर्भहत्या से इत्यादि ऐसा फल ब्रह्म के मानने में होसक्ता है तथा **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे** अर्थ-(तस्मिन् परावरे दृष्टे) उस इन्द्रियों से अग्राह्य परोक्ष सब इन्द्रिय व विषयों व शरीरसम्बंध से रहित निर्गुण पर व सृष्टिकर्तृत्वआदि गुणों से संयुक्त सगुण अवर रूप ब्रह्म दृष्ट होने में अर्थात् साक्षात् ज्ञात होनेमें (अस्य) इसके ब्रह्मज्ञानी के (कर्माणि) सब कर्म (क्षीयन्ते) क्षय को प्राप्तहोते हैं अर्थात् नष्ट होजाते हैं इत्यादि श्रुतियों से सब कर्मोंका नाश होना व मोक्ष होना ब्रह्मही के ज्ञान होने में प्रसिद्ध है जड वायु के ज्ञान वा उपासना से ऐसा नहीं होसक्ता न जडका प्रज्ञात्मा होना सम्भव है और अन्त में जो यह कहा है कि, आनन्द अजर अमृत है मुख्य प्राण वायु अचेतन आनन्द अजर अमृत नहीं होसका इत्यादि सब वाक्य ब्रह्मही के प्रतिपादन में अनुगत होते हैं अर्थात् एक दूसरे के समान मिलते वा घटित होते हैं इससे समानगति होनेसे प्राणशब्द से ब्रह्मही ग्राह्य है अर्थात् प्राणशब्द ब्रह्महीका वाचक है ।ब्रह्मवाचक है यह मूलसूत्र में शेष है॥२८॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

अनु०—वक्ता के आत्मा के उपदेश से नहीं यह शंका होवे तो इसमें अध्यात्मसम्बंध की अधिकता है इससे अर्थात् इससे ब्रह्मही का उपदेश है ॥ २९ ॥

भाष्य—ब्रह्महीका उपदेश है यह मूलसूत्र में शेष है पूर्व सम्बंध से व आशय से ग्रहण किया जाता है सूत्रवाक्य का पूरा अर्थ व अभिप्राय यह है कि, जो यह शंका हो कि, इन्द्रनामक कोई विग्रहवान् देवताने अपने आत्माके लिये प्राणशब्द कहाहै कि, हे प्रतर्दन! मैं प्राण प्रज्ञात्मा हूँ ऐसा मुझे जान इस अहंकारवादसे (मैं ऐसा कहनेसे) वक्ताके आत्माके उपदेशसे प्राण ब्रह्म नहीं है अर्थात् प्राणशब्दसे ब्रह्म ग्राह्य नहीं है तो यह शंका युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है इसमें अर्थात् इस प्रकरण व अध्यायमें जिसमें प्रतर्दनके लिये इन्द्रके उपदेशका वर्णन है अध्यात्म (प्रत्यक् शरीरमें प्राप्त व्यापक परमात्मा) के सम्बंधकी अर्थात् उपदेशके सम्बंधकी अधिकता है इससे अर्थात् अध्यात्मसम्बंधकी अधिकता है इससे ब्रह्महीका उपदेश है यह निश्चित होताहै, विशेष व्याख्यान यह है कि, इन्द्रके मैं शब्द कहनेसे यह संशय होता है कि, कोई शरीरवान् देवता इन्द्रने प्रतर्दन से कहाहै कि, मैं प्राण हूँ प्रज्ञात्मा हूँ मुझ आयु अमृतरूपकी उपासना कर इस में शब्द से एक वक्तासे उपदेश कियागया प्राण,ब्रह्म नहीं होसक्ता **अवागमनाः** अर्थ—वाक् मनरहित है इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का वाक् मनरहित होना सिद्ध होता है इससे ब्रह्म का वक्ता होना संभव नहीं है शरीरसम्बन्धी धर्मों से जो ब्रह्म में नहीं है इन्द्रने यह अपने आत्माकी स्तुति किया है **त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनं, अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्** अर्थ—(त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रम्) तीन शिरवाले त्वष्टा के पुत्रको अर्थात् विश्वरूप नामक ब्राह्मण को (अहनं) मैंने मारा (अरुन्मुखान्[2] यतीन्) वेदान्तविमुख यतियों को (शालावृकेभ्यः[3]) सियार व कुत्तोंको (प्रायच्छं) मैंने देदिया इत्यादि अपनी स्तुतिविषयक

---

१ हि शब्द जो संस्कृत में मूलसूत्र में है उसका अर्थ जिससे होता है परन्तु भाषा के वाक् व्यवहार के अनुसार इससे रखना अच्छा जानकर इससे यह अर्थ लिखागया है ।

२ अरुन्मुख शब्द का वेदान्तविमुख अर्थ कैसे होता है यह जानने के लिये संस्कृत में इसकी निरुक्ति लिखते हैं रौतीति यथार्थं शब्दयतीति रुत् वेदान्तवाक्यं तन्मुखे येषां ते रुन्मुखाः न रुन्मुखाः अरुन्मुखाः वेदान्तबहिर्मुखाः इति फलितार्थः तान् अरुन्मुखान् ।

३ शालावृक वानर सियार व कुत्ता तीनों को कहते हैं परन्तु वानर मांसभक्षक नहीं होता इससे वानर को छोड कर सियार वन के कुत्तों का अर्थ लिखा है ।

वाक्य हैं, प्राण नाम बल का है बलवान् होने से उपचार से इन्द्र ने अपने को प्राण कहा है व अप्रातिहत ज्ञान होने से अर्थात् कहीं ज्ञान न रुकने से सब पदार्थों का ज्ञाता होने से देवता का प्रज्ञात्मा भी होना संभव है इससे इन्द्रने जो अपनेको प्रज्ञात्मा कहा है वह युक्त है यह निश्चित होने में अतिहित होना भी इन्द्रही के उपदेश में योजित करना चाहिये । इन हेतुओं से वक्ता इन्द्र के आत्मा का उपदेश है वक्ता के आत्मा के उपदेश से प्राण ब्रह्म नहीं है इसका समाधान यह है कि, अध्यात्म के सम्बंध की इसमें अधिकता है अधिकता के प्रमाण में यह वाक्य है यथा **यावत् ह अस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः** । अर्थ–(यावत्) जबतक (ह अस्मिन् शरीरे) निश्चय इस शरीर में (प्राणः वसति) प्राण रहता है (तावत्) तबतक (आयुः) जीनेका काल है इस वाक्यमें प्रत्येक प्राणियोंके आयु (देहमें प्राणवायुका संचार) रखने व उसके नाश करनेमें प्राणही प्रज्ञात्माका स्वतंत्र होना वर्णन किया है किसी पराचीनदेवता की स्वतंत्रता वर्णन नहीं किया, तथा **अस्तित्वे च प्राणानाम् इत्यादि** अर्थ–(अस्तित्वे च) और होनेमें अर्थात् प्राणके होने वा स्थितिमें (प्राणानाम्) प्राणोंकी अर्थात् इन्द्रियोंकी स्थिति होती है इसमें प्राणको इन्द्रियोंका आश्रय वा स्थापकरूप अध्यात्मही वर्णन किया है और जैसा पूर्वही लिखागया है प्राणही प्रज्ञात्मा इस शरीरको ग्रहण करके उठाता है वाक् को जाननेकी इच्छा न करै वक्ता प्राणको जानै इस प्रकारसे प्राणको शरीरका उठानेवाला व जीवरूप कहकर अन्तमें यह वर्णन किया है **तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावरा अर्पिताः एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः** अर्थ–(तत् अर्थात् तत्र) उसमें आत्मा में नानाप्रपंचकी कल्पनामें यह दृष्टान्त है (यथा) जैसे (रथस्य आरेषु) रथके आरोंमें (नेमिः अर्पिता) नेमि[1] अर्पित होती वा रहती है (नाभौ) नाभिमें[2] (अरा अर्पिताः) अरा[3] अर्पित रहते हैं (एवम् एव) ऐसेही (एता भूतमात्राः) यह पृथिवी आदि पांच भूत व उनके पांचमात्रा गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द (प्रज्ञामात्रासु अर्पिताः) प्रज्ञामात्रोंमें अर्थात् ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न शब्दआदि विषयों के ज्ञानों में अर्पित हैं (प्रज्ञामात्राः) प्रज्ञामात्रा (प्राणे अर्पिताः) प्राण में अर्पित हैं (स एषः) सो यह (प्राणः एव) प्राणही (प्रज्ञात्मा आनन्दः अजरः अमृतः) प्रज्ञात्मा आनन्द अजर व अमृत है यह कहकर यह कहा है[4] **स म आत्मेति विद्यात्** अर्थ–वह मेरा आत्मा है यह जानै ऐसा भूतमात्रा

---

१ जो पहिया के अन्तका गोल घेरा है उसको नेमि कहते हैं । २ पहिया के बीचकी पिण्डी का नाम नाभि है । ३ पहियामें जो शलाका होते हैं व नेमि व नाभि में लगे रहते हैं उनका नाम अरा है । ४ यह शतपथ ब्राह्मण व बृहदारण्यक उपनिषद् का वाक्य है ।

आदिकों का अर्पित होना व प्रज्ञात्मा आनन्द अजर अमृतरूप होना प्रत्येक आत्मा में साक्षी व्यापकरूप से प्राप्त व नित्य आनन्द अजर अमृतरूप होने से परमात्माही में घटित होसक्ता है किसी एक पराधीन शरीरधारी के लिये ऐसा वाच्य होना यथार्थ नहीं है इससे अध्यात्मसम्बन्ध की बाहुल्यता से (अधिकता से) यह ब्रह्म ही का उपदेश है यह निश्चय करना चाहिये देवता के आत्माका उपदेश नहीं है ॥ २९ ॥

जो देवता के आत्माका उपदेश नहीं है तो वक्ता ने अपने आत्माका उपदेश क्यों किया है इसका उत्तर अगले सूत्र में वर्णन करते हैं--

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

अनु०--शास्त्रदृष्टि से उपदेश वामदेव के समान है ॥ ३० ॥

भाष्य--इन्द्रनामक देवता का अपने आत्माका उपदेश करना कि, मुझही को जान मैं प्राणप्रज्ञात्मा हूँ मुझ आयु अमृतरूप को उपासना कर वामदेव ऋषि के समान शास्त्रदृष्टि से (शास्त्रज्ञान के अनुसार) है अर्थात् जैसा शास्त्र में लिखा है **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳसूर्य्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मि स इदꣳसर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳहि देवानामित्यादि** अर्थ--(अग्रे) आगे अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति से पहिले (ब्रह्म वा) ब्रह्म ही (इदम्) यह अर्थात् यह स्थूलरूप प्रत्यक्ष विद्यमान जगत् (आसीत्) था अर्थात् अतिसूक्ष्म कारण प्रकृतिरूप से ब्रह्म में लीन रहने से ब्रह्मही के समान होने से भिन्न व्यवहार के योग्य न होने से एक ब्रह्मही वाच्य था (तत्) वह उक्त ब्रह्म (आत्मानम् एव) आत्माही को अर्थात् अपने स्वरूप को (अवेत्) जाना वा जानता था कि, (अहं ब्रह्म[1] आस्मि) मैं ब्रह्म (बढानेवाला)अर्थात् इस अनेककार्य स्थूलरूप से प्रकटकर इस जगत्का विस्तार करनेवाला हूँ इसका तात्पर्य्य यह है कि, ब्रह्मको अपने स्वरूप का व अपनी शक्ति का ज्ञान था जीवों के समान उसको अपने स्वरूप का विस्मरण व अज्ञान कभी नहीं होता (तस्मात्) तिससे अर्थात् एक ब्रह्मही वाच्य होने वा ब्रह्मही होने के

---

१ बृंहयतीति ब्रह्म अत्र बृहिधातोर्ण्यन्तान्मनिन् प्रत्ययः मनिन्प्रत्यये सति णेरनिटीति णिलोपः ततः बृंहेर्नोऽचीति सूत्रेण नुमो नकारस्य अकारे सति ऋकारस्य यणादेशः इत्थं ब्रह्मन्शब्दे निष्पन्ने सति नपुंसकलिङ्गे ब्रह्म इति भवति ।

समान होनेसे (तत्) वह ब्रह्म (सर्वम् अभवत्) सब हुआ ऐसा उपचार से मन्तव्य है अथवा तिससे अर्थात् ब्रह्मके सिवाय अन्य कोई चेतन शक्तिमान् सृष्टि के पहिले विद्यमान न होनेसे (तत्सर्वम् अभवत्) उससे सब (सब जगत्) हुआ अर्थात् उसीने सब जगत्को उत्पन्न किया है (तत्) उसको उक्त ब्रह्मको (यः यः) जो जो (देवानां) देवता विद्वानोंके मध्यमें (प्रत्यबुध्यत) जानता भया (स एव) वही (तत् अभवत्) वह हुवा अर्थात् उसमें प्राप्त हो उसके (ब्रह्मके) समान शरीर इन्द्रियरहित सब पदार्थोंके जानने व भौतिक सब पदार्थों के उत्पन्न करनेमें अपूर्व शक्तिमान् चेतनमात्र आनन्दभोगता हुवा यहाँ यह पुरुषसिंह है वा सिंह हुवा यह कहने के समान गौण उपचार वा गौणी लक्षणा से वह हुआ(ब्रह्म हुआ) कहना समझना चाहिये चेतनमात्र जातिभावसे ब्रह्ममें भेद न होने व उक्तप्रकार से ब्रह्म के साथ साधर्म्य होने से अभेद के समान कथन है (तथा ऋषीणाम् तथा मनुष्याणां)तैसेही ऋषियोंके मध्य में व मनुष्यों के मध्य में अर्थात् देवताके समान ऋषियों व मनुष्योंके मध्यमें भी जो जो ब्रह्मको जानताभया वह उस पदको व ब्रह्मानन्दको प्राप्तहुवा अर्थात् ब्रह्मज्ञान सबको समान फलदाता है (तत् ह एतत्) तिससे इस ब्रह्मको वा इस विज्ञानको कि, मैं ब्रह्म हूँ(पश्यन्) प्रत्यक्षकरता वा जानता हुआ (ऋषिः वामदेवः) वामदेवनामक ऋषि (अहं) मैं (मनुः अभवम्) मनु हुआ (च) और (सूर्य्यः) सूर्य्य हुआ अर्थात् सूर्यलोकस्थ जन्मवाला वा सूर्यनामक देहधारी देवता हुआ (इति) ऐसे विज्ञानको (प्रतिपेदे) प्राप्तहुआ अर्थात् ब्रह्मज्ञान के प्रभावसे वामदेव सर्वव्यापक ब्रह्मको साक्षात् करता व अतिश्रद्धासे उसके ध्यानमें मग्न उसमें एकवत् भावको मानके सब में आपको व आपमें सबको देखता हुआ अपने को मनुआदि होना कहा है क्यों कि योगदर्शन में असंप्रज्ञात समाधिमें अर्थात् अत्यन्तएकाग्रचित्त हो ध्यानमें मग्न होनेमें ध्याता ध्येयरूपही अपनेको देखता है अपनेमें व ध्येयमें भेद नहीं जानता यह वर्णन किया है इस दशा वा अवस्थामें अद्वैतके समान बोध होता है (तत् इदम्) उस इसको अर्थात् उक्त इस प्रकृत ब्रह्मको (एतर्हि अपि) इसकालमें भी (यः) जो (एवं) ऐसा जानता है कि, (अहं ब्रह्म अस्मि) मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् ब्रह्मके ध्यान वा चिन्तनमें अत्यन्त एकाग्रचित्त होनेसे ध्याता व ध्येय यह द्वैतबुद्धि न रहनेसे अपनेको ध्येय ब्रह्मके समान देखता यह जानता है कि, मैं ब्रह्म हूँ (सः) वह (इदं सर्वं भवति) सब जगत्में व्यापक यह सब जगत्रूप होता है अर्थात् मैं सबमें हूँ वा मैं सब हूँ उसको ऐसा भाषित होता है (तस्य) उस ब्रह्मज्ञानीके (अभूत्यै) न होनेके लिये अर्थात् ब्रह्मविद्याफल ब्रह्ममय सब होनेका ज्ञान रोकने के लिये वा रोकने में (देवाः न ईशते) देवता समर्थ नहीं होते (च) और अन्य कोई (न ईशते) समर्थ नहीं होते अर्थात् पूर्ण सत्यब्रह्मज्ञानी के ब्रह्मज्ञान फल प्राप्तहोनेमें कोई देवता महावीर्यवान् विघ्न

१ तेन सर्वमभवत् तत्सर्वमभवत् ।

किया चाहें तो वह समर्थ नहीं होते फिर अन्य समर्थ नहीं होते यह तो सिद्धही है इसमें क्या कहना है ऐसा अर्थ (तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते) इसका कोई आचार्य वाक्यका अभ्यन्तर आशय ग्रहण करके वर्णन करते हैं दूसरा अर्थ इसका यह ग्रहण के योग्य है कि, (तस्य कोर्थः तस्य अग्रे) उस ब्रह्मविज्ञानी के सामने (अभूत्या देवाः) ऐश्वर्यरहित देवता इन्द्रिय पंच भूत (न ईशते) समर्थ नहीं होते (च) और (भूत्या देवाः) ऐश्वर्यसहित अर्थात् सामर्थ्यविशेष को प्राप्त ऐश्वर्यवाले अन्यदेवता (न ईशते) समर्थ ऐश्वर्यवाले नहीं होते अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के समान सामर्थ्यवान् आनन्दभोक्ता उत्कृष्ट कोई नहीं होता न उसके ज्ञानफल व सामर्थ्यको कोई रोक सक्ता है (सः) वह ब्रह्मज्ञानी (एषां) इन देवताओंका (आत्मा भवति) आत्मा होता है अर्थात् सब देवताओं वा देवता ब्रह्मज्ञानियों को अपने आत्मा के समान प्रिय होता है (अथ) और (यः) जो (अन्यां देवताम्) अन्य देवता को (उपास्ते) उपासन करता है ब्रह्मकी उपासना नहीं करता व (असौ अन्यः अहम् अन्यः अस्मि)यह अन्य है मैं अन्य हूँ ऐसा मानता है अर्थात् जो ब्रह्म में अत्यन्त चित्तको एकाग्र करके उसके ध्यान में चित्तको लय नहीं करता और उसमें चित्तके लीन न होने से ब्रह्म में भेद समझता है (सः) वह (न वेद) नहीं जानता अर्थात् वह ब्रह्मको नहीं जानता वा नहीं प्राप्त होता वह (देवानां) देवता विद्वानोंके मध्यमें (पशुः एवं) जैसा पशु हो ऐसा है वा होता है अर्थात् जबतक ब्रह्ममें अतिलीनचित्त नहीं होता ब्रह्मज्ञानीको सब ब्रह्ममय भासित नहीं होता तबतक ब्रह्मज्ञानी देवता उसको पशुके समान अज्ञान आत्मज्ञानरहित जानते हैं इत्यादि इस शतपथब्राह्मण तथा बृहदारण्यक उपनिषद् के मन्त्रमें जैसा ब्रह्मज्ञान होनेसे जिस विज्ञानसे वामदेव ऋषिने ब्रह्मभावसे मैं मनु हुवा सूर्य हुवा कहाहै ऐसेही इन्द्रका मैं प्राण प्रज्ञात्मा हूँ कहना समझना चाहिये यादि यह संशय हो कि, इन्द्रने यह कहा है **मामेव विजानीहि** अर्थ—मुझहीको जान इससे शरीरधर्मसे इन्द्रने त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपके वध से अपनेको महात्मा व विज्ञेय मानकर अपने आत्मा की स्तुति किया है तो इसका उत्तर यह है कि, इसमें इन्द्रने अपनी स्तुति नहीं किया यह भी वामदेवही के समान विज्ञान होनेसे कहाहै क्योंकि जब अपनेको ब्रह्मसे भिन्न नहीं जानता तो मुझहीको जान यह कहना घटित होता है व यह कहना ब्रह्महीके उपदेश में है इससे यह ब्रह्महीके उपदेश में ब्रह्महो वाक्य है यह समझना चाहिये और कोई ऐसा वर्णन करतेहैं कि, मुझहीको जान यह कहनेसे इन्द्रने अपनी स्तुति नहीं किया विज्ञानही की स्तुति किया है अर्थात् इन्द्रने विज्ञानकी स्तुतिके लिये यह कहा है

१ न भूतिः अभूतिः तया अभूत्या सह देवाः । २ भूतिः ऐश्वर्यं तया भूत्या सह देवाः ।

कि, मुझही को जान यह कहने का आशय यह है कि, मेरे ही जानने से यह जान कि, जिस विज्ञान से रहित होने से अधर्मके कारण से निश्वरूप का वध आदि मैंने किया है वह विज्ञान अति उत्तम श्रेष्ठ पदार्थ है व जिनमें विज्ञान है वे धन्य हैं जिस विज्ञान के होने से यद्यपि वध यह क्रूर कर्म मैंने किया तथापि मेरा एक रोम भी बाधा को नहीं प्राप्त हुआ ऐसेही जो मुझको जानेगा अर्थात् मेरे जानने से यह जानेगा कि, विज्ञान ऐसा पदार्थ है व इस भावको प्राप्त होगा उसको किसी कर्म से बाधा न होगी यद्यपि यह अर्थ कल्पना से ग्राह्य हो सक्ता है परन्तु इस में यह अधर्म का उपदेश करना सिद्ध होता है कि, विज्ञानवान् निर्भय इच्छाअनुसार वधआदि क्रूर कर्म करे इससे ग्रहण के योग्य नहीं है और न ऐसा अर्थ व व्याख्यान ग्रहण व मानने के योग्य होसक्ता है ॥ ३० ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ ३१ ॥

अनु०—जीव मुख्यप्राण लिङ्ग होनेसे अर्थात् जीवका लिङ्ग व मुख्य प्राण का लिङ्ग होने से नहीं है जो ऐसी शङ्का कीजाय नहीं उपासना के त्रिविध होनेसे आश्रित होने से इस में उसका योग होने से ॥ ३१ ॥

भाष्य—यद्यपि अध्यात्मसम्बंध की इस प्रकरण में अधिकता है इससे पराचीन देवता के आत्माका उपदेश न होवे तो भी उक्त वाक्य ब्रह्मवाक्य नहीं है वा नहीं होसक्ता क्यों नहीं है जीवलिङ्ग होनेसे (जीवका लक्षण युक्त होनेसे) व मुख्य प्राणलिङ्ग होनेसे (मुख्यप्राणका लक्षणयुक्त होनेसे ; अर्थात् **वक्तारं विद्यात्** अर्थ—वक्ताको जाने यह कहनेसे इस वाक्यमें जीवका विज्ञेय होना कहागया है यह विदित होताहै यह जीवलिंग वाक्य है तथा **प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति** अर्थ—प्राणही प्रज्ञात्मा इस शरीर को ग्रहण वा धारण करके उठाता है यह मुख्य प्राणलिङ्ग वाक्य है अर्थात् मुख्यप्राणका प्रतिपादक वाक्य है क्योंकि शरीरका धारण करना मुख्य प्राण का धर्म है इससे जीवलिंग व मुख्यप्राणलिङ्ग होनेसे ब्रह्मका प्रतिपादन होना सिद्ध नहीं होता इससे ब्रह्मवाक्य वा ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य नहीं है जो ऐसी शङ्का कीजाय तो उत्तर यह है कि, नहीं अर्थात् यह शङ्का युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है उपासना के त्रिविध होनेसे आश्रित होनेसे व इसमें उसका योग होने से उपासना के त्रिविध होनेसे कहनेका अभिप्राय यह है कि, जीवधर्मसे, मुख्यप्राण धर्मसे और ब्रह्मके निज स्वरूप व धर्मसे ब्रह्मही की त्रिविध (तीनप्रकारकी) उपासना है इससे जीव व

मुख्यप्राणका लिङ्ग (लक्षण) होनेसे ब्रह्मवाक्य होनेमें दोष वा विरोध नहीं है । इसका विवरण यह है कि, जो विशेष अधिकारी नहीं हैं उनके लिये चित्तकी अवस्था अनुसार क्रमसे लक्ष्य जनाने के लिये ब्रह्मही का उपासन तीनप्रकारसे वर्णन किया है इससे कुछ विरोध नहीं है और जो यह कहाहै कि, इस शरीर को धारण करके उठाता है अर्थात् जीवन का कारण है यह प्राणका लक्षण है अर्थात् इसको प्राण का लक्षण स्थापन किया है यह भी आश्रित होने से अर्थात् प्राण के ब्रह्म में आश्रित होने से सत् वा यथार्थ नहीं है इसका व्याख्यान यह है कि, प्राण के ब्रह्म में आश्रित होनेसे प्राण का व्यापार परमात्मा ब्रह्मही के अधीन होने से मुख्यता ब्रह्मही की होने से उपचार से प्राणका भी व्यापार ब्रह्मही में मानना युक्त है प्राणका व्यापार ब्रह्म के अधीन होने के प्रमाण में यह श्रुति है **न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ** अर्थ--(कश्चन मर्त्यः) कोई मनुष्य (न प्राणेन) न प्राणसे (जीवति ; जीताहै (न अपानेन) न अपान से जीताहै (इतरेण तु) इतरसे अर्थात् इन दोनोंसे भिन्न परमात्मा ब्रह्म से (यस्मिन्) जिसमें (एतौ उपाश्रितौ) यह दोनों आश्रित हैं(जीवन्ति) जीतेहैं अर्थात् सब प्राणी व मनुष्य जीते हैं इससे प्राण के ब्रह्म में आश्रित होने से मुख्यता ब्रह्मही की होने से प्राणशब्द से उपास्य ब्रह्मही ग्रहण के योग्य है और इसमें (जीवमें)उसका ब्रह्मका) योग होनेसे ब्रह्म पक्ष का निषेध नहीं हो सक्ता अर्थात् ब्रह्म व जीव दोनों चेतन पदार्थ होने से दोनों में सजातीय होनेका योग है सजातीय पदार्थों में से एकके ज्ञान होने से अन्य का ज्ञान होता है वा अन्य का ज्ञान होना सरल व सुगम होताहै इससे चेतन होने मात्र के साधर्म्य से अभेद-विवक्षा से व जीवात्मा के जानलेनेसे फिर ब्रह्मका भी ज्ञान शीघ्र प्रकाशित होजायगा इस अभिप्राय से प्रथम जीवधर्मसे ब्रह्मका उपासन वर्णन किया है यह केवल क्रमसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने के लिये उपलक्षण है जीवही को ब्रह्म मानने के लिये नहीं है और जो इस वाक्य में **न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्** अर्थ— वाणी के जानने की इच्छा न करै वक्ता को जानै जीवका लिंग (लक्षण) कहा है यह भी ब्रह्मपक्ष को निवारण नहीं करता, जीवका वक्ता होना भी ब्रह्मही के अधीन है अर्थात् ब्रह्मही के नियम अनुसार जीव वक्ता होसक्ता है अन्यथा नहीं होसक्ता यथा जीव शरीरमें विद्यमान भी ब्रह्म के नियम से वक्तृता शक्तिरहित होने में गूंगा होताहै इससे सब में ब्रह्मही को प्रधान मानकर प्रधान न होने से अप्रधान को त्यागकर ब्रह्मही होना मुख्य ब्रह्म के उपासना के लिये कहा है । अप्रधान व प्रधानमेंसे प्रधानमात्र के ग्रहण में यह पतंजलि ऋषिका वाक्य प्रमाण है **प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्य्यसम्प्रत्ययः** अर्थ—जहाँ प्रधान व अप्रधान दोनों में कार्य्य प्राप्त होता है वहाँ प्रधान में कार्य होना निश्चित

होता है वा रहता है अर्थात् प्रधानही का कार्य व प्रधानही मानाजाता है और वाणी के प्रकट होने में ब्रह्म के प्रधान कारण होने में यह तलवकार वा केन-उपनिषद् का मन्त्र प्रमाण है यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते अर्थ-(यत्) जो ब्रह्म (वाचा) वाणी से (अनभ्युदितं) प्रकाशित नहीं होता वा नहीं कहाजाता अर्थात् वाणी से साक्षात् वाच्य व ज्ञेय न होनेसे वाणीसे अगम्य है और (येन) जिससे (वाक्) वाणी(अभ्युद्यते) प्रकाशित होती है अर्थात् जिसके नियमही से वाणी प्रकाशित होती है उसके विरुद्ध नहीं होती (तदेव) उसीको (त्वम्) तू (ब्रह्म विद्धि) ब्रह्मजान (यत् इदम्) जिस इस शब्दआदिरूप वाणीगम्य कार्यको (उपासते) उपासना करते हैं अर्थात् मनुष्यलोग उपासना करते हैं (न इदम्) इसको ब्रह्म न जान। इन उक्तहेतुओं से उक्त वाक्य ब्रह्मही की उपासना के उपदेश में ब्रह्मही वाक्य है यह सिद्धान्त है ॥ ३१ ॥

इति श्रीमत्प्यारेलालात्मजबाँदामण्डलान्तर्गततेरही-इत्याख्यग्रामवासिश्रीमत्प्रभुदयालुविरचिते ससूत्रानुवाददेशभाषोक्तशारीरिकमीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमःपादः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयपादप्रारंभः।

प्रथम पाद में जन्म आदि इस संसार के जिससे होते हैं इत्यादि वाक्योंसे सम्पूर्ण जगत् के जन्मआदिका कारण ब्रह्म है यह वर्णन किया है व सम्पूर्ण जगत् के कारण ब्रह्मका व्यापक होना नित्य होना सर्वज्ञ होना आदि कहा है अब द्वितीय व तृतीय पाद में अन्य वाक्य जो स्पष्ट ब्रह्मलिंग (ब्रह्मलक्षणयुक्त) हैं अर्थात् जिन में ब्रह्मके लक्षण व उपासना का निर्देश है परन्तु उनमें भी जो संशय उत्पन्न होता है उसके निवारण करने व यह निर्णय करने के लिये कि, यथार्थ उनमें ब्रह्म का प्रतिपादन है वा अन्य अर्थ का प्रतिपादन है समीक्षापूर्वक सिद्धान्त वर्णन करते हैं-

ब्रह्मके उपास्य होने में सू० १ से ८ तक अधि० १।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

अनु०-सर्वत्र प्रसिद्ध उपदेश से (उपदेश होनेसे) ॥ १ ॥

भाष्य-ब्रह्मही केवल उपासना के योग्य है किस हेतु से सर्वत्र प्रसिद्ध उपदेशसे अर्थात सब वेदान्तवाक्यों में ब्रह्म उपासना का प्रसिद्ध उपदेश होने से

यह सूत्रवाक्य का अर्थ वा अभिप्राय है उपासना का अर्थ पूर्व सम्बंध से ग्रहण किया जाता है सर्वत्र (सब जगह उपासना विषयक वेदान्तवाक्यों में) ब्रह्मकी उपासना के उपदेश होने में प्रमाण यह है कि, छान्दोग्यआदि उपनिषदों में ब्रह्महीको उपास्य वर्णन किया है यथा छान्दोग्य में यह वर्णन किया है **सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति. तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुं कुर्वीत । मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्पः** इत्यादि अर्थ--(इदम् सर्वम् खलु) यह सब अर्थात् प्रत्यक्षआदि का विषय नामरूप से विकारको प्राप्त कार्यरूप यह सब जगत्(ब्रह्म)ब्रह्म है क्यों ब्रह्म है वा ब्रह्म मानना चाहिये यह विज्ञापन वा सूचनके लिये यह कहाहै(तज्जलान् इति)उससे उत्पन्न होताहै उसीमें लय होताहै व उसमें चेष्टा करताहै इससे अर्थात् यह जगत् उस से (ब्रह्मसे) उत्पन्न होता है और जिस क्रमसे उत्पन्नहोता है उसी क्रमसे प्रलय में उसीमें लय को प्राप्त होता है अर्थात् क्रमसे सब कार्यरूपोंसे अपने २ कारणोंमें लयको प्राप्त होकर प्रकृतिरूप होकर अतिसूक्ष्म प्रकृतिरूपसे ब्रह्म में लीन एकाकार ब्रह्मरूप भासित होताहै और स्थितिकालमें उसी ब्रह्ममें चेष्टा करताहै इससे अतिशय ब्रह्मही की प्रधानता होनेसे व किसी काल में ब्रह्मसे भिन्न न रहनेसे ब्रह्मही है ऐसा मन्तव्य है यह सब ब्रह्मही है ऐसा भाव उपासक हृदय में धारण करके (शान्तः) शान्त अर्थात् रागआदि से रहित हो (उपासीत) उपासना करै (ब्रह्मकी उपासना करै) उससे उत्पन्न होना उसमें लय होना और चेष्टाकरना यह अर्थ तज्जलान् शब्द से ग्रहण किया जाता है तज्जलान् शब्दका अर्थ समास से व्याकरण की रीतिसे संस्कृत जाननेवालोंके निश्चय वा समझनेके लिये लिखा जाता है तस्माज्जायते इति तज्जं तस्मिन् लीयते इति तल्लं तस्मिन्ननिति चेष्टते इति तदनं तज्जश्च तल्लश्च तदनश्चेति तज्जलानं इसमें कर्मधारय समास है व मध्यपद तत शब्दका शाकपार्थिवआदिके न्यायसे लोप है व तज्जलानम् ऐसा वाच्य होने के स्थान में छान्दस (वैदिकप्रयोग) होनेसे तज्जलान् यह कहा है अम्का लोप है इसके अर्थसे भाषावालों को कुछ प्रयोजन नहीं है इससे नहीं लिखा है अब कैसे उपासना करै यह जनाने के लिये यह कहा है कि, (सः) वह अर्थात् उपासक पुरुष (क्रतुं) सङ्कल्प वा निश्चय (कुर्वीत) करै अर्थात् उक्तप्रकारसे सब ब्रह्मही है अर्थात् आकाश के समान सब में व्यापक होनेसे तीनों काल में उससे भिन्न कोई पदार्थ न रहने से ब्रह्मही सब होनेके समान मानके सब ब्रह्मही है ऐसा भावकरके सदा सब में ब्रह्मही का ध्यान रक्खै ऐसी उपासना करै ऐसी

१ खलु शब्द संस्कृतमें इस वाक्य में वाक्य के अलङ्कार के अर्थ है इस से भाषा में उसका अर्थ नहीं रक्खागया और खलु शब्द समझानेमें भी कहा जाता है इस अर्थ में भी खलु शब्द इस वाक्यमें ग्रहण के योग्य है वा होसक्ता है। २ इति शब्द यहां हेतु अर्थ में है ।

उपासनासे क्या प्रयोजन वा फल है यह विज्ञापनके लिये यह कहाहै (अथ खलु) अथ जिससे (क्रतुमयः पुरुषः) निश्चय वा सङ्कल्पात्मक पुरुष अर्थात् (जीव) (यथा क्रतुः) जैसा निश्चय वा सङ्कल्प व ध्यानकरनेवाला(अस्मिन् लोके) इसलोक में जीवनसमय में (पुरुषः भवति) पुरुष होता है (तथा) वैसाही (इतः) इससे इस देह से (प्रेत्य) मरकर अर्थात् मरने के पश्चात् (भवति) होता है इससे सब में ब्रह्मका उपासन करे तात्पर्य यह है कि, सदा सब में जो ब्रह्मही मान कर ब्रह्महीका ध्यान रक्खेगा तो मरणसमय में ब्रह्महीपर ध्यान व निश्चय रहने से ब्रह्म में मग्न होगा संसारबन्ध से मुक्त होगा कैसा उपासन वा ध्यान करे इस उपदेश के लिये यह कहा है कि, (मनोमयः प्राणशरीरः) मनोमय प्राणशरीर है अर्थात् प्राण (सूक्ष्मलिङ्गात्मा) है शरीर जिसका ऐसा है (भारूपः सत्यसङ्कल्पः) प्रकाशस्वरूप सत्यसङ्कल्प है इत्यादि धर्मों से ध्यान उपासन करे इसमें यह संशय होता है कि, इसमें जीव की उपासना करनेको कहाहै अथवा ब्रह्मकी उपासना को वर्णन कियाहै क्योंकि मनोमय प्राणशरीर यह विशेषण जीवात्मा में घटित होसक्ते हैं परमात्मा ब्रह्म सर्वव्यापक में मनआदि के साथ सम्बंध नहीं होसक्ता क्योंकि ब्रह्मको **अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः** इत्यादि अर्थ-प्राणरहित मनरहित स्वच्छ प्रकाशरूप है इत्यादि विशेषणों से वर्णन किया है इसके समाधान के लिये यह कहा है कि, सर्वत्र प्रसिद्ध उपदेशसे अर्थात् सब वेदान्तवाक्यों में केवल ब्रह्मही के उपास्य होने का उपदेश प्रसिद्ध है इससे मनोमय आदि कहने में दोष नहीं है क्योंकि जब सर्वात्मा होनेके भावसे सबमें ब्रह्मका ध्यान रखने व उपासना करने का उपदेश है तो मनोमय होना आदि जो जीवसम्बन्धी लक्षण हैं वह ब्रह्मसम्बन्धी भी होतेहैं यहाँ प्रथम जीव में ब्रह्म बुद्धिका आरोप करके उसमें कुछ चित्त लगने व तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् शुद्ध ब्रह्मके ध्यानमें चित्तकी प्रवृत्ति होसकेगी व उपासक यथार्थ अधिकारी होगा इस प्रयोजनसे मनोमय आदि शब्दसे ब्रह्मको उपास्य वर्णन किया है । और जो प्राणरहित मनरहित आदि ब्रह्मको कहा है यह शुद्ध ब्रह्मके विषय में वर्णन है कोई प्रतीक अवलम्बन करके ब्रह्म मानने वा ब्रह्मकी उपासना में नहीं है इससे कुछ विरोध नहीं है अब जिज्ञासुओं को वेदान्तका यथार्थ आशय विज्ञापन व भ्रमनिवारण के लिये यह विशेष व्याख्यान कियाजाता है कि, जो **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** का यह अर्थ कहते हैं कि, सब ब्रह्मही है व इससे सब ब्रह्मही का होना व सर्वथा अद्वैत मानना सत्य व यथार्थ कहते हैं यह कथन वा मानना असत्य व अयुक्त हैं सब ब्रह्म है ऐसा चित्तसे मान के सर्वत्र ब्रह्मही का ध्यान करना जो कहा है यह जैसा ऊपर वर्णन

---

१ यहां उपासना मात्र को कहकर उसके फल व हेतु वर्णन के आरंभ में अथ शब्द व हेतु वा कारण निर्देश अर्थ में खलु शब्द कहा है इसीसे आशय से खलु शब्दका अर्थ जिससे यह रखदियागया है ।

किया गया है ब्रह्म के सर्वत्र व्यापक होने व किसी कालमें कोई पदार्थ उससे भिन्न न रहनेसे व अन्यपदार्थ के अनित्य नाशवान् होनेसे सब पदार्थों से चित्त में विराग उत्पन्न होने व ब्रह्मही में श्रद्धा उत्पन्न होने के लिये व ऐसी उपासना से फलविशेष प्राप्त होने के प्रयोजनसे कहा है जैसा कि, श्रीमहर्षि पतंजलिजीने सम्पूर्ण सांसारिक सुखों को दुःख के मेलसे रहित केवल सुख न जानके व तुच्छ व नाशवान् होने से परिणाम में फिर दुःख होना आदि दुःखों के हेतुओं को समझके न होने के समान मान के विवेकी को सब दुःखही है ऐसा योगदर्शन के पाद २ सूत्र १५ में कहा है सूत्रवाक्य यह है **परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः** अर्थ-- (परिणामतापसंस्कारदुःखैः) परिणाम, ताप व संस्कार दुःखों से अर्थात् परिणाम दुःख ताप दुःख व संस्कार दुःखों से (च) और (गुणवृत्तिविरोधात्) गुणवृत्तियों के विरोधसे (विवेकिनः) विवेकीको (दुःखम् एव सर्वं) सब दुःखही है अर्थात् सब सांसारिक सुख दुःखही है । इसका विवरण यह है कि, जिस सुख में परिणाम में दुःख है यथा किसी इन्द्रिय के विषय-भोग के सुख में जब प्राप्त से अधिक तृष्णा बढती है तब इच्छा-अनुसार इष्टविषयके प्राप्त न होने में दुःख होता है अथवा भोग समय में सुख होता है फिर उस भोग्यविषय के नाश होनेमें वा अनुचित व अधिक भोग से उसका बाधक कोई रोग उत्पन्न होनेमें दुःख होता है यह परिणाम दुःख है जो किसी प्राप्तविषयभोग में सुखका बाधक होता है उसमें द्वेष होने से व उसके निवारण न करसकने से उत्पन्न सन्ताप से जो दुःख होता है इत्यादि यह ताप दुःख है और जिन विषयों में सुख वा दुःख अनुभूत होता है उन में स्मरण व संस्कारसे बारंबार इच्छा व द्वेष के अनुसार अनुभव कियेगये सुखदुःख कर्माशय की वृद्धि होती है उन कर्मों का फल जो दुःख व संसारबन्धरूप होता है यह संस्कार दुःख है और रजोगुण व तमोगुण से जो विषयभोग व अधर्म अनुचित कर्म करता है सत्त्वगुण उदयहोने में उसमें पश्चात्ताप होता है उस कियेहुये को निन्द्य समझता है इसप्रकार से गुणों व चित्तकी वृत्तियों के विरोध से जो दुःख होता है अथवा इष्टमित्र के संग स्नेह से प्राप्त वा प्राप्त होने के योग्य सुख में जो परस्पर के गुणों में विरोध आने वा चित्तकी वृत्तियों में विरोध होने से दुःख प्राप्त होता है यह गुण वृत्तियों के विरोध से दुःख होना है इन दुःखों के होने से व सुखों में दुःख का मेल रहने से सब दुःख ही है ऐसा कहा है जैसे इसमें अधिक अंश दुःख ही के होनेसे व कोई संसारी सुख केवल सुखरूप न होनेसे उसमें दुःखका भी मेल रहने से व नाशवान् होनेसे दुःख ही कहा है अर्थात् इन उक्त हेतुओं को जानकर सांसारिक सुखसे विराग उत्पन्न होनेके लिये सब दुःखही कहाहै ऐसे ही सब ब्रह्मही का होना कहना

समझना चाहिये । जैसा अभिप्राय वर्णन कियागया है इसके सिवाय यह कौन कह सक्ता है कि, राज्यआदि पदमें प्राप्त व अनेक प्रकारके इन्द्रियोंके विषयोंके भोगसे जो सुख होता है जिसकी प्रत्यक्ष आदिसे उपलब्धि होती है वह सब झूँठ वा मिथ्या है ऐसेही ब्रह्म निरवयव नित्य सर्वज्ञ को कौन बुद्धिमान् जड नाशवान् अज्ञान होना स्वीकार करसक्ताहै तथा उससे उत्पन्न होताहै उसीमें लय होताहै व उसीमें चेष्टाकरता है यही कहनेसे ब्रह्मका पृथक् होना सिद्ध होताहै क्योंकि निरवयव ब्रह्मका अवयव वा विभाग नहीं होसक्ता जिससे कुछ मृत्तिकाआदि के भागसे घट आदि बनायेजाने से घटआदि कार्यों के होजानेपर भी कारण मृत्तिका आदिके पृथक् रहने के समान ब्रह्मका कुछ जगत्‌रूप बनजाना व अपने निज स्वरूप से भी स्थित रहना मानाजाय और जो सब ब्रह्म जगत्‌ही रूप बनजाना मानलिया जाय तो उसमें चेष्टा करता है इत्यादि कहना मिथ्या होगा इससे सर्वथा अद्वैत मानना प्रमाण के योग्य नहीं है आधिपत्य अर्थ में भी औपचारिक वा लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करने से ब्रह्मका सब जगत् होना वाच्य होसक्ता है अर्थात् जैसें जो राजा किसी के कुलका पालन करता है वा अन्य कोई जो कुलमें कोई पुरुष अधिपति होताहै तो यह कहते हैं कि, राजा इसका कुल है वा यह पुरुष कुल है यह पुरुष गोत्र है अर्थात् सब इसके अधीन होनेसे सब कुलका निर्वाह इसीके द्वारा होने से कुल में जो कुछ है सो यही है वा कुल यही है अन्यका होना न होने के समान है न्यायदर्शन के अध्याय २ आह्निक २ सू० ६४ में महर्षि गोतमजीने १० प्रकारसे असम्भव वाक्यार्थों में उपचार से अर्थात् उपाधि वा लक्षणा से अर्थ ग्रहण करना वर्णन किया है उनमें से एक आधिपत्य अर्थ में उपचार होना कहा है इस सूत्र के व्याख्यान में श्रीवात्स्यायनमुनिकृत भाष्य में आधिपत्य में उपचार का यह उदाहरण लिखा है यह पुरुष कुल है यह पुरुष गोत्र है ऐसेही उपाधि वा उपचार से पुरुष वा राजा का कुल होना कहने के समान ब्रह्मका सब होना कहना स्वीकार करने के योग्य है । सर्वत्र ब्रह्म ही उपास्य होने का उपदेश होने के हेतु से मनोमय होना आदि धर्म से ब्रह्मको उपास्य कहा है यह वर्णन करके अब ब्रह्मही को उपास्य वर्णन किया है यह निश्चय होने के लिये अन्य हेतु वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

अनु०—विवक्षितगुणोंके संभव होनेसे भी ॥ २ ॥

भाष्य—वक्ताकी इच्छासे जो कहा गया उसको विवक्षित कहते हैं यद्यपि वेद किसी शरीरवान् पुरुष से नहीं कहागया इससे उसमें वक्ता का अभाव होनेसे इच्छाका अर्थ संभव नहीं होता है क्योंकि अग्नि वायु रवि नामक देहधारी देवताओं

१ अग्नि आदि से वेद उत्पन्न होने के वर्णन में शतपथब्राह्मण कां० ११ अ० ५ का यह वाक्य प्रमाण है 'तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदस्सूर्यात्सामवेदः ।'

के हृदयमें अनादि सिद्ध ईश्वरके सत्य अनादिसिद्धज्ञान व विवेक का प्रकाश वा अनुभव हुआ है उससे उन महात्मा सिद्धरूपों से विधि निषेध धर्म अधर्म ज्ञान विषय संयुक्त वेद शब्दसे वर्णन कियागया है। इससे ईश्वरका वक्ता होना व उसकी इच्छासे कहेजानेका अभाव है तथापि उक्त देवता केवल ईश्वरदत्त वा प्रकाशित ज्ञानसे वेदके वर्णन वा प्रकट करनेवाले हैं इससे ईश्वर के स्वयं वक्ता न होनेपर भी वह ईश्वरवाक्य अंगीकार कियागया है व वर्णन का आदिकारण रूप कर्ता ईश्वरके होनेसे उपचारसे (लक्षणासे) विवक्षित होना ग्रहणकिया है अथवा उपादान फलसे विवक्षित होना उपचार कियागया है यह मानना चाहिये क्योंकि लोक में जो शब्दसे कहागया ग्रहण के योग्य होता है वह विवक्षित और जो उपादेय (ग्रहणके योग्य) नहीं होता वह अविवक्षित कहाजाता है क्योंकि यह उपादान (ग्रहण) के योग्य है यह त्याग करने के योग्य है ऐसा विवेकयुक्त वर्णन विवक्षा (वक्ता की इच्छा) के अधीन है वेद में भी ग्रहण के योग्य व त्याग के योग्य होनेका वर्णन है जो उपादेय होना कहा है वह विवक्षित व जो त्याग के योग्य कहाहै वह अविवक्षित है उपासना में जो जो गुण ब्रह्म में ग्रहण के योग्य उपदेश किये गये हैं वह विवक्षित हैं ब्रह्म की उपासना में उक्त छान्दोग्य की श्रुतिमें जो मनोमय प्राण शरीर होना ब्रह्मका वर्णन किया है व उससे जीव के वर्णन का संशय होता है उस मनोमय प्राण शरीर कहने के साथ ही **भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा** इत्यादि अर्थ–प्रकाशरूप सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा अर्थात् आकाश के समान सब में व्यापकरूप है इत्यादि गुणोंको वर्णन किया है यह सत्यसङ्कल्प आदि उपदेश कियेगये विवक्षित गुण परब्रह्म ही में संभव होते हैं जगत्के उत्पन्नकरने स्थिर रखने व संहार करनेमें ब्रह्मकी शक्तिके विघ्न व रोंकरहित होनेसे ब्रह्मको सत्यसंकल्प कहाहै क्योंकि जो सङ्कल्प वा इच्छाकरताहै वही सत्य करता है इससे सत्यसंकल्प है आकाश के समान व्यापक होनेसे आकाशात्मा कहा है जो यह कहाहै कि, मनोमय प्राणशरीर है यह जीवका लिङ्ग (लक्षण) है ब्रह्मका नहीं है इसका उत्तर यह है कि, मनोमय प्राणशरीर होना भी ब्रह्म में घटित होता है ब्रह्म के सर्वात्मा सर्वव्यापक होने से जीवसम्बंधी जो मनोमय आदि होना धर्म हैं वह ब्रह्मसम्बंधी भी होते हैं। यथा सर्वव्यापक आकाश का घटआकार उपाधिसे घटमात्र में परिच्छिन्न हुआ घटाकाश कहेजानेका भी सम्बंध होता है ऐसेही ब्रह्ममें समझना चाहिये और जो श्रुतिमें यह कहा है **अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः** अर्थ–प्राणरहित मनरहित स्वच्छ है यह शुद्धब्रह्मका प्रतिपादन है और मनोमयः प्राणशरीरः यह उपाधिगुणविशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करने के लिये उपाधिगुणविशिष्ट ब्रह्म का वर्णन है इससे विवक्षितगुणों के संभव होने वा प्राप्तहोने से अर्थात् ब्रह्म ही में संभव होने वा प्राप्तहोने से इसमें परब्रह्म ही के उपास्य होने का उपदेश कियागया है यह सिद्ध होता है ॥ २ ॥

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

अनु०–संभव न होनेसे शारीर (जीव) नहीं है ॥ ३ ॥

भाष्य–सत्यसङ्कल्प आदि जे गुण कहेगये हैं वे जीवमें संभव न होनेसे मनोमय होना आदि गुण भी जीव में ग्रहणके योग्य नहीं हैं मनोमय होना आदि गुणसंयुक्त ब्रह्महीको उपास्य वर्णन किया है अर्थात् शरीरमात्र जिसका भोग का अधिष्ठान है ऐसा शरीर में होनेवाला वा रहनेवाला जो जीव है उसमें सत्यसङ्कल्प होना आकाशात्मा होना अर्थात् आकाश के समान शरीरआदि सब पदार्थों के बाहर भीतर सर्वत्र व्यापक होना आदि जे गुण मनोमय होने आदि के साथ वर्णन कियेगये हैं वे जीव में संभव न होनेसे जीवका उपास्य होना प्राप्त नहीं है ॥ ३ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

अनु०–कर्म व कर्ता के कहनेसे भी ॥ ४ ॥

भाष्य–ब्रह्म को कर्म जीवको कर्ता कहनेसे भी मनोमय होना आदि जीव के धर्म नहीं हैं जैसा कि, इस वाक्य में कहा है **एतमितः प्रेत्य। भिसंभवितास्मि** अर्थ–(इतः प्रेत्य) इससे अर्थात् इस शरीरसे मरकर वा मरनेके पश्चात् (एतं) इसको अर्थात् इस उक्त मनोमय आदि गुणयुक्त ब्रह्मको (संभवितास्मि) प्राप्तहोनेवाला हूं । जिस ब्रह्म में प्राप्त होने को कहा वह व्याकरण के अनुसार कर्म है व प्राप्त होनेवाला उपासक जीव कर्ता है कर्म से यह अभिप्राय नहीं है कि, जो कियाजाय वह कर्म है कर्ताकी क्रियाका फल जिसमें आश्रित हो वह कर्म है इस कर्म व कर्ता भेदसे उपास्य व उपासक भेद कहने से मनोमय होना आदि गुणसंयुक्त जीव नहीं है, क्योंकि जो गुण वा धर्म उपास्य के होते हैं वही उपासक के नहीं होसक्ते ॥ ४ ॥

जो यह कहाजाय कि, जैसे **मामहं जानामि** अर्थ–अपने को मैं जानताहूँ इस वाक्य में वही ज्ञेय कर्म व वही ज्ञाता कर्ता है ऐसेही यहाँ कर्म व कर्ता मानना चाहिये इस संशय की निवृत्तिके लिये अगले सूत्र में अन्य हेतु वर्णन करते हैं–

शब्दविशेषाच्च ॥ ५ ॥

अनु०–शब्दविशेषसे भी ॥ ५ ॥

भाष्य–शब्दविशेष कहने से भी मनोमय होना आदि गुण जीव से भिन्न अन्यके हैं यह सिद्ध होता है यह कहने का आशय यह है कि, श्रुति में जीवात्मा व परमात्मा को शब्दविशेष से अर्थात् भिन्नशब्द से वर्णन किया है जैसा इस श्रुति में कहा है **यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डु-**

लो वैवमयमन्तरात्मने पुरुषो हिरण्मयः अर्थ-(यथा) जैसे (व्रीहिः) साठी (वा यवः) वा जव (वा श्यामाकः) वा सावाँ(वा श्यामाकतण्डुलः) वा सावाँके चाउर होते हैं (एवम्) ऐसेही (अन्तरात्मने अर्थात् अन्तरात्मनि) अन्तर आत्मा के मध्य में अर्थात् जीवात्मा में (अयं हिरण्मयः पुरुषः) यह प्रकाशमय पुरुष है अर्थात् जैसे साठी वा जव वा सावाँ वा सावाँ के चाउर तृण वा भूसी के अन्तर्गत (भीतर) रहते हैं ऐसेही अन्तरआत्मा में यह प्रकाशमय पुरुष है वा रहता है इससे जीवात्मा को जिसमें रहता है उसको अन्तरआत्मा में इस अन्य शब्दसे व जो रहता है उसको मनोमय होना आदि गुणविशिष्ट प्रकाशमय पुरुष अन्य शब्दसे कहा है जिसमें रहता है व जो रहता है दो पृथक् शब्दविशेष से कहेजाने से जीवका मनोमय होनाआदि धर्मसंयुक्त होना सिद्ध नहीं होता इससे जीव को उपास्य होना न कहना और जीव ब्रह्ममें भेद होना सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

अनु०—स्मृतिसे भी ॥ ६ ॥

भाष्य--स्मृति से भी जीवात्मा व परमात्मा का भेद होना सिद्ध होता है यथा गीतामें कृष्णजीने अर्जुनसे यह कहा है **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे-ऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया** अर्थ-हे अर्जुन !(सर्वभूतानाम् ईश्वरः) सब प्राणियोंका ईश्वर (यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि) यंत्र में बैठेहुये के समान सब प्राणियों को अर्थात् जीवों को (मायया) माया से (भ्रामयन्) भ्रमाताहुआ (हृद्देशे तिष्ठति) हृदयस्थानमें रहता है इस स्मृति-वाक्य से भी जीव व ब्रह्ममें भेद होना सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेव व्योमवच्च ॥ ७ ॥

अनु०—अल्पस्थानी होनेसे और उसके कथन से न होय नहीं, आकाशके समान विचार के योग्य होने से भी ॥ ७ ॥

भाष्य—अल्पस्थानी अर्थात् थोड़े स्थानमें रहनेवाला होनेसे व अल्पस्थानके कह-

---

१ यंत्रारूढानि शब्दका अर्थ यंत्र में बैठे हुये इतनाही है समानका अर्थ यंत्रारूढशब्दसे ग्राह्य नहीं है परन्तु यहां वाचकलुप्तोपमालङ्कार है इससे इव शब्दका लोप है यंत्रारूढानि को यंत्रारूढानि इव ऐसा कथित समझना चाहिये अन्यथा यथार्थ अर्थ की सङ्गति नहीं होसक्ती यंत्र में बैठेहुयेके समान अर्थात् दारुयंत्रमें (काठके किसी यंत्रविशेष में) बनाये हुये अपने अधीन कटपुतरियों को सूत्रधार अर्थात् जिसके हाथमें सूत्र वा तार रहता है वह घुमाता है ऐसेही ईश्वर प्राणियोंको भ्रमाता है कोई यंत्र शब्दका अर्थ शरीरका ग्रहण करके ऐसा अर्थ कहते हैं कि, शरीरस्थित जीवों को भ्रमाताहै यह अर्थ भी ग्रहण के योग्य है ।

जैसे जैसा इस वाक्य में कहाहै एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा अर्थ-(एषः) यह (मे आत्मा) मेरा आत्मा (अन्तः हृदये) हृदय के भीतर (व्रीहेः वा यवात् वा) साठीसे वा जव से (सर्षपात् वा) वा सरसों से (श्यामाकात् वा) वा सावाँ से (श्यामाक तण्डुलात् वा) वा साँवा के चाउरसे (अणीयान्) अधिक सूक्ष्म है, जीवही का उपदेश है सर्वव्यापक ब्रह्म का नहीं है जो यह संशय होवै तो उत्तर यह है कि, नहीं, अर्थात् जीवका उपदेश कहना युक्त नहीं है क्यों नहीं है आकाश के समान विचारने योग्य होने से अर्थात् जैसे सर्वव्यापक आकाश सूची के छेद में आकाश है यह कहाजाता है और घट व मठ आदि अल्पदेशपरिच्छिन्न आकाश घटाकाश मठाकाश आदि नामसे कहाजाता है तथा सब वसुधाधिपति राजा अयोध्याधिपति वा अन्य राजधानी के अधिपति नामसे कहाजाता है ऐसेही सर्वव्यापक ब्रह्मको अन्तर्हृदय में है वा मनोमय है यह कहनेमें दोष नहीं है ॥ ७ ॥

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

अनु०-संभोगों की प्राप्ति होवै नहीं विशेषहोने से ॥ ८ ॥

भाष्य-सबमें व्यापक होनेसे सब प्राणियोंके हृदयमें होनेसे हृदयसम्बन्धसे ब्रह्मको सुख दुःख आदि संभोगों की प्राप्ति होवै अर्थात् प्राप्ति होनाचाहिये जो ऐसा संदेह हो तो उत्तर यह है कि, नहीं, विशेष होनेसे अर्थात् सब प्राणियोंके हृदयके साथ सम्बन्ध होनेपर भी विशेष होनेसे ब्रह्मको भोगों की प्राप्ति नहीं है विशेषता मिथ्याज्ञान व तत्त्वज्ञान होने की है मिथ्याज्ञान (अविद्या) से जीवको सुख दुःख का भोग होताहै आत्मज्ञान विवेक होनेसे जीवही का दुःख सुख फलरूप विषयभोग से रागकी निवृत्ति होजातीहै सब दुःखों से रहित हो परम सुख को प्राप्त होताहै ब्रह्म नित्य सर्वज्ञआनन्दस्वरूप में कहीं अविद्या का लेश व सम्बंध नहीं होता इससे ब्रह्ममें संभोगोंकी प्राप्ति नहीं है ॥ ८ ॥

ब्रह्म के संहार व धारणकर्ता होने में सूत्र ९ व १० अधिकरण २ ।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

अनु०-चर व अचर के ग्रहण करने से धारण वा ग्रहण कर्ता है ॥ ९ ॥

भाष्य-ब्रह्म सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् सम्पूर्ण चराचर जगत् के ग्रहण करने से अधिष्ठानरूप सब जगत् का धारण कर्ता है यह अर्थ है। अत्ता शब्द अद् धातु से बनता है इससे अद् धातु का भक्षण अर्थ ग्रहण करके अत्ताशब्दका

---

१ यह छान्दोग्यकी श्रुति है ।

अर्थ भक्षण करनेवाला भी ग्रहण करते हैं जैसे इस कठवल्लीउपनिषद् के इस वाक्यमें कहाहै **यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्चोभे भवत ओदनो मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः** अर्थ-(यस्य) जिसके (ब्रह्म च क्षत्रं च) ब्राह्मण और क्षत्री दोनों (ओदनः) भात अर्थात् भातके समान भक्ष्य पदार्थ (भवतः) होते हैं और (यस्य) जिसके(मृत्युः उपसेचनं) मृत्यु भातपर सींचने का घृत है अर्थात् घृतके समान है(सः अर्थात् सः अत्ता)वह भक्षण करनेवाला अर्थात् नाशकरनेवाला (यत्र) जिसमें अर्थात् जिस अवस्था में जैसा है उसमें(इत्था अर्थात् इत्थं) इसीप्रकार का है ऐसा (कः वेद)सुखस्वरूप शुद्धचित्त योगीही जानता है अथवा रूपआदि गुणरहित होनेसे ऐसाही है यह कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं जानता. आशय यह है कि, रूप आदिरहित होनेसे लौकिक जन उसको कोई यथार्थ रूपसे नहीं जानते केवल शुद्धचित्त योगीही जानतेहैं इस वर्णन में यह संशय होताहै कि, इस वाक्यमें ब्रह्मनामसे भक्षणकर्त्ता नहीं कहा केवल ओदन भक्ष्यपदार्थ के कहनेसे कोई भक्षणकर्त्ता का ग्रहण होता है परन्तु इससे यह निश्चय नहीं होता कि,वह ब्रह्म है अग्नि वा जीव का होना संभव है क्योंकि अग्नि को श्रुतिमें भक्षणकर्त्ता कहा है यथा **अग्निरन्नादः** अर्थ-अग्नि अन्न भक्षणकर्त्ता है जीवको भी भक्षणकर्त्ता कहा है यथा **तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति** अर्थ-(तयोः) उन दो ब्रह्म व जीवके मध्यमें अर्थात् दोमेंसे (अन्यः) जो जीव है वह (पिप्पलं स्वादु) स्वादिष्ठ कर्म फलको (अत्ति) खाता है परमात्माको यह कहा है *अनश्नन्नन्योअभिचाकशीति अर्थ- (अन्यः) दूसरा अर्थात् परमात्मा (अनश्नन्) न खाताहुआ अर्थात् कर्म और कर्मफल का अनुभव न करता हुआ (अभिचाकशीति)* साक्षीरूपसे शुभ अशुभ कर्मोंको देखता है व उनके अनुसार सुख दुःखको देता है इससे परमात्मा का भक्षणकर्त्ता अर्थात् भोग कर्ता होना विदित नहीं होता और भोगकर्त्ता ग्रहण करनेमें पूर्व सूत्रमें जो भोगकरनेका निषेध कियाहै उसके विरुद्ध होगा भक्षणकर्त्ता अर्थ ग्रहणकरनेवाले इसका उत्तर यह वर्णन करतेहैं कि, भक्षणकरनेवाला परमात्माही ग्राह्य है किस हेतुसे चराचर के ग्रहण से अर्थात् सब चराचर भक्ष्य होना ग्रहण करनेसे अभिप्राय यह है कि, शब्द का अर्थ दो प्रकारका होता है मुख्य व गौण. गौण वह है कि, जो समान गुण (धर्म) होनेसे ग्रहण कियाजाता है भक्षण शब्द का मुख्य अर्थ भोजन करने का है भोजनकरने में जिस वस्तु का भक्षण कियाजाता है वह नाशको प्राप्त होता है इससे यहाँ गौण अर्थ से भक्षण का अर्थ नाश व भक्षणकर्त्ताका अर्थ नाशकरनेवाला व भक्ष्य वा भोग्य पदार्थ का अर्थ नाशवान् का ग्रहण किया जाताहै जीवको जो भक्षणकरनेवाला वर्णन किया है वह मुख्य अर्थ भोजन करनेवालेके अर्थसे कहाहै और अग्निका भक्षण भस्मकरके नाशकरना है इससे अग्निका भक्षण वर्णन कियाहै सम्पूर्ण चराचर का नाशकरनेवाला ब्रह्म है इससे ब्रह्मको

भक्षणकर्त्ता कहाहै अर्थात् चराचरका संहार कर्ता है यद्यपि उक्त वाक्यमें ब्राह्मण क्षत्री शब्द मात्र कहा है सब चराचरको नहीं कहा परन्तु ब्राह्मण क्षत्री शब्द उपलक्षण मात्र है ब्राह्मण क्षत्री कहनेसे ब्राह्मण क्षत्री आदि कहनेका आशय है आदि शब्द शेष है क्योंकि जब मृत्यु जो सब प्राणियोंको संहार करता है उसीको घृत के समान भक्ष्य कहा है तो कौन भक्ष्य होनेसे भिन्न रहसकाहै जब कोई नाश होनेको नहीं रहता तब मृत्युका होना भी नहीं होसक्ता यही मृत्यु का भक्षण वा नाश है इससे सब चराचर का अर्थ ग्राह्य होता है सब चराचरके संहार करने में ब्रह्मसे भिन्न अन्य कोई समर्थ नहींहै इससे ब्रह्मको संहारकर्ता व ओदनका नाशवान् पदार्थ अर्थ ग्रहण करके गौण अर्थसे वाक्यका अर्थ रूपका-लङ्कारसे वर्णन किया है इस उक्तवाक्य वा मंत्रके आशयको लेकर सूत्र में चरा-चर के ग्रहणसे ब्रह्म भक्षणकर्ता अर्थात् सब चराचर का संहारकर्ता है यह कहा है इस गौण संहारकर्ता होनेके अर्थ से ब्रह्मके भोग वा भक्षण करनेके निषेध में दोष नहीं आता संहारकर्ता अर्थ ग्रहण करनेमें कुछ विरोध नहीं है वेदान्तमें सृष्टि स्थिति संहार का कारण ब्रह्मको प्रतिपादन करना प्रसिद्ध है और व्यापक कारणरूप से ब्रह्म सब पदार्थको ग्रहण अर्थात् धारण करता है इससे सबका धारणकर्ता अर्थ ग्रहण करना युक्त है यद्यपि भक्षणकर्ता अर्थभी उक्त प्रकार से घटित होताहै तथापि ग्रहण करनेसे यह जो हेतु सूत्र में कहाहै इससे ग्रहण कर्ता अर्थात् धारणकर्ता यह अर्थ ग्रहणकरना उत्तम है जब मुख्य अर्थसे वाक्य का अर्थ न लगे तब गौण की कल्पना करना चाहिये इस सूत्र में चराचरके ग्रहण करनेसे यह हेतु वर्णन करनेसे व ब्रह्मके सर्वव्यापक व सबका आधाररूप होने से धारणकर्ता का अर्थ ग्रहण करना उत्तम ज्ञात होता है इससे भक्षणकर्ता अर्थ ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है यदि ग्रहणकरना धातु का अर्थ प्रसिद्ध न होने में शङ्का हो तो धातुओंका अनेक अर्थ होनेसे शिष्टोंके प्रयोग से जो धातुका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है वह भी ग्राह्य है इससे इस सूत्रमें उक्त हेतुसे सूत्रकारके आशय से धारणकर्ता का अर्थ स्वीकार करना युक्त है ॥ ९ ॥

प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

अनु०—प्रकरणसे भी ॥ १० ॥

भाष्य—जिसके वर्णन में जो प्रकरण होताहै उस में उसीका सम्बंध होता है परमात्मा के प्रकरण में जिसमें परमात्मा को **न जायते म्रि-यते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्** इत्यादि अर्थ—(अयं विप-श्चित्) यह ज्ञानस्वरूप सर्वज्ञ परमात्मा (न जायते) न उत्पन्न होताहै (वा म्रियते) और न मरता है (कुतश्चित्) किसीसे अर्थात् किसी उपा

इस कारण से (न बभूव) नहीं हुआ अर्थात् उत्पन्न नहीं हुआ और इस परमात्मासे (कश्चित्) कोई पदार्थ (न बभूव) नहीं हुआ अर्थात् यह किसीका उपादान कारण नहीं हुआ अथवा (अयं) यह (कश्चित् न बभूव) कोई कार्य पदार्थ नहीं हुआ अर्थात् आपही कारणरूप से कार्यरूप नहीं हुआ इससे इस परमात्मा उपादानकारण से कुछ नहीं हुआ अर्थात् यह किसीका उपादान नहीं हुआ इत्यादि ऐसा वर्णन किया है उसीमें अत्ता होना कहा है परमात्मा के प्रकरणमें होनेसे परमात्माही अत्ता (भक्षणकर्त्ता वा धारणकर्त्ता) होना स्वीकार करना युक्त है ॥ १० ॥

जीव व ईश्वर दोनों के हृदयगुहामें प्रविष्ट होनेके वर्णन में सू० ११ व १२ अधि० ३ ।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ ११ ॥

अनु०—गुहामें प्रविष्ट (प्रवेश किये) दो आत्मा हैं निश्चयसे उनके दर्शन से अर्थात् उन दोका होना श्रुतिमें देखनेसे अथवा गुहामें प्रविष्ट दो आत्मा हैं जिससे उनका दर्शन है इससे अर्थात् उन दो के होनेसे वा भेदका श्रुति में दर्शन है इससे ॥ ११ ॥

भाष्य—दो आत्मा गुहा में प्रविष्ट हैं यह उन दोनों के भेद देखने के हेतुसे (प्रमाणसे) अर्थात् कठवल्ली उपनिषद् में, गुहा में प्रविष्ट दो आत्मा कहने से उनका भेद वर्णन किया है उसके देखने से आत्मा परमात्मा भिन्न है यह सिद्ध होता है उक्त उपनिषद् में दो आत्माओं के वर्णन में यह मंत्र है **ऋतं पिबन्तौ स्वकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे । छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिनाचिकेताः** अर्थ-(स्वकृतस्य) अपने कियेहुये के अर्थात् एक जीवात्मा ने अपने कर्मसे प्राप्त किये और परमात्मा ने जीवके कर्मानुसार अपने कर्मसे प्राप्तकराये इसप्रकार दोनों जीवात्मा व परमात्माके अपने किये हुये कर्म के (लोके) लोकमें अर्थात् उक्तप्रकारसे अपने कर्मसे सिद्धकिये लोक नाम देखने योग्य वा दृष्टिगोचर होनेवाले शरीरमें

---

१ अस्मात् अर्थ इससे यह वाक्य में शेष है आक्षेप से ग्रहण किया जाता है।

२ जो कोई पदार्थ नहीं हुआ यह कहने में यह संशय होवे कि, ऐसा कहनेमें अस्तित्वका निषेध हो जायगा तो उत्तर यह है कि, अनित्य कार्य पदार्थ के होने का निषेध किया है क्योंकि जो नहीं होता वही होता है व नाशको भी प्राप्त होता है और जो है अर्थात् नित्य सिद्ध है उसको हुआ यह कोई नहीं कहता ।

३ तयोर्दर्शनम् तद्दर्शनं तस्मात् यद्वा तयोर्भेदः तद्भेदः तद्भेदस्य दर्शनं तद्दर्शनं तस्मात् तद्दर्शनात् अत्र समासे मध्यपदस्य लोपो ज्ञातव्यः शाकपार्थिवादिवत् शाकपार्थिवादेराकृतिगणत्वात् ।

(परमे) श्रेष्ठ (परार्द्धे) ब्रह्मके ऋद्धियुक्त स्थान हृदयआकाश में अर्थात् परब्रह्मकी माप्तिका स्थान वा हेतु होनेसे बाह्यआकाशकी अपेक्षा उत्तम शोभायुक्त हृदयआकाश में (गुहां) गुहामें अर्थात् गुप्तस्थल बुद्धिमें (प्रविष्टौ) प्रवेशकिये हुये अर्थात् स्थित और (ऋतं) सत्यकर्मफलको (पिबन्तौ) पीतेहुये अर्थात् भोग करतेहुये वा सेवन करतेहुये दो जीवात्मा और परमात्मा को (छायातपौ) छाया और घामके समान अर्थात् अन्धकार व प्रकाश के समान अल्पज्ञ व सर्वज्ञ होने के भेदसे विलक्षण हैं ऐसा (ब्रह्मविदः) ब्रह्मके जाननेवाले (वदन्ति) कहते हैं (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः) तीनवार नचिकेता नामक अग्नि के संचय करनेवाले हैं अर्थात् यम आचार्यने नचिकेता से अग्निहोत्र आदि यज्ञको कर्मकाण्ड के उपदेश में वर्णन किया है और अन्तमें यह कहा है कि, हे नचिकेता! यह अग्नि जिसका मैंने तुमको उपदेश किया है तुम्हारेही नाम से प्रसिद्ध होगा ऐसे नाचिकेत नामक अग्निको तीनवार जिन्होंने चयन किया है अर्थात् गार्हपत्य आहवनीय व दक्षिणाग्नियों में यज्ञ कियाहै ऐसे गृहस्थ अथवा नाचिकेतके लिये जो उपदेश में वाक्य कहेगये हैं उन नाचिकेतवाक्यों में तीन प्रकार से अर्थात् अध्ययन व उनके अर्थज्ञान उनके अनुष्ठान करनेमें जो प्रवृत्त हुये हैं वे और (पञ्चाग्नयः) पञ्चाग्नि तपनेवाले वानप्रस्थ वा माता पिता आचार्य अतिथि और परमात्मा इन पांच तेजस्वी अग्निरूप के सेवन करनेवाले विद्वान् गृहस्थ भी, जीवात्मा व परमात्मा को ऐसा कहते हैं अर्थात् दोनों को तम व प्रकाशके तुल्य विलक्षण व भिन्न कहते हैं अब इसमें यह संशय होता है कि, इस मंत्र में दो आत्मा शब्द कहा है, आत्माशब्द बुद्धि, जीव व परमात्मा का वाचक है इससे जीवात्मा व परमात्मा अर्थ ग्रहण करनेका निश्चय नहीं होसक्ता अर्थात् यह निश्चय नहीं होता कि, दो आत्मा कौन ग्रहण करना चाहिये बुद्धि व जीव अथवा जीवात्मा व परमात्मा, क्योंकि, बुद्धि तो जड है वह ऋतपान जो कर्मफलभोग है नहीं करसक्ती व परमात्मा को **अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति** अर्थ–अन्य जीव से भिन्न परमात्मा भोग न करता हुआ अर्थात् भोगरहित साक्षीभावसे देखता हुआ शोभित है यह कहा है और परमात्मा सर्वव्यापक होनेसे भी गुहा एकदेशमात्रमें प्रविष्ट नहीं माना जासक्ता परन्तु दोको कहाहै इससे दूसरे का ग्रहण अवश्य होना चाहिये, इसका उत्तर यह है कि, जीवात्मा व परमात्मा इन्हीं दो को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि यह दोनों चेतन हैं जड बुद्धि में भोगकरने का धर्म होना

---

१ परस्य ब्रह्मणोऽर्द्धं स्थानं परार्द्धं तस्मिन् परार्द्धे यद्वा परस्य ब्रह्मणोऽर्द्धमृद्धियुक्तं परार्द्धं तस्मिन् परार्द्धे।

२ त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः।

३ माताआदिको अग्निरूप मान के सेवन करनेमें यह महाभारत उद्योगपर्वका श्लोक प्रमाण है "पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्य्याः प्रयत्नतः। माताग्निरतिथिः पिता चैव गुरुरात्मा च पञ्चमः॥"

असंभव है यद्यपि करण को भी लोक में कर्त्ता के समान वर्णन करते हैं जैसे यह कहतेहैं कि, यह हथियार अच्छा चलता है अच्छा काटता है इत्यादि वास्तवमें वह आपसे विना काटनेवाले की शक्ति न काटसक्ता है न चलसक्ताहै ऐसेही बुद्धिकरण का भोगकर्त्ता होना मानाजाय तो गौण अर्थ होसक्ता है परन्तु ऐसी कल्पना करनेका कोई विशेष हेतु नहीं है. इससे चेतन आत्मा का अर्थ ग्रहण करना युक्त है क्योंकि समान वा एकही शब्दसे संख्या सुनने में जो समानस्व-भाव एक जातिवाले पदार्थ हैं उन्हीमें लोक की प्रतीति होना विदित होता है, यथा यह कहने में कि, इसकी एक गौ ढूँढ़ चुका दूसरी ढूँढ़ना चाहिये एकसे भिन्न दूसरी गौ के ढूँढनेका बोध होता है दूसरे शब्दके कहनेसे दूसरे घोड़ा वा पुरुषका बोध नहीं होता ऐसेही दो आत्मा कहने से जैसे एक चेतन है ऐसाही दूसरा मानने योग्य विदित होता है और जो गुहा में प्रवेशकरनेमें एकदेशमें होनेकी शङ्का है वह भी युक्त नहीं है आकाश के सदृश ब्रह्म सर्व व्यापक होने से एक देश में भी कहना घटाकाशआदि के समान, विरुद्ध व अयुक्त नहीं है छाया व धूप के समान कहने में दोष नहीं है एक अविद्या जो पारमार्थिक वा तत्त्वज्ञान की आच्छादित करनेवाली है उससहित जीवात्मा व दूसरा नित्य सत्यज्ञान व प्रकाशस्वरूप परमात्मा छाया व धूप के समान विलक्षण हैं दो आत्मा भोगकरनेवाले यह कहनेमेंभी दोष प्राप्त नहीं होता है क्योंकि यद्यपि जीव कर्मफल को भोगकरताहै ईश्वर नहीं करता तथापि जैसे कोई पाक बनानेवालेके निकट बैठकर पाक बनवाता है आप नहीं बनाता तो भी उसको बनानेवाला कह-तेहैं अर्थात् लोकमें उसको पाक बनाता है ऐसा उपचारसे कहतेहैं ऐसेही पर-मात्मा यद्यपि भोग नहीं करता जीवको कर्मफल भोग कराता है तथापि उपचार से भोगकरनेवाले जीव के सङ्ग कर्मलोक देह में एकस्थान में होनेसे, जैसे कोई विशेष कर्म करनेवाले व विशेषधर्मवाले के साथ विशेषस्थान में देखने से जो उस कर्म व धर्म में प्रवृत्तभी नहीं होता वह भी संग व स्थानविशेषके संयोग वा सम्बंधसे उसी के समान कहाजाता है भोगकरता हुआ कहागया है अथवा जीव के कर्मानुसार उसके फल दुःख सुख संयुक्त अपने निर्माण कियेहुये कर्मशरीर में नियत आयुपर्य्यन्त साक्षीरूप से स्थित काल व्यतीत करनेरूप गौण भोगकरता है इससे परमात्मा को भोग करनेवाला वा करताहुआ कहा है अन्यथा वास्तव में परमात्मा भोगरहित है क्योंकि जीव के समान सुख दुःख भोग करनेवाला अविद्यासंयुक्त न होना विलक्षण होना छाया धूप के तुल्य कहने से जना दिया है कि, एक कर्मफल भोगकर्त्ता अविद्या तम युक्त संसारी है दूसरा ज्ञानप्रकाशस्वरूप जीव से विलक्षण संसारी नहीं है यह ब्रह्मके जाननेवाले कहते हैं इससे आत्मा व परमात्माही को गुहामें प्रविष्ट कहा है यह सिद्धान्त है ॥ ११ ॥

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

अनु०–विशेषणसे भी ॥ १२ ॥

भाष्य–विशेषण से भी आत्मा व परमात्माका भिन्न होना सिद्ध होता है क्योंकि विशेषण आत्मा व परमात्मा दो के होनेही में संभव होता है विशेषण कहने का आशय यह है कि,कठउपनिषद् में **ऋतं पिबन्तौ** इस मंत्र को वर्णन करके आगे ग्रंथमें जानेवाला व जानेयोग्य अर्थात् प्राप्तहोने योग्य विशेषणसे जीवात्मा व परमात्मा को वर्णन किया है जिन में वर्णन किया है वे मंत्रवाक्य यह हैं **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च** अर्थ–हे नचिकेतः ! तुम (आत्मानं) आत्मा को अर्थात् जीवात्मा को (रथिनं) रथवाला अर्थात् रथका स्वामी (विद्धि) जानो (तु) और (शरीरम् एव रथं) शरीरको ही रथ (विद्धि) जानो (तु) और (बुद्धिम्) बुद्धिको अर्थात् निश्चयात्मक अन्तःकरण की वृत्तिको (सारथिं) सारथी अर्थात् घोड़ों रूप इन्द्रियों का हाँकनेवाला शरीररूप रथका चलानेवाला (विद्धि) जानो (च) और (मनः एव) मनको अर्थात् संकल्प करनेवाले अन्तःकरणको ही (प्रग्रहम्) लगाम की रस्सी जानो ऐसा कहकर फिर यह कहा है **सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्** अर्थ–(सः) वह जीवात्मा पुरुष (अध्वनः) जाने आनेके मार्ग के अर्थात् जन्म मरणरूप मार्गके (पारम्) पार (विष्णोः) विष्णु के अर्थात् व्यापक ब्रह्मके (परमम्) उत्कृष्ट सबसे उत्तम जो है (तत्) उस इन्द्रियों से अगम्य श्रेष्ठ (पदम्) पदको अर्थात् प्राप्त होनेयोग्य स्वरूपको (आप्नोति) प्राप्त होताहै इस प्रकारसे रूपककल्पना से जानेवाला व जानेके योग्य अर्थात् प्राप्तहोनेवाला व प्राप्तहोनेके योग्यको वर्णन करनेसे जीव व ब्रह्मका भिन्नहोना सिद्ध होताहै क्योंकि बिना दोके एक प्राप्तहोनेवाला व एक प्राप्तहोनेयोग्य यह भेद एक में नहीं होसक्ता. तथा ग्रंथमें पहिले भी यह वर्णन कियाहै **तं दुर्दर्शंगूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठम्पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवम्मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति** अर्थ–(धीरः) ध्यान करनेवाला योगी (अध्यात्मयोगाधिगमेन) इन्द्रियोंको शब्दआदि विषयों से रोककर केवल ध्येय परमात्मामें स्थिर करनेरूप अध्यात्मयोग की प्राप्तिसे (तम्) उस कहेहुये (दुर्दर्शम्) दुःखसे अर्थात् कठिनता से जानने योग्य (गूढम्) छिपेहुये अर्थात् इन्द्रियोंसे जाननेयोग्य न होनेसे गुप्त (अनुप्रविष्टम्) अन्तःकरण व जीवात्मा के समान हृदयमें प्रविष्ट (गुहाहितं) गुहामें अर्थात् बुद्धिमें स्थित (गह्वरेष्ठं) अतिकठिन जहाँ बुद्धिका पहुँचना दुर्लभ है ऐसे प्रदेश में स्थित (पुराणम्) सनातन (देवम्) देवताको अर्थात् ज्ञानप्रकाशशील परमात्मा को (मत्वा) जानकर (हर्षशोकौ) हर्ष व शोकको (जहाति) त्यागता है अर्थात् सांसारिक सुख व दुःखसे रहित हो शान्त व आनन्दमय होता है इसप्रकारसे माननेवाला

व मानने के योग्य वा जाननेवाला व जाननेके योग्य विशेषण कहनेसे दोनों का भिन्न होना सिद्ध है ॥ १२ ॥

छाया जीव व अन्य देवताओं को त्यागकर केवल ब्रह्मही उपास्य होने में सू० १३ से १७ अधि० ४ ।

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

अनु०– अन्तर में संभव होने से अथवा अन्तर (मध्यप्रदेश-स्वरूप) संभव होने से ॥ १३ ॥

भाष्य–इसका आशय यह है कि, छान्दोग्य उपनिषद् में यह वर्णन किया है **य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति** अर्थ–(यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) पुरुष अर्थात् रूपज्ञाता (अक्षिणि) नेत्रमें अर्थात् नेत्रस्थान में (दृश्यते) देखाजाता है अर्थात् ज्ञात होता है (एष आत्मा) यह आत्मा है (इति ह उवाच) ऐसा कहा अर्थात् आचार्य्यने उपकोसलसे ऐसा कहा (एतत्) यह (अमृतं) अमृत है अर्थात् मृत्युरहित नित्य है (अभयम्) भयरहित है (एतत्) यह (ब्रह्म) ब्रह्म है (इति) इसीहेतुसे अर्थात् निर्लिप्त ब्रह्म के स्थान होनेसे (तत् अर्थात् तत्र) उसमें अर्थात् पुरुष के स्थान नेत्र में यद्यपि (अस्मिन्) इसमें अर्थात् इस कहेगये पुरुषस्थान में (सर्पिः वा)घृत (उदकं वा) अथवा जल (सिञ्चन्ति) सींचते हैं तो वह घृत वा जल (वर्त्मनी एव) पलोकों ही को (गच्छति) प्राप्तहोता है अर्थात् जिसके स्थानका भी ऐसा माहात्म्य है कि, जैसे कमल के पत्र में जलका सम्बंध नहीं होता ऐसेही नेत्र का जल व घीके साथ नहीं होता फिर स्थानी पुरुष का मायारहित होना क्या कहना है यह अभिप्राय है । इस मन्त्र में जो अक्षिमें अर्थात् नेत्रके मध्यमें होना कहा है । इसमें यह संशय होता है कि, नेत्रके अन्तर में दृश्य होनेसे छायात्मा का होना संभव है उसको कहा है. अथवा जीवात्मा को क्योंकि जीवको ऐसा वर्णन किया है **स हि चक्षुषा रूपं पश्यन् चक्षुषि सन्निहितो भवति** अर्थ–(सः हि) वह (चक्षुषा) नेत्रसे (रूपं) रूपको (पश्यन्) देखताहुआ (चक्षुषि) नेत्रमें (सन्निहितः) स्थित (भवति) होता है अथवा नेत्र के अनुग्राहक सूर्य्यपुरुष को, जिसको यह वर्णन किया है **रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः** अर्थ–(रश्मिभिः) किरणों से (एषः) यह अर्थात्

---

१ अन्तरे उपपत्ति का सन्धि होने व यकारलोप होनेपर अन्तरउपपत्ति होता है व अन्तरः उपपत्ति का भी सन्धि व यका लोप होनेपर अन्तर उपपत्ति होता है व उपपत्ति शब्द में पंचमी विभक्ति करने से उपपत्तेः होता है दो प्रकार से ज्ञात होने से दोप्रकार का अर्थ लिखागया है ।

सूर्य्ये (अस्मिन्) इसमें नेत्रमें (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित है वा ब्रह्मको, क्योंकि अमृत है इत्यादि कहनेसे ब्रह्मको कहना भी संभव है परन्तु स्थानविशेष का निर्देश सर्वव्यापक ब्रह्म के लिये युक्त नहीं है इस संशयनिवारण के लिये अन्तर में संभव होने से यह कहा है अर्थात् नेत्रके मध्य में पुरुष परमेश्वरही है किस प्रमाण से संभव होने से वा सिद्ध होने से अर्थात् यह अमृत है अभय है ब्रह्म है ऐसा कहनेसे परमात्मा ब्रह्म का होना संभव वा सिद्ध होता है क्योंकि अन्य का शरीरधारी होने से व स्वतंत्र न होने से अमृत अभय होना संभव नहीं है और ब्रह्म शब्द स्पष्ट कहनेसे अन्यका होना सिद्ध नहीं होता और जैसे अन्य श्रुति वा मंत्रमें ब्रह्मको सब दोषों से रहित (अपहतपाप्मा) पापरहित आदि विशेषणों से वर्णन किया है ऐसेही घृत वा जलको सींचते हैं तो वह पलकोंही को प्राप्त होता है नेत्र के साथ उसका सम्बंध नहीं होता इस कथनसे अक्षिस्थ (नेत्रमें स्थित) पुरुष को निर्लिप्त अर्थात् दोषरहित कहा है और अक्षिस्थ पुरुष को फिर अगले वाक्यों में ऐसा वर्णन किया है **एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एत ँ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति, एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति** इत्यादि अर्थ–(एत ँ संयद्वामः) इसको उक्त नेत्रस्थ पुरुषको संयद्वाम (इति आचक्षते) यह कहते हैं अर्थात् इस नामसे कहते हैं क्यों संयद्वाम कहते हैं (हि) जिससे (सर्वाणि) सब (वामानि) शोभन अर्थात् उत्तम पदार्थ वा उत्तम धर्मवाले (एत ँ) इसको (अभिसंयन्ति) प्राप्त होते हैं, (एषः उ एव) यही (वामनीः[1]) पुण्यकर्मफल का प्रापकरनेवाला है क्योंकि (एषः हि) यही (सर्वाणि) सब (वामानि) पुण्यकर्मफलोंको प्राणियों के लिये (नयति) प्राप्त करता है, (एषः उ एव) यही (भामनीः[2]) प्रकाशको प्राप्त करनेवाला है क्योंकि (एषः हि) यही निश्चयसे(सर्वेषु लोकेषु) सब लोकोंमें (भाति) प्रकाशित वा प्रकाशवान् होताहै इत्यादि यह सब वर्णन ब्रह्मसे भिन्न अन्यमें संभव नहीं होसक्ता ब्रह्महीमें संभव होने से नेत्रमें स्थित अथवा सर्वव्यापक होने से नेत्रमें प्राप्त मध्यप्रदेशस्वरूप परमेश्वरही को वर्णन किया है यह मानना युक्त है स्थानविशेष कहने में जो संशय है इसका उत्तर अगले सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

अनु०–और स्थानआदि के कहनेसे ॥ १४ ॥

भाष्य–आकाशके समान व्यापक ब्रह्मको अल्पस्थान नेत्र में कहना कैसे युक्त

१ वामं शोभनं पुण्यकर्मफलं पुण्यानुरूपं प्राणिभ्यो नयति इति वामनीः ।
२ भामानि प्रकाशानि नयति प्रापयतीति भामनीः ।

होसक्ता है इस संदेहनिवारण के लिये यह कहा कि, और स्थानआदिके कहनेसे इसका अभिप्राय है कि, जो नेत्रही मात्र स्थान कहा जाता अन्य स्थान न कहे-जाते तो संशय होना यथार्थ था परन्तु अन्य मंत्रोंमें स्थानआदि अर्थात् स्थान नाम रूप ब्रह्मके वर्णन कियेगये हैं यथा **यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद** अर्थ–(यः) जो(पृथिव्यां) पृथिवीमें (तिष्ठन्) रहता हुआ (पृथिव्याः) पृथिवीका (अन्तरः) अन्तरदेश अर्थात् पृथिवीके मध्यदेशमें स्थित पृथिवीका अन्तर्यामी है (यं) जिसको (पृथिवी न वेद) पृथिवी नहीं जानती है इत्यादि तथा **यः चक्षुषि तिष्ठन् चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद** अर्थ– (यः)जो(चक्षुषि) नेत्रमें (तिष्ठन्) स्थित होतेहुये (चक्षुषः) नेत्रका (अन्तरः) अंतर्यामी है (यं) जिसको (चक्षुः न वेद) नेत्र नहीं जानता है इत्यादि वाक्यों में जैसे कहा है ऐसेही इसमें भी नेत्रमें पुरुष ब्रह्मको वर्णन किया है तथा स्थानके समान नाम-रूप भी जो ब्रह्ममें कहना अनुचित विदित होते हैं वर्णनकिये गये हैं यथा **तस्योदिति नाम** अर्थ–उसका उत् ऐसा नाम है **य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः** अर्थ–जो यह अन्तर (भीतर) सूर्य्यमें हिरण्मय अर्थात् प्रकाशस्वरूप है इत्यादि स्थान आदि कहने से नेत्रस्थ पुरुष ब्रह्मही वर्णन कियागया है यह स्वीकार करना चाहिये स्थानविशेष कहनेका प्रयोजन यह मानना चाहिये कि, सर्व व्यापक रूपआदिगुणरहित ब्रह्मका भी प्रथम अज्ञानियों का एकदेशमें चित्त लगाकर चित्त स्थिर करने से उपासनाक्रम सरल होनेके लिये रूपआदि गुणसहित व स्थानविशेष में वर्णन किया है परन्तु उपास्य सबमें केवल ब्रह्मही को कहा है इससे नेत्रस्थपुरुष ब्रह्मही है ॥ १४ ॥

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अनु०–और सुखविशिष्ट कहनेहीसे (ब्रह्म है यह सिद्ध होता है यह शेष है) ॥ १५ ॥

भाष्य–सुखविशिष्ट कहने ही से ब्रह्मका होना सिद्ध होता है तात्पर्य इसका यह है कि, यह विवाद वा संशय न करना चाहिये कि,इस वाक्यमें नेत्रस्थ पुरुष ब्रह्म कहा गया है वा नहीं सुखविशिष्ट कहनेही से ब्रह्मका होना सिद्ध है वा सिद्ध होता है सुखविशिष्ट कहने का आशय यह है कि, छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकरण के आरंभ में जिस में नेत्रमें पुरुष के होनेका वर्णन है प्रथम अग्निदेवता-ओंने उपकोसलको यह उपदेश किया है कि, **प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म**

१, २ ये बृहदारण्यक उपनिषद् के मंत्रवाक्य हैं।

३ व४ये छान्दोग्य के मंत्रवाक्यों के प्रतीक हैं।

अर्थ-प्राण ब्रह्म है (कं) सुखे ब्रह्म है अर्थात् सुखविशिष्ट ब्रह्म है (खं) आकाश ब्रह्म है अर्थात् आकाश के समान व्यापक ब्रह्म है जो आरंभ में ऐसा कहागया है वही यहां इस वाक्य में कहागया है क्योंकि प्रकृतही का अर्थात् जिसका प्रसंग है वा जिसका प्रकरण से प्रसङ्ग प्राप्त है उसीका ग्रहण उचित व युक्त होता है इसमें यह संशय होसक्ता है कि, सुख ब्रह्म है आकाश ब्रह्म है ऐसा उपदेश किया है इससे सुख व आकाश ही को ब्रह्म कहना ज्ञात होता है सुखविशिष्ट व आकाश के समान व्यापक कोई ब्रह्म अन्य होना कैसे निश्चित होसक्ता है इसका उत्तर यह है कि, जब अग्नियोंने यह उपदेशकिया कि, प्राण ब्रह्म है कं (सुख) ब्रह्म है खं (आकाश) ब्रह्म है तब उपकोसल ने सुनकर यह कहा कि, जो प्राण ब्रह्म है उसको मैं जानता हूँ परन्तु कं व खं को नहीं जानता तब अग्नियोंने यह वर्णन किया है **यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति** अर्थ- (यत् वाव)जो ही कं(सुख) है तदेव (वही) खं (आकाश) है (यत् एव) जो ही खं है वही कं है अर्थात् जो सुखब्रह्म है वही आकाश ब्रह्म है जो आकाश ब्रह्म है वही सुख ब्रह्म है इस प्रकारसे कहने से विषय व इन्द्रियोंसे उत्पन्न सुख व भूतआकाश होनेके संदेहको निवृत्त किया है क्योंकि जो विषय व इन्द्रियों से उत्पन्न सुख है वह आकाश के समान व्यापक नहीं होसक्ता इससे वही आकाश है यह कहनेसे यह विदित होता है कि, वैषयिक सुखको नहीं कहा तथा जो भूतआकाश जड है उसमें सुख नहीं होसक्ता अर्थात् वह सुर्खविशिष्ट नहीं होसक्ता इससे सुख के साथ विशेषित होनेसे भूत आकाशको नहीं कहा यह निश्चित होता है इन दोनों से पृथक् आकाशके समान व्यापक व सुखरूप ब्रह्म का उपदेश किया है यह सिद्ध होता है प्राणआदि शब्दोंसे केवल प्रतीकसे उपासना करनेके लिये वर्णन किया है जो यह संशय हो कि, अग्नियों के उपदेशका वर्णन छान्दोग्यमें इसप्रकारसे है कि, उपकोसल ब्रह्मचारीने बारह वर्षतक जाबाल आचार्यके गृहमें रहकर आचार्यकी अग्नियों का सेवन किया आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियों को तो वेदान्त वा ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके समावर्तन किया अर्थात् ज्ञानउपदेशके पश्चात् गृहस्थ-आश्रममें प्राप्त होनेके लिये आज्ञा दिया उपकोसल को विना उपदेश व समावर्तन किये देशान्तर को चलेगये तब उपकोसल को अति खेद हुआ उपकोसल को दुःखित देखकर अग्नियों के हृदयमें दया उत्पन्नहुई दयासे अग्नियोंने अर्थात् गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि व आहवनीय यज्ञमें विहित इन तीन अग्नियोंने अर्थात् इन तीन अग्नियोंमें अभिमानी वा इनमें रहनेवाले देवताओंने जो अग्निनामसे कहेजाते हैं उपकोसलको अग्निविद्याका उपदेश किया और प्राण ब्रह्म है कं ब्रह्म है इत्यादि वर्णन

---

१ सुखविशिष्ट होने से अतिसुखरूप मान के गुण व गुणी अर्थात् सुख व सुखीका अभेदान्वितभाव ग्रहण करके सुख ब्रह्म है ऐसा कहा है । २ यहां आकाशके साथ व्यापक होने के साधर्म्य से गौण वा औपचारिक अर्थ से आकाशके समान कहने को आकाश है ऐसा कहा है ।

से ब्रह्मविद्याका उपदेश करके यह कहाहै कि, हमने अपनी विद्या (अग्नि-विद्या) व आत्मविद्याका उपदेश किया और यह कहकर कि, आचार्य तुमसे ब्रह्मज्ञानीकी जो गति होती है उसको कहेंगे । जब आचार्य जाबाल आये तब उन्होंने यह उपदेश किया है कि, जो यह नेत्रमें पुरुष देखा जाता है इत्यादि इससे गतिको आचार्य कहेगा अग्नियों के यह कहनेसे अर्थात् गतिमात्रका वक्ता आचार्यका होना कहने से, आचार्यके उपदेश में किसप्रकारसे पूर्वही आरंभ में वर्णित ब्रह्मका उपदेश जानाजाता है वा ग्रहण कियाजाता है इसका उत्तर यह है कि, सगुण ब्रह्मके उपासक ब्रह्मज्ञानीके ब्रह्मलोक में जानेका जो अर्चिरादिमार्ग है उसका वर्णन जो शेष (बाकी) रह गयाथा उसका वर्णन आचार्य करेगा यह कहने से किसी अन्यअर्थ के लिये कहना सिद्ध नहीं होता आत्मविद्याही अर्थात् ब्रह्मविद्याही के उपदेश का अंश जिसका वर्णन किया जाना योग्य था उसके लिये आचार्यसे कहेजाने को कहा है और जब आचार्य आये तब अग्नियों के उपदेशको यह कहकर कि, अग्नियोंने यथोचित उपदेश नहीं किया यह कहा है कि, मैं तुमसे जिस ब्रह्मके जानने की तुम इच्छा करते हो उसको कहूँगा वह ब्रह्म कैसा है यह जनाने के लिये उसके माहात्म्यमें प्रथम यह कहा है **यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते** अर्थ-(यथा) जैसे (पुष्करपलाशे) कमलपत्रमें (आपः) जल (न श्लिष्यन्ते) नहीं मिलते अर्थात् नहीं ठहरते (एवं) ऐसेही (एवंविदि) ऐसाही सब कर्मों से निर्लिप्त ब्रह्मके जाननेवाले में (पापं कर्म) पापकर्म (न श्लिष्यते) नहीं छू जाता अर्थात् पापकर्म का सम्बंध नहीं होता यह सुनकर उपकोसल ने प्रार्थना किया कि, हे भगवन् ! उसको वर्णन कीजिये तब आचार्यने वर्णन करना आरंभ किया है यह कहा है कि, जो यह नेत्रमें (नेत्रस्थ) पुरुष देखा जाता है इत्यादि, इसप्रकार के वाक्यों से ब्रह्म को वर्णन करनेके पश्चात् ब्रह्मज्ञानी की गतिको वर्णन किया है इससे और प्रथम आचार्यकी ऐसी प्रतिज्ञासे कि, जिसके जाननेवाले में पापकर्मका कमलपत्र में जल के समान मेल नहीं होता उसको वर्णन करेंगे प्रकृतही ब्रह्मको नेत्रस्थ पुरुष व संयद्वाम नाम से वर्णन किया है और उसके अनन्तर ब्रह्मज्ञानी की अर्चिरादि गति वर्णन किया है यह सिद्ध होता है क्योंकि ब्रह्म के जाननेवाले से भिन्न अन्य के जाननेवालेका ऐसा माहात्म्य नहीं होसक्ता ॥ १५ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

अनु०-श्रुतोपनिषत्क की (सुनीगई उपनिषद् अर्थात् ब्रह्म-

---

१ श्रुताऽनुष्ठिता उपनिषद् अर्थात् वेदरहस्यं ब्रह्मोपासनं येन सः श्रुतोपनिषत्कः तस्य या गतिः श्रुतौ प्रसिद्धा सा श्रुतोपनिषत्कगतिः तस्याः अभिधानं श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानं तस्मात् श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात् ।

विद्या जिससे उसकी अर्थात् ब्रह्मविद्या सुननेसे ब्रह्मज्ञान को प्राप्त ज्ञानी की) गति के कहने से भी ॥ १६ ॥

भाष्य–उपनिषद् में उपदेश कियेगये ब्रह्म के जाननेवाले की गति कहने से भी अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वरही है यह सूत्रका पूरा वाक्यार्थ है नेत्र के अन्तर में ब्रह्म सिद्ध होता है यह अनुवृत्ति पूर्व सम्बंध से आनेसे वाक्य पूरा होता है । इस सूत्रका अर्थ इसप्रकार से भी वर्णन करते हैं और यह अर्थ युक्त है कि, उपनिषद् जो ब्रह्मोपासन है वह अनुष्ठान किया गया जिससे उसको श्रुतोपनिषत्क कहते हैं उसकी अर्थात् ब्रह्मोपासक की गति कहनेसे अक्षिस्थ पुरुष ब्रह्मही है इसका आशय यह है कि, ब्रह्मविद् की (ब्रह्मके जाननेवालेकी) जो गति देवयान नामसे श्रुति में प्रसिद्ध है वही अक्षिस्थ पुरुष की उपासनामें उपासक की अक्षिस्थ पुरुषको वर्णन करनेके पश्चात् छान्दोग्य में वर्णन किया है गतिवर्णक वाक्य यह है **अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदुच नार्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाँस्तान्मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स तान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते** अर्थ–(अथ) अब अर्थात् अब उपास्य वर्णन करनेके-पश्चात् उपास्य के जाननेवाले की गतिको वर्णन कीजाती है कि, (यत् उच) चाहे (अस्मिन्) इसमें अर्थात् इस उपासक के मरणे में मृतकदेहमें (शव्यं) मृतककर्म (कुर्वन्ति) करते हैं अर्थात् पुत्रआदि करते हैं (यदुच न) चाहै नहीं करते हैं अर्थात् करैं चाहे न करैं करने व न करनेसे ब्रह्मज्ञानी को हानि वा लाभ कुछ नहीं होता विना मृतककर्म किये जाने के ज्ञानी जन मरणे-पर (अर्चिषम् एव) ज्योतिको अर्थात् तेजही को तेजअभिमानिनी देवताहीको (अभिसम्भवन्ति) प्राप्त होतेहैं (अर्चिषः अहः) तेजसे दिनको अर्थात् दिन-अभिमानिनी देवता को (अह्नः आपूर्य्यमाणपक्षम्) दिनोंसे पूरा हुआ शुक्लपक्षको अर्थात् शुक्लपक्षअभिमानिनी देवता को (आपूर्य्यमाणपक्षात्) पक्षोंसे पूरे हुये (यान् षड्उदङ् इति मासान् तान्) जो उत्तरायण के छः महीने हैं उनको अर्थात् उत्तरायण अभिमानिनी देवता को (मासेभ्यः संवत्सरँ) महीनों से संवत्सरको अर्थात् संवत्सरअभिमानिनी देवताको (संवत्सरात् आदित्यम्) संवत्सर से सूर्य्य को अर्थात् सूर्य्यलोक को (आदित्यात् चन्द्रमसम्)

१ श्रुत शब्द का अर्थ इस सूत्र में अनुष्ठान कियागया, यह वर्णन कियागया है, यद्यपि श्रुत शब्द का अर्थ सुनेगयेका है परन्तु धातुओंका अनेक अर्थ होता है इससे और सूत्रकार का आशयभी अनुष्ठान अर्थका अनुमित होनेसे क्योंकि सुनने मात्र से ब्रह्मलोक की गति श्रोता को नहीं होसक्ती अनुष्ठान किये गये का अर्थ ग्राह्य है ।

सूर्य्य से चन्द्रमा को(चन्द्रमसः विद्युतम्)चन्द्रमासे विद्युत्लोक को प्राप्त होते हैं(तत् अर्थात् ततः)वहाँसे विद्युत्लोकसे उसमें प्राप्तहुये उपासकोंके पास (पुरुषः अमानवः) मनुकी सृष्टिमें उत्पन्न नहीं अर्थात् मनुष्यसे विलक्षण ऐसा कोई पुरुष जो है (सः) वह अर्थात् ब्रह्मलोक से ऐसा पुरुष आकर वह (एतान्) इनको ब्रह्मउपासकों को (ब्रह्म गमयति) ब्रह्मको अर्थात् सत्यलोकस्थ ब्रह्मको प्राप्तकरता है (एषः देवपथः ब्रह्मपथः) यह देवमार्ग व ब्रह्ममार्ग है अर्थात् तेज वा अग्निआदि देवताओं के यहाँसे जानेसे देवमार्ग है और प्राप्त होने योग्य ब्रह्मसे उपलक्षित है इससे अर्थात् इस मार्गसे ब्रह्म प्राप्य कहनेसे ब्रह्ममार्ग है (एतेन) इस अमानवपुरुषसे (प्रतिपद्यमानाः) ब्रह्मको प्राप्तहुये (इमं) इस (मानवम् आवर्त्तम्) मनुकी सृष्टिलक्षण युक्त बारंबार जन्ममरणरूप प्रबंधको (न आवर्त्तन्ते) फिर नहीं प्राप्त होते अक्षिस्थपुरुष के उपासक ऐसी गति वर्णन करनेसे व अन्यके उपासन से ब्रह्मकी प्राप्तिरूप ऐसी गति होना संभव न होनेसे अक्षिस्थपुरुष ब्रह्महो वर्णन कियागया है यह सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

अनु०—अवस्थिति (स्थिति) न होनेसे व संभव न होनेसे इतर (अन्य) नहीं है ॥ १७ ॥

भाष्य-छायात्मा, जीवात्मा व देवतात्मा की नित्य अवस्थिति न होने से और जो गुण अक्षिस्थ पुरुष के अमृत अभय होना कहा है वह उनमें संभव न होनेसे इतर जो ब्रह्मसे भिन्न छायात्मा आदि है उनमें से कोई अक्षिस्थ (नेत्रमें स्थित)उपास्य पुरुष नहीं है अर्थात् उपास्य नहीं कहागया इसका स्पष्ट व्याख्यान यह है कि,जो छायात्मा माना जावै तो छायात्मा नेत्र में नित्यअवस्थित नहीं रहता जब कोई अन्य पुरुष नेत्र से देखाजाताहै व नेत्र के समीप प्राप्त होता है तब नेत्र में पुरुष की छाया प्रत्यक्ष होतीहै (देखपड़तीहै) जब वह चलाजाता है तब नहीं रहती श्रुतिमें नेत्रमें स्थित पुरुषको अमृत अभय व उपास्य वर्णन किया है इससे और उपासना के समय में छायाकार कोई पुरुष नेत्र में स्थापित करके उपासन करने की कल्पना करना युक्त न होने से, ऐसा मानने योग्य नहींहै व नेत्रों के नाश होने में छाया पुरुष वा कोई पुरुष आकार जो नेत्रस्थ माना जावै उसका नाश होजाता है उसका अमृत अभय होना संभव नहीं है इससे आकृति रूपवान् वा छायारूप नेत्रस्थ पुरुष उपास्य नहीं है तथा जीवात्मा नहींहै क्योंकि जीवात्मा नेत्रमें अवस्थित नहींहै सम्पूर्ण शरीर व इन्द्रियोंमें उसका सम्बंध है और यद्यपि जीवात्मा अमर हैं तथापि शरीर धारण करने से अर्थात् कर्मानुसार उसका शरीर के साथ संयोग व वियोगरूप जन्म व मरण होने से नित्य एकरस नहीं है इससे अमृत नहीं है और कर्मफलभोग व भोगक्षय आदि भय है इससे

जीवका भी अमृत अभय होना संभव न होने से जीवात्मा नहीं है तथा चक्षु में स्थित न होने व केवल रश्मिमात्रसे सूर्य्यका नेत्रों के साथ सम्बंध होनेसे जैसा कि, श्रुतिमें कहा है **रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः** अर्थ– यह (सूर्य) ज्योतियों वा किरणों से इसमें (नेत्रमें) स्थित है और उत्पन्न व नाशवान् होने से सूर्य्य देवतात्मा नहीं है इन हेतुओं से परमेश्वरही अक्षिस्थान में उपास्य कहागया है यह सिद्धान्त है ॥ १७ ॥

प्रधान व जीव से भिन्न ब्रह्मही अन्तर्यामी आदि शब्दों से वाच्य होने में सूत्र १८ से २० अधि० ५ ।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

अनु०–अधिदेव आदिकों में ब्रह्म अन्तर्यामी है उसके धर्म कहने से ॥ १८ ॥

भाष्य–ब्रह्मशब्द सूत्रमें शेष है इससे ब्रह्मशब्द सहित अनुवादमें अधिदेव आदिकों में ब्रह्म अन्तर्यामी है उसके धर्म कहने से ऐसा लिखागया है आशय इसका यह है कि, बृहदारण्यक उपनिषद्में जो अधिदेवता आदि में अन्तर्यामी होना वर्णन किया है उनमें अन्तर्यामी ब्रह्मही है अर्थात् ब्रह्मही अन्तर्यामी कहागया है किस हेतु वा प्रमाणसे यह सिद्ध होता है उसके अर्थात् ब्रह्मके धर्म कहनेसे.अब इसका विशेष व्याख्यान यह है कि, बृहदारण्यक में ऐसा वर्णन किया है **य इमञ्च लोकं परञ्च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति** अर्थ–(यः) जो (इमं च लोकं) इस लोक को (परं च लोकं) और परलोकको (सर्वाणि च भूतानि) और सब भूतोंको (अन्तरः अर्थात अन्तरः सन्) भीतर स्थित हुवा वा होके (यमयति) नियमवान् वा नियमित करता है फलितार्थ नियममें रखताहै अर्थात् दारुयन्त्रके समान अपने अधीन रखकर सबको नियत व्यापारमें भ्रमाताहै अर्थात् उनसे अपने २ नियत व्यापार कराता है यह प्रारंभ में कहकर फिर यह कहा है **यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः इत्यादि** अर्थ–(यः) जो (पृथिव्यां) पृथिवीमें

---

१ नियमवन्तं करोतीति नियमयति नामधातु से अर्थात् नियमवत् नाम में क्यच् प्रत्यय लाके धातुकरने से और 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च' इस वार्तिक से णिच् प्रत्यय इष्ठन् प्रत्यय के तुल्य होनेसे व 'विन्मतोर्लुक्' इस सूत्रमें मतुप् अर्थात् वत् का लोप होजाने से नियमयति ऐसा प्रयोग करनेसे नियमवान् करता है यह अर्थ होता है अथवा यम धातु के अकर्मक होनेसे प्रयोज्य करता पृथिवी के कर्म होनेसे पृथिवी को नियमित करता है ऐसा अर्थ ग्रहण के योग्य है ।

(तिष्ठन्) रहताहुआ (पृथिव्याः अन्तरः) पृथिवी से भिन्न है (यं) जिसको (पृथिवी) पृथिवी अर्थात् पृथिवीका अभिमानी देवता (न वेद) नहीं जानता है (यस्य) जिसका (पृथिवी शरीरं) पृथिवी शरीर है (यः) जो (अन्तरः अर्थात् अन्तरः सन्) अन्तर होके अर्थात् मध्यमें स्थित होके वा होताहुआ (पृथिवीं) पृथिवीको अर्थात् पृथिवीअभिमानी देवता को (यमयति) नियम में रखता है (एषः) यह (अन्तर्यामी अमृतः) अन्तर्यामी अमृत अर्थात् मृत्युरहित वा मोक्षसुखरूप (ते आत्मा) तेरा आत्मा है । अब यह निश्चय होना चाहिये कि, जिस आत्मा को ऐसा वर्णन किया है वह कौ है कोई देवता है वा कोई अणिमादिक ऐश्वर्य को प्राप्त योगी है वा परमात्मा है वा कोई अन्य है कार्य कारणवान् होने से पृथिवी आदिका अभिमानी किसी देवताको अथवा सब में प्रवेश करने की शक्ति होने से किसी योगी सिद्ध का नियमकरनेवाला होना संभव है कार्य कारणरहित होनेसे परमात्मा के होने की प्रतीति नहीं होती इसका उत्तर यह है कि, जो अन्तर्य्यामी अधिदैव आदि में सुनाजाता है वह परमात्माही है अन्य नहीं होसक्ता क्यों नहीं होसक्ता उसके धर्म कहनेसे अर्थात् परमात्मा के धर्म कहनेसे वह यह है कि, यह लोक परलोक व सब प्राणियों व पृथिवी के अन्तर में नियन्ता होनेका धर्म कहनेसे सबके कारण होनेसे सर्वशक्तिमान् व सर्वव्यापक सबमें प्राप्त परमात्माही सिद्ध होता है और यह वह आत्मा अन्तर्यामी अमृत है यह कहना अन्तर्यामी आत्मा अमृत होना आत्माही का अर्थात् परमात्माही का संभव है जिसको पृथिवी नहीं जानती अर्थात् जिसको पृथिवी का अभिमानी देवता नहीं जानता यह कहने से देवतात्मा से अन्तर्यामी भिन्न है और पृथिवीके समान क्रमसे जल आदि सब भूतोंको चक्षुआदि सब इन्द्रियोंको सूर्य चन्द्र आदि लोकों को तथा प्राण व विज्ञानको सबको पृथक् २ यह कहा है कि, जिसका जल शरीर है जिसको जल नहीं जानता इत्यादि वह अभय अमृत तेरा आत्मा है जो जिसको नहीं जानता है वह उससे भिन्न होना सिद्ध है इससे सबमें प्राप्त सर्वव्यापक सबसे उत्कृष्ट सबका नियन्ता परमात्मा ही अन्तर्यामी है यह ग्राह्य है ॥ १८ ॥

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

अनु०–जो धर्म उसमें नहीं है उनके वर्णनसे स्मार्त नहीं है ॥ १९ ॥

भाष्य–स्मृतिमें जो प्रतिपादन किया गया है वह स्मार्त है अर्थात् साङ्ख्य स्मृतिमें कल्पनाकियागया प्रधान स्मार्त है उसके अन्तर्यामी होनेके निषेध कर-नेके लिये यह कहाहै कि, जो धर्म उसमें (स्मार्तप्रधानमें) नहीं हैं उनके वर्णनसे स्मार्त नहीं है आशय इसका यह है कि, जो यह कहाजावे कि, अदृश्य होने रूप-

आदिसे रहित होने व सब के कारण होनेसे प्रधानका अन्तर्यामी (अन्तरमें नियन्ता) होना संभव है तो यह कहना युक्त नहीं है क्यों नहीं है जो धर्म उसमें (प्रधानमें) नहीं हैं उनके वर्णनसे अर्थात् प्रधान अचेतन है अन्तर्यामी को चेतन द्रष्टा होना आदि धर्मों संयुक्त वर्णन किया है अर्थात् यह कहा है **अन्तर्याम्यमृतोऽदृष्टोद्रष्टाऽश्रुतःश्रोताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता इत्यादि** अर्थ-(अन्तर्यामी अमृतः) अन्तर्यामी अमृत (मृत्युरहित वा मोक्ष सुखरूप) है (अदृष्टः द्रष्टा) दृष्ट नहीं है अर्थात् नेत्रइन्द्रियविषय न होनेसे प्रत्यक्ष नहीं है परन्तु आप द्रष्टा अर्थात् सबको देखनेवाला वा जाननेवाला है(अश्रुतः श्रोता) श्रुत नहीं है अर्थात् श्रवण इन्द्रियका विषय नहीं है व श्रोता है सब शब्दोंका सुननेवाला है (अविज्ञातः विज्ञाता) अविज्ञात है अर्थात् वह जाना नहीं जाता और वह विज्ञाता (सब को जाननेवाला) है (न अतः अन्यः द्रष्टा अस्ति) अन्य अर्थात् उससे भिन्न दूसरा कोई द्रष्टा नहीं है(न अतः अन्यः श्रोताऽस्ति)उससे न अन्य कोई श्रोता है इत्यादि इसप्रकारसे द्रष्टा होना आदि धर्म जो चेतन में होसके हैं प्रधानमें नहीं हैं उनको अन्तर्यामीमें वर्णन किया है इससे यद्यपि प्रधान अदृष्ट है कारण है यह धर्म संभव होते हैं तथापि अन्तर्यामी नहीं है चेतन ब्रह्महो को अन्तर्यामी कहाहै यह सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

अनु०—शारीर (जीव) भी जिससे कि, दोनों इसको भेदसहित वर्णन करते हैं ॥ २० ॥

भाष्य--शारीर भी अर्थात् शारीर भी नहीं है नहीं शब्द पूर्वसूत्र से ग्रहण किया जाता है अर्थात् पूर्वसूत्रसे नहीं शब्द की अनुवृत्ति होती है आशय यह है कि, शारीर (शरीरवान्) जीवभी अन्तर्यामी नहीं है किस हेतुसे नहीं है जिससे कि; दोनों शाखावाले अर्थात् काण्व व माध्यन्दिन इसको नाम शारीर को अन्तर्यामी से भेदसहित वर्णन करते हैं **यथा यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद इत्यादि** अर्थ-(यः) जो (विज्ञाने[1]) विज्ञान में अर्थात् जीवमें (तिष्ठन्) रहता हुआ (विज्ञानात्) जीवसे (अन्तरः[2]) भिन्न वा बाह्य

---

[1] विज्ञान शब्द इस श्रुतिमें जीववाचक है क्योंकि 'विज्ञानमयो हि शारीरः' ऐसा अन्य श्रुतिमें कहाहै ।

[2] अन्तर शब्द यहां भिन्न वा बाह्यअर्थ का वाचक है भिन्न अर्थही वाचक होनेसे पंचमी विभक्ति का प्रयोग है जो पृथिव्या अन्तरः आदिके अर्थमें अन्तर शब्द का अर्थ अभ्यन्तरका ग्रहण करते हैं वह ठीक नहीं है व्याकरण व अर्थ दोनोंप्रकारसे अशुद्ध है पृथिव्यां अर्थ पृथिवीमें इतनाही कहनेसे फिर अभ्यन्तर कहने की आवश्यकता नहींहै भिन्न कहनेसे *आशय यह है कि, पृथिवी आदि में भी है और उनसे भिन्न भी है यथा आकाश सर्वव्यापक* घटमें भी रहता है और उससे भिन्न बाहर भी है ।

है (यं) जिसको (विज्ञानं) जीव (न वेद) नहीं जानता है इत्यादि ऐसा काण्व कहते हैं और माध्यन्दिनोंका ऐसा वाक्य है **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद इत्यादि** अर्थ- (यः) जो (आत्मनि तिष्ठन्) जीवात्मामें स्थितहुआ (आत्मनः अन्तरः) जीवात्मासे भिन्न है (यं) जिसको (आत्मा) जीव (न वेद) नहीं जानता है इत्यादि ऐसे वर्णनसे यह स्पष्ट विदित होता है कि, जो रहता है वह जिसमें रहता है उससे पृथक् है जो नहीं जानता और जिसको वह नहीं जानता वे दो पृथक् पदार्थ हैं इस प्रकारसे भेदसहित उक्त दोनों शाखावालों के कहनेसे शारीर अर्थात् जीव भी अन्तर्यामी नहीं है सब भूत व भौतिक पदार्थोंका अन्तर्यामी तथा जीवका अन्तर्यामी परमात्मा है यह सिद्ध होता है ॥ २० ॥

प्रधान व जीवको निषेधकरके ईश्वरहीका भूतोंका योनि (कारण) होनेके वर्णन में सू० २१ से २३ अधि० ६ ।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

अनु०-अदृश्यहोनाआदिगुणवाला है धर्मके कहनेसे ॥२१॥

भाष्य-इसका व्याख्यान यह है कि, मुण्डकउपनिषद्में दोप्रकार की विद्या वर्णन करने में कर्मविद्यारूप ऋग्वेदआदि को अपरा विद्या कहकर द्वितीय परा ब्रह्मविद्याको यह कहा है **परा यया तदक्षरमधिगम्यते** अर्थ--(परा) परा विद्या वह है(यया)जिससे(तत्)वह परोक्ष(अक्षरम्)अक्षर अर्थात् अविनाशी (अधिगम्यते)प्राप्त होताहै वा जानाजाताहै इस कहनेके पश्चात् वह अक्षर कैसा है यह जनानेके लिये यह वर्णन कियाहै **यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः** अर्थ-(यत् तत्) जो वह कहने योग्य अर्थात् जो वह इन्ही शब्दोंसे जो परोक्ष कहने योग्य है कोई उसको प्रत्यक्ष नहीं देखसक्ता (अद्रेश्यं) देखने वा जानने योग्य नहीं अर्थात् जो ज्ञानइन्द्रियोंसे जानने योग्य नहीं है (अग्राह्यं) ग्रहण के योग्य नहीं अर्थात् कर्मइन्द्रियोंसे ग्रहण वा प्राप्त नहीं कियाजासक्ता (अगोत्रम्) गोत्र अर्थात् कुलरहित है (अवर्णम्) वर्ण अर्थात् रूप वा रंगरहित है (अचक्षुःश्रोत्रम्) नेत्र कर्णरहित है (तत्) वह (अपाणिपादं) हाथ पांवरहित है अर्थात् हाथआदि कर्मेन्द्रियों से रहित है (नित्यं) नित्य है (विभुम्) नाना प्रकारके पदार्थों में सत्तारूप से स्थित और सबका स्थापन करनेवाला वा विभु सबका स्वामी (सर्वगतम्) सबमें प्राप्त व्यापक (सुसूक्ष्मम्) अतिसूक्ष्म (तत्) वह (अव्ययम्) नाशरहित (यत् भूतयोनिम्) जो उत्पन्नहुये सब प्राणियों व वस्तुओंका कारण है उसको (धीराः) ध्यान

करनेवाले विद्वान् लोग (परिपश्यन्ति) देखतेहैं अर्थात् आत्मा व मनके संयोग में ध्यानसे साक्षात् करते वा जानते हैं इन श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मका नाम न कहने से यह संशय होता है वा होसक्ता है कि, अदृश्य होनाआदि गुणसंयुक्त सब भूतों का योनि प्रधान है वा जीव वा ब्रह्म है जो यह कहाजाय कि,अक्षर शब्द से ब्रह्म ग्राह्य है तो ऐसेही प्रधानको भी कह सक्ते हैं क्योंकि प्रधानको भी अक्षर कहते हैं जैसा श्रुति में कहाहै **अक्षरात्परतः परः** अर्थ–पर अक्षर से अर्थात् प्रधान वा प्रकृतिसे पर है अर्थात् ब्रह्म पर है इससे अक्षर शब्दसे प्रधानही भूतयोनि माननेयोग्य है जो योनिशब्द निमित्तवाची मानाजाय तो जीवभी भूतजात बालक वत्स आदिके उत्पन्न करनेसे अर्थात् उत्पन्न होनेका निमित्त होनेसे भूतयोनि हो सक्ता है इस संशयके निवारण वा ऐसे पूर्वपक्षके उत्तरके लिये यह कहाहै कि, श्रुतिमें अदृश्य होनाआदि गुणवाला ब्रह्मही है अर्थात् ब्रह्मही कथित है वा समझना चाहिये. ब्रह्मशब्द सूत्रमें शेष है प्रकरणसे पूर्व सम्बंधसे ग्रहण कियाजाता है किस हेतुसे ब्रह्म है यह विदित होता है वा ग्राह्य है धर्मके कहनेसे अर्थात् ब्रह्मके धर्म कहनेसे अर्थात् इसी प्रकरणमें अन्तमें **यः सर्वज्ञः** अर्थ–सबका जाननेवाला है इत्यादि विशेषण जो सबकी उत्पत्तिका कारण है उसका वर्णन कियाहै इससे ब्रह्महीका कारण होना सिद्ध होताहै क्योंकि प्रधान जडका न सर्वज्ञ होना संभव है और न अचेतन होनेसे स्वयं कुछ करनेमें समर्थ है तथा अविद्यासंयुक्त परिच्छिन्न ज्ञानवाला होनेसे शरीर सर्वज्ञ नहीं होसक्ता और विना सर्वज्ञ चेतन हुये सब भूतोंका योनि होनेका समर्थ नहीं होसक्ता इससे परमेश्वर ब्रह्मही भूतयोनि है. सर्वज्ञ होनाआदि जिसमें कहा है वह श्रुति यह है **यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नञ्च जायते** अर्थ–(यः सर्वज्ञः) जो सबका जाननेवाला है अर्थात् सबको यथार्थरूप जानता है कोई पदार्थ उसके जानने से बाकी नहीं रहता (सर्ववित्) सबमें अपनी सत्ता से विद्यमान वा सब सृष्टिरचनाके प्रकारों को विचारनेवाला (यस्य) जिसका (ज्ञानमयं) ज्ञानस्वरूप ही (तपः) प्रताप वा प्रकाश है (तस्मात्) उससे अर्थात् ऐसे सर्वज्ञ आदि विशेषणयुक्त परमात्मासे (एतत्) यह अर्थात् यह कार्यरूप प्रत्यक्ष स्थूल जगत् (ब्रह्म) वेद और नामरूप (अन्नम्) औषधियोंका फल अर्थात् वेदमें पृथिवी आदि वस्तुओं के नाम व जगत् में विद्यमान पदार्थोंके रूप व पृथिवी आदि स्थूलरूप में औषधियोंका फल उत्पन्न होता है. अब पूर्वपक्ष यह है कि, इससे प्रधानका निषेध नहीं होता क्योंकि भूतयोनि को कहकर आगे यह वर्णन कियाहै **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्** अर्थ–जैसे ऊर्णनाभिः अर्थात् मकरी स्वभावहीसे जाल उत्पन्न करती व फैलाती है और फिर लय करलेतीहै जैसे पृथिवीमें औषधियाँ उत्पन्न होती हैं जैसे विद्यमान

जीवात्मा के शरीरसे केश लोम उत्पन्न होते हैं ऐसेही अक्षरसे विश्व उत्पन्न होता है इस वर्णन से पृथिवी आदि अचेतनोंका दृष्टान्त में उपादान होने से व अचेतनही से अचेतन स्थूल जगत् कार्यका उत्पन्न होना संभव होनेसे अक्षर शब्द प्रधानही वाचक ग्रहणकरना युक्त है अर्थात् अक्षरसे अर्थात् प्रधानसे विश्व उत्पन्न होता है यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये उत्तर यह है कि, अक्षरशब्द से ब्रह्मही ग्राह्य है प्रधान ग्राह्य नहीं है क्योंकि इसी उपनिषद् में आगे शिष्यको गुरु के उपदेश करने के वर्णन में अक्षरशब्द स्पष्ट परमात्मा पुरुष अर्थात् ब्रह्मवाचक श्रुति में वर्णन किया है श्रुति यह है **येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्** अर्थ–(येन) जिससे अर्थात् जिसप्रकारके ज्ञानसे (अक्षरम्) अक्षर नाम अविनाशी (सत्यम्) सत्य (पुरुषम्) पुरुषको अर्थात् पूर्ण व्याप्त परमात्मा को (वेद) जानता है (ताम्) उसप्रकारकी (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्मविद्याको (तत्त्वतः) यथार्थरूपसे (प्रोवाच अर्थात् प्रब्रूयात्) कहै अर्थात् शिष्यको गुरु उपदेश करै शिष्य व गुरु के वर्णन का पूर्ववाक्य व श्रुतिके पूर्वभागमें सम्बंध है उससे शिष्य शब्द का अर्थ ग्रहण होता है. और जो यह शंका है कि, प्रधान जडही उपादान कारण से अचेतन जगत् कार्य का उत्पन्न होना संभव है यह सत्य है उपादान कारण प्रधानही है परमात्मा केवल निमित्त कारण है परन्तु चेतन पुरुष ब्रह्मही नियम करने व सृष्टिरचना करने व प्रधान के प्रेरण करने में समर्थ है प्रधान अचेतन अपने सामर्थ्य से विना चेतन के संयोग कुछ करने में समर्थ नहीं है इससे परमात्मा की मुख्यता होने से परमात्मा को मुख्यकारण होना कहा है अथवा प्रधान को शक्तिरूप मानके शक्तिमान् ब्रह्म व शक्ति में अभेद भाव ग्रहण करके प्रधान के समान उपचार से कारण होना वर्णन किया है मुख्यअर्थ से ब्रह्म निमित्तही कारण है उपादान नहीं है और श्रुति में जो मकरी से जाल पृथिवी में औषध व पुरुषशरीर से केश उत्पन्न होने का दृष्टान्त वर्णन किया है इन तीन दृष्टान्तों में भी चेतन पुरुष का निमित्त कारण होना व जड उपादानकारण से जालआदि जड कार्य उत्पन्नकरना वर्णन किया है क्योंकि मकरी में जो जीवात्मा है वह जालरूप नहीं बनता वह अपने जड शरीर के नाभिप्रदेश जड उपादान से जड जालकार्य को उत्पन्न करती है ऐसेही चेतन किसान आदि पुरुष बीज बोके जल सींचके पृथिवी में नानाप्रकार के वृक्ष वा औषधियों के उत्पत्तिके कारण होते हैं जीताहुआ पुरुष व अन्न जल भक्षण करता है उसके परमाणु से शरीर अवयव व केशआदि और युवाअवस्था में केशविशेष उत्पन्न होते हैं केशआदि का उपादानकारण शरीरही है आत्मा केशरूप नहीं बनजाता इससे तीनों उक्त दृष्टान्तों से निमित्त कारणही होना व चेतन व अचेतन के संयोगही से सृष्टि उत्पन्न होना सिद्ध होता है. और जैसे मकरी का

मराहुआ शरीर विना चेतन आपसे बाल उत्पन्न नहीं करसका ऐसेही प्रधान अर्थात् प्रकृति नहीं करसकी अपनी इच्छासे परमात्माही प्रधान से सृष्टिकरने में समर्थ है व चेतनपुरुषही कारण होना श्रुतिप्रमाण से सिद्ध है इससे अक्षर शब्द परमात्माकाही वाचक है । अब यह शंका है कि, **अक्षरात् परतः परः** अर्थ-(परतः अक्षरात्) पर अक्षरसे अर्थात् सम्पूर्ण कार्यपदार्थोंसे पर जो अक्षर प्रधान है उससे (परः) पर है इस श्रुति में अक्षर शब्द प्रधानवाचक क्यों कहा है इसका उत्तर अगले सूत्र में कहा जायगा यह प्रथम अक्षर शब्द परमात्मावाचक होने में यह जानना चाहिये कि, मुण्डक उपनिषद्में दो प्रकारकी विद्या वर्णन कीगई हैं एक अपरा दूसरी परा अपरा ऋग्वेदआदि लक्षणरूप कर्मकांड विद्याको कहकर यह कहा है **परा यया तदक्षरमधिगम्यते** अर्थ-परा वह है (यया) जिससे (तदक्षरम्) वह अक्षर (अविनाशी) (अधिगम्यते) प्राप्तहोता है पर विद्या का विषय अक्षर को कहा है. इससे अक्षर शब्दसे ब्रह्मही का ग्रहण होता है जो अन्य की कल्पना कीजावे तो अन्यके ग्रहण करनेमें परा विद्या नहीं होसकी. परा विद्या वह है जिसका फल मोक्ष है केवल परमात्मा के ज्ञान व उपासन से मोक्ष का होना संभव है जड प्रधान आदिके उपासना वा ज्ञानसे संभव नहीं है इससे परा विद्याका विषय प्रधान न होसकने से अक्षरशब्द से वाच्य ब्रह्मही है और अदृश्यत्वआदि गुणवान् सब भूतोंका योनि परमेश्वरही है ॥ २१ ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ॥ २२ ॥

अनु०-विशेषण व भेद कहनेसे दोनों इतर नहीं हैं ॥ २२ ॥

भाष्य- विशेषण व भेद वर्णनकरनेसे परमात्मा से इतर नाम भिन्न जो दो शारीर (जीवात्मा) व प्रधान हैं ये दोनों भूतयोनि नहीं हैं प्रकृत भूतयोनि को शारीर से विलक्षण होने के विशेषणयुक्त इस श्रुतिमें वर्णन किया है **दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः** अर्थ-(सः) वह परोक्ष (पुरुषः) पुरुष अर्थात् पूर्णव्याप्त परमात्मा (दिव्यः) प्रकाशस्वरूप (हि अमूर्त्तः) निश्चयकर निराकार सूक्ष्म (बाह्याभ्यन्तरः) बाहर और भीतर सब पदार्थोंके साथ वर्तमान (हि अजः) निश्चय से उत्पत्तिरहित है अर्थात् कभी भी उत्पन्न नहीं है (अप्राणः) प्राणरहित (हि अमनाः) मनरहित (शुभ्रः) शुद्ध निर्मल है दिव्य होना आदि ये लक्षण वा विशेषण शारीर में नहीं होसक्ते व प्रधानसे भिन्न भूतयोनि के होने में यह वर्णन किया है **अक्षरात्परतः परः** अर्थ-पर अक्षर से अर्थात् प्रकृति से पर है अर्थात् परमात्मा ब्रह्म प्रकृतिसे पर है अक्षर शब्द से प्रकृति वा प्रधान से पर कहने का

आशय यह है कि, अक्षर नाम से प्रकृत ब्रह्मको कहा है और अक्षर-शब्द प्रधानवाचक भी है दोनों का वाचक होने से ब्रह्म अर्थ ग्रहण करने में प्रधान अर्थ ग्राह्य होनेका भ्रम होताहै वा होता है इससे यह सूचित किया है कि, सब विकाररूप पदार्थोंसे पर अक्षर प्रधानसे भी परे दिव्य होने आदि गुणविशिष्ट अक्षर ब्रह्म है इससे ब्रह्मका शारीर व प्रधान से भिन्न होना सिद्ध होता है इससे दोनों से विलक्षण ब्रह्म ही भूतयोनि है ॥ २२ ॥

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

अनु०— रूपके उपन्यास (स्थापन) से भी ॥ २३ ॥

भाष्य—रूपकालङ्कार से नीरूप ब्रह्म का सर्वमय विराट्रूप स्थापन किया है उससे भी ब्रह्मही भूतयोनि होना सिद्ध होता है अर्थात् परअक्षर से पर है ऐसा कहने के पश्चात् यह वर्णन किया है **एतस्माज्जायते प्राणः** अर्थ—इससे प्राण उत्पन्न होताहै इत्यादि प्राणआदि पृथिवीपर्य्यन्त प्राण व सब इन्द्रियों व भूतोंकी उत्पत्ति को वर्णन करके उक्त उपनिषद् में भूतयोनिके रूपके उपन्यासमें यह वर्णन किया है **अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यांपृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा** अर्थ—(अस्य) इसका अर्थात् इस उक्त पर अक्षरसे पर पुरुषका (अग्निः) तेजतत्त्व (मूर्द्धा) शिर है (चन्द्रसूर्यौ) चन्द्रमा व सूर्य (चक्षुषी) दो नेत्र हैं अर्थात् नेत्र-स्थानीय हैं (दिशः) पूर्वआदि दिशा (श्रोत्रे) कान हैं (विवृताः) विस्तृत (वेदाः) ऋग्वेद आदि वेद (वाक्) वाणी है (वायुः प्राणः) वायु प्राण है (विश्वम्) सब चराचर वस्तु (अस्य हृदयं) इसका हृदय है (च) और (पद्भ्यां अर्थात पादौ) पद (पृथिवी) पृथिवी है (हि एषः) इस उक्तप्रकारका प्रसिद्ध यह अर्थात् यह पुरुष (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियोंका अन्तर आत्मा है अर्थात् सब के हृदयमें निरन्तर व्याप्त है ऐसा वर्णन करनेसे परमात्माही सब भूतोंका योनि अर्थात् कारण होना सिद्ध होताहै इससे शारीर व प्रधानके होनेका संशय करना युक्त नहीं है जो यह प्रश्न होवै कि, यह ब्रह्महीके रूपका उपन्यास है यह कैसे निश्चित होसक्ताहै परमात्मा वा ब्रह्मनाम श्रुतिमें नहीं कहाहै तो इसका उत्तर यह है कि, प्रकरण से निश्चय होता है और परिच्छिन्न शारीर सब भूतोंका आत्मा नहीं होसक्ता तथा प्रधान का भी सब भूतोंका आत्मा व चेतन वेदरूप वाणी का वक्ता होना संभव नहीं है इससे ब्रह्मही का होना निश्चित होता है । यदि यह शंका हो कि, अदृश्य निराकार भूतयोनि को शरीरवान् वा रूपवान् क्यों वर्णन किया है तो इसका उत्तर यह है कि, सर्वात्मक सर्वव्यापक होने की

विवक्षा (कहनेकी इच्छा) से ऐसा वर्णन किया है शरीरवान् वा शरीर वर्णन करने की विवक्षा से नहीं कहा अर्थात् इस रूप न्याय से वक्ता का अभिप्राय केवल ब्रह्मको सर्वात्मक होना वर्णन करनेका है रूप व शरीरवान् वर्णन करने का नहीं है ॥ २३ ॥

वैश्वानर शब्दसे ब्रह्मही वाच्य होने में सू० २४ से ३२ अधि०७ ।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

अनु०--साधारण व शब्दके विशेषसे वैश्वानर ब्रह्म है ॥२४॥

भाष्य--वैश्वानरशब्द जाठराग्नि (जठरमें रहनेवाला अग्नि) भूतअग्नि व अग्निअभिमानी देवता व आत्मा अर्थका वाचक है व आत्माशब्द शारीर व परमात्मा का वाचक है इससे छान्दोग्यउपनिषद् में जो वैश्वानर के उपासन के विषय में अश्वपति ने प्राचीनशालआदि को उपदेश किया है उसमें यह संशय होता है कि,उक्त जाठराग्निआदिमें से उपास्य को है इस संशय निवारण के लिये सूत्र में उपास्य वैश्वानर ब्रह्मही है यह कहा है ब्रह्म शब्द प्रकरण से ग्रहण किया जाता है सूत्र में शेष है किस हेतुसे ब्रह्मही उपास्य है साधारण व शब्द के विशेष से यह सूत्रका वाक्यार्थ है अब इसके यथार्थ अभिप्राय जानने के लिये विस्तार से व्याख्यान किया जाता है छान्दोग्य में यह वर्णन किया है कि, प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, बुडिल, ये पांच मिलकर विचार किया कि, हमारा आत्मा को है ब्रह्म को है जब निश्चय न हुआ तब निश्चय करने के लिये उद्दालक के पास गये जब वहाँ भी निश्चय न हुआ तब उद्दालकसहित सब अश्वपति कैकेय राजा के पास आकर कहा कि, जिस आत्मा को तुम ध्यान व उपासन करते हो वह हमको बतावो अर्थात् हमको उसका उपदेश करो राजा ने उनके भ्रम निवारण के लिये प्रथम उनसे प्रत्येक से पूँछा कि, तुम किसकी उपासना करते हो प्राचीनशाल आदि पृथक् २ किसीने कहा कि, मैं स्वर्गही को वैश्वानर आत्मा जानता हूँ किसी ने कहा मैं आदित्यही को जानताहूं ऐसेही वायु, आकाश, पृथिवी को पृथक् २ कहतेगये राजाने सुनकर उनकी उपासनाकी निन्दा किया और कहा कि, यह यथार्थ नहीं है व द्युलोक आदि को रूपकालंकार से शिरआदि अङ्गों की कल्पना करके विराट्रूप वैश्वानर को इसप्रकारसे उपासना व ध्यानकरने के लिये उपदेश किया है

यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥१॥ तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहा-

येषष्चन आस्यमाहवनीयः अर्थ-(यः तु) और जो (एतम्) इसको उक्त प्रकारके परमात्मा को (एवं प्रादेशमात्रम्) इस प्रकारसे द्युलोक आदि प्रदेश अर्थात् अवयवों से विशिष्ट एकको अथवा प्रकर्ष करके शास्त्र से आदेश किये गये जो द्युलोकादि हैं वह प्रादेश हैं यह द्युलोकआदि प्रादेश जिसके मात्रै अंश परिमाण कल्पना कियेगये हैं ऐसे एक सर्वस्वरूप (अभिविमानम्) प्रत्यक्ष सब पदार्थों के जाननेवाले सर्वज्ञ (वैश्वानरम् आत्मानम्) वैश्वानर परमात्माको (उपास्ते) उपासन करता है (सः) वह उपासक (सर्वेषु लोकेषु) सब लोकोंमें (सर्वेषु भूतेषु) सब भूतोंमें अर्थात् चराचर प्राणियोंमें (सर्वेषु आत्मसु) सब आत्माओं में अर्थात् शरीर इन्द्रिय मन बुद्धियों में (अन्नं) भोग्यपदार्थ व सुखको (अत्ति) भोग करता है अर्थात् सर्वत्र इच्छानुसार सुख भोग करता है वैश्वानरका कैसा स्वरूप है जिसके उपासन से उपासक को ऐसा फल प्राप्तहोताहै उस स्वरूप का वर्णन यह है (ह वै) निश्चय से (तस्य एतस्य) उस प्रकृत व जिसका वर्णन हो रहाहै इस (आत्मनः वैश्वानरस्य) आत्मा अर्थात् परमात्मा वैश्वानरका (मूर्द्धा एव) शिरही (सुतेजाः) द्युलोक है (चक्षुः) नेत्र (विश्वरूपः) सूर्य है (प्राणः) प्राण (पृथग्वर्त्मात्मा) वायु है (सन्देहः) सन्देह (बहुलः) आकाश है (बस्तिः एव) मूत्रस्थानही (रयिः) जल है (पृथिवी एव) पृथिवीही (पादौ) पद हैं (उर एव) उरही (वेदिः) वेदी है (लोमानि) रोवें बाल (बर्हिः) कुशा हैं (हृदयं गार्हपत्यः) हृदय गार्हपत्य अग्नि है (मनः) मन (अन्वाहार्यपचनः) दक्षिणाग्निनामक अग्नि है (आस्यम्) मुख (आहवनीयः) आहवनीयनामक अग्नि है अब यह संशय होता है कि, वैश्वानर शब्द जो श्रुति में कहा है उससे जाठराग्नि (उदरकी अग्नि) अग्नि वा भूतअग्नि वा अग्निअभिमानी देवता वा शरीर वा परमात्मा क्या समझना चाहिये क्योंकि वैश्वानरशब्द साधारण जाठराग्नि, भूताग्नि व अग्निअभिमानी देवता में कहाजाता वा प्रसिद्ध है जाठराग्निके वैश्वानर कहने का इस श्रुति से प्रामाण्य है **अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तःपुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते** अर्थ-(यः अयम्) जो यह (अन्तःपुरुषे) पुरुषमें भीतर है अर्थात पुरुष के उदरमें है (येन) जिससे (इदम् अन्नं) यह अन्न (पच्यते) पचता वा पकता है यह कौन (यत् इदम्) जो यह (अद्यते) खायाजाता है (अयमग्निः) यह अग्नि (वैश्वानरः) वैश्वानर है भूतअग्नि अर्थात् तेजमात्र वाचक होने में यह श्रुति प्रमाण है **विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वा_**

१व २ प्रकर्षेण शास्त्रेण आदिश्यन्ते प्रादेशाः द्युलोकादयः ते मात्रा इव मात्राः यस्य स प्रादेशमात्रः तम् ।

३ आभिमुख्येन प्रत्यक्षतया विश्वं विमिमीते जानातीत्यभिविमानः तं सर्वज्ञम् ।

४ सुष्ठुतेजः कान्तिर्यस्य स सुतेजाः द्युलोकः ।

नरं केतुमह्नामकृण्वन् अर्थ-(विश्वस्मै भुवनाय) विश्व भुवनके लिये (वैश्वानरम् अग्निम्) वैश्वानर अग्नि (अह्नां केतुं) दिनोंके केतु नाम चिह्नको अर्थात् सूर्यको (देवाः) देवताओं ने (अकृण्वन् अर्थात कृतवन्तः)करते भये वा किया और अग्निशरीरवाला अर्थात् अग्निअभिमानी देवता वाचक होने में भी यह प्रयोग है **वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम, राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः** अर्थ-(हि) जिससे (कम्) सुखस्वरूप वा सुखका देनेवाला (भुवनानां राजा) भुवनों का राजा (अभिश्रीः) जिसके श्री सदैव विद्यमान है ऐसा ईश्वर वैश्वानर है तिस से उस (वैश्वानरस्य) वैश्वानरकी (सुमतौ) सुमति में (स्याम) होवें अर्थात् उसकी हम पर शुभ मति होवे कृपादृष्टि होवे ऐसी प्रार्थना ऐश्वर्य को प्राप्त देवता के लिये होना संभव है इससे देवतावाचक है और श्रुति में यह कहा है य **आत्मानं वैश्वानरमुपास्ते** अर्थ-जो आत्मा वैश्वानर की उपासना करता है इत्यादि इससे वैश्वानर आत्मा वाचक है व आत्माशब्द शरीर व परमात्मा दोका वाचक है इससे वैश्वानर शब्द से जीवात्मा परमात्मा दोनों का ग्रहण होसक्ता है इससे किसी विशेष एकके ग्रहण का निश्चय न होने से यह संशय होता है कि, वैश्वानर शब्दका क्या अर्थ ग्रहण करनाचाहिये और गार्हपत्यआदिरूप होमआधार व विग्रहवान् वर्णन करने से जो सावयव परिच्छिन्न में संभव है वैश्वानर शब्द परमात्मावाचक विदित नहीं होता है इस संशय निवारण के लिये यह उत्तर है कि, वैश्वानर परमात्माही है किस हेतु से साधारण व शब्द में विशेष होनेसे अर्थात् वैश्वानरशब्द जाठराग्नि भूताग्नि व देवता इन तीन की साधारण संज्ञा है आत्माशब्द दो आत्मा व परमात्मा अर्थ में साधारण है वैश्वानर साधारण शब्द आत्माशब्द विशेष के साथ होने से केवल आत्मा व परमात्मा अर्थवाचक होसक्ता है इन दो में-सेभी विशेषता द्युलोकआदि अङ्ग वा अवयव वर्णन करनेसे सिद्ध होता है अर्थात् द्युलोकआदि शिर होना आदि वर्णन करनेसे परमात्मा वाच्य होना निश्चित होता है अर्थात् द्युलोकआदि अवयव होना परमात्मा से भिन्न में संभव नहीं है होम-आधार व अङ्ग नाम से रूप वर्णन करना रूपकालङ्कार से सर्वव्यापक सूचित करनेके लिये है तिससे साधारण वैश्वानर शब्द व विशेष आत्मा शब्द व इन दो-में भी द्युलोकआदि वर्णन विशेषसे व उपासक को सब लोकों में उक्त प्रकारसे सुखभोक्ता होना अन्यकी उपासना से संभव न होनेसे वैश्वानर केवल परमेश्वर ब्रह्मही है अर्थात् ब्रह्मही को वैश्वानर श्रुति में कहा है यह निश्चित होता है ॥ २४ ॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

अनु०-स्मरण कियागया वा स्मृतिमें कहागया अनुमान होय इससे ॥ २५ ॥

भाष्य–परमात्माको स्मृतिमें ऐसा वर्णन कियाहै **यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्द्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः।सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मै लोकात्मनेनमः** अर्थ–(यस्य)जिसका (अग्निः आस्यम्) अग्नि मुख है(द्यौः मूर्द्धा) स्वर्गलोक शिर है (खं नाभिः) आकाश नाभि है (चरणौ क्षितिः) चरण पृथिवी है (सूर्यः चक्षुः) सूर्य नेत्र हैं (दिशः श्रोत्रे) दिशा कान हैं (तस्मै लोकात्मने)उस सब लोकके आत्मा-स्वरूप के लिये (नमः) प्रणाम है इस प्रकारसे स्मृतिमें कहागया जिसका मूल श्रुति है यह स्वीकार करके वैश्वानरशब्द परमेश्वरपर है यह अनुमान होय अर्थात् यह स्मृतिका वर्णन द्युलोकआदि शिर अङ्ग होनेआदि विशेषणों से विशिष्ट वैश्वानर शब्दके परमेश्वरवाचक होनेका लिङ्ग होय वा मानाजाय तौ इससे भी वैश्वानरशब्द परमेश्वरपर है यह सिद्ध होता है ॥ २५ ॥

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानान्नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते॥२६॥

अनु०–शब्दआदिकोंसें अन्तरमें स्थित होनेसे नहीं है जो ऐसा कहाजाय सो नहीं तैसेही दृष्टि उपदेशसे असंभव होनेसे और पुरुषऐसाभी इसको पढते वा कहतेहैं इससे ॥ २६ ॥

भाष्य–जो यह कहाजाय कि, वैश्वानरशब्दसे परमात्माको न ग्रहण करना चाहिये क्यों न ग्रहण करनाचाहिये शब्दआदिकोंसे अर्थात् वैश्वानरशब्द अन्य अर्थ अग्निमें रूढ है यथा इस वाक्यमें **स एषोऽग्निर्वैश्वानरः** अर्थ–सो यह वैश्वानर अग्नि है वा यह अग्नि वैश्वानर है अग्निशब्द व वैश्वानर शब्द एक अर्थवाचक कहाहै ऐसे शब्दप्रयोग से व आदिशब्दसे हृदयआदिको गार्हपत्यआदि अग्नित्रेता कल्पना करनेसे अभिप्राय है इन शब्दआदि हेतुओं से अर्थात् वैश्वानर शब्दके अग्निअर्थवाचक होनेसे व वैश्वानरके हृदय आदिको होमका आधार गार्हपत्यआदिरूपसे वर्णन करनेसे वैश्वानर भूतअग्निको मानना चाहिये परमेश्वरको न मानना चाहिये और वैश्वानरको अन्तरमें प्रतिष्ठित कहा है यथा **स यो हैतमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेन्तःप्रतिष्ठितं वेद स सर्वत्रान्नमात्ति** अर्थ–(सः यः) सो जो (ह एतं) इस (अग्निं वैश्वानरम्) अग्निवैश्वानर (पुरुषविधं पुरुषे अन्तः प्रतिष्ठितम्)पुरुषविध पुरुषमें अर्थात् शरीर मध्यमें स्थितको (वेद) जानता है (सः) वह (सर्वत्र) सब लोकों वा स्थानमें (अन्नं) भोग्यपदार्थ को (अत्ति) भोगकरता है इसमें वैश्वानरको अन्तरमें स्थित कहनेसे वैश्वानर का जाठराग्नि होना संभव होता है परमात्मा होना संभव नहीं होता इससे वैश्वानर परमात्मा नहीं है तो इस संशय वा पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि,यह संशय करना यथार्थ नहीं है क्यों नहीं है तैसेही अर्थात उसी प्रकारसे दृष्टिउपदेशसे असं-

भव होनेसे और पुरुषभी इसको पढते हैं तिससे, अर्थात् जाठराग्नि वैश्वानरमें परमेश्वरदृष्टिका उपदेश कियाहै जाठराग्निही परमेश्वर है ऐसा कहनेका तात्पर्य नहीं है जैसा कि, अन्यश्रुतिमें कहा है **मनो ब्रह्मेत्युपासीत** अर्थ–मन ब्रह्म है ऐसा उपासना करै इत्यादि इस श्रुतिमें मनही ब्रह्म है यह कहनेका आशय नहीं है जिससे भेदरहित मनहीको ब्रह्म जानलेवै किन्तु जो उत्तम अधिकारी नहीं है उसके उपासनाके अर्थ कि, प्रथम मनमें ब्रह्मदृष्टि करके ब्रह्मकी उपासना करै मनमें ब्रह्मका अध्यास करके मनद्वारा ब्रह्मभावमें चित्तको स्थिर करै यह अभिप्राय है ऐसेही जाठर वैश्वानरमें ब्रह्मका उपदेश है अथवा जैसे सर्वव्यापक ब्रह्मको एकदेश मन व प्राणउपाधिसे इस श्रुतिमें वर्णन किया है **मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः** अर्थ–(मनोमयः) मनमय (प्राणशरीरः) प्राणही जिसका शरीर है ऐसा और (भारूपः) प्रकाशस्वरूप है ऐसेही परमेश्वरमें जाठर वैश्वानर उपाधि है ऐसा जाननेके लिये जाठर वैश्वानरका उपदेश किया है क्योंकि जो परमात्माके कहने की वक्ता की इच्छा न होती केवल जाठर अग्निके कहनेकी होती तो **वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः** अर्थ–वैश्वानरका शिरही स्वर्लोक है नेत्र सूर्य है इत्यादि यह वर्णन न कियाजाता यह जाठराग्निमें संभव नहीं है जाठरअग्निके वर्णनमें केवल पुरुषके अन्तरमें प्रतिष्ठित है यही कहाजाता पुरुष होना न कहाजाता वैश्वानरको पुरुषशब्दसे भी वाजसनेयी पढते अर्थात् कहते हैं जैसा पूर्वही वर्णन कियागया है कि, जो इस वैश्वानर पुरुषविधको पुरुषके अन्तरमें प्रतिष्ठितको जानता है इत्यादि परमात्माके बाहर भीतर सर्वव्यापक होनेसे उसका पुरुष व पुरुषके अन्तरमें प्रतिष्ठित होना दोनों संभव होता है जाठर अग्नि का पुरुषमें अन्तर प्रतिष्ठित होना मात्र असंभव होताहै पुरुष होना संभव नहीं होसक्ता इसको (वैश्वानरको) वाजसनेयी पुरुषभी कहते हैं तिससे ब्रह्मदृष्टिके उपदेशसे व संभव न होनेसे और पुरुष नामसे कहे जानेसे इन हेतुओंसे वैश्वानर परमात्माही है यह सिद्ध होता है॥२६॥

अत एव न देवता भूतश्च ॥ २७ ॥

अनु०–इसीसे (इसी हेतुसे) देवता व भूत भी नहीं है ॥२७॥

भाष्य–इसी हेतुसे द्युलोकआदि शिरआदि वर्णन करनेसे देवता (अग्निअभिमानी देवता) व भूतअग्नि भी नहीं है देवतामें जो ऐश्वर्य है वह ईश्वरके अधीन है स्वतंत्र नहीं है स्वतंत्र व कारणरूप देवता नहीं है द्युलोक शिर होना आदि धर्म देवता में संभव नहीं है इससे देवता वैश्वानर नहीं है भूतअग्नि जिस में उष्णप्रकाशमात्र धर्म है अर्थात् जो उष्णप्रकाशस्वरूप है उसमें द्युलोक शिर होनाआदि कल्पना करना अयुक्त व असंभव है इससे भूतअग्नि नहींहै इन हेतुओंसे परमेश्वरही वैश्वानर है ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

अनु०-साक्षात् भी विरोधरहित जैमिनि आचार्य मानतेहैं ॥२८॥

भाष्य-पूर्वमें जाठराग्नि प्रतीक (जाठरअग्नि जिसका प्रतीक नाम अङ्ग वा अवयव है ऐसा) वा जाठराग्निउपाधिक (जाठरअग्निउपाधिमान) परमेश्वर को उपास्य कहा है अब जैमिनि आचार्यका मत विज्ञापन वा वर्णन करने में यह कहा है साक्षात्भी विरोधरहित है यह जैमिनि मानते हैं अर्थात् बिनाउपाधि वा प्रतीक कल्पना किये साक्षात् परमेश्वरभावसे उपासना ग्रहण में भी कुछ विरोध नहीं है यह जैमिनि आचार्य मानते हैं क्योंकि सबमें विद्यमान परमेश्वर सर्वात्मा है जो यह कहाजाय कि, अन्तरमें प्रतिष्ठित होना कहनेसे विरोध होता है तो उत्तर यह है कि, **पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद** अर्थ-पुरुषविध पुरुषमें मध्यमें स्थितको जानता है ऐसा जाठरअग्नि के लिये नहीं कहाजासक्ता अर्थात् पुरुषविध व पुरुषके मध्यमें स्थित यह दोनों विशेषण जाठराग्निके नहीं होसक्ते रूपक से शिरआदि अङ्गोंसहित परमेश्वरही पुरुषविध कल्पना कियागया है इससे परमेश्वर को यह कहा है कि, जो पुरुषविध को पुरुष में अन्तःप्रतिष्ठित को जानता है इत्यादि अथवा जो परमात्मा पुरुषविध होने की उपाधिसे अध्यात्म आधिदैवतरूप है उसका जो केवल साक्षीरूप है उस अभिप्राय से यह कहाजाता है पुरुषविधको पुरुषमें अन्तःप्रतिष्ठितको जानताहै विचार कर पूर्वापर देखनेसे यह निश्चय होता है कि, वैश्वानर शब्द परमेश्वरहीका वाचक है सब विश्व व नर जीव में व्यापक होनेसे उपचार से अभेदवत् मानने से परमेश्वर वैश्वानर कहाजाता है अथवा विश्वोंका (सब विकारोंका) कर्ता पुरुष है वा विश्व में नर जीव जिस के हैं अर्थात् जिसके नियमसे हैं इससे परमेश्वर का नाम वैश्वानर है अब जो यह शङ्का है कि, परमेश्वर ग्रहण में प्रादेशमात्र (देशविशेषमात्र) श्रुतिमें क्यों कहा है इसका उत्तर अगले सूत्र में वर्णन करतेहैं ॥ २८ ॥

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अनु०-अभिव्यक्ति (प्रकटता) से यह आश्मरथ्य मानते हैं ॥ २९ ॥

भाष्य-परिमाणरहित व्यापक परमेश्वर को भी देशविशेष मात्र होना अभिव्यक्ति अर्थात् प्रकटता के निमित्त कहा है। अर्थात् प्रादेशपरिमाण से उपासना करनेवालों को परमेश्वर प्रादेशविशेषों में अर्थात् हृदयआदि देशविशेषों में प्रकट होता है प्रादेशमात्र में परमेश्वर प्रकाशस्वरूप लक्षित होनेसे प्रादेशमात्र वर्णन करनेवाली श्रुति परमेश्वर में घटित होती है इससे श्रुतिका प्रादेशमात्र कहना युक्त है यह आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

अनु०—अनुस्मृतिसे बादरि आचार्य मानते हैं ॥ ३० ॥

भाष्य—प्रादेशमात्र हृदयमें प्रतिष्ठित (स्थित) है ऐसी भावना से सुगमता से उसके अनुसार मनसे स्मरण कियाजाता है तिससे प्रादेशमात्र कहा है प्रादेशमात्र से स्मरण के योग्य है इस अनुस्मृति हेतुसे श्रुति परमेश्वरको प्रादेशमात्र में वर्णन करती है अन्यथा सर्वव्यापक परमेश्वर में कोई परिमाण घटित नहीं होता अनु-स्मरण हेतुसे श्रुतिका प्रादेशमात्र कथन युक्त है यह बादरिआचार्य मानते हैं ॥ ३० ॥

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥

अनु०—सम्पत्तिसे (सम्पत्तिनिमित्तसे) जैमिनि मानते हैं जिससे कि, तेही प्रकारसे (वैसाही) श्रुति वर्णन करती है वा जनाती है ॥ ३१ ॥

भाष्य—सम्पत्ति निमित्तसे (भेदरहित ध्यान निमित्त से) अर्थात् अल्प के अवलम्बन का निरादर करके अल्प में उत्कृष्ट वस्तुका भेदरहित ध्यान करनेके लिये अर्थात् अल्प जगत् में उत्कृष्ट ब्रह्म भाव चित्तमें उदय होने के लिये सब जगत्को ब्रह्मही भेदरहित ब्रह्मके अङ्गरूप ध्यान करने के निमित्त वा हेतुसे प्रादेशमात्र श्रुति में कथन है यह जैमिनिआचार्य मानते हैं क्यों ऐसा मानते हैं जिससे कि, तैसेही अर्थात् जैसा जैमिनि आचार्य मानते हैं वैसाही वाजसनेयिब्राह्मणमें तीनों लोकके आत्मारूप वैश्वानर के भेदरहित ध्यान कर-नेके लिये सब लोकों व भूतोंको उसके अवयव के समान प्रादेशमात्र श्रुति वर्णन करती है यथा **प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नाः तथा तु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसम्पाद-यिष्यामि** अर्थ—(प्रादेशमात्रम् इव) परिणामरहित सर्व व्यापक होने-पर भी प्रादेशमात्र के समान भेदरहित कल्पना कियेगये व लक्ष्य किये गये परमेश्वरको (ह वै) निश्चयसे (सुविदिताः[1]) अच्छे प्रकारसे जिन्होंने जाना ऐसे (देवाः) देवता (अभिसम्पन्नाः) प्राप्त होते भये (तथा) तैसेही अर्थात् जैसा देवताओंने पूर्वही जाना है वैसेही (वः) तुमसे (एतान्) इन द्युलोक आदि अवयवों को (वक्ष्यामि) मैं कहूँगा (यथाप्रादेशमात्रम् एव[2]) केवल प्रादेशपरिमाणही शरीर के अङ्गों में वैश्वानर को (अभिसम्पादयिष्यामि) मैं सम्पादन करूँगा ऐसा प्राचीनशालआदि जिज्ञासुओंसे अश्वपति राजाने

---

१ यहां सुविदित शब्दमें क्त प्रत्यय कर्ता अर्थ में है क्त प्रत्यय कर्ममें नहीं है ।

२ यथाप्रादेशमात्रं प्रादेशपरिमाणमनतिक्रम्येत्यर्थः ।

प्रतिज्ञा करके शिरसे लेकर चिबुकपर्य्यन्त अवयवों को वर्णन किया है अपने शिरआदिमें उपदेश करते हुये हाथसे दिखाते हुये शिरको कहा **एष वा अतिष्ठा वैश्वानरः** अर्थ—यह अतिष्ठा अर्थात् भूआदि लोकों को उल्लंघन करके भूआदि लोकों के उपरिस्थित जो द्युलोक है वैश्वानर है नेत्रों को उपदेश करते हुये यह कहा **एष वै सुतेजा वैश्वानरः** अर्थ-निश्चय यह सुतेजा अर्थात् सूर्य वैश्वानर है अपनी नासिका को दिखाकर नासिकाका उपदेश करतेहुये कहा **एष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरः** अर्थ—(वै) निश्चय (एषः) यह (पृथग्वर्त्मात्मा) वायु (वैश्वानरः) वैश्वानर है मुखमें स्थित अर्थात् मुखके आकाश का उपदेश करतेहुये यह कहा **एष वै बहुलो वैश्वानरः** अर्थ—निश्चय यह आकाश वैश्वानर है मुखस्थ नाम मुखमें जो जल है उसका उपदेश करतेहुये कहा **एष वै रयिर्वैश्वानरः** अर्थ—यह जल वैश्वानर है चिबुक का उपदेश करते हुये कहा **एष वै प्रतिष्ठा वैश्वानरः** अर्थ--यह पृथिवी वैश्वानर है यहाँ सर्वत्र वैश्वानर शब्द वैश्वानर का अङ्गवाचक है अर्थात् उपचार वा लक्षणा से वैश्वानर है इस कहनेको वैश्वानरका अङ्ग है ऐसा कहना समझना चाहिये अर्थात् द्युलोकआदि वैश्वानर के शिरआदि अङ्ग हैं तथा छान्दोग्य में **मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः** अर्थ--वैश्वानरका मूर्द्धा (शिर) द्युलोक है नेत्र सूर्य हैं इत्यादि वर्णन किया है इससे सम्पत्ति निमित्त प्रादेशमात्र श्रुति में कहा है यद्यपि वाजसनेयिब्राह्मण में द्युलोक को अतिष्ठा व सूर्यको सुतेजा नाम से वर्णन किया है व छान्दोग्यमें द्युलोक को सुतेजा व सूर्यको विश्वरूप नाम से कहा है परन्तु इतने भेद होनेमें प्रादेशमात्र के उपदेश व श्रुतिमें विरोध होना व कुछ हानि होना स्वीकार नहीं होसक्ता प्रादेशमात्र के उपदेश में कुछ भेद नहीं है इससे सम्पत्तिनिमित्त प्रादेशमात्रका उपदेशमें वर्णन किया गया मानना युक्त है ऐसा जैमिनिआचार्य का मत है ॥ ३१ ॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

अनु०—इसको इसमें मानते हैं ॥ ३२ ॥

भाष्य—इसमें अर्थात् इस शिर व चिबुक के मध्यदेश में इसको प्रकृत परमेश्वर को जाबाल मानते हैं अर्थात् भौंह व नासिका के सन्धिप्रदेश में ब्रह्मके ध्यानका स्थान मानते हैं इसकी आख्यायिका (कथा) यह है कि, अत्रि ने याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न किया है कि, जो आत्मा दुर्विज्ञेय (कठिनता से जानने योग्य) अव्यक्त है उसको मैं कैसे जानूँ तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि, वह अव्यक्त परमात्मा जीवात्मा में स्थित है फिर प्रश्न करनेपर कि, जीवात्मा

---

१ भूरादीँल्लोकानतीत्य उपरि तिष्ठतीत्यातिष्ठाऽसौ द्युलोको वैश्वानरः ।

२ नासिका पद से उसमें निष्ठ अर्थात् स्थित जो प्राणवायु है उसको कहा है ।

किसमें स्थित है उत्तर दिया वरणा व नाशी में, भौंह की संज्ञा वरणा व नासिका की संज्ञा नाशी कहा है अर्थात् भौंह व नासिका में प्रतिष्ठित है आशय यह है कि, भौंह व नासिका का मध्य सन्धि जीवका स्थान होनेसे व जीवका आत्मा परमात्मा जीव में प्रतिष्ठित होनेसे भौंह व नासिका परमात्मा का स्थान है अर्थात् भौंह व नासिका की सन्धि में ब्रह्म प्रतिष्ठित है इससे वह ब्रह्मके ध्यानका स्थान है उसमें ध्यानकरने से जानने योग्य है अथवा सूत्रका यह अर्थ है कि, इसमें अपने शरीर के अन्तर्गत हृदयदेशमें विद्वान् ब्रह्मको स्थित मानते हैं इससे उपासन ध्यान के लिये प्रथम अधिकार प्राप्त होने के प्रयत्न में प्रादेशमात्र को श्रुति वर्णन करती है तिससे परमेश्वरही को वैश्वानर कहा है यह सिद्ध हुआ ॥ ३२ ॥

इति श्रीवेदान्तसूत्राणां देशभाषाकृतभाष्ये श्रीप्रभुदयालुकृतौ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

अथ तृतीयपादप्रारंभः ।

द्वितीय पाद में विशेषणसहित वाक्योंका समन्वय (संगति वा मेल) दिखाया है अब तृतीय पादमें यौगिक पदयुक्त निर्विशेष वाक्योंको वर्णन करते हैं—

सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ, प्रधान, जीव, ईश्वरोंमें से केवल ईश्वरही सबका आधार होनेमें सू० १ से ७ तक अधि० १ ।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

अनु०—द्युलोक पृथिवी जिसके आदि में हैं ऐसे जगत्का आयतन (आश्रय) है स्वशब्दसे अर्थात् आत्मवाचक शब्द होनेसे ॥१॥

भाष्य—द्युलोक (स्वर्लोक) व पृथिवी जिसकी उत्पत्तिकी आदिमें हैं ऐसे जगत्का आश्रय केवल परमेश्वर है जैसा इस मुण्डकउपनिषद्के मंत्रमें वर्णन किया है **यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सप्राणैश्च सर्वैः।तमेवैकं जानथात्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः** अर्थ—(यस्मिन्) जिसमें अर्थात् जिस परमेश्वरमें (द्यौः) द्युलोक अर्थात् सूर्य आदिप्रकाशमान् लोक (पृथिवी) पृथिवी (अन्तरिक्षम्) वायु और मेघ आदि रहनेका मध्यअवकाश (च) और (सर्वैः) सब (प्राणैः सह) प्राण व इन्द्रियोंसहित (मनः च) मनभी (ओतम्) गुँथा है अर्थात् सूतमें गुहे वा पोहेहुये गुरिया वा मूँगाके समान

---

१ सर्वानिन्द्रियकृतान् दोषान् वारयतीति वरणा भ्रूः ।

२ सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति नाशी नासिकेति निर्वचनम् ।

३ द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ द्युभुवावादिर्यस्य तदिदं द्युभ्वादि जगत् तस्याऽऽयतनम् आश्रयः द्युभ्वाद्यायतनम् ।

लगा है (एषः) जो यह (अमृतस्य) मोक्षका अर्थात् सब दुःखोंसे छूटनेके लिये व मोक्षसुख प्राप्त होनेके लिये (सेतुः) सेतु है अर्थात् संसारसागरसे पार होनेके लिये सेतुके तुल्य है (तम् एव) उसी (एकम् आत्मानम्) एक आत्माको अर्थात् परमात्माको (जानथ) जानो (अन्याः) अन्य अर्थात् परमार्थसे भिन्न केवल संसारके विषय वा भोगोंकी कहनेवाली (वाचः)वाणियोंको(विमुश्चथ) छोडो अर्थात् त्यागकरो इस मंत्रवाक्यमें परमेश्वर सबका आश्रय है यह किस हेतुसे सिद्ध होताहै आत्मावाचक शब्दसे अर्थात् उसी एक आत्मा को जिसमें द्युलोकआदि आश्रित हैं अर्थात् परमात्मा को जान यह कहा है. इससे अब यह संशय है कि, सेतु अन्य स्थान जो सेतुसे भिन्न व सेतुसे परे होता है उसके लिये होता है परमेश्वरसे परे कोई प्राप्य वस्तु कल्पित होना संभव नहीं है तथा सावयव न होनेसे परमेश्वर को सेतु कहना युक्त नहीं है इसका उत्तर यह है कि, परमात्मा के जानने को उपदेश किया है कि, परमात्मा का जानना आत्मज्ञान सेतु है परमात्मा को सेतु नहीं कहा प्राप्यवस्तु परमात्माही है आत्मज्ञान से संसारबंधन छूटता है व मोक्ष प्राप्त होता है इस उपचारसे आत्मज्ञान को सेतु कहा है. जो यह शंका हो कि, वाक्य में आत्मा शब्द कहा है आत्मा जीव को :कहते हैं इससे आत्माशब्द से जीवात्मा को ग्रहण करना चाहिये तो यह युक्त नहीं है क्योंकि जीवात्मा द्युलोकआदिका आश्रय नहीं होसक्ता जो यह संशय हो कि, श्रुति में वायु को सब लोकोंका आश्रय कहा है **यथा–वायुना वै गौतम सूत्रेणायञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति** अर्थ–(गौतम) हे गौतम ! (वै) निश्चयसे (वायुना सूत्रेण) वायुरूप सूत्रसे (अयं च लोकः)यह लोक (च) और (परः लोकः) परलोक (च) और (सर्वाणि भूतानि) सब भूत अर्थात् आकाश आदि वा सब प्राणी (सन्दृब्धानि) ग्रथित (भवन्ति) होते हैं अर्थात् जैसे सूत में मणि गुही वा गुथी होती है ऐसेही सब लोक वायुसूत्र में गुहेहुये होतेहैं इससे वायु द्युआदि लोकका आश्रय स्वीकार कियाजाय तो इसका उत्तर यह है कि. वायुशब्द भी इस श्रुतिमें परमात्मावाचक होना ग्राह्य है क्योंकि जो भूतवायुका ग्रहण किया जावै तो जडभूत वायुमें आत्मा शब्दका प्रयोग नहीं होसक्ता मन्त्रवाक्यमें अन्यका निषेधकरके यह कहा है उसी एक आत्माको जानो इससे आत्मावाचक शब्द होनेसे केवल परमेश्वरही सब जगतका आश्रय उपास्य है यह निश्चय करना युक्त है ॥ १ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

अनु०–मुक्तोंसे प्राप्तहोनेके योग्य कहनेसे ॥ २ ॥

भाष्य–यदि यह कहाजाय कि, महत्तत्त्वआदि के कारण होनेसे प्रधान जगत्का कारण जगत्का आश्रय व उपास्य मानाजाय तो यह प्रतिषेध करनेके लिये

१ इसश्रुतिका पदार्थ के अनुसार व्याख्यान पूर्वही लिखदिया गया है ।

कि, प्रधान जगत्का आश्रय व उपास्य नहीं है वा नहीं कहागया यह कहा है कि, मुक्तोंसे प्राप्त होनेके योग्य कहनेसे आशय इसका यह है कि, श्रुतिमें जगत्के आश्रयको मुक्तपुरुषों से प्राप्त होनेके योग्य कहा है जडप्रधान मुक्त पुरुषों से प्राप्त होनेके योग्य नहीं कहाजासक्ता क्योंकि ऐसा कहना अयुक्त है चेतनको जडप्राप्त होनेसे निकृष्टता है व इष्टलाभ नहीं है मुक्तोंसे प्राप्तहोनेके योग्य कहनेसे भी जगत्का आयतन (आश्रय) परब्रह्मही है यह सिद्ध होता है ब्रह्मका मुक्तोंसे प्राप्त होने योग्य कहेजाने में यह मुण्डक उपनिषद्की श्रुति प्रमाण है **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे** अर्थ–उस पूर्वोक्त जगत्का आश्रय इन्द्रियोंसे अग्राह्य परोक्ष इन्द्रिय व विषयोंसे रहित पर निर्गुण और सृष्टिकर्ता होनेआदि गुणों से युक्त अवर सगुण ऐसे दोनों प्रकारसे ब्रह्मके दृष्टहोनेमें अर्थात् साक्षात्होने पर इससे ब्रह्मज्ञानीके हृदयकी गाँठ अर्थात् वासनारूप गांठ छूटजातीहै व सब संशय छिन्नभिन्न होजाते हैं और इसके सब शुभ अशुभ कर्म नष्ट होजातेहैं इत्यादि कहकर फिर यह कहाहै **विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्** अर्थ (नामरूपात्) नाम व रूपसे अर्थात शरीरसम्बंधसे (विमुक्तः) छूटा (विद्वान्) ब्रह्मज्ञानी (परात्परं) सूक्ष्मसे सूक्ष्म और उत्तमसे उत्तम वा सबसे पर जो प्रकृतिहै उससेभी पर उत्कृष्ट(दिव्यम्)प्रकाशस्वरूप(पुरुषम्) पूर्णव्याप्त परमेश्वरको(उपैति) प्राप्त होताहै निकट पहुँचजाता है इसप्रकारसे मुक्तपुरुषोंसे प्राप्तहोने के योग्य जो ब्रह्म है उसीमें सब जगत् को गुथाहुआ वर्णनकिया है वही द्युलोकआदिका आश्रय है प्रधान नहीं है मुक्तोंसे प्राप्त होने की योग्यता प्रधान आदि में कहीं किसी श्रुति में प्रसिद्ध नहीं है इससे ब्रह्म से भिन्न प्रधानआदि को जगत्का आश्रय मानना युक्त नहीं है जैसा आगे सूत्र में वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

अनु०–उसका प्रतिपादक शब्द न होनेसे अनुमान नहीं है॥ ३॥

भाष्य–अनुमानशब्द से साङ्ख्य स्मृति में अनुमान किया गया अनुमान रूप प्रधान ग्राह्य है उसका प्रधानका प्रतिपादक शब्द न होनेसे प्रधान नहीं है अर्थात् प्रधान द्युलोक व पृथिवीआदिका आश्रय नहीं है इसका आशय यह है कि, जो द्युलोक पृथिवी आदिका आश्रय (अधिष्ठान) प्रधान जो साङ्ख्य स्मृति में कहागया है मानाजाय तो नहीं मानाजासक्ता किस हेतुसे, हेतु यह है कि, जैसे ब्रह्मके मानने के लिये, ब्रह्मप्रतिपादक शब्द, वैशेषिक[1] हेतु है ऐसा प्रधान के लिये प्रधान प्रतिपादक शब्द वैशेषिक हेतु नहीं है. चेतन ब्रह्मके जगत्के

---

[1] विशेषमें होवै वा विशेषसे सम्बंध रक्खै उसको वैशेषिक कहते हैं यथा ब्रह्मका वा ब्रह्ममें जो हेतु हो वह ब्रह्मकी सिद्धि का वैशेषिक हेतु है ऐसेही अन्य में समझना चाहिये।

कारण होने में जैसा पूर्वही कहागया है और **यः सर्वज्ञः सर्ववित्** इत्यादि अर्थ-जो सर्वज्ञ सब जाननेवाला सब में व्याप्त है इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मके चेतन होने व कारण होने का प्रमाण है अचेतन प्रधान के कारण व आश्रय होने का प्रमाण नहीं है इससे प्रधान द्युलोक आदिका आश्रय नहीं है ब्रह्मही है ॥ ३ ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

अनु०-प्राणभृत् (जीव) भी ॥ ४ ॥

भाष्य-जीवभी द्युलोक पृथिवीआदिका आयतन आश्रय वा आधार नहीं है अभिप्राय यह है कि, जो यह शङ्का की जाय कि, जो जड होने से प्रधान का आश्रय होना निषेधकरनेके योग्य है तो चेतन जीव को आश्रय मानना चाहिये इसका उत्तर यह है कि, यद्यपि जीव चेतन है तथापि जीव के जगत्के आश्रय होने का प्रतिपादक शब्द नहीं है व शरीरवान् परिच्छिन्न होने से जीवका सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठान होना प्रत्यक्षसे असंभव है व परिच्छिन्न अल्पज्ञान होनेसे जीव सर्वज्ञ नहीं होसक्ता परमात्मा को सर्वज्ञ नित्यानन्द कहा है इससे जीव भी आश्रय नहीं होसक्ता तिससे ब्रह्मही स्वीकार करना चाहिये ॥ ४ ॥

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

अनु०-भेद कहनेसे ॥ ५ ॥

भाष्य-अब इस पूर्वपक्ष वा शंका के उत्तर के लिये कि, जीव ब्रह्म में भेद नहीं है इससे जीव को सब द्युआदि लोकों का आश्रय मानना युक्त है यह कहा है भेद कहनेसे आशय इसका यह है कि, जीव ब्रह्म को अभेद मानना युक्त नहीं है क्यों नहीं है भेद कहनेसे अर्थात् श्रुतिमें जीव व ब्रह्मका भेद वर्णन किया है इससे अभेद मानना प्रमाणविरुद्ध है भेद कथन यह है कि, श्रुतिमें यह कहागया है उसी एक आत्मा को जानो मुमुक्षुजीवों को जानने के लिये उपदेश करनेसे दो पृथक् होना सिद्ध होता है जाननेवाला व जो जानाजाता है दोनों एक नहीं होसक्ते तिससे भेदकथनसे जाननेवालेसे भिन्न द्यु व पृथिवीआदि जगत् का आयतन (आश्रय) जाननेके योग्य ब्रह्म है वही सब जगत्का अधिष्ठान (आधार) होना सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

अनु०-प्रकरणसे ॥ ६ ॥

भाष्य-जिस प्रकरण में द्युलोकआदिका आयतन होना वर्णन किया है वह परमात्मा ब्रह्मके वर्णन का प्रकरण है जिसका प्रकरण होता है उसमें उसीका

वर्णन होता है परमात्मा के प्रकरण में कहेजाने से भी परमात्माही का आश्रय व कारण होना सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

स्थित्यदनाभ्याञ्च ॥ ७ ॥

अनु०—स्थिति व भोग से भी ॥ ७ ॥

भाष्य—श्रुति वा मंत्रमें यह वर्णन किया है कि, परमात्मा सर्वव्यापक सब के हृदयमें स्थितमात्र रहता है कर्मफल को अर्थात् विषयदुःखसुखको भोग नहीं करता जीव अनेक शुभ अशुभ कर्मफलोंको भोग करता है एककी स्थितिमात्र होने व दूसरे के भोगकरने से ब्रह्म जीव से भिन्न है इस भेद के वर्णन में यह मंत्र प्रमाण है **द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति** अर्थ—मिले हुये अर्थात् व्याप्यव्यापकसम्बंध से सदा साथ रहनेवाले परस्पर मित्र अच्छे पक्षी दो अर्थात् जीवात्मा व परमात्मा एकही वृक्षको अर्थात् एकही शरीर वा जगत्वृक्षको प्राप्त वा वृक्षमें संगको लिये हैं अर्थात् एकवृक्षमें स्थित हैं उन दोमें से अन्य एक जीवात्मा स्वादिष्ठ पिप्पल को अर्थात् कर्मफलको खाता है और अन्य दूसरा परमात्मा न खाताहुआ अर्थात् कर्म व उनके फलका अनुभव न करताहुआ साक्षीरूपसे सब शुभ अशुभकर्मों को देखता है सब के कियेको यथार्थ जानकर कर्मोंके अनुकूल दुःखसुखको देता है इस प्रकारसे भेद वर्णित होने से जीव ब्रह्म से भिन्न है और जगत् का आश्रय व कारण नहीं है ब्रह्मही जगत्का आश्रय व उपास्य है अन्य नहीं है यह सिद्धान्त है व जैसा श्रुति में कहा है कि, उसी एकको जानो इत्यादि ॥ ७ ॥

प्राण व परेश (परमेश्वर) में से सत्य शब्द से परेशही के श्रेष्ठ होने व भूमाशब्द से वाच्य होने में सू० ८ व ९ अधि० २ ।

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

अनु०—सम्प्रसादसे अधिक उपदेशसे भूमा ब्रह्म है ॥ ८ ॥

भाष्य—अब प्राणआदिकों के उपास्य होने व श्रुतिवाक्यों में जो प्राणआदि व ब्रह्मके अर्थ ग्रहण करनेमें संशय है वा होता है उसके समाधान के लिये निरूपण करते हैं प्रथम लक्षणसहित भूमानाम से जो ईश्वरको श्रुति में वर्णन किया है उसमें प्राणका अर्थ ग्रहण के योग्य होनेका संशय करके ब्रह्मही अर्थ ग्राह्य होना सिद्धान्त वर्णन कियाजाता है छान्दोग्यउपनिषद् में यह कथा है कि,

---

१ इस मंत्रका अर्थ भिन्न २ पदोंके साथ पूर्वही वर्णन करदिया गया है ।

नारदमुनि सनत्कुमार के पास जाकर यह प्रार्थना किया है कि, आप मुझे आत्मज्ञानका उपदेश कीजिये तब सनत्कुमारने नारदसे यह कहा कि, प्रथम जितना तुम जानते हो और जो जो विद्या तुमने पढी हों वह हमको बताओ फिर तुमको हम उससे अधिक उपदेश करेंगे तब नारदने ऋग्वेद आदि व सब विद्याओं को बताकर कहा कि, इन सब विद्याओं को मैंने पढा है व जानताहूँ परन्तु शब्द व अर्थही मात्रका ज्ञान मुझे है आत्माका ज्ञान मुझमें नहीं हैं अर्थात् आत्मा को नहीं जानता मैंने सुना है जो अकृतार्थ आत्मज्ञानरहित होते हैं वे आपही ऐसे आत्मज्ञानी महात्मासे अर्थात् आप ऐसे ब्रह्मनिष्ठ योगीश्वर के उपदेश व संग से शोकसागर से तरते हैं सो हे भगवन्! आप मुझे शोकसागर के पार उतारदीजिये. ऐसी प्रार्थना करनेपर नारदको सनत्कुमारने उपदेश करना प्रारंभ किया. प्रथम सब विद्या नाम रूप होना वर्णन करके नामकी उपासना करो यह कहा उसपर नारदने पूँछा कि, नामसे भी कुछ अधिक है तब कहा कि,नामसे अधिक वाक् (वाणी) है ऐसेही एक एकके पश्चात् इससे अधिक को है प्रश्नकरते जानेपर वाक्से अधिक मन आदि को प्राणपर्य्यंत एकएकसे अधिक होने का उपदेश किया है और प्राणही में सबका समर्पित होना व प्राणही को पिता माता आदि होना वर्णन किया है और ऐसे मानते व जानते हुये को अतिवादी कहा है जब इतना कहनेपर नारद ने आगे यह प्रश्न न किया कि, इससे अधिक को है तब आचार्य ने आपसे जिसमें यह निश्चित न होजाय कि. प्राणही सबसे अधिक है यह कहा है कि, जो सत्यसे अतिवाद करता है वही यथार्थमें अतिवादी है वही सबसे अधिक व सिद्धान्तको कहता है सत्यही जिज्ञासा करने के योग्य है इत्यादि कहकर अंतमें यह कहा है कि, सुखही जिज्ञासा के योग्य है और जो भूमा (अधिक व्यापक) है वही सुख है इससे भूमाही जिज्ञासा के योग्य है ऐसा कहकर भूमा का लक्षण वर्णन किया है भूमाही सुख होने व भूमाके लक्षण वर्णन में यह श्रुति है **यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति । यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्** अर्थ-(यः) जो (वै) निश्चयसे (भूमा) व्यापक अधिक है (तत्सुखं) उसमें सुख है (अल्पे) अल्पमें (सुखं) सुख (न अस्ति) नहीं है (भूमा एव) भूमाही (सुखं) सुख है (तु) और (भूमा एव) भूमाही (विजिज्ञासितव्यः) जाननेयोग्य है (यत्र) जिसमें अर्थात् जिस सर्वव्यापक ब्रह्मके तत्त्वज्ञान में उपासक (न अन्यत्) न अन्यको(पश्यति) देखताहै (न अन्यत्) न अन्यको (शृणोति) सुनता है (न अन्यत) न अन्यको (विजानाति) जानता है (सः भूमा) वह भूमा है (अथ) और (यत्र) जिसमें

अर्थात् जिसके जाननेमें (अन्यत्पश्यति) अन्यको देखता है (अन्यच्छृणोति) अन्यको सुनताहै (अन्यद् विजानाति) अन्यको जानता है (तद् अल्पं) वह छोटा एकदेशीय है (यो वै) जो निश्चय (भूमा) भूमा है (तद् अमृतम्) वह अमृत अर्थात् मृत्युरहित मोक्षसुखरूप है (अथ) और (यद् अल्पं) जो अल्प है(तद् मर्त्यम्) वह मृत्युशील वा मरणेयोग्य है । इस वर्णनमें इस शंकाकी प्राप्ति है कि भूमाका अर्थ अधिक होना है प्राणको सबसे अधिक कहाहै अर्थात् पूर्वोक्तकथामें प्रश्न करनेपर वाक्से लेकर प्राणपर्य्यन्त एक एकसे अधिक वर्णन किया है प्राणको सबसे अधिक मानकर उससे अधिक कोई है ऐसा प्रश्न नारदने नहीं किया व प्राणहीमें सब समर्पित है प्राण प्राणहीसे चलता है प्राणही प्राण को देता है प्राण पिता है माता है प्राण को जानताहुआ अतिवादी होता है इत्यादि ऐसा सनत्कुमारने वर्णन किया है इससे प्राणही भूमा है अर्थात् प्राणहीको भूमा कहा है जो यह संशय होवे कि, जिसके तत्वज्ञानमें न अन्यको देखता है न अन्यको सुनता है न अन्यको जानता है वह भूमा है ऐसा लक्षण कहनेसे प्राण भूमा नहीं होसक्ता तो इस लक्षणसे भी प्राण में दोष नहीं प्राप्त होता सुषुप्तिअवस्थामें प्राणमात्र रहते हैं नेत्र आदि सब इन्द्रिय व मनका लय होजाता है सब इन्द्रियोंके लय होजानेसे सुषुप्तिमें न अन्यको देखता है न अन्यको सुनता है न अन्यको जानता है इससे प्राणमात्र रहनेकी सुषुप्ति अवस्था को कहा है कि, जिसमें न अन्यको देखता है इत्यादि सब इन्द्रियोंके लयरूप सुषुप्ति अवस्थाको कहकर यह कहा है **प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति** अर्थ– (एतस्मिन् पुरे) इस पुरमें अर्थात् इस शरीरपुरमें (प्राणाग्नयः एव) प्राणअग्निही अर्थात् पंचप्राण अग्निरूप (जाग्रति) जागते हैं जो यह कहा है कि, भूमाही सुख है यह कहनेसे भी प्राणको भूमा माननेमें कुछ विरोध नहीं है सुषुप्तिअवस्थामें भी दुःख निवृत्त होजाता है इससे सुषुप्ति सुखरूप है व उसमें प्राप्त भूमा प्राण सुखरूप वाच्य है और जो यह कहा है कि, **यो वै भूमा तदमृतम्** अर्थ–जो भूमा है वह निश्चय अमृत है इससे भी कुछ विरोध वा दोष नहीं होसक्ता क्योंकि प्राणको भी अमृत श्रुतिमें कहा है यथा–**प्राणो वै अमृतं** अर्थ–प्राण निश्चयसे अमृत है इस शंकाके समाधानके लिये सूत्रमें यह कहा है कि, इस वर्णनमें परमात्माही भूमा है वा होसक्ता है अन्य नहीं किस हेतु वा प्रमाणसे, सम्प्रसादसे अधिक होने के उपदेशसे, सुषुप्ति अवस्थाको सम्प्रसाद कहते हैं परन्तु यहाँ तात्स्थ्य उपचारसे अर्थात् सुषुप्तिमें रहनेसे लक्षणसे सुषुप्तिमें स्थित प्राणकी सम्प्रसाद संज्ञा (नाम) है सम्प्रसादसे अर्थात् प्राणसे

१ प्रसीदत्यस्यामवस्थायामिति सुषुप्तिः सम्प्रसादः तस्यामवस्थायामवस्थितः प्राणो लक्ष्यते सम्प्रसादात्प्राणादधि उपरि एव इत्यादि उपदेशादभिधानात्।

अधिक उपदेशसे अर्थात् कहनेसे. आशय इसका यह है कि, नामसे कोई अधिक है इत्यादि प्रश्न करनेपर नामसे वाक् अधिक है इत्यादि प्रश्नके अनुसार एक एकसे अधिक उत्तर देनेमें आशा (आकांक्षा) से प्राण अधिक है यहाँतक प्राण के अधिक होनेतक कहा इसके उपरान्त प्राणसे भी कुछ अधिक है ऐसा आगे नारदने कुछ प्रश्न नहीं किया प्राणकी अधिकता सुनकर नारदजी प्राणही को सबसे अधिक समझकर चुप होरहे तब सनत्कुमारने आपसे सत्यरूप ब्रह्मका अधिक होना जनानेके लिये विना प्रश्न यह कहा है कि, **एष तु अतिवदति यः सत्येनातिवदति** अर्थ-(तु) और (एषः) यह (अतिवदति) अतिशय कहता है (यः) जो (सत्येन) सत्यसे अर्थात् परमार्थसत्य विज्ञानवान् होनेसे (अतिवदति) अतिशय व अतिउत्तमको कहताहै अर्थात् प्राणमात्रका जाननेवाला अतिवादी नहींहै प्राणके जाननेवालेको यद्यपि अतिवादी कहा है परन्तु नामआदिकी अपेक्षासे उसका अतिवादी होना कहा है परमार्थसे अतिवादी (अतिशयवादी) वही है जिसको मैं अब कहूंगा तब नारदने यह कहा है **सोऽहं भगवःसत्येनातिवदानीति** अर्थ-(भगवः) हे भगवन् ! (सः अहं)सो मैं अर्थात् जो मैं आपको प्राप्त हूं सो (सत्येन) सत्यसे (अतिवदानि) अतिवाद करूं अर्थात् मुझे ऐसा उपदेश कीजिये जिससे सत्यसे अतिशय को कहूँ तब सनत्कुमारने कहा हे नारद ! **सत्यन्त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति** (तु) तो (सत्यम् एव) सत्यही अर्थात् सत्यरूप ब्रह्महो (विजिज्ञासितव्यम् ' जाननेकी इच्छा करनाचाहिये अर्थात् जो तुम सत्यसे (परमार्थरूपसे) अतिवाद की (अतिउत्तम वा सिद्धान्त कहनेकी) इच्छाकरते हो तो सत्यब्रह्महो तुमको जानना चाहिये सत्यशब्द इस श्रुतिमें सत्यरूप ब्रह्मका वाचक है यथा अन्य श्रुतिमें कहाहै **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ-सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त (अन्तरहित) ब्रह्म है जिसको सत्य कहनेकेयोग्य व जाननेके योग्य होना कहा है उसीको भूमा कहा है इससे प्राणसे अधिक भूमाका उपदेश है व प्राणसे भिन्न परमात्मा भूमा है और जो श्रुतिमें प्राण अमृत है यह कहा है वहाँ प्राणशब्दसे भी ब्रह्महो वाच्य है क्योंकि पंचप्राणका अमृत होना संभव नहीं है और शोकसे तरनेके लिये नारदकी प्रार्थनापर सनत्कुमारने भूमाका उपदेश कियाहै सबसे भूमा अधिक व्यापक ब्रह्महो है भिन्न अन्य के ज्ञान व उपासनसे शोकसे तरना संभव नहीं हैं क्योंकि श्रुतिमें कहा है **नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय** अर्थ--मोक्षके लिये अन्य (ब्रह्मज्ञान से भिन्न) मार्ग नहीं है इससे प्राणसे अधिक ब्रह्मको भूमा कहा है और यह प्रश्न करनेपर कि, भूमा किसमें प्रतिष्ठित है यह कहाहै **स्वे महिम्नि** अर्थ-- अपनी महिमामें अर्थात् वह सब से अधिक है उससे अधिक अन्य नहीं है जिसमें वह प्रतिष्ठित होवे ऐसा पंचप्राणका होना संभव नहीं है इससे उक्तप्रकारसे प्राणसे अधिक कहनेसे भूमा (सबसे अधिकता) सर्वव्यापक ब्रह्महीकी सिद्ध होतीहै इससे भूमा नामसे ब्रह्महो को कहाहै यह सिद्ध होताहै ॥ ८ ॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

अनु०—धर्मोंकी उसमें (परमात्मामें) प्राप्तिसे वा धर्मोंका उसमें संभव होनेसे ॥ ९ ॥

भाष्य—भूमा के लक्षणमें जो जो धर्म कहे गये हैं वह परमात्मा में संभव होने से वा उनकी परमात्मा में प्राप्तिहोनेसे अन्य में न होनेसे भी भूमा परमात्मा ही है यह सूत्रका आशय है भूमा के लक्षण वा धर्म वर्णन में यह कहा है कि, जिसमें अर्थात् जिसके तत्त्वज्ञानमें न अन्यको देखता है न अन्यको सुनता है न अन्यको जानता है वह भूमा है अर्थात् जिस सर्वव्यापक महान् ब्रह्मके ज्ञान होने व उसके ध्यानमें लग्नचित्त होनेसे सर्वत्र वही लक्षित होने में ब्रह्मसे भिन्न न अन्यको देखता है न अन्यको सुनता है न अन्यको जानता है वह भूमा है और जिस अन्यके ज्ञानमें यथार्थ ब्रह्मगत चित्त न होनेमें ब्रह्मसे भिन्न एक एकसे न्यून अधिक परिच्छिन्न अनेक अन्य पदार्थोंको देखता सुनता व जानता है वह सब अन्य अल्प हैं अथवा जिसमें ऐसा देखता है वह अल्पज्ञान है ब्रह्मके सर्वव्यापक होनेसे ब्रह्मसे भिन्न अन्यको न देखना जो कहा है यह परमात्माही में संभव होता है इससे परमात्माही को कहा है जैसा कि, अन्य श्रुति में भी परमात्माको ऐसाही वर्णन किया है यथा बृहदारण्यकमें कहा है **यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्** इत्यादि अर्थ—(यत्र) जिसमें अर्थात् ब्रह्मज्ञानमें ब्रह्म से भिन्न अन्यवस्तु में चित्त न जानेसे व ब्रह्म में प्राप्त अपने व ब्रह्ममें भेदरहित के समान एक आत्माके ज्ञान होनेमें (अस्य) इसका ब्रह्मज्ञानी का (सर्वं) सब (आत्मा एव) आत्मा ही अर्थात् परमात्माही (अभूत्) हो गया अर्थात् परमात्मा ब्रह्मही देखपडने लगा व अपनेमें भी ब्रह्मध्यानमें मग्न भेदबुद्धि नहीं (तत् अर्थात् तत्र) उसमें अर्थात् ऐसे, ज्ञान वा ध्यानमें वह ज्ञानी (केन) किस कारण वा इन्द्रियसे (कं) किसको देखै इत्यादि अन्य श्रुतिमें ब्रह्मके धर्म व ब्रह्मज्ञान के लक्षण कहे हुये समान भूमा का धर्म वर्णन किये जानेसे भूमा नामसे ब्रह्मको कहा है यह विदित होता है। जो सुषुप्ति में देखने आदि के व्यवहारका व द्वैतज्ञानका अभाव कहाहै वह भी जीव के सब इन्द्रियोंसे संगरहित व परमात्मा साक्षीरूपसे स्थित में प्राप्तहोनेकी विवक्षा (कहनेकी इच्छा) से कहा है प्राणका स्वभाव होनेकी विवक्षासे नहीं कहा, यह कैसे ज्ञात होताहै आत्माके प्रकरणमें कहनेसे सुषुप्तिमें जो सुख कहा है वह भी आत्माही के सुखरूप होने की विवक्षासे कहा है क्योंकि सुषुप्तिमें जीव सब इन्द्रियोंके संगसे रहित परमात्मा आनन्दरूपमें प्राप्त स्थित रहताहै व अपने शुद्धरूप से आपभी सुखरूप है इससे आत्माको सुख-

---

१ धर्माणां तस्मिन् उपपत्तिः धर्मोपपत्तिः तस्याः धर्मोपपत्तेः, यहां मध्य पद तस्मिन् का लोप है।

रूप कहा है ऐसेही भूमा को सुखरूप कहाहै यथा यो वै भूमा तत्सुखं अर्थ-जो भूमा है वह निश्चय सुख है इससे भूमा आत्माही को कहा है माणको नहीं कहा और यह कहा है यो वै भूमा तदमृतं अर्थ-जो भूमा है वह निश्चय अमृत है सत्य सर्वव्यापक सर्वात्मा होना अमृत होना आनन्दरूप होना अन्यमें आश्रित न होके अपनीही महिमा में प्रतिष्ठित होना यह सब धर्म परमात्माहीमें होसके हैं अन्य में नहीं इससे भूमा परमात्मा ही है यह सिद्धान्त है ॥ ९ ॥

अक्षरशब्दसे ब्रह्मही वाच्य होने में सू० १० से १२ तक अधि० ३।

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

अनु०—आकाशपर्य्यन्त धारणकरनेसे अक्षर ब्रह्म है ॥ १० ॥

भाष्य—बृहदारण्यक में गार्गीके प्रश्नपर याज्ञवल्क्यने अक्षरको आकाशका आधार वर्णन किया है अक्षरशब्द ब्रह्मवाचक है व वर्णवाचक है ओंकार अक्षर है अन्यश्रुतिमें ओंकार को यह कहाहै **ओंकार एवेदं सर्वं** इत्यादि अर्थ-यह सब जगत् ओंकारही है इत्यादि इससे यह संशय है कि, अक्षर को जो वर्णन किया है उससे प्रणव को समझना चाहिये अथवा ब्रह्मको इसके समाधान के लिये यह कहा है कि, आकाशपर्य्यन्त धारण करनेसे अक्षर ब्रह्म है । ब्रह्मशब्द सूत्रमें शेष है पूर्वसम्बंध वा प्रकरणसे ग्राह्य है आशय सूत्रका यह है कि, अक्षर ब्रह्मही है अर्थात् अक्षरशब्द से ब्रह्मही को ग्रहण करनाचाहिये किस हेतु से, आकाश-पर्य्यन्त धारण करनेसे व्याख्यान इसका यह है कि, बृहदारण्यक में यह कथा है कि, गार्गीने याज्ञवल्क्य मुनिसे प्रश्न किया है कि, जो हुआहै होताहै व होगा यह सब किसमें गुंथे वा गुहे हैं मुनिने कहा अव्याकृत आकाश में अर्थात् आकाशसूत्रात्मा में तात्पर्य यह है कि, आकाशके अन्तर्गत ये सब हैं फिर प्रश्न किया आकाश किसमें ओतप्रोत (गुथा) है अर्थात् किसमें आश्रित है कहा जिसमें आकाश है वह अक्षर है अर्थात् अक्षर में आश्रित है जिसमें यह प्रश्न व उत्तर है वह वाक्य यह है **कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति सहोवाचैतदक्षरं गार्गि** अर्थ-आकाश किसमें ओतप्रोत (गुंथा) है अर्थात् किसमें लगा वा आश्रित है वह अर्थात् याज्ञवल्क्यने कहा हे गार्गि! यह अक्षर है अर्थात् जिसमें आश्रित है वह अक्षर है प्रणव (ओंकार) वर्णमात्र में पृथिवी आदि व आकाश के धारण करनेका धर्म होना संभव नहीं है श्रुतिमें जो यह कहा है **ओंकार एवेदं सर्वं** अर्थ-यह सब ओंकारही है वह ओंकार वर्णमात्र को नहीं कहा ओंकार से वाच्य जो ब्रह्म है उसको कहा है क्योंकि वर्णमात्र को सबका आधार कहना अयुक्त व असंभव है तिससे आकाशपर्य्यन्त के धारण करने से अक्षरशब्द ब्रह्महीवाचक ग्रहण के योग्य है ॥ १० ॥

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

अनु०—वह प्रशासनसे भी ॥ ११ ॥

भाष्य—वह आकाशपर्य्यन्तकी धृति(धारणकरना) परमेश्वरहीका कर्म है परमेश्वरका कर्म इतना सूत्रमें शेष है। किस हेतु वा प्रमाणसे परमेश्वरका कर्म है प्रशासनसे (आज्ञासे) अर्थात् श्रुतिमें प्रशासनसे धारण किये जाने का वर्णन है इससे ब्रह्म का कर्म ज्ञात होता है श्रुति यह है **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः** अर्थ—हेगार्गि! (एतस्य वा अक्षरस्य) निश्चय इस अक्षर के (प्रशासने) आज्ञामें नियतकर्म में प्रवृत्त (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य व चन्द्रमा (विधृतौ) नियत कर्मकक्षा में निर्माता से धारण किये गये (तिष्ठतः) स्थित हैं वा स्थित रहते हैं आज्ञाकरना चेतन का कर्म है अचेतन अक्षर (वर्ण)में संभव नहीं है प्रधानवादी सबका कारण प्रधानको मानते हैं प्रधान भी जड है उसमें प्रशासन करनेका धर्म नहीं होसक्ता इससे अक्षर ब्रह्मही है ॥ ११ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

अनु०—अन्यभावकी व्यावृत्ति से (पृथक् करने से) भी ॥ १२ ॥

भाष्य-अन्य जो अचेतन है उसके भाव की व्यावृत्ति से अर्थात् उनके होनेसे अलगकरनेसे वा उनके होने की निवृत्ति करनेसे भी अक्षरशब्दसे केवल ब्रह्मही ग्रहण के योग्य है ब्रह्मसे अन्यके निवारण करनेमें श्रुति यह है **तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ इत्यादि** अर्थ—हे गार्गि! (वै) निश्चयसे (तत्) वह पूर्वोक्त (एतत् अक्षरम्) यह अक्षर (अदृष्टं द्रष्टृ) न देखेहुयेको देखनेवाला (अश्रुतं श्रोतृ) न सुनेहुयेको सुननेवाला (अमतं मन्तृ) न मानेहुयेको माननेवाला (अविज्ञातं विज्ञातृ) न जानेहुयेका जाननेवाला है इत्यादि देखना सुनना मानना का अन्य जो प्रधान वा अन्य जड पदार्थ हैं उनमें अभाव है देखनेवाला सुननेवाला आदि कहनेसे श्रुति चेतन ब्रह्मसे अन्य अचेतन को भिन्न करती है और स्पष्ट भी कहा है **नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ इत्यादि** अर्थ—(अतः) इससे अक्षरसे (अन्यत्) दूसरा कोई ऐसा जैसा कहागयाहै (द्रष्टृ) देखनेवाला (न अस्ति) नहीं है तथा इससे अन्य सुननेवाला नहीं है इत्यादि इसप्रकारसे श्रुतिके अन्यके निवारण करनेसे प्रधान अक्षर नहीं है जो जीवके चेतन होनेसे जीवके होनेका संशय होवे तो जीव जो शरीरमात्रका अभिमानी है उसका आकाशपर्य्यन्त का धारण करना असंभव है इससे अक्षर ब्रह्मही है यह निश्चित व सिद्धान्त है ॥ १२ ॥

अपर व पर ब्रह्ममें से त्रिमात्र प्रणवसे परब्रह्मही ध्येय होनेमें सू० १३ अधि० ४ ।

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् ॥ १३ ॥

अनु०-ईक्षतिके (ईक्षतिक्रियाके) कर्मके कथन से ॥ १३ ॥

भाष्य-इस सूत्र का व्याख्यान यह है कि, प्रश्नउपनिषद्में सत्यकामसे पिप्पलाद महर्षिने यह कहा है **एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति** अर्थ-हे सत्यकाम ! (परम् च) पर अर्थात् शुद्ध निर्विकार परमार्थ मुक्तिफलप्राप्तिकी कामना से उपासनाके योग्य और (अपरम् च) सगुण संसारी कामनासे उपासना किया गया (ब्रह्म) ब्रह्म (एतत् वै) यही है (यत्) जो (ओङ्कारः) ओङ्कार है अर्थात् ओङ्कार शब्दसे वाच्य पदार्थ है (तस्मात्) तिससे (विद्वान्) ज्ञानीपुरुष (एतेन एव) इसी (आयतनेन) प्राप्तिके साधन से अर्थात् इस ओंकारही के अर्थ विचार व ध्यानप्राप्ति के साधनसे पर व अपर उपासना के अनुसार (एकतरं) पर वा अपरफलको (अन्वेति) अनुकूलता से प्राप्तहोता है यह प्रथम कहकर फिर यह वर्णन किया है **यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणैवोमित्यनेनैवाक्षरेण परम्पुरुषमभिध्यायीत** इत्यादि अर्थ-(यः पुनः) फिर जो उपासक (एतत्) इस (ओम् इत्यनेन एव त्रिमात्रेण अक्षरेण) ओम् इस तीनमात्रावाले अक्षरसे अर्थात् अविनाशी परमेश्वर के नामसे (परम् पुरुषम्) सबसे उत्कृष्ट व सूक्ष्मपुरुषको (अभिध्यायीत) ध्यानकरै अर्थात् तदाकारवृत्तिसे चित्तको लगाकर योगाभ्याससे उसमें लय करै इत्यादि इसमें इस शंका की प्राप्ति है कि, इसमें परब्रह्म के ध्यान करनेका उपदेश किया है वा अपरब्रह्मके (सगुण ब्रह्मके) क्योंकि इसीके ध्यान साधनसे पर वा अपर दोमें से एकको प्राप्तहोता है यह कहा है और उपासक के लिये यह वर्णन किया है **स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्** अर्थ-(सः) वह उपासक (तेजसि सूर्ये) तेजवान् सूर्यमें (सम्पन्नः) प्राप्त अथवा तेजबढानेवाले वा तेजरूप प्राणसंयुक्त (पाप्मना) पापसे (विनिर्मुक्तः) छूटाहुआ अर्थात् पापोंसे रहित (सः सामभिः) वह सामवेदके अभिप्रायानुसार प्राणायामआदि योगसाधन कर्मोंसे (ब्रह्मलोकं) ब्रह्मलोकको (उन्नीयते) प्राप्तहोता है । यह कहनेसे अपर ब्रह्म प्रकृतिसंयुक्तही का उपदेश कियाजाना अनुमित होता है क्योंकि मनुष्यलोक चन्द्रलोक आदिके समान ब्रह्मलोक देशविशेष में प्राप्तहोनारूप परिच्छिन्न फल अपरब्रह्मके उपासकों में होना संभव है परब्रह्म सर्वव्यापक के जाननेवाले व उपासकको होना युक्त नहीं है इसके समाधानके लिये यह कहा है ईक्षति के कर्मके कहनेसे, आशय इसका यह है कि, पिप्पला-

दने सत्यकाम को उक्तश्रुतिमें परब्रह्महीका उपदेश किया है किस हेतु वा प्रमाणसे यह निश्चित होता है ईक्षतिक्रियाका परब्रह्मको कर्म कहनेसे अर्थात् उपासकको ब्रह्मलोक प्राप्तहोना फल जो उक्त मंत्र भागमें वर्णन किया है उसके अन्तमें यह वर्णन किया है **स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते** अर्थ-(सः) वह उपासक (एतस्मात्) इस प्रत्यक्ष (जीवघनात्) जीवके शरीरसे (परात्) पर जो सूक्ष्म कारण प्रकृति है उससे भी (परं) सूक्ष्म व उत्कृष्ट(पुरिशयं) ब्रह्माण्डमें शांत सोतेके समान अवस्थित (पुरुषं) पुरुषको अर्थात् पूर्ण परमेश्वरको (ईक्षते) देखता है अर्थात् ज्ञानदृष्टिसे देखता है इस देखने क्रिया का कर्म जिसको देखता है उसको स्पष्ट परसे पर कहनेसे परब्रह्महीका उपदेश किया है यह निश्चित सिद्ध होता है ब्रह्मलोक जो कहाहै इसका अर्थ चंद्रलोक आदिके समान देशविशेष परिच्छिन्न होना समझना युक्त नहीं है लोक शब्दका अर्थ देखना वा जानने का है इससे जहाँ ब्रह्मसे भिन्न अन्य कोई कार्यपदार्थ नहीं देखजाते केवल ब्रह्मही दृश्य है ऐसे सृष्टिरचनासे पृथक् स्थान वा स्थिति को वा दशाको प्राप्तहोता है यह ब्रह्मलोक कहनेका अभिप्राय है परसेपर कहनेसे ब्रह्मसे पर कोई पदार्थ न होनेसे वही सबसे पर होनेसे परब्रह्मही को ध्येय उपास्य कहा है अन्यको नहीं जो किसीकी अपेक्षासे पर है वा किसी की अपेक्षासे अपर है वह सर्वथा पर नहीं कहाजा सक्ता केवल परमात्माही सबसे पर है यथा अन्य श्रुतिमें कहाहै **पुरुषान्नपरं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः** अर्थ-(पुरुषात्) पुरुषसे अर्थात् परमात्मा से (परः) उत्कृष्ट (किंचित्) कुछ (न) नहीं है (सा) वही (काष्ठा) स्थितिकी मर्यादा व (सा) वही (परा गतिः) पहुँचनेकी अवधि है इससे देखनेक्रियाका कर्म परं पुरुषको कहनेसे परब्रह्महीको उपास्य कहा है यह सिद्धान्त है अपर ब्रह्मको प्राप्तहोना जो कहाहै वह उपासना के न्यून व मध्यम होनेके अभिप्रायसे कहा है न्यून मध्यम उपासन में लोक विशेष को प्राप्त होता है उत्तम उपासन से परब्रह्महीको प्राप्त है इससे मुख्य उपदेश परब्रह्मही का है ॥ १३ ॥

दहराकाश कहनेमें आकाश, जीव व ब्रह्म तीनों के होने का सन्देह होनेपर निर्णयसे ब्रह्मही आकाशशब्द से वाच्य होनेमें सू० १४ से२३ तक अधि० ५ ।

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

अनु०—दहर वाक्यमें उत्तरोंसे अर्थात् उत्तरवाक्यमें कहेहुये हेतुओंसे ॥ १४ ॥

---

१ घनशब्द मूर्तिवाचक है मूर्तौ घन इति निपातनम् इस सूत्रसे घन शब्द होताहै ।

भाष्य–छान्दोग्य उपनिषद् में दहरवाक्यमें जो दहरशब्द कहाहै वह ब्रह्मवाचक है किस प्रमाणसे वाक्यके उत्तरभागमें जो हेतु कहेगये हैं उनसे यह सूत्रका वाक्यार्थ है दहरवाक्य यह है **अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्** अर्थ–(अथ) अब (यत्) जो (इदं) यह वक्ष्यमाण (दहरं) सूक्ष्म (पुण्डरीकं) कमल अर्थात् कमलके समान हृदय (वेश्म) स्थान वा गृह(अस्मिन् ब्रह्मपुरे)इस ब्रह्मपुरमें अर्थात् शरीरमें है (अ स्मिन्)इसमें अर्थात् सूक्ष्म हृदयकमलमें जो(दहर सूक्ष्म(अन्तराकाशः)मध्य आकाश वा बीचमें आकाश है(तस्मिन्)उसमें (यत्)जिससे(अन्तः)भीतर है अर्थात् सब अन्तर्गत है(तत्)तिससे(तद्वाव)वही(अन्वेष्टव्यं)खोजकरने के योग्य व(विजिज्ञासितव्यम्)जानने की इच्छा करने योग्य है। इस श्रुतिवाक्यमें यह संशय होता है कि, दहरकमलमें अर्थात् हृदयदेशमें सूक्ष्म कमलसदृश अवकाश वा स्थानमें जो दहरआकाश अर्थात् सूक्ष्मआकाश कहा है व उसको खोजकरने व जिज्ञासाकरने योग्य वर्णन कियाहै वह भूतआकाश है वा विज्ञानात्मा (जीव) है वा परमात्मा है क्यों ऐसा संशय होता है आकाश व ब्रह्मपुर कहनेसे क्योंकि आकाश शब्द भूतआकाश व ब्रह्मकाभी वाचक है इससे दोमेंसे एकका निश्चय न होनेसे संशय होता है सामान्यसे आकाशशब्द भूतहीआकाश में रूढ है इससे दहर भूतआकाश समझाजाता है बाहर भीतर व्यापक होनेसे भूतआकाश दहरआकाश भी है यह विदित होता है। यह ब्रह्मपुर शरीरको कहना अनुमित होनेसे यहाँ ब्रह्मशब्दसे जीवका ग्रहण होता है जीवही शरीरपुरका स्वामी है ब्रह्म सर्वव्यापक का शरीर पुर नहीं होसक्ता इस संशयके निवृत्त होनेके लिये यह कहा है दहरमें (दहरवाक्यमें) उत्तरोंसे (उत्तर वाक्यमें कहेहुये हेतुओंसे) आशय इसका यह है कि, परमात्माही दहरआकाश है भूत आकाश व जीव नहीं है किस हेतु वा प्रमाणसे उत्तर वाक्योंमें प्राप्त अर्थात् कथित हेतुओंसे वह यह है कि,उत्तरवाक्योंमें यह वर्णन किया है कि, जो जिज्ञासु शिष्य ऐसा उपदेश करनेवालेसे यह प्रश्न वा शंका करै कि, **यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र**

---

१ भूमाविद्याके पश्चात् दहरविद्याके आरंभ करनेके लिये अथ शब्द कहा है इससे अथ शब्दका अर्थ अब रक्खागया है अर्थात् भूमाके उपदेशके पश्चात् अब यह अन्य उपदेश है।

२ ब्रह्मपुरका अर्थ शरीर व हृदय दोनों ग्रहण कियाजाता है जो शरीरका अर्थ ग्रहण कियाजावै तो दहर पुण्डरीक का अर्थ हृदय कमलका ग्राह्य है मुख्य अर्थ ब्रह्मपुरका हृदय ग्राह्य है क्योंकि हृदय जो कंठके नीचे दोनों स्तनोंके बीचमें उदरके ऊपर स्थान है उसमें ध्या न करनेसे ब्रह्म प्रकाशित होताहै उसमें कमलके आकार अवकाश है वह दहर पुण्डरीक है उसमें ब्रह्मका ध्यान करना चाहिये।

विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यम् अर्थ-(अस्मिन्ब्रह्मपुरे) इस ब्रह्मपुरमें (यत्) जो (दहरं पुण्डरीकं वेश्म) सूक्ष्म कमलसदृश स्थान है (अस्मिन्) इसमें अर्थात् इस कमलके समान सूक्ष्म स्थान में (दहरः अन्तराऽऽकाशः) सूक्ष्म अर्थात् उससे सूक्ष्म मध्यमें आकाश है(अत्र)इसमें अर्थात् इसप्रकार से कहेहुये दहरकमलमें (तत् किम्) वह दहर अर्थात् सूक्ष्म मध्य आकाशमें क्या (विद्यते) है अर्थात् अवकाश मात्र है तो कुछ नहीं है (यत्) जो (अन्वेष्टव्यम्) खोजकरने वा विचारने योग्य व (यत् वाव) जो निश्चय (विजिज्ञासितव्यम्) विशेष जिज्ञासाके योग्य है तो उपदेशक यह उत्तर देवै कि, **यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसौ इत्यादि** अर्थ-(यावान्) जितना (वै) निश्चय (अयम् आकाशः) यह भूतआकाश है (तावान्) उतना (एषः) यह (अन्तः हृदये) भीतरहृदय में (आकाशः) आकाश है (अस्मिन्) इसमें अर्थात् इस हृदयके आकाशमें (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक व पृथिवी (उभौ) दोनों (अग्निः) अग्नि (च) और(वायुः) वायु (च) और (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य व चन्द्रमा (अन्तः एव) भीतरही (समाहिते) स्थित हैं इत्यादि तात्पर्य इसका यह है कि, सूक्ष्म आकाश अल्पदेश मात्रमें नहीं है जे उत्तम अधिकारी नहीं हैं जिनका चित्त सर्वव्यापक परमेश्वर में विना आलम्ब व प्रतीकके स्थिर नहीं होसक्ता उनके चित्तकी एकाग्रता होने व ध्यानकरने के लिये हृदयस्थान में कमलसदृश स्थान में वा हृदयकमल में सूक्ष्म आकाश कहा है वास्तव में वह सूक्ष्म नहीं है उसको ऐसा विचार व ध्यान करै कि, जैसे बाहर प्रत्यक्ष से विदित यह भूतआकाश है इसकी कुछ सीमा नहीं है ऐसाही हृदय में दहर आकाश है इस दहरआकाश में द्युलोक पृथिवी अग्नि वायु सूर्य चन्द्रमा नक्षत्र आदि सब स्थित हैं इस उत्तरवाक्य में भूतआकाश के समान वर्णन करने से यह विदित होता है कि, ब्रह्मको आकाश के समान निराकार नीरूप व्यापक व सूक्ष्म होनेसे दहर आकाश नामसे कहा है भूतआकाशसे वह भिन्न है क्योंकि वही उपमान व वही उपमेय नहीं होसक्ता जो यह कहाजावै कि; एकही आकाश को बाहर व भीतर दो स्थान भेद की कल्पनासे उपमान व उपमेय भेद से वर्णन कियाहै तो यह भी कहना युक्त नहींहै उसी एक आकाशमें कल्पनाभेदसे उपमान व उपमेय वर्णनमें भीतरका आकाश जो अल्पदेशीय परिच्छिन्न है वह बाह्यआकाशके समान परिमाणवाला नहीं होसक्ता. जो यह शंका की जाय कि,जो दहरआकाश ब्रह्मको कहाहै तो आकाश के समानभी कहना यथार्थ नहींहै क्योंकि अन्य श्रुतिमें ब्रह्मको आकाशसेभी अधिक वर्णन किया है श्रुति यह है **ज्यायानाकाशात्** इत्यादि अर्थ— आकाशसे अधिक है इत्यादि. तो उसका उत्तर यही है कि, केवल देशविशेष में ब्रह्मका

ध्यानकरने के लिये व आकाशके उक्त साधर्म्यसे आकाश नामसे व आकाशके समान हृदय देशमें कहा है परिमाण प्रतिपादन के अभिप्रायसे नहीं कहा इससे कुछ दोष वा श्रुतिविरोध नहीं है और उपमान उपमेय होने ही के हेतुसे भिन्नता सिद्ध नहीं होती अन्य हेतुसे भी पृथक्ता सिद्ध होती है यथा भूतआकाश के एकदेश कल्पित आकाश में स्वर्ग व पृथिवीआदि का अन्तर्गत होना संभव नहीं होता. और दहरआकाशको उत्तरवाक्यमें यह भी वर्णन किया है **एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्प इति** अर्थ-(एषः आत्मा) यह आत्मा(अपहतपाप्मा) पापरहित (विजरः) जरारहित (विमृत्युः) मृत्युरहित (विशोकः) शोकरहित (विजिघत्सः) भूखरहित (अपिपासः) पियासरहित (सत्यकामः) सत्यकाम व (सत्यसंकल्पः) सत्यसंकल्प है इत्यादि यह गुणभूतः आकाशमें घटित नहीं हो सक्ते परिच्छिन्नशरीरअभिमानी जीव के अन्तर्गत द्युलोकआदिका होना व जीवका पापरहित होना आदि व सत्यकाम सत्यसंकल्प होना संभव नहीं है जो ब्रह्मपुर शरीर माना जावै तो यद्यपि इस शरीरपुरका जीवही स्वामी ज्ञात होता है तथापि सर्वव्यापक व सबका अधिपति होनेसे सब शरीरोंकाभी स्वामी ब्रह्म है इससे शरीर ब्रह्मपुर है मुख्य अर्थ ब्रह्मपुरका हृदय है क्योंकि हृदय स्थानमें ध्यान करने से उसमें ब्रह्म प्रकाशित होताहै इससे हृदय ब्रह्मपुर है यह द्युलोकआदि अन्तरगत होना तथा पापरहित होना सत्यकाम सत्यसंकल्प आदि जो वर्णन कियेगये हैं यही दहर आकाश के ब्रह्म होनेके हेतु हैं यह धर्मभूत आकाशमें संभव न होनेसे केवल परमात्मा दहरआकाशउपासना व ध्यानके योग्य होना सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गञ्च ॥ १५॥

अनु०—गति व शब्दसे तथा (तेहीप्रकारसे) जिससे लिङ्ग (प्रमाण वा हेतु) भी दृष्ट (जानागया) है ॥ १५ ॥

भाष्य—इससे भी परमेश्वर ही है कि, दहर वाक्य के उत्तर में शेषवाक्य में परमेश्वर ही के प्रतिपादक गति व शब्द हैं और जैसा दहर वाक्यके उत्तर शेषवाक्यमें जीवोंकी गति ब्रह्म न वर्णन किया है ऐसेही जीवोंका सुषुप्ति में ब्रह्ममें जानेका अर्थात् प्राप्त होनेका प्रमाण अन्य श्रुति में दृष्ट (ज्ञात) है इन हेतुओंसे दहर परमात्मा ही है यह सिद्ध होता है इसका स्पष्ट व्याख्यान यह है कि, दहर के वर्णन में उत्तर भागमें यह वर्णन कियाहै **इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदंति** अर्थ-(इमाः)ये सर्वाः(प्रजाः)सब प्रजा अर्थात् जीव(अहः अहः)दिन दिनप्रति(गच्छन्त्यः) जानेवाले (एतं) इस दहर (ब्रह्मलोकं) ब्रह्मलोकको (न विदन्ति) नहीं जानते अर्थात् सुषुप्तिअवस्थामें इस दहर ब्रह्मलोकको सब

जीव प्राप्त होतेहैं तथापि अज्ञानग्रस्त अन्तःकरण होनेसे इस ब्रह्म लोकको नहीं जानते इस श्रुति में दहरको ब्रह्मलोकशब्द कहनेसे व जीवों का सुषुप्तिअवस्था में ब्रह्मको जाना कहनेसे दहर ब्रह्म है यह निश्चित होताहै और जैसा इस श्रुतिमें कहाहै ऐसाही अन्यश्रुतिमें भी सुषुप्तिमें ब्रह्मको प्राप्तहोना वर्णन कियाहै श्रुति यह है **स्वप्नान्तं सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषःस्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति** इत्यादि अर्थ--हे सोम्य!(स्वप्नान्तं) स्वप्नान्त को अर्थात् सुषुप्तिको(विजानीहि) जानो कब जीव सुषुप्त होता है यह वर्णन करते हैं (यत्र) जिसमें अर्थात् जिसकालमें (एतत् पुरुषः)यह पुरुष जीव (स्वपिति नाम) स्वपिति कहाजाता है (तदा) तब(सता) सत्के साथ अर्थात् सत्शब्दसे वाच्य ब्रह्मके साथ यह पुरुष जीव (सम्पन्नः) संयुक्त वा प्राप्त (भवति) होता है (स्वम् अपीतः) अपने सजातीय आत्मा ब्रह्ममें लय (भवति) होता है इत्यादि जो यह कहाजावे कि, श्रुति में जो ब्रह्मलोक को जाना कहा है वह ब्रह्मके लोक सत्यलोक को जाना कहा है तो प्रतिदिन जीवोंके सत्यलोक जानेकी व आनेकी कल्पना करना सर्वथा अयुक्त व असंभव है तिससे सबके हृदयमें साक्षिरूपसे सर्वव्यापक परमात्माही को दहर आकाश कहा है इससे दहरको ब्रह्मलोक कहा है ब्रह्मलोक शब्द का अर्थ इस श्रुतिमें ब्रह्मही लोक (दर्शनीय) है यह कर्मधारय समाससे ग्राह्य है ब्रह्मका लोक यह अर्थ ग्राह्य नहीं है क्योंकि ऐसा अर्थ ग्रहण करना युक्त नहीं है इस ब्रह्मप्रतिपादक गति व ब्रह्मशब्द कहनेसे दहर ब्रह्मही है यह सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

अनु०–इसके धारणके महिमा की इसमें (परमेश्वरमें) उपलब्धि होनेसे ॥ १६ ॥

भाष्य–दहर परमेश्वरही है किसहेतुसे इसके दहरके धारण करनेका जो महिमा है उसकी इसमें (परमेश्वरमें) उपलब्धि होनेसे अर्थात् दहरको अन्तराकाश व भूतआकाशके समान होना व उसमें सब समाधान कहकर उसीको आत्मा पापरहित होना आदि गुणोंयुक्त होने का उपदेश करके प्रकरण सम्बंधमें उसीको सब लोकों की मर्यादा धारण करनेका सेतु अर्थात् बंधान वर्णन किया है यह भिन्न २ लोकोंकी मर्य्यादा धारणकरनेकी महिमा जो कहाहै उसकी केवल परमेश्वरहीमें उपलब्धि (प्राप्ति) होनेसे अन्य में संभव न होनेसे दहर परमेश्वर है धारणकरने की महिमा वर्णन में श्रुति यह है **अथ य आत्मा ससेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय** अर्थ–अथ (यः आत्मा) जो आत्मा है (सः) वह (एषाम्) इन (लोकानां) लोकोंके (असम्भेदाय)

---

१ स्वपितिका अर्थ अपनेमें लयका है ।

भेद न होनेके लिये अर्थात सीमा न टूटने अपनी २ नियत मर्य्यादा में रहनेके लिये (विधृतिः) धारण करनेवाला अर्थात् मर्य्यादा धारणकरनेवाला (सेतुः) सेतु है अर्थात् बंधान वा मेड है अर्थात् जैसे जलसन्तान का धारण करनेवाला लोक में खेतों के न फूटनेके लिये बंधान होते हैं ऐसेही भिन्न भिन्न लोकों-का व गुण कर्म भेद अनुसार वर्ण आश्रम आदिकोंका नियमसे धारण करनेवाला उनकी मर्य्यादाओंमें भेद न होने के लिये और एक दूसरे में न मिलने के लिये यह आत्मा सेतु वा बंधान है ऐसाही परमेश्वर के महिमा का वर्णन अन्य श्रुतिमें भी है यथा **एतस्य वाअक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्य्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः** अर्थ--हे गार्गि ! (वै) निश्चय (एतस्य) इस (अक्षरस्य) अक्षरकी अर्थात् अविनाशी ब्रह्मकी (प्रशासने) आज्ञामें (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य व चन्द्रमा (विधृतौ) धारणकियेगये (तिष्ठतः) स्थितहैं इत्यादि इसप्रकार से अन्यश्रुति से भी सूर्यआदि लोकोंका धारणकरनेवाला परमे-श्वरही वर्णन कियेजानेसे धारणकरनेका महिमा परमेश्वरहीमें प्राप्त वा सिद्ध होनेसे दहरमें जो लोकोंके धारण करनेकी महिमा वर्णित है वह दहरके परमे-श्वर होनेका हेतु है इससे दहर परमेश्वरही है ॥ १६ ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

अनु०—प्रसिद्धिसे भी ॥ १७ ॥

भाष्य—प्रसिद्ध होनेके हेतुसे भी दहर परमेश्वरही है अर्थात् दहरको आकाश नामसे कहाहै आकाश परमेश्वरका नाम अन्य श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है यथा **सर्वाणि वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते** इत्यादि अर्थ-निश्चयसे यह सब भूत आकाशही से उत्पन्न होते हैं इत्यादि जीवके लिये कहीं आकाश शब्द नहीं कहा अर्थात् किसी श्रुतिमें नहीं कहा, भूतआकाश में यद्यपि आकाशशब्द प्रसिद्ध है तथापि पूर्वोक्त अनुसार उपमान व उपमेय भाव आदि संभव न होनेसे भूत आकाश ग्रहण के योग्य नहीं है इससे दहरआकाश परमेश्वरही है ॥ १७ ॥

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥ १८ ॥

अनु०—इतरके लिङ्ग (लक्षण) से वह है जो यह मानाजावै, तौ नहीं, संभव न होनेसे ॥ १८ ॥

भाष्य-इतर परमात्मा से अन्य जो जीव है वाक्यमें उसके लिङ्ग होने से भी जो जीव दहर मानाजाय तो नहीं है. क्यों नहीं है वाक्यशेष में जो धर्म कहा है वह जीव में संभव न होनेसे यह सूत्रका अर्थ है. आशय इसका यह है कि, वाक्यशेषमें

---

१ विधृति शब्द में कर्ताअर्थमें क्तिच् प्रत्यय है ।
२ परामर्श शब्द का अर्थ यहाँ लिङ्ग है ।

अर्थात् दहर प्रकरण के उत्तरभाग में यह वर्णन किया है **अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतीरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः इत्यादि** अर्थ-(अशरीरः वायुः)शरीररहित वायु (अभ्रम्) मेघ (विद्युत्) बिजुली (स्तनयित्नुः) गर्जनेवाले वज्ररूप मेघ (एतानि) ये (अशरीराणि) शरीररहित अर्थात् प्रथम आकाशमें सूक्ष्मरूपसे प्राप्त आकाश के समानरूप होनेसे वायुआदिरूपसे पृथक् २ गृह्यमाण न होनेसे शरीररहित आकाशही नामसे कहेगये व ज्ञातहुये (तत् अर्थात् तत्र) उसमें अर्थात् वर्षासमयमें (यथा) जैसे (एतानि) ये वायुआदि (परं ज्योतिः) परंज्योतिको अर्थात् सूर्य्यकी ग्रीष्मऋतु के परंज्योति नाम तापको (उपसम्पद्य) प्राप्तहोकर (अमुष्मात् आकाशात्) इस आकाशसे अर्थात् द्युलोकसम्बंधी आकाशदेशसे उठकर अर्थात् पृथक् प्रकट होकर (स्वेन रूपेण) अपने रूपसे अर्थात् वायु बहेनाधर्मयुक्त अपने रूपसे व बिजुली अपने ज्योतिलताआदि चपलरूपसे व मेघ हाथी पर्वत आदिके समानरूप से व स्तनयित्नु अपने गर्जित वज्ररूपसे अपने अपने रूपसे (अभिनिष्पद्यन्ते) प्रकट वा प्राप्त होते हैं (एवम् एव) ऐसेही (एषः) यह (सम्प्रसादः[1]) सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त जीव (अस्मात् शरीरात्) इस शरीरसे (समुत्थाय) उठकर (परं ज्योतिः) परंज्योतिको अर्थात् परं प्रकाशस्वरूप परमात्मा को (उपसम्पद्य) प्राप्तहोकर वा परमात्माकी समीपता को प्राप्त होकर (स्वेन रूपेण) अपने रूपसे अर्थात् विकाररूप शरीर इन्द्रियरहित अपने शुद्ध सत्आत्मा रूपसे (अभिनिष्पद्यते) सिद्ध वा प्राप्त होता है (सः) वह (उत्तमः पुरुषः) उत्तम पुरुष है इत्यादि इसमें यह शङ्का होना संभव है कि, ब्रह्म सर्वव्यापक का शरीरसे उठना व पृथक् होना कहना युक्त नहीं है जीव के लिये शरीरसे उठना कहना युक्त है इससे जीवही शरीर में प्राप्त दहर है अर्थात् जीवही को दहर कहाहै यह मानना चाहिये इसके समाधान के लिये यह कहा है कि, यदि उक्तहेतुसे जीव दहर है ऐसा माना वा कहा जावे तो जीव दहर नहीं है क्यों नहीं है ? दहर के जो धर्म आकाशकी उपमासे आकाश के समान होना तथा पापरहित आत्मा होना आदि वर्णित है वह संभव न होनेसे अर्थात् परिच्छिन्न जीव की आकाशकी उपमा व जीवके पापरहित होना आदि धर्म संभव न होनेसे जीव दहर नहींहै दहर शब्दसे ब्रह्मही वाच्य है यह सिद्धहोता है विशेष व्याख्यान अगले सूत्रके भाष्यमें किया जायगा ॥ १८ ॥

---

[1] सम्प्रसाद शब्द का अर्थ सुषुप्ति है परन्तु यहां तात्स्थ्य उपचार वा लक्षणा से सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त जीव का वाचक है अर्थात् सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त जीवको सम्प्रसाद कहा है ।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

अनु०--उत्तरसे होवै नहीं आविर्भूतस्वरूप है इससे ॥ १९ ॥

भाष्य--सूत्रके अनुवादमें नहीं शब्द तु शब्दके अर्थमें ग्रहण कियागया है क्योंकि तु शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति (निवारण) के लिये है अर्थात् निषेध करने के लिये है इस आशयसे नहीं यह अर्थ रक्खागया है उत्तरसे होवै यह कहनेका अभिप्राय यह है कि, उत्तरवाक्य जो प्रकरणमें प्राजापत्यवाक्य है उससे जीव का होना ज्ञात होता है इससे जीव होवै वा मानाजावै जो यह कहाजावै तो जीव नहीं है. क्यों नहीं है? आविर्भूत स्वरूप अर्थात् प्रकटहुआ स्वरूप जिसका ऐसा वा प्रकटहुये स्वरूपवाला वर्णन किया है इससे यह सूत्रका वाक्यार्थ है अब विशेष व्याख्यान यह है कि, प्राजापत्यवाक्यमें यह वर्णन है **य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युः इत्यादि** अर्थ--(यः आत्मा) जो आत्मा (अपहतपाप्मा) पापरहित (विजरः) जरारहित (विमृत्युः) मृत्युरहित इत्यादि इसप्रकारसे पापरहित होने आदि गुणसंयुक्त आत्माको कहकर यह कहा है **सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः** अर्थ--(सः) वह अर्थात् वह आत्मा (अन्वेष्टव्यः) खोजनेके योग्य है और (सः) वह (विजिज्ञासितव्यः) विशेष जाननेकी इच्छा करने योग्य है ऐसी प्रतिज्ञा करके उस आत्माको ऐसा वर्णन कियाहै **य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा** अर्थ--(यः) जो (एषः) यह (अक्षिणि) नेत्रमें (पुरुषः) पुरुष (दृश्यते) देखाजाता है (एषः आत्मा) यह आत्मा है यह कहने से ऐसा ज्ञात होता है कि, नेत्रमें स्थित देखनेवाला जीवात्मा को कहा है तथा उसीको यह कहा है **य एष स्वप्ने महीमानश्चरत्येष आत्मेति, तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति** अर्थ--(यः) जो (एषः) यह (स्वप्ने) स्वप्नमें (महीमानः) पूज्यमान अर्थात् वासनामय विषयोंसे पूज्यमान (चरति) विचरता है (एषः) यह (आत्मा इति) आत्मा है (यत्र) जिसमें अर्थात् जिस कालमें (तत् एतत्) वह उक्त यह (सुप्तः) सोयाहुआ (समस्तः) सब इन्द्रिय निरस्त होगये जिसके ऐसा अर्थात् सब इन्द्रियोंसे रहित (सम्प्रसन्नः) प्रसन्नरूप (स्वप्नम्) स्वप्नको (न विजानाति) नहीं जानता है अर्थात् स्वप्न नहीं देखता है (एषः) यह (आत्मा इति) आत्मा है इस प्रकारसे जीवहीको अवस्थान्तरमें प्राप्तहुआ कहकर उसीको पापरहित होनाआदिधर्मयुक्त वर्णन किया है ऐसा उक्त प्रजापतिके वाक्यको इन्द्र सुनकर चलागया फिर विचारकर आकर प्रजापतिसे कहा कि, सुषुप्तिअवस्थामें यह देवदत्त है, मैं हूँ इस प्रकारसे अन्य व अपने आत्मा व सब भूतों को नहीं जानता है इससे यह विदित होताहै कि, आत्मा नष्ट होजाता है यह सुनकर प्रजापतिने कहा कि, आत्मा

से भिन्न अन्यका व्याख्यान न करूंगा अर्थात् जिस आत्माको मैं प्रथम तुमसे वर्णन किया है उसीको अब व्याख्यान करूँगा ऐसी प्रतिज्ञाकरके इन्द्रसे शरीरको नाशमान तुच्छहोना कहकर शरीर की निन्दापूर्वक यह वर्णन किया है **एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः** अर्थ– यह सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त जीव इस शरीरसे उठकर परंज्योति को अर्थात् परमप्रकाशस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होकर वा परमात्मा की समीपता को प्राप्त होकर अपनेरूप से अर्थात् शरीरसे पृथक् होकर विकाररूप शरीर इन्द्रियोंसे रहित अपने शुद्ध सत् आत्मा रूपसे सिद्ध वा प्राप्त होताहै वह उत्तम पुरुष है आशय इसका यह है कि, जीवही सुषुप्ति से परे तुरीय में शरीर से उठकर अर्थात् शरीरइन्द्रिय अभिमानरहित परमात्माको प्राप्त हो अपने शुद्धरूप को प्राप्त होता है सुषुप्ति में अविद्यायुक्त सत्तामात्रसे रहता है इन्द्रियोंके सम्बंध न रहनेसे इन्द्रिय के विषयोंको प्रत्यक्ष व स्मरण नहीं करता और जो जीव नष्ट होजावै तो मैं अच्छे सुखसे सोया ऐसा सुषुप्ति सुखका अनुभव व पूर्वदिन वा कालका अनुभव न होवै इस उक्त प्रजापतिके वाक्यसे ऐसा ज्ञात होता है कि, जीवही का शरीर से उठना व उत्तम पुरुष होना कहा है और इस वर्णन से परमेश्वरके धर्म जीवमें संभव होते हैं इससे इसमें अन्तर हृदयमें जो दहर आकाश कहा है वह दहरशब्द से वाच्य जीवही है जो ऐसा संशय हो तो उत्तर यहहै कि,नहीं, उत्तरवाक्यमें अर्थात् प्राजापत्यवाक्य में भी जीवका उपास्य वर्णन कियाजाना संभव नहीं है, क्यों नहीं है, जीवको अपने स्वरूपसे प्रकटहोना कहने से अर्थात् जीव अपने स्वरूपसे प्रकट होता है यह कहा है इससे जीव दहर नहीं है जो यह नेत्रमें पुरुष देखाजाता है ऐसा द्रष्टाको कहकर उसीको स्वप्न-आदि अवस्थाओं में कहनेसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति व तुरीय चार अवस्थाओंमें विश्व, तैजस, प्राज्ञ व ब्रह्म चार विभुरूप से कहनेका प्राजापत्यवाक्य का तात्पर्य है अर्थात् जाग्रत्से क्रमसे कहकर सम्प्रसाद अर्थात् सुषुप्तिअवस्था को प्राप्त प्राज्ञ रूप जीव शरीर से उठकर अर्थात् शरीरअभिमान मिथ्याकल्पना को आत्मज्ञान विवेकप्राप्त होनेसे त्यागकरके सुषुप्तिअवस्थासे परे जो तुरीयअवस्था है उसके वर्णनमें यह कहा है कि, परंज्योति को प्राप्त होकर अपने रूपको प्राप्त होता है अर्थात् अविद्याआदि क्लेश वा दोषों से छूटकर शुद्ध ज्ञानस्वरूप स्वसामर्थ्यवाला मुक्तरूप होता है जीवके सजातीय होनेसे जातिमात्र के लक्ष्य व मुक्त होनेमें जीवको शुद्ध चेतन ब्रह्मकी अतिसमीपता व आनन्दभोगमें तुल्यता प्राप्त होनेके साधर्म्यसे उपचारसे (लक्षणासे) लोकमें यह पुरुष सिंह है राजा यमराज है इत्यादि कहनेके समान अभेदके समान जीवको ब्रह्मही स्वरूप कहाहै जब पारमार्थिकरूपमें आत्मजातिमात्रमें भेद न होनेसे ब्रह्मभावसे जीवको कहाहै जीव होनेके

लक्ष्यसे नहीं कहा तब उसी ब्रह्मभाव की अपेक्षा जीवको पापरहित होना आदि धर्म युक्त वर्णन किया है प्रकट भया वा प्राप्तभया पारमार्थिक ब्रह्मस्वरूप है पापरहित होनाआदि अमृत अभय होना धर्म कहनेसे प्राजापत्य वाक्यसे भी जीवको पापरहित, अमृत अभय होने के धर्मसंयुक्त कहना सिद्ध नहीं होता न जीव को दहर कहना सिद्ध होता है जो यह शंका होवे कि, जो जीव को नहीं कहा तो अपने रूप को प्राप्त होना क्यों कहा है इसका उत्तर यह है कि जैसा वर्तमान अज्ञानअवस्था में जीव अपने को जानता है यह ज्ञान मिथ्या भ्रमरूप है जीवका शुद्धस्वरूप अविद्याआदि से रहित होनेमें प्राप्त होता है, जबतक अविद्याआदिकों की निवृत्ति नहीं होती व ऐसे श्रुति उपदेश से यथा **नासि त्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातो नासि त्वं संसारी सद्यत्तत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्रस्वरूपस्त्वमसि** अर्थ--हे जीव ! (त्वं) तू (देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघातः) देह, इन्द्रिय, मन, व बुद्धियोंका संघात अर्थात् मेल वा संयोगरूप (नासि) नहीं है और (त्वं) तू संसारी (नासि) नहीं है (यद् सद) जो सत् है अर्थात् जिसका अस्तित्व कभी नष्ट नहीं होता सत्तासे नित्य विद्यमान रहता है (तत्) वह (सत्यं) सत्य है (सः) वह (चैतन्यमात्रस्वरूप आत्मा) चैतन्यमात्र है स्वरूप जिसका ऐसा आत्मा (त्वम्) तू (असि) है, तत्त्वज्ञान को नहीं प्राप्तहोता तबतक अविद्यायुक्त नाना कर्मफल को भोगता संसारी बनारहता है अविद्या से रागआदि क्लेशों व कर्मफल भोगरूप बंधनमें प्राप्त रहताहै आत्मज्ञान प्राप्तहोनेके पश्चात् ब्रह्मज्ञानको प्राप्त हो इस शरीर आदिके अभिमानको छोड़कर ब्रह्मके समान शुद्ध चेतनरूप होताहै जैसा श्रुतिमें कहा है **स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** अर्थ— (सः यः) सो जो(तत् परं ब्रह्म) उस परब्रह्मको (वेद) जानता है(ब्रह्म एव) ब्रह्महीं (भवति) होता है ब्रह्मके ज्ञान होने व उसके ध्यानउपासनसे मुक्त होनेमें ब्रह्मके समान आनन्दस्वरूप क्लेशरहित चैतन्यमात्रस्वरूप स्वसामर्थ्यवाला होनेसे उपचार वा लक्षणासे ब्रह्महीं होना कहाहै जैसे लोकमें किसी राजाके प्रधानअधिकारी को अति अधिकार प्राप्त होनेमें यह राजाहीं है ऐसा कहते हैं। इस शरीरसे उठकर अपने स्वरूपको अपने शुद्धचेतन आनन्दमयतत्त्वरूपको प्राप्त होना पारमार्थिक रूपका प्राप्तहोनाहै शरीरसे उठना अर्थात् शरीरके अहङ्कार वा अभिमानको छोडना व पारमार्थिक रूपको प्राप्तहोना इसप्रकारसे है जैसे स्फटिक वास्तव में स्वच्छ व शुक्ल है. अरुण, नीलआदि रूप जपाकुसुम (गोडहरका फूल) आदि के प्रतिबिम्ब उपाधिसे उसमें प्राप्त होते हैं प्रमाणसे उत्पन्न विवेक प्राप्तहोने व जपाकुसुमआदिका संयोग दूरहोनेसे पीछे स्फटिक अपने प्राचीनही स्वच्छ व शुक्ल-

१ अविद्याआदि कहनेसे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पांच क्लेशोंके कहनेका तात्पर्य है ।

रूपसे प्रकट व ज्ञात होता है ऐसेही यह जीव शरीर, इंद्रिय, मन, बुद्धि विषय वेदना उपाधिभिन्न चेतन ज्योतिस्वरूप है अविद्यासे रागद्वेष मलयुक्त दुःख सुख भोगको प्राप्त होताहै आत्मज्ञान होनेपर अपने प्राचीनही शुद्ध चेतन ज्ञान स्वरूपको जानता है व तत्त्वरूपसे प्रकट होताहै देहआदि उपाधिसे रहित सत्के विवेक होनेको शरीरसे समुत्थान (शरीरसे उठना) व विवेकज्ञानके फलको स्वरूपकी प्रकटता कहाहै विवेक न होनाही शरीरका होना व विवेकहोना शरीरका न होनाहै क्योंकि विवेक होनेमें जीव शरीर विकारबंधनसे रहित होजाताहै इससे विवेकके होनेको शरीरसे समुत्थान कहा है इसमें यह श्रुति प्रमाण है **अशरीरं शरीरेष्ववस्थितं** अर्थ—शरीरोंमें शरीररहित है अर्थात् आत्मज्ञानी योगी शरीरोंमें होतेहुये भी शरीररहित हैं अब यह आशय जानना चाहिये कि, प्रथम पर्य्यायमें जो नेत्रमें पुरुष देखाजाता है अर्थात् जो नेत्रमें देखनेवाला पुरुष है यह कहा है यह कहने से जीवकी जाग्रत् अवस्था को कहा है दूसरे पर्य्यायमें, जो यह स्वप्न में पूज्यमान विचरता है यह कहनेसे उसी जीवकी स्वप्नअवस्थाको कहा है क्योंकि जो मैं स्वप्नमें हाथी को देखाथा अब जागनेमें उसको नहीं देखता ऐसा ज्ञान होनेमें अवस्था दो होना व दोनोंमें ज्ञाता एकही होना विदित होता है तथा तीसरे पर्य्यायमें स्वप्नको नहीं जानता न इन भूतोंको जानता है तीसरेमें उसी एक आत्माका होना वर्णन किया है इसमें सब विषयों के ज्ञान से रहित आत्माको जो कहा है यह कहनेसे सुषुप्तिअवस्थामें विषयोंके ज्ञानमात्रका निषेध किया है आत्मा विज्ञाता श्रुति प्रमाण से जो अविनाशी है उसका निषेध नहीं किया चौथे तुरीय अवस्था में प्रजापतिने इन्द्रसे इन्द्रके संशय करनेपर यह कह कर कि, उसी उक्त आत्माका फिर व्याख्यान करूँगा शरीर आदि की उपाधिकी निन्दा करके उसी सुषुप्तिअवस्थाको प्राप्त जो जीव है उसको कहा है कि, सम्प्रसाद (सुषुप्तिमें प्राप्त जीव) इस शरीरसे उठकर अपने रूप को अर्थात् शुद्ध चेतन अविद्याआदि दोषरहित रूपको प्राप्त होता है क्रमसे चारों अवस्था को कहा है तीन को कहकर चौथी अवस्थामें ब्रह्मको प्राप्त होकर ब्रह्मसम होनेसे जीवको ब्रह्मके समानचेतन आनन्दरूप होनेके साधर्म्य से उपचारसे ब्रह्मभावसे पापआदि रहित अमृत अभय कहा है अन्यथा परं ज्योति को प्राप्त होकर अपने रूपको प्राप्तहोना कहनेही से भेद सिद्ध होता है । और जैसे प्रथम, क्रमसे लक्ष्य दिखाने के लिये लोकमें समीपस्थ तारोंको दिखाकर अरुन्धतीको लक्ष्य कहने व द्वितीया के सूक्ष्मचन्द्र को देखने की इच्छा करनेवाले को आदिमें चन्द्र के स्थानकी दिशा में किसी वृक्षको प्रत्यक्ष कराके फिर पर्वतके शिखर समीपस्थ को देखाकर लक्ष्य देखा ने के समान: नेत्रमें जो पुरुष देखा जाता है इत्यादि कथन से नेत्र पुरुष आदि में सर्वव्यापक ब्रह्मका अध्यास करके वा मानके स्थूल देखनेवाले अज्ञानियोंको बाह्य विषयसे क्रमसे सूक्ष्म ब्रह्म को

लक्ष्य करनेको उपदेश किया है इससे ब्रह्महो को नेत्र पुरुष आदि व पापआदि रहित होनेके धर्मयुक्त वर्णन किया है जीव को नहीं कहा यह सूत्रका आशय है ॥ १९ ॥

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

अनु०–और अन्य के लिये परामर्श है अथवा अन्यका अर्थ (प्रयोजन) है जिसका ऐसा परामर्श (विचार वा निरूपण) है ॥ २० ॥

भाष्य–अन्य अर्थात् जीवसे भिन्न जो परमेश्वर है उसके लिये जीवका परामर्श है जीव के लिये नहीं है आशय इसका यह है कि, यदि ऐसी शङ्का होवे कि, दहरके वर्णन में वाक्यशेषमें जो यह सम्प्रसाद (सुषुप्ति को प्राप्त) इस शरीरसे उठकर इत्यादि जीवके परामर्शमें कहा है इससे जीवका ग्रहण होता है यदि यह दहरशब्द वाच्य परमेश्वरमें घटित किया जावै तो परमेश्वरमें व्याख्यान कियागया माननेमें न जीवके उपासन का उपदेश होगा न प्रकृत परमेश्वर का विशेष उपदेश होगा इससे ऐसा वर्णनही व्यर्थ होना सिद्ध होगा इसके समाधान के लिये कहा है कि, अन्य के लिये परामर्श है अर्थात् जो यह जीवका परामर्श है यह जीवस्वरूप का पर्य्यवसायी (सिद्धान्तकरनेवाला) नहीं है किन्तु परमेश्वरस्वरूपका पर्य्यवसायी है अर्थात् जीव के वर्णन वा विचारका मुख्यप्रयोजन नहीं है मुख्य प्रयोजन वाक्यका ब्रह्मस्वरूप निरूपण व ज्ञान होनेके लिये है यह इस व्याख्यान से विदित होता है कि, सम्प्रसाद नाम से कहा गया जीव जाग्रत्अवस्थाके व्यवहारमें देह इन्द्रियोंका स्वामी होकर स्वप्नमें देह इन्द्रिय विषयों के वासनाओंसे निर्मित स्वप्नोंको मनद्वारा अनुभव करके सुषुप्ति अवस्थामें शरीर अभिमान से उठकर अर्थात् शरीर अभिमान व सब इन्द्रियोंसे रहित होकर उससे परे तुरीय में परंज्योति जो दहर आकाश शब्दसे कहा गया ब्रह्म है उसीकी अतिसमीपता को प्राप्त हो जीवत्वधर्म शरीर व इन्द्रियोंके अभिमान को त्याग कर अपने पारमार्थिक रूपको प्राप्तहोता है इसका आशय यह है कि, वह परंज्योति जो जीवको प्राप्त होनेके योग्य है जिसके प्राप्तहोनेसे जीव अपने पारमार्थिक रूपको लाभकरता है वह यह आत्मा पापरहित होने आदि गुणसंयुक्त ब्रह्मउपास्य है यह सूचित करनेके लिये अर्थात् ब्रह्मउपास्य को लक्ष्य उपदेश करनेके लिये जीवका परामर्श है इससे भी ब्रह्मही दहर शब्दसे वाच्य होना सिद्ध होताहै॥२०॥

अल्पश्रुतिरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

अनु०–अल्प कहनेवाली श्रुति है जो यह कहा जावे तो इसका समाधान पूर्वही कहागया है ॥ २१ ॥

भाष्य—जो ऐसी शङ्का की जावे कि, श्रुति दहर को अल्प वर्णन करती है श्रुतिमें कहा है **दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः** अर्थ—दहर इसमें अन्तर आकाश है (हृदयके मध्यदेशमें आकाश है) श्रुतिप्रमाण से अल्प होनेसे दहर परमेश्वर नहीं है. क्योंकि, सर्वव्यापक परमेश्वर अल्प नहीं होसक्ता जीवका शरीरमात्र के अधिष्ठाता होने व उसीमें सुखदुःख भोक्ता व इन्द्रियविषयोंका ज्ञाता होनेसे अल्प एकदेशीय होना विदित होता है इससे जीवही दहरशब्द से कहागया है तो इसका उत्तर यह है कि, सर्वव्यापक परमेश्वरही का आपेक्षिक अल्पहोना कल्पना कियाहै इस शङ्काका उत्तर वा समाधान द्वितीय पाद के सप्तम सूत्र में पूर्वही वर्णन किया गया है जिसका आशय यह है कि, जैसे महाकाश घटाकाश आदि नामसे कहाजाता है ऐसेंही सर्वव्यापक परमात्मा को भी देशविशेष में नाम विशेष से कहा है वही यहाँ समझलेना चाहिये और दहर आकाश वर्णन करनेवाली श्रुतिही में अन्तराकाश होना वर्णन करने के पश्चात् यह भी वर्णित है कि, जितना यह बाहर आकाश है इतनाही यह अन्तर हृदयमें आकाश है इससे भी उपाधिभेदसे आपेक्षिक अल्प होना वर्णन करनेका अभिप्राय सिद्ध होता है तिससे दहर परमात्माही को कहा है यह सिद्धान्त है ॥ २१ ॥

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

अनु०—उसकी अनुकृतिसे भी ॥ २२ ॥

भाष्य—उसकी अनुकृति (अनुकरण) से अर्थात् उसके दहरआकाश नामसे उक्त परब्रह्म के अनुकरण से (समानआकार वा रूप होनेसे) भी दहराकाश शब्द ब्रह्महीका वाचक है भूतआकाश का वाचक नहींहै क्योंकि श्रुतिमें बंधसे मुक्त हुये आत्मज्ञानी को ब्रह्मके समान रूप व धर्मवाला होना कहा है श्रुति यह है[1] **यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति** अर्थ— (यदा) जब (पश्यः) देखनेवाला अर्थात् अंतःकरण की वृत्तियों से देखनेमें समर्थ ज्ञानीपुरुष (ब्रह्मयोनिम्) ब्रह्म नाम वेद के कारण अर्थात् वेद के उत्पादक (कर्तारम्) कर्ता अर्थात् जगत्के कर्ता (बनानेवाले) (पुरुषं) पूर्णव्याप्त (रुक्मवर्णम्) प्रकाशरूप वा प्रकाशमय (ईशम्) सर्वशक्ति-मान् परमेश्वरको (पश्यते) देखता है अर्थात् ध्यान व ज्ञानदृष्टि से जानता है (तदा) तब (सः) वह (निरञ्जनः) शोक मोह राग द्वेषादिसे रहित (विद्वान्) विद्यावान् अर्थात् ज्ञानवान् (पुण्यपापे) पुण्य वा पापको अर्थात् मिलेहुये पुण्य व पापको (विधूय) छोड़कर (परमम् , परम अर्थात् अविद्या आदि क्लेशोंमें और कर्म व उनकी फलभोगसम्बंधी वासना के संग

---

१ यह मुण्डकउपनिषद् की श्रुति है ।

से रहितहोना रूप चेतनतामात्र सजातित्व वा समतासे अतिउत्कृष्ट (साम्यं) समताको अर्थात् परमात्माकी समताको (उपैति) माप्त होताहै ॥ २२ ॥

अपि स्मर्यते ॥ २३ ॥

अनु०—स्मरणभी कियाजाता है अर्थात् गीतामें स्मरण किया जाता है इससे स्मृतिभी प्रमाण है ॥ २३ ॥

भाष्य—अनुकृति अर्थात् समान आकार वा समान धर्मका होना स्मृति से भी सिद्ध है यथा गीतामें यह कहा है **इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः॥सर्वेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**[१]अर्थ—इस ज्ञान को आश्रय करके मेरे समान धर्मको अर्थात् मेरे सदृश रूप व सुखको प्राप्तहुये मुक्त ज्ञानी पुरुष सृष्टिकी उत्पत्तिमें उत्पन्न नहीं होते हैं प्रलयमें दुःख व लय को नहीं प्राप्त होते हैं कोई 'अनु तेस्तस्य च' और 'अपि स्मर्यते' इन दोनों सूत्रोंको भिन्न अधिकरण में मानते हैं अनुकृतिके अर्थमें अनुकृति के स्थानमें अनुभाति शब्दको ग्रहण करके **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** अर्थ—(सर्वम्) सब (तमेव भान्तं) उसी प्रकाशकरते हुये के (अनुभाति) पीछे वा तुल्य प्रकाशित होता है (तस्य भासा) उसके प्रकाशसे (इदं सर्वं) यह सब जगत् (विभाति) प्रकाशित होता है इस श्रुतिका प्रमाण देते हैं परन्तु ऐसा मानना "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः" "द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्" इन दो अधिकरणोंपर ब्रह्मविषय होना प्रतिपादन करनेसे "ज्योतिश्चरणाभिधानात्" इत्यादिमें परब्रह्म का पूर्वही प्रकाशरूप होना और उसके अंशमें सबका होना वर्णित व सिद्ध होने से व सूत्र अक्षर के विरुद्ध अनुकृतिका अनुभाति कल्पना करने और एकही पूर्व प्रकरण सम्बंधसूचक चकार के अर्थ की दृष्टिको त्यागकर भिन्नता कल्पना करनेसे अयुक्त है दहरप्रकरण समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

अंगुष्ठमात्रशब्दसे परमात्मा वाच्य होनेके वर्णनमें सू० २४ व २५ अधि० ६ ।

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

अनु०—शब्दही से परिमाण किया गया है ॥ २४ ॥

---

१ स्मरण व स्मृति दोनों शब्द एकही अर्थवाचक हैं श्रुति (वेदवाक्य) के अर्थ को स्मरणकरके उसका आशय लेकै जो आप्त महात्मा वा ऋषियोंने कहा है उसके अर्थ स्मरण करके कहनेके हेतुसे स्मृति कहते हैं अथवा महात्माओंके वाक्य उत्तमधर्म व वेदके अर्थको स्मरण कराते हैं इससे स्मृति नामसे कहे जाते हैं यथा गीता मनुस्मृति आदि इससे यहां स्मरण कियाजाना स्मृति से सिद्ध होनेका ज्ञात होनेके अर्थ में रक्खा है ।

भाष्य—कठवल्ल्युपनिषद्में यह वर्णन किया है **अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते तद्वैतत् अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः एतद्वैतत् वल्ली ४ मं० १२, १३ तथा। अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति वल्ली ६ मं० १७** अर्थ—(मध्य आत्मनि) शरीर के बीचमें (अंगुष्ठमात्रः) अंगूठेकी बराबर (पुरुषः) पुरुष अर्थात् परिपूर्ण व्याप्त (तिष्ठति) स्थित अर्थात् विराजमान है वह (भूतभव्यस्य) भूत भविष्यत् में हुये व होनेवाले पदार्थोंका (ईशानः) स्वामी है (ततः) तिससे अर्थात् उस पुरुष आत्मा के ज्ञान से कोई (न विजुगुप्सते) ग्लानिको प्राप्त नहीं होता (तद्वैतत्) जिसको तुमने पूंछा है वह यही है १२ (अंगुष्ठमात्रः) अंगुष्ठकी बराबर अर्थात् अङ्गुष्ठमात्र हृदयस्थान में होनेसे उपचार से अंगुष्ठमात्र कहागया (पुरुषः) पुरिनाम ब्रह्माण्डमें अथवा शरीरमें वा शरीरके एकदेश हृदयमें शयनकरनेवाला जीव वा परमात्मा (अधूमकः) धूमरहित अर्थात् निर्मल (ज्योतिरिव) ज्योतिके समान ज्ञानप्रकाशस्वरूप (भूतभव्यस्य) भूत भविष्यत्का (ईशानः) स्वामी (स एव) वही (अद्य) आज है अर्थात् वही वर्तमान में सबका अध्यक्ष (स्वामी) है (स उ श्वः) वही कल रहेगा (तद्वैतत्) वह यही आत्मा है १३ (अंगुष्ठमात्रः) अंगुष्ठमात्र (अन्तरात्मा) भीतर शरीर व इन्द्रियोंके समुदायमें व्याप्त (पुरुषः) पुरुष (जनानां) जनोंके अर्थात् प्राणियोंके (हृदये) हृदयमें (सदा) सदा (सन्निविष्टः) अवस्थित है (तम्) उसको(मुञ्जादिव) मूंजसे जैसे (इषीकाम्) सीक वा सिरकीको खींच लेते हैं वैसे (धैर्येण) धैर्यसे अर्थात् प्रमादरहित धीरे २ (स्वात् शरीरात्) अपने शरीर से (प्रवृहेत्) पृथक् करै अर्थात् शरीर से भिन्न आत्माको विचारे और (तं) उसको (शुक्रम्) शुद्ध पवित्र (अमृतम्) अमृत अविनाशीको (विद्यात्) जानै दोबार तं विद्यात् आदि ग्रंथ की समाप्ति सूचित करने के लिये पठित है १७ अब इस में यह संदेह होता है कि, अंगुष्ठमात्रपरिमाणयुक्त जो वर्णन किया है यह प्रत्यगात्मा (प्रत्येक जीवात्मा) को कहा है अथवा परमात्मा को जीवात्मा का वर्णन किया जाना इस हेतुसे युक्त होना ज्ञात होता है कि, जीवको अन्य श्रुतिमें भी अंगुष्ठमात्र होना वर्णन किया है यथा **प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिरंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः** अर्थ—प्राणोंका स्वामी जीवात्मा संकल्प वा अहङ्कारसंयुक्त सूर्यके समान प्रकाशरूप अंगुष्ठपरिमाण अपने कर्मोंके अनुसार विचरता है और परमात्माको अंगुष्ठमात्र होना सुना नहीं जाता और न सर्वव्यापक का

अंगुष्ठमात्र होना संभव है परन्तु जीवका वर्णन कियाजाना निश्चित होनेमें जीवका सबका ईशान (स्वामी) होना भी सिद्ध होगा यह युक्त नहीं है इस सन्देह निवृत्त होनेके लिये शब्दहीसे परिमाण कियागया है यह कहा है अर्थात् अंगुष्ठमात्र (अंगुष्ठपरिमाण) परमात्माही को वर्णन किया है कैसे यह सिद्ध होता है शब्दहीसे यह हेतु है आशय यह है कि, भूत भविष्यत् का स्वामी है ऐसा कहनेसे शब्दहीसे परमात्माको अंगुष्ठमात्र कहना सिद्ध होताहै क्योंकि कर्मअनुसार भोग करनेवाला पराधीन जीवका भूत भव्यका ईशान (स्वामी) होना संभव नहीं है व्यापक ब्रह्मका अंगुष्ठमात्र होना कैसे संभव है इसका समाधान अगले सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ २४ ॥

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

अनु०—हृदयकी अपेक्षासे मनुष्यके अधिकार होनेसे ॥ २५ ॥

भाष्य—उपासक के हृदयदेशमें उपासना करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति होनेसे हृदयमें परमात्माके वर्तमान होनेसे और हृदयके अंगुष्ठप्रमाण होनेसे हृदयस्थानकी अपेक्षा करके उपचारसे परमात्माको अंगुष्ठमात्र कहा है जैसे सर्वत्र व्यापक आकाश सूक्ष्म पदार्थके अन्तर्गत होनेसे उसीके परिमाण से कहा जाता है अब इस शङ्काकी प्राप्ति है की हृदयमें स्थित होने से व हृदयके परिमाणसे प्रमित होनेसे भी अंगुष्ठपरिमाण मानना वा कहना युक्त नहीं है क्योंकि सब प्राणियोंका हृदय अंगुष्ठही मात्र नहीं होता इसके समाधान के लिये मनुष्य के अधिकार होने से यह कहा है अर्थात् अन्यप्राणि पशु पक्षी आदि ज्ञानरहित होनेसे ब्रह्मज्ञान व उपासना के अधिकारी नहीं होसक्ते केवल मनुष्य के अधिकारी होने से मनुष्यके हृदयके परिमाण से वर्णन किया है ॥ २५ ॥

देवताओंके अधिकारनिरूपण में सू० २६से ३०तक अधि०७।

तदुपर्य्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

अनु०— वह(उपासना) ऊपरवालोंमें (देवताआदिकोंमें) भी संभव है यह बादरायण मानते हैं संभव होनेसे अर्थात् देवताओंमें अर्थित्व(अर्थीहोना) संभव होने से अथवा यह अर्थ है कि, उनके (मनुष्योंके) ऊपरवालों को (देवताओंको) भी अधिकार है संभव होनेसे यह बादरायण मानते हैं ॥ २६ ॥

भाष्य—पूर्व सूत्रमें मनुष्यके अधिकार होनेका वर्णन किया है अब देव आदिकोंका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है वा नहीं है यह विचार करनेमें इस सूत्रमें यह वर्णन कियाहै कि, ब्रह्मज्ञान व ब्रह्मउपासनमें मनुष्यही मात्रके अधि-

कार होनेका नियम नहीं है उनके ऊपर अर्थात् मनुष्योंसे अधिक सामर्थ्यवाले श्रेष्ठ देवता हैं उनको भी अधिकार है किस हेतुसे अधिकार होना सिद्ध होता है संभव होनेसे अर्थात् मनुष्योंके समान देवताओंकाभी शरीरवान् और मोक्षके अर्थी होना संभव होनेसे तात्पर्य यह है कि, उपनिषद्वाक्योंसे देवताआदिकों का शरीरधारी व मोक्षाभिलाषी होना व ब्रह्मचर्य में प्रवृत्त होना सिद्ध है यथा छान्दोग्यमें यह वर्णन किया है **तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुः इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणान्तौ हासंविदा-नावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच इत्यादि** अर्थ-(तद्ह) उसको अर्थात् प्रजापति के वचनको (उभये) दोनों (देवासुराः) देवता व राक्षस (अनुबुबुधिरे) सुन सुन कर क्रमसे समझते भये (ते) उन्होंने (ऊचुः) यह कहा (देवानां) देवताओंका (इन्द्रो ह वै) इन्द्रही अर्थात् स्वयं राजाही (अभिप्रवव्राज) गया अर्थात् प्रजापतिके पास गया और (असुराणाम्) असुरोंका अर्थात् असुरोंका राजा (विरोचनः) विरोचन (प्रवव्राज) प्रजापतिके पास गया (तौ ह) वे दोनों (असंविदानौ एव) परस्पर विरुद्ध पक्ष व संशय करते (समित्पाणी) हाथ जोडे हुये (प्रजापतिसकाशं) प्रजापतिके पास (आजग्मतुः) आये (तौ ह) वे दोनों (द्वात्रिंशतं) बत्तीस (वर्षाणि) वर्ष (ब्रह्मचर्य्यं) ब्रह्मचर्य्य में अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत करते (ऊषतुः) वसते भये (तौ ह) उससे (प्रजापतिः) प्रजापतिने (उवाच) कहा इत्यादि इन वाक्योंसे देवता व असुरोंका समझना कहना, जाना, आना, ब्रह्मचर्यमें प्रवृत्तहोना व रहना सिद्ध होनेसे देवता आदि-कों का शरीरवान् होना व सुखार्थी हो ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेके लिये प्रजापतिके पास जानेसे मोक्षाभिलाषी होना सिद्ध है क्योंकि प्रथम जब प्रजापतिने यह उपदेश किया है कि, जो आत्मा (परमात्मा) पापरहित जरा मृत्यु शोक भूख प्यासरहित है सत्यकाम सत्यसङ्कल्प है वह खोज करने के योग्य है वह जानने के योग्य है जो उसको जानता है वह सब लोक व सबकामोंको प्राप्त होता है यह सुनकर फिर पीछे विचार कर यथार्थ ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने के लिये इन्द्र व विरोचन प्रजापतिके पास जाकर ३२ वर्ष ब्रह्मचर्य धारणकर उपदेश को प्राप्तहोकर ज्ञानलाभ किया है इससे शरीरवान् व मोक्षार्थी होनेसे देवताआदि भी अधिकारी हैं यह बादरायण आचार्य का मत है ॥ २६ ॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

अनु०-कर्ममें विरोध होवै नहीं अनेक की सिद्धि देखने वा जानने से ॥ २७ ॥

भाष्य–जो यह शंका होवे कि, जो शरीरवान् होने से देवताओंका विद्या में अधिकार होना मानाजावेगा तो शरीरवान् माननेमें कर्ममें विरोध होगा अर्थात् शरीरवान् एकसमय में अनेकस्थान में प्राप्त नहीं होसक्ता इससे अनेक यज्ञोंमें आ-ह्वान किये गये अनेक यज्ञोंके भाग को एकसमय में शरीरधारी होनेसे ग्रहण नहीं कर सक्के इसके समाधान के लिये यह कहा है कि, नहीं, अनेक की सिद्धि देखने से, अर्थात् कर्म में विरोध नहीं होसक्ता क्यों नहीं होसक्ता श्रुति व स्मृति प्रमाण से देवताओंकी अनेक शरीर धारण करने की सिद्धि देखने से, अनेक शरीर धारणके सामर्थ्यसे अनेक शरीरों से एकसमय में अनेक यज्ञभागों को ग्रहण करते हैं यथा बृहदारण्यक उपनिषद्में शाकल्यने याज्ञवल्क्यसे यह प्रश्न किया है **कति देवाः** अर्थ–देवता कितने हैं याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया "**त्रय-श्च त्रीश्च शता त्रयश्च त्रीश्च सहस्रेति** अर्थ–छः अधिक तीन सौ तीन हजार फिर यह प्रश्नकरने पर कि, वे छः अधिक तीन सौ तीन हजार देवता कौन २ हैं यह उत्तर दिया है **महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्येव देवा इति** अर्थ–इतने इनके महिमा हैं देवता तेतीसही हैं अर्थात् इतनी सङ्ख्या एक२ देवता के अनेकरूप धारण करनेकी महिमासे कहा है देवता तेतीसही हैं फिर प्रश्न करनेपर तेतीस के ये नाम वर्णन किये हैं आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र व प्रजा-पति और फिर यह वर्णन किया है कि, यह भी तेतीस अग्नि पृथिवी वायु आकाश आदित्य दिव के महिमा के भेद हैं इन्हीं छः में उक्त सब अन्तर्गत होजाते हैं छः देवता तीनों लोकमें हैं छःमेंसे भी तीन अर्थात् तीनों लोक हैं इनके अन्तर्गत सब हैं और ये तीन दो अन्न व प्राण में और ये दोनों एकप्राण में अर्थात् सब प्राणरूप ब्रह्म में अन्तर्गत होतेहैं इससे सबसे मुख्य एक ब्रह्म देवता है इसप्रकार वर्णन से एक २ देवता का अनेकरूप होने का प्रमाण देखाजाता है तथा योगबलसे अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त योगियों को अनेक शरीरधारण करनेका सामर्थ्य होता है जैसे सौभरि आदि शक्तिवानों का अनेक शरीर धारण करना वर्णित है भारतस्मृति में यह वर्णन कियाहै **आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ । कुर्याद्योगी बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्** अर्थ–हे भरतर्षभ! योगी योगबलको प्राप्त करके आत्मासे बहुत शरीरों को उत्पन्न करके उन सबसे पृथिवीमें विचरै किसीसे विषय को प्राप्त हो किसीसे तपकरै यह सामर्थ्य होता है ऐसेही देवताओं में सामर्थ्य होनेसे अनेक शरीर धारण करनेकी सिद्धि से कर्ममें विरोध नहीं होता वा नहीं है ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् २८॥

अनु०–शब्दमें होगा, अर्थात् शब्दमें विरोध होगा ऐसा कहा जावे नहीं इससे प्रत्यक्ष व अनुमान से ॥ २८ ॥

भाष्य—पूर्वसूत्र के सम्बंधसे विरोधशब्दकी अनुवृत्ति होने से विरोध शब्द का ग्रहण होता है । पूर्वसूत्रमें विरोध होने की शङ्का को निवारण कियाहै अब वैदिक शब्दमें विरोध होनेके संशय के निवारणके लिये शङ्कापूर्वक समाधान करनेमें यह वर्णन किया है कि, अनेकशरीर धारण करनेकी सिद्धि से कर्म में विरोध न होवै परंतु शब्द में विरोध होगा जो ऐसा कहाजावै आशय इसका यह है कि, शब्द में अर्थात् वैदिक शब्दमें विरोध होनेका प्रसङ्ग है क्योंकि वेदका नित्य होना अङ्गीकार किया गया है वैदिक शब्दोंका इन्द्र-आदि शरीरवान् अनित्य अर्थों के साथ संयोग होनेसे वैदिक शब्दोंका नित्य-होना असंभव है अर्थात् वैदिक शब्दभी अनित्यही सिद्ध होंगे क्योंकि मनुष्योंके समान देवताओंकाभी जन्ममरण होता है इससे जिन देवताओंके नाम वेदमें वर्णन किये गये हैं उनकी उत्पत्ति के पहिले उनके नाम शब्दोंका होना संभव नहीं है जैसे कोई बालक उत्पन्न हुआ और उसका यज्ञदत्त नाम रक्खा गया तब उत्पन्न होने व नाम रक्खेजाने के पश्चात् यज्ञदत्त शब्द से वाच्य होता है और मरण के पश्चात् फिर यज्ञदत्त के अर्थात् यज्ञदत्त शब्द से वाच्य व्यक्तिके न रहने से फिर यज्ञदत्त शब्दका व्यवहार नहीं रहता ऐसेही देवताओंके जन्म के पहिले उनके नाम वैदिक शब्दों के न होने व जन्म के पीछे संकेतमात्रसे नियत होनेसे वैदिक शब्द अनित्य होंगे इससे शब्द के नित्य होनेमें विरोध होगा इसके समाधान में यह कहाहै, नहीं, अर्थात् शब्दके नित्य होनेमें विरोध न होगा किस हेतुसे न होगा इससे (शब्द से) उत्पन्न होनेसे अर्थात् वेदमें वर्णित अर्थों के होने-पर उनके नाम वेदमें नहीं कहे गये किन्तु जो नाम वा शब्द वेदमें प्रथमही थे उनके अनुसार उन पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है इससे (शब्दसे) देवतादिक देवता-आदि पदार्थों संयुक्त जगत् उत्पन्न होनेसे शब्द में विरोध न होगा (प्रश्न) जगत्का उत्पन्न होना ब्रह्मसे होसक्ता है जडशब्दसे उत्पन्नहोना कहना ही अयुक्त व असं-भव है (उत्तर) ब्रह्मसे उत्पन्नहोना सत्य है ब्रह्म जो सबका उत्पन्नकर्ता व कारण है उससे जैसा उत्पन्न होनेको कहा है उस प्रकारसे शब्दसे उत्पन्न होना कहनेका आशय नहीं है शब्दोंके स्थिर रहने व नित्य अर्थसम्बंधी नित्यशब्दमें शब्दव्यवहार के योग्य अर्थव्यक्तिकी सिद्धि होती है इस अभिप्रायसे शब्दसे उत्पत्ति कही है अर्थात् उत्पन्न देवता ऋषि आदि के नाम पहिले वैदिकशब्दमें होनेसे और वही नाम देवता आदिकोंके कहेजाने से उपचार वा लक्षणासे शब्दसे उत्पन्न होना कहाहै (प्रश्न) वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा, मरुत् उत्पत्तिमान् अनित्यमें कैसे नित्य अर्थ सम्बंध संयुक्त नित्यशब्द कहना युक्त होसक्ता है (उत्तर) व्यक्तिकी उत्पत्ति होतीहै आकृतिकी नहीं होती आकृति में शब्दका नित्य सम्बंध होना कहा है व्यक्तियोंके साथ शब्दका सम्बंध नहीं है जैसे गोशब्द का आकृति वा जातिके साथ सम्बंध व्यक्तियोंकी उत्पत्तिसे पहिले व उन

के नाश होनेके पश्चात् बना रहता है व्यक्तियोंके अनन्त होनेसे व्यक्तियों के साथ संबंध ग्रहण संभव नहीं होता (शङ्का) यह उत्तर युक्त नहीं है क्योंकि वसु इन्द्र आदि शब्द आकृतिवाचक नहीं हैं देवता विशेषवाचक होनेसे व्यक्तिवाचक ग्रहण के योग्य है (उत्तर) व्यक्ति-वाचक नहीं हैं कोई देवता स्थानविशेषके सम्बंध निमित्तसे इन्द्र,वसुआदि नामसे कहे जाते हैं जैसे कोई मनुष्य हो जिसको सेनापति होने आदिका अधिकार दिया जाता है वही सेनापति आदि नामसे कहा जाता है एक व्यक्ति के नष्ट होनेपर भी अन्यव्यक्ति को वही अधिकार मिलनेसे वहीं सेनापतिआदि नाम कहेजाते हैं ऐसेही जिस स्थानके अधिष्ठाता को इन्द्र नाम से कहा है उसस्थान में जो जो अधिष्ठाता होगा इन्द्रही नाम से वाच्य होगा इससे अनेक व्यक्तियोंके नष्ट होने पर भी इन्द्रशब्दवाच्य अर्थ व इन्द्रशब्द बनाही रहता है ऐसेही वसु आदि में समझना चाहिये और सृष्टि उत्पन्न करने में जो शब्द इन्द्रआदि वेद में हैं उनसे वाच्य आकृति जो पूर्वकल्पमें थीं उनको स्मरण करके ब्रह्मा फिर उसी-प्रकार से उक्तनामोंकी व्यक्तियोंको उत्पन्न करता है इससे शब्दसे उत्पन्न होनेसे शब्द के नित्य होनेसे शब्द में विरोध नहीं है (प्रश्न) शब्दका सृष्टि उत्पत्ति से प्रथम होना आकृति वा जातिवाचक होना और स्थानविशेष के अधिष्ठाता को उसीनाम से कहना और विद्यमान नामोंसे उनसे वाच्य सृष्टि को पूर्वके आकार रूप से फिर करना कैसे सिद्ध होता है इसके प्रमाण के लिये यह कहा है प्रत्यक्ष व अनुमान से अर्थात् श्रुति व स्मृति प्रमाण से. श्रुति प्रमाणको प्रत्यक्ष व स्मृति प्रमाण को अनुमान संज्ञासे कहा है श्रुतिमें शब्दपूर्वक सृष्टिका होना वर्णन कियाहै **यथा स भूरिति व्याहरत स भूमिमसृजत स भुव इति व्याहरत सोऽन्तरिक्षमसृजत** अर्थ-(सः) वह अर्थात् प्रजा-पतिने (भूः इति) भू यह शब्द (व्याहरत) मनमें कहा वा स्मरण किया (सः भूमिं) उसने भूमिको (असृजत) उत्पन्न किया ऐसेही उसने भुव शब्द वा नाम को स्मरणकरके अन्तरिक्ष (आकाश) को उत्पन्नकिया अर्थात् जैसे कुम्हार घट आदि बनाने के पूर्वही घट आदि नाम व उन नामोंसे वाच्य घटआदि अर्थोंके बनावट, वा आकार को स्मरण करके घटआदि पदार्थों वा द्रव्यों को बनाता है ऐसेही प्रजापति ने प्रथम नाम व आकारको स्मरणकरके पृथिवी आदि पदार्थों को निर्मित किया है तथा **एत इति वै प्रजापति-र्देवानसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितॄंस्तिरःपवि-त्रमिति ग्रहानित्यादि** अर्थ- एते यह शब्द स्मरण करके प्रजापतिने

---

१ एते शब्दका अर्थ यह है अनेक वस्तु जो प्रत्यक्ष विद्यमान हों उनके लिये वा यह शब्द कहा जाता है और सामान्यसे सब के लिये कहाजाता है सर्वनाम होनेसे व देवताओंके सब स्थान में प्राप्तहोनेसे व सर्वत्र यह शब्दसे वाच्यहोसकने से एते शब्द देवताओंका स्मारक (स्मरणकरानेवाला) श्रुतिमें कहाहै ।

(देवान्) देवताओंको (असृजत) उत्पन्नकिया (असृग्रम्) रुधिर यह अर्थात् मनुष्य देहमें रुधिर प्रधान होनेसे रुधिरशब्द स्मरणकरके (मनुष्यान्) मनुष्यों को (असृजत) उत्पन्नकिया (इन्दवं) चन्द्रमाको अर्थात् चन्द्रलोकमें पितरोंके रहनेसे पितरोंके स्मारक चन्द्रमाशब्दको स्मरणकरके (पितॄन्) पितरोंको उत्पन्न किया (तिरःपवित्रं) तिरःपवित्रको अर्थात् ग्रहोंका तिरस्कार करनेवाला जो पवित्र सोमस्थान ग्रहोंका स्मारक है उसको स्मरण करके (ग्रहान्) ग्रहोंको अर्थात् ग्रहोंको उत्पन्न किया इत्यादि श्रुतियोंसे शब्दपूर्वक सृष्टि होना सिद्ध है स्मृतिप्रमाणसे भी सिद्ध है यथा **सर्वेषाञ्च स नामानि कर्माणि च पृथक्पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे** अर्थ–सबोंके पृथक् २ नाम व कर्म सहित पृथक् संस्था अर्थात् आकृति व रूपोंको वेदके शब्दोंहीसे आदिमें परमेश्वरने निर्माण किया है इत्यादि वैदिक शब्द पूर्वक सृष्टिका होना श्रुतिस्मृतिप्रमाणसे सिद्धहोनेसे शब्दके (शब्दरूप वेद के) नित्य होनेमें विरोध नहीं है यह सूत्रवाक्यका अर्थ व आशय है अब यह जानना चाहिये कि, श्रुतिस्मृतिमें जो सृष्टिसे पहिले शब्दका होना व शब्द पूर्वक सृष्टिका होना वर्णन किया है उसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि अनादि है कालविशेषमें प्रलय होता है उसमें कर्मसंस्कार कारणरूप स्थितरहनेसे कर्मानुसार फिर सृष्टि होती है इसीप्रकारसे सृष्टि प्रलय होतेजानेसे प्रवाहरूप सृष्टिप्रलयका सम्बंध बना रहता है जब फिर सृष्टि होती है तब पूर्वसृष्टि में जिस जिस जाति व आकृतिमान् पदार्थमें जिस जिस वाचक शब्दका सम्बंध रहा है उस उस के स्मरणपूर्वक उन शब्दोंसे वाच्य पदार्थोंकी फिर ईश्वर सृष्टि करता है सृष्टिकी आदि व अन्त सिद्ध न होने व प्रवाहरूप नित्य होने से व उसमें प्रकटहुये पदार्थोंके वाचक शब्दोंमें प्रवाह रूप वाच्यवाचकतासम्बंध भी नित्य होनेसे शब्दकी नित्यता है अन्यथा नाशरहित रूप मुख्य अर्थसे वर्णात्मक कार्यरूप शब्दकी नित्यता सिद्ध नहीं होसक्ती क्योंकि कार्यरूप वर्णात्मक शब्द कण्ठतालु आदिसे उत्पन्न होनेसे और उत्तर २ वर्णके उच्चारणमें पूर्व पूर्वका नाश होनेसे और शब्द व अर्थका सम्बंध सामयिक (सांकेतिक) होनेसे विशेषशब्दसे विशेष अर्थ वाच्य होनेका सम्बंध नित्य नहीं होसक्ता कारणरूप शब्द नित्य है यह सत्य है इससे आकाश गुणरूप कारण व कार्यरूपको अभेदमानकर जाति नित्य माननेसे शब्दका नित्य होना स्वीकार होसक्ता है सूत्रकारने भी इसीप्रकारसे आगे सूत्रमें आकृति व जातिवाचक शब्दका नित्य होना वर्णन किया है उसका फलितार्थ यही ज्ञात होता है कि जैसे सृष्टि व कर्मसंस्कारके आदि होने का प्रमाण नहीं है इससे नित्य होना व रहना मानाजाता है ऐसेही धर्म अधर्म कर्म ब्रह्म मोक्षपर्य्यन्त के वाचक वैदिक शब्द नित्य हैं शब्दका विशेष वर्णन न्याय और पूर्वमीमांसा-

दर्शनमें देखना चाहिये यहाँ आवश्यकता मात्रके लिये संक्षेपसे अभिप्रायको सूचित करादिया है ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

अनु०—इसीसे नित्यत्व है ॥ २९ ॥

भाष्य—इसीसे अर्थात् नियत आकृति व जातिवाले देवताआदि जिसमें पूर्व-कल्पके समान होते हैं ऐसे जगत्की उत्पत्ति वेदशब्दसे कहनेहीसे वैदिकशब्दोंका नित्यत्व (नित्यहोना) सिद्ध है वा जानना चाहिये यदि यह संशय होवे कि, ऋषियोंका वेदका कर्त्ता होना वर्णित है जैसा विश्वामित्र सूक्तमें कहा है **मन्त्रकृतो वृणीते नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्योऽयं सोऽग्निः** अर्थ—मन्त्रका कर्त्ता वर्णन कियाजाता है मन्त्रके कर्त्ता ऋषियोंको नमस्कार है यह वह मन्त्रकर्त्ता अग्नि है इत्यादि ऐसेही वसिष्ठ आदिका वेदमंत्रकर्त्ता काण्डकर्त्ता होना लिखित होनेसे वेदका अनित्य होना ज्ञात होता है तौ इसका उत्तर यह है कि, मन्त्रकर्त्ता होनेका भी अभिप्राय पूर्वकल्पमें विदित रहे मन्त्रोंको विना अध्ययन किये-हुये (विनापढे हुये) क्रम वर्ण स्वरमें भेद व विकाररहित मन्त्रोंके शब्द उच्चार व अर्थका यथार्थ ज्ञान होना है नये शब्द व अर्थ आप से कल्पना करनेका नहीं है । जिस २ नाम, आकार व शक्तिका ऋषि पूर्वकल्पमें जिस जिस मंत्रकाण्ड व सूक्तका ज्ञाता रहाहै उस २ नाम आकार व शक्तिका ऋषि फिर सृष्टि की आदिमें प्रजापति उत्पन्न करके उस २ मंत्र काण्ड व सूक्तके स्मरण में नियुक्त करता है प्रजापति से नियुक्त (प्रवृत्तकियेगये) ऋषि तपकरिकै तपसे सिद्धि व सामर्थ्य प्राप्त होने पर पूर्व सृष्टिमें जो विद्यमान मंत्र आदि थे उनको विना अध्ययन किये स्मरणकरके यथार्थ स्वर वर्ण अर्थसंयुक्त जानकर व्यक्त करते हैं यही मंत्रका करना है जैसा कि, व्यासजी नें कहा है **युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा** अर्थ—युगके अंत में प्रत्यक्ष न रहेहुये लुप्त वेदोंको इतिहाससहित पूर्वके समान ब्रह्मासे जनाये गये ऋषियों ने प्राप्त किया जो ऋषि जिस मंत्रको प्रकट करता है उसका नाम उस मंत्रके साथ कहाजाता है इससे वेदके नित्य होनेमें विरोध नहीं है अब यह संशय है कि, अवान्तर प्रलय में ऐसा मानलिया जायगा परन्तु महाप्रलयमें जिसमें जाति आकृति सबका लय होजाता है वाच्यपदार्थ कुछ न रहनेसे शब्दका प्रयोग वा शब्दकी प्रवृत्ति असंभव है तब शब्द न रहनेसे नित्य होना सिद्ध न होगा इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ २९ ॥

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

अनु०—समान नामरूप होनेसे प्रलयमें भी विरोध नहीं है श्रुतिप्रमाणसे व स्मृतिसे भी ॥ ३० ॥

भाष्य—इस संशय निवृत्त होनेके लिये कि, प्रलयमें जाति व व्यक्तिके प्रलय होने में वाच्य अर्थके न रहनेसे वाचकशब्दका भी रहना संभव न होनेसे शब्द कैसे नित्य होसक्ता है यह कहा है कि, समान नाम रूप होनेसे प्रलयमें भी विरोध नहीं है अर्थात् प्रलय होनेमें संस्कार के अनादि होनेकी उपलब्धि होती है किस हेतुसे उपलब्धि होती है प्रलयके पश्चात् फिर सृष्टिकी आदिमें पूर्वके समान नामरूप होनेसे, जैसे जागने की अवस्थामें नाम रूप आदिका व्यवहार होता है सुषुप्तिअवस्थामें सबका लय होजाता है नाम रूप आदि कुछ ज्ञात नहीं होते लयहोनेके पश्चात्भी फिर जागने की अवस्थामें पूर्वहीके समान नाम व रूप आदिका ज्ञान व व्यवहार होता है ऐसेही जागने व सोनेके समान उत्पत्ति व प्रलय जाननेके योग्य है श्रुतिमें कहा है **यदा सुप्तः स्वप्नं न कश्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैश्शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिंगा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका इति** अर्थ—(यदा)जब (सुप्तः)सोया हुआ जीव (कश्चन स्वप्नं) कोई स्वप्न(न पश्यति) नहीं देखता है (अथ अस्मिन्) और इसमें अर्थात् सुस्वप्नमें (प्राणे एव) सबका प्राणरूप परमात्माहीमें (एकधा भवति) एकप्रकारका होता है अर्थात् इन्द्रियोंकी वृत्ति व व्यापारसे रहित हो परमात्मामें मिलकर एक ऐसा होता है (तदा) तब (एनं) इसमें (वाक्) वाणी (सर्वैर्नामभिः सह) सब नामोंसहित (अप्येति) लयहोताहै (चक्षुः) नेत्र (सर्वै रूपैः सह) सब रूपोंसहित (अप्येति) लय होता है कर्ण सब शब्दोंसहित मन सब ध्यानोंसहित लय होता है (अर्थात् एक नेत्रआदि इन्द्रियोंका विषय व व्यापार कुछ नहीं रहता) (सःयदा) वह जीव जब फिर (प्रबुध्यते) जागता है तब (यथा अग्नेर्ज्वलतः) जैसे जलते हुये अग्निसे (सर्वा दिशः) सब दिशोंमें (विस्फुलिंगाः) चिनगारे (विप्रतिष्ठेरन्) जाकर स्थितहोते हैं (एवमेव) ऐसेही (एतस्मादात्मनः) इस आत्मासे (सर्वे प्राणाः) सब प्राण व इन्द्रियाँ (यथायतनं) जिसका जहां स्थान है अर्थात् गोलकोंमें भिन्न २ (विप्रतिष्ठन्ते) प्रतिष्ठित होते हैं (प्राणेभ्यो देवाः) प्राणोंसे देवता (देवेभ्यो लोकाः) देवताओंसे लोक भिन्न २ प्रतिष्ठित होते हैं

जो यह आशङ्का होवै कि, महाप्रलयमें सर्वथा लय होजाता है फिर स्वप्नके पश्चात् जागने के समान होनेकी कल्पना कैसे होसकी है जैसे मृत्यु होनेसे मृत शरीरका सम्बंध व उसके सब व्यवहार छूट जाते हैं जन्मान्तरमें उससे हुये वा कियेगये व्यवहारोंका कुछ ज्ञान नहीं होता. एकही शरीरका सम्बंध रहने मात्रमें सोने के पश्चात् जागने पर पूर्व जागते हुये अवस्थाके व्यवहार व विषयोंका स्मरण होता है इससे प्रलय के पश्चात् सृष्टिमें पूर्वकल्पका स्मरण असंभव है तो उत्तर यह है कि, प्राकृत प्राणियोंको लय होनेके पश्चात् जन्मान्तर में जन्मान्तर के व्यवहारका अनुसंधान नहीं होता हिरण्यगर्भादि ईश्वरों को परमेश्वरके अनुग्रहसे महाप्रलयमें सब व्यवहारोंके लय होजाने पर भी कल्पान्तरके व्यवहार के अनुसंधान होने की सिद्धि होती है जैसे पशुओंसे लेकर मनुष्य राजा विद्वान् पर्य्यन्तमें एकसे एक परमें अर्थात् उत्कृष्टमें एकसे एक अधिक ऐश्वर्य ज्ञान शक्ति कर्म संस्कारसे होना देखा जाता है तथा इस के विपरीत मनुष्य आदिसे लेकर पशु कृमि स्तम्ब पर्य्यन्तमें एक एकसे न्यूनमें एक एक से अधिक ज्ञानशक्तिका अभाव देखाजाताहै ऐसेही मनुष्यआदि से लेकर ब्रह्मपर्य्यन्तों में एक एकसे परमें धर्म तप योग सिद्धि के प्रभावसे ज्ञान ऐश्वर्यकी अधिकता प्राप्त होती है तिससे व्यतीत हुये कल्पोंमें अति उत्कृष्ट तप किये उत्कृष्ट ज्ञानको प्राप्त हुये हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदि ईश्वर परमेश्वरसे अनुगृहीत (अनुग्रहको प्राप्त) जो कल्प के आदिमें उत्पन्न होते हैं उनको सोकर जागे हुये को पूर्वका स्मरण होने के समान कल्पान्तरके व्यवहारोंके अनुसंधानकी शक्ति होती है यह श्रुति स्मृति से सिद्ध है श्रुतिमें कहा है **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै: तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये** अर्थ–(यः) जो ब्रह्म (ब्रह्माणं) ब्रह्माको (पूर्वं) पहिले अर्थात् कल्पके आदिमें (विदधाति) उत्पन्न करता है और जो (वै) निश्चय करके (तस्मै) उसके लिये (वेदान्) वेदोंको (प्रहिणोति) जनाता वा प्राप्तकरता है अर्थात् उसकी बुद्धि में प्रकट वा प्रकाशित करता है (आत्मबुद्धिप्रकाशं) आत्मस्वरूप अर्थात् शुद्ध निर्विकार आनन्द विभुरूप बुद्धि में प्रकाशमान है (तं देवं शरणं) उस देवता जो शरण नाम परम अभयस्थान कल्याणरूप है उसको (मुमुक्षुर्वै) मोक्ष की इच्छा करनेवाला निश्चय करिके (अहं) मैं (प्रपद्ये) प्राप्त होता हूं अर्थात् मनसे उसको प्राप्त होता वा आश्रय करता हूँ तथा **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथोस्वः** अर्थ– (धाता) सब जगत् का धारण करनेवाला ब्रह्मने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमाको (दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षम् अथो स्वः) और दिवलोक पृथिवी और आकाश और स्वर्गको (यथापूर्वम् अकल्पयत्) जैसा पूर्वकल्प में कल्पित किया था

अर्थात् निर्मित किया था वैसाही इस कल्प में निर्मित किया है स्मृतिमें भी कहा है
"ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः । शर्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥यथर्त्तावृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्य्यये ॥ दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥ यथाभिमानिनोऽतीतास्तुल्यास्ते साम्प्रतैरिह।।देवादेवैरतीतैर्हि रूपैर्नामभिरेव च॥
अर्थ—(ऋषीणां) ऋषियोंके (नामधेयानि) जो जो नाम (च) और (याः वेदेषु दृष्टयः) जो वेदोंमें दृष्टियां अर्थात् अनेक पदार्थ धर्म कर्म उपासना सृष्टि व ईश्वरविषयक ज्ञान थे अर्थात् पूर्व कल्प में थे (शर्वर्यन्ते) रात्रिके अर्थात् ब्रह्मरात्रिरूप प्रलय के अन्त में (प्रसूतानां , उत्पन्नहुयों के अर्थात् उत्पन्न हुये ऋषियोंके (तानि तानि एव) वेही वेही अर्थात् वही नाम और उसीप्रकार की ज्ञानदृष्टियां (एतेभ्यः) इनके लिये अर्थात् वर्तमान कल्पकी आदि में उत्पन्नहुये ऋषियोंके लिये (अजः) ईश्वर (ददाति) देता है ॥ (यथा ऋतौ) जैसे ऋतु में अर्थात् वसन्त ऋतुमें वा वसन्त आदि ऋतुओं में (ऋतुलिंगानि) ऋतुके वा ऋतुओंके चिह्न पत्र गिरनेपर फिर नवपल्लवहोना आदि (नानारूपाणि) अनेक रूप स प्रकट (पर्य्यये) घटीयन्त्रके समान फिर २ उसी प्रकारसे होनेमें (तानि तान्येव) वही वही रूप आकारसे (दृश्यन्ते) देखेजाते हैं (तथा) वैसेही (युगादिषु) युगों वा कल्पोंकी आदिमें (भावाः) पदार्थ होतेहैं वा (यथा) जैसे (अतीताः अभिमानिनः देवाः) जो पूर्वमें होगये अभिमानी देवता थे (ते) वह (इह) इस कल्पमें (साम्प्रतैः तुल्याः) वर्तमानवालों के तुल्य थे (तथा) वैसेही वर्तमान देवता (अतीतैः देवैः) पूर्वकल्प में व्यतीत हुये देवताओं के साथ (रूपैः) रूपसे (च) और (नामभिः) नामोंसे तुल्य हैं अर्थात व्यतीत और वर्तमान कालमें हुये दोनों के रूप व नाम समान होनेसे उनको इनके समान रूप व नामवाले अथवा इनको उनके समान रूप व नामवाले दोनों प्रकारसे कहना युक्त है समान नाम रूप होनेसे फिर कल्पकी आदिमें वही नाम वेदमें कथित होते हैं इससे महाप्रलय होनेमें भी शब्दके अनादि होनेमें विरोध नहीं है देवताओंके अधिकार मानने में उक्तप्रकारसे शब्दके अनित्य होने आदिका दोष प्राप्त नहीं होता तिससे देवताओंको ब्रह्मविद्या में अधिकार है ॥ ३० ॥

मधुविद्या में अधिकारनिरूपणमें सू० ३१ से ३३ तक अधि० ८ ।

मध्वादिष्वसंभवादनाधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

अनु०—मधुआदिमें असंभव होनेसे अधिकार नहीं है यह जैमिनि मानते हैं ॥ ३१ ॥

भाष्य—ब्रह्मविद्यामें जो देवताओंका अधिकार होना वर्णन किया है अब यह विचार किया जाता है कि, मधुआदि विद्याओं में जिन में देवता ब्रह्मदृष्टिसे

उपास्य वर्णन कियेगये हैं उनमें देवताओंका अधिकार है वा नहीं है उसमें प्रथम यह वर्णनकिया है कि, जैमिनि आचार्यका यह मत है कि, देवताओंका परब्रह्म उपासना की उपयोगी मधुआदि विद्याओं में अधिकार नहीं है क्यों नहीं है मधुआदि विद्याओं में जिनमें देवताही उपास्य कहे गये हैं उनमें असंभव होनेसे अर्थात् मधुआदि में आदित्य व वसुआदिसे अन्य आदित्य वसु आदि उपास्य होना वा आपही अपनी उपासना करना संभव न होनेसे. इसका व्याख्यान यह है कि, शुद्ध निर्विकार निराकार आनन्दस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान प्राप्त होने व यथार्थ ब्रह्मविद्या में अधिकारी होने के यत्नके लिये छान्दोग्य उपनिषद् में चित्त एकाग्र करने व ब्रह्मभाव चित्तमें स्थिर करने के अभिप्राय से प्रथम ओंकारआदि में ब्रह्मदृष्टिसे अर्थात् ब्रह्मका अध्यास करिके उपासना वर्णन करने में आदित्यआदिको उपास्य स्थापन करनेमें आदित्य को मधुरूप कल्पना वा अध्यास करके उपासना करने को वर्णन किया है अर्थात् जैसे मधु अपने मिष्ट स्वादु से आनन्द देता है ऐसेही देवताओंका आनन्द देनेवाला होनेसे आदित्य (सूर्य) को मधु दिवको वंश (बांस) अन्तरिक्षको मध्वपूप (मधुका छतना वा छत्ता) इत्यादि रूपकसे ध्यान करना वर्णन किया है और इसी प्रकारसे ऋग्वेद आदि को पुष्प होना आदि कहकर आदित्यके प्रातःकाल आदि के रोहित (लाल) रूपआदि को अमृत व वसुआदिको अमृतउपजीवी वर्णन किया है इसप्रकारसे अध्यासकरके उपासना करना यही मधुविद्या है ऐसेही गायत्रीमें ब्रह्मका अध्यास करके ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करनेको कहा है जबतक उपासक उत्तम अधिकारी न होवै तबतक इसप्रकारसे उपासन करै इसमें विद्यामें भेद न होनेसे अर्थात् उपास्यब्रह्मभावमें भेद न होनेसे व विद्याका अंग होनेसे मधुविद्याआदि में देवताओं का अधिकार होनाचाहिये परन्तु अधिकार होना संभव नहीं है क्योंकि आदित्य को मधुरूप उपासना करना मनुष्योंके लिये युक्त है देवताओंका अधिकार माननेमें आदित्यको उपासनाके लिये अन्यआदित्य चाहिये .क्योंकि आपही अपनी उपासना नहीं करसक्ता अर्थात् वही उपासक वही उपास्य वा वही ध्याता व ध्येय होना संभव नहीं है तथा वसु रुद्र मरुत् आदिको अन्य वसुआदि अमृत उपजीवीका अध्यासकरके उपासना करना चाहिये परन्तु ऐसा न होसकनेसे और अन्य जहां देवताओंमें ब्रह्मका अध्यास करिके उपासनाकरना वर्णन कियाहै वहां वनदेवताओंके लिये अन्य वही देवता न होनेसे मधुआदि विद्यामें देवताओंका अधिकार नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

अनु०—ज्योतिमें होनेसे भी अर्थात् उपासना होनेसे भी ॥३२॥

भाष्य—ज्योति में अर्थात् ज्योति वा प्रकाशरूप परब्रह्म में देवताओं की उपासना ब्रह्मविद्या में वर्णित है इससे भी यह ज्ञात होता है कि. मधुआदि विद्याओं में जिनमें देवताही उपास्य कहेगये हैं देवताओंका अधिकार नहीं है ज्योतिमें उपासना होनेका प्रमाण यह है कि, बृहदारण्यक उपनिषद् में यह कहा है **तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्** अर्थ—(तत्ज्योतिषां ज्योतिः आयुः अमृतं) उस ज्योतियों के ज्योति व आयुरूप व अमृतको (देवाः उपासते) देवता उपासनकरतेहैं अर्थात् जो परब्रह्म सूर्यआदिरूपोंका भी प्रकाशक होनेसे अर्थात् उसके प्रकाशहीसे सूर्यआदि प्रकाशित होतेहैं इससे वह सूर्य्यआदि ज्योतियोंकाभी ज्योति है सूर्यआदिका प्रकाशक होनेसे उनका आयुरूप है और आप अमृत है अर्थात् मृत्युरहित है ऐसे परब्रह्मको देवता उपासन करते हैं देवतामात्रका नाम लेनेसे यह ज्ञात होता है कि, देवता व मनुष्य दोनोंके लिये साधारण ब्रह्म उपासन वर्णन करने में ज्योतिरूप परब्रह्म उपासन में देवताओंका उपासक होना कहना देवताओंके लिये अन्य उपासनाकी निवृत्ति सूचित करता है कि, ज्योतिषोंका ज्योति परमप्रकाशस्वरूप परब्रह्मही देवताओंसे उपास्य है अन्य नहीं इससे ज्योतिमें उपासन विधि होनेसे देवताओंका मधुविद्याआदि में अधिकार नहीं है श्रीस्वामी शंकराचार्य जी पूर्वसूत्र का यह व्याख्यान करिके कि, आदित्य आदिके लिये अन्य आदित्य आदि उपास्य न होनेसे आदित्य आदि देवताओंका मधुआदि में उपासना संभव न होनेसे देवताओंका सब ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है आशय यह है कि ब्रह्मविद्यामें अधिकार होना माननेमें मधुआदिमें भी ब्रह्मका अध्यास होनेसे उनके विद्या होनेमें भेद न होनेसे अधिकार होना चाहिये परन्तु उक्त हेतु से अधिकार होना संभव नहीं है इससे ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है यह जैमिनिआचार्य मानते हैं इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कि, देवताओंके शरीर व इन्द्रियवान् होने व मोक्षार्थी होने से ब्रह्मविद्यामें अधिकार होना चाहिये **ज्योतिषिभावाच्च** इस सूत्रका व्याख्यान इस प्रकारसे किया है कि, (ज्योतिषि) ज्योतिमें अर्थात् ज्योतिर्मण्डल जो दिवलोकमें प्रकाशमान जगत्को प्रकाशित करता है उसमें (भावाच्च) होनेसे भी अर्थात् आदित्य देवतावाचक शब्दका प्रयोग होनेसे विद्यामें अधिकार नहीं है तात्पर्य यह है कि, आदित्य अग्नि आदि को देवता कहते हैं परन्तु ज्योतिमण्डल जो मृत्तिका आदिके समान जड पदार्थ है उसको आदित्य वा सूर्य्य ऐसेही एक तेजवान् जड पदार्थको अग्नि कहते हैं जड ज्योति आदिमें देवतावाच्य शब्दोंका प्रयोग होनेसे व विना ज्ञान व इच्छा उपासना असंभव होनेसे भी जड आदित्य आदि देवताओंका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है यह सिद्ध होता है परन्तु श्रीस्वामी रामानुजाचार्य व सुदर्शनाचार्यजीने इस व्याख्यान

को श्रीवृत्तिकार बोधायन ऋषिके आशय के विरुद्ध होने और पूर्वही **तदुपर्यपि बादरायणः संभावात्** इस सूत्रमें यह वर्णन किये जानेसे कि, देवताओं के मोक्षार्थी होने व उपासना करनेके योग्य होनेसे देवता आदि को भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है यह बादरायणआचार्य मानते हैं अधिकारका होना सिद्ध होजानेसे फिर बादरायणआचार्यका वही निरूपण करना पिष्ट-पेषण व कृतकरण अर्थात् पिसेहुयेका पीसाना व कियेहुयेका करना बुद्धि-मानका कार्य न होनेसे प्रमाण मानने के योग्य नहीं है अयुक्त माना है और यहाँ मधुआदि विद्यामात्र में देवताओंके अधिकारके निरूपणमें जैमिनि आचार्य के मतभेदको वर्णन किया है और इसीमें संशय व मतभेद होना संभव है सब ब्रह्मविद्यामें इस हेतुसे कि, उपनिषद्में **यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद्भवत्** अर्थ—देवताओंमेंसे जो जो देवता मोहनिद्रासे जागा ब्रह्मको जाना वही परमोक्षको प्राप्त ब्रह्मके समान आनन्दमय होगया इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार होना वर्णित है इससे इतर जन उपनिषदके जाननेवालेको भी अधिकार न होने की बुद्धि शंका नहीं हो सक्ती जैमिनी आचार्यका ब्रह्मविद्यामें अधिकार न होना कहना और किसी अंशमें वा कहीं अधिकारी न होनेसे सबमें वा सर्वत्र अधिकारका न होना स्वीकारके योग्य नहीं है अब आगे सूत्रमें मधुआदिमें देवताओं के अधिकारमें बादरायणका मत वर्णन करते हैं ॥ ३२ ॥

भावन्तु[1] बादरायणोऽस्ति हि[2] ॥ ३३ ॥

अनु०—नहीं, संभव है इससे बादरायण भावको (होनेको) अर्थात् अधिकार होनेको मानतेहैं ॥ ३३ ॥

भाष्य--देवताओंका अधिकार न मानना युक्त नहीं है आदित्य वसु आदिकों का भी अपनी अवस्थावाले देवतामें ब्रह्मका अध्यास वा अध्याहार करिके ब्रह्मकी उपासना करनेसे आदित्य व वसु होने की प्राप्तिपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति की इच्छाक-रना संभव है इससे बादरायण आचार्य मधुआदि में देवताओंके अधिकार होनेको मानते हैं तात्पर्य यह है कि, पुण्य क्षीण होनेसे देवता भी अपनी अवस्थासे न्यून अवस्थामें पतित होते हैं इससे इस कालमें आदित्य वसु आदि होनेपर भी उनको कल्पान्तरमें वसुआदित्य होनेकी प्राप्ति अपेक्षित होती है इससे अपनी अवस्था-

---

१ तु शब्द सूत्र में जैमिनी आचार्य के पक्ष की व्यावृत्ति अर्थात् निषेधके लिये है इससे भाषा में निषेधवाचक नहीं शब्द तु शब्दका अर्थ रक्खागया है ।

२ हि शब्दका अर्थ जिससे वा जिसकारण से ग्रहण कियाजाता है परन्तु आशयसे देशभाषा के व्यवहार में इससे कहना उत्तम जानकर जिस के स्थान में इससे यह शब्द अनुवाद में रक्खागया है ।

रूपसें कार्य्यब्रह्म की उपासना करनेसे व अपने अन्तर्यामी रूप कारण ब्रह्मकी उपासना करनेसे कल्पान्तरमें वसु व आदित्य होनेके पदको प्राप्तहोकर अर्थात् वसु आदित्य होकर उसके पश्चात् कारण रूप परब्रह्म को प्राप्त होते हैं क्योंकि मधुआदि विद्यामें ब्रह्महीका अध्यास करके ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करनेका उपदेश है ब्रह्म के भावमें चित्तवृत्ति से भेद न होनेसे अंतमें ब्रह्मको प्राप्त होने का फल होता है इससे मधुआदि में अधिकार होना संभव है और अधिकार मानना युक्त है यही महात्मा वृत्तिकार का आशय है जो आदित्यके लिये अन्य आदित्य उपास्य न होने के हेतुसे व ज्योतिआदि अचेतन में आदित्यआदि देवतावाचक शब्दों का प्रयोग होनेसे मधुआदिमें अधिकार संभव न होनेसे ब्रह्म विद्यामात्र में अधिकार नहीं है ऐसा पूर्वोक्त दो सूत्रोंका व्याख्यान करते हैं वह इस सूत्र का व्याख्यान ऐसा करते हैं कि, बादरायण आचार्य देवता आदिकों के अधिकारभाव को अर्थात् अधिकार होने को मानते हैं किस हेतुसे मानते हैं देवताओंका अधिकारसूचक वाक्य है इससे अधिकारसूचक यह बृहदारण्यक उपनिषद् का वाक्य है **यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्** अर्थ-(यः यः) जो जो (देवानां) देवताओं में से (प्रत्यबुध्यत) अविद्या निद्रा से जागता भया (स एव) वही (तत्) वह ब्रह्म (अभवत्) हुआ अर्थात् जो अविद्या निद्रा से जागा और ब्रह्मज्ञानको प्राप्त हुआ वही ब्रह्म हुआ अर्थात् ब्रह्मके समान बंध-रहित शुद्ध मुक्तस्वरूप अनुपम ब्रह्म सुखको प्राप्त हुआ इत्यादिसे ब्रह्मविद्या में अधिकार होना सिद्ध है मधुआदि में अधिकार न होनेसे सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या में अधिकार होनेका प्रतिषेध नहीं हो सक्ता जैसे ब्राह्मण आदिकोंका राजसूय यज्ञोंमें अधिकार संभव नहीं है इससे सब यज्ञोंमें अधिकार होनेका निषेध नहीं हो सक्ता ऐसेही मधुविद्याआदि में अधिकार संभव न होनेसे शुद्ध कारण रूपसे ब्रह्म उपास्य ब्रह्मविद्यामें अधिकार होनेका प्रतिषेध नहीं होसक्ता मोक्षार्थी होने व उपासना करनेके योग्य होनेसे देवताओंका अधिकार है ज्योतिमण्डल आदि आदित्य वा सूर्यआदि शब्दोंसे वाच्य होनेसे जडपदार्थ होनेकी शङ्काका उत्तर यह वर्णन किया है कि यह श्रुति है **इन्द्रो ह वै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणाम्** इत्यादि अर्थ-देवताओंका राजा इन्द्र गया और असुरोंका राजा विरोचन अर्थात् इन्द्र और विरोचन ब्रह्मविद्याके देनेवाले प्रजापति के पास ब्रह्मविद्या प्राप्त होनेके लिये गये हैं इत्यादि वर्णन से देवताओंका चेतन व शरीरवान् व सामर्थ्यवान् होना सिद्ध होता है जिन देवताओंके लिये अधिकार होना कहा है वह ज्योतिमण्डल नहीं है चेतन आदित्य अग्नि आदि देवता ऐश्वर्ययोगसे ज्योतिरूप पदार्थ आदिमें स्थित होने को समर्थ इच्छा अनुसार अनेक शरीर धारणकरने का सामर्थ्य रखते हैं चेतनरूप आदित्य

ज्योतिरूप आदित्यका अधिष्ठाता ज्योतिरूपसे भिन्न है इन ज्योति-आदिके अधिष्ठाता व ज्योतिआदि उपचारसे अभेद मानकर एकही नामसे कहे-जाते हैं इससे अर्थी होने व चेतन होनेसे देवताओंका अधिकार है यद्यपि ऐसा व्याख्यान होसका है परन्तु सब ब्रह्मविद्याओंमें अधिकार न होनेकी शङ्का व उसका समाधान करना पूर्व कहेहुये हेतुओंसे अयुक्त ज्ञात होता है ॥ ३३ ॥

इति मध्वधिकरणम् ।

अथ शूद्राधिकारनिरूपण में सू० ३४ से ३८ तक अधि० ९ ।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदा द्रवणात्सूच्यते हि[1] ॥ ३४ ॥

अनु०—(हि) जिससे कि, (तदनादरश्रवणात्) उनका अनादर सुननेसे (तदा द्रवणात्) तब शोकसे आनेसे (अस्य) इसका (शुक) शोच (सूच्यते) सूचित किया जाता है इससे शूद्र नहीं है ॥ ३४ ॥

भाष्य—इससे शूद्र नहीं है यह सूत्र वाक्य के शब्दोंमें नहीं कहा सूत्रमें इतना शेष है परन्तु आशय से ग्रहण कियाजाता है अब इसका व्याख्यान यह है कि, सामान्य से मनुष्य व देवताओंका अधिकार होना वर्णन करके अब मनुष्योंमें ब्राह्मणआदि के समान शूद्रका भी ब्रह्मविद्या में अधिकार है वा नहीं है यह विचार करते हैं प्रथम यह ज्ञात होता है कि, जो द्विजजाति का ब्रह्मविद्यामें अधिकार होने का नियम वर्णन करते हैं यह युक्त नहीं है क्यों कि, संवर्गविद्यामें छान्दोग्य उपनिषद में शूद्र का ब्रह्मविद्या में अधिकार होना प्रतीत होता है अर्थात् छान्दोग्य उपनिषद में रैक्क आचार्यने जानश्रुतिको प्रथम शूद्र कहा है फिर उसको ब्रह्म विद्या का उपदेश किया है इससे शूद्रको भी अधिकार है इसके निर्णय के लिये यह कहा है कि, जिससे कि, उनका अर्थात् हंसोंका अनादर सुननेसे उससे अर्थात् उस अनादर सुनने के कारण से शोकसे आनेसे अर्थात् रैक्कके समीप आनेसे इसका अर्थात् जानश्रुतिका शोच शूद्र शब्दसे सूचित कियाजाता है अर्थात् शूद्रशब्द का अर्थ जातिवाचक रूढअर्थसे भिन्न यौगिक अर्थ शूद्रशब्द के अवयवोंसे इसप्रकारसे व्युत्पत्ति वा निर्वचन करने से "शुचं द्रवति वा शुचा किञ्चित् वा कस्यचित् सकाशं प्रति द्रवतीति शूद्रः" यह अर्थ होता है कि, शोकको जो प्राप्त होता है अर्थात् प्राप्त होवै अथवा शोकसे किसीको वा किसीके समीप प्राप्त होवै वह शूद्र है अर्थात्

---

१ हि शब्दका अर्थ यस्मात् कारणात् अर्थात् जिसकारण वा हेतुसे होता है ।

वह शूद्र शब्दसे वाच्य होसक्ता है इससे जानश्रुतिको अनादर वचन सुननेसे जो शोक उत्पन्नहुआ और शोकसे रैक के समीप प्राप्त हुआ अर्थात् आया यह शोच से आना जान कर जानश्रुति को रैक ने हे शूद्र ऐसा कहा है अर्थात् शूद्रशब्दसे इसका अर्थात् जानश्रुति का शोक रैकसे सूचित कियाजाता है और रैकका परोक्षज्ञान होना विदित होता है तात्पर्य यह है कि, जब जानश्रुति हंसोंका अनादर वचन सुनकर शोक को प्राप्त हो शोकसे ब्रह्मज्ञान के उपदेश के लिये रैक के पास गया तब रैक ब्रह्मज्ञान के प्रभाव से दिव्य दृष्टि वा ज्ञानसे जानश्रुति को शोक प्राप्त होना और शोकवान् आना जानकर यह कहा है हे शूद्र ! अर्थात् हे शोकको प्राप्त वा शोक से आये हुये जानश्रुते ऐसा कहा है संवर्ग विद्या में शूद्र शब्द जो रैकने कहा है उससे जानश्रुति का शोक सूचित किया है सेवा आदि नीचकर्म आचरणवाले शूद्र वर्ण होने के अभिप्राय से जानश्रुतिको शूद्र नहीं कहा इससे जानश्रुति शूद्र नहीं है जिसके उपदेशसे शूद्रका अधिकार होना सिद्ध होवे इससे शूद्रको अधिकार नहीं है अब इस सूत्र के अर्थ के साथ सम्बंध होने से सूत्रका अर्थ स्पष्ट ज्ञात होने के लिये संक्षेपसे जानश्रुति की आख्यायिका को वर्णन करते हैं जानश्रुतिनामक कोई बडा धर्मवान् बहुद्रव्य व अन्नदान करनेवाला था वह एकसमय रात्रिको हर्म्यतलमें (महलों के नीचे) प्राप्त था उस समय ऋषि वा देवता उसके ऐसे अन्न दान से कि, सब दिशाओंमें ग्राम वा नगरों में आवसथान अर्थात् जिसमें आकर मार्गचलनेवाले रहैं बनवा कर उनमें सबको भोजन के लिये अन्नदान होता है और धर्म गुणों से प्रसन्न हो जिससे उसके हृदयमें ब्रह्मकी जिज्ञासा उत्पन्न होवै और उसका कल्याणहो इस प्रयोजनसे हंस होकर आकाश में उसके ऊपर आकर उसके समीप नीचे को उतरे एक आगेके हंससे उससे पीछेवाले हंस ने कहा कि,मन्ददृष्टि देख जान श्रुति का तेज रात्रिमें दिनके समान फैलाहुआ है वा दिवलोक की ज्योति के समान उसके जो व्याप्त है निकट मत जा और उसका स्पर्श मतकर ऐसा न हो कि, तुझे भस्म कर देवै ऐसी जानश्रुति की प्रशंसा सुनकर आगे के हंस ने कहा कौन गुण इस ब्रह्मज्ञान रहित में है जो ऐसी रैक के समान प्रशंसा करते हो और जिससे इसका ऐसा तेजहो सक्ता है ऐसा तेजवान् ब्रह्मज्ञ अतिउत्कृष्ट धर्मसंयुक्त रैकही इस लोकमें है यह सुनकर रैक को है कैसा है यह प्रश्न करनेपर आगेके हंसने कहा है कि,जितने उत्तम कर्म सत्पुरुषोंने किया है और सब जो चेतन वा आत्मा सम्बंधी ज्ञान है यह दोनों जिसके कर्म व ज्ञान के अन्तर्भूत हैं वह रैक है अर्थात् रैक ऐसा है कि, कोई उत्तम कर्म व चेतनमें प्राप्त विज्ञान उसके कर्म व ज्ञानसे बाहर वा पृथक् नहीं है और वह गाडीसाथ रखता है ऐसी रैककी प्रशंसा और अपनी निन्दा हंसके वचन से सुनकर जानश्रुति उसी समय शोक को प्राप्त ब्रह्मज्ञान का उपदेश रैक

से प्राप्तहोने के मनोरथसे रैक्क के खोजके लिये दूतको भेजा पतालगने पर आप रैक्क के पास जाकर छःसौ गौ हार अच्छे घोडों से युक्त रथों को लेजाकर यह प्रार्थना किया कि, हे महात्मन् रैक्क! यह सब आप के लिये लाया हूँ इनको ग्रहण कीजिये और जिस ब्रह्मदेवता की आप उपासना करतेहैं उस उपास्य देवताको मुझे उपदेश कीजिये यह सुनकर अपने योग की महिमा से तीनोंलोक के वृत्तान्त के जाननेवाले रैक्क ने यह जानकर कि, हंसके अनादर वाक्यको सुनकर शोकको प्राप्त हो यह जानश्रुति आया है व शोकको प्राप्त है जानश्रुतिसे कहा कि, हे शूद्र! अर्थात् शोकको प्राप्तहुये जानश्रुते यह गौआदि तुमही रक्खो ब्रह्मविद्याकी जिज्ञासा करनेमें उसके प्राप्तहोनेके लिये इतनेही गौ आदिकों का मेरे लिये देना ब्रह्मविद्याकी प्रतिष्ठा के योग्य नहीं है तब जानश्रुति फिर अपनी शक्तिके अनुगुण (शक्तिके अनुसार) एकसहस्र गौ व धन व कन्या को लाकर रैक्क ऋषिको समर्पण करके ब्रह्मविद्या के उपदेश के लिये प्रार्थना किया तब रैक्क ने कहा कि, इन गौआदिकों के दान के द्वारा विना बहुतकाल की सेवा तुम मुझसे ब्रह्म उपदेश वाक्य को कहलावोगे जानश्रुतिने और भी महावृष देशोंमें रैक्कपर्णा नाम से विख्यात गावों को जहां जहां रैक्क रहते थे रैक्कको दिया तब रैक्क ने जानश्रुतिको ब्रह्मविद्याका उपदेश किया रैक्कने गौआदिको लोभ के कारण से नहीं लिया इस हेतुसे लिया है कि, बहुतकालतक सेवाकरना अथवा यथाशक्ति दानदेना ये दोनों अतिउत्कृष्ट ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा के हेतु हैं इससे यथाशक्ति दान देनेसे विना बहुतकालकी सेवा जानश्रुतिको योग्य व श्रद्धावान् जानकर उपदेशकिया है उक्तप्रकारसे हंसके अनादर वाक्य सुनने से जब शोकवान् जान-श्रुति रैक्क के पास आया उसको रैक्कने जो शूद्र कहा है वह शूद्रशब्द जैसा ऊपर वर्णन कियागया है शोक को प्राप्तहुआ वा शोकसे आया इसअर्थ में कहा है अर्थात् शूद्रशब्दसे जानश्रुति के शोकही को सूचित किया है चौथा वर्ण होनेकेअभिप्रायसे नहीं कहा ॥ ३४ ॥

अब इस शङ्काके निवारण के लिये कि, शूद्रशब्द का अर्थ वर्णविशेषही का क्यों न ग्रहण करैं यौगिक अर्थ क्यों मान लेवैं जानश्रुति के शूद्र नहोने का अन्य हेतु आगे सूत्र में वर्णन करते हैं–

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

अन०–उत्तरमें (आगेअन्त में) अर्थात् इसी संवर्गविद्यामें जो जानश्रुतिके उपदेश में वर्णन की गई है उसके अन्त वा शेष-वाक्य में चैत्ररथ के समान लिंग होनेसे अर्थात् लक्षण वा अनुमान होने से क्षत्रियहोना ज्ञात वा सिद्ध होनेसे भी ॥ ३५ ॥

भाष्य–संवर्गविद्याके उत्तरवाक्यमें चैत्ररथ के अर्थात् चित्ररथके वंशवाले अभिप्रतारि नामक क्षत्रियके वर्ण के समान अनुमान वा लक्षणसे जानश्रुति का

क्षत्रियहोना ज्ञात होता है इससे भी जानश्रुति शूद्र नहीं है यह सिद्ध होता है यह सूत्रार्थ है अब इसका व्याख्यान यह है कि, संवर्गविद्या के उत्तर में यह वर्णन है कि, शौनक (शुनकके पुत्र) कापेय अर्थात् कपिगोत्र जिसका था ऐसे पुरोहित और काक्षसेनि अर्थात् कक्षसेन के पुत्र अभिप्रतारि नामक राजाके लिये जब पाक बनानेवाले ने भोजन को परसकर रक्खा और ये दोनों भोजन करनेके लिये बैठे उस समय एक ब्रह्मचारी आकर इन दोनोंसे भिक्षा मांगी इत्यादि वर्णन से कापेय व अभिप्रतारि और भिक्षामांगनेवाले ब्रह्मचारीका संबंध होना संवर्गविद्यामें प्रतीत होता है इन तीनमें से अभिप्रतारी क्षत्रिय था और दो ब्राह्मण थे इससे संवर्गविद्यामें ब्राह्मण व उनसे भिन्न क्षत्रियका सम्बंध होना पायाजाता है शूद्रके सम्बंधका वर्णन नहीं है एकही विद्यामें एकहीप्रकार की प्रक्रिया (पद्धति) वा एकहीप्रकारका सम्बंध वा आशय संभव होनेसे चैत्ररथ अभिप्रतारि के समान इसी संवर्गविद्यामें सम्बंधहोनेसे रैक्व ब्राह्मणसे अन्य जानश्रुतिका क्षत्रिय होनाही मानना युक्त है शूद्र वर्ण होना सिद्ध नहीं होता .:जो यह शङ्का हो कि, अभिप्रतारीका चैत्ररथ होना अर्थात् चित्ररथके वंशमें होना व क्षत्रिय होना छान्दोग्यमें वर्णित नहीं है उसका चैत्ररथ क्षत्रिय होना कैसे ज्ञात होता है इसके उत्तरके लिये यह कहा है कि, लिङ्गसे अर्थात् लक्षणसे वा अनुमानसे ऐसा होना निश्चित होता है लक्षण वा अनुमान यह है कि, शौनककापेय व काक्षसेनि अभिप्रतारीका साथ भोजनके लिये बैठने व दोनोंसे ब्रह्मचारीके भिक्षा मांगनेके चिन्हसे अभिप्रतारीका कापेयके साथ सम्बंधहोना ज्ञात होता है और अन्यत्र ऐसा वर्णन किया है कि, चैत्ररथको कापेयोंने यजन (पूजन) कराया इससे कापेय (कपिगोत्रवाले) के सम्बन्धियोंका **चैत्ररथत्वं** (चित्ररथके वंशका होना) सुनाजाता है क्योंकि राजाके वंशवालोंके उनके पुरोहितके वंशवाले याजक पूजन करानेवाले होते हैं इससे कापेय के योग से अभिप्रतारी का चैत्ररथ होना ज्ञात होताहै और क्षत्रियहोना अन्यत्र ऐसा वर्णन करने से **तस्माच्चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत** अर्थ–तिससे चैत्ररथनामक एक क्षत्रपति (राजा) हुआ ज्ञात होता है इससे अभिप्रतारी का चैत्ररथ होना व क्षत्रिय होना सिद्ध होता है चैत्ररथके समान व्यवहार वा वर्णन व एक विद्याके सम्बंधसे जानश्रुतिका क्षत्रिय होना विदित होता है और अन्न गौ ग्रामआदि के देने व रैक्व के खोजके लिये दूत पठाने आदि ऐश्वर्यके योगसे जानश्रुतिका क्षत्रियहोना सिद्ध होता है इससे जानश्रुति शूद्र नहीं है जिससे उसके दृष्टान्त से शूद्रका अधिकार होना सिद्ध होवे इससे शूद्रको अधिकार नहीं है इस सूत्रके दो भाग करिकै अर्थात् **क्षत्रियत्वावगतेश्च** अर्थ–क्षत्रियहोना प्राप्त वा ज्ञात होनेसे भी इतनोंको एक सूत्र और उत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् अर्थ उत्तर भागमें चैत्ररथके वर्णन से उसके समान लक्षण (चिह्न) से इतने को दूसरा सूत्र भी

कोई आचार्य मानते हैं और प्रथमका व्याख्यान दान देने दूत भेजने आदि से क्षत्रिय होने का अनुमान करके दूसरेमें उक्तप्रकार से चैत्ररथ के समान क्षत्रिय होनेका वर्णन करते हैं दोनोंप्रकार से युक्त है सिद्धान्त एकही है दो मानने वा एक मानने में कुछ विशेष फल व हानि नहीं है ॥ ३५ ॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ ३६ ॥

अनु०–संस्कारके परामर्श से और उसका अभाव कहनेसे ॥ ३६ ॥

भाष्य–ब्रह्मविद्याके अधिकारमें संस्कार अर्थात् उपनयन (यज्ञोपवीत)आदि संस्कारका परामर्श अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट ज्ञान वा निश्चय होता है आशय यह है कि, कर्मकाण्डविधायक स्मृति वा शास्त्रमें उपनयनसंस्कार होनेके पश्चात् विद्या अध्ययन अर्थात् वेदाङ्ग व वेद पठने व उपनिषद् वा ब्रह्मविद्याका अधिकारी होना वर्णन किया है विना संस्कारके अधिकार होना नहीं कहा इससे ब्रह्मविद्याके साथ संस्कारकी व्याप्ति है ऐसा ज्ञात होता है परन्तु उसका अर्थात् संस्कारका शूद्रमें अभाव है क्योंकि स्मृतिमें यह वर्णन किया है **चतुर्थो वर्ण एकजातिर्न च संस्कारमर्हति** अर्थ–चौथा वर्ण शूद्र एकजाति है वह संस्कारके योग्य नहीं है वा नहीं होता है अर्थात् जिनका संस्कार होता है उनका संस्कार रूप दूसरा जन्म होनेसे उनको द्विज (दो जन्मवाला) कहते हैं शूद्रका संस्कार न होनेसे एकजाति (एकउत्पन्न होना मात्र जन्मवाला) कहा है इससे ब्रह्मविद्याके उपदेश वा अधिकारमें संस्कारका परामर्श होनेसे व शूद्रमें उसका अभाव कहनेसे शूद्रको अधिकार नहीं है ॥ ३६ ॥

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

अनु०–और उसके अभावनिर्धारण में प्रवृत्ति होनेसे ॥ ३७ ॥

भाष्य–उसके अर्थात् शूद्रता के अभाव निर्धारण में प्रवृत्ति होनेसे अर्थात् सत्यकाम के सत्य बोलनेसे उसमें शूद्रता का अभाव निर्धारण करने वा मानने में गौतम ऋषिकी उसके उपनयनआदि करने में प्रवृत्ति होनेसे भी शूद्र को अधिकार नहीं है यह सिद्ध होता है अब इसका विशेष व्याख्यान यह है कि, इस शङ्का निवारण के लिये कि छान्दोग्य उपनिषद् में यह वर्णन है कि, जाबाल को अर्थात् जबाला के पुत्र सत्यकाम नामक को गौतम ऋषिने विना उसके गोत्रजाने उसका उपनयन संस्कार करके ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है इससे शूद्र के अधिकारी होनेका निषेध नहीं पाया जाता किन्तु शूद्रका अधिकार होना सिद्ध होता है सूत्र में यह कहा है कि, उसके (शूद्रत्वके) अभाव निर्धारण करनेपर सत्यकामके उपनयनआदि में प्रवृत्ति होनेसे शूद्र को अधिकार नहीं है अर्थात् सत्यकाम के सत्य बोलने से उसके शूद्रत्वके अभाव को (न होने

को) गोतमऋषि निर्धारण करके अर्थात् अभावको मानकर उपनयनआदि संस्कार व विद्याका उपदेश किया है इससे शूद्रको अधिकार नहीं है सत्यकाम की कथा यह है कि, सत्यकामका पिता मरगयाथा सत्यकाम ने अपनी माता जबाला से यह कहा कि, अब मैं विद्या पठने योग्य हुआ हूँ आचार्यके पास जाकर उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार कराके आचार्यकुल में वास करूंगा वहाँ विद्या लाभ करूंगा इससे मेरा गोत्र क्या है माता ने उत्तर दिया कि, मैं पतिके घरमें बहुत काम करने व सेवाआदि में लगी २ रहने से गोत्र स्मरण करने में कभी चित्त नहीं दिया यौवनअवस्था में थोरेही काल में हे पुत्र ! तुम उत्पन्न हुये तभी तुम्हारे पिता का देहान्त होगया इससे मैं नहीं जानती कि, तुम किस गोत्रके हो अर्थात् तेरा गोत्र क्या है मैं इतनाही जानती है कि, मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है यह सुनकर सत्यकामने गोतमऋषिके पास जाकर ब्रह्मचर्यव्रत धारणकरने व उपनयन संस्कार कियेजानेके लिये ऋषिसे प्रार्थना की, गोतमजीने पूँछा कि, तेरा गोत्र क्या है सत्यकामने कहा कि, मैं नहीं जानता कि, मेरा कौन गोत्र है मातासे मैंने पूँछाथा उसने भी कहा कि, मैं अनेक काम व परिचर्यामें लगीरही हूँ गोत्रको मैंने पतिसे नहीं पूँछा न जानती हूँ कि, तेरा गोत्र क्या है अब मैं उपनयन व विद्या अध्ययनके लिये आपके पास प्राप्त हुआ हूँ ऐसे सत्य वचनको सुनकर गोतमऋषिने कहा कि, विना ब्राह्मण ऐसे सत्यवचन अन्य नहीं कहसक्ता सत्य ब्राह्मणका धर्म है हे सौम्य ! (सौम्यशब्द प्रिय वचन है) तुमने सत्यको नहीं छोडा इससे तुम में शूद्रता नहीं है हम तुम्हारा उपनयन करेंगे और तुमको शिक्षाकरेंगे इस प्रकार से शूद्रता का अभाव निर्धारण करने वा माननेपर उपनयन करने में वा शिक्षा करनेमें प्रवृत्त होनेसे शूद्रको अधिकार नहीं है यह सूत्रका अभिप्राय है अब इस सूत्र के आशय से यह विचार करनेके योग्य है कि, महात्मा गौतमाचार्य ने केवल सत्य कहनेके हेतुसे जो सत्यकाम के शूद्रत्व के अभाव को अङ्गीकार किया है इससे यह सिद्ध होता है कि, गुण कर्म अनुसारही वर्णकी व्यवस्था व उत्कृष्टता व निकृष्टता नियत की गई है आदिमें गुणकर्म अनुसार स्थापित वा नियत किये गये वर्णोंके कुलमें जिसप्रकारके नियत कर्म वा आचरण प्रचलित होगये हैं व चलेआते हैं उन गुणकर्म अनुसार भिन्न भिन्न वर्ण लोक में माने जाते हैं और जिस वर्ण के कुलमें जो उत्पन्न होता है उसी वर्णमें वह योजित किया जाता है व मरणपर्य्यन्त सामान्यसे वही वर्ण माना जाता है परन्तु यह तत्त्व वस्तु नहीं है धर्माचरण गुणकर्मकी उत्कृष्टतासे नीचेवर्णभी उत्तम और अधर्माचरण से उच्चवर्णभी नीच वर्ण हो जाता है इससे शूद्रके अधिकार होने का जो निषेध किया है उसका आशय यह है कि, जो शूद्रकुलमें उत्पन्न शूद्रके आचरण में प्रवृत्त है उसको ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है शूद्रशब्द से अभिप्राय शूद्रके

जो नीचकर्म वर्णन किये गये हैं उनके करनेवालेसे है वैश्य क्षत्रिय ब्राह्मण शब्दोंसे क्रमसे एक एक से नियत उत्कृष्ट कर्म व धर्मआचरण करनेवालोंसे अभिप्राय है इससे फलितार्थ यह हुआ कि, जो उत्कृष्ट आचरण व संस्कारवाले हैं वे वेद अध्ययन व ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं जो नीच आचरणवाले शूद्र हैं वह अधिकारी नहीं हैं यही निश्चित सिद्धान्त है सत्य बोलनेसे शूद्रत्वका अभाव मानना इसी सिद्धान्त को पुष्टकरता है क्योंकि सत्यकामका गोत्र तो अज्ञात ही था सत्य बोलनेमात्रसे गोतमजीने शूद्रत्वका अभाव स्वीकार किया है सत्यबोलना कुल वा गोत्र नहीं है केवल धर्मका अङ्ग उत्तम गुण है इसीसे ब्राह्मण मान लेना यही सिद्ध करता है कि, धर्मआचरणहीको उत्कृष्ट व उत्तमवर्ण होनेमें मुख्यता है कुल वा गोत्रकी नहीं है परन्तु जो जिस वर्ण व कुलमें उत्पन्न होता है वह उसी कुलके जनोंके संग रहने लोकरीतिके बंधनसे प्राय: उसी कुलके जनोंके आचरण व व्यवहारमें प्रवृत्त हो । है इससे वही वर्ण उसका साधारण लोकमें कहते हैं वास्तवमें युक्ति हेतु व आप्तवाक्यसे धर्म कर्म अनुसारही वर्णका मानना युक्त है । मोक्षार्थी होने व धर्म व ज्ञानका फल सबके लिये यथा विदुर आदि शूद्रको हुआ है ऐकान्तिक होनेके हेतुसे उत्तम आचरण करनेवाले जिज्ञासु सत्य धारण करनेवाले शूद्र वर्णमें उत्पन्नको शूद्रत्वके अभाव होजानेसे ब्रह्मविद्यामें अधिकार होना सिद्ध होता है जो भाष्यकार **शुगस्य तदनादरश्रवणात्** इत्यादि इस सूत्र वा अन्यसूत्रों के व्याख्यान में अर्थी होने से शूद्रका अधिकार होना संभव होता है ऐसा पूर्वपक्ष का आक्षेप करके उत्तर में वेदअध्ययन में समर्थ न होने से क्योंकि स्मृतियोंमें शूद्रके अध्ययन का निषेध है और विना वेदअध्ययन के वेदसम्बंधी ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं होसक्ता यह समाधान वर्णन किया है ऐसा वर्णन सूत्र के आशय से भिन्न अपने मनकी कल्पना से व्याख्यान करने से युक्त नहीं है क्योंकि जो मूल में होता है उसीके व्यक्त वा स्पष्ट करने के लिये व्याख्यान किया जाता है जो मूल में नहीं है न आशय से मूल के साथ सम्बंध पाया जाता है उसका व्याख्यान करना मूल का व्याख्यान नहीं है व्याख्यानकर्ता के मन के अभीष्टका व्याख्यान है यह स्पष्ट विदित होता है कि **शुगस्य इत्यादि** इस सूत्र में और इसके आगे के सूत्रों में जानश्रुतिको जो रैक ने शूद्र कहा है इस कहने में शूद्रशब्द चतुर्थ वर्ण होने के अभिप्राय से नहीं कहा गया शोकको प्राप्त होने वा शोक से प्राप्त होने के अर्थ में कहागया है जानश्रुति क्षत्रिय था शूद्र नहीं था यही निरूपण किया है अर्थी होनेसे अधिकार होने वा न होनेका निरूपण नहीं है महात्मा सूत्रकारने जिन २ उपनिषद् वाक्योंमें संशयप्राप्त होता है उसके निर्णयके लिये युक्ति व अनुमानसे सूत्रोंमें सिद्धान्त वर्णन किया है जानश्रुतिके शूद्र कहनेमें अर्थी होनेके निरूपणका

सम्बंध नहीं है शूद्र कहेजाने से शूद्र होना संभव होनेसे शूद्रको अधिकार है ऐसा भासित होनेमें शूद्र शब्दसे अन्य अर्थको वर्णन करके जानश्रुति शूद्र नहीं था इससे शूद्रका अधिकार होना सिद्ध नहीं होता इतनाही निरूपण करना युक्त विदित होता है क्योंकि इतनेही निरूपणका सम्बंध होसक्ता है अर्थी होनेके हेतुसे अधिकार होनेका विचार इससूत्रके व्याख्यानमें जिसमें अज्ञात गोत्र अर्थी सत्य-कामको ऋषिने सत्य बोलनेसे प्रसन्न होकर उपनयन संस्कार करके ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है कियाजावे तो युक्त होसक्ता है पूर्वसूत्रोंमें नहीं होसक्ता अब विचारनेसे युक्तिसे व लोकके व्यवहारसे भी वर्णके माननेमें वंश वा कुलकी प्रधानता वास्तविक वा तत्त्वरूप होना सिद्ध नहीं होती क्योंकि कोई मनुष्य जो ब्राह्मण वा अन्यउत्तम वर्णके कुलमें उत्पन्न हुआ है यदि वह राग मोह लोभआदिमें आसक्त हो किसी कारणसे यवन आदिके साथ भोजन करता है वा मद्यपान व्यभिचार अगम्यागमन अभक्ष्यभक्षण आदि अधर्म आचरण करता है तो लोकमें वह वर्ण व कुलसे भ्रष्ट समझा जाता है वंश व वर्णवाले जन उसको त्यागकरते हैं जो विना धर्म अधर्म कर्म की अपेक्षा वर्णविशेष में जन्म होनेही की वर्णविशेष मानेजाने में मुख्यता वा प्रधानता मानीजावे तो इस हेतुसे कि, जो प्राणी जिस शरीर से जिस वर्णके कुल में उत्पन्न हुआ है उस शरीर के रहने तक उसका वही वर्ण बना रहना चाहिये जो कोई ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है वह चाहै किसी नीच से नीचके साथ भोजन करै वा कोई अधर्म आचरण करै ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न होनेसे ब्राह्मणही मानना उचित है क्योंकि शरीर उसका वही बना है व मरणपर्य्यन्त बना रहेगा परन्तु लोकमें इसके विपरीत दुष्टगुण अधर्मआचरणसे उसको पतित मानकर ब्राह्मण कुल वा मण्डलीसे निकाल देते हैं ब्राह्मण नामसे भिन्न उसको अन्य नीच नामसे कहते हैं इससे यह सिद्ध होता है कि, वास्तवमें गुणकर्महीसे वर्णकी व्यवस्था है इससे जैसे दुष्ट आचरणसे ब्राह्मण यवन शूद्र आदिके समान समझा जाता है ऐसेही इसके विपरीत धर्मआचरण व उत्तमगुणसे शूद्रकुलमें उत्पन्न भी क्षत्रियत्व ब्राह्म-णत्व आदिको प्राप्त होसक्ता है क्योंकि अधर्मआचरणसे जो उत्तमका निकृष्ट होना फल है तो धर्मआचरणसे निकृष्टका उत्तम होना फल अवश्य होगा यह युक्ति वा न्यायसे सिद्ध होता है और आप्तवाक्यसे अर्थात् शब्दप्रमाणसे भी यही सिद्ध होता है यथा आपस्तम्बसूत्रोंमें (धर्मवर्णनविषयक आपस्तम्बऋषिकृत सूत्रोंमें) ऐसा लिखा है **धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥ अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥** प्रपाठक २ पटल ५ सू० १०– ११ । अर्थ–धर्मच-र्य्यासे अर्थात् धर्म आचरणसे जघन्यवर्ण अर्थात् नीचेवाला वर्ण जो शूद्र वर्ण है वह जातिपरिवृत्तिमें अर्थात् जाति (वर्ण) के सब प्रकारके वृत्तिमें नाम आचर-

णमें अर्थात् वर्णोंके सब आचरण करनेके अधिकार प्राप्त होनेमें पूर्व पूर्व वर्ण अर्थात् अपनेसे ऊपर वा पहिलेवाले वैश्य क्षत्रिय व ब्राह्मण वर्णको प्राप्त होता है और अधर्मआचरणसे पूर्व वर्ण जो ब्राह्मण है वह जघन्य वर्णको अर्थात् अपनेसे नीचे पदवाले क्षत्रिय वैश्य व शूद्र वर्णको प्राप्त होता है अर्थात् क्षत्रिय वैश्य व शूद्र होजाता है अर्थात् धर्माचरणसे शूद्र ब्राह्मणपर्य्यंत जातियोंके सब अधिकारको प्राप्त होता है अधर्मआचरणसे ब्राह्मण शूद्र वर्णके नीच अधिकारको प्राप्त होता है अर्थात् उत्तमगति वा वर्ण प्राप्त होनेका कारण धर्म व निकृष्टवर्ण होने का कारण अधर्म है किसी कुलमें उत्पन्न होना मात्र नहीं है धर्म अधर्मही जाति वा वर्णोंकी व्यवस्थाका मुख्य हेतु है कुल में उत्पन्न होनेमात्रसे वर्ण का मानना धर्मज्ञ आप्तऋषियों की सम्मति से विरुद्ध है क्योंकि महात्मा मनुजी व्यास जी का भी यही सिद्धान्त है यथा मनुजी ने मनुस्मृति के अध्याय १० श्लोक ६५ में यह कहा है **"शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च** अर्थ— शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त होता है व ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है ऐसाही क्षत्रियसे और वैश्यसे उत्पन्नको जाने अर्थात् जानना चाहिये आशय इसका यह है कि, जो शूद्र विद्या सुशीलता आदि ब्राह्मण के गुणोंसे युक्त होवे वह ब्राह्मणता को प्राप्त होता है और ब्राह्मण जो दुष्ट आचरण मूर्खता पराधीनता परसेवा आदि शूद्रके गुणोंसे युक्त होवे तो शूद्रता को प्राप्त होता है ऐसेही क्षत्रिय व वैश्य उत्तम व निकृष्ट गुणकर्मोंसे ब्राह्मण शूद्र आदि के अधिकार को अर्थात् अपने से ऊंचे व नीचे वर्णके अधिकार को प्राप्तहोते हैं इस श्लोक का अर्थ आधुनिक टीकाकारों ने जो उत्तम गुण व धर्मआचरण से अपनेसे नीचे वर्णवाले को अपने समान कहनेमें अपनी हानि समझतेथे ऊपरसे आक्षेपकरके अन्यप्रकारसे वर्णन किया है परन्तु विचारसे व श्लोक के शब्दोंसे मिलानेसे असंगत विदित होता है और किसीप्रकारसे दूसरा अर्थ लगभी जावे तो अन्यत्र मनुमहाराजने धर्माचरण व गुणकर्मही को वर्णके होने में प्रधान माना है कुल में उत्पन्न होने को नहीं माना सर्वत्र अन्य अर्थकी कल्पना नहीं हो सकी यथा मनुजीने यह वर्णन किया है **यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः। यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः** अर्थ—जैसे काठ का हाथी जैसे चमडे का मृग (हिरण) अर्थात् चमडे में भूसाभर के बनायाहुआ हिरण और जो बिना पढाहुआ ब्राह्मण है यह तीनों नाममात्र धारण करते हैं अर्थात् जैसे काठका हाथी चमडेका हरिण नाम कहने मात्रको हाथी व हिरण आकृतिमात्र से हैं जो हाथी व हिरण से प्रयोजन सिद्ध होता है वह उनसे

नहीं होता न वे किसी काम के हैं न कुछ करसक्ते हैं ऐसेही विद्याहीन वेदआदि के न जानने से ज्ञानरहित ब्राह्मण नाम मात्र ब्राह्मण है जो द्विज वेद को न पढकर अन्यत्र श्रम करता है अर्थात् अन्यग्रन्थोंके पढने वा अन्य अनुचित कार्य व व्यवहारों में श्रम करता है वह अपने साथी वा मेलवालों सहित अपने जीतेही अर्थात् वर्तमानही दशा में शूद्र हो जाता है. तथा महाभारत के वनपर्वमें अध्याय ३१३ में यह लिखा है कि, यक्षने महाराज युधिष्ठिर से यह प्रश्न किया है कि, हे राजन्! कुलसे, गुण कर्म से, वेद आदि के पढने वा बहुतश्रुत होने से इनमेंसे किस कारण से ब्राह्मणत्व होता है यह निश्चयकर के कहो. इसके उत्तर में महाराज युधिष्ठिर ने यह वर्णन किया है शृणु **यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् । कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ॥ वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः । अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते**इत्यादि अर्थ–हे यक्ष! सुनो द्विजत्वमें अर्थात् ब्राह्मण होने में कुल स्वाध्याय और श्रुत अर्थात् बहुश्रुत होना ये कोई भी कारण नहीं है केवल वृत्त ही अर्थात् सत्यभाषण आदि उत्तम आचरणही मुख्य कारण है इसमें संशय नहीं है यही निश्चय है यत्नकरके वृत्त अर्थात् आचरण रक्षाकरनेके योग्य है और ब्राह्मण को विशेष आचरणकी रक्षा करना चाहिये अर्थात् अपना आचरण ठीक रखना चाहिये. क्योंकि, जिसका आचरण क्षीण नहीं हुआ अर्थात् नहीं बिगडा वह क्षीण नहीं है जिसका आचरण हत हो· गया अर्थात् बिगडगया वा नष्ट होगया वही बिगडा वा नष्टहुआ समझना चाहिये· चारों वेद को पढा हुआ भी ब्राह्मण आदि उत्तम कुलमें उत्पन्न कोई हो परन्तु दुर्वृत्त (दुराचारी) हो तो शूद्र से भी अधिक नीच है इत्यादि इसीप्रकारसे अनेक वाक्य महाभारत में शान्तिपर्वमें व अन्य महात्मा ऋषियोंके वाक्य हैं जिनसे वर्णोंके उत्तम व निकृष्ट होनेमें गुण व आचरणही की प्रधानता विदित होती है यथा शुक्रनीति नामक ग्रंथमें श्रीशुक्राचार्यजीने प्रथमही अध्यायके श्लोक ३८ व ३९ में ऐसा वर्णन कियाहै **न जात्या ब्राह्मणश्चात्र क्षत्रियो वैश्य एव न॥न शूद्रो वा न च म्लेच्छो भेदिता गुणकर्मभिः॥३८॥ ब्रह्मण स्तु समुत्पन्नाः सर्वे ते किन्नु ब्राह्मणाः ॥ न वर्णतो न जनकाद्ब्राह्मं तेजः प्रपद्यते ॥३९॥** अर्थ– (अत्र) इसमें अर्थात् इसजगतमें (जात्या) जातिसे अर्थात् कुलमें जन्महोनेमात्रसे (नब्राह्मणः) न ब्राह्मण है (च) और (क्षत्रियः वैश्य एव न) क्षत्रिय वैश्यभी नहीं है (च) और (न शूद्रः न म्लेच्छः) न शूद्र है न म्लेच्छ है किन्तु यह सब(भेदिताः गुणकर्मभिः)गुणकर्मोंसे भेदको प्राप्त हैं अर्थात् गुणकर्मोंहीके भेदसे इन वर्णोंका भेद है ॥ ३८॥(तु) और(ब्रह्मणः उत्पन्नाः) ब्रह्मासे उत्पन्न हैं इससे (नु) क्या (सर्वे ब्राह्मणाः) सब ब्राह्मण हैं वा होसक्तेहैं अर्थात् नहीं क्यों नहीं इससंशयके दूरहोनेके लिये यह कहा है(वर्णतः जनकात् वा)

वर्णसे अथवा पितासे(ब्राह्मं तेजः न प्रपद्यते)ब्रह्मतेजकी प्राप्ति नहीं होती वा ब्राह्मतेज प्राप्त नहीं होता ३९ किन किन गुण व कर्म विशेषोंसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदिवर्णोंका भेद है यह आगे वर्णनकिया है. उनके वर्णनमें अधिक व्याख्यान करना व विस्तार होजाना समझकर इतनेही आप्तवाक्य व युक्ति व हेतु का निदर्शन प्रमाण के लिये आवश्यक जानकर उपलक्षण मात्र के लिये वर्णन किया है इन उक्त प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि, शूद्र कुलमें उत्पन्न शूद्र के आचरण में प्रवृत्त कुलजनों के समान जो निद्रा, आलस्य, मद्यपान अत्यन्त मैथुन में आसक्ति सेवाकर्म करने मिथ्याभाषण में रुचि इत्यादि निकृष्ट वृत्ति व आचरण में प्रवृत्त है सत्संग व विद्यालाभ करके धर्माचरण में प्रवृत्त नहीं हुआ वह शूद्र है तथा जो ब्राह्मण कुल वा अन्य शूद्र से उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ है परन्तु उस कुल के लिये जो विहित कर्म है उनको कुसंग व रागआदि दोषवश हो त्यागकर उक्त निकृष्ट आचरण में प्रवृत्त होने से शूद्रत्व को प्राप्त हुआ है वह भी शूद्र है जो शूद्र है. उसको ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है. सत्य भाषण आदि धर्माचरण में प्रवृत्त होने से शूद्रता का अभाव हो जाने से शूद्र भी सत्य काम के समान ब्राह्मण के अधिकार को प्राप्त हो ब्रह्मविद्या का अधिकारी होसकता है परन्तु शूद्र न रहनेही में ब्रह्मविद्याका अधिकारी होता है इससे शूद्र को अधिकार नहीं है इस सिद्धान्त में दोष प्राप्त नहीं होता. अब अन्य हेतु शूद्र के अधिकार न होने का अगले सूत्रमें वर्णन करते हैं ३७

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

अनु०—स्मृतिसे वेदके श्रवण, अध्ययन व उसके अर्थ के प्रतिषेध से भी ॥ ३८ ॥

भाष्य—स्मृतिसे (स्मृति प्रमाणसे) शूद्रके वेदश्रवण, अध्ययन व उसके अर्थज्ञान व अनुष्ठान का प्रतिषेध होने से भी शूद्रको अधिकार नहीं है यह सूत्रका अर्थ है. अधिकार नहीं है यह सूत्रमें शेष है आशय से व पूर्वसम्बंध से ग्रहण कियाजाता है शूद्रके वेद पढने व सुननेका स्मृति में निषेध किया है यथा "**पद्यु हवा एतत् श्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्** अर्थ— (एतत् यत् पद्यु स्मशानं वस्तु तत् शूद्रः) पद्युनाम पादयुक्त चलनेवाला अर्थात् ज्ञानरहित चलनेवाला प्राणी पशु और स्मशान वस्तु शूद्र है अर्थात् पशुके समान अज्ञान स्मशान के समान अशुचि है (तस्मात्) तिससे (शूद्रसमीपे) शूद्रके समीप में (नाध्येतव्यम्) न पढना चाहिये अर्थात् वेद नपढना चाहिये ॥ जब शूद्र के समीप में पढनेका निषेध किया है तो शूद्र के सुनने और उसके सुनाने का निषेध जब शूद्र हुआ सुनने के योग्य नहीं है तब पढने के योग्य नहीं होसक्ता सुनने पढने से रहित

होनेसे वेदके पढने व सुनने का अर्थ जो ज्ञान व अनुष्ठान है अर्थात् ज्ञानलाभ करना व उपासना व वैदिक कर्म में प्रवृत्त होना है उसका भी निषेध हुआ तिससे शूद्र ब्रह्मविद्या का अधिकारी नहीं है यह सूत्र वाक्य के अर्थ का व्याख्यान है अब इसका अभ्यन्तराशय विचारने से यहीं विदित होता है कि जो मूढ है व दुराचरण से अशुचि है श्रद्धारहित है वह शूद्र है उसके पढाने व सुनाने का जो निषेध किया है उसका अभिप्राय यह है कि दुष्टकर्ममें प्रवृत्त व बुद्धिरहित होने से शूद्र विद्यापढने व धारण करने व विचार करने में समर्थ नहीं होता वा नहीं हो सक्ता इससे निष्फल होने से उसका पढ़ना व सुनना व्यर्थ है जो शूद्रकुल में उत्पन्न होने मात्र से बुद्धिमान उत्तम आचरण करनेवाला होने पर भी शूद्रको वेद आदिके सुनाने व पढाने का निषेध कहते व मानते हैं यह सर्वथा अयुक्त व अप्रमाण है क्योंकि, संस्कारवश से विदुर धर्मव्याध आदि शूद्र ब्रह्मनिष्ठ व ज्ञानवान हुये हैं यह इतिहास व पुराण से सिद्ध है और उनको ज्ञानका फल प्राप्त हुआ है इससे यह सिद्ध होता है कि, ईश्वर पक्षपातरहित न्यायकारी सब वर्णोंको शुभ अशुभ आचरण व ज्ञान का फल एकही समान देता है इससे ज्ञान का ऐकान्तिक फल होता है यदि ऐसा न होता तौ द्विज वर्णही मात्र को होता विदुरादि को न होता और जैसे स्मृतिमें शूद्र को सुनाने आदि का निषेध किया है वैसेही इतिहास पुराणोंमें सुनाने की विधि भी है यथा **श्रावयेच्चतुरो वर्णान्कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः** अर्थ—ब्राह्मण को आगे करके चारों वर्णोंको (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र को) वेद को सुनावै इस सुनाने की विधिसे शूद्रका सुनना व सुनाने के समान पढाना व शूद्रका पढना भी सिद्ध होता है अब निषेध व विधिप्रतिपादक वाक्य स्मृति व पुराणों के होनेसे परस्पर विरोध होने से कोई त्याग व ग्रहण के योग्य नहीं हो सक्ता और यह भी अवश्य विचारने योग्य है कि, दोप्रकार के वाक्यों में से एक अवश्य मिथ्या होगा क्योंकि विधि सत्य होनेमें निषेध का सत्य होना तथा निषेध के सत्य होने में विधिका सत्य होना अयुक्त व असंभव है क्योंकि एकही अवस्थासे विद्यमान एकही अधिकरण पदार्थमें परस्पर दो विरुद्ध गुण वा धर्म उपस्थित व स्वीकृत नहीं हो सक्ते परन्तु दो प्रकारके वाक्यों में से एकको मिथ्या कहना भी उचित नहीं है इससे विचार से ऐसा निश्चय किया जाता है कि, जो शूद्रकुलमें उत्पन्न होनेमात्र से विनागुण कर्म की अपेक्षा शूद्रत्व होना अंगीकार करके शूद्र के अधिकार का निषेध किया जाना माना जावे तो उत्पन्न शरीर मरणपर्य्यन्त एकही रहनेसे विधिवाक्यका चारितार्थ होना वा घटित होना सर्वथा असंभव है असंभव होनेसे विधिप्रतिपादक वाक्य का मिथ्या होना अवश्यही मानना पडेगा इससे गुणकर्म अनुसार ही वर्णभेद मानने में शूद्र कुल उत्पन्न में भी धर्माचरण व उत्तम गुण प्राप्त होनेसे अवस्था

भेद होनेमें विधि व निषेध दोनोंका कथन संभव होने से गुण व कर्म अनुसार ही शूद्रत्व का होना व न होना मानना युक्त व उक्त स्मृतिवाक्यों के सत्य व चारितार्थ होनेमें हेतु हो सक्ता है अर्थात् जिस स्मृति वा पुराण में विधिविषयक वाक्य है अर्थात् जिसमें सुनने सुनानेके लिये अधिकार होना वर्णन किया है जिससे पढने पढाने का भी अधिकार होना सिद्ध हो सक्ता है उसका आशय यह है कि, शूद्रकुल में उत्पन्न होनेसे शूद्र होवे परन्तु जो वह श्रद्धालु धर्माचरण करनेवाला होवे तो उस वास्तव में शूद्र न रहे हुये जन्ममात्र से शूद्र नाम से वाच्य शूद्र को अज्ञातगोत्र सत्यवक्ता सत्यकाम के उपनयन कियेजाने व उसके अनन्तर उसको ब्रह्मविद्या का उपदेश किये जाने के समान शूद्र को वेद सुनाना व पढाना चाहिये और निषेधवाक्य का आशय यह है कि, उक्त प्रकार से जो श्रद्धारहित व गुण कर्मसे शूद्रत्व को प्राप्त है शूद्रता निवृत्त नहीं हुई उस शूद्र को वेद के पढने व सुनने का अधिकार नहीं है उसको वेद न सुनाना चाहिये इससे यही निश्चित होता है कि, उक्त लक्षण से जो शूद्र है उसका वेद-श्रवण व पठन में अधिकार नहीं है शूद्रता निवृत्त होनेही में ब्रह्मविद्याका अधिकार होसक्ता है शूद्रता की निवृत्ति वा अभाव होने में अधिकार मानने से होने में(शूद्रता होनेमें) शूद्र के अधिकार होने की विधि वा सिद्धि नहीं होती इससे स्मृति से शूद्र के श्रवण व अध्ययन का प्रतिषेध होनेसे शूद्रको अधिकार नहीं है यह सिद्धान्त है. इतिहास पुराण व स्मृतिवाक्य दोनों प्रकार के समान मानने योग्य होने से निषेधही को सत्य मानै विधि को न मानै ऐसा कहना युक्त नहीं हो सक्ता क्योंकि, ऐसेही विधिवाक्य ही को सत्य मानकर निषेध को असत्य मानना युक्त होसक्ता है दोनोंका चरितार्थ होना ऐसाही आशय ग्रहण करने में जैसा वर्णन कियागया है हो सक्ता है. और उपनिषद् वाक्यों व सूत्रोंका पूर्वापर सम्बंध मिलाने व अभ्यन्तर अर्थ विचारनेसे ऐसाही शूद्रके होने व निषेध करने का आशय विदित व प्रमाणसे यथार्थ होना सिद्ध होता है. श्रीस्वामीशङ्कराचार्यजीने भी इस सूत्र के भाष्य वर्णन करने में **श्रावयेच्चतुरो वर्णान्** अर्थ—चारों वर्णों को सुनावै ऐसा विधिवाक्यको लिखा है व विदुरआदिका उदाहरण शूद्रोंको ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेमें देकर शूद्रका अधिकार अङ्गीकार किया है परन्तु अङ्गीकार करने व निषेधवाक्यका भी निर्वाह होनेके लिये यह लिखा है **वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्** अर्थ—वेदपूर्वक वेदपठनपूर्वक ब्रह्मविद्यामें शूद्रोंका अधिकार नहीं है यह स्थित वा सिद्ध हुआ इसका आशय यह है कि,सत्संग व इतिहास पुराणके व वेद श्रवण द्वारा शूद्रके ब्रह्मज्ञान लाभ करनेकी विधि होनेसे शूद्रका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है वेदपूर्वक अर्थात् वेदपठन सामान्यसे शूद्रकुलमें प्रतिषिद्ध होनेसे वेद पढकर ब्रह्मविद्या लाभ करनेका अधिकार नहीं है. परन्तु जब ब्रह्मविद्यामें अधिकार होना किसीप्रकारसे स्वीकार

कियागया तो वेदपूर्वक अधिकार होनेका निषेध करना युक्त नहीं होसक्ता क्योंकि मुण्डकउपनिषद्में यह श्रुति है **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते** अर्थ- (तत्र) उन दो विद्याओंमें ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष ये छः वेद के अंग अपरा विद्या है और (यया) जिससे अर्थात् जिस उपनिषद् वा ब्रह्मविद्या से (तद् अक्षरम्) वह परोक्ष अविनाशी ब्रह्म (अधिगम्यते) प्राप्त होता वा जानाजाता है वह परा विद्या है इससे जब ब्रह्मविद्या जो परा है उसमें अधिकार होना माना जावे तो उससे अपर विद्या में अधिकार अवश्यही होना चाहिये यद्यपि ब्रह्मविद्या भी वेदही के अन्तर्गत है परन्तु ऋग्वेदादि मंत्र संहिता में संक्षेप से वर्णित है उसको उपनिषद् में विस्तार से वर्णन किया है उसीको ब्रह्मविद्या कहतेहैं ब्रह्म के सर्वश्रेष्ठ होनेसे ब्रह्मविद्या को परा कहा है ब्रह्मविद्या वेद का अन्त भाग होनेसे उसको वेदान्तनाम से भी कहते हैं इससे जब वेदान्त में अधिकार हुआ तो अन्य वेदभाग में उसका निषेध करना युक्त नहीं है इससे सिद्धान्त यही है कि, जो कुल व आचरण दोनोंसे वा आचरणमात्र से शूद्र है उसका ब्रह्मविद्या व वेदपठन किसी में अधिकार नहींहै और जो आचरण से धर्मात्मा श्रद्धालु है व कुलमात्रसे शूद्र नामसे वाच्य होता है उस शूद्रका वेदपठन श्रवण व ब्रह्मविद्या में अधिकार है. सूत्रका व्याख्यान व सिद्धान्त वर्णन समाप्त होगया. अब प्रसंगसे व आवश्यकता जानकर संदेह निवृत्त होनेके लिये यह अधिक वर्णन किया जाता है कि, आशय विशेषसे जैसा कहागया है स्मृतिमें जो श्रवण अध्ययनका निषेध वर्णन कियागया है वह यथार्थ है परन्तु जो सर्वथा निषेधही होनेको सत्य मानते हैं विधिवाक्यको विना वेदका प्रमाण दिये युक्ति व हेतुसे विरुद्ध अप्रमाण मानते हैं उनका ऐसा मानना वा अन्य कल्पना अयुक्त है और स्मृतिमें जो ऐसा लेख है कि. **वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम् उदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद** इति अर्थ-वेदको सुननेवाले शूद्रके कानमें सीस व लाख भरना चाहिये उदाहरण देनेमें शूद्रकी जिह्वा काटना चाहिये धारण करनेमें अर्थात् वेदके धारण करने (पढने कंठस्थ करने) में शरीरको छेदना वा काटना चाहिये यह किसी पक्षपाती अभिमानी ईर्षावान् स्वार्थसाधक द्वेषबुद्धियुक्तसे प्रक्षिप्त समझना चाहिये ऐसा वाक्य किसी आप्तविद्वान् न्यायपर विचारशीलका नहीं हो सक्ता क्योंकि वेदका सुनना आदि कोई ब्रह्महत्या आदि महापाप कर्म नहीं है यदि ऐसे वचन आप्त वाक्य माने जावें तो जैसे उत्तम वेदशब्द के सुनने व कहने में ऐसे दण्ड के योग्य होते हैं ऐसेही ईश्वर ब्रह्म परमात्मा ओम् जो वेद में कहे हुये वाक्य वे शब्दों में उत्तम अर्थवाचक उत्तम शब्द हैं इनके कहनेवाले शूद्रों का प्राण हरण करना भी न्याय होगा परन्तु ऐसा मानना अयुक्त अन्याय है इससे

यह वाक्य किसी सत्पुरुष स्मृतिवक्ताका कभी नहीं हो सका और प्रक्षिप्तभी न होवें तो भी वेदविरुद्ध होनेसे इसका प्रामाण्य नहीं है क्योंकि सर्वश्रेष्ठ स्वतः-प्रमाणरूप वेदसे विरुद्ध किसी स्मृति वा दर्शन ग्रंथका वाक्य होवे वह मानने योग्य नहीं वेद में शूद्रआदि सब के लिये वेदका उपदेश करने व सुनाने की आज्ञा है यथा यह यजुर्वेद का मंत्र है **यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यो ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृद्ध्यता-मुपमादो नमतु** य० अ० २६ मंत्र २ प्रथम इस मंत्र का भाष्य संस्कृत में लिखतेहैं फिर भाषा में अर्थ लिखाजायगा (यथा) येन प्रकारेण (इमां) प्रत्यक्षभूतामृग्वेदादिवेदचतुष्टयीं (कल्याणीं) कल्याणसाधिकां (वाचं) वाणीं (जनेभ्यः) सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यः (सर्वोपकारकरणाय (आवदानि) अहम् आस-मन्तादुपदिशानि तथैव सर्वैर्विद्वद्भिः सर्वेभ्यो जनेभ्यो वेदचतुष्टयीयं वागुपदेष्ट-व्येति केभ्यो जनेभ्यः इत्याकांक्षायामिदमुच्यते(ब्रह्मराजन्याभ्यां) ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां (अर्य्याय) वैश्याय शूद्राय (चारणाय) अतिशूद्रायान्त्यजाय (स्वाय) स्वात्मीयाय पुत्राय भृत्याय सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यः इति फलितोर्थः (प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह०) यथाहमीश्वरः पक्षपातरहितः समदृष्ट्या सर्वोपकारकरणेन वर्तमानः सन् देवानां विदुषां प्रियः दातुर्दक्षिणायै सर्वस्वदानाय प्रियश्च भूयासं स्याम तथैव भवद्भिःसर्वैर्विद्वद्भिरपि वेदवाण्या सर्वोपकारं मत्वा सर्वेभ्यो वेद-वाणी श्राव्येति (यथायं मे मम कामः समृध्यते) तथैवेवं कुर्वतां भवताम् अयं कामः समृध्यताम् इयमिष्टसुखेच्छा समृध्यतां सम्यग्वर्धताम्(उपमादोनमतु) यथा-दः सर्वमिष्टसुखं मामुपनतमुपगतमस्ति तथैव भवतांपि सर्वमिष्टसुखमुपनमतु प्राप्नोत्विति अर्थात् सर्वोपकाराय वेदवागुपदेशेन श्रावणेन धर्मप्रचारणेन भवतः सुखं प्राप्नोतु ॥ भाष्यार्थ–(यथा) जैसे (इमां) इस प्रत्यक्षभूत ऋग्वेदादि वेदचतु-ष्टयी रूप (कल्याणीं) कल्याण करनेवाली (वाचं) वाणीको (जनेभ्यः) सब-जनों के लिये (आवदानि) मैं कहता वा उपदश करता हूं वैसेही सब विद्वानों को सब जनों वा मनुष्योंकेलिये वेदवाणी वा उपदेश करना चाहिये अथवा हे विद्वानों वैसाही तुम सबको वेदवाणी को सुनावो व उपदेश करो किन जनोंके लिये सुनाना वा उपदेश करना चाहिये यह जनाने के लिये यह कहा है (ब्रह्म-राजन्याभ्यां) ब्राह्मण क्षत्रियोंके लिये (शूद्राय) शूद्रके लिये (च अर्याय) और वैश्यके लिये (चारणाय) और अतिशूद्र अंत्यजके लिये (स्वाय) अपने सम्बंधी पुत्र मित्र सेवकआदि के लिये सुनाना चाहिये वा सुनाओ अर्थात् जैसे ब्राह्मणको वेद का अधिकार है ऐसाही सब को है जो कोई यह कहे कि, जन शब्द से ब्राह्मणोंही को ग्रहण करना चाहिये तो ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि, ब्राह्मण से लेकर अतिशूद्रतकके नाम स्पष्ट मंत्र में वर्णन किये हैं अवशेष मंत्र

का अर्थ यह है कि ईश्वर यह कहताहै (प्रियौ देवानां) जैसे मैं इस वेदरूप सत्य विद्या का उपदेश व दान करके देव जो विद्वान पुरुष है उनको प्रियहूं और (दक्षिणायै दातुरिह भूयासम्) जैसे दानी व शीलवान् पुरुष को प्रिय होता हूं वा होऊं वैसेही तुम लोग भी वेदविद्याका उपदेश करके व सबका हित करके प्रिय होवो (अयं मे कामः समृध्यताम्) जैसे यह वेदोंका प्रचार रूप मेरा काम संसार में प्रचरित होवै इसीप्रकार की इच्छा तुम विद्वान लोग करो वा विद्वानों को करना चाहिये कि, वेदवाणी सबको प्रकाशित हो प्रचाररूप वृद्धि को प्राप्त होती है (उपमादो नमतु) जैसे मुझे सत्य ज्ञान व विद्या से यह विद्यमान सुख है वैसेही जो सत्यवेद विद्याको ग्रहण करै उसको वा हे विद्वानों जो उक्त वाणीको यथावत् जानो व उपदेश करो तो तुमको यह सुख प्राप्तहोवै वा प्राप्त होगा ॥ यथाके साथ तथा का सम्बंध रहनेसे यथा शब्द जो मंत्र में है उससे तथा शब्द व अन्यको वैसाही आज्ञा देने का आशय विदित होनेसे ऐसा अर्थ मंत्रका प्राप्त वा सिद्ध होता है इस वेद मंत्र के अनुसार होनेसे विधिवाक्य की सबलता वा प्रधानता है व विधि सत्य है निषेध करने का आशय जैसा कहा गया है वैसाही समझना चाहिये कि, दुराचारी श्रद्धारहित मूर्ख होने से सूक्ष्म तत्व न समझ सकनेसे उपदेश निष्फल होनेसे शूद्रके अधिकार का निषेध किया गया है कुलमें उत्पन्न होनेमात्र से अधिकार का निषेध नहीं है श्रद्धा व योग्यता होनेमें सवर्णोंका अधिकार है. नीचकर्म करने वाला श्रद्धारहित जो है वह किसी कुल में होवे वही शूद्रहै उसका अधिकार नहीं है यही विद्वान सत्पुरुष व ऋषियोंका सम्मत है उक्त मंत्रमें ब्राह्मण क्षत्रिय आदि सब कुलों में उत्पन्न हुयोंके लिये सुनाने व उपदेश करनेकी जो विधि है उसका तात्पर्य यही है कि श्रद्धावान् होने व उत्तम आचरण में प्रवृत्त होनेसे सब उत्तम व अधिकारी होसके हैं और जो दीन व हीन दशा में है उसीपर विशेष दया व कृपा करना उचित है कि, जिसमें उसकी सुगति होवै परन्तु जब जिज्ञासु व धर्माचरणमें प्रवृत्त हो तभी अधिकारी हो सक्ता है इससे सत्पुरुषों ने अधर्म आचरण करने-वाले मूर्ख नीच श्रद्धारहित को गुणकर्मअनुसार शूद्र मानकर उसके अधिकार का उक्त हेतुसे निषेध किया है क्योंकि, जो पात्र नहीं है व जिसको जो वस्तु प्राप्त नहीं हो सक्ती श्रद्धा विश्वासरहित है उसको अप्राप्य के लिये उपदेश करना व श्रमकरना व्यर्थ है. जैसा की कठोपनिषत् में यह श्रुति है **नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञाने-नैनमाप्नुयात्** अर्थ—जो पापकर्मसे विरक्त नहीं है शान्त नहीं है विश्वासरहित है संशययुक्त है वह इस ब्रह्म को नहीं प्राप्त होता प्रज्ञानसे ब्रह्मको प्राप्त होता है भावार्थ इसका कहा गया है अब प्रसङ्ग से जो देवता आदिकों के अधिकार के निरूपणका आरंभ किया था उसको समाप्त करिकै अंगुष्ठप्रमित को भूत भव्य का

ईश अर्थात् स्वामी कहने से अंगुष्ठमात्र पुरुष शरीर के बिचमें स्थित परमेश्वर पर ब्रह्महीं को कहा है यह जो वर्णन किया है उसी प्रकृत प्रमित (परिमाणयुक्त) के परब्रह्म होने में अन्य हेतु वर्णन करते हैं ॥ ३८ ॥

प्रमिताधिकरणम् ।

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

अनु०—कांपनेसे ॥ ३९ ॥

भाष्य—कांपने से अर्थात् अंगुष्ठमात्र पुरुष वर्णन करने के प्रकरण में अंगुष्ठ मात्र पुरुष शरीर के बीच में रहता है ऐसा कहकर अंगुष्ठमात्र पुरुष को आगे प्राण नाम से कहा है व प्राण सब जगत्को कंपाता है यह वर्णन किया है सब जगत्को कांपने से प्राण शब्द वा नाम से कहागया अंगुष्ठमात्र पुरुष परब्रह्मही है अर्थात् हृदयदेश में ध्यान करने के लिये अंगुष्ठमात्र पुरुष ब्रह्महीं को कहा है इसका व्याख्यान यह है कि, **अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्यात्मनि तिष्ठति** अर्थ—अंगुष्ठमात्र पुरुष शरीर के बीच में रहता है इस वाक्य और **अंगुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा** इत्यादि अंगुष्ठमात्र अर्थात् अंगुष्ठमात्र हृदयस्थान में रहनेवाला पुरुष सबका अन्तरात्मा है इत्यादि इस वाक्य के मध्यमें यह वर्णन किया है **यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं ये एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति** अर्थ- (यत् इदं किञ्च) जो यह कुछ अर्थात् अनन्त परमेश्वरकी अपेक्षा थोडासा (सर्वं जगत्) सब जगत् (निःसृतं अर्थात् प्राणात् निःसृतं) प्राणसे निकला अर्थात् उत्पन्नहुआ है वह (प्राणे) प्राणमें अर्थात् सब प्राणियोंके जीवनके हेतु ब्रह्मके विद्यमान होनेमें (एजति) कांपता वा चलायमान होता है अर्थात् प्राणहीसे प्रेरित हो अनेक नियतकार्यमें भययुक्त प्रवृत्त होता है वह प्राणरूप ब्रह्म कैसा है (महद्भयं) महाभयका हेतु (वज्रमुद्यतं) वज्रके समान उद्यत है (एतत्) इसको (ये) जो (विदुः) जानते हैं (ते) वे (अमृताः) मुक्त (भवन्ति) होते हैं ऐसा वर्णन करनेमें जो यह संशय हो कि, प्राण वायुहीको अंगुष्ठमात्र पुरुष उपचारसे वर्णन किया है क्योंकि प्राणवायुका वास हृदयस्थानमें है हृदयस्थान अङ्गुष्ठमात्र कहागया है प्राण अपान आदि पांच वायु हैं उनमेंसे प्राणका स्थान हृदय अपानका गुदा इत्यादि स्थान कहेगये हैं इससे हृदयस्थानमें रहनेवाले प्राणहीको अंगुष्ठमात्र कहना मानना चाहिये और वायुसे सब प्राणी वृक्षआदि

१ प्रकृष्टतयाऽनिति जीवयति सर्वान् प्राणिनः इति प्राणः ।

२ अथवा महद्भयं वज्रमुद्यतं इन शब्दोंमें पंचमी के अर्थ में प्रथमा विभक्ति मानके महद्भयात् वज्रादुद्यतात्सर्वं जगत् कम्पते । ऐसा वाक्य का अन्वय करके यह अर्थ कहना चाहिये कि वज्र के समान उद्यत महाभयकारी उस प्राणशब्दवाच्य ब्रह्मसे सब जगत् कांपता है ।

कांपते हैं वायु निमित्तहीसे मेघोंके परस्पर संघात व अवयवोंके भिन्न होनेमें भयानक शब्द व वज्र बिजुलीकी उत्पत्ति होती है इससे महाभयकारी वज्रके समान कहा है और अन्य श्रुतिमें वायुको अमृत भी कहा है यथा **वायुरेव व्यष्टिर्वायुस्संयष्टिरयं पुनर्मृत्युञ्जयति** अर्थ-वायुही व्यष्टिरूप वायुही संयष्टि रूप है व यह मृत्युको जीतता है तो इसके समाधानके लिये यह कहा है कि कांपनेसे अर्थात् सब जगतके कांपनेसे व प्राणशब्दसे निर्दिष्ट(कहेगये)अंगुष्ठमात्र पुरुषमें ऐसा कहनेसे कि प्राणमें सब जगत् अर्थात् सब जगत्के पदार्थ अपने २ काममें प्रवृत्त होते हैं वज्रके समान उद्यत महाभयकारी है अर्थात् जैसे वज्र लिये हुये उद्यत स्वामी को सेवकगण देखकर आज्ञा अनुकूल न करने में दण्ड पानेके भय से कांपते व अपने २ काम में लगे रहते हैं ऐसाही सब जगत् के पदार्थ उसके नियमसे अपने २ काम में प्रवृत्त हैं तथा आगे वाक्योंमें स्पष्ट यह वर्णन किया है **भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः । भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः** अर्थ-(अस्य) इसके ब्रह्म के (भयात्) भयसे (अग्निः तपति) अग्नि तापकरता है अर्थात् दाहकरनेके गुणसे विरुद्ध नहीं होता तथा (भयात्) भयसे (सूर्यः तपति) सूर्य तापकरता है (भयात्) भयसे (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (वायुः) वायु अपने २ काम करते हैं (च) और (पंचमः मृत्युः) पांचवां मृत्यु भी उसीके भयसे (धावति) धावता है अर्थात् इधर उधर दौडकर नियमानुकूल प्राणियोंको मारता है और जो मृत्युरहित पदार्थ है उनसे दूर भागता है इसप्रकारसे उसके भयसे कांपना कहने से व उसके भयसे सब अग्नि सूर्य इन्द्र आदि अपने नियत कर्म में प्रवृत्त होनेसे ब्रह्महीका होना सिद्ध होताहै यह गुण वा लक्षण ब्रह्महीके हो सक्ते हैं और जो कोई इसको जानते हैं वह मुक्त होते हैं ब्रह्मके ज्ञानसे मुक्त होना संभव है अन्यके ज्ञानसे नहीं है इससे सब जगत्का कांपना व सूर्य आदिकोंका उसके भयसे अपने२ नियत व्यापारमें प्रवृत्तरहना ऐसा ऐश्वर्य ब्रह्महीका सिद्ध होनेसे प्राण नामसे अंगुष्ठमात्र पुरुष ब्रह्महीको कहा है प्राणवायुको नहीं कहा और प्राणको जहाँ अमृत कहा है वहाँ प्राणशब्द ब्रह्महीका वाचक है प्राणवायुका नहीं है ॥ ३९ ॥

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

अनु०-ज्योति है देखनेसे ॥

भाष्य-वह अंगुष्ठप्रमित सब तेजोंका आच्छादन करनेवाला व सब तेजोंका

---

१ जो आचार्य कम्पनात् व ज्योतिर्दर्शनात् इन दो सूत्रों में वायु व ज्योति अर्थात् भौतिकप्रकाश होनेका पूर्वपक्ष स्थापन करके सिद्धान्त में प्राण व ज्योति शब्द ब्रह्मवाचक वर्णन करते हैं और भिन्न २ अधिकरण स्थापन करते हैं यह युक्त नहीं है क्योंकि प्राण शब्दका ब्रह्मवाचक होना प्राणस्तथानुगमात् इस सूत्रमें और ज्योति शब्द ब्रह्मवाचक होना-

कारण व अनुग्राहक ज्योतिस्वरूप वा परंज्योतिरूप है वह उक्त अंगुष्ठप्रमित विषयक दो वाक्योंके मध्यमें देखनेसे अंगुष्ठप्रमित पुरुष परब्रह्महीं है यह सिद्ध होता है. यथा उसी प्रमित पुरुषके प्रकरणमें उक्त वाक्योंके बीचमें यह वर्णन किया है **न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वन्तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** अर्थ–(तत्र) तिसमें अर्थात् परब्रह्ममें (सूर्यो न भाति) सूर्य प्रकाश नहीं करता (न चन्द्रतारकं) न चन्द्रमा तारे प्रकाश करते हैं (न इमाः विद्युतः) न ये नेत्रके प्रकाशकी दबानेवाली बिजुली (भान्ति) प्रकाश करती हैं तो (अयम् अग्निः) तो यह पृथिवीमें प्रसिद्ध भौतिक अग्नि (कुतः) कहांसे प्रकाशकरै अर्थात् जब सूर्यआदि जो अग्निके तेजसे बहुत अधिक तेजवान् हैं उनका तेज प्रमितपुरुष ब्रह्मके तेजके सामने तुच्छ होनेसे प्रकाश नहीं करता तो इस अग्निका तेज क्या प्रकाश करसक्ता है (तमेव) उसी (भान्तम् , प्रकाशमान हुयेके पीछे (सर्वं) सब सूर्य आदि (अनुभाति) उसके प्रकाशको पाकर प्रकाशित होतेहैं (तस्य भासा) उसके प्रकाशसे (इदं सर्वं) यह सब सूर्य आदि प्रकाशमय जगत् वा लोक (विभाति) प्रकाशकरता है ॥ ऐसेही आथर्वणमें परब्रह्मके अधिकारमें यह वर्णन किया है **परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते** अर्थ–(परं- ज्योतिः उपसम्पद्य) परंज्योतिस्वरूप ब्रह्मके समीपको प्राप्त हो (स्वेन रूपेण) अपने शुद्ध चेतन ज्ञानरूपसे यह जीवात्मा (निष्पद्यते) सिद्ध होता है अर्थात् विकाररहित अपने शुद्धरूपको प्राप्त होता है **तं देवा ज्योतिषां ज्योतिरायु- र्होपासतेऽमृतं** अर्थ–(तं ज्योतिषां ज्योतिः आयुः अमृतंम्) उस ज्योतिमानोंका ज्योति व आयु अमृतरूपको (देवा उपासते) देवता उपासन करते हैं **यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते** अर्थ–(यत् ज्योतिः) जो ज्योति (अतः परः दिवः) इससे पर दिव लोकसे (दीप्यते) प्रकाश करता है इत्यादि वाक्योंमें परं- ज्योतिरूप ब्रह्महीको वर्णन किया है यह देखनेसे पर ज्योतिरूप वर्णन कियागया अंगुष्ठप्रमित पुरुष ब्रह्महीं है यह सिद्धान्त है ॥ ४० ॥

यह अंगुष्ठमात्र शब्दसे परब्रह्म वाच्य होने का अधिकरण समाप्त हुआ आकाशशब्द ब्रह्मवाचक होने का अधिकरण ।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

अनु०–आकाश परब्रह्म है अर्थान्तरत्व (अन्यअर्थहोना) आदि कहने से ॥ ४१ ॥

ज्योतिश्चरणाभिधानात् इस सूत्रके व्याख्यान में सिद्ध किया गया है फिर उसीका निर्णय करना सिद्धसाधन पिष्टपेषण होनेसे युक्त नहीं है इससे प्रकरणअनुसार प्रमित पुरुषही का निर्णय करना युक्त है ।

भाष्य—छान्दोग्य में यह लिखा है **आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मेति** अर्थ—(आकाशः) आकाश (वै) निश्चयसे (नामरूपयोः) नाम व रूपोंका (निर्वहिता) प्रकटकरनेवाला व प्राप्तकरनेवाला है (ते) वे अर्थात् नाम व रूप (यदन्तरा) जिसके अन्तरमें (मध्यमें) हैं अर्थात् नाम रूप जिसके मध्यमें होते हैं और वह उनसे भिन्न नाम व रूपरहित हैं (तद् ब्रह्म) वह ब्रह्म है (तदमृतं) वह अमृत अर्थात् मृत्युरहित है (स आत्मा) वह आत्मा है ॥ इस वाक्य में यह संशय होता है कि, आकाश नाम से निर्दिष्ट (कहागया) मुक्तात्मा है अथवा परमात्मा है अर्थात् मुक्तात्मा को आकाश कहा है अथवा परमात्मा को क्यों कि, मुक्तात्मा में भी जैसा आकाशको ब्रह्म अमृत होना वर्णन किया है घटित होसक्ता है और पूर्वमें मुक्तात्मा प्रकृत है उस सम्बंधसे मुक्तात्माविषयक वर्णन है ऐसा प्रतीत होता है आकाशशब्द यद्यपि भूतआकाश में प्रसिद्ध व रूढ है परन्तु ब्रह्म अमृत आत्मा कहनेसे भूत आकाश में अन्वय नहीं होसक्ता मुक्तात्मा को ब्रह्मके समान होना वर्णन किया है और मुक्तात्मा की भी ब्रह्मसंज्ञा है इससे मुक्तात्माको यौगिक अर्थमें यहां आकाश के समान शरीररहित और अविद्याआवरण के निवृत्त होनेसे व ज्ञानप्रकाश संकोच दूरहोनेसे अपने प्रकाशसे आकाशके समान सर्वत्र प्राप्त व सूक्ष्म होनेसे आकाश कहा है मुक्तात्मा को पूर्ववाक्यमें ऐसा वर्णन किया है **अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीति** अर्थ— (अश्व इव) घोडे के समान (रोमाणि विधूय) कंपसे रोमों को झाडकर अर्थात् जैसे अश्व रोमोंसे धूलि आदि को झाडकर निर्मल होताहै ऐसेही (पापं विधूय) पापको झाडकर निर्मल हो और (चन्द्र इव) चन्द्रमा के समान (राहोर्मुखात्) राहु के मुखसे (प्रमुच्य) छूटकर अर्थात्संसार क्लेश रूप राहु के मुख से छूटकर प्रकाशमान हो (शरीरं धूत्वा) शरीरको त्यागकर (कृतात्मा)कृतार्थ आत्मा हो (अकृतं ब्रह्मलोकं) उत्पत्तिरहित नित्य सत्य ब्रह्मलोक को (अभिसंभवामि)प्राप्त होता अर्थात् ब्रह्मज्ञान व ध्यानके प्रभावसे ऐसे ब्रह्मलोक को प्राप्तहोताहूँ उपासक ब्रह्मज्ञानी मुक्तात्मा हो ऐसा ब्रह्मके ध्यानमें प्रवृत्त होता है अथवा ज्ञानफल से शरीर त्यागकर मैं मुक्तरूप ब्रह्म को प्राप्तहोताहूँ ऐसा मनसे जानता वा विचारकरता है ब्रह्मज्ञान को प्राप्त जो मुक्त होता है उसीको पूर्व अवस्था में देवता आदि के रूप व नाम धारणकरने से नाम व रूपका व्याकर्ता (प्रकटकरता) कहाहै और नाम रूपरहित हो ब्रह्ममें प्राप्त मुक्त व ब्रह्मवाच्य होने की अवस्थामें नामरूप से पृथक् ब्रह्म व अमृत आत्मा कहाहै जो यह शङ्का होवै कि, यह दहरआकाश वाक्य का शेष (रहगयाहुआ भाग) है इससे यह दहर आकाशहीका वर्णन है और दहरआकाश का परमात्मा होना निर्णय कियागया है इससे यहां भी आकाश

शब्द परमात्मावाचक है तो उत्तर यह है कि, बीचमें प्रजापतिके वाक्यों का वर्णन आगया है प्रजापतिके वाक्योंका व्यवधान होनेसे और प्रजापतिवाक्य में प्रत्यगात्मा के मुक्तिअवस्थातकका रूप कहागया है इसके अनन्तर **विधूय पापं** अर्थ–पापको त्यागकर इत्यादि यह कहा है इसमें मुक्तिअवस्था को प्राप्तहुयेकी प्रशंसा कीगई है इससे दहरआकाशका मानना युक्त नहींहै यह मुक्तात्माहीको आकाश कहा है इसके समाधानके लिये यह कहाहै आकाश परब्रह्म है किस हेतुसे परब्रह्म है भिन्नअर्थ होना आदि कहनेसे भिन्नअर्थ होनेका वर्णन यह है **आकाशो ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता** अर्थ–आकाश नाम व रूपका व्याकर्ता (प्रकटकरनेवाला) है नाम व रूपका प्रकट वा उत्पन्न करनेवाला होना कहना बद्ध व मुक्त दोनों अवस्थावाले प्रत्यगात्मा से आकाश किसी भिन्न पदार्थको कहा है यह सिद्ध वा सूचित करता है क्योंकि बद्धावस्थ (बद्धअवस्थावाला) कर्मवश विशेष जाति व शरीरसे उत्पन्न हो नामरूप को प्राप्त नामरूपोंका प्रकटकरनेवाला नहीं होसक्ता मुक्तावस्थसे भी जगद्व्यापार संभव न होनेसे क्योंकि जगत्की सृष्टिसामर्थ्य को छोड कर अन्य सब सामर्थ्य मुक्तको प्राप्तहोना श्रुतिमें वर्णन किया है मुक्तभी सब नामरूपका प्रकट कर्त्ता नहीं होसक्ता सब जगत्का निर्माणकर्ता ब्रह्महीं नामरूपों का प्रकट करनेवाला है यह श्रुतिसे सिद्ध है यथा **अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि** अर्थ–(अनेन जीवेनात्मना) इस जीवात्मा सहित (अनुप्रविश्य) जीवात्मा के समान प्रवेश करके (नामरूपे) नाम व रूपको (व्याकरवाणि) प्रकट करूं तथा **यस्सर्वज्ञस्सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपश्च जायते** अर्थ–(यः सर्वज्ञः) जो सर्वज्ञ है (सर्ववित्) सबमें विद्यमान (यस्य) जिसका (ज्ञानमयं) ज्ञानस्वरूप (तपः) प्रताप वा प्रकाश है (तस्मात्) उस परब्रह्म परमेश्वर से (एतत् ब्रह्म) यह वेद (नाम रूपम् अन्नं च) नाम व रूप और औषधिफल (जायते) उत्पन्न होता है इत्यादि श्रुतियों में कहाहुआ नामरूपयुक्त प्रत्यगात्मा से भिन्न नामरूपका प्रकट वा प्राप्तकरनेवाला आकाश परब्रह्म ही है क्योंकि सब पदार्थ नामरूपसहित हैं आकाश को यह कहा है कि, नाम व रूप जिसके मध्य में हैं अर्थात् सब नामरूपवाले पदार्थ जिसके मध्य में हैं यह कहनेही से यह सिद्ध होता है कि, नामरूपसे वह पृथक् है जिसमें होता है और जो होता है वे दोनों एक नहीं होसक्ते हैं आधारआधेयमें भेद होना सिद्ध है इससे आकाश नामरूप से अर्थान्तर अर्थात् भिन्नपदार्थ है जो अर्थान्तर होना आदि ऐसा कहा है आदि शब्दसे ब्रह्मत्व अमृतत्व व आत्मत्व ग्रहण किये जाते हैं परमात्माहीका उपाधिरहित नित्य ब्रह्म होना आदि सिद्ध होता है तिससे यहां आकाश परब्रह्महीको कहा है और जो पूर्ववाक्य में मुक्तके विषय में यह कहनेके पश्चात् कि, शरीरको त्यागकर ब्रह्मलोक को प्राप्तहोउँ वा होताहूँ **आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता** यह वाक्य कहा है इसमें भी मुक्त का

सब नामरूपके व्याकरण में सामर्थ्य न होनेसे अभिसंभाव्य (जिसमें प्राप्तहोने को मुक्त कहता है वह) परब्रह्मही इस वाक्य में उक्त समझना चाहिये और आकाश शब्द से प्रकृत जो दहराकाश है उसीका यह प्रत्यभिज्ञान होनेसे अर्थात् सम्बंध व साधर्म्य स्मरण से निश्चय होनेसे और प्रजापतिवाक्य का भी उपासक के स्वरूप कथन का प्रयोजन होनेसे उपास्य दहर आकाशही यहां कहा गया है यह ज्ञात होता है इससे सिद्धान्त में यहाँ आकाश परब्रह्महीं को कहा है यह मानना युक्त है अब जो यह शङ्का की जावे कि, द्वैतका प्रतिषेध होने से आत्मा व परमात्मा में भेद नहीं है शुद्धावस्था को प्राप्त प्रत्यगात्माही परब्रह्म परमात्मा कहा जाता है इससे मुक्तात्मा प्राप्त होनेवालेसे प्राप्य (प्राप्त होने-योग्य) ब्रह्मलोक कोई भिन्न पदार्थ नहीं है इससे मुक्तात्मा भी नामरूपका निर्वहिता (व्याकर्ता) आकाश शब्दसे वाच्य होसक्ता है इसका उत्तर आगे सूत्र में वर्णन करते हैं ॥ ४१ ॥

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

अनु०—सुषुप्ति व उत्क्रान्ति में भेदसहित कहनेसे ॥ ४२ ॥

भाष्य—कहनेसे इसकी पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति होती है सुषुप्ति व उत्क्रान्ति में भेद वर्णन किये जाने से प्रत्यगात्मा अर्थात् जीवात्मासे परमात्मा पृथक् है सुषुप्ति व उत्क्रान्ति में वेद वर्णन यह है कि, वाजसनेयकमें जनक ने याज्ञवल्क्य से यह प्रश्न किया है कि, आत्मा को है याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया है **योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः** अर्थ—जो यह विज्ञानमय प्राणोंमें हृदय के अन्तर (बीचमें) ज्योतिरूप है इत्यादि दोनोंसे प्रश्न उत्तर के वर्णन में सुषुप्ति में सब ज्ञानरहित कुछ न जाननेवाले जीवात्मा का सर्वज्ञ परमात्मा के साथ मेल होना कहा है **यथा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमिति** अर्थ—(प्राज्ञेनात्मना) सर्वज्ञ परमात्माके साथ (सम्परिष्वक्तः) मिलाहुआ यह जीवात्मा सुषुप्ति में (बाह्यं किञ्चन न वेद) बाहर कुछ नहीं जानता (नान्तरं अर्थात् न अन्तरं किञ्चन वेद) न भीतर कुछ जानता है तथा उत्क्रान्तिमें (मृत्युमें) कहाहै **अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सृजन् यातीति** अर्थ—(अयं शारीर आत्मा) यह शरीरवान् जीवात्मा (प्राज्ञेन आत्मना)सर्वज्ञ परमात्मासे (अन्वारूढः) अधिष्ठित (उत्सृजन् अर्थात् शब्दम् उत्सृजन् मुञ्चन् कुर्वन्निति फलितोऽर्थः) शब्दकरताहुआ अर्थात् मरणसमय में दुःख पीडा ज्ञातहोनेसे आर्तशब्द करता हुआ अथवा शरीरस्थान को त्यागकरता अर्थात् त्यागकर जाता है अर्थात् लोका-न्तर वा अन्यस्थानको जाता है ऐसा वर्णन कियेजानेमें सोताहुआ व मृत्युको प्राप्त जो अज्ञ कुछ नहीं जानता उसीका उसी अवस्थामें सर्वज्ञ होना आपही

अपने साथ मिलना और आपही अपने से अधिष्ठित होना संभव नहीं होता और अन्य क्षेत्रजका भी सर्वज्ञ होना संभव न होनेसे अन्य क्षेत्रज्ञ मात्र के साथ मिलना व उससे अधिष्ठित होना कहना युक्त नहीं है इससे प्रत्यगात्मा से परमात्मा भिन्न है ॥ ४२ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

अनु०—पतिआदि शब्दोंसे ॥ ४३ ॥

भाष्य-और इस वर्णन के आगे उत्तरभाग में परमात्मा को पति आदि शब्दोंसे कहा है अर्थात् परमात्मा को सबका पति आदि होना कहा है इससे भी जीवात्मासे परमात्मा पृथक् है यह सिद्ध होता है पति आदि शब्दोंसे कहे जानेका प्रमाण यह श्रुति है **सर्वस्याधिपतिः सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः स न साधुकर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्मणा कनीयानेष सर्वेश्वर एष सर्वाधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसम्भेदाय** अर्थ-(सर्वस्य अधिपतिः) सबका पालनकर्ता (सर्वस्य वशी) सबका अपने वश में रखनेवाला अर्थात् ब्रह्मा इन्द्रादि सब जिसके वश में हैं (सर्वस्येशानः) सबका ईशान अर्थात् सबसे अधिक सामर्थ्य व ऐश्वर्यवान् जो परमात्मा है (सः) वह (न साधुकर्मणा) न उत्तम कर्मसे (भूयान्) श्रेष्ठ होता है (न असाधुकर्मणा एव) न निकृष्ट कर्म सेही (कनीयान्) नीच होता है (एषः सर्वेश्वरः) यह सबका ईश्वर है (एषःसर्वाधिपतिः) यह सबका पालन करनेवाला स्वामी है (एषः भूतपालः) यह भूतोंका अर्थात सब प्राणियों का पालनकरनेवाला है (एषां लोकानाम् असम्भेदाय) इन सब लोकोंके अर्थात् भूलोक से ब्रह्मलोक पर्य्यन्त लोकों के असंभेद के लिये अर्थात् भेद वा मर्य्यादा न मिटने के लिये (एषः विधारणः सेतुः) यह धारणकरनेवाला अर्थात् नियमसे लोकोंका धारण करनेवाला अर्थात मर्य्यादा व नियममें लोकों को रखनेवाला सेतुबंधी वा बंधान है अर्थात् जैसे बांध वा बंधी पानीको बांधे रहता है सीमा से बाहर नहीं आने देता ऐसेही सब को नियममें रखनेवाला है इसके आगे यह वाक्य है **तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति सवा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानोऽजरोऽमृतोऽभय आनन्दो ब्रह्मेति** अर्थ-(तम् एतम्) उस इस प्रकारसे कहे गये को (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणा (वेदानुवचनेन) वेदवचन अनुसार (विविदिषन्ति) जाननेकी इच्छा करते हैं (एतमेव विदित्वा) इसीको जानकर (मुनिः भवति) मुनि होता है अर्थात् मनन करनेवाला योगी होता है (एतम् एव लोकम् इच्छन्तः) इसी लोकको अर्थात् इसी ब्रह्मलोकको इच्छाकरते हुये (प्रव्राजिनः) संन्यासी लोग (प्रव्रजन्ति) संन्यासको धारण करते हैं अर्थात्

सब लौकिकसुखको त्यागकर ब्रह्मविचारमें प्रवृत्त होतेहैं अथवा ब्रह्म लोकको जातेहैं अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त होते हैं (स वै एष महान्) वह यह निश्चय सबसे बडा व श्रेष्ठ (अज) जन्मरहित (आत्मा) व्यापक चेतनरूप (अन्नादः) सब प्राणियों में स्थित सब अन्नोंका भक्षणकरनेवाला (वसुदानः) धनरूप सब प्राणियोंके कर्मफल को देनेवाला (अजरः) जरारहित (अमृतः) मृत्युरहित (अभयः) भयरहित (आनन्दः ब्रह्म इति) आनन्दस्वरूप ब्रह्म है ये सबका पति होना जगत् का धारणकरना सबका ईश्वर होना आदि धर्म जीव में मुक्त अवस्था प्राप्त होनेमें भी किसी प्रकार से संभव नहीं होते हैं इससे नामरूपों का प्रकटकर्ता परमात्मा ही संभव होनेसे परमात्मावाचक आकाश मुक्तात्मा से भिन्न पदार्थहै अर्थात् आकाश शब्दसे परमात्माहीको ग्रहण करना युक्त है और जो द्वैत-का निषेध व एक होनेका उपदेश है उसका आशय यह है कि सब चिदचिदात्मक अर्थात् जडप्रकृति व चेतन जीवात्मा व जगत् ब्रह्महीका कार्य है अर्थात् सबके जड पदार्थ तथा जीवात्मा के भीतर परमकारण सूक्ष्मरूप सर्वव्यापक परमात्मा सबका आत्मारूप स्थित है उसकी अपेक्षा अंतःकरण लिङ्गशरीरआदिके सम्बंध से जीवात्मा भी स्थूल कार्यरूप है व ब्रह्मका शरीर है और जीवात्माका भी आत्मा परमात्माही मुख्य आत्मारूप है यथा इस श्रुति में कहा है **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मान्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं** इत्यादि अर्थ-(यः) जो (आत्मनि तिष्ठन् आत्मान्तरः) आत्मामें रहताहुआ आत्मा के मध्य में है (यं) जिसको (आत्मा न वेद) आत्मा अर्थात् जीवात्मा नहीं जानता है (यस्य) जिसका (आत्मा शरीरं) आत्मा शरीर है इत्यादि इसीसे सब चेतन अचेतन पदार्थ को ब्रह्मात्मक वा ब्रह्ममय होने के भाव से **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** अर्थ-सब यह निश्चय ब्रह्म ही है इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्महीरूप होना प्रतिपादन कियागया है इसी अभिप्रायसे द्वैतका प्रतिषेध है अथवा जैसे लोकमें अतिश्रेष्ठ सामर्थ्यवान् को उसीका ऐश्वर्य व अधिकारविशेष देखकर इतरको न होनेके समान मानकर अद्वितीय और यह कहते हैं कि जो कुछ है सब यही है ऐसेही ब्रह्मके सब होनेका कथन समझना चाहिये यह आकाश शब्दवाच्य परमात्मा का प्रत्यगात्मा से भिन्न होनेका अधिकरण समाप्त हुआ ॥ ४३ ॥

इति श्री शारीरिकमीमांसाभाष्ये देशभाषया श्रीमत्प्रभुदयालुवि-रचिते प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थपादारंभः ।

आनुमानिकाधिकरणम् ।

प्रथम पाद में ब्रह्मको जिज्ञासा करने के योग्य कहकर ब्रह्मका लक्षण जिससे

इस जगतके जन्मआदि होते हैं ऐसा श्रुतिअनुसार व जगतके जन्मआदि का कारण होना व सर्वव्यापक नित्य सर्वज्ञ सर्वात्मक होना आदि व प्रधानके जगतके कारण होने का प्रतिषेध वर्णन करिके द्वितीय व तृतीय पाद में जो अस्पष्ट अर्थात् स्पष्ट नहीं ऐसे जीव आदि व ब्रह्मलिङ्गविषयक होनेसे, संदेह-जनक (उत्पन्नकरनेवाले) वाक्य थे उनके निर्णय को वर्णन करके अब कोई कोई श्रुतिवाक्य जो ऐसे हैं कि, जिन में जैसा कपिलऋषि ने प्रधानका कारण होना वर्णन किया है प्रधान के कारण होनेका प्रतिपादन ज्ञात होता है उनके व्याख्यान व निर्णय करने, व कपिलदेव के मत के प्रतिषेध करने, व द्वितीय तृतीय पाद में शेष रहे शङ्का व समाधान के विषय में इस चौथे पादको वर्णन करतेहैं ।

प्रधानवाचक कारण होनेमें संशय निवारण में आ[illegible] सूत्र १—७

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपक-विन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ ॥

अनु०—आनुमानिक भी अर्थात् प्रधान भी एकौंके शाखा में कारण कहागया है जो यह कहाजाय नहीं शरीरका रूपक से विन्यस्त (रूपित वा कल्पित) ग्रहण होनेसे अर्थात् अव्यक्त शब्द से शरीरका रूपक भाव से मानागया ग्रहण होनेसे और श्रुति भी ऐसाही जनाती है अर्थात् वर्णन करती है ॥ १ ॥

भाष्य—अव्यक्त शब्दसे शरीरका व श्रुति दिखाती वा जनाती है यह जो अर्थ सूत्रके भाषानुवाद में लिखा गया है व संस्कृत सूत्रवाक्यमें अव्यक्तशब्द से और श्रुति यह शब्द नहीं है यह शब्द अधिक मिलायेगये हैं इनके अधिक लिखने का हेतु यह है कि विना इन शब्दोंके ग्रहण किये सूत्रवाक्यका अर्थ नहीं हो सक्ता संस्कृतमें भी वाक्यार्थ इन शब्दों सहितही कहाजाता है सूत्रमें ये शब्द नहीं लिखे गये परन्तु आशय से शेष समझे जातेहैं शेष शब्दों की वक्यार्थ पूर्णहोनेके लिये आवश्यकता होने से इन शब्दों सहित सूत्रका अर्थ वर्णन कियागया है । पूर्वही ईक्षापूर्वक सृष्टिहोनेसे चेतन ब्रह्मही कारण है अशब्द अर्थात् वेदशब्दसे सिद्ध नहीं ऐसा जड प्रधान कारण नहीं है यह कहा है । अब यहां प्रधान के शब्दसे अर्थात् श्रुतिसे सिद्ध होने के संशय पूर्वक उत्तर वर्णन करने में यह कहा है आनुमानिक भी (प्रधानभी) एकों के शाखा में कारण कहा गया है जो यह कहाजावे वा शंका होवे इत्यादि इसका व्याख्यान यह है कि जो प्रधानकारण-

वादी यह कहै कि एकोंके शाखा में प्रधान का भी कारण होना वेद में कहागया है यथा कठऋषिविशेष की कही हुई यजुर्वेदीय शाखाके अंतर्गत कठोपनिषद में यह श्रुति है **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः** अर्थ—(इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियोंसे (अर्थाःपराः) अर्थ अर्थात् गंध रस रूप स्पर्श शब्द पर हैं अर्थात् श्रेष्ठ वा उत्कृष्ट हैं (च) और (अर्थेभ्यः) अर्थोंसे (मनःपरं) मन पर है (च) और (मनसः) मनसे (बुद्धिःपरा) बुद्धि पर है (बुद्धेः) बुद्धि से (महान् आत्मा परः) महान् आत्मा पर है (महतः) महत् से (अव्यक्तं परं) अव्यक्त पर है (अव्यक्ताद) अव्यक्तसे (पुरुषःपरः) पुरुष परमात्मा पर है (पुरुषात्) पुरुषसे (परं किञ्चित् न) पर कुछभी नहीं है किन्तु (सा) वह (काष्ठा) स्थिति का अवधि तथा (सा) वह(परा गतिः) पर गति है अर्थात् पहुँचनेकी अवधि वा मर्यादा है उससे अधिक किसीकी गति नहीं है इस वाक्य में महतसे अर्थात् महत्तत्त्वसे पर अव्यक्त व अव्यक्त से पर पुरुष को कहा है व पुरुषसे पर होने का निषेध किया है सांख्यदर्शनमें कपिलजी ने भी पचीस गणों की गणना में महत्तत्व से पर अव्यक्त प्रधान को कहकर पुरुषको वर्णन किया है पुरुष से अधिक अन्य के होने का निषेध किया है समानक्रम वा प्रक्रिया होनेसे सांख्यदर्शन में वर्णित कपिलदेव के मतानुसार यहां अव्यक्त शब्द प्रधानवाचक ग्राह्य होनेसे प्रधान का जगत्का कारण होना सिद्ध होता है तौ इसका उत्तर यह है, नहीं, अव्यक्त शब्दसे रूपकभाव से शरीरका ग्रहण होने से जैसा कि, श्रुति वर्णन करती है अर्थात् अव्यक्त शब्द से प्रधान को नहीं कहा है रूपक कल्पना करके अव्यक्त नाम से शरीरको वर्णन किया है क्योंकि इसके पूर्व में ऐसा वर्णन किया है **आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धिं तु सारथिं विद्धिमनः प्रग्रहमेव च। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् इत्यादि** अर्थ—(आत्मानम्) आत्मा को (रथिनं विद्धि) रथका स्वामी जान (च) और (शरीरं रथम् एव) शरीर ही को रथ जान (तु) और (बुद्धिं सारथिं) बुद्धिको अर्थात् निश्चयात्मक अंतःकरणकी वृत्तिको सारथी अर्थात् रथका चलानेवाला वा शरीररथ के इन्द्रिय घोडों का हाकनेवाला (विद्धि) जान (च) और (मनः) मनको संकल्प विकल्प करनेवाले अंतःकरणको (प्रग्रहम्) लगाम जान (इन्द्रियाणि) इन्द्रियोंको (हयान्) घोडे (आहुः) कहते हैं अर्थात् विद्वान् लोग कहते हैं (च) और (तेषु) उन इन्द्रियोंके निमित्त अर्थात् इन्द्रियरूप घोडों के चलनेके लिये (विषयान्) विषयोंको (गोचरान्) मार्ग जान इत्यादि कहकर प्राप्यस्थान को ऐसा वर्णन किया है **सोऽध्वनः पारमाप्नो**

ति तद्विष्णोः परमं पदम् अर्थ–(सः) वह अर्थात् जिसकी बुद्धि सारथी है मनरूप लगामको ग्रहण किये हैं अर्थात् मनको अपने वश किये हैं वह पुरुष (अध्वनः) मार्ग के अर्थात् जन्ममरणरूप संसारमार्ग के (पारं) पार (तत्) उस अर्थात् उस इन्द्रियोंसे अगम्य (विष्णोः) व्यापक ब्रह्मके (परमं) सबसे उत्तम (पदं) स्थान को (आप्नोति) प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपको प्राप्त होता है ऐसा वर्णन करने से संसारमार्ग के पार होने व विष्णुपदको प्राप्त होने की इच्छा करनेवाले उपासक आत्मा का रथी होना व उसके शरीरआदि को रथ व रथाङ्ग होने के रूपक से वर्णन करके और यह कहकर कि जिसके यह रथ आदि वश में रहते हैं वही इस संसार मार्गसे पार जाकर विष्णुपद को अर्थात् सर्वव्यापक ब्रह्मको प्राप्त होता है इस रथआदि रूप से वर्णन किये गये शरीरआदि को कहकर जो जिनसे वशी कार्यता में प्रधान हैं उनकी यथाक्रम प्रधानता सूचित करने में यह वर्णन किया है कि इन्द्रियों से पर अर्थ है अर्थों से पर मन है इत्यादि क्योंकि घोडे रूप से रूपित इन्द्रियों से मार्गभाव से रूपित विषय पर हैं अर्थात् विषयों के न होनेमें इन्द्रियोंका कुछ सामर्थ्य व कर्तृत्व नहीं हो सक्ता यथा रूपके अभाव में चक्षु इन्द्रियका विषयग्रहण में प्रवृत्त न होना इत्यादि इससे इन्द्रिय विषय के वश वा अधीन हैं जो अधीन वा वश है उससे जिस के वह वश वा अधीन है उसको प्रधान मानकर इस श्रुतिमें पर कहने का आशय होने से इन्द्रियोंसे विषय पर हैं और मन विषय में आसक्त न होने में विषय होने पर भी कुछ नहीं कर सक्ते इससे मन के श्रेष्ठ होनेसे अर्थोंसे मन पर है और निश्चयात्मिका वृत्ति को बुद्धि कहते हैं विना निश्चय हुये पदार्थ में मनकी यथेष्ट प्रवृत्ति नहीं होती इससे मन से सारथीरूप बुद्धि पर है रथीरूप स्वामी व कर्ता होने के प्राधान्य से बुद्धि से आत्मा पर है आत्मा की इच्छा के सब अधीन होने से आत्मा को महान् अर्थात् श्रेष्ठ कहा है उस आत्मा से भी रथ-रूप शरीर को, इस हेतु से कि जीवात्मा के सब पुरुषार्थ साधन की प्रवृत्तियां शरीर के अधीन हैं जीवत्व अवस्था में विना शरीर कुछ नहीं करसक्ता, पर कहा है शरीर को, यहाँ अव्यक्त कहा है अव्यक्त से (शरीरसे) भी पर सर्वान्तरात्मा सबके अन्तर्यामी ब्रह्म को वर्णन किया है क्योंकि, वह सर्वश्रेष्ठ है और उसके अधीन सब हैं इसीसे उससे पर किसी को नहीं कहा वही परम प्राप्य होने से यह वर्णन किया है कि, वही काष्ठा (उपायकी मर्य्यादा) व परागति अर्थात् परमप्राप्य वा पहुँचने की अवधि है ऐसेही अंतर्यामिब्राह्मण में यह वर्णित है **य आत्मनि तिष्ठन् इत्यादि** अर्थ–जो आत्मा में रहता हुआ इत्यादि अर्थात् जो परमात्मा आत्मा में अर्थात् शरीर में व जीवात्मा में स्थित हुआ सबको साक्षात् करता हुआ सब को नियम से रखता है वा नियम से प्रवृत्त करता है यह कह-कर **नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा** इत्यादि अर्थ–अन्य कोई द्रष्टा देखनेवाला साक्षी व

नियन्ता नहीं है इत्यादि वर्णन करनेसे अन्य नियंता (नियमकर्ता) होनेका निषेध किया है इससे पर पुरुष ब्रह्मही सब से श्रेष्ठ व प्राप्तहोने के योग्य है इससे उसको परागति होना कहा है इस प्रकारसे आत्माको रथी जान इत्यादि वर्णनसे रथी कहनेआदि से रूपकसे कल्पित वा स्थापित इन्द्रिय आदिकों के नाम इन्द्रियोंसे पर अर्थ है इत्यादि इस वाक्य में अपने उंसी:नामही से वर्णित होनेसे पहिचाने वा समझेजाते हैं केवळ रथरूपित शरीरका नाम नहीं वर्णन किया यही शेष (बाकी) रहनेसे अव्यक्त शब्द से शरीरको कहा है यह निश्चय कियाजाता है इससे कपिळ तंत्र में प्रसिद्ध प्रधानका प्रसंगही यहां इस श्रुति वाक्यमें नहीं है और उनके तंत्रमें अर्थात् सांख्यदर्शन में जैसी प्रक्रिया है वैसी प्रक्रिया भी इसमें ज्ञात नहीं होती क्योंकि यहां इन्द्रियों से अर्थ व अर्थों से मनको पर वर्णन किया है उक्त तंत्र वा दर्शन में शब्द आदि इन्द्रियों के कारण व मनशब्द आदि अर्थों का कारण वर्णित न होने से व कारणही का कार्यसे पर होना कहेजाने से इन्द्रियों से अर्थ व अर्थोंसे मन का परत्व नहीं कहागया इससे दोनों की प्रक्रिया समान न होनेसे संगत नहीं है तथा कपिळ मत वा तंत्रअनुसार बुद्धि से महान् आत्मा पर है यह कहना भी असंगत है क्योंकि बुद्धि शब्द से महातत्वही समझा जाता है वा मानाजाता है अर्थात् बुद्धिही को महत्तत्व कहते हैं इससे महत्तत्व से महत्तत्वका पर होना व असंभव व कहना अयुक्त है और महत् शब्दका आत्मा शब्द के साथ विशेषण युक्त नहीं होसका इससे पूर्वही जो रूपकसे रूपित है उनही का यहां ग्रहण है वा ग्रहण करनाचाहिये और यही अन्यश्रुति दर्शित करती है यथा **एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनीति** अर्थ-(एषः) यह परम प्राप्य मर्य्यादा व नियम करता कहा गया (सर्वेषु भूतेषु) सब प्राणियों में (गूढः आत्मा) गुप्त व्याप्त आत्मा अर्थात् परमात्मा (न प्रकाशते) प्रकाशित नहीं होता अर्थात् पूर्व कहे अनुसार जो विज्ञानरहित है मन जिसका वश में नहीं है व अशुचि है उसको प्रकाशित नहीं होता अर्थात् उससे जाना नहीं जाता (तु) किन्तु (अग्र्यया सूक्ष्मया बुद्ध्या) कुशके अग्रभाग अर्थात् नोकसमान प्रवेशकरनेवाली सूक्ष्म बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्मदर्शीजनोंसे (दृश्यते) देखा वा जाना जाता है अब सूक्ष्म बुद्धिसे कैसे देखने वा जानने योग्य है यह वर्णन करनेमें यह कहा है **यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः** इत्यादि अर्थ- (प्राज्ञः) उत्तमबुद्धि-

---

१इस श्रुति में वाचं के स्थानमें वाक् व मनसि के स्थान में मनसी ऐसा कहा है सो वैदिक प्रयोग होनेसे सुपांसुलुक्० सप्तम्याश्छान्दसोदीर्घः इन सूत्रोंसे ये शब्द सिद्ध होतेहैं और तत् शब्दमें लिंगका व्यत्यय वैदिक प्रयोगसे है ॥

मान् पुरुष (मनसि) मनमें (वाक् अर्थात् वाचं) वाक्को अर्थात् वाणी आदि इन्द्रियोंको (यच्छेत्) ठहरावे (तत्) उसको अर्थात् मनको (ज्ञानआत्मनि) ज्ञानस्वरूप आत्मा में अर्थात् बुद्धिमें (यच्छेत्) स्थिरकरै अर्थात् शांतकरै (शानं) बुद्धिको (महति आत्मनि) महाआत्मामें अर्थात् श्रेष्ठकर्ता आत्मा में (यच्छेत्) शांत करै (तत्) उस कर्ताआत्माको (शान्त आत्मनि) शांत आत्मामें अर्थात् सबके अंतर्यामी परब्रह्ममें (यच्छेत्) स्थिरकरै अर्थात् नियतकरै अर्थात् उपासकअपने आत्माको अर्थात् अपनेको परब्रह्मस्वरूपमें योजित करै ऐसे उक्त रथी आत्मासे वैष्णव पद (ब्रह्मपद)प्राप्तहोने योग्य है यह आशय है अब इस शंका की निवृत्ति के लिये कि, शरीर स्थूल दृश्य व्यक्तको अव्यक्त क्यों कहाहै आगे सूत्र में यह वर्णन कियाहै ॥ १ ॥

सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

अनु०—सूक्ष्मही उसके योग्य होनेसे ॥ २ ॥

भाष्य—कारणरूप भूत सूक्ष्म शरीर जिससे यह कार्यरूप स्थूल शरीर होता है कारणही कार्यरूप होनेसे कारण कार्यका अभेदभाव ग्रहणकरके उपचारसे यहां अव्यक्तनामसे कहागयाहै क्यों सूक्ष्मशरीर अव्यक्त नामसे कहागयाहै उसके योग्य होनेसे अर्थात् अव्यक्त कहनेके योग्य होनेसे अथवा उसके अर्थात् सूक्ष्म अव्याकृत अचिद् (जड वस्तु) कारणही विकारप्राप्तहुयेके रथके समान पुरुषार्थ साधन में प्रवृत्तिके योग्य होनेसे आशय यह है कि शरीरआदि की सृष्टिसे पहिले शरीरका बीजात्मक अव्याकृत अर्थात् नामरूपसे रहित इन्द्रियोंसे अलक्ष्य भूतसूक्ष्मरूप सूक्ष्मशरीर था वही विकारको प्राप्त कार्य शरीर अर्थात् स्थूलशरीर होता है जिसमें आत्मा पुरुषार्थ साधनमें प्रवृत्त होताहै जैसे रथी को प्राप्यस्थानकी प्राप्ति व गम्य मार्गमें लेजानेके लिये साधन रथ होता है ऐसेही आत्माको पुरुषार्थसाधनमें प्रवृत्ति होनेके लिये शरीरको मानकर शरीरको रथ आत्माको रथीरूपसे वर्णन किया है लोकान्तरमें गमनके लिये रथके समान सूक्ष्मशरीरही है जिससे आत्मा लोकान्तरको जाता है परन्तु पुरुषार्थसाधन (कर्म, योग उपासना साधन) कार्यही शरीरमें होता है इससे विकारको प्राप्तहुआ वा कार्यरूप हुआ ऐसा भूतसूक्ष्मका विशेषण कहा है अब यह शङ्का होती है कि, यदि भूतसूक्ष्म अव्याकृत अंगीकार कियाजाता है तो कापिल तंत्रमें सिद्ध प्रधानहीका कारण मानना सिद्धहोगा क्योंकि उसमें (उक्त तंत्रमें) भी सबभूत जगत्कार्यका कारण ही अव्यक्त वा प्रधान नामसे कहागया है इसके समाधान के लिये यह कहाहै॥२॥

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

अनु०—उसके अधीन होनेसे अर्थवत् (प्रयोजनवान् वा प्रयोजनसहित) है ॥ ३ ॥

भाष्य—उससे अर्थात् परमकारण परमपुरुष ब्रह्मके अधीन होनेसे अर्थवत् (प्रयोजनसहित) है अर्थात् अव्यक्त प्रयोजन सहित है आशय इसका यह है कि यह शङ्का करना कि, नामरूपरहित बीजात्मक भूतसूक्ष्म अव्यक्त सूक्ष्मशब्द्य अंगीकारकरना प्रधानहीका कारणमानना सिद्ध होगा युक्त नहीं है क्योंकि कपि- लाचार्य प्रकृति वा प्रधानको स्वतंत्र जगतका कारण मानतेहैं हम ऐसा नहीं मानते हम उसके अर्थात् परमकारण ब्रह्मके अधीन होनेसे अव्यक्तका अर्थवत् होना मानते हैं। अर्थवत् अर्थात् प्रयोजनसहित है इस कहनेका अभिप्राय यह है कि, जो यह कहाजावे वा ऐसी शङ्का होवे कि, जो परमेश्वर के अधीन है प्रधान अव्यक्तका स्वयं कर्ता होनेका कुछ सामर्थ्य नहीं है परमेश्वर ब्रह्मही परमकारण है तो अव्यक्तमानना वा कल्पनाकरनाही व्यर्थ है इसके उत्तर वा समाधानके लिये प्रयोजनवत् वा प्रयोजनसहित है यह कहाहै अर्थात् हमारा अव्यक्त मानना यद्यपि प्रधानकारणवादियोंके समान नहींहै तथापि परमे- श्वरके अधीन अव्यक्तके कार्यहोना मानने में अव्यक्त का मानना वा होना निर- र्थक नहीं है प्रयोजन सहित है क्योंकि बिना उपादानकारण प्रकृति वा प्रधान के ईश्वरकाभी करना सिद्ध नहीं होता यथा बिना मृत्तिका के कुलाल घटआदिकी रचना नहीं करसका इससे अव्यक्त जो जगत्का कारणरूप सृष्टिसे पहिले सूक्ष्म अवस्थामें रहताहै उसका मानना आवश्यक है परंतु परमेश्वरके अधीन होनेसे प्रधान जडका स्वयं जगत्का कर्ता होना सिद्ध नहीं होता ॥ ३ ॥

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

अनु०—ज्ञेय (जानने योग्य) होनेका वचन न होनेसे भी॥४॥

भाष्य—सांख्यदर्शन में प्रधानका ज्ञेय होना वर्णन किया गया है अर्थात् यह वर्णित है कि, सत्वआदिगुणरूप प्रधानके ज्ञानसे उससे विलक्षण होनेसे पुरुषके भेद का ज्ञान होता है बिना गुणों के ज्ञानहुये पुरुषका ज्ञान नहीं होसक्ता कहीं विशेषविभूति प्राप्त होनेके लिये प्रधान को ज्ञेय वर्णन कियाहै यहाँ श्रुतिमें अव्यक्तको जिसका अर्थ प्रधान ग्रहण किया जाता है ज्ञेय नहीं कहा अव्यक्त पदमात्र कथित है इस भेदसे भी अव्यक्त शब्दसे यहां (श्रुतिमें) उक्तदर्शन में कहे हुए प्रधानका ग्रहण नहीं है यह निश्चित वा सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

अनु०—कहतीहै अर्थात् श्रुति कहती है जो यह कहा जावे नहीं निश्चय से प्राज्ञ (परमपुरुषब्रह्म) कहागया है प्रकरणसे अर्थात् उसका प्रकरण होनेसे ॥ ५ ॥

भाष्य—यदि यह कहाजाय कि अव्यक्तका ज्ञेय होना श्रुति कहतीहै यथा **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगंधवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते** अर्थ—(यत्) जो ब्रह्म (अशब्दम्) शब्दरहित (अस्पर्शम्) स्पर्शरहित (अरूपम्) रूपरहित (तथा अरसं) तैसेही अर्थात् शब्दआदिरहित होनेके समान रसगुणरहित है (अगंधवत्) गंधवान नहीं है गंधरहित है अर्थात् शब्दआदि गुणोंसे रहित होनेसे शब्द आदि गुणवान् आकाशआदि भूतोंसे विलक्षण व शब्दआदि गुणोंसे जानने योग्य नहीं है (च) और (अव्ययं) अविनाशी (नित्यं) नित्य (अनादि) आदिरहित अर्थात् कारणरहित (अनन्तं) अन्तरहित (महतः परं) महत् से पर अर्थात् सूक्ष्म व श्रेष्ठ (ध्रुवं) अचल है (तं निचाय्य) अर्थात् (तत् निचाय्य) उसको जानकर मनुष्य (मृत्युमुखात्) मृत्युके मुखसे अर्थात् जन्म मरणप्रवाहरूप दुःखसे (प्रमुच्यते) छूट जाताहै जैसे अव्यक्तको महत्तत्त्व से पर होना सांख्य दर्शन में कहाहै ऐसेही इस श्रुतिमें जो महत्तत्वसे पर है उनके जाननेसे मृत्युके मुखसे छूटना कहागया है इसने प्रधानहीको कहा है यह सिद्ध होता है तौ इसका उत्तर यह है, नहीं, प्राज्ञ अर्थात् परमात्मा श्रुतिमें कहागया है अव्यक्त को श्रुति नहीं कहती, किस हेतुसे परमात्माका कहाजाना सिद्ध होता है, प्रकरण से उसका अर्थात् परमात्मा ब्रह्मका प्रकरण होनेसे, उसका शब्द सूत्रमें शेष है आशयसे ग्रहणकियाजाताहै परमपुरुष ब्रह्मका प्रकरण होनेसे ब्रह्मही ज्ञेय होना प्रतिपादन कियागया है प्रधानका ज्ञेय होना नहीं कहागया मृत्युसे छूटनेसे अभिप्राय मोक्ष होनेसे है जड प्रधानके ज्ञानसे मोक्ष होना संभव नहींहै केवल चेतन आत्मा व ब्रह्मके ज्ञानसे सम्पूर्ण वेदान्तमें मोक्ष होना कहा है इससे भी यह सिद्ध होता है कि. अव्यक्त प्रधानको ज्ञेय नहीं कहा पूर्वसे ब्रह्मके ज्ञेय होने व प्राप्य होनेमें आत्मा रथी शरीर रथ होनेआदिका रूपक वर्णन करके परमात्माही को सूक्ष्मदर्शियों से सूक्ष्म बुद्धि व विचारसे देखाजाना वा ज्ञातहोना वर्णन किया है उसी सम्बंध व प्रकरण में यह उक्त श्रुति है इससे महत्से पर जो इस श्रुतिमें कहा है यहाँ महत्शब्दसे महत्तत्त्वको न ग्रहण करना चाहिये जैसा बुद्धिसे आत्मा महान् पर है पूर्व श्रुति में जीवात्मा को महान् कहा है उसी जीवात्मा के लिये यह भी महत् शब्द कथित समझना चाहिये अर्थात् जीवात्मा से पर होना ब्रह्मके लिये कहा है यह निश्चय करना चाहिये ॥ ५ ॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

अनु०—और ऐसेही तीनहीका उपन्यास (वचनारंभ) और प्रश्न है ॥ ६ ॥

भाष्य–और ऐसेही पूर्वोक्त के समान तीनही का उपन्यास व प्रश्न अव्यक्त के ज्ञेय व वाच्य न होने का प्रमाण विदित होता है इसका व्याख्यान यह है कि, कठवल्ली उपनिषद्में जिसमें आत्मा रथी होना आदि व अशब्दमें स्पर्श आदि यह श्रुति वर्णित है उसमें तीनहीका अर्थात् तीनही वरोंका उपन्यास (स्थापन वा वचनारंभ) है अर्थात् मृत्युने नचिकेतासे तीन वरोंके (वरदानों) मांगनेके लिये प्रथमही मिलने वा वार्ता होनेके समयमें आज्ञा दियाहै इससे तीन वरोंके लिये मृत्युका वचनारंभ वा वर देनेकी प्रतिज्ञाका स्थापन है उसके अनन्तर नचिकेताने जो तीन वर मांगा है और उस वार्ताके सम्बंधमें जो नचिकेताने प्रश्न किया है उन तीन वर व प्रश्न में अव्यक्तका प्रसंग नहीं है इससे अव्यक्त का वाच्यहोना सिद्ध नहीं होता उक्त उपनिषद् में ऐसा वर्णित है कि, नचिकेता पिताके वचन के अनुसार मृत्युके स्थानको गये मृत्युआचार्य कहीं प्रदेशान्तर को गयेथे नचिकेता तीन रातदिन जबतक मृत्यु वा यमाचार्य न आये तबतक कुछ भोजन न किया जब मृत्यु आये अपने भार्याआदिसे यह वृत्तांत अर्थात् नचिकेताके और तीन रात्रितक विना भोजन रहनेका सुनकर मृत्यु नचिकेता अतिथिसे कहा कि, हे अतिथि! तुम तीन रात्रि विना भोजनकिये मेरे घरमें रहे इसलिये एक एकरात्रिके एक एक वरदेने की इच्छा करके मैं तीन वरोंके देनेकी प्रतिज्ञा करताहूँ तुम जिन इष्टवस्तुओंको चाहतेहो उनको मांगो यह सुनकर नचिकेताने प्रथम तीनवरोंमें से एक यह मांगा कि, मेरे पिता को जो मेरेऊपर क्रोध हुआहै वह जातारहै पिता मेरे साथ प्रसन्नहों प्रेमसे वर्तें इस वरको पाकर दूसरा वर यह मांगा कि,हे मृत्युआचार्य! आप अग्निहोत्र आदि यज्ञोंको जानतेहो सो आप अग्निको अर्थात् अग्निसम्बंधी यज्ञकर्मरूप अग्निविद्याको मुझसे वर्णन कीजिये जिसके जानने व यज्ञ करनेसे यज्ञ करनेवाले स्वर्गलोक को प्राप्त हो अमृतत्वको प्राप्त होतेहैं अर्थात् जन्ममरणरहित हो दीर्घकालतक सुखभोग करतेहैं बहुत कालतक जन्ममरणरहित होनेसे अमृत होना (मृत्युरहित होना) उपचारसे वर्णन कियाहै इस वर मांगनेपर मृत्युने अग्निविद्याका व्याख्यानकरके जब यह कहा कि, तीसरे वरको मांगो तब नचिकेताने तीसरे वरमें आत्मज्ञान प्राप्त होनेके लिये प्रश्नयुक्त आत्मज्ञान उपदेश करनेकेलिये यह प्रार्थना वा याच्ञा किया है कि, मनुष्यके मरनेपर चेतन जीवात्मा वा परमात्मा जो इस शरीरमें रहताहै वह नित्यहै बना रहताहै कोई मानतेहैं और कोई अनेक लोग ऐसा मानतेहैं कि,नहीं है सो हे मृत्युआचार्य! आपसे उपदेश पाया हुआ अर्थात् पाकर मैं इस आत्मविद्याको वा इसके निश्चयको जान तीन वरों में से मेरा अभीष्ट तीसरा वर यह है इस तीसरे वरमें जो मृत्युने उपदेश किया है उसमें नचिकेताने परमात्माके विषयमें प्रश्न किया है उसके उत्तरमें मृत्युने प्राप्य परमात्माका व उसके प्राप्त होनेके विषयमें विशेष उपदेश कियाहै इन उक्त तीन वरोंके उपन्यास व उसके अनुसार मांगेहुये तीन वरों व उपदेशमें

सम्बंध से जो आत्मा व परमात्माविषयक प्रश्न है उसमें व मांगेहुये वर व प्रश्नअनुसार वरदेने व उत्तरमें अव्यक्तशब्दवाच्य प्रधानका कुछ सम्बंध वा प्रसंग नहीं है इससे अव्यक्तका ज्ञेय वा वाच्य होना सिद्ध नहीं होता ऐसा सूत्रका आशय विदित होता है प्रश्नशब्दके उत्तर जो चकार है उसका अर्थ और अथवा भी होनेसे तीनका सम्बंध प्रश्नके साथ भी लगाना युक्त नहीं ज्ञात होता तीनका उपन्यास और जो प्रश्नप्रसंगसे उपदेशवार्तामें कियागया है उसमें कुछ अव्यक्तका प्रयोजन व सम्बंध न होनेसे अव्यक्तका वाच्य वा ज्ञेय होना सिद्ध नहीं है ऐसा अर्थ ग्राह्य है क्योंकि, जब मृत्युके आज्ञा देनेपर तीन वरोंको मांगा वह प्रश्न नहीं समझेजासक्ते और तीनमेंसे एक पिताकी प्रसन्नता होनेके वरमें प्रश्नका कुछ सम्बंध नहीं है दूसरेमें यज्ञोंके वर्णन करनेकी याञ्चा में वाक्य में उक्त शब्दोंसे प्रश्नका होना स्पष्ट विदित नहीं होता तीसरेमें वाक्यके शब्दोंसे प्रश्नका होनाभी स्वीकार कियाजाता है तीनहीं के ज्ञेय होनेका उपन्यास और प्रश्न तीनहीका है वा ज्ञातहोता है ऐसा अर्थ ग्रहण करके कोई अग्नि व जीवात्मा व परमात्मा इन तीनके विषयमें उपन्यास व प्रश्नके होनेसे अव्यक्तके ज्ञेयत्वका प्रतिषेध करते हैं और कोई उपाय उपेय (उपायके योग्य वा प्राप्य) और उपेता (उपायकरनेवाला) इन तीनका उपन्यास व प्रश्न होना व उपेय व ज्ञेय परमात्मा व उपेता जीवात्माका उपदिष्ट होना अव्यक्तके ज्ञेय न होनेका हेतु वर्णन करतेहैं अग्नि जीवात्मा व परमात्मा इन तीनका उपन्यास व प्रश्न होनेका व्याख्यान इसप्रकारसे शंकराचार्य-जीने किया है कि, नचिकेताने द्वितीय वर मांगनेमें मृत्युसे यह कहाहै **स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो ब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यं** अर्थ-(मृत्यो) हे मृत्युआचार्य ! (स त्वम्) सो आप (स्वर्ग्यम्) स्वर्गप्राप्तिके साधन (अग्निम्) अग्निको अर्थात् अग्नि जिसमें प्रधान है ऐसे अग्निहोत्रआदि वैदिक कर्मको (अध्येषि) जानतेहो (तम्) उस अग्निको अर्थात् यज्ञके विधानको (मह्यं श्रद्दधानाय) मुझ श्रद्धारखनेवालेके लिये (प्रब्रूहि) कहिये यह अग्निविषयका प्रश्न है अग्निविद्याका उपदेश मृत्युसे प्राप्तहोनेपर तीसरे वरमें यह कहा है **येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः** अर्थ-हे मृत्यो ! (प्रेते मनुष्ये) मनुष्यके मरजानेपर (अयं) यह अर्थात् शरीरस्थ यह जीवात्मा (अस्ति) है अर्थात् नित्य होनेसे शरीरके वियोग होनेपर भी रहताहै (इति एके) एके ऐसा मानते हैं (न अस्ति) नहीं है अर्थात् आत्मा नहीं है वा नहीं रहता (इति च एके) ऐसाभी एके अर्थात् बहुतसे लोग मानतेहैं ऐसी (या इयं) जो यह (विचिकित्सा) विचिकित्सा है अर्थात् संशय है सो (त्वया) आपसे (अनुशिष्टः) उपदेश पायाहुवा (अहं) मैं (एतत्) इस आत्माके निश्चित तत्त्वको (विद्याम्) मैं जानू (वराणाम्) वरोंमें से (एषः तृतीयः वरः) यह मेरा तीसरा वर है यह वर मांगना जीवविषयक

प्रश्न है इस परआत्मा सम्बंधी उपदेश करनेपर नचिकेताने फिर मृत्युसे यह कहा है **अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतादन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद** अर्थ--हे मृत्यो ! आप (यत्) जिसको (धर्मात्) धर्मसे अर्थात् वैदिक धर्म व कर्म व उसके फलसे (अन्यत्र) पृथक् (अधर्मात्) अकर्तव्य कर्मों से (अन्यत्र) पृथक् (अस्मात्) इस (कृत) कार्य (अकृत) कारणरूप वर्तमान जगत्से (अन्यत्र) पृथक् वा विलक्षण (च) और (भूतात्) भूतसे (च) और (भव्यात्) भविष्यत् कालसे (अन्यत्र) पृथक् अर्थात् तीनों कालसे अथवा तीनों कालमें विद्यमान जगत् से विलक्षण (पश्यसि) देखते वा जानते हो (तत्) उसको अर्थात् उस इन्द्रियोंके विषयसे भिन्न वस्तु परमात्माको (वद) कहिये यह परमात्माविषयक प्रश्न है इन तीनों का उत्तर मृत्युने वर्णन कियाहै इससे अग्नि जीवात्मा व परमात्मा इन्हीं तीनका ज्ञेय होनेमें प्रश्न व उत्तर होनेसे अव्यक्तका ज्ञेय वा वाच्य होना सिद्ध नहीं होता जीवात्मा के जिज्ञासा में तीन वर पूरे होजानेपर जीवात्मा व परमात्मा में भेद न मानकर परमात्माके विषयमें प्रश्न व जिज्ञासा करना तीसरे वरसे अधिक वा पृथक् नहीं मानते औपाधिकभेद से जीवको पृथक् मानकर जीव व परमात्माके विषयमें पृथक् २ प्रश्नका होना युक्त माना है परन्तु वस्तुतः अच्छेप्रकार से विचारनेसे यह तीन प्रश्न व उत्तर नहीं होसक्के जो याच्ञा व वर मांगनाही प्रश्नशब्दका अर्थ मानलिया जाय तो प्रथम वरसहित चार होंगे नहीं तो जीव व परमात्मा के अभेद माननें में जीवात्मा व परमात्मा के दो प्रश्न न माननेसे दोही प्रश्न होंगे तीसरा नहीं होसक्ता जैसा चौथे वर न होनेके लिये अभेद मानना युक्त है ऐसेही तीसरे प्रश्न न होने किन्तु दोही होना मानने के लिये भी युक्त है श्रीरामानुजाचार्य ने उपाय उपेय उपेता इन तीनही का उपन्यास व प्रश्न है इससे अव्यक्त का ग्रहण नहीं होसक्ता है ऐसा सूत्र का अर्थ वर्णन कियाहै और इसका व्याख्यान इसप्रकारसे किया है कि, जब मृत्यु वा यमने द्वितीय वर देनेमें अग्निविद्या वा वैदिक यज्ञकर्मको वर्णन करके यज्ञकर्मके फलकी प्रशंसामें नचिकेतासे यह वर्णनकिया **त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू** अर्थ--(त्रिणाचिकेतः) तीनवार नाचिकेत अग्निको जो संचितकरे उसको त्रिणाचिकेत कहतेहैं त्रिणाचिकेत (त्रिकर्मकृत्) यज्ञ अध्ययन दान इन तीन कर्मों को जो करता है अथवा पाकयज्ञ हविर्यज्ञ व सोमयज्ञ इन तीन यज्ञोंको करताहै वह (त्रिभिः) तीनसे अर्थात् तीन अग्नियोंके हेतुसे (संधिम् एत्य) सम्बंधको प्राप्त होकर अर्थात् यज्ञआदि धर्माचरणसे

---

१ नचिकेताके लिये जिसका विधान कहागया है उस विधानयुक्त अग्नि नचिकेताके नामसे प्रसिद्ध को नाचिकेत कहते हैं उसको तीन वार जो संचितकरै वह पुरुष त्रिणाचिकेत इस नामसे वाच्य होताहै ।

शुद्धान्तःकरण हो परमात्माके उपासनके साथ सम्बंधको प्राप्त होकर (जन्ममृत्यू) जन्म व मृत्युको (तरति) तरजाता है अर्थात् जन्म व मृत्यु व उनमें होतेहुये वा होनेवाले दुःखसे छूटजाता है ऐसा अग्निविद्याका फल मृत्युसे सुनकर नचिकेताने मृत्युसे तीसरे वरके माँगनेमें शरीररहित होने मोक्ष होनेमें आत्माका क्या स्वरूप होता है इसप्रकारसे मोक्षस्वरूपका प्रश्नकरनेके द्वारा उपाय उपेता व उपायरूप अनुष्ठानकियेगये कर्मोंसे अनुगृहीत उपासनस्वरूपोंके ज्ञानहोनेके आशयसे गर्भित ऐसा प्रश्न कियाहै जैसा पूर्वही कहागयाहै कि, मरनेपर वा अन्तशरीरके रहितहोने व मोक्षहोनेपर आत्मा नित्य है वा रहताहै कोई ऐसा मानतेहैं कोई यह मानतेहैं कि, शरीरत्यागके पश्चात् आत्मा कुछ नहीं है(कुछ नहीं रहा तो) इस संशय निवृत्त होनेकेलिये निश्चित सिद्धांतका मेरेलिये उपदेश कीजिये ऐसा मोक्षविषयक प्रश्न करनेपर नचिकेता ऐसे उपदेशके योग्य है वा नहीं इसकी परीक्षाकरके अर्थात् इस आत्मज्ञान व मोक्षके उपदेशके बदले अनेकप्रकारके सुख व ऐश्वर्य मांगनेकेलिये कहा परन्तु जब नचिकेताने किसीकी इच्छा न किया तब योग्य जानकर यह उपदेशकिया **तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवम्मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति** अर्थ-(धीरः) ध्यान करनेवाला एकाग्रचित्त विद्वान् (अध्यात्मयोगाधिगमेन) विषयों से इन्द्रियोंको रोककर चित्तको स्थिरकरना अध्यात्मयोग है ऐसे योगकी प्राप्तिसे (तम्) उस पूर्वोक्त (दुर्दर्शम्) दुःखसे जाननेयोग (गूढम्) गुप्त अर्थात् इन्द्रियोंसे जाननेयोग्य न होनेसे गुप्त (अनुप्रविष्टम्) शरीरमें जीवात्मा के प्रविष्टहोनेके समान शरीर जीवात्मा व अंतःकरणमें प्रविष्ट (गुहाहितं) गुहामें अर्थात् बुद्धिमें स्थित (गह्वरेष्ठम्) दुर्गमस्थान जहाँ बुद्धिका पहुँचना कठिन है उसमें अर्थात् जीवात्माके अंतरदेशमें अर्थात् भीतर स्थित (पुराणम्) सनातन (देवं) ज्ञानरूपप्रकाशयुक्त आत्माको (मत्वा) जानकर (हर्षशोकौ) हर्ष व शोकको अर्थात् इष्ट व इनिष्टकी प्राप्तिसे हुये दुःख सुखको (जहाति) त्यागता है अर्थात् चित्तवृत्तियोंको विषयोंमें से खींच व रोककर एकाग्र व स्थिर रखनेसे सांसारिक दुःख व सुखसे रहित होता वा पृथक् रहता है इस सामान्यसे उपदेश कियेगये मैं नचिकेताने उस देव दुःखसे जाननेयोग्य आदि विशेषणोंसे प्राप्य उपास्य उपदिष्ट (उपदेश कियेगये) के स्वरूप अध्यात्म योग की प्राप्तिसे जानकर कहनेसे ज्ञेय होने योग्य होनेसे उपदिष्टके स्वरूप और धीर अर्थात् विद्वान् जानकर हर्षशोकको त्यागकरता है इस कहनेसे प्राप्तहोनेवाला उपासकआत्माके स्वरूप और प्राप्यब्रह्मके उपासन के स्वरूप के विशोधनके लिये अर्थात् निश्चित जाननेके लिये फिर मृत्युसे यह पूँछा व प्रार्थना किया कि, **अन्यत्र धर्मात् इत्यादि** यह श्रुति ब्रह्मविषयक प्रश्नमें है पूर्वही वर्णन कीगई है आशय इसका यह है कि, जो धर्म

अधर्म जीवात्मा जगत् काल से भिन्न है आप उसको जानते हैं उसको कहिये ऐसा प्रश्नकरनेपर मृत्युने प्रथम प्रणवकी प्रशंसा करके उससे वाच्य प्राप्य ब्रह्मस्वरूप व उसके अंतर्गत प्राप्त होनेवाले के स्वरूप और प्रणवरूप उपायको फिर सामान्यसे कहते हुये पहिले ऐसा प्रणवका उपदेश किया **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्** अर्थ-(यत् ओम् इति पदम्) जिस ओम् इस शब्दरूप पदको अथवा इस वाचक शब्दसे वाच्य प्राप्य ब्रह्मको (सर्वे) सब (वेदाः) वेद अर्थात् ऋग्वेदादि चारों वेद (आमनन्ति) मानतेहैं अर्थात् विशेषकर वर्णन करतेहैं (च) और (सर्वाणि तपांसि) सब तप अनुष्ठान (यत्) जिसकेलिये (वदन्ति) कहतेहैं अर्थात् सब तप अनुष्ठान ब्रह्महीकी प्राप्तिकेलिये किये जाते हैं ऐसा विद्वान्लोग कहतेहैं (यत्) जिसकी अर्थात् जिस ओम्पदकी इच्छाकरते हुये विद्वान्लोग (ब्रह्मचर्य्यम्) ब्रह्मचर्यआश्रमके नियमोंको (चरन्ति) अनुष्ठान वा सेवन करते हैं (तत् एतत्) उस इस ओम् पदको मैं (ते) तुम्हारे लिये (संग्रहेण) संक्षेपसे (ब्रवीमि) कहताहूँ ऐसा कहकर फिर प्रणवकी प्रशंसा करके पहिले प्राप्त होनेवाले जीवात्माका स्वरूप ऐसा वर्णन किया है **न जायते म्रियते वा विपश्चित्** इत्यादि अर्थ-(विपश्चित्) ज्ञानस्वरूप यह आत्मा (न जायते वा म्रियते) न उत्पन्न होता है और न मरताहै इत्यादि और प्राप्य परब्रह्म विष्णुके स्वरूपको (अणोरणीयान्) सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म इत्यादि से लेकर **कः इत्था वेद यत्र सः** इति अर्थ-(यत्र सः) जिस दशामें वा जैसा वह है (इत्था) ऐसेही वह है यह (कः वेद) कौन जानताहै यहांतक उपदेश करने में मध्यमें यह कहा है **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन** अर्थ-(अयम् आत्मा) यह आत्मा परमात्मा (न प्रवचनेन लभ्यः) पढाने वा उपदेशवचन से प्राप्तहोने योग्य नहीं है (न मेधया) न बुद्धिसे (न बहुना श्रुतेन) न बहुत सुनेहुये शास्त्रसे वा बहुत शास्त्र सुननेसे प्राप्तहोने योग्य है इत्यादिसे प्राप्त होनेकी कठिनता कहकर उपायरूप उपासन का भक्तिरूप होनाभी कहा है यथा **ऋतं पिबन्तौ इत्यादि** अर्थ-(ऋतं) सत्यविचार वा कर्मफलको (पिबन्तौ) सेवन वा भोगकरते हुये दोनों इत्यादि इस श्रुतिमें उपास्यका उपासकके साथ रहना व उसका उपास्य होना कहकर उसके प्राप्तहोनेके उपाय वर्णनमें आत्माको रथी जान इत्यादि से व **दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति** इत्यादि अर्थ-कठिनतासे जानेयोग्य उस मार्गको विद्वान् कहते हैं इसप्रकारसे उपासनके प्रकारको और उपासना करनेवालेको विष्णु अर्थात् व्यापक ब्रह्मके परमपद प्राप्तहोना वर्णनकरके अंतमें ब्रह्म के स्वरूप व उसके जाननेसे मोक्ष प्राप्त होनेके उपदेशमें सिद्धान्त यह वर्णन किया है **अशब्दमस्पर्श**

इत्यादि अर्थ–शब्दरहित स्पर्शरहित है इत्यादि इससे तीनही के ज्ञेय होनेका उपन्यास व प्रश्न है तिससे यहां वा इसमें तांत्रिक अव्यक्तका ग्रहण नहीं है वा नहीं होसक्ता ॥ ६ ॥

महद्वच्च ॥ ७ ॥

अनु०–महत्के समान भी ॥ ७ ॥

भाष्य–जैसे **बुद्धेरात्मा महान् परः** अर्थ–बुद्धिसे महान् आत्मा पर है इस श्रुतिवाक्यमें आत्मा शब्दके साथ महान् शब्द श्रेष्ठ होनेके अर्थमें व आत्माके विशेषणमें कहेजानेसे महत् शब्दसे कापिलतंत्र (सांख्यदर्शन) में वर्णन कियागया प्रधान ग्रहण नहीं कियाजाता ऐसेही आत्मासे अव्यक्त पर है यह कहनेमें अव्यक्त शब्दसे प्रधान ग्रहण नहीं कियाजाता वा प्रधानका ग्रहण नहीं होसक्ता ऐसाही अन्य श्रुतिमें भी जहां महत् शब्द कहा गया है वहाँ श्रेष्ठ होनेके अर्थमें कहागया है महत्तत्त्वका वाचक महत्शब्द नहीं है यथा **महान्तं विभुमात्मानं इत्यादि** अर्थ–श्रेष्ठ व्यापक आत्माको इत्यादि तथा **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं इत्यादि** अर्थ–(एतं) इस (महान्तं पुरुषं) श्रेष्ठ पुरुषको (अहं वेद) मैं जानता हूँ इत्यादि इन वाक्योंमें महत्शब्द महत्तत्त्व के लिये न कहेजाने के समान अव्यक्तशब्द भी प्रधानके लिये श्रुतिमें कथित नहीं है वा न समझना चाहिये इससे प्रधान अशब्द (वेदप्रमाणरहित) है ॥ ७ ॥

अजा शब्दसे प्रधान ग्राह्य है वा नहीं इस निर्णयमें सू० ८ से १० तक अधि० २ ।

चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

अनु०–चमसके समान विशेष न होनेसे ॥ ८ ॥

भाष्य–अब श्वेताश्वतर उपनिषद्में अजा ने प्रजाओंको उत्पन्न किया एक मंत्रमें जो ऐसा वर्णित है उसमें अजाशब्दका अर्थ प्रकृतिका ग्रहण करके सांख्यदर्शनमें वर्णन कीगई प्रकृति शब्दप्रमाणसे सिद्ध है अशब्द (शब्द वा श्रुतिप्रमाणरहित) नहीं प्रधानवादी के ऐसे उत्तर वा पूर्वपक्ष होनेके उत्तर वा समाधानमें यह कहाहै चमसके समान विशेष न होनेसे इसका व्याख्यान यह है कि, श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह मंत्रहै **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः** अर्थ–(अजाम् एकाम्) एक अजा (लोहितशुक्लकृष्णाम्) लाल सफेद व कालेरंगवाली व (बह्वीः प्रजाः सरूपाः

सृजमानाम्) अपने समान गुण व रूपकी बहुत प्रजाओंकी उत्पन्न करनेवाली को (एकः अजः) एक पुरुष (जुषमाणः) प्रीति करताहुआ अर्थात् उसके साथ प्रीति रखनेवाला (अनुशेते) सेवन करताहै अर्थात् उसके धर्म राग द्वेष मोहको प्राप्तहो दुःख सुखको भोग करताहै (अन्यः अजः) अन्य पुरुष अर्थात् विरक्त ज्ञानी पुरुष (एनाम् भुक्तभोगाम्) इस भुक्तभोगाको अर्थात् जिसके सब भोग प्राप्तकरलियेगये हैं जिसके भोगकी इच्छा नहीं रही ऐसी इस अजाको (जहाति) त्यागकरताहै अब इसमें जो यह पूर्वपक्ष वा संदेह होवै कि, इस मंत्रमें प्रकृतिका किसीका कार्य होना वर्णित न होनेसे और वह बहुत प्रजाओंकी उत्पन्न करनेवाली कहेजानेसे प्रकृति वा प्रधानका सांख्यदर्शनमें वर्णनकिये गयेके समान स्वतंत्र जगत्का कारण सृष्टिकर्त्ता होना सिद्ध होता है इसके उत्तरमें यह कहा है चमसके समान विशेष न होनेसे इसका आशय यह है कि, अजाशब्द छागी में (बकरीमें) रूढ है परन्तु यहां विद्या (ज्ञान) का प्रकरण होनेसे बकरीके अर्थ ग्रहणकरनेका कुछ प्रयोजन नहीं है इससे अजाशब्द यहां यौगिक है और न जायते इत्यजा ऐसी व्युत्पत्ति करनेसे अजाशब्दका अर्थ जो उत्पन्न नहीं होती है यह होता है उत्पन्न न होनेवाली यह अर्थवाचक जो अजाशब्द है उसके प्रतिपादन करने वा कहनेमात्रसे अजाशब्द से सांख्यतंत्रसिद्ध स्वतंत्र प्रकृति के ग्रहणकरने अथवा ब्रह्मके अधीन ब्रह्मात्मिका अर्थात् ब्रह्मचेतनकर्ता समर्थपुरुष है आत्मा जिसका ऐसी ब्रह्मकी शरीररूप प्रकृतिके ग्रहणकरनेमें कोई हेतु विशेष नहीं है प्रजा उत्पन्नकरनेवाली मात्र कहनेसे भी रथ जाता है इसप्रकारसे रथके कर्तृत्व वाच्य होनेके समान औपचारिक प्रयोग माननेसे स्वतंत्रकारण होनेका हेतु विशेष होना ज्ञात नहीं होता विशेष न होनेसे चमसके समान यह दृष्टान्त है अर्थात् जैसे **अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्द्ध्वबुध्नः** अर्थ-(अर्वाग्बिलः) नीचे वा पहिले अर्थात् उच्च वा ऊपरभागकी अपेक्षा नीचे जिसके बिल होवै और (ऊर्ध्वबुध्नः) ऊपर जिसके गोलाकार वा मूल होवै (चमसः) वह चमस है इस मंत्रमें इतने वाक्य से चमसविशेष वस्तु क्या है इसका निश्चय नहीं होता चमसशब्दका अर्थ जिससे भक्षण कियाजाय यह होता है इस सामान्य कथन व ऊपर कहेहुये विशेषणोंसे किसी विशेषका निश्चय नहीं होता चमस व अजा दोनों यौगिक शब्द हैं यौगिक शब्दोंके अर्थविशेषका निश्चय विना प्रकरण आदिसे अर्थ सम्बंध के विचार किये नहीं होसक्ता. चमसका निश्चय

---

१ समान रूपवाले कहनेका आशय यह है कि, जो कारणके गुण व रूप होते हैं वही कार्यमें प्राप्त होतेहैं कारणरूप प्रकृति सूक्ष्ममें इन्द्रियगोचर नहीं होते कार्यरूप प्राणियोंकी इन्द्रियों व शरीरमें रागआदि ज्ञात होते हैं अजा शब्द यहां प्रकृतिवाचक है व लाल सफेद व काला कहनेसे रजोगुण सत्त्वगुण व तमोगुणसे अभिप्राय है ।

वाक्यशेषसे (बाकीरहेहुये वाक्यसे) होता है क्योंकि वाक्यशेषमें ऐसा वर्णन कियाहै **इदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः** अर्थ-(इदं तत् शिरः) यह वह शिर है जो (एषः चमसः हि अर्वाग्बिलः ऊर्ध्वबुध्नः) यह चमस नीचे जिसका बिल है ऊपर जिसका गोलआकार है ऐसा कहा गया है। जैसे इस वाक्यशेषसे यह निश्चय होता है कि, चमस शिर है ऐसेही प्रकरण व वाक्यशेषसे अजाका निर्णय करना चाहिये **अजामेकाम्** इत्यादि इस मंत्रसे अजाका स्वतंत्र सृष्टिका कारण होना चमस के समान विशेष हेतु न होनेसे निश्चित नहीं होता विशेषहेतु अजाके ब्रह्मात्मिका होने व स्वतंत्र न होने का अर्थ प्रकरण व वाक्यशेषसे सिद्ध होता है यह अगले सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ८ ॥

ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

अनु०-ज्योति उपक्रमाही है अर्थात् नेत्रसे दृश्यकार्यमें प्रथम दृश्य ज्योति है जिसके अथवा ज्योति है उपक्रम (आदि नाम कारण) जिसका वही यह अजा है (हि) जिसके (तथा) वैसाही (एके अधीयते) एके अर्थात् एकशाखावाले पढते हैं अर्थात् कहतेहैं ॥ ९ ॥

भाष्य-अजा को लोहित शुक्ल व कृष्णरूपवाली होना जो वर्णन किया है इसमें तीन वर्णों (रंगों) को तीन गुण न मानना चाहिये अर्थात् प्रीतिरूप वा प्रीतिउत्पन्नकरनेवाला होनेसे रजोगुण को लोहित (लाल) व प्रकाशरूप होनेसे सत्त्वगुणको शुक्ल और आवरण वा अंधकाररूप होनेसे तमोगुण को कृष्ण (काला) गौण वा लाक्षणिक अर्थसे कल्पनाकरके लोहित शुक्ल कृष्ण वर्णवाली कहनेका आशय रजोगुण आदि तीन गुणवाली अर्थात् त्रिगुणरूपवाली प्रकृति कहनेका है ऐसा अर्थ न ग्रहण करना चाहिये रूपवाले भूतोंमें से सबसे सूक्ष्म व प्रथमरूपवान् भूतज्योति अर्थात् तेज है प्रथम दृश्य रूपवान् कार्य जिसका ऐसी तेज जल व पृथिवी तीन भूतरूप जो हैं वही यह अजा है जो उक्त अजामंत्र में वर्णित है यह निश्चयकरना चाहिये क्यों ऐसा निश्चय करना चाहिये जिससे वैसाही एके कहते हैं अर्थात् इस हेतुसे कि, वैसाही अर्थात् उक्त प्रकारसे लोहित आदिरूप तीन भूतोंके होना एके छान्दोग्य शाखावाले वर्णन करते हैं यथा तेज जल व पृथिवीकी उत्पत्ति परमेश्वरसे वर्णनकरके यह वर्णन किया है **यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां**

---

१ यह श्रुति बृहदारण्यक उपनिषद् में है।

यत्कृष्णं तदन्नस्य इति अर्थ--(अग्नेः)अग्निका(यत् रोहितं रूपं)जो लालरूप है(तत् रूपं तेजसः) वह रूप तेजका है (यत् शुक्लं) जो शुक्ल है (तत्) वह (अपां) जलोंका है (यत् कृष्णम्) जो कृष्ण है (तत् अन्नस्य) वह अन्नका है अर्थात् पृथिवीका है इसप्रकारसे लोहित आदिरूप तीनभूतोंके श्रुतिमें वर्णित होनेसे और तीन भूतों में तीनरूपका प्रत्यक्षभी होनेसे और इन्हीं तीन भूतोंसे प्राणियोंके शरीरोंके आकार व रूप उत्पन्न होनेसे बहुत प्रजाओंको समान रूप युक्त उत्पन्नकरनेवाली कहना भी घटित होनेसे त्रिभूतरूपही अजाको वर्णन किया है यह निश्चय करना चाहिये तीन भूतों में तीन उक्त वर्ण दृश्य होने व आकृति व वर्णभी तीनही भूतोंसे उत्पन्न होनेसे मुख्य अर्थ को छोडकर भाक्त वा गौण अर्थ त्रिगुणरूप प्रकृतिकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है तेज आदिकी उत्पत्ति परमेश्वर ब्रह्मसे होनेसे प्रकृतिका कार्यरूप होना ब्रह्महीकी इच्छा व नियम अधीन होनेसे प्रकृतिको स्वतंत्र कारण कहना अजा मंत्रसे सिद्ध नहीं होता और यहां भी अर्थात् श्वेताश्वतर उपनिषद्में जिसमें अजाश्रुति वर्णित है उसमें प्रकृतिको स्वतंत्र कारण होना वर्णन नहीं किया. प्रकरणके आदिमें **किंकारणं ब्रह्म** यह आरंभमें कहकर यह वर्णन किया है **ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्** अर्थ-(ते) वे(ध्यानयोगानुगताः)ध्यानयोगमें प्राप्त चित्त एकाग्रकिये योगीजन (स्वगुणैःनिगूढाम्) अपने गुणोंसे गुप्त वा प्राप्त न हुई (देवात्मशक्तिं) प्रकाशस्वरूप आत्मा अर्थात् ज्ञानस्वरूप परमात्माकी शक्तिको (अपश्यन्) देखते वा जानते भये इसप्रकार ब्रह्मकी शक्तिरूप प्रकृतिका वर्णन कियाहै स्वतंत्र नहीं कहा तथा वाक्यशेषमें यह कहाहै **मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् । यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः** अर्थ-(मायां तु) मायाको (प्रकृतिं) प्रकृति (विद्यात्) जाने (मायिनं तु) और मायाके स्वामी प्रेरकको (महेश्वरम्) महेश्वर अर्थात् परमैश्वर्यवान् ब्रह्म जाने (यः) जो परमात्मा (योनिं) सबकी योनि अर्थात् कारण मूलप्रकृतिमें और (योनिं) अवान्तर प्रकृति वा कार्यरूप योनिमें (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता अंतर्यामिरूपसे स्थित होता है वा स्थित है वह (एकः) एक अर्थात् अद्वितीय है इसप्रकारसे मायाका प्रेरक स्वामी कहनेसे अजामंत्र में किसीप्रकारसे साङ्ख्य में वर्णनकीगयी स्वतंत्र प्रकृतिका वर्णन होना सिद्ध नहीं होता श्रीरामानुजस्वामी इस सूत्रका ऐसा व्याख्यान करतेहैं कि, ज्योतिशब्द ब्रह्मवाचक है यथा **तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः** इत्यादि अर्थ-(तत् ज्योतिषां ज्योतिः) उस ज्योतियोंके ज्योतिको अर्थात् प्रकाशमान सूर्य अग्नि आदिकोंके भी प्रकाशक को (देवाः) देवता वा ज्ञानी उपासना करतेहैं तथा **यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते** अर्थ-(अतः दिवः यत् परः[1] अर्थात् परम् ज्योतिः दीप्यते) इस

---

[1] परंके स्थानमें परः ऐसा प्रयुक्त है वैदिक प्रयोग होनेसे लिङ्गका व्यत्यय है ।

दिवलोकसे जो परम ज्योति प्रकाशित होतीहै इत्यादि ज्योतिरुपक्रमा अर्थात् ज्योतिब्रह्म है कारण जिसका ऐसी अजाप्रकृति है क्योंकि ऐसाही एकशाखावाले कहतेहैं अर्थात् तैत्तिरीयशाखावाले अतिसूक्ष्मसे सूक्ष्म व बृहत्से बृहत् ब्रह्मको कहकर **सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्** अर्थ–सप्तप्राण उससे उत्पन्न होतेहैं इत्यादि वर्णनसे सब लोकों व ब्रह्म आदिकों की उत्पत्ति ब्रह्मसे कहकर सबकी उपादान कारणरूप अजाकी भी उसीसे उत्पत्ति होनेमें अर्थात् उसके प्रेरणसे अजाका कार्यरूप होना व प्रजाओंका उत्पन्नकरना वर्णन करने में **अजामेकां इत्यादि** इस श्रुतिको कहा है शेष व्याख्यान यही है जाते, **ध्यानयोगानुगता** इत्यादि यहांसे उपर वर्णन कियागया है परन्तु ज्योतिशब्द ब्रह्मवाचक निश्चित होनेपर भी यहां सूत्र में ब्रह्मके लिये ज्योतिही शब्द प्रयुक्त होने व ज्योतिसे ब्रह्मही ग्राह्य मानने का कोई हेतु विशेष विदित नहीं होता ज्योतिआदि प्रकृतिके कार्य होनेसे कारण व कार्यका अभेदान्वित भाव ग्रहणकरके कारणका कार्यरूप मानना अयुक्त नहीं है अब इस शङ्काका समाधान कि जो ब्रह्म कारण है व उसके अधीन है तो प्रकृतिको अजा कहना व प्रजाओंकी उत्पन्नकरनेवाली कहना असङ्गत है अथवा भिन्नद्रव्य आकृति जातिवाले तेज आदि को आकार रूपरहित अजा कहना युक्त नहीं है आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

अनु० कल्पनाके उपदेशसे मधुआदिके समान विरोध रहित है १०॥

भाष्य–यद्यपि प्रकृति रूपआकाररहित है परन्तु कार्यअवस्था में कल्पनामात्र के उपदेशमें लोहित शुक्ल कृष्णरूप युक्त वर्णन किया है और तीन भूतोंके रूपसे वर्णनकरनेका हेतु यह है कि सम्पूर्ण जगत्के आकार व वर्णोंकी. तेज जल पृथिवी इनहीं तीन भूतोंसे रचना होतीहै अर्थात् परमात्माके प्रेरणा व नियमसे सब चराचरके शरीरोंको तीनहीसे प्रकृति उत्पन्न करतीहै यथा मधुविद्यामें आदित्य (सूर्य) को मधु कहा है अर्थात् यद्यपि आदित्य मधु नहीं है परन्तु प्रिय व हितकारी होनेसे मधुके तुल्य कल्पना कियाहै तथा वाचा धेनु नहीं है उसको धेनु और छान्दोग्यमें द्युलोक आदि जो अग्नि नहीं है उनको रूपकसे अग्नि होना कल्पना किया है इसप्रकारसे कल्पना करनेमें आदित्यआदि के वर्णनमें कुछ विरोध नहीं समझाजाता ऐसाही मधुआदिके समान प्रकृतिको तेज जल पृथिवीरूप कल्पना करनेमें विरोध नहीं है कल्पनाशब्दका अर्थ सृष्टिका ग्रहण करनेसे इस सूत्रका ऐसा अर्थ ग्राह्य है कि सृष्टिके उपदेश से अर्थात् जगत्की सृष्टिके उपदेशसे मधुआदिके समान विरोध नहीं है यह जो वर्णन कियाहै **अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्** इत्यादि अर्थ–(अस्मात्) इस सूक्ष्मअवस्थाको प्राप्त कारणप्रधानसे (मायी) मायाके स्वामी ब्रह्म (एतत् विश्वं) इस विश्वको

१ बृहदारण्यक अ० ४ ब्रा० ५ श्रुति १६ और बृह० उपनिषद अ० ४ ब्रा० ४ श्रु० १ ६

(सृजते) उत्पन्न करताहै इस कल्पनाके उपदेशसे प्रकृतिका कारण व कार्य-रूपसे दो अवस्थामें योग होना सिद्ध वा घटित होता है प्रलयकालमें ब्रह्ममें प्राप्त हो नामरूपभेदरहित अव्यक्त आदि शब्द वा नामसे वाच्य (कहनेयोग्य) अति-सूक्ष्मरूपसे स्थित होतीहै सृष्टिउत्पत्तिसमयमें उत्कृष्ट सत्वआदि गुणोंसे युक्त नाम-रूपभेदसहित प्रकटहोनेसे व्यक्तआदि शब्दोंसे वाच्य तेज जल पृथिवी रूप से परिणत (परिणामको प्राप्त) लोहित, शुक्ल, कृष्णरूप व आकारसे स्थित होती है इससे कारण अवस्थावाली अजाको कार्य अवस्थामें ज्योतिरुपक्रमा कहनेमें विरोध नहीं है यथा कारण अवस्थामें जो ईश्वरके साथ अवस्थित आदित्य है उसीका ऋग्यजुः साम अथर्व वेदोंसे प्रतिपाद्य कर्मोंके रस अर्थात् फलोंका आश्रय-होनेसे वसुआदि देवताओंके भोग के लिये मधुहोने की कल्पनाकरने अर्थात् मधु-रूप कहनेमें विरोध नहीं होता जैसा कि छान्दोग्यमें मधुविद्यामें यह कहा है **असौ वा आदित्यो देवमधु** इत्यादि अर्थ- (वै असौ आदित्यः देवमधु) निश्चय यह सूर्य देवताओंका मधु है इत्यादि ऐसाही यहां लोहितआदि वर्णयुक्त अजाका वर्णन समझना चाहिये इससे अजामंत्रमें ब्रह्मात्मिका ब्रह्मके अधीनही अजाका कथन है कापिलतंत्रसिद्ध स्वतंत्र अजाका वर्णन नहीं है यह सिद्धान्तहै॥१०॥

पंच पंचजन शब्दसे प्राण, चक्षु, आदि पांच वाच्य होनेमें सू० ११ से १३ तक अधि० ३ ।

न सङ्ख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च॥११॥

अनु०-संख्याके ग्रहणसे भी नाना (अनेक) भावसे अर्थात् संख्याका नियामक न होनेसे और पृथक् होने वा सुननेसे नहीं है ॥ ११ ॥

भाष्य-अजामंत्र में प्राप्त संशयका निर्णय करनेके पश्चात् अब अन्यमंत्रमें प्रकृति वादीके पूर्वपक्षका उत्तर वर्णन करतेहैं पूर्वपक्ष यह है कि सांख्यदर्शनमें प्रकृतिआदि पचीस संख्यातक तत्वों को वर्णन किया है वही संख्या का प्रमाण इस वाजसने-यि ब्राह्मणके मंत्रसे होता है **यस्मिन्पंचपंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः । तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतमिति** अर्थ-(यस्मिन) जिसमें (पंचपञ्चजनाः) पांचपञ्चजन (च) और (आकाशः) आकाश (प्रति-ष्ठितः) प्रतिष्ठित है (तम् एव) उसी (आत्मानम् अमृतं ब्रह्म) आत्मा अमृत अर्थात् मृत्युरहित नित्य वा मोक्षस्वरूप नित्यमुक्त ब्रह्मको (मन्ये) मैं मानता वा जानताहूं उसके मानने वा जाननेसे (विद्वान अमृतः) मैं विद्वान् व अमृत हूं अथवा जिसके जाननेसे विद्वान् अमृत अर्थात् मृत्युरहित तथा जन्मरहित मुक्त होता है इस मंत्रमें पञ्चजन शब्दका अर्थ **पञ्चानां जनानां समूहाःपञ्चजनाः** ऐसा समास करनेसे पांचजनोंका समूह होताहै, पञ्चजनसमूह को पञ्च अर्थात् पांच

से गुणन करनेसे पचीसकी संख्या होतीहै इससे पचीसपदार्थ का होना ज्ञात होता है इससे सांख्यमें वर्णित प्रकृतिआदि पचीस पदार्थ समान संख्या होनेके हेतुसे इस मंत्रमें वर्णित होनेकी प्रतीति होनेसे प्रकृति वा प्रधान आदिका शब्दप्रमाणसे सिद्धहोना निश्चित होता है इससे प्रधान अशब्द अर्थात् शब्दप्रमाणरहित नहीं है जो यह संशय होवे कि साङ्ख्यमें पचीस गण नामसे पचीसपदार्थ वा तत्वों को कहा है इसमें पञ्च पञ्चजन शब्द है जनशब्दसे पदार्थ व तत्वका ग्रहण कैसे होसक्ताहै तो इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि जैसे अजाशब्द लोकमें बकरीमें रूढ़है परन्तु तत्वविद्या में बकरीका कुछ सम्बंध व प्रयोजन न होनेसे उसका अर्थ प्रकृतिका ग्रहण कियाजाताहै ऐसेही जन शब्दका मनुष्य अर्थ ग्रहण करनेमें मंत्रमें कुछ प्रयोजन व संगति ज्ञात न होनेसे तत्व वा पदार्थका अर्थ ग्रहण कियाजाताहै वा ग्रहण करना युक्त है इसके उत्तरमें यह सूत्र है सङ्ख्याके ग्रहणसे भी अनेक के होनेसे पृथक् होनेसे नहीं है अर्थात् प्रधान आदिका शब्दप्रमाण नहीं है इसका व्याख्यान यह है कि संख्यामात्रके ग्रहणसे भी प्रधानआदिका शब्दप्रमाण होना सिद्ध नहीं होता क्यों नहीं होता अनेक होनेसे अर्थात् संख्याका विशेष पदार्थोंके साथ नियम न होनेसे व भिन्न होनेसे अर्थात् पञ्चपञ्चजन कहनेसे बहुत पांचपदार्थोंका ग्रहण होसक्ता है और जिन पचीस पदार्थोंको सांख्यमें कहाहै उनसे भिन्न अन्यपदार्थोंकी पचीससंख्या में गणना होती व होसक्तीहै इससे सांख्यतंत्र वा स्मृतिसिद्ध पचीसपदार्थोंका इस मंत्रसे प्रमाण होना न समझना चाहिये अनेक होने व भिन्नहोनेसे कहनेका आशय यह है कि, सांख्यमें कथित पदार्थोंकी संख्यासे इस मंत्रमें विरोध है सांख्यमें पुरुषको पचीसके अंतर्गत कहा है इस मंत्रमें पुरुष आत्माको यह कहनेसे कि, जिसमें प्रतिष्ठित है भिन्न व आधाररूप वर्णन किया है अर्थात् पंच व पंचजन आधेयसे आधाररूप आत्मा भिन्न है तथा पञ्चपञ्चजन जिससे पचीस संख्याका ग्रहण किया जाता है उससे आकाशको भिन्न गिना है और सांख्यमें पचीसके अंतर्गत कहा है इससे पचीससे अधिक अनेक व भिन्न होनेसे सांख्यतंत्रसिद्ध पचीस तत्वों वा पदार्थोंका इस मंत्रसे किसी प्रकारसे प्रामाण्य नहीं होता अब इस शङ्काका समाधान कि, जो साङ्ख्य में उक्त प्रधानआदिका कथन नहीं है तो पंचपंचजन को हैं यह निश्चय होना चाहिये आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ११ ॥

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

अनु०—वाक्यशेषसे प्राणआदि हैं ॥ १२ ॥

---

१ सांख्यमें पचीस पदार्थ यह वर्णन किया है सत्व रज तम इन तीनगुणों की सम अवस्थारूप प्रकृति, प्रकृतिसे महतत्त्व महतत्त्वसे अहंकार अहंकारसे पांच मात्रा शब्द स्पर्श रूप रस गंध व पांचज्ञानइन्द्रिय व पांच कर्मइन्द्रिय व मन और पांच मात्रोंसे आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी होतेहैं और पुरुष यह पचीस पदार्थ हैं ।

भाष्य–वाक्यशेषसे अर्थात् जो आगे कहा है उस रहेहुये वाक्यसे पंचजन प्राण आदि हैं यह निश्चित होता है इसका व्याख्यान यह है कि, पञ्च पञ्चजन इस मंत्र वर्णन करनेके पश्चात् आगे ब्रह्मस्वरूप निरूपण में ऐसा वर्णन किया है **प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नम्मनसो मनो ये विदुरिति** अर्थ–(ये) जो विद्वान्लोक (प्राणस्य प्राणम्) प्राणके प्राणको (उत चक्षुषः चक्षुः) चक्षुके चक्षुको (श्रोत्रस्य श्रोत्रम्) श्रोत्रके श्रोत्रको (अन्नस्य अन्नम्) अन्नके अन्नको (मनसः मनः) मनके मनको (विदुः) जानतेहैं इत्यादि अर्थात् जो ब्रह्मको ऐसा जानतेहैं कि, वह प्राणकाभी प्राण नेत्र इन्द्रियका भी नेत्र इत्यादि वह ब्रह्मको जानते हैं इस शेष वाक्यसे प्राणआदिको पंचपंचजन कहना विदित होता है प्राणआदिमें जनशब्द का प्रयोग कैसे स्वीकारके योग्य है इसका उत्तर यह है कि, क्रमसम्बंधसे वाक्यशेषके वशसे प्राणआदिही ग्रहणके योग्य होते हैं और जनशब्द जो पुरुषवाचक है उसके सम्बंधसे प्राणआदि जनशब्दसे वाच्य होतेहैं यथा अन्यश्रुति में प्राणोंको पुरुषशब्द से कहाहै श्रुति यह है **ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः** अर्थ–वह निश्चय यह पांच ब्रह्मपुरुष हैं तथा **प्राणो ह पिता प्राणो ह माता** अर्थ–प्राणही पिता है प्राणही माता है इत्यादि कोई पञ्चजन देवता पितर गंधर्व असुर राक्षस इन पांचको कहते हैं कोई चारोंवर्ण व पांचवें निषादको कहते हैं इन सबका कारण व आधार ब्रह्म है इससे यह अर्थ ग्रहण करनेमें भी कुछ दोष नहीं है परन्तु आचार्य सूत्रकार पचीसतत्त्वोंकी प्रतीति इसमें नहीं होती यह जानकर और प्रकरण व वाक्यशेषसे प्राणआदि का अर्थ युक्त व विशेष कहनेयोग्य जानकर प्राणआदिको वर्णन कियाहै पंचपञ्चजन कहनेमें जो दो वार पञ्चशब्द कहाहै इसमें पञ्चशब्द पञ्चजन का विशेषण है अर्थात् सात जो सप्तऋषि हैं यह कहनेके समान पांच जो पांचजन हैं ऐसा अर्थ होताहै इससे पांच प्राणआदिहीका अर्थात् प्राण, चक्षु,श्रोत्र, अन्न, मनका ग्रहण होताहै पञ्च पञ्चजनसे पचीस पदार्थोंका ग्रहण नहीं होता अब यह शङ्का है कि, माध्यन्दिनोंके मतके अनुसार तो पांचप्राणआदिका मानना होसक्ताहै क्योंकि वह प्राणआदिमें अन्नको कहाहै परन्तु काण्वोंके **प्राणस्य प्राणं** इस मंत्रमें अन्नका पाठ नहींहैं इससे उनके मतसे प्राणआदिका पंचजन कहना कैसे युक्त होसक्ता है इसका उत्तर आगे वर्णन करतेहैं ॥ १२ ॥

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

अनु०–(असति अन्ने) अन्न न होनेमें (ज्योतिषा) ज्योतिशब्दसे (एकेषाम्) एकों की अर्थात् एकोंकी संख्या होती है॥ १३॥

भाष्य–एकोंकी अर्थात् काण्वशाखावाले जो अन्नको पांच प्राणआदिमें नहीं

पढते अर्थात नहीं कहते उनकी पांच होनेकी सङ्ख्या ज्योतिशब्दसे पूरी होती है अर्थात् जिसमें पंञ्च पञ्चजन प्रतिष्ठित हैं इस मंत्रके पूर्वही ब्रह्मके वर्णन में यह मंत्र है **तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतं** अर्थ-(तत्) उस (ज्योतिषां ज्योतिः) ज्योतियोंके ज्योति (आयुः) आयुरूप (अमृतम्) अमृत वा मोक्ष सुखरूप को अर्थात् ब्रह्मको (देवाः) देवता वा देवरूप विद्वान् योगी (ह उपासते) उपासन करते हैं इस मंत्र में ज्योतियोंका ज्योति जो ब्रह्मको कहा है ज्योतिसे अभिप्राय इन्द्रियोंसे है अर्थात् ज्योतिके समान विषयोंकी प्रकाशक होनेसे इन्द्रियोंको ज्योति कहा है कर्मइन्द्रिय किसी विषयके प्रकाशक अर्थात् ज्ञापक (जानेवाली) नहीं होती इससे पांच ज्ञानइन्द्रियोंको ज्योति कहाहै इंद्रियका भी प्रकाशक होनेसे ज्योतियोंका ज्योति कहाहै फिर इन्हीं पांच इन्द्रियोंको पञ्चजन कहकर पांच पञ्चजन जिसमें प्रतिष्ठित हैं ऐसा वर्णन करके पञ्चजनको स्पष्टतासे व्यक्त करने में पांच इन्द्रियोंके वर्णन में **प्राणस्य प्राणम् इत्यादि** उक्त मंत्रको वर्णन किया है प्राण वायुरूप है वायुसम्बंधी होनेसे प्राणशब्दसे स्पर्श इन्द्रिय ग्रहण कीजाती है मुख्यप्राण का ज्योतिशब्द से प्रदर्शनका (वाच्य होना जनानेका) योग न होनेसे मुख्यका ग्रहण नहीं कियाजाता है **चक्षुषः इति श्रोत्रस्य** इत्यादि कहनेमें चक्षु व श्रोत्र इन्द्रिय व अन्नशब्द पृथिवीवाचक इस मंत्रमें ग्रहण किये जानेसे और घ्राणइन्द्रिय पृथिवी सम्बंधी होनेसे अन्नसे घ्राणइन्द्रिय ग्रहण कीजाती है और अन्नशब्द का अर्थ जिससे भक्षण कियाजाय यहभी होता है इससे अन्न शब्द से रसना (जिह्वा) इन्द्रिय भी ग्रहण कीजातीहै और मनका मन यह कहनेमें मनइन्द्रिय ग्रहण की जातीहै ज्योतियों शब्द पांच इन्द्रियोंवाचक होनेसे व पञ्चजन शब्द पांचइन्द्रियों के लिये कहेजानेसे वाक्यशेषसे पञ्चजनको विभाग करके वर्णन करने में काण्वशाखावालों ने अन्नको नहीं कहा तो इससे कुछ विरोध नहीं होता उपलक्षणमात्र के आशयसे दोही तीन इन्द्रियकी गणना करते तो उसीप्रकारसे अन्य इन्द्रियकथित समझलेना युक्त था इससे पूर्वसम्बन्ध व आशयसे और इतना मात्र ज्ञातहोनेसे कि, पञ्चजनसे पञ्चइन्द्रियोंके कहनेसे तात्पर्य है अन्नशब्द कथित न होनेपर कथितके समान है इससे पांचके होनेमें दोनोंमें कुछ विरोध नहीं है पञ्चजनशब्दसे मनपर्य्यंत इन्द्रियाँ निर्दिष्ट (वर्णित) हैं अन्नशब्द घ्राण व रसन दो इन्द्रियका वाचक है दोका ग्रहण एकमें होनेसे मनसहित पांच कहनेमें विरोध नहीं होता इससे पंचजन व आकाश जिसमें प्रतिष्ठित है इस वाक्य में पञ्चजन शब्दसे पांच इन्द्रिय व आकाश शब्दसे सूचित किये आकाशआदि महाभूत ब्रह्ममें प्रतिष्ठित हैं यह वर्णन कियाहै सब पदार्थों वा तत्वोंका आश्रय ब्रह्म है इस प्रतिपादनसे साङ्ख्य में कहे हुये पचीसतत्वोंका यहां कुछ प्रसङ्ग नहीं है इससे संख्याका ग्रहण हो वा न हो

वेदान्तमें कहीं कापिलमत अनुसार प्रधानआदि पदार्थोंकी सिद्धि नहीं है यह सिद्धान्त है कोई आचार्य ज्योतिशब्द जो इस सूत्रमें कहाहै उसका अर्थ ज्योतियोंका ग्रहण न करके ज्योति शब्दको ब्रह्म अर्थवाचक होना मानतेहैं और अन्नके स्थान में ज्योति मानकर ज्योतिसहित पांचका होना वर्णन करतेहैं यह युक्त नहीं है क्योंकि पञ्चजनको ब्रह्ममें प्रतिष्ठित (आश्रित) कहा है ज्योतिको पांचमें ग्रहण करनेसे वही अपने में आश्रित कहना अयुक्त है ॥१३॥

ब्रह्मकारण होने के प्रतिपादन में वेदान्तवाक्यों का युक्तिसे युक्त होना वर्णन करनेमें सू० १४ व १५ अधि० ४।

कारणत्वेन आकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१४॥

अनु०–कारणभावसे आकाशआदिकों में जैसा कहागया है वैसाही कहनेसे॥ १४॥

भाष्य--अब प्रधान कारणवादी की यह शङ्का है कि वेदान्तवाक्योंका ब्रह्मके कारण होनेके प्रतिपादन में समन्वय (मेल) नहीं है एकही प्रकारसे व एकहीसे सृष्टि होनेका वर्णन नहीं है अनेकप्रकारसे सृष्टिका वर्णन पायाजाता है यथा **आत्मन आकाशस्संभूतः** अर्थ–आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ इसमें आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति कही है कहीं तेजको आदिसृष्टिमें कहाहै यथा **तत्तेजोऽसृजत्** अर्थ–उसने तेजको उत्पन्न किया कहीं प्राणको प्रथम कहाहै यथा **स प्राणमसृजत्** अर्थ–उसने प्राणको उत्पन्न किया कहीं ऐसा कहाहै **सदेव सौम्येदमग्र आसीत्** अर्थ–हेसौम्य! (इदम्) यह जगत् (अग्रे) आगे सृष्टिसे पहिले (सत् एव) सत्ही (आसीत्) था इसमें सत्कारणपूर्वक सृष्टिको कहाहै कहीं यह वर्णन है **असद्वा इदमग्र आसीत्** अर्थ–(अग्रे) आगे अर्थात् सृष्टिसे पहिले (इदम्) यह जगत् (असत् वै) असत्ही (आसीत्) था इसमें असत् पूर्वक सृष्टिको वर्णन किया है और ऐसा भी कहाहै **असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत** अर्थ–(अग्रे) सृष्टिसे पहिले (इदम्) यह जगत् (असत् वा) असत्के समान अथवा प्रत्यक्ष विद्यमान स्थूलरूपसे असत्ही (आसीत्) था (ततः) उससे (वै) निश्चय (सत् अजायत) सत् उत्पन्न हुआ अर्थात् दृश्य स्थूल कार्यरूप हुआ इस प्रकारसे अनेक प्रकारके कथनसे वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्मका कारण होना निश्चित नहीं होसक्ता इससे प्रधानहीको जगत्का कारणहोना निश्चय करनाचाहिये इसके समाधानके लिये यह कहाहै कारण भावसे आकाशआदिकोंमें जैसा कहागयाहै अर्थात् जैसा एकशाखा वा उपनिषद्ग्रंथमें कहागयाहै वैसाही कहनेसे अर्थात् अन्यमें भी वैसाही कथनहोनेसे, आशय इसका यहहै कि यद्यपि आकाशआदि के उत्पत्तिक्रममें विरोध होना ज्ञात होताहै परन्तु आकाश-

आदिकोंका कारण सृष्टिकर्ता ब्रह्मके वर्णनमें कहीं विगान (विरुद्ध कथन) नहीं है सम्पूर्ण वेदान्तमें सब वेदान्तवाक्योंमें एकही प्रकारसे कारणहोना वर्णित है जैसा एकमें कहागया है वैसाही अन्यमेंभी कारण होनेका कथन होनेसे ब्रह्मके कारण होनेके प्रतिपादनमें कहीं वेदान्तवाक्योंमें विरोध नहीं है **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः** अर्थ–उस उक्त इस आत्मासे (जिसके वर्णनका सम्बंध चला जाता है इससे) आकाश उत्पन्न हुआ तथा उसने तेजको उत्पन्न किया इत्यादि इन सब उक्तवाक्योंमें सर्वज्ञ ब्रह्मही कारण कारणरूपसे कहागया है तथा **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ–सत्य ज्ञानस्वरूप अन्तरहित ब्रह्म है इत्यादि ऐसा ब्रह्मको वर्णन करके उसीका यह कहा है कि, उस उक्त इस आत्मा ब्रह्मसे आकाश उत्पन्न हुआ इससे ब्रह्मही कारण कहागया है तथा **तदैक्षत बहु स्याम्**-अर्थ उसने ईक्षा किया कि, मैं बहुत होऊँ इसमें चेतन ब्रह्मही कारण होना विचार कियाजाता है जड प्रधान में ईक्षा (विचार) होना असंभव है तथा उसने तेजको उत्पन्न किया इस उक्तश्रुतिमें भी ब्रह्महीको कारण कहा है ऐसाही सब सृष्टिवाक्यों में समझना चाहिये इससे केवल ब्रह्मही जगत्का कारण होना निश्चय किया जाताहै अब इस पूर्व पक्षका कि, यह वर्णन करनेसे कि, सृष्टिसे पहिले यह जगत् असत्ही था असत् ही कारण होना वा कारणका असत् होना ज्ञात होताहै सत्यसङ्कल्प सर्वज्ञ ब्रह्मका कारण होना कैसे निश्चय किया जाता है उत्तर वर्णन करते हैं ॥ १४ ॥

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

अनु०–समाकर्षसे ॥ १५ ॥

भाष्य–असद्वा इदमग्र आसीत् अर्थ–(अग्र) आगे अर्थात् सृष्टि आरंभ से पूर्व (इदम्) यह अर्थात् नामरूपयुक्त दृश्यमान यह कार्यरूप जगत् (असत् वै आसीत्) असतही था अर्थात् नहीं था अथवा (असत् वा आसीत्) असत्के समान अर्थात् न होनेके समान था इस वाक्यमें भी सर्वथा कारण न होना कहनेका अभिप्राय नहीं है जैसा स्थूल नामरूपसहित विद्यमान जगत् प्रत्यक्षसे ज्ञात होताहै इसके लिये कहाहै कि, यह नहीं था अर्थात् ऐसा जगत् नहीं था अतिसूक्ष्म नामरूपरहित होने व इन्द्रियग्राह्य पदार्थके समान न होनेसे इन्द्रियोंसे ग्राह्य व व्यवहारके योग्य न होनेसे असत्के समान था क्योंकि इसमें पूर्वोक्त (पहिले वर्णन कियेगये) ब्रह्महीका समाकर्ष (खींचना) है अर्थात् खींचकर उक्त ब्रह्मही का वर्णन है अर्थात् पूर्वही **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ–सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप

---

१ वाशब्द उपमावाचकहै यथा सिंहो वा क्रुद्धो भवति इसमें वाशब्द उपमा अर्थमें होनेसे सिंहके समान क्रुद्ध होताहै ।

अनन्त ब्रह्म है ऐसा कहकर और **तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योन्तर आत्मानन्दमयः** अर्थ-(तस्मात् वै एतस्मात् विज्ञानमयात्)उस पूर्वोक्त इस विज्ञानमय आत्मासे(अन्तरः आत्मा आनन्दमयः अन्यः)अंतर हृदयमें विद्यमान आत्मा आनन्दमय भिन्न है यह कहनेके पश्चात् यह वर्णन किया है **सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति, इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च,तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् इत्यादि** अर्थ-(सः) वह उक्त ब्रह्म (अकामयत) यह इच्छाकिया (बहु स्यां प्रजायेय)बहुत होऊं उत्पन्नहोऊं अर्थात् मैं अपनी शक्ति प्रकृति जड कारणरूप को अनेक कार्यरूपसे प्रकटकरके बहुत होऊं और उसको अनेक प्रकारसे उत्पन्नकरूँ इसमें होऊं व उत्पन्न होऊं का कहना ऐसा समझना चाहिये जैसा कोई राजा वा ऐश्वर्यवान् पुरुष यह इच्छा करता है कि,मैं अमुकशत्रुको जीतूं अमुक कार्य करूं और उसको अपने भृत्योंसे कराताहै आप नहीं करता परन्तु वह करना उसीका कहा और माना जाताहै भृत्य उसके अधीन व उसकी प्रेरणा विना न करसकनेसे नहोने व नकरनेके समान मानेजाते हैं यथा योधाओंके युद्धसे प्राप्त जयपराजय राजा का जयपराजय कहा जाता है और मानाजाताहै इत्यादि ऐसी इच्छाकरके (इदं सर्वं यत् इदं किञ्च असृजत) जो कुछ यह जगत् है इस सबको उत्पन्नकिया (तत्सृष्ट्वा) उसको उत्पन्नकरके (तदेव अनुप्राविशत्) उसीमें आपभी प्रवेश किया अर्थात् व्याप्तहुआ इत्यादिवर्णनसे ब्रह्मको आनन्दमय सत्यसङ्कल्प सृष्टिकर्ता सब में व्यापक सबका आत्मास्वरूप कहकर उसीको **असद्वा इदमग्र आसीत्** इत्यादि इस श्लोकमें कहा है अर्थात् कहे हुये सब अर्थके संक्षिप्त वर्णन व साक्षी होनेमें यह श्लोक उदाहरण में कहागया है इससे यह श्लोक ब्रह्महीके विषयमें है नामरूप और सृष्टिके न होनेमें ज्ञाता ज्ञेय सम्बंधरहित होनेसे प्रळय व सृष्टिसे पहिले ब्रह्मभी असत् के समान था जगत् कार्यरूप वर्तमान अवस्थासे असत्ही था इससे सृष्टिसे पहिले असत् था ऐसा कहाहै इस श्लोकमें पूर्व कहे हुये कारण ब्रह्महीका वर्णन होनेसे और अन्यत्र ईक्षापूर्वक ब्रह्मका सृष्टिकरना कहेजानेसे सर्वत्र वेदान्तमें ब्रह्मही कारण होनेका सिद्धान्त निश्चित है और जो यह श्रुति है[1] **तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते** अर्थ-(तत् ह इदम्) वह उक्त यह प्रत्यक्षसे दृश्यमान जगत् (तर्हि) तौ (अव्याकृतम् आसीत्) रूप आकृतिकी प्रकटतारहित था (तत्) वह (नामरूपाभ्यां) नाम व रूपसे (व्याक्रियते) प्रकट किया जाता है इसमें जो प्रधानवादी अव्याकृत शब्दका अव्यक्त अर्थ ग्रहणकरके अव्यक्त (प्रधान) के कारण होनेका प्रतिपादन मानते हैं यह युक्त नहीं है क्योंकि जडपदार्थ चेतन अध्यक्षहीसे नियत नामरूपसे प्रकट किये जातहैं आपसे नहीं प्रकट होसक्ते इससे आपसे प्रकट होते हैं ऐसा अर्थ ग्रहण करना यथार्थ नहीं है इससे प्रधानका स्वतंत्र नामरूपका व्याकरण करना असं-

---

१ पूर्वोक्त श्रुति व यह श्रुति तैत्तिरीयउपनिषदकी हैं ।

भव है इससे एकब्रह्मही जगत्का कारण है और कारणपूर्वक जगत्की उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त है ॥ १५ ॥

जीव व परमात्मामेंसे परमात्माही जगत्का कर्ता प्रतिपादन करने व अन्यके कर्ता होनेके निषेधमें सू० १५ से १८ तक अधि० ५

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

अनु०—जगत्वाची होनेसे ॥ १६ ॥

भाष्य—कौषीतकि. ब्राह्मणग्रंथमें बालाकि, ब्राह्मण व राजा अजातशत्रुके संवादमें यह श्रुति है **यो वै बालाके एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति** अर्थ—हेबालके ! (वै) निश्चयसे (यः) जो (एतेषां पुरुषाणां) इन पुरुषोंका (कर्ता) कर्ताहै (च) और (यस्य) जिसका (एतत् कर्म) यह कर्म है (सः) वह (वेदितव्यः) जाननेके योग्य है इसमें यह कर्म जगत्वाची है जगत्वाची होनेसे ब्रह्मको जगत् का कारण व जाननेके योग्य कहना सिद्ध होता है अर्थात् जिसका यह दृश्यमान जगत कर्म है वह इसका कर्ता ब्रह्म जाननेके योग्य है यह सिद्धान्त है परन्तु शङ्का वा पूर्वपक्ष पूर्वक इसका व्याख्यान यह है कि, इसमें यह शङ्का वा पूर्वपक्षकी प्राप्ति है कि, इन पुरुषोंका कर्ता व जिसका यह कर्म है यह कहनसे ब्रह्मके कर्ता वा कारण व जानने योग्य होनेका उपदेश ज्ञात नहीं होता साङ्ख्यमें वर्णन कियेगये प्रकृति के अध्यक्ष भोक्ता पुरुष वा जीवहीको कारण व जाननेके योग्य कहाहै यह सिद्ध होता है. क्योंकि, लोक व वेदमें पुण्य पाप वा धर्म अधर्मरूप आचरण कर्म कहेजातेहैं अथवा प्रसिद्ध है कर्मका सम्बंध परमात्माके साथ मानने योग्य नहीं है जीवही के साथ धर्म अधर्मरूप कर्मोंका व भोगसम्बंध है इससे यह कहा है कि, जिसका धर्माधर्मरूप कर्म है वह जानने योग्य है और पुरुषोंका कर्ता होना इससे कहाहै कि, भोक्ता पुरुषहीके कर्म नि[illegible]तसे जगत्की उत्पत्ति होती है जगत् में आदित्यमण्डलस्थ चन्द्रमण्डलस्थ आदि पुरुष उस व्यापक भोक्ता पुरुषके भोगके उपकरण (द्वारा वा उपकारके हेतु) होते हैं इन पुरुषोंका कारण होने इन सबका कर्ता वाच्य होताहै और इसके आगे इस वर्णनसे भी जीवहीका लक्षण विदित होता है कि, बालाकि व अजातशत्रु दोनों एक सोतेहुये पुरुषके पास आये उसको अजातशत्रुराजाने नाम लेकर बोलाया वह सोताहुआ संबोधन वाक्यको न सुना तब प्राणआदि यह भोक्ता आत्मा

१ यहाँ कथामात्र समझकर संस्कृत वाक्य नहीं लिखा क्योंकि जिन श्रुतिवाक्योंमें कोई निरूपण वा आत्माका वर्णन है उनहीको लिखकर भाषा अर्थ लिखना इष्ट है कथासम्बंधी वाक्योंको लिखकर फिर अर्थ लिखनेमें विस्तार अधिक होगा फलविशेष नहीं है ।

नहीं है विना चेतन आत्मा प्राण इन्द्रिय सब ज्ञानरहित हैं यह कहकर यष्टी (छडी वा लाठी) से उसको उठाकर जीवका प्राणआदिसे भिन्न होना सूचित किया तथा अन्यपर वाक्यसे जिसमें ऐसा वर्णन है कि, जैसे श्रेष्ठी अर्थात् जो श्रेष्ठ स्वामी है वह अपने ज्ञातियों व सेवकोंसहित भोजनकरताहै वा भोगकरता है और वह सब उसके आश्रित होतेहैं और उसके भोगके उपयोगी होते हैं ऐसेही भोक्ता पुरुष जीवभी इन आदित्य (सूर्य) आदि जो प्रकाश आदि-द्वारा भोगके उपकरण हैं उनके साथ भोगकरता है और आदित्य आदित्य-मण्डलस्थ पुरुष आदि यज्ञभाग ग्रहणआदिसे जीवसे भोगको प्राप्त उसके आश्रित होते हैं जीवहीका लक्षण विदित होताहै तथा अजातशत्रुने बालाकि से यह प्रश्न किया है कि हे बालाके कहाँ यह पुरुष सोया और सोनेमें इसको क्या होगया कहां गया और फिर यह कहांसे आया जब बालाकि ने उत्तर न दिया तब यह समझकर कि यह नहीं जानता अजातशत्रुने आपही यह वर्णन किया **हिता-नाम नाड्यस्तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कथञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति मनस्सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाग्ने-र्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिंगा विप्रतिष्ठेरन् एवमेवैतस्मादा-त्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका इति** अर्थ-(यदा) जब (सुप्तः) सोयाहुआ यह आत्मा (कथञ्चन स्वप्नं न पश्यति) किसी प्रकारका स्वप्न नहीं देखता है (तदा) तब (हि-ता नाम नाड्यः) हितानाम जो नाडियां हैं (तासु) उनमें (भवति) होताहै अथ (अस्मिन्) इस आत्मामें (प्राणः एव एकधा भवति) प्राणही प्रथम मिलकर एकरूप होताहै (तदा) तब (सर्वैः नामभिः सह वाक्) सब नामोंसहित वाणी (अप्येति) लय होताहै (सर्वैः ध्यानैः सह मनः अप्येति) सब ध्यानोंसहित मन लयको प्राप्त होताहै (सः) वह (यदा) जब (प्रतिबुध्यते) जागता है तब(यथा) जैसे (अग्नेर्ज्वलतः) जलते हुये अग्निसे (विस्फुलिङ्गाः सर्वा दिशः विप्रतिष्ठे-रन्) तिनगे वा चिनगारियां सब दिशोंमें जाकर स्थित होतेहैं (एवम्) ऐसेही (एतस्मात् आत्मनः) इस आत्मा से (प्राणाः) प्राण (यथायतनम्) अपने अपने स्थानमें (विप्रतिष्ठन्ते) स्थित होतेहैं (प्राणेभ्यो देवाः देवेभ्यो लोकाः) प्राणोंसे देवता अर्थात् इन्द्रियां व इन्द्रियोंसे लोक अर्थात् ज्ञान वा विषय उपस्थित होतेहैं इस वर्णनमें सुषुप्तिका आधार होनेसे स्वप्न सुषुप्त जागरित अवस्थाओंमें वर्तमान वाक्आदि इन्द्रियोंके लय होने व प्रकट होनेके स्थानमें इस जीवात्माहीको यह कहाहै कि, प्राण इसमें मिलकर एक होताहै प्राणधारण करनेवाला होनेसे इसमें प्राण यह कहाहै मुख्य प्राण व ईश्वरकी सुषुप्त व जागरित अवस्था संभव न होनेसे अथवा इसमें प्राणएक

होताहै यह कहनेका यह आशय है कि, इस आत्माके वर्तमान होने वा रहनेमें प्राण एकही होताहै अर्थात् सब वाक्आदि इन्द्रियोंका समूहरूप एक होताहै इस अर्थ से प्राण शब्द मुख्य प्राणपर होने वा माननेपर भी जीवहीका इस प्रकरण में प्रतिपादन है क्योंकि स्वतः प्राण जीवका उपकरण मात्र है इससे प्रकरणके आदिमें जो मैं तुमसे ब्रह्मको कहूंगा ऐसा कहकर आत्माको वर्णन किया है ब्रह्मशब्द पुरुषहीको कहा है क्योंकि उससे भिन्न ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती ईक्षाकरना आदि चेतनधर्म इसी पुरुषमें संभव होते हैं और इस पुरुष अधिष्ठाताके संयोगको प्राप्त हो प्रधानही जगत्का कारण है यद्वा मुख्य प्राण सब शरीरधारियोंके संचलन व जीवनका हेतु है इससे प्राणको पुरुषोंका कर्ता व जिसका यह संचलन आदि कर्महै यह कहाहै इसके उत्तरमें यह कहाहै जगत्वाची होनेसे अर्थात् पुण्य पापरूप कर्मको यह कर्म और परवश कर्मफलभोक्ता प्रकृतिके परिणामके कारणरूप पुरुषको यहां वर्णन नहीं किया सम्पूर्ण अविद्याआदि दोषोंसे रहित जिससे अधिक अन्य नहींहै अतिशय असङ्ख्येय कल्याणगुणोंका निधि सब जगत्का एक कारण जो ब्रह्म है उसको वर्णन कियाहै किस हेतुसे ब्रह्मका वर्णन होना सिद्धहोताहै जिसका यह कर्म है इस वाक्यमें यह कर्म जगत्वाची होनेसे यह कहनेका तात्पर्य्य यहहै कि यह जो नेत्रसे देखाजाता विद्यमान जड चेतन मिलाहुआ सब जगत् है, परमात्मा प्रतिपादित होना इससे भी निश्चित होताहै कि बालाकिने आदित्यमण्डलस्थ आदि पुरुषोंको ब्रह्म कहकर चुप होरहा तब अजातशत्रुने कहा मृषा (मिथ्या) मतकहो और अविदित (न जानेहुये) ब्रह्मके जनानेके लिये यह कहा है कि, हे बालाके ! जो इन पुरुषोंका कर्त्ता है जिसका यह कर्म है इत्यादि पापपुण्य कर्मसम्बंधी आदित्यमण्डल आदिमें स्थित पुरुष व वैसे सजातीय पुरुष बालाकिहीको विदित थे जिसको वह न जानता था उस अविदित पुरुषके जनानेके लिये कहागया यह कर्म धर्म अधर्म व क्रियावाचीसे भिन्न जगत्वाची है जिसका यह सम्पूर्ण विचित्ररचना अनेक नियमयुक्त कर्म वा कार्य है उसको कारण व जाननेके योग्य कहा है क्योंकि इन पुरुषों का कर्त्ता जो कहा है सब जगत्का उत्पन्न करनेवाला ब्रह्मही पुरुषोंका कर्ता है यद्यपि पुरुष(जीव)के कर्मोंके हेतुसे व पुरुषके भोगके लिये जगत्की उत्पत्ति होती है परन्तु भोग्य पदार्थोंके भोगके उपकरण आदिका उत्पन्न करनेवाला आपही जीव नहीं होसक्ता अपने कर्मअनुसार ईश्वरसे उत्पन्न किये हुयोंको भोग करता है और अन्य पुरुषोंका कर्त्ता भी नहीं होसक्ता और प्राण जड जैसा ऊपर कहागया है जीवका उपकरणमात्र परमेश्वरके नियमसे शरीरमें नियत कार्यमें प्रवृत्त होता है आपसे कुछ नहीं करसक्ता इससे जीवआदिका वर्णन प्रसंगमें उपयोगी होनेसे वर्णन कियागया है वेदान्तमें ब्रह्मही मुख्य कारण होना व जाननेके योग्य कहागया है ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

अनु०—जीव व मुख्य प्राणके लिङ्ग (लक्षण) से नहीं है अर्थात् परमात्माका प्रतिपादन नहीं है जो ऐसा कहा जावे तौ इसका व्याख्यान पूर्वही कियागयाहै ॥ १७ ॥

भाष्य—जो यह कहा जावे कि, जीव व मुख्यप्राणके लक्षण बालाकि व अजातशत्रुके संवादमें कहेहुये वाक्योंमें पायेजाते हैं, इससे जीव व मुख्यप्राणही-का प्रतिपादन है ब्रह्मका नहींहै तौ इसका व्याख्यान कियागया है अर्थात् प्रथमपाद में **जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यात्** इत्यादि अर्थ—जीव व मुख्यप्राण के लक्षणसे नहींहै ऐसा माना वा कहाजावे नहीं उपासनाके त्रिविध होनेसे इत्यादि इस सूत्रमें इस विषयका व्याख्यान पूर्वही किया गया है वही यहां समझना चाहिये, उक्त व्याख्यानमें यह प्रतिपादन कियागया है कि, जहां विचारसे आदि व अन्तवाक्य ब्रह्मपर है यह निश्चितहो वहां अन्यके लक्षण ब्रह्महीके साथ योजित करके वर्णन के योग्य मानना चाहिये इस प्रकरण में भी उपक्रममें (आरंभमें)मैं तुमसे ब्रह्मको वर्णन करताहूं यह कहा है इसमें ब्रह्मही के उपदेशका आरंभ है मध्यमें जिसका यह कर्म है अर्थात् जगत् कर्म है यह कहनेमें सम्पूर्ण जगत्का एक कारण ब्रह्मही कहागया है उपसंहारमें (अन्त में) यह कहा है **सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद** अर्थ—(सर्वान् पाप्मनः अपहत्य) सब पापोंको नाशकरके (सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं) सब प्राणियोंके मध्यमें श्रेष्ठता (च) और (स्वाराज्यम् आधिपत्यम परिएति) स्वाराज्य व आधिपत्यको प्राप्त होता है अर्थात् सब प्राणियोंसे श्रेष्ठ स्वतंत्र राजा व सबका अधिपति होता है (यः एवम् वेद) जो इसप्रकारसे जानता है अर्थात् ब्रह्मको जानता है अतिशय फल ब्रह्मज्ञानका वर्णित होनेसे इस वाक्यका भी ब्रह्मपर होना निश्चय होनेसे जीव व मुख्यप्राण के लक्षणयुक्त वाक्य भी ब्रह्महीपर मानकर ब्रह्मही विषयमें वर्णनके योग्य हैं जैसे पूर्वही उक्त सूत्रके व्याख्यानमें तीन प्रकारकी उपासना होनेके द्वारा जीव व मुख्यप्राण लक्षणयुक्त वाक्योंका ब्रह्मपर होना कहागया है ऐसेही इसप्रकरणमें भी जो यह वर्णन किया है **यदा सुप्तः स्वप्नं न कथञ्चन पश्यति अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति** इसमें प्राण शब्दसे मुख्य प्राणको नहीं कहा प्राण शरीरवान् ब्रह्मको मानकर लाक्षणिक अर्थसे ब्रह्महीको प्राण कहा है अर्थ इस वाक्यका ऐसा ग्राह्य है कि, (यदा) जब (सुप्तः) सोयाहुआ (कथञ्चन स्वप्नं न पश्यति) किसी प्रकारका कोई स्वप्न नहीं देखताहै (अथ अस्मिन् प्राणे एव एकधा भवति) अथ अर्थात् अच्छेप्रकारसे सोनेपर

इस प्राणहीमें अर्थात् दिव्यदृष्टिसे प्रत्यक्ष दृश्यमान इस प्राणशरीरक प्राणके प्राण ब्रह्महीमें मिलकर एकधा अर्थात् एकसा वा एक स्वरूपके समान होता है इससे ब्रह्मही का प्रतिपादन है प्राणशब्द प्रकरणमें ब्रह्मही वाचक है अब जीवलिङ्ग जो वाक्य हैं उनका ब्रह्मपर होना कैसे सिद्ध होता है यह वर्णन करते हैं ॥ १७ ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

अनु०–अन्यहीके अर्थ कथन है यह प्रश्न व व्याख्यानसे जैमिनि मानते हैं और ऐसेही एके अन्य भी मानते हैं ॥ १८ ॥

भाष्य–कथन शब्द व मानते हैं यह क्रियापद सूत्रमें शेष है आशयसे सूत्र के वाक्य पूर्ण होनेकेलिये वाक्यार्थमें ग्रहण कियेजातेहैं अन्यहीके अर्थ अर्थात् जीवसे अन्य जो ब्रह्म है उसके अर्थ अर्थात् उसके स्वरूपबोध करानेके अर्थ जीवका कथन वा विचार है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं क्यों ऐसा मानते हैं प्रश्न व व्याख्यानसे अर्थात् प्रकरणमें जो प्रश्न व व्याख्यान है उनसे ऐसा निश्चित होनेसे और ऐसाही प्रश्न व व्याख्यानसे एके अर्थात् एक अन्यशाखावाले भी मानते हैं प्रश्न व व्याख्यान ब्रह्मज्ञानके विषयमें इस प्रकारसे है कि, बालाकि व अजातशत्रु सोतेहुये पुरुषके पास आये अजातशत्रु सोतेहुये के प्राणको सम्बोधन करके कहा कि हे **बृहत्पाण्डुरवासः सोमराजन्**, परन्तु सुप्तके प्राणने न सुना न कुछ जाना तब यष्टिको (छड़ीको) मारकर उठाया जागनेपर वह सब सुनने जानने लगा इससे अजातशत्रुने बालाकिको यह जनाकर कि, प्राणसे जीव भिन्न पदार्थ है क्योंकि सोतेमें प्राणवायु जागतेही के समान प्रवृत्त था परन्तु कुछ जाननेमें समर्थ न हुआ जीवसे भी भिन्न परमात्माको जनानेके लिये अर्थात् परमात्माका बोध करानेके लिये यह प्रश्न किया **क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्व वा एतदभूत् कुत एतदगात्** अर्थ–हेबालाके ! (एतत्) यह अर्थात् यह शयन जैसा होवे इसमें (एषः पुरुषः) यह पुरुष अर्थात् जीव (क्व अशयिष्ट) किसमें शयनकिया (एतत् अर्थात् एतत् शयनं यथा स्यात् तथा यद्वा सुब्व्यत्ययेन एततकोऽर्थः एतस्मिन् अर्थात् एतस्मिन् शयने एषः पुरुषः क्व अभूत्) यह शयन जैसा हो वैसा यह पुरुष कहां गया अथवा इस शयनमें यह पुरुष कहां हुआ अर्थात् कहां गया (कुतः एतत् अर्थात् एतत् आगमनम् जागरणम् एषः पुरुषः कुतः अगात्) यह आगमन अर्थात् जागना किस हेतुसे होताहै यह पुरुष कहांसे आया अर्थात् जागनेमें कहां से

---

१ श्रेष्ठ गुण होनेसे बड़ा मानकर प्राणको बृहत् कहा है और प्राणके वस्त्र व शरीरके समान जल कहागया है और जलका रंग शुक्ल है शुक्लवस्त्रवाला कहनेके आशय से पाण्डुरवासः व चन्द्रमाके साथ सम्बन्ध होनेसे सोमराजन् प्राणको कहा है ।

आया इसके उत्तरमें ऐसा व्याख्यान किया है **यदा सुप्तः स्वप्नं न कथञ्चन पश्यति अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति स यदा प्रबुध्यते एतस्मादात्मनः प्राणाः प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोका यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते** अर्थ-(यदा सुप्तः कथञ्चन स्वप्नं न पश्यति) जब सोताहुआ किसीप्रकारका स्वप्न नहीं देखताहै (अथ) सुप्तहोनेपर (अस्मिन् प्राणे एव एकधा भवति) इस प्राणहीमें अर्थात् प्राणशरीरक ब्रह्महीमें मिलकर एकसा अर्थात् एकऐसा होताहै (सः यदा प्रबुध्यते) वह सोताहुआ जब जागता है तब (एतस्मात् आत्मनः) इस आत्मासे (प्राणाः प्राणेभ्यो देवाः देवेभ्यो लोकाः) प्राण प्राणोंसे देवता (इन्द्रियां) देवताओं (इन्द्रियों) से लोक अर्थात् विषयज्ञान (यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते) अपने नियत स्थानमें स्थित होते हैं यह वर्णन जिसमें सुषुप्तिमें जीव प्राप्त होता है फिर जागने में उससे पृथक् हो प्राण व इन्द्रिय आदि के संयोगविशेषमें आता है और प्राणआदि अपने यथानियत स्थानमें स्थित होते हैं जीव से भिन्न परमात्मा पर है अर्थात् परमात्माही के विषय में है ऐसेही अन्य श्रुतिमें कहा है यथा **सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्** अर्थ-हे सौम्य (प्रियदर्शन) (तदा) तब अर्थात् सुषुप्तिमें सोताहुआ (सता) सत् ब्रह्मके साथ (सम्पन्नः भवति) मिलता वा प्राप्त होता है (प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः) प्राज्ञ आत्मा अर्थात् परमात्मासे मिलाहुआ (न बाह्यं किञ्चन वेद न आन्तरं किञ्चन वेद) न बाहर के पदार्थोंको कुछ जानता है न अन्तरसम्बंधी पदार्थको कुछ जानता है सुषुप्तिका आधार होनेसे प्रसिद्ध प्राज्ञ जीवसे भिन्नपदार्थ परमात्मा है इससे प्रश्न व व्याख्यान वा उत्तरसे जीवका संकीर्तन (कथन) जीवसे भिन्नपदार्थ परमात्माहीके प्रतिपादन के लिये है यह निश्चित होता है जो यह कहागयाहै कि. प्रश्न व व्याख्यान जीवपर है नाडियां सुषुप्तिकी स्थान हैं इन्द्रियोंका समूह प्राणशब्दसे निर्दिष्ट जीवमें मिलकर एक रूप होता है यह अयुक्त है नाडियां स्वप्नकी स्थान हैं सुषुप्ति का स्थान जैसे कहागयाहै ब्रह्मही है ब्रह्मही में जीवकी व उसके उपकरण (उपकार) रूप वाक्आदि इन्द्रियोंके समूह की एकता व पृथक्ता प्राप्त होनेका वर्णन है क्योंकि एके वाजसनेयी भी इसी बालाकि व अजातशत्रुके संवादमें सुप्त विज्ञानमयसे (जीवसे) उसके आश्रय आधाररूप परमात्माको भिन्न वर्णन करतेहैं यथा **य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैतदभूत् कुत एतत् अगात्** अर्थ-यह जो विज्ञानमय पुरुष है यह कहां हुआ अर्थात् कहां गया और फिर कहांसे आया अर्थात् सुषुप्तमें कहां गया जागनेमें कहांसे आया यह प्रश्नकरनेपर उत्तरमें यह कहाहै **य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते** अर्थ-(यः एषः अन्तर्हृ-

१ वैदिक प्रयोगहोनेसे लिंगका व्यत्यय है एतत्को एषः समझनाचाहिये

दये) जो यह भीतर हृदयमें (आकाशः) आकाश है (तस्मिन् शेते) उसमें सोताहै यहां आकाशशब्द परमात्मावाचक है परमात्मामें आकाशशब्द अन्य श्रुतिमें प्रसिद्ध है यथा **दहरोऽस्मिन्नन्तर आकाशः** अर्थ—दहर है सूक्ष्मरूप से भीतर हृदयमें विद्यमान ब्रह्मको आकाश व दहर कहाहै इससे यहां जीवका संकीर्तन वा विचार उससे भिन्न परमात्माके जनानेके लिये है यह सिद्ध होताहै तिससे इस वाक्यमें पुरुषसे भिन्न सम्पूर्ण जगत्के कारण परब्रह्महीको जानने योग्य कहनेसे सांख्यमें कहागया पुरुष वा पुरुषअधिष्ठित प्रधानका कारण होना कहीं वेदान्तवाक्यों में प्रतीत नहीं होता ॥ १८ ॥

जीवात्मा व परमात्मामें से वाक्यके सम्बंध विचारनेसे परमात्माही का प्रतिपादन सिद्ध करनेमें सू० १९–२२ अधि० ६ ।

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

अनु०—वाक्यके अन्वय (योग वा मेल) से अर्थात् वाक्यके अवयवोंका परमात्माहीमें एकप्रकारका सम्बंध वा एकही समान मेल होनेसे ॥ १९ ॥

भाष्य—बृहदारण्यकमें **न वा अरे पत्युः कामाय इत्यादि** वर्णनसे याज्ञवल्क्यनें जो मैत्रयीको उपदेश कियाहै इसमें ज्ञेय (जाननेके योग्य) उपदेश्यको आत्माशब्दसे कहाहै परमात्मा वा ब्रह्म नामसे नहीं कहा इससे सांख्यमतवादी यदि आत्माशब्दसे सांख्यदर्शनमें उक्त पुरुषको उपदिष्ट होना मानें अथवा आत्माशब्दमात्रसे यह संशय होताहै कि जीव आत्माका उपदेश कियाहै वा परमात्माका परन्तु आदि मध्य व अन्तमें आत्माशब्द वर्णन कियेजाने व कोई विशेषशब्द परमात्माके निश्चय होनेका वर्णन न होनेसे पुरुष वा जीवहीको वर्णन कियाहै ब्रह्मका उपदेश नहींहै यह सिद्धान्त विदित होताहै इस संशय व भ्रमनिवारण व सत्यसिद्धान्तके लिये सूत्रमें यह कहाहै वाक्यके अन्वयसे अर्थात् पूर्वापर विचारनेसे परमात्माहीके साथ वाक्यके अवयवों वा वाक्योंका सम्बंध पायाजाताहै इससे परमात्मा ब्रह्महीका उपदेश है । अब इसका विशेष व्याख्यान यह है कि याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे यह कहाहै **" नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति इत्युपक्रम्य " " नवा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितमिति"** अर्थ—अरे मैत्रेयि(वै)यह प्रसिद्ध है कि (पत्युः कामाय) पतिके प्रयोजन के लिये (पतिः प्रियः न भवति)पति प्रिय नहीं होता अर्थात् भार्याको जो पति प्रिय होता है वह पतिके प्रयोजन वा हितके

लिये नहीं होता (आत्मनः तु कामाय) आत्माहीके कामके लिये अर्थात् प्रयोजन के लिये (पतिः प्रियः भवति) पति प्रिय होता है यह आदिमें कहकर और ऐसेही स्त्री पुत्र आदि सबको कहकर फिर सबके लिये यह कहा है (अरे वै सर्वस्य कामाय न सर्वं प्रियं भवति) अरे यह प्रसिद्ध व निश्चय है सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होता अर्थात् सब कोई किसी अन्यके प्रयोजन के लिये किसीको प्रिय नहीं होता (आत्मनः तु कामाय सर्वं प्रियं भवति) आत्माहीके प्रयोजनकेलिये सब प्रिय होताहै (अरे वै आत्मा द्रष्टव्यः) अरे निश्चयकरके आत्मा देखने अर्थात् विचारने व जाननेके योग्य है (श्रोतव्यः) सुननेके योग्य अर्थात् आचार्य व वेदसे सुननेयोग्य (मन्तव्यः) मानने योग्य (निदिध्यासितव्यः) निश्चयसे ध्यानकरनेके योग्य है (मैत्रेयि वै आत्मनः दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या विज्ञानेन) हे मैत्रेयि ! निश्चयसे आत्माके देखने सुनने मानने व ज्ञानहोनेसे (इदं सर्वं विदितं) यह सब विदित होता है इसमें यह संशय है वा होताहै कि, इसमें जीवात्माको देखने योग्य होना आदि कहाहै अथवा परमात्माको परन्तु वाक्यमें शब्दोंके अर्थ से जीवात्माही उपदेश किया गयाहै यह विदित होताहै क्योंकि आदि मध्य व अन्तमें जीवात्माही की प्रतीति होतीहै यथा आदि में पति स्त्री पुत्र धनआदि के प्रियहोनेके योगसे जीवात्माही ज्ञात होताहै मध्यमें भी **महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति** अर्थ-(विज्ञानघनः)विज्ञान रूपही अर्थात् विज्ञानरूपही जीवात्मा (एतेभ्यः भूतेभ्यः समुत्थाय) इन भूतोंसे उठकर अर्थात् कार्य कारणरूपसे उत्पन्न इन पृथिवी आदि भूतोंसे जन्म व शरीरको प्राप्तहोके जिन भूतोंसहित उत्पन्न होताहै (महत्भूतम् अनन्तम् अपारम्) व्यापक सत्य अन्तरहित अपार ब्रह्ममें (तानि एव अनुविनश्यति अर्थात् अनुसृत्य विनश्यति) उनहीके अनुसार नाशक्रम को प्राप्त हो उनके नाशहोनेपर नष्ट होताहै अर्थात् पृथिवीआदि अपने कारणमें सूक्ष्म व लयहोकर अदृश्य होनेके समान जीवात्मा सर्वात्मा परमसूक्ष्म ब्रह्ममें प्राप्त हो पृथक्ता ज्ञात न होनेसे सैन्धव लवण जलमें अदृश्य व समरूप होनेके समान अदृश्य होनेसे नाशको प्राप्त होताहै इसप्रकारसे उत्पत्ति व नाशवर्णनसे जीवहीका उपदेश ज्ञात होताहै तथा अन्तमें यह वर्णन है **विज्ञातारमरे केन विजानीयात्** अर्थ-(अरे विज्ञातारं केन विजानीयात्) अरे विज्ञाताको अर्थात् जाननेवालेको किससे जाने अर्थात् ज्ञाता जिसकारण वा इन्द्रियसे जानता है विज्ञेय पदार्थमें उसके नियुक्तहोनेसे सब पदार्थको जानताहै आत्मामें जिज्ञासा न होनेसे व करणके अन्य ज्ञेयमें नियुक्त होनेसे विज्ञाताको किससे किसकारणसे जाने, इससेभी ज्ञाता जीवही उपदिष्ट है यह विदित होताहै परमात्माका प्रतिपादन

नहींहै इसके निर्णय व उत्तरके लिये यह कहाहै वाक्यके अन्वयसे अर्थात् वाक्यके अवयवों का परमात्माहीमें अन्वय (एकसम सम्बंध वा मेल) होनेसे इस वाक्यमें वा प्रकरणमें ब्रह्महीका उपदेश निश्चित होताहै यथा याज्ञवल्क्यके यह कहनेपर कि, चाहें जितना धन हो धनसे मोक्षकी आशा नहीं है मैत्रेयीने यह कहाहै **येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि** अर्थ-(अहं) मैं (येन) जिससे अर्थात् तिस वित्त आदि से (अमृता) मोक्षको प्राप्त (न स्यां) न हूँगी (अहं तेन) मैं उससे(किं कुर्य्यां) क्या करूंगी (यत् एव) जौनहीं वस्तुको (भगवान् वेद) भगवान् आप जानते हैं (तत् एव) वही (मे ब्रूहि) मेरे लिये कहिये इस प्रकारसे मोक्षके उपाय न होनेसे धन आदिका अनादर करके मोक्षके उपायको प्रार्थना कियेहुये मैत्रेयीके लिये मोक्षके उपाय में वा मोक्षके निमित्त उपदेश कियागया आत्मा परमात्माही है क्योंकि, परमात्माहीके ज्ञान में वेदान्तमें मोक्षहोना वर्णित है यथा **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति** अर्थ-(तम् एव विदित्वा) उसीको जानकर (अतिमृत्यम् एति) मोक्षको प्राप्त होता है **तमेव विद्वानमृत इह भवति** अर्थ-उसीका जाननेवाला मुक्त होता है तथा **अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः** इत्यादि अर्थ-(अस्य महतः भूतस्य) इस प्रकृत अर्थात् जिसके विषयमें प्रकरण आरंभ कियागया है महान् अर्थात् व्यापक उत्कृष्ट भूतका अर्थात् अनादि पूर्वकालमें विद्यमान नित्यसत्यका (एतत् यत्) यह जो (ऋग्वेदः यजुर्वेदः) ऋग्वेद व यजुर्वेद है निश्वसित है अर्थात् श्वासके समान विना प्रयत्न साधारण प्रकट हुयेहैं इत्यादि वर्णन से नामरूप कर्म प्रपंच व अनेक विद्याका कारण कहनेसे परमात्माही जाननेयोग्य उपदेश कियागया है तथा **आत्मनो वा अरे दर्शनेन** अर्थ-अरे निश्चयसे आत्माके दर्शन (ज्ञान) से इत्यादि वर्णनसे एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होना जिसके ज्ञानसे कहा गया है वह सबका आत्मारूप परमात्माही ज्ञात होता है क्योंकि, सबका आत्मा सर्वव्यापक परमात्माही के ज्ञानसे सबका ज्ञान होना संभव है जीवात्मा वा प्रधान के ज्ञानसे सबका ज्ञानहोना संभव नहीं है क्योंकि, अचेतन प्रधान व प्रपंच में ज्ञानहीका अभाव होनेसे सबके विज्ञानका अभाव है जीवात्मा परवश अल्पज्ञ शरीरमात्र सम्बंधी के ज्ञानसे सबका ज्ञान होना मानने योग्य नहीं है एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होनाही सिद्ध करनेके लिये यह उपदेश किया है **इदं ब्रह्मेदं क्षत्रं** अर्थ-यह ब्राह्मण है यह क्षत्रिय है यह आदिमें कहकर **इदं सर्वं यदयमात्मेति** अर्थ-(यत् इदं सर्वम्) जो यह सब है अर्थात् सब जगत् है (अयम् आत्मा) यह आत्मा है इस प्रकारसे प्रत्यक्ष आदि से सिद्ध जड व चेतन मिश्रित इस सब जगत् प्रपञ्चको कहकर यह जो है यह आत्मा है ऐसा एक आत्मा होनेका उपदेश परमात्माहीका होसकाहै

जो यह कहाहै कि, पति भार्या पुत्र वित्त पशुआदि प्रियोंका सम्बंधी जीवात्मा आरंभमें खोजने जानने योग्य कहेजानेसे उसीके विषयमें यह उपदेश है यह युक्त नहीं है यद्यपि पतिआदि आत्माके प्रयोजनके लिये प्रिय होतेहैं इस वर्णन में जीवात्माका उपदेश विदित होता है परन्तु जीवात्माका वर्णन ब्रह्महीके जानने व उपदेशकरनेके आशयसे है अर्थात् जीवात्माके यथार्थज्ञान होनेसे परमात्माका ज्ञान होताहै क्योंकि, जीवात्मा व परमात्मा एकही जाति चेतन पदार्थ हैं इससे आत्मज्ञान मोक्षसाधन व परमात्मज्ञानका उपयोगी होनेसे आत्मा जाननेके योग्य कहागयाहै जीवात्माका ज्ञान आपही मोक्षके लिये उपाय नहीं है आदि में जीवात्मा को कहकर परमात्माके जाननेके विषयमें आत्मा शब्द परमात्मा-वाचक ग्रहणकरके उसीको जानकर मोक्षको प्राप्त होताहै ऋग्वेद आदिका कारण होना उस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होना आदि वर्णन कियाहै ऐसा वर्णन शरीरवान् अल्पज्ञ पराधीन जीवात्माके लिये नहीं होसक्ता इससे इस प्रकरण में जीवात्मावाची शब्दसे भी परमात्माहीको उपदेश इष्ट है आत्माशब्द जीवात्मा व परमात्मा दोनोंका वाचक है अब मतान्तरसे जीवशब्दसे परमात्माका कथन वर्णन करते हैं ॥ १९ ॥

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

अनु०–प्रतिज्ञाकी सिद्धिका लिङ्ग (चिह्न वा हेतु वा कारण) है यह आश्मरथ्यने माना है ॥ २० ॥

भाष्य–आत्मनो विज्ञानेन सर्वं विदितम् अर्थ–आत्माके विज्ञानसे (विशेष ज्ञानसे) सब विदित होता है इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिका जीवात्माको देखने जानने योग्य आदि कहना लिङ्ग है अर्थात् चिह्न वा हेतु वा कारण है अर्थात् आत्मज्ञान के हेतु वा द्वारा से परमात्माका ज्ञान होता है परमात्मा ज्ञात होनेसे सब विदित होता है आत्मज्ञानआदि कारण उपयोगी होनेसे आत्माका उपदेश परमात्माहीके ज्ञानके लिये है लिङ्ग शब्दका हेतु वा कारण अर्थ होनेमें यह वैशेषिक दर्शनका सूत्र प्रमाण है **हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्य-नर्थान्तरम्** अर्थ–हेतु अपदेश लिङ्ग प्रमाण व करण ये एकही अर्थके बोधक हैं लिङ्ग होना कहनेका आशय यह है कि, चेतन पदार्थ होनेमात्रके लक्ष्यसे आत्मा व परमात्मामें कुछ भेद नहीं है जैसे एक सजातीय पदार्थके जाननेसे अन्य सजातीय पदार्थ यद्यपि विशेषतायुक्त भी हों तथापि सजातीय होनेके साधर्म्यसे ज्ञात होता है यथा एक पटके जाननेसे पटत्व साधर्म्यसे अन्य पट बहुमूल्य व विचित्र होनेपर भी पटरूप तथा एक साधारण मनुष्यके ज्ञानसे ऐश्वर्यवान् मनुष्य राजाभी मनुष्यरूपसे विदित होताहै ऐसेही आत्माका ज्ञान होनेपर सर्वज्ञत्व सर्वशक्ति-मत्त्व आदि विशेषतायुक्त परमात्माका ज्ञान होताहै सर्वव्यापक परमात्माका ज्ञान होनेसे

अतिशय ज्ञानशक्ति होनेसे सर्व विदित होताहै इससे जीवात्माका ज्ञान होना प्रतिज्ञासिद्ध होनेका लिङ्ग है इसीसे प्रतिज्ञा सिद्ध होनेकेलिये जीवात्मा व परमात्माको तेज व चैतन्यमय पदार्थ होनेके अंशमें भेदरहित एक मानकर आत्माके उपदेशसे आरंभ कियाहै यह आश्मरथ्य आचार्यने मानाहै अर्थात् ऐसा आश्मरथ्यआचार्यका मत है हमारे विचारसे इस सूत्रका ऐसा व्याख्यान निश्चित होताहै कोई आचार्य इसका व्याख्यान यह करतेहैं कि, आत्माके जाननेसे सब विदित होताहै इस प्रतिज्ञाकी सिद्धिका यह जो जीवात्मावाची शब्दोंसे परमात्माका वर्णन है लिङ्ग है यह आश्मरथ्यआचार्यने मानाहै आत्मा व परमात्मामें कार्यकारण सम्बंध है जो आत्मा परमात्माका कार्य होनेसे परमात्माही पदार्थ न होता तो उससे भिन्न होनेसे परमात्माके विज्ञानसे भी आत्माका ज्ञान न होता **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** अर्थ-(वै) निश्चयसे (इदं) यह सब (अग्रे) आगे सृष्टिसे पूर्वही (एक आत्मा एव) एक आत्माही (आसीत्) था ऐसे वर्णनसे सृष्टिसे पहिले एकही होनेका निश्चय होनेसे और **यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ति सरूपाः तथाक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति** अर्थ-हे सौम्य ! (यथा) जैसे (सुदीप्तात् पावकात्) अच्छे प्रज्वलित अग्निसे (सहस्रशः विस्फुलिङ्गाः) सहस्रों चिनगारियां वा तिनगे (सरूपाः) समान रूपवाले (प्रभवन्ति) उत्पन्न होतेहैं (तथा) वैसेही (अक्षरात्) नाशरहित वा व्यापकब्रह्मसे (विविधाः भावाः) अनेक जीव अन्यपदार्थ (प्रजायन्ते) उत्पन्न होतेहैं (च) और (तत्र एव) इसीमें (अपि यन्ति) लयको प्राप्त होतेहैं इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मसे जीवोंकी उत्पत्ति व उसीमें उनका लय होना ज्ञातहोनेसे ब्रह्मके कार्यहोना सिद्ध होनेसे जीवोंकी ब्रह्मके साथ एकता विदित होती है इससे जीव शब्दसे ब्रह्महीका संकीर्तन (कथन) है परन्तु यह जो जीवका कार्य होने व उत्पन्न होनेका वर्णन है यह औपचारिक अर्थात् लाक्षणिक है मुख्यअर्थसे कार्यहोना मानना ग्राह्य नहीं होसक्ता क्योंकि कार्यरूप उत्पन्न माननेमें जीव उत्पत्ति व नाशवान् ठहरेगा श्रुतिमें जीव जन्ममरणरहित वर्णित है यथा **न जायते म्रियते वा विपश्चित् इत्यादि** अर्थ-यह विपश्चित् अर्थात् ज्ञानवान् आत्मा न उत्पन्न होताहै न मरताहै इत्यादि इस श्रुतिके विरुद्ध होगा उत्पत्तिरहित होनेसे प्राचीन कर्मफल भोगके लिये जगत्की सृष्टि अंगीकार कीजातीहै अन्यथा विषम सृष्टिकी उत्पत्ति असंभव होगी ब्रह्मके कार्यरूप जीवका ब्रह्म होनारूप मोक्ष आकाश आदिके समान शून्यरूप होगा। उसके लिये उपाय विधान अनुष्ठान करना व्यर्थ होगा घटके समान कारणसे होने व विनाशरूप होनेसे मोक्षका पुरुषार्थ होना सिद्ध न होगा इससे अग्निसे विस्फुलिंगोंके निकलनेका दृष्टान्त केवल पृथक् होकर स्थितहोनेमें ग्रहण करनाचाहिये अर्थात् सब जीव व महत्तत्त्व पंचभूत आदि ब्रह्ममें लय होकर

उत्पन्न होनेके समयमें इसप्रकारसे निकलते हैं जैसे अग्निसे विस्फुलिंग दृष्टान्त एक अंशमात्रमें ग्रहण कियाजाताहै ब्रह्मके अखण्ड निरवयव होनेसे अग्निके अंश-रूप तिनगोंके समान मानना युक्त नहींहै और तिनगे भी तेजयुक्त तप्त सावयव काष्ठआदि द्रव्यके अंश वा अवयव हैं केवल तेजके खण्ड नहीं समझे जाते जीवात्माकी उत्पत्ति व प्रलयके विषयमें आगे वर्णन कियाजायगा ॥ २० ॥

अब इसी विषयमें अन्य आचार्यके मतको वर्णन करते हैं—

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

अनु०—मरणे वा देहसे पृथक् होनेवालेका ऐसा होनेसे अर्थात् ऐसा परमात्मरूप होनेसे जीवका संकीर्तन है ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं ॥ २१ ॥

भाष्य—जीवात्माका संकीर्तन (कथन) व शब्द मानते हैं यह क्रिया सूत्रमें शेष है कार्य व कारण भावसे जीवात्मा व परमात्माको मुख्य अर्थसे मानना उक्त हेतुओंसे युक्त न जानकर अथवा उक्त आचार्यके मतकी अपेक्षारहित केवल अपने ही विचारसे औडुलोमि आचार्य यह मानतेहैं कि, छान्दोग्यउपनिषद्की इस श्रुति-प्रमाणसे **एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते** अर्थ—(एषः सम्प्रसादः) यह सम्प्रसन्न अर्थात् दुःख-रहित प्रसन्न सुषुप्त वा मुक्त जीवात्मा (अस्मात् शरीरात्) इस शरीरसे अर्थात् चेष्टा इन्द्रिय व अर्थोंके आश्रयरूप शरीरसे (समुत्थाय) उठकर अर्थात् पृथक् होकर (परं ज्योतिः उपसम्पद्य) परंज्योतिरूप परमात्माकी समीपता अर्थात् मेलको प्राप्त होकर (स्वेन रूपेण) अपनेरूपसे अर्थात् इन्द्रिय व अन्तःकरण संघातरहित शुद्ध चेतनस्वरूपसे (अभिनिष्पद्यते) सिद्ध होताहै अर्थात् सब विषयविकारसे रहित ब्रह्मके समान शुद्ध चेतन निर्विकार होताहै तथा मुण्डकउपनिषद् की इस श्रुतिसे **यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्** अर्थ—(यथा) जैसे (स्यन्दमानाः नद्यः) बहतीहुई नदियाँ (नामरूपे विहाय) नाम व रूपको त्यागकर (समुद्रे) समुद्रमें (अस्तम् गच्छन्ति) अस्तको प्राप्त होतीहैं अर्थात् समुद्रमें लय होतीहैं (तथा) वैसही (विद्वान्) ज्ञानी (नामरू-पात्) नामरूपसे (विमुक्तः) रहित हो (परात्परं दिव्यं पुरुषम्) परसे पर पुरु-षको अर्थात् सब श्रेष्ठोंसे श्रेष्ठ दिव्य पुरुष परब्रह्मको (उपैति) प्राप्त होताहै शरी-रसे उठने वाले अर्थात् देह इन्द्रियोंसे पृथक् होनेवाले जीवका इसप्रकार शुद्ध चेतनरूप ब्रह्मभाव प्राप्त होनेसे जीवशब्दसे परमात्माका उपदेश है जैसे जलरूप नदियां एकही पदार्थ होनेसे समुद्र में मिलतीहैं ऐसाही जीव एकही चेतन पदार्थ होनेसे परमात्मामें मिलकर नामरूपकी भिन्नतासे रहित होताहै अब तत्त्वार्थ

निश्चित होनेके लिये यह विज्ञापन कियाजाताहै कि, इन श्रुतियोंका आशय जीवका ब्रह्ममें मिलकर सर्वथा एक होजानेका समझना अयुक्त है क्योंकि पूर्व सम्बंधसे व युक्ति हेतुसे तथा शब्दोंके अर्थके विचारसे ऐसा होना सिद्ध नहीं होता इससे संसारी बद्ध अवस्थामें भिन्न व मुक्तअवस्थामें एक होना इस औडुलोमि आचार्यके मतको भी यथार्थ न समझकर अगले सूत्रमें काशकृत्स्न आचार्यके मतको महात्मा सूत्रकारने वर्णन कियाहै और उसको आपभी स्वीकार (अंगीकार) करके इति शब्द कहकर इस विचारको समाप्त कियाहै क्योंकि व्याख्यान वा सिद्धान्त कथनकी समाप्तिमें इतिशब्द प्रयुक्त होताहै उक्त श्रुतियोंमें जीव व ब्रह्मके एक होनेका वर्णन इस हेतुसे सिद्ध नहीं होता कि,छान्दोग्य में जो परम ज्योतिको प्राप्त होकर अपने रूपसे सिद्ध होना कहा है इस वाक्यका पूर्वभाग यह है **अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते एवमेष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् इत्यादि** अर्थ-(अशरीरः वायुः) वायु शरीररहित और (अभ्रं) मेघ (विद्युत्) ज्योतिलतारूप बिजुली (स्तनयित्नुः)गर्जित वज्ररूप बिजुली वा गाज (एतानि अशरीराणि) यह शरीररहित अर्थात् सूक्ष्मरूपसे आकाशमें मिलेहुये रूप व आकारसे रहित आकाशही के समान जो वायुआदि रहतेहैं (तत् कोर्थः तानि एतानि) वह यह आकाशरूप कहेगये (यथा) जैसे (अमुष्मात् आकाशात्) इस आकाशसे (समुत्थाय) उठकर (परंज्योतिः) परंज्योतिको (उपसम्पद्य) प्राप्त होकर अर्थात् उत्कृष्ट ग्रीष्मऋतुकी सूर्यकी ज्योति अर्थात् तापको प्राप्त होकर उससे कारणसे भिन्न भिन्न होकर वर्षासामग्रीरूप (स्वेन रूपेण) अपने रूपसे अर्थात् मेघ बिजुली आदि अपने २ रूपसे (अभिनिष्पद्यन्ते) प्रत्यक्ष प्राप्त वा सिद्ध होते हैं (एवम्) ऐसेही यह सम्प्रसन्न जीवात्मा अज्ञानदशामें शरीररूप रहताहै ब्रह्मके ध्यान व उपासनसे आकाशसे वायुआदिके समान इस शरीरसे उठकर अर्थात् पृथक् होकर परंज्योति ब्रह्मको प्राप्त होकर अपने शुद्ध ज्ञानमय निर्विकाररूपसे प्रकट होता है इस उत्तरभागका मूल व अर्थ पूर्वही लिखागया है इससे यहां भावअर्थ मात्र लिखागयाहै वायुआदिके दृष्टान्तमें वायुआदिको सूर्य्यके परंज्योतिकी प्राप्तहोकर परंज्योति वा सूर्यरूपही होना नहीं कहा किन्तु परंज्योतिको समीपता की प्राप्तिको उनके निजरूपकी प्रकटताको हेतु वर्णन कियाहै ऐसेही दार्ष्टान्तमें परंज्योति ब्रह्मकी समीपता व मेलसे सब विकाररहित आत्माके शुद्धरूपकी प्रकटता समझना चाहिये नदियोंके समुद्र होनेके दृष्टान्तमें यद्यपि एकरूप होना साधारण स्थूलदृष्टिसे विदित होताहै परन्तु विचारसे सर्वथा एकहोना सिद्ध नहीं होता अर्थात् केवल नेत्रसे एकहीरूप दृष्ट होनेसे एक होनेका बोध होता है क्योंकि, सजातीय पदार्थ मिलने में ऐसेही एकरूपसे दृष्ट होते हैं जैसे जो दो दीप ऐसे समीप रखदिये जावें कि,दोनों शिखा

परस्पर मिलजावें तो देखनेमें एकही शिखा ज्ञात होगी परन्तु परिमाण बढजायगा वास्तव में वह दोनों पृथक् रहती हैं प्रत्येक की पृथक् पृथक् शिखा पृथक् पृथक् अणुओंसे प्रकट हो पृथक् अणुओंसहित विद्यमान रहती हैं और दीपोंके भिन्न-करनेपर फिर दो पृथक् शिखा विदित होती हैं ऐसेही नदी व समुद्र आदिके मेलमें समझना चाहिये विशेष सामर्थ्य व प्रयत्नवान् योगी सिद्धपुरुषोंसे उनके पृथक्ता होना व उसका प्रत्यक्ष होना अनुमित है पृथक्ताका प्रत्यक्ष न होनामात्र ही एकता ज्ञातहोनेका हेतु है जो वस्तु प्रथम भिन्न है वह दूसरेमें मिलनेपर भी निजस्वरूपसे पृथक्ही रहती है और जिसका संयोग होता है उसका कालवि-शेष में समर्थ कर्तासे विभाग भी होता है तथा इस प्रकार विचार करनेसे भी सर्वथा एकहोना सिद्ध नहीं होता कि, यह जीवात्मा शरीरसंघात से पृथक् होनेसे अर्थात् मुक्त होनेसे पूर्वही जो ब्रह्मरूप नहीं था वह उसका पृथक् रूप स्वाभाविक था वा औपाधिक स्वाभाविक होनेमें स्वरूपके साथ भेदका योग होनेसे स्वरूप के विद्यमान रहनेमें भेदका नाश न होनेसे ब्रह्मभाव (ब्रह्मरूप होना) संभव नहीं होसक्ता यदि ऐसा माना जावै कि, भेदसहित स्वरूपही नष्ट होजाता है तो उसके नष्टही होजानेसे ब्रह्मरूप होना सिद्ध नहीं होसक्ता और पुरुषार्थ न होना आदि दोष प्राप्तहोनेका प्रसंग है औपाधिक (उपाधिसम्बंधी) होनेमें भी पहिलेही ब्रह्मही है इससे शरीर संघातसे रहित होनेवालेका ब्रह्मभाव होनेसे यह कहना युक्त नहीं होसक्ता क्योंकि, इस पक्षमें ब्रह्म व उपाधिसे भिन्न कोई अन्य वस्तु न होनेसे उपाधिसे निरवयव ब्रह्मके भेदआदि संभव न होनेसे उपाधिमात्रमें भेदकी प्राप्ति है औपाधिकभेद मिथ्या हो-नेसे पारमार्थिक न होनेसे शरीरत्यागमें किसका ब्रह्मभाव कहनेयोग्य है ? जो यह कहाजाय कि, अविद्याउपाधिसे तिरोहित (छिपाया वा प्रकाश निवृत्त किया गया) ब्रह्मके निजस्वरूपका होताहै तो नित्यमुक्त स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप ब्रह्मका अविद्या उपाधिसे तिरोधान संभव न होनेसे ऐसा नहीं होसक्ता. क्योंकि वस्तुका स्वरूप विद्यमान रहनेमें उसके प्रकाशके निवृत्त होजानेको तिरोधान कहतेहैं ब्रह्मको प्रकाशही वस्तुस्वरूप अंगीकार करनेमें तिरोधानका अभाव अथवा स्वरूपका नाशहोगा इससे नित्य आविर्भूत (प्रकट) स्वस्वरूप होनेसे उत्क्रांति में (मरणेमें) उसके ब्रह्मभावमें कुछ विशेष नहींहै इससे शरीरत्याग वा शरीरसे रहित होनेवालेका इस शरीरसे उठकर ब्रह्मभाव कहना व्यर्थ है पूर्वही जो रूप नहीं था उसको ब्रह्म होनेकी प्राप्ति को श्रुति में नहीं कहा पूर्व जो सिद्धरूप है उसीके आविर्भाव को कहा है यही आगे चतुर्थ अध्या-यमें महात्मा सूत्रकारने **सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्** अर्थ--प्राप्त होकर आविर्भाव (प्रकटता) होतीहै अपने रूपसे, यह शब्द होनेसे अर्थात् अपने रूपसे प्रकट होता है ऐसा शब्द कहनेसे जीवहीका शुद्ध स्वरूप प्रकट

होता है किसी अन्यका रूप नहीं होता न नष्ट होताहै इससे ऐसा मत युक्त होना स्वीकार न करके अब काशकृत्स्नका मत वर्णन करते हैं ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

अनु०—परमात्माकी अवस्थितिसे यह काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं ॥ २२ ॥

भाष्य—परमात्माशब्द सूत्र में शेष है जीवात्मासे आत्मारूपसे परमात्माकी अवस्थितिसे अर्थात् अपने शरीररूप जीवात्मामें आत्मारूप परमात्माके स्थित होनेसे शरीर शरीरीमें अभेद भाव मानके जीवशब्दसे ब्रह्मका प्रतिपादन किया है यह काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं जीवसहित शरीरमें प्रवेश करनेसे जीवात्मामें आत्मारूपसे स्थित होनेमें यह श्रुतियां प्रमाण हैं **"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"** **"यं आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः। योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः"** **"अन्तः प्रविष्टा शास्ता जनानां सर्वात्मेति"** अर्थ—(अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य) इस जीवरूप शरीरसे पूर्वकल्पमें प्रवेश करनेके समान अथवा प्रत्येक शरीरमें प्रवेश करके अर्थात् पूर्वकहेहुये तेज जल पृथिवी भूतोंमें प्रवेशकरके (नामरूपे व्याकरवाणि) नाम व रूपको विस्पष्टकरूं अर्थात् सत् शब्दसे वर्णित परमात्माने ईक्षा किया कि, यह जो पूर्वकल्पमें जीव था और कर्मसंस्कारयुक्त प्रलय समय से अबतक मुझमें प्राप्त है इस शरीरसे तेज जल पृथिवीमें प्रवेश करके अनेक प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न करके नाम व रूपको प्रकट करूं आत्माशब्द शरीरवाचक है इससे जीवेन आत्मनाका अर्थ जीव शरीरसे वा जीवरूप शरीरसे होता है और ऐसा अर्थ ग्रहण करना युक्त है क्योंकि, **य आत्मनि तिष्ठन्** इत्यादि इस श्रुतिसेभी जीवात्मा परमात्माका शरीर होना सिद्ध होताहै अनु उपसर्गका अर्थ सादृश्य व वीप्साका भी है इससे पूर्वकल्पके सदृश वा प्रत्येकशरीरमें प्रवेशका अर्थ ज्ञात होताहै परमात्मा सर्वव्यापक है इससे उसका किसी स्थानसे जाना वा आना प्रवेशकरना वाच्य नहीं होसक्ता क्योंकि जहां न हो वहां जावै वा आवे सो कहीं उसका अभावही नहीं है इससे यही अर्थ यथार्थ ग्राह्य है कि,

---

१ यह छान्दोग्य उपनिषद्की श्रुति है ।

२ यह बृहदारण्यक की श्रुति है ।

३ व ४कहेहुये कहनेका आशय छान्दोग्यमें जहां वर्णन है वहां प्रथम तेज जल पृथिवीका और सत् कारण होनेका वर्णन प्रथम होआयाहै उसके सूचित करनेसे है ।

जीवरूपशरीरसे प्रवेश करके नाम रूपको विस्पष्ट करूं क्योंकि अपने ब्रह्मरूपसे तो सबमें विद्यमानही था परन्तु जीवशरीरसहित भौतिक शरीरों में प्रवेशकरके सृष्टिकी रचना न किया था इससे ऐसा प्रवेशकरके सृष्टिकी ईक्षा किया जैसे शरीरविशेषसे विशेष जीवका ज्ञान लोकमें होता है और शरीरहीके रूप व नामसे वह कहा वा समझा जाता है ऐसेही जीवरूप परमात्माके शरीर विशेषसे परमात्माकी पहिचान अर्थात् उसका ज्ञान होता है इसीसे जीवशरीरसे सब शरीरोंमें परमात्मा की स्थिति होनेसे जीवात्मा वाची शब्दसे परमात्माके उपदेशका आरंभ किया है और आगे भी वर्णन किया है जो इस व्याख्यात श्रुतिका अर्थ ऐसा कहते हैं कि, इस जीवही रूपसे प्रवेश करके नाम रूपका मैं व्याकरण करूँ अर्थात् परमात्माने ईक्षा किया कि, जीव ही रूप होकर सृष्टिकरूँ और आपही जीव बनकर नामरूप को उत्पन्न किया ऐसा अद्वैतमत व श्रुतिका अर्थ अयुक्त है क्योंकि इस शब्दके कहनेसे प्रथमही किसी दूसरेका होना विदित होता है क्योंकि किसी अन्य निकटवर्ती के लिये इस शब्दका प्रयोग होता है आपही अपने लिये कोई इस शब्दका प्रयोग नहीं करता दूसरे ऐसा अर्थ कहनेसे सर्व व्यापकका प्रवेश करना उक्त हेतुसे असङ्गत होगा तीसरे अनुउपसर्गका कहना निरर्थक है हमारे अर्थ में अनुकृति अनुभूति आदि शब्दोंमें सार्थक होनेके समान अनुप्रविश्यमें भी सार्थक है अब **य आत्मनि तिष्ठन्** इत्यादिका अर्थ यह है (यः) जो (आत्मनि) आत्मामें अर्थात् जीवात्मामें (तिष्ठन्) रहते हुये (आत्मनः अन्तरः) जीवात्माके भीतर है (यं) जिसको (आत्मा न वेद) जीव नहीं जानता है (यस्य) जिसका (आत्मा शरीरम्) जीवात्मा शरीर है (यः अन्तरः) जो भीतर विद्यमान (आत्मानं यमयति) आत्माको नियममें रखता है (सः अन्तर्यामी अमृतः) वह अन्तर्यामी अमृत अर्थात मृत्युरहित (त आत्मा) तेरा आत्मा है यह शरीरधारी जीवको शरीर कहकर अब कारण अवस्थामें शरीर होना जनानेके लिये यह वर्णन किया है (यः) जो (अक्षरम् अन्तरे सञ्चरन्) अक्षरके भीतर अर्थात् अविनाशी कारण अवस्थामें प्राप्त देह आदिरहित जीव है उसके भीतर प्राप्त रहता उसको नियत रखता है (अक्षरं यस्य शरीरं) अक्षर जिसका शरीर है (यम्) जिसको (अक्षरं न वेद) अक्षर नहीं जानता है अक्षर शब्दका अर्थ जो प्रकृतिका ग्रहण किया जावे तो प्रकृतिमें भी इस वाक्यका अर्थ लग सक्ता है (एष सर्वभूतान्तरात्मा) यह सब भूतोंका अन्तरात्मा (अपहतपाप्मा) पापरहित (दिव्यः एकः देवः नारायणः) दिव्य अर्थात् प्रकाशमान एक देव नारायण है (अन्तः प्रविष्टः) भीतर प्रविष्ट (जनानां शास्ता) प्राणियोंका शासनकर्ता (सर्वात्मा) सबका आत्मा है इसप्रकारसे अपने शरीररूप जीवात्मामें आत्मारूप होनेसे ब्रह्मकी जीव और सब

जडपदार्थमें तादात्म्य अर्थात् वही आत्मा होना अर्थात् जीवका तथा अन्यपदार्थका सबका ब्रह्महो आत्मा होना प्रतिपादन करनेमें परब्रह्मको पापरहित होना सर्वज्ञ होना आदि वर्णनकरनेवाली और अज्ञानी जीवका शोकयुक्त होना और ब्रह्मके उपासनसे मोक्ष कहनेवाली और जगत्की उत्पत्ति व जगत्का नाश होना वर्णन करनेवाली और जगत्का ब्रह्मतादात्म्य उपदेशकरनेपर जो श्रुतियां हैं सब अच्छे प्रकारसे उपपादित होती हैं अर्थात् विरोध व असङ्गति दोषरहित व यथोचित अर्थसे सङ्गतिको प्राप्त वर्णित होतीहैं इससे यही मत स्वीकारके योग्य है अब प्रकरणमें उक्त वाक्यों का संक्षेपसे सारांश वर्णन यह है कि, मोक्षका उपाय मैत्रेयीके पूंछनेपर याज्ञवल्क्यने **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इत्यादि** अर्थ— अरे मैत्रेयि आत्मा निश्चयसे देखने के योग्य अर्थात् जानने वा विचारनेके योग्य है इत्यादि वर्णनसे परमात्माका ज्ञान व उपासन मोक्ष होनेका उपाय कहकर आत्माके ज्ञान होनेसे सब ज्ञात होता है इत्यादिसे उपास्यका लक्षण और दुन्दुभीआदिके बजानेमें दुन्दुभी आदिके शब्द दुन्दुभी आदिही ग्रहणकरनेसे दुन्दुभी आदिहीमें गृहीत होने बाहेर अन्यत्र उसके शब्द गृहीत न होनेके दृष्टान्तोंसे उपासनाके उपकरण रूप (उपकारके हेतु) मनआदि करणोंका नियम करना सामान्यसे कहकर वह जैसे ओदे (न सूखे हुये) ईंधनकी अग्निसे धूम व चिनगारी ज्वाला निकलती हैं ऐसेही परमात्मासे ऋग्वेदआदि इत्यादि और जैसे सब जलोंका एक परमआश्रयस्थान समुद्र है इत्यादिसे उपास्य परब्रह्मको सम्पूर्ण जगत्का कारण व आधार होना और सम्पूर्ण विषय प्रवृत्तिका मूल जो इन्द्रियाँ हैं उनका नियमकरनको अर्थात् इन्द्रियोंको विना नियममें रक्खे मनआदिकी चंचलतासे उपासना नहोसकनेसे इन्द्रियोंको नियममें रखनेको विस्तारसे उपदेश करके मोक्षमें जलमें सैन्धवलवण मिलकर अप्रत्यक्ष लीनहोनेके समान जीवका ब्रह्ममें लीनहोना और सब जगत् ब्रह्मात्मकहोनेसे ब्रह्मसे भिन्न अनेकको जानना अज्ञानरूप होना अज्ञानसे रहित सब जगत्को ब्रह्मात्मक अनुभव करतेहुयेको ब्रह्मसे पृथक् कोई वस्तु नहोनेसे भेद देखनेका निषेध करके जिससे सबको जानता है उसको किससे जाने अर्थात् किसीसे नहीं अर्थात् किसी इन्द्रियद्वारा जाननेयोग्य नहोनेसे परमात्माके जाननेकी कठिनता प्रतिपादन करके चिदचित् अर्थात् चेतन व जडवस्तुसे विलक्षणही सब जगत्का आत्मारूप अवस्थित है इससे शरीररूप जड चेतन वस्तुओंमें प्राप्त दोषोंका योग ब्रह्ममें नहींहोता यह कहकर हे मैत्रेयि जिस विज्ञाताके लिये यह कहागयाहै कि विज्ञाताको किससे जानै उसका जानना इतनाही मोक्ष होनाहै किससे जानै कहनेका आशय यह है कि समस्तपदार्थसे विलक्षण सम्पूर्ण जगत्का एककारणरूप सबका विज्ञाता पुरुषोत्तम ब्रह्मको उक्त प्रकारकी उपासना विना किससे अर्थात् किस उपाय वा किसप्रकारसे जानै यह उपासनही मोक्षका उपायहै ब्रह्मकी प्राप्तिही मोक्ष है यह वर्णन किया है इससे परब्रह्महीका इसवाक्य

प्रबंधमें प्रतिपादन है यह वाक्योंके अन्वयसे सिद्ध होनेसे परब्रह्मही जगत्का कारण है वही पुरुष है जिसके आश्रित होकर प्रकृतिभी कारण होतीहै यह सिद्धान्त है ॥ २२ ॥

यह अधिकरण समाप्त हुआ अब ब्रह्मके उपादान व निमित्तकारण होनेके वर्णनमें सूत्र २३ से २८ तक अधि० ७ ।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

अनु०–प्रकृति (उपादान) भी है प्रतिज्ञा व दृष्टान्तकी बाधा वा रोक न होनेसे ॥ २३ ॥

भाष्य–जन्माद्यस्य यतः इत्यादि जन्मआदि अर्थात् जन्म स्थिति व प्रलय इसके अर्थात् इस जगत्के जिससे होतेहै इत्यादि वर्णनसे ब्रह्मको जगत्का कारण होना श्रुतिमें प्रतिपादित है इसमें यह संशय होता है कि जैसे मृत्तिका घटआदिका व सुवर्ण कुण्डलआदिका उपादान कारण है ऐसेही ब्रह्म जगत्का उपादान कारण है अथवा कुम्हार व सोनारके समान निमित्त कारण है श्रुतिमें यथा **स ईक्षाञ्चक्रे स प्राणमसृजत्** अर्थ–उसने ईक्षा किया उसने प्राणको उत्पन्न किया इत्यादिसे ईक्षापूर्वक कर्ता होना वर्णित होनेसे निमित्तही कारण होना विदित होता है क्योंकि ईक्षापूर्वक कर्ता होना निमित्तकारण ही का सिद्ध होताहै उपादानमें ऐसा होना संभव नहीं है इससे यह संसार कार्य है ब्रह्म निमित्तकारण है तथा यह भी निमित्तकारण होनेका हेतु है कि, यह जगत् स्थूल अवयवसंयुक्त अचेतन अशुद्ध अंशसहित देखाजाता है उपादानकारण होनेमें ब्रह्म व जगत् के रूपमें समानता होना चाहिये क्योंकि सुवर्णकुण्डल व मृत्तिका घट आदि दृष्टान्तों में उपादानकारण व कार्यका समानरूप होना विदित होता है ब्रह्मका जगतसे विलक्षण होना श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध है यथा **निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्** अर्थ–(निष्कलम्) कलारहित अर्थात् निरवयव (निष्क्रियं)क्रियारहित अर्थात् अचल अपनीमहिमामें प्रतिष्ठित (शान्तम्) परिणाम वा विकाररहित (निरवद्यम्) दोषोंसे रहित (निरञ्जनम्) निर्लेप अथवा अंजनतुल्य अंधकारसे रहित प्रकाशस्वरूप वा अंधकाररूप अविद्यासे रहित ज्ञानस्वरूप है इससे ब्रह्म निमित्तही कारण है जड अवयवसहित कार्यरूप जगत्का उपादानकारण परिणामको प्राप्तहोनेवाली जडप्रकृतिही स्वीकार करनेके योग्य है इस संशयके निवारण व निर्णयकेलिये सूत्रमें यह कहाहै कि प्रकृतिभी है प्रतिज्ञा व दृष्टान्तका उपरोध (बाध)न होनेसे तात्पर्य यह है की निमित्तकारण है इसमें तौ संदेहही नहीं है परन्तु प्रकृति अर्थात् उपादानभी है किस प्रमाणसे उपादान होना सिद्ध होता है

१ यह श्वेताश्वतर उपनिषदकी श्रुति है ।

प्रतिज्ञा व दृष्टान्तका बाध नहोनेसे अर्थात् उपादान होनेके प्रमाणमें जो प्रतिज्ञा व दृष्टान्त श्रुतिमें कहाहै उसमें बाधा वा विरोध न होनेसे. प्रतिज्ञा यह है **तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति** यह श्रुति छान्दोग्यउपनिषद्की है उसमें पिता व पुत्रसम्बंधी ब्रह्मके उपदेशमें एक आख्यायिका (कथा) है उसीके वर्णनमें श्वेतकेतुके पिताने पुत्रको विद्याका अभिमानी जानकर ब्रह्मके ज्ञानविषयमें यह प्रश्न कियाहै जो श्रुतिमें कहाहै श्रुति प्रश्नविषयमें है अर्थ यह है कि, पिताने यह प्रश्न कियाहै कि, हे श्वेतकेतो तूने (तम् आदेशम्) उस उपदेशको (अप्राक्ष्यः) पूंछा है अर्थात् विद्यापढानेवाले उपदेशकर्त्ता गुरुसे पूंछाहै (येन) जिससे (अश्रुतं श्रुतम्) जो नहीं श्रुत (सुनाहुआ) है वह श्रुत (भवति) होता है (अमतम् मतम्) जो मत नहीं है वह मत अर्थात् मानाहुआ (अविज्ञातं विज्ञातम्) जो विज्ञात अर्थात् जानाहुआ नहीं है वह विज्ञात होता है इस प्रतिज्ञासे अर्थात् ब्रह्म ऐसा है कि, जिसके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है इस प्रतिज्ञासे उपादानही कारण होना सिद्ध होता है क्योंकि उपादान ही कारण होनेमें उसके जाननेसे सबका ज्ञान होना संभव है यथा मृत्तिका उपादानके कार्य घटआदि व सुवर्ण उपादानके कार्य कुण्डल (बारीया बाला अथवा झूमक कटक (कड़ा) वा पहुँची)केयूर(बजुल्ला अथवा बाजूबन्द आदि जो भूषण भुजामें धारण कियाजाय) आदि आभूषण उपादानकारणहीके रूप युक्त होनेसे उपादानके रूपके ज्ञानसे जाने जाते हैं उपादानकारण व कार्य वास्तवमें अर्थात् कार्य व कारण सम्बंधी द्रव्यजातिमात्रके लक्ष्यसे भिन्न नहीं होते निमित्तकारण कार्यसे भिन्न होताहै यथा कुह्मार व सोनार इससे कुम्हार व सोनार निमित्तकारणके ज्ञानसे मृत्तिका व सुवर्णसे उत्पन्नपदार्थोंका ज्ञान नहींहोता ऐसेही विना उपादानकारण स्वीकार किये ब्रह्मके ज्ञानसे सबके ज्ञान होनेकी प्रतिज्ञा नहीं होसक्ती तथा उपादान कारणके होनेमें दृष्टान्त भी है यथा श्वेतकेतुके यह प्रश्न करनेपर कि वह उपदेश कैसाहै कि जिससे सबका ज्ञान होताहै और कैसे उनके जाननेसे सब ज्ञात होताहै पिताने यह कहा है **यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्** अर्थ– हे सौम्य अर्थात् प्रियदर्शन (यथा) जैसे (एकेन मृत्पिण्डेन) एकही मृत्तिकाके पिण्डसे अर्थात् मृत्तिकाके पिण्डके ज्ञानसे (सर्वं मृण्मयं)सब मृत्तिकामय अर्थात् मिट्टीका कार्यरूप मिट्टीसे बना हुआ जो पदार्थ है वह सब(विज्ञातं स्यात्)विज्ञात होवे वा होता है (विकारः नामधेयं)विकार अर्थात् कार्य है यह नामलेना (वाचारंभणं)वाचारंभण अर्थात् वचनसे कथनमात्र है (मृत्तिका इत्येव सत्यम्)मृत्तिका है यही सत्य है इत्यादि उपादानकारणही माननेमें इन उक्त प्रतिज्ञा व दृष्टान्तका उपरोध न होनेसे उपादानभी मानने योग्य है अन्यथा अर्थात प्रधान वा अन्यको प्रकृति उपादान

माननेमें उपनिषद्में ब्रह्मविषयक उक्त प्रतिज्ञा व दृष्टान्तके विरुद्धहोगा प्रतिज्ञा व दृष्टान्तकी बाधा होनेसे श्रुतिविरुद्ध मानना उचित नहीं है अब इसमें विचारसे यह सिद्धान्त निश्चय करनाचाहिये कि निरवयव चेतन ब्रह्मका मूर्तिमान् जडपदार्थरूप जगत्का उपादान कारण होना संभव नहीं है इससे यद्यपि उपादान कारण प्रकृति अर्थात् माया है परन्तु प्रकृति जड स्वतंत्र कार्यउत्पन्नकरने व नियम करनेमें समर्थ नहीं होसक्ती ब्रह्मही प्रकृतिको सृष्टिमें अपनी इच्छासे प्रवृत्त करता है ब्रह्मही की इच्छा मुख्यहेतु होनेसे उपचार से ब्रह्मको प्रकृति कहाहै अर्थात् उपादान कारण कहा है यथा राजाके सेवक राजाकी आज्ञाअनुसार कोई कर्म करतेहैं तो वह राजाही का करना कहाजाताहै तथा प्रकृति कार्यरूप होनेमें ब्रह्महीकी इच्छा प्रधान होनेसे व ब्रह्मही सर्वव्यापक आदिकारण व समर्थ होनेसे व प्रकृति आपसे स्वतंत्र कुछ करनेमें समर्थ न होनेसे प्रकृतिको न होनेके समान मानकर श्रुतिमें ब्रह्महीको प्रकृति वा उपादान कारण कहा है यदि यह शङ्का होवै कि, महात्मासूत्रकारने तौ मुख्य व गौण अर्थात् औपचारिक अर्थका कुछ विवरण वा भेद नहीं देखाया केवल प्रकृति होना मात्र श्रुतिमें वर्णित प्रतिज्ञा व दृष्टान्तके अनुसार वर्णन किया है अपनी बुद्धिसे उपचार वा उपाधि कल्पना करना अपनेही मनकी कल्पना स्वीकारके योग्य नहीं है तौ इसका उत्तर यह है कि, केवल एकही स्थलमें नहीं अनेक स्थलमें जहां मुख्यअर्थसे अन्यश्रुतिमें विरोध आता है वा असंभव की प्राप्ति होती है वहां औपचारिक अर्थ ग्रहण कियाजाताहै उपनिषद्वाक्योंमें वा अन्य श्रुतियोंमें कहीं यह नहीं लिखा कि यहाँ मुख्य अर्थ व यहाँ औपचारिक अर्थात् लाक्षणिक अर्थ ग्रहण करना चाहिये परन्तु आचार्योंने जहां जिस अर्थसे श्रुतिका अर्थ व्याख्यानके योग्य समझाहै वहाँ उसी अर्थसे व्याख्यान कियाहै यथा तैत्तिरीयउपनिषदमें ब्रह्मानन्दवल्लीमें यह वाक्य है **असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत** अर्थ-(इदम्) यह अर्थात् यह दृश्यमान जगत् (अग्रे) आगे अर्थात् सृष्टिके आरंभसे पूर्व (असत् आसीत्) असत् था अर्थात् नहींरूप था अर्थात् कुछ नहीं था जगत्का अभाव था (ततः) उससे (सत्) भावरूप (अजायत) उत्पन्नहुआ यह श्रुतिके शब्दोंका अर्थ है परन्तु असत् शब्दका अर्थ अभावमात्र ग्रहणकरनेसे किसीप्रकारसे श्रुतिका अर्थ ग्राह्य नहीं होसक्ता क्योंकि अभावसे भाव होना असंभव है और किसी आचार्यने अभावसे भाव होना यथार्थमें प्रतिपादन नहीं किया कोई कारण स्वीकार करके उससे जगत्कार्यका प्रकटहोना वर्णन किया है वेदान्तमेंभी ब्रह्मको कारण मानकर उससे जगत्का होना वर्णन कियाहै जो असत्शब्दसे ब्रह्म वाच्य मानाजावे तौ ब्रह्महीका नाश वा ब्रह्मही अभावरूप होजायगा फिर उससे जगत्का होना असंभव होगा और इस श्रुतिमें यह नहीं वर्णन किया कि, इसका आशय कैसा ग्रहण करना चाहिये तथापि पूर्व आचार्योंने और श्रीस्वामी शङ्कराचार्य आदिने यही व्याख्यान

कियाहै कि, असत् था कहनेका यह आशय है कि, जैसा कार्यरूप यह जगत् वर्तमानमें प्रत्यक्षसे ज्ञात होताहै ऐसा पूर्वमें नहीं था अर्थात् सूक्ष्म कारणरूपसे था सर्वथा असत् कहनेका तात्पर्य नहीं है क्योंकि सर्वथा असत् माननेमें उक्त दोषकी प्राप्ति है ऐसेही प्रकृतिका सर्वथा निषेध करनेमें **मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्** अर्थ-(मायाम् तु) मायाको तो (प्रकृतिं) प्रकृति (विद्यात्) जाने (तु) और (मायिनम्) मायाका अधिष्ठाता वा स्वामी (महेश्वरम्) महेश्वरको अर्थात् सबके स्वामी परमऐश्वर्यवान् परमात्माको जानै इस श्वेताश्वतर उपनिषद्की श्रुति व अन्य अनेक श्रुतियां जिनमें प्रकृतिका वर्णन है तथा स्मृतिवाक्य प्रकृतिप्रतिपादक सब मिथ्या हो जायँगी इससे उक्त प्रकारसे ब्रह्मका प्रकृति होना मानने योग्य है अन्यथा मानना युक्ति हेतु व श्रुतिविरुद्ध भी होनेसे युक्त नहीं है अथवा ऐसा अर्थ ग्रहणके योग्य है कि, शक्तिरूप प्रकृति व शक्तिमान ब्रह्मको मानकर शक्ति व शक्तिमान्को अभेदभाव ग्रहण करके ब्रह्मको प्रकृति कहाहै अथवा प्रकृतिको शरीर व ब्रह्मको शरीरी मानकर शरीर व शरीरीका अभेदभाव स्वीकार करके व सब जडचेतनसे मिश्रित जगत्रूप शरीरमें व्यापक सबका आत्मास्वरूप सबसे प्रधान सर्वशक्तिमान् ब्रह्मको जानकर व प्रकृति जडको बिना नियमकर्त्ता ब्रह्मकी ईक्षाके स्वयं कर्ता होनेमें समर्थ नहोनेसे नहोनेके समान मानकर ब्रह्मको उपादान कारणभी श्रुतिमें वर्णन कियाहै इससे उपादानभी है क्योंकि अपने जड चेतनरूप सूक्ष्मशरीरहीसे स्थूलरूप जगत्को उत्पन्न कर्ताहै जीवात्मा व जडप्रकृतिको ब्रह्मका शरीर श्रुतिमें प्रतिपादित है यथा बृहदारण्यक उपनिषद्में यह वर्णन है **यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति** अर्थ--(यः) जो अर्थात् परमात्मा ब्रह्म (पृथिव्याम् तिष्ठन्) पृथिवीमें रहताहुआ विद्यमान है (पृथिव्याः अन्तरः) पृथिवीके मध्यमें है (यं) जिसको (पृथिवी न वेद) पृथिवी[1] नहीं जानतीहै (यस्य पृथिवी शरीरं) जिसका पृथिवी शरीर है (यः) जो (पृथिवीम् अन्तरः यमयति) पृथिवीको भीतर रहता नियममें रखताहै इसी प्रकारसे जल वायु तेज आकाश चक्षुआदि सब इन्द्रिय सूर्य चन्द्र विज्ञान अव्यक्त आदि सबको ब्रह्मका शरीर व ब्रह्मको सबका आत्मा होना वर्णनकिया है माध्यंदिनशाखामें भी ऐसेही सबको ब्रह्मका शरीर होना वर्णन किया है परन्तु इतना विशेष है कि, विज्ञानके स्थानमें आत्मा को

---

१ पृथिवी नामसे यहां पृथिवीअभिमानी देवताको कहाहै अर्थात् पृथिवी अभिमानी देवता में रहता है जिसको पृथिवीअभिमानी देवता नहीं जानताहै इत्यादि ऐसेही जलआदि नामसे समझना चाहिये ।

शरीर होना वर्णन किया है अर्थात् ऐसा वर्णन है **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मान्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः** अर्थ--जो आत्मामें अर्थात् जीवात्मामें रहते हुये विद्यमान है आत्माके भीतर है जिसको आत्मा नहीं जानताहै जिसका आत्मा शरीर है जो आत्माके भीतर स्थिरहुआ नियममें रहताहै वह अन्तर्यामी अमृत तेरा आत्मा है अर्थात् उपदेशक कहताहै कि हे जिज्ञासो वह आत्मामें भी अन्तर्यामी रूपसे विद्यमान परमात्मा तेरा अर्थात् तुझ जीवात्माका आत्मा है इस प्रकारसे सब जडचेतनवस्तुको ब्रह्मका शरीर होना श्रुतिमें कहा है जडचेतन-वस्तु शरीरसहित सदा सबका आत्मारूप परब्रह्म विद्यमान रहता है प्रलयमें अतिसूक्ष्म कारणरूप जगत् नामरूप विभागरहित ब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त प्रकृति रूपसे रहताहै ब्रह्मसे भिन्न पृथक् वाच्य नहोनेसे ब्रह्म एक अद्वितीय कहाजाताहै उसी अपने शरीररूप जगत्को ब्रह्म अनेक नाम रूप भेदसे कार्यरूप प्रकट करता है इससे ब्रह्म प्रकृतिरूपसे कहागया है यही ब्रह्मका कार्यरूप एकसे बहुत होना है और जगत्का कारणरूप गौण ब्रह्म शरीरका सूक्ष्म जड अंशही प्रकृति, अव्यक्त, माया नामोंसे वाच्य होता है ऐसा आशय प्रकृति होनेका श्रुति अनुकूल ग्राह्य है इन उक्त आशयोंसे पृथक् ब्रह्मको तत्वरूपसे उपादान मानना अयुक्त है और जो यह शंका है कि, विना उपादान कारण हुये निमित्तकारण मात्र होनेसे ब्रह्मके ज्ञानसे सबका ज्ञान नहीं होसक्ता इसका भी समाधान जड व चेतन वस्तुरूप ब्रह्मका शरीर माननेमें होजाता है अर्थात् चेतन अंशसे व सब ज्ञान उसके ज्ञानके अंतर्गत होनेसे सब ज्ञानोंका कारण होनेसे सब ज्ञानभेदोंका उपादान है और जड शरीर अंशसे सम्पूर्ण जड व भौतिक पदार्थोंका उपादान है और अपने शुद्ध आत्म-स्वरूपसे निमित्त कारण है इसप्रकारसे ब्रह्मको निमित्त व उपादान दोनों कारण माननेमें कोई दोष नहीं है और एक मृत्तिका के ज्ञानसे सब मृत्तिकामय पदार्थोंके ज्ञान होनेका दृष्टान्त भी घटित होजाता है सर्वव्यापक सर्वज्ञ सबके आत्मारूप ब्रह्मके ज्ञानसे अल्पज्ञ जीव भूत भविष्यत् वर्तमान कालके सब पदार्थोंको जानता है और उसको न सुने व जाने हुये आदि भी सुने व जाने हुये आदि के समान होजाते हैं अब अन्य हेतु ब्रह्मके उपादान होनेका वर्णन करते हैं ॥ २३ ॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

अनु०--सङ्कल्पके उपदेशसे भी ॥ २४ ॥

भाष्य--ब्रह्मके बहुत होनेके संकल्पका जो श्रुतिमें उपदेश है उससेभी ब्रह्मका दोनों कारण होना सिद्ध होता है संकल्पप्रतिपादक श्रुति[1] ये हैं यथा **सोऽका-**

१ यह तैत्तिरीय उपनिषदकी श्रुति है ।

प्रथत बहु स्यां प्रजायेय स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत् अर्थ--(सः) उसने (अकामयत) कामना अर्थात् मनोरथ वा अनुसन्धान किया कि,(बहु स्यां) बहुत होऊं (प्रजायेय) उत्पन्न होऊं (सः) वह (तपः तप्त्वा) तप शब्दका अर्थ यहां ज्ञान है ज्ञान अर्थ होने में **यस्य ज्ञानमयं तपः** अर्थ--जिसका ज्ञानमय तप है इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं तपशब्दसे प्राचीन अर्थात् पूर्वकल्पके जगत्के आकार को देखना वा अनुसंधान करनारूप ज्ञान कहनेका अभिप्राय है अर्थात् अपनेज्ञानसे प्राचीन जगत्के आकारका अनुसंधान करके (इदं सर्व मअसृजत्) इस सबजगत्को उत्पन्न किया अर्थात् पूर्वके समान उत्पन्न किया तथा **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत्** अर्थ--(तत्) उसने (ऐक्षत) ईक्षाकिया (बहु स्यां प्रजायेय) बहुत होऊं उत्पन्नहोऊं (तत तेजः असृजत्) उसने तेजको उत्पन्न किया अर्थात् प्रथम तेजको उत्पन्न किया, बहुत होऊं उत्पन्न होऊं ऐसे संकल्पसे उपादान होना और उत्पन्न किया यह कहनेसे निमित्त होना दोनों ब्रह्मका होना सिद्ध होता है इन श्रुतियोंमें ब्रह्मके बहुत होने व उत्पन्न होनेका संकल्प व उपादान होनेका वर्णन इसप्रकारसे समझना चाहिये कि. जैसे राजा यह इच्छा करता है कि, मैं अमुक शत्रुको जीतकर विजयी होऊँ वा अपनी राज्यसामग्री व शोभाको विशेष प्रकारसे प्रकाशित करूं अथवा ऐसा राज्यप्रबंध करूँ इच्छा करके अपने सेनापति योद्धा प्रधान कर्मचारी व अन्य भृत्यगण जो उसके ऐश्वर्यके सामग्रीरूप होते हैं उनसे अभीष्ट कार्यको कराता है उनके द्वारा प्राप्त हुआ जय व किया हुआ कर्म राजाहीका कहा जाता है राजा के मुख्य होने व उसकी प्रेरणाके अधीन होनेसे योधाआदिकोंका जय वा कर्तृत्व नहीं कहाजाता ऐसेही मैं बहुत होऊँ उत्पन्न होऊँ का आशय यह है कि, मैं अपने सामर्थ्य वा शरीररूप प्रकृतिको अनेक कार्यरूप करके बहुत होऊँ उत्पन्न होऊँ यहां प्रकृति व ब्रह्मका शक्ति व शक्तिमान् अथवा शरीर व शरीरिभाव ग्रहण करके शक्ति व शक्तिमान अथवा शरीर व शरीरीका अभेदान्वित पक्ष लेकर सृष्टि उत्पत्तिका प्रतिपादन कियाहै जैसे राजाशब्द कहनेमात्रसे विना सामग्री वर्णन कियेजानेके प्रजाजन सेना शस्त्र कोष आदि अनेक सामग्रीसहित सबका अधिष्ठाता पुरुष समझाजाताहै क्योंकि विना इस सामग्रीके राजत्व सिद्ध नहीं होसक्ता ऐसेही कारण व कार्यरूप चिदचित् मिश्रित अर्थात् चेतन व जड वस्तु मिलाहुआ जगत् सब ईश्वरकी विभूति है उसके अध्यक्ष होनेहीसे ब्रह्म परमेश्वर कहाताहै कारण अवस्थामें अव्यक्त रूप परमेश्वरशक्तिके अतिसूक्ष्म होनेसे व ब्रह्ममें एकीभाव होनेसे बहुत शब्दकी प्रवृत्ति नहीं होती एकाकार प्रतीतिके योग्य होताहै इसलिये कहाहै कि एक ब्रह्म ही था

---

१ यह छान्दोग्यकी श्रुति है ।

उसने ईक्षाकिया कि, बहुत होऊं अर्थात् यह इच्छा किया कि, मैं अपने सामर्थ्य वा शरीररूप प्रकृति से अनेक कार्यरूप होकर बहुतहोऊं व उत्पन्न होऊं अर्थात् प्रगट होऊं फलितार्थ यहहै कि, प्रकृतिका अनेक विचित्रसृष्टिरूप प्रकटकरूं यदि कोई यह शंका करै कि, उपचारसे ऐसा अर्थ क्यों ग्रहणकरे निरवयव सर्वज्ञ शुद्धरूप होनेपर भी ब्रह्म अनेकरूप आकारयुक्त जड अशुद्ध जगत्का उपादान होजाताहै इसीसे उसका निरंकुश ऐश्वर्य व सर्व सामर्थ्य ज्ञात होता है तो इसका उत्तर यह है कि जो ऐसेही अयुक्त व असंभव अर्थके माननेमें सर्व सामर्थ्य सिद्ध होना स्वीकार करना हो तो ब्रह्म अपनेको नष्ट करदेताहै अर्थात् अपने अस्तित्वका अभाव करदेताहै व्यभिचार करताहै इत्यादिभी मानना युक्त होगा क्योंकि जो ऐसा नहीं करता वा नहीं करसक्ता तो सर्व शक्तिमान् नहीं होसका परन्तु ऐसा माननेमें ब्रह्मके स्वरूप व लक्षणहीमें हानि होगी इससे युक्त नहीं है सर्वशक्तिमान् होना यह है कि जो उसके लक्षण व स्वभावके विरुद्ध नहीं है ऐसे सब कार्य जिनको कोई दूसरा नहीं करसक्का अन्यका करना असंभव है उनको वह करताहै वा करसकता है। उपादान प्रतिपादन विषयमें ऐसा व्याख्यान करनेपरभी अन्यत्र भी ऐसाही आशय समझना चाहिये ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

अनु०-और साक्षात् दोनो वेद में कहनेसे ॥ २५ ॥

भाष्य-वेदमें साक्षात् दोनों अर्थात् उत्पत्ति व प्रलय ब्रह्ममें वर्णन करनेसे भी ब्रह्म उपादानकारणभी है यह सिद्ध होताहै यथा इस श्रुतिमें वर्णन कियाहै **सर्वाणि हवा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति** अर्थ-(सर्वाणि हवै इमानि भूतानि) निश्चय ये सब प्राणी (आकाशात् एव) आकाशहीसे अर्थात् प्रकाशमान ब्रह्महीसे (समुत्पद्यन्ते) उत्पन्न होतेहैं और (आकाशं प्रति अस्तं यन्ति) आकाशमें अस्तको प्राप्त होतेहैं अर्थात् लयको प्राप्त होतेहैं तथा **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म** अर्थ-जिससे निश्चय यह प्राणी उत्पन्न होतेहैं जिससे उत्पन्नहुये जीतेहैं और जिसमें प्रविष्ट होजातेहैं अर्थात् प्रलयसमयमें लीन होतेहैं उसके जाननेकी इच्छाकर वह ब्रह्म है जिससे किसी पदार्थकी उत्पत्ति होवै और वह उसीमें लीन होवै वही उत्पन्न व लीनहुयेका उपादान कहाताहै इससे ब्रह्म उपादान है यहां भी उत्पत्ति व प्रलयमें ब्रह्महीके मुख्य होनेसे और पृथिवी जलमें जल तेजमें व तेज वायुमें वायु आकाश में इसीप्रकारसे अव्यक्त पर्य्यन्त क्रमसे अपने अपने से सूक्ष्ममें लीन

होते जाने व अव्यक्त ब्रह्ममें मिलकर एकीभावसे रहनेसे एक ब्रह्महो वाच्य होने और वही ईक्षाकरके उत्पत्ति व प्रलयकरने व नियमकरनेमें समर्थ होनेसे ब्रह्महीं को उपादान भी वर्णन किया है क्योंकि जो आपसे करनेमें समर्थ नहो उसका होना विशेष गणना के योग्य नहीं होता प्रधान समर्थही ग्रहण कियाजाताहै इससे ब्रह्महो को उपादान कहाहै ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः ॥ २६ ॥

अनु०—आत्माकी कृतिसे अर्थात् आत्मासम्बंधी करना कहनेसे ॥ २६ ॥

भाष्य—कृतिशब्दका अर्थ करना है आत्मासम्बंधी करना कहनेका आशय यह है कि, जो कियाजाय उसमें अर्थात् कर्म में जो क्रियाका विषय है उसमें और करनेवालेमें दोनोंमें करना इस क्रियाका सम्बंध होता है इससे श्रुतिमें अपने आत्माको आपही जगत्रूप किया ऐसा करना वर्णन करनेसे कर्म व कर्ता दोनों ब्रह्महीका होना प्रतीत होनेसे ब्रह्महो उपादान व निमित्त दोनों कारण होना सिद्ध होताहै इसके प्रमाणमें तैत्तिरीय उपनिषद्की यह श्रुति है **तदात्मानं स्वयमकुरुत** अर्थ—(तत्) उस ब्रह्मने (आत्मानम्) आत्माको अर्थात् अपने आत्माको (स्वयं) आपही (अकुरुत) किया अर्थात् जगत्रूप किया । ब्रह्महीने अपने आत्माको जगत्रूप किया ऐसा कहनेमें वही कर्म वही कर्ता होनेसे वही उपादान वही निमित्त होना सिद्ध होताहै अब इसमें विशेष व्याख्यानके योग्य यह है कि, जो इस श्रुतिका अर्थ ऐसा कहतेहैं कि, ब्रह्म अपने आत्मा अर्थात् स्वस्वरूपहीको जगत्रूप करदिया यह मानने योग्य नहीं है क्योंकि निरवयव (अंश वा भागरहित) अपरिणामी (रूपान्तरको प्राप्त होना धर्मरहित) होनेसे ब्रह्मका मूर्तिमान् व परिणामी होना तथा ब्रह्मका कुछ अंशसे जगत् बनना और कुछ अपने स्वरूपसे भी स्थित रहना असंभव है जगत्रूप होनेसे निरवयव ब्रह्मका स्वरूपही नष्ट होजाना सिद्धहोगा इससे इस श्रुतिमें आत्माशब्दका अर्थ शुद्धचेतन परमात्मास्वरूपका ग्राह्य नहीं है आत्माशब्दका अर्थ शरीर ग्राह्य है क्योंकि आत्मा शब्द यत्न धैर्य, बुद्धि स्वभाव, ब्रह्म, जीव और शरीर इन अर्थोंका वाचक है पूर्वही यह वर्णन कियागया है कि जडप्रकृति व चेतन पुरुषको और जड व चेतनमय पृथिवीआदि कार्यरूप जगत्को **यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिवी यस्य शरीरं** इस पूर्वही वर्णन कीहुई आदि श्रुतियोंमें ब्रह्मका शरीरहोना वर्णन कियाह इस श्रुति में भी प्रकृति को शरीर होना और शरीर व शरीरवानम भेदरहित भावको ग्रहणकरके यहाँ आत्मा शब्द शरीरवाचक कहा है इससे ऐसा अर्थ—श्रुतिका वर्णन करना युक्त है (तत्) उसने अर्थात् ब्रह्मने (आत्मानम्) शरीरको अर्थात् प्रकृति रूप अपने शरीरको

(स्वयं) आपही (अकुरुत) किया अर्थात् जगद्रूप किया इस श्रुतिप्रमाण युक्त अर्थसे यह सिद्ध होताहै कि, ब्रह्म अपने प्रकृति रूप शरीरसे उपादान और अपने चेतन नियंता सर्वज्ञ शुद्धपरमात्मस्वरूप से निमित्त होनेसे ब्रह्म दोनों कारण है-इस अर्थ में कोई दोष असंभव व अयुक्त होनेका प्राप्त नहीं होता अब इस शङ्काके निवृत्त होनेके लिये कि, अप्रत्यक्षरूप आकाररहित ब्रह्म प्रकृति व पुरुष अर्थात् जड चेतन मिश्रित कारणरूप अपने शरीर से जगत् रूप कैसे हुआ यह कहाहै ॥ २६ ॥

परिणामात् ॥ २७ ॥

अनु०—परिणामसे ॥ २७ ॥

भाष्य—ब्रह्म अपने सूक्ष्म अचित् वस्तु कारणरूप शरीरके परिणामसे अर्थात् कारणसे विचित्रकार्यरूप अनेकरूप आकारमें प्रकटहोनेसे जगद्रूप होताहै यही ब्रह्मका बहुत होनेके संकल्पसे जगद्रूप होना है क्योंकि बृहदारण्यक उपनिषद् काण्व व माध्यन्दिन सुबालोपनिषद् वाजसनेयक इन सब वेदान्त ग्रंथोंमें चिद-चिद्वस्तु को ब्रह्मका शरीर व ब्रह्मको सबका आत्माहोना वर्णन कियाहै यथा बृहदारण्यकमें ऐसा वर्णन किया है **यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति इत्यादि** अर्थ—जिसको पृथिवी अर्थात् पृथिवी अभिमानी देवता नहीं जानता जो पृथिवीके भीतर स्थिरहुआ नियम करताहै वा नियममें रखताहै यह श्रुति पूर्वेही लिखीगई व व्याख्यान कीगयीहै पृथिवीसे आरंभकरिके इसीप्रकारसे जलआदि सबको कहाहै **यस्यापश्शरीरं यस्याग्निःशरीरं, यस्यान्तरिक्षं शरीरं, यस्य वायुश्शरीरं, यस्यद्यौः शरीरं** अर्थ—जिसका जल शरीर है, जिसका अग्नि शरीर है जिसका अन्तरिक्ष शरीर है जिसका वायु शरीर है जिसका दिवलोक शरीर है ऐसेही दिशा चन्द्रमा तारा आकाश तम तेज सब प्राणी प्राण वाक् चक्षु श्रोत्र मन त्वक्(चमडा)विज्ञान रेत सबको शरीर होना कहा है माध्यन्दिनमें भी ऐसाही वर्णन कियाहै इतना विशेष है कि, विज्ञानके स्थानमें आत्माको कहा है अर्थात् जिसका आत्मा शरीर है ऐसा वर्णन किया है और लोक यज्ञ वेदों को परमात्माका शरीर होना अधिक कहा है वाजसनेयकमें पृथिवीआदिको कहकर जो नहीं कहेगये उनको भी शरीर होना व ब्रह्मको उनका आत्मा होना और क्रमसे सबका ब्रह्ममें लयहोना वर्णन कियाहै सुबालउपनिषद्में सबको शरीर होना ब्रह्म सबका आत्मा होना कहकर ब्रह्महो आत्मारूप जिनमें प्राप्त और व्यापकहै ऐसे सब पदार्थोंका ब्रह्महीमें लीन होना वर्णन कियाहै अर्थात् सबको शरीर होना कहकर यह वर्णन कियाहै पृथिवी जलमें लीन होतीहै जल तेजमें लीन होतेहैं तेज वायुमें वायु आकाशमें आकाश इन्द्रियोंमें इन्द्रियां शब्द स्पर्श आदि तन्मात्रोंमें तन्मात्रा अहंकार में अहङ्कार महत्तत्त्वमें महत्तत्त्व अव्यक्त

अर्थात् प्राधनमें अव्यक्त अक्षर (पुरुष) में अक्षर तममें तमसे अभिप्राय ज्ञान होनेके रोक वा अभावसे है जैसे अंधकार अर्थात् प्रकाशके अभावमें नेत्रसे कुछ दृष्ट नहीं होता ऐसेही जहां मन व बुद्धिसे कुछ ज्ञात नहीं होता ऐसी सूक्ष्म कारण अवस्थारूप तम परदेवता ब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त होताहै अर्थात् उस अवस्थामें एक ब्रह्महो वाच्य रहता है इस अवस्थामें यद्यपि सब ब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त होनेसे एक ब्रह्महो वाच्य होनेसे सृष्टिसे पूर्व एक ब्रह्महो था ऐसा कहाहै परन्तु इस विभागरहित दशामें भी चिदचित् (जड प्रकृति व चेतनजीव) पदार्थ कर्मसंस्कारसहित अतिसूक्ष्म अवस्थामें स्थित रहता है जैसा कि, महात्मा सूत्रकारही ने आगे द्वितीय अध्यायमें वर्णन कियाहै **न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च** अर्थ–जो यह कहाजावे कि, विभाग न होनेसे अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न कोई अन्य न होनेसे सृष्टिसे पहिले कर्म नहीं था अर्थात् विषम व अनेकप्रकारकी सृष्टि होनेका हेतु कर्म नहीं था तो यह युक्त नहींहैं अनादिहोनेसे अर्थात् कर्म व संसारअनादि होनेसे क्योंकि ऐसाही तर्क व प्रमाणसे सिद्ध होताहै और श्रुतिप्रमाण भी उपलब्ध होताहै इससे यह निश्चित होताहै कि, विभागसे कहनेयोग्य नहीं परमात्मामें एकीभूत जो चिदचित्वस्तु शरीर है उस एकहीरूप हुये शरीरसे ब्रह्मका परिणाम होना उपचार से श्रुतिमें वर्णन किया है जिसका आशय यह है कि, अपने सूक्ष्मकारणरूप चिदचित्वस्तुशरीरको स्थूल कार्य रूप जगत्में ब्रह्मने परिणमित किया और जो कुछ इस दृश्यमान जगत्में है वह सब पूर्वकल्पकी सृष्टि का अनुसंधान वा स्मरणकरके वैसाही इस कल्पमें उत्पन्न किया यथा इस श्रुतिमें कहा है **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्** अर्थ–(धाता) सब जगत्का धारण कर्ता ब्रह्मने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य व चन्द्रमाको (यथापूर्व) जैसे पूर्वकल्पमें थे वैसेही वर्तमान कल्पमें (अकल्पयत्) रचता भया विस्तार को छोडकर यह सिद्धान्त विज्ञापित कियाजाता है कि, श्रुति स्मृति वाक्यों व तर्कसे तथा सूत्रकार के सूत्रोंसे पूर्वापर सम्बंध विचारनेसे यही अर्थ व आशय निश्चित होता है । जैसे शरीरमें जीवात्मा प्रविष्ट है ऐसेही ब्रह्म सबमें प्रविष्ट सबका आत्मारूप होनेसे पृथिवी आदि जीवात्मापर्य्यन्त सबको उसका शरीर वर्णन किया है जैसे लोकमें देवदत्त कहनेसे देवदत्तका शरीर व आत्मा दोनों एकही भावसे ग्रहण कियेजाते हैं ऐसेही चित् अचित् वस्तु शरीररूप व ब्रह्म आत्मारूप समुदायको एक ब्रह्म मानकर अद्वितीय एक ब्रह्मही होना वर्णन किया है ब्रह्मका अपने शरीरसे सृष्टि उत्पन्न करनेके प्रमाण में महात्मा मनुजीका भी यह वाक्य है **सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ इत्यादि** अर्थ–(सः) उस (स्वात् शरीरात्) अपने शरीरसे (विविधाः प्रजाः सिसृक्षुः) विविध प्रजाओंकी सृष्टि करने की इच्छा करनेवाले ब्रह्ममें (आदौ) आदिमें (अप एव) जलहीको

(ससर्ज) उत्पन्न किया इत्यादि इसी आशय व अर्थसे ब्रह्मके निर्दोष व निर्विकार प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां चारितार्थ होती हैं अर्थात् यथार्थ घटित होती हैं इस उक्त प्रकारसे ब्रह्मही जगत्का निमित्त व उपादान कारण है ॥ २७ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २८ ॥

अनु०—जिससे कि, योनिभी कहाजाता है (श्रुतियोंसे कहाजाता है) ॥ २८ ॥

भाष्य—इससे भी ब्रह्म उपादान है जिससे कि, श्रुतियोंसे योनिशब्दसे कहा जाता है अर्थात् श्रुतियों में ब्रह्मयोनि शब्दसे वर्णन कियागयाहै योनिशब्द उपादान वाचक ग्रहण कियाजाता है इससे उपादान होना विदित होताहै योनिशब्दसे वर्णन कियेजानेमें यह श्रुति प्रमाणहै **कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् इत्यादि** अर्थ-कर्ता ईश अर्थात् समर्थ नियमकरनेवाला पुरुष अर्थात् जगत्रूप शरीरमें वा सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें रहनेवाला ब्रह्म अर्थात् व्यापक पूर्ण योनि अर्थात् प्रकृतरूपको ज्ञानी जानते हैं तथा **यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः** अर्थ-(धीराः) ध्यानकरनेवाले स्थिरचित्त पुरुष (यत्भूतयोनिं) जिस सब भूतोंके योनिको (परिपश्यन्ति) देखते अर्थात् साक्षात ज्ञान करतेहैं योनिशब्द उपादानकारण व स्थान दोनों अर्थका वाचक है इससे मुण्डकउपनिषद् में इसी श्रुतिके आगे ब्रह्मके योनि होनेमें यह दृष्टान्त है **यथोर्णुनाभिःसृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।यथा सतःपुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्** अर्थ-(यथा) जैसे (ऊर्णुनाभिः) मकरी नामक कीडा (सृजते) उत्पन्नकरताहै अर्थात् जालरूप तन्तुओंको उत्पन्न करता है (च) और (गृह्णते) ग्रहण करताहै अर्थात फिर अपनेमें लय करलेता है (यथा) जैसे (पृथिव्यां) पृथिवीमें (ओषधयः) औषधियां (संभवन्ति) उत्पन्न होतीहैं (यथा) जैसे (सतः पुरुषात्) विद्यमान जीवके शरीरसे (केशलोमानि) बाल रोंवे डाढी मूँछ आदि होतेहैं (तथा) वैसेही (अक्षरात्) अविनाशी विद्यमान ब्रह्मसे (इह) इस संसारमें (विश्वम्) सब वस्तुमात्र (संभवति) उत्पन्न होताहै विचारकरके समझना चाहिये कि, इस दृष्टान्तसे जो सर्वथा ब्रह्मको उपादान होना कहतेहैं उनका कहना यथार्थ नहीं है जैसा ऊपर वर्णन कियागया है वैसेही उपादान होनेकी स्पष्ट पुष्टता इस दृष्टान्तविषयक श्रुतिसे होतीहै क्योंकि मकरी कीडाका जो चेतन आत्मा है वह जालरूप नहीं बनता मकरीरूप शरीर उपादानसे जालको उत्पन्न करताहै और फिर अपने शरीरही में लीनकरलेता है ऐसेही ब्रह्म अपने उक्त शरीरसे जगत्को उत्पन्न करता है फिर उसीमें लीन करलेता है जैसे पृथिवीमें होनेसे सब औषधियोंका आधार स्थान पृथिवी हैं ऐसेही

सबका आधार धारणकर्ता ब्रह्म है योनिशब्द स्थान वा आधारका भी वाचक है जैसे इस वाक्यमें है **योनिस्ते इन्द्र निषदे अकारि** अर्थ–हे इन्द्र (ते कोऽर्थः तव) तुम्हारे (निषदे) बैठनेके लिये (योनिः) स्थान (अकारि) कियागया अर्थात् मैने तुम्हारे बैठनेकेलिये स्थान बनायाहै इससे आधार वा स्थान अर्थका भी निदर्शन पृथिवीके दृष्टान्तसे कियाहै इसीसे पृथिवीमें ऐसा वर्णन कियाहै अर्थात् आधार अर्थ रक्खाहै कर्ता व कर्म व अपादान अर्थ नहीं रक्खा जैसे विद्यमान जीवके शरीरसे केश लोम होतेहैं ऐसेही विद्यमान ब्रह्मके शरीरसे जगत् होता है अर्थात् चेतन ब्रह्मकारणके विद्यमान होनेमें जगत् उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं क्योंकि कारणके असत् होनेमें (अभावहोनेमें) कार्यका अभाव होता है इसमेंभी स्पष्ट पुरुष निमित्त कारण व शरीर केश व लोमोंका उपादान कारण पृथक् सिद्ध होताहै एकही निमित्त व उपादान होना सिद्ध नहीं होता शरीर व आत्माको भिन्न न मानकर लक्षणसे एकही उपादान व निमित्तका वर्णन है यह सिद्धान्त है ॥ २८ ॥

सर्वव्याख्यान अधिकरण ८ सू० २९ ।

एतन सर्वे व्याख्याताः व्याख्याताः ॥ २९ ॥

अनु०–इसीसे अथवा इसीके समान सब व्याख्यान किये गये व्याख्यान किये गये ॥ २९ ॥

भाष्य–जैसा कि, इस अध्यायके चारों पादोंमें वर्णन कियागया है इसीसे सब वदोन्तवाक्य चेतन अचेतन से विलक्षण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्महीके जगत् कारण होनेके प्रतिपादनपर हैं यह व्याख्यान कियागयाहै अथवा व्याख्यान कियागया समझना चाहिये दूसरा अर्थ–ऐसा ग्राह्य है कि, इसीके समान अर्थात् जैसा इस अध्याय में प्रधान अचेतन का शब्दमें प्रतिपादित नहोनेसे शब्द प्रमाण से बाह्य होनेसे जगत् के कारण नहोनेका व्याख्यान कियागयाहै इसीके समान अन्य परमाणुआदि सब अशब्द (शब्दप्रमाणरहित) कारण होनेके निषधमें व्याख्यान कियेगयेहैं ऐसा समझना चाहिये अर्थात् प्रधानके समान परमाणुआदि कारणवादभी अर्थात् परमाणुसे वा शून्यसे वा स्वभावकारणसे होनेके वादभी निषेध कियेगये समझना चाहिये व्याख्यान कियेगये व्याख्यान कियेगये इसका अभ्यास (फिर कहना अर्थात् दोवार कहना) अध्यायकी समाप्तिद्योतन अर्थात् जनाने वा सूचित करनेके लिये है ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्प्यारेलालात्मजबांदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासिश्री-
मत्प्रभुदयालुना वेदान्तसूत्राणां देशभाषाविनिर्मिते ससूत्रानुवादभाष्ये
वेदान्ततत्वप्रकाशाख्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थःपादः समाप्तश्चायमध्यायः ।

इति प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयाध्यायप्रारंभः ।

स्मृतिविरुद्ध होने की शंका निवारणमें सू० १ व २ अधि० १ ।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्य स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

अनु०—स्मृतिके अवकाश नहोनेका अर्थात् स्मृतिके अर्थके अभाव होनेके दोषका प्रसङ्ग है जो यह कहाजाय नहीं अन्य स्मृतिके अवकाश न होनेके दोषका प्रसङ्ग होनेसे ॥ १ ॥

भाष्य–प्रथम अध्यायमें अशब्द होने (शब्दप्रमाणरहितहोने) व ईक्षा करना संभव न होने आदि वेदान्तवाक्य व शब्दसम्बंधी हेतुओंसे प्रधानके कारण होनेका निषेध व सम्पूर्ण अविद्या आदि दोषोंसे रहित सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वान्तरात्मा परब्रह्मको सम्पूर्ण जगत्का कारण होना प्रतिपादन कियाहै।अब स्मृति व बुद्धिजन्य बाह्य तर्कसे विरुद्ध होनेकी शङ्काके परिहार वा समाधान विषयमें द्वितीयअध्याय को आरंभ करतेहैं प्रथम स्मृतिसे विरुद्ध होनेका आक्षेप करके उत्तर वर्णन करनेमें यह कहाहै कि स्मृतिके अवकाश नहोनेके दोषका प्रसंग (दोषकीप्राप्ति) है जो यह कहाजाय नहीं अन्यस्मृति वा स्मृतियोंके अवकाश न होनेके अर्थात् अर्थका अभाव होनेके दोषका प्रसंग होनेसे इसका आशय यह है कि यदि ऐसी शंका होवे अथवा कहाजावे कि ब्रह्मको जगत्का कारण मानना यथार्थ नहीं है क्योंकि साङ्ख्यस्मृतिमें जो प्रधान को जगत्का स्वतंत्र कारण होना वर्णन किया है उस का अनवकाश होनेका दोष प्राप्त होगा अर्थात् ब्रह्मको कारण माननेमें फिर प्रधानका कारण मानना संभव नहोनेसे स्मृतिके विरुद्धहोगा परमर्षि महात्मा कपिल जिनको सृष्ट जनोंने आप्त होना अंगीकार किया है उनकी स्मृतिमें कहेहुये अर्थके विरुद्ध अर्थात् उनके मतके विरुद्ध मानना युक्त नहीं है क्योंकि अन्य पुरुष मन्दमतियोंको वेदान्तके अर्थका कपिलआचार्यसे विशेष निश्चय होना स्वीकारके योग्य नहीं है इससे आप्त कपिलाचार्य प्रणीत साङ्ख्यस्मृति में जो अर्थ सिद्ध है वही वेदान्त वेद्य अर्थात् वेदान्तसे वा वेदान्तमें जाननेयोग्य है ऐसा मानना चाहिये तो ऐसी शङ्का वा ऐसा पक्ष युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है अन्यस्मृतियोंके अवकाश नहोनेके दोषका प्रसङ्ग होनेसे अर्थात् अन्य जो मनुआदि स्मृतियां है जिनमें एक ब्रह्महीका कारण होना प्रतिपादित है प्रधानको कारण मानने में उन स्मृतियोंके अर्थके अभावहोनेके दोषका प्रसंग होगा अर्थात् उन स्मृतिके विरुद्ध होनेका दोष प्राप्त होगा महात्मा आप्त मनुआदि प्रणीत स्मृतिके विरुद्ध

अर्थका ग्रहणउचित नहीं है स्मृतिबलसे प्रतिषेधकरने का पक्ष इस प्रकारसे स्मृतिहीबलसे प्रतिषेधको प्राप्त होताहै ब्रह्मके कारण होनेमें महात्मा मनुजीने प्रलय दशामें इस जगत्को अज्ञात तमरूप कहकर सृष्टि उत्पत्तिमें ऐसा वर्णन किया है **सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्य्यमवासृजत्** अर्थ-(सः स्वात् शरीरात् विविधाः प्रजाः सिसृक्षुः) उस अपने शरीरसे अनेक प्रकारके प्रजा अर्थात् प्राणियोंको उत्पन्न करनेकी इच्छा करनेवालेने अर्थात् परमात्माने (अभिध्याय) रचना करनेका संकल्प वा विचार करके (आदौ) आदिमें प्रथम (अप एव) जलोंहीको (ससर्ज) उत्पन्न किया (तासु) उनमें अर्थात् जलोंमें (वीर्य्यम् अवासृजत) वीर्यको उत्पन्न किया अर्थात् पृथिवी जल व तेज तीनोंके मेलरूप त्रिवृत् कारण से उत्पन्न करनेकी शक्तिको उत्पन्न किया तथा महाभारतमें ऐसा वर्णनहै **कुतः सृष्टमिदं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् । प्रलये च कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह** अर्थ-हे पितामह (इदं सर्वं स्थावरजङ्गमम् जगत्) यह सब स्थावर व जंगमरूप जगत् (कुतःसृष्टम्) किससे उत्पन्न कियागयाहै (च) और (प्रलये) प्रलयमें (कम् अभ्येति) किसको प्राप्त होताहै अर्थात् किसमें लीन होताहै (तत् मे ब्रूहि) उसको आप मुझसे वर्णन कीजिये ऐसा प्रश्न करनेपर पितामहने यह उत्तर दिया है **नारायणो जगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातन इति** अर्थ-(जगन्मूर्तिः अनन्तात्मा सनातनः नारायणः) जगत् है शरीररूप जिसका ऐसा जगन्मूर्ति अनन्तात्मा नित्य नारायण हैं अर्थात् जिससे यह जगत् उत्पन्न होताहै और जिसमें लीन होताहै वह नारायण है अर्थात् नार जो प्राण है उसमें जिसका अयन स्थान है अर्थात् प्राणके अन्तर्गत अतिसूक्ष्म व्यापक प्राणका भी प्राण परमात्मा है तथा **तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम** हे द्विज सत्तम (तस्मात्) उससे परब्रह्मसे (त्रिगुणम् अव्यक्तम् उत्पन्नम्)त्रिगुणरूप अव्यक्त नामक प्रधान उत्पन्न हुआहै वा होता है **अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्क्रिये सम्प्रलीयते** अर्थ-हे ब्रह्मन् (निष्क्रिये पुरुषे) क्रियारहित पुरुष परमात्मामें (अव्यक्तं सम्प्रलीयते) अव्यक्त लीन होताहै भगवान् पराशरने यह कहाहै **विष्णोस्सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् । स्थितिसंयमकर्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्च सः** अर्थ-(विष्णोः सकाशात् जगत् उद्भूतम्) विष्णु परमात्माके सकाशसे जगत् उत्पन्न हुआहै (च) और (तत्रैव) उसीमें (स्थितम्) स्थितहै (असौ) यह ज्ञानदृष्टिसे सर्वत्र व्यापक ब्रह्म (अस्य जगतः) इस जगत् का(स्थितिसंयमकर्ता) स्थितिव नियम वा लयका कर्ताहै (जगत्च) जगत् भी (सः) वह है अर्थात् चिदचित् वस्तुरूप अपने शरीरसे पूर्वोक्त प्रकारसे जगत्रूप हुआ जगत्भी वह अर्थात् ब्रह्म है आपस्तम्ब ऋषिने ऐसा वर्णन किया है

पूः प्राणिनः सर्वगुहाशयस्य चाहन्यमानस्य विकल्मषस्य अर्थ--(प्राणिनः) सब प्राणी (सर्वगुहाशयस्य) सबके अंतःकरण बुद्धिमें शयन करनेवाले अर्थात् रहनेवाले (च) और (अहन्यमानस्य) किसीसे घातको नहीं प्राप्त (विकल्मषस्य) पापरहितका अर्थात् परमात्माका (पूः) शरीर है यह आरंभ में कहकर यह वर्णन किया है **तस्मात् कायाः प्रभवन्ति सर्वे स मूलं शाश्वतिकस्स नित्यः** अर्थ--(तस्मात्) उससे परमात्मासे (सर्वे कायाः) सब शरीर (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं (सः) वह (मूलं) कारण है (शाश्वतिकः) निरन्तर रहनेवाला है (सः नित्यः) वह नित्य है इत्यादि महात्मा मनुआदि परम आप्तोंसे उक्त अनेकस्मृतियोंके वाक्यसे विरुद्ध कपिलस्मृतिमें प्रतिपादित प्रधान जगत्का कारण मानने योग्य नहीं है बहुत स्मृतियोंके विरुद्ध होनेही से माननीय नहीं है और वेदविरुद्ध भी है यह विशेष प्रमाण योग्य न होनेका हेतु है क्योंकि श्रुतिविरुद्ध स्मृतिको आदर न करने व त्यागकरनेके योग्य वर्णन किया है यथा **विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्याद्सति ह्यनुमानम्** अर्थ--(विरोधे) विरोधमें अर्थात् श्रुतिके विरोधमें स्मृति (अनपेक्ष्यम्) अपेक्षाशून्य अर्थात् त्यागके योग्य (स्यात्) होवे अर्थात् मानीजाय (हि) जिससे (असति) न होनेमें अर्थात् विरोध न होनेमें (अनुमानं) अनुमान अर्थात् स्मृति अपेक्ष्य अर्थात् ग्राह्य है इससे प्रधानका स्वतंत्र कारण प्रतिपादन जो श्रुतिविरुद्ध अपने अनुमानमात्रसे कपिल आचार्यका वर्णन करना विदित होताहै त्याग के योग्य है परमात्माका कारण होना स्मृति व श्रुति दोनोंसे सिद्ध होनेसे परमेश्वर ब्रह्मका कारणवाद सबल व ग्राह्य है इससे ब्रह्मही कारण है यह सिद्धान्त है ॥ १ ॥

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

अनु०--और इतरोंकी अर्थात् अन्योंकी उपलब्धि न होनेसे॥२॥

भाष्य--अन्य जो ब्रह्मसे भिन्न प्रधान महत्तत्त्व आदि हैं उनकी वेदमें उपलब्धि न होनेसे सांख्यमें कहेहुये प्रधान आदिकों के न मानने में दोष नहीं है अर्थात् स्मृतिके अनवकाशका प्रसंग होना अर्थात् प्राप्त होना दोष मानने योग्य नहीं है क्योंकि वेदके अनुसार जो स्मृति वाक्य है वही प्रमाणके योग्य है अन्य नहीं प्रधानका कारण होना कपिलस्मृति में शब्दप्रमाणसे विरुद्ध है इससे मन्तव्य नहीं है ब्रह्महीको जगत्का कारण मानना युक्त है यद्वा ऐसा अर्थभी इस सूत्रका हो सक्ताहै कि, अन्य जो कपिलसे भिन्न मनुआदि जो अपने योग महिमा से पर अपर तत्त्वोंको साक्षात् किया है कपिल आचार्यके समान उनके तत्त्वज्ञान वा उनकी सम्मतिकी उपलब्धि न होनेसे कपिल ऋषिका मत मनुआदिके मत व श्रुतिके विरुद्ध होनेसे ग्रहणके योग्य नहीं है ॥ २ ॥

योग स्मृतिविरुद्ध होनेकी शंकानिवारणमें सू० ३ अधि०२।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

अनु०–इसीसे वा इसीके समान योग प्रत्युक्त है अर्थात् खण्डन कियागया है यह जानना चाहिये ॥ ३ ॥

भाष्य–जैसा कि, साङ्ख्यस्मृतिके विषयमें वर्णन कियागया है इसीसे अर्थात् इसीके समान योगस्मृति भी प्रत्युक्त (खण्डित) है ऐसा समझना चाहिये आशय यह है कि, योगस्मृति वा योगदर्शन में भी साङ्ख्यके समान प्रधानआदि माने व वर्णन कियेगये हैं इससे यह कहाहै साङ्ख्यही के समान योगका भी निराकरण (खण्डन) समझना चाहिये अब इस शङ्काकी प्राप्ति है कि, योग तो वेदविहित है क्योंकि, योगके आसन प्राणायाम व ध्यानका विधान श्वेताश्वतर उपनिषद्में पायाजाता है यथा **त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि** इत्यादि अर्थ–ध्यान व प्राणायाम करनेवाला (विद्वान्) ज्ञानी (शरीरं समं त्रिरुन्नतं स्थाप्य) शरीर को बराबर और उर ग्रीवा व शिर ये तीन जिसमें उठे रहैं ऐसा स्थिर करके और (हृदि मनसा इन्द्रियाणि सन्निवेश्य) मनके साथ इन्द्रियोंको हृदयदेश ध्यानस्थान में लगाकर (ब्रह्मोडुपेन) ध्येय ब्रह्मरूप उडुप से अर्थात् नौकासे (सर्वाणि भयावहानि स्रोतांसि प्रतरेत्) सब भयानक सरिताओंसे अर्थात् संसारके विषयवासना व अनेक क्लेशभोग-रूप सरिताओंसे पार होजावे इत्यादि तथा अन्य अनेक योगविषयक वैदिक व औपनिषद वाक्य मिलते हैं यथा **तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम्** अर्थ–(तां स्थिराम् इन्द्रियधारणाम्) उस निश्चल इन्द्रियोंके धार-णाको (योगम् इति मन्यन्ते) योग यह मानते हैं अर्थात् योगके जाननेवाले विद्वान् ऐसी धारणाको योग मानते हैं तथा **विद्यामेतां योगविधिश्च कृत्स्नम्** अर्थ–(एतां विद्यां) इस विद्याको (च) और (कृत्स्नं योगविधिं) सम्पूर्ण योग विधिको इत्यादि इससे और लोकमें भी साङ्ख्य व योग परम पुरुषार्थका साधन विख्यात होने और महात्मा शिष्ट पुरुषोंसे स्वीकार (अंगीकार) किये-जानेसे योगका निराकरण (खण्डन) युक्त नहीं है इसका उत्तर यह है कि, योगमें तथा साङ्ख्यमें पुरुष अर्थात् आत्माको शुद्ध चेतन विकाररहित कहा है ज्ञान व ध्यानको वर्णन किया है यह वेदविहित है इसमें विरोध नहीं है जो वेद अनुसार है वह अवश्य ग्रहणके योग्य है केवल श्रुति-विरुद्ध प्रधान कारणवादआदिका निराकरण है यह निश्चय करना चाहिये अब तर्क अवलम्बन करके पूर्वपक्षपूर्वक निर्णय करनेका आरंभ करते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मके उपादान कारण होनेमें तर्कसबंधी शंका व समाधान विषय में सू० ४ से ११ अधि० ३ ।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वञ्च शब्दात् ॥ ४ ॥

अनु०–नहीं इसके विलक्षण होनेसे और वैसेही शब्दसे सिद्ध होनेसे ॥ ४ ॥

भाष्य–साङ्ख्यस्मृति के निराकरण (खण्डन) करने से प्रधानके कारण होनेका निषेध करके ब्रह्मको उपादान कारण कहना युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है इसके अर्थात् इस जगत्के विलक्षण होनेसे अर्थात ब्रह्मसे विलक्षण (विरुद्ध धर्मवाला) होनेसे जो जिसका कार्य होता है वह अपने उपादान कारणसे रूप आदिगुणमें विलक्षण नहीं होता केवल न्यून अधिक परिमाण में विलक्षणता होतीहै अर्थात् कारणहीके रूपआदि कार्यमें परिमाणभेदसे प्रकट हो विदित होतेहैं यथा मृत्तिका व सुवर्ण आदि कारणसे उत्पन्न घट-शराव व कुण्डल, रुचक (उरका भूषण वा अशरफी) आदिमें, ब्रह्ममें जो गुण हैं उनसे विरुद्ध गुणसंयुक्त होनेसे विलक्षण जगत् ब्रह्मका कार्य होना विदित नहीं होता अर्थात् प्रत्यक्षआदि प्रमाणसे अचेतन अशुद्ध दुःखात्मक जड चेतन वस्तु अनेक रूप आकारयुक्त जगत्का सर्वज्ञ शुद्धआनन्दस्वरूप निराकार नीरूप ब्रह्म कारणसे होना संभव नहीं है केवल प्रत्यक्षआदिसेही विलक्षणता नहींहै शब्दसे भी वैसेही अर्थात् प्रत्यक्षआदिके समान विलक्षणता उपलब्ध होतीहै यथा तैत्तिरीय उपनिषद् में जगत्को दो विधका होना कहाहै **विज्ञानञ्चाविज्ञानञ्च** अर्थ–विज्ञान अर्थात् चेतन व अविज्ञान अर्थात् जड दोनों हैं इससे अचेतनता अंशमें ब्रह्मसे विलक्षण है और दुःख होनेमें यह मुण्डक उपनिषद्की श्रुति प्रमाण है **समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः** अर्थ–(समाने वृक्षे) एकही वृक्षमें अर्थात एकही जड शरीरमें अर्थात जिसमें पूर्वमें ब्रह्मसाक्षी रूप व जीव भोक्तारूप दो पक्षियोंका रहना वर्णन कियाहै उसमें अथवा एकही जगत् वृक्षमें जिसमें आनन्दस्वरूप सर्वव्यापक ब्रह्मभी विद्यमान है उसमें (पुरुषः) जीवात्मा (निमग्नः) मग्न अर्थात् राग द्वेष मोह में डूबाहुआ वासनारूप रस्सियोंसे बँधा (मुह्यमानः) मोहको प्राप्त अर्थात मोहसे अविद्याआदि क्लेशोंसे ग्रस्त (अनीशया) असमर्थता से अर्थात् दुःखरूप फांसीसे निकलनेमें समर्थ न होनेसे (शोचति) शोचता है अर्थात् मेरे स्त्री पुत्र मरगये धन जातारहा वा धन नहीं है बिना धन यह कार्य कैसे हो इस रोगसे क्लेशितहूं इत्यादि अनेक प्रकारसे शोकको प्राप्त होता है इससे ऐसे जड व दुःख सामग्री वा दुःखरूप जगत्का कारण ब्रह्मको मानना युक्त नहीं है साङ्ख्यस्मृतिमें वर्णन कियेहुये जड प्रधानही

जड जगत्का कारण होना मन्तव्य है जो यह कहाजाय कि, श्रुतिसे ब्रह्महो जगत्का कारण निश्चित होने में उसके कार्य जगत्को भी चेतनही होना स्वीकार करना चाहिये घटआदिमें चेतनताका ज्ञात न होना इस प्रकारसे समझना चाहिये जैसे सुषुप्ति व मूर्च्छाआदि में चेतन पुरुषकी चेतनता उपलब्ध नहीं होती अर्थात् जो प्रत्यक्षसे चेतन है सुषुप्ति में उसकी चेतनता की उपलब्धि नहीं होती इससे अधिक चेतनता प्रकट न होनेकी अवस्था में प्राप्त घटआदिकों की चेतनता विदित नहीं होती तो ऐसा कहना मानने योग्य नहीं है जिसकी उपलब्धि (प्राप्ति) कभी नहीं होती उसका न होनाही सिद्ध होता है कभी उपलब्धि न होनेपर भी होना मानलेना वंध्या के पुत्रोंकी सभामें उनके माताओंमें पुत्र उत्पन्न करनेकी शक्ति होना कहने व माननेके समान है जो ऐसा आक्षेप कियाजाय कि, पृथिवीआदि व पृथिवीआदिके विकार भी चेतनही हैं उनकी चेतनता प्रकट व ज्ञात नहीं होती क्योंकि गोबरसे चेतन विच्छू उत्पन्न होतेहैं और जो गोबर चेतनतारहित जडही मात्रहै तो गोबर आदि जडसे विच्छू आदि चेतन उत्पन्न होने व चेतन मकरीकी-डासे जड जाल तन्तु उत्पन्न होनेसे विलक्षण होनेपर भी कार्यकारणभाव अंगीकार करना युक्तहै तो ऐसा समझना भ्रमरूप है गोबर आदि जडसे विच्छू आदि के जड शरीरही उत्पन्न होते हैं उनमें अदृष्टवशसे चेतन जीवात्मा प्रविष्ट होते हैं और मकरीके शरीर में विद्यमान जीवात्मा अपने जडशरीर कारणसे जड जालतन्तुओंको उत्पन्न करताहै आप तन्तु नहीं बनता इससे कारणसे विलक्षण कार्य होनेके ये उदाहरण नहीं होसके, अब यह शंका है कि, श्रुतियों में जड पृथिवी आदि में चैतन्य (चेतनता) का योग होना वर्णित है यथा **मृद्-ब्रवीत् आपोऽब्रुवन्** अर्थ–(मृदब्रवीत्) मृत्तिकाने कहा (आपः) जलोंने (अब्रुवन्)कहा तथा **तत्तेजऐक्षत** अर्थ–उस तेजने ईक्षा किया **ता आप ऐक्षन्त** अर्थ–उन जलोंने ईक्षा किया तथा **ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विव-दमाना ब्रह्माणं जग्मुः** अर्थ–(ते ह इमे प्राणाः) ये पूर्वोक्त यह जिनका वर्णन हो रहाहै प्राण (अहं श्रेयसे) मैं कल्याणके लिये हूँ ऐसा परस्पर (विवदमानाः) वाद करतेहुये (ब्रह्माणं) ब्रह्माके पास (जग्मुः) गये इत्यादिसे जडका चेतन होना श्रुतियों से कथित होनेसे विलक्षण होनेकी शङ्का करने योग्य नहीं है अब इसका उत्तर वर्णन करतेहैं ॥ ४ ॥

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ५॥

अनु०–यह तो विशेष व अनुगतिसे अभिमानियों का कथन है ॥ ५ ॥

भाष्य–श्रुतिमें पृथिवीने कहा इत्यादि पृथिवीआदि भूतों तथा प्राण इन्द्रियोंके संवाद जो वर्णन है यह तो पृथिवीआदिके अभिमानी देवताओंका कथन है अर्थात

अभिमानी देवताओंके लिये कहने व वाद करने आदिका कथन है पृथिवीआदिका कथन नहीं है इससे भूत व इन्द्रियोंके चेतन कहनेकी शङ्का न करना चाहिये किस हेतुसे अभिमानी देवताओंका कथन होना सिद्ध होता है विशेष अनुगतिसे विशेष यह है कि; छान्दोग्यमें पृथिवीआदि देवता शब्दविशेषसे कहे गये हैं यथा **हंताहमिमास्तिस्रो देवताः** अर्थ-(हन्त अहं) अब मैं (इमाः तिस्रः देवताः) इन तीन देवतारूप अर्थात् तेज जल व पृथिवी देवतारूप इत्यादि वर्णनसे तथा कौषीतकि शाखावाले प्राणसंवादमें इन्द्रियोंके करणमात्र होनेकी शङ्का निवृत्त करनेके लिये चेतन अधिष्ठाता वा अभिमानी देवताओंके ग्रहण का आशय जाननेके लिये देवताशब्दसे विशेषण किया है यथा (कौ० २ । १४) **सर्वा ह वै देवता अहं श्रेयसे विवदमानाः ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा इत्यादि** अर्थ-(सर्वा ह वै देवताः) निश्चय सब देवता अर्थात् सब इन्द्रियां (अहं श्रेयसे) मैं कल्याणके लिये हूँ अथवा मैं श्रेष्ठ हूँ ऐसा परस्पर (विवदमानाः) वाद करनेवाले इत्यादि (ताः वा एताः सर्वाः देवताः) वह यह सब देवता अर्थात् इन्द्रियां (प्राणे निश्रेयसं विदित्वा) प्राणमें कल्याण वा श्रेष्ठताको जानकर इत्यादि और अनुगति अर्थात् अनुप्रवेश कहनेसे अथवा अनुशब्दका अर्थ समान होनेका ग्रहण करनेसे यह अर्थ ग्राह्य है कि,मंत्रार्थ वेद व इतिहास आदिमें एकही समानगतिसे चेतन अभिमानी देवताओंके होनेके प्रमाणकी उपलब्धि होनेसे अभिमानी देवताओंको पृथिवीआदि नामसे कहना सिद्ध होताहै अनुगति अर्थात् अनुप्रवेशके प्रमाणमें यह श्रुतिवाक्य है यथा **अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत् आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्** अर्थ-अग्नि वाक् होकर मुखमें प्रवेश किया सूर्य नेत्र इन्द्रिय होकर दो नेत्रगोलकोंमें प्रवेश किया वायु प्राण होकर नासिकामें प्रवेश किया इत्यादि ऐसे बोलने ईक्षाकरने वादकरने प्रवेशकरनेके वर्णनसे हम मनुष्य चेतन शरीरधारियों के समान व्यवहार व ज्ञान व कर्म होनेसे चेतन अभिमानी देवतों के वर्णनका निश्चय होताहै इससे अचेतनका चेतन नहीं कहा जिससे विलक्षण जगत्का ब्रह्मका कार्यहोना शब्दप्रमाण से स्वीकारके योग्य मानाजाय जगत् ब्रह्मका कार्य होना संभव न होनेसे स्मृति के अनुसार जगत् का प्रधान उपादान कारण होना वेदान्तवाक्यों से प्रतिपादित समझना चाहिये अब इस आक्षेप का उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ५ ॥

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

अनु०--विलक्षण होना तो देखाजाताहै ॥ ६ ॥

भाष्य-विलक्षणहोना यह शब्द सूत्रमें शेष है, पूर्व सम्बंधसे ग्रहण किया जाताहै पूर्वपक्षके निवारणके लिये तु शब्द सूत्रमें कहाहै क्योंकि वाक्यविशे

में तुशब्द कहनेका आशय विरुद्धपक्ष के खण्डनका होता है जैसा भाषामें कोई किसी वस्तुको कहताहै कि, यह इसप्रकारकी नहीं है और उसके विरुद्ध कहनेवाला कहताहै यह तो ऐसाही है तुशब्दका अर्थ तो भाषामें आशय अनुसार ग्रहण कियागया व लिखागयाहै पूर्वपक्षमें जो विलक्षण होनेसे ब्रह्मके जगत्के कारण होनेका निषेध कियाहै उसके उत्तरमें ब्रह्मका कारणतत्व स्थापन करनेके लिये सूत्रकारने यह कहाहै कि, विलक्षण होनेसे कारणका निषेध होना ऐकान्तिक नहीं है अर्थात् सर्वत्र ऐसही होवे ऐसा नहींहै क्योंकि विलक्षणहोना तो देखाजाता है अर्थात् कारणसे विलक्षण कार्यका उत्पन्न होना देखाजाता है यथा चेतन जीवात्मा व प्राण संयुक्त शरीरसे विलक्षण चेतन व प्राणरहित केश नख उत्पन्न होते हैं अचेतन गोबर आदिसे चेतन बिच्छूआदि उत्पन्न होते हैं इत्यादि जो यह कहाजाय कि, विलक्षणता नहीं है अचेतन शरीरकारणसे अचेतन केशआदि तथा अचेतन गोबर आदिसे अचेतन विच्छूआदि कृमिके शरीर उत्पन्न होतेहैं तौ यद्यपि अचेतन शरीरकारणसे अचेतन केशआदि कार्य होते हैं परन्तु शरीर चेष्टा इन्द्रिय व अर्थोंका आश्रय व सुखदुःखका हेतु होनेसे व केशआदि ऐसे न होनेसे केशआदिमें शरीरसे विलक्षणता है तथा गोबरआदिसे शरीरमात्र उत्पन्न होनेमें विलक्षणता नहीं है बिच्छूआदिमें चलना भयआदिके ज्ञानसे भागना आदि चेतनके धर्म होनेकी विलक्षणता है ऐसेही ब्रह्मकारणसे हुये जगत् कार्यमें विलक्षणता है इसका उत्तर यह है कि, यह कहना वा ऐसा मानना असङ्गत है अचेतन शरीर कारणसे अचेतन केशआदि उत्पन्न होते हैं चेतन आत्मा केशआदि रूपसे प्रकट नहीं होता अचेतन गोमय (गोबर) आदिसे अचेतन विच्छूआदिके शरीरमात्र उत्पन्न होते हैं उत्पन्नशरीरोंमें अदृष्ट कर्मसंस्कार वशसे चेतनका योग प्राप्त होना अनुमित होता है अचेतनसे चेतनका होना संभव नहीं है जो विलक्षण कार्य होना भी ब्रह्मकारणसे स्वीकार करलियाजाय तौ इस संशयकी प्राप्ति है कि, सम्पूर्ण ब्रह्मका विकाररूपहोना जगत् कार्य है अथवा कुछ होना व कुछ नहोना अथवा चैतन्यके अनुवर्तन नहोनेको कार्य कहते हैं प्रथम विकल्पमें सब प्रकृति (उपादान कारण) के विकाररूप होनेमें प्रकृतिके अतिनाश होनेसे प्रकृति व विकारभाव रहना संभव नहीं होता ब्रह्मका निजस्वरूपही नष्ट होजायगा द्वितीय विकल्पमें अर्थात् कुछ जगद्रूप होना व कुछ भिन्न रहना माननेमें ऐसा प्रसिद्ध नहीं है और न निरवयवब्रह्मका ऐसा होना संभव है क्योंकि, भागका होना सावयवहीमें होसक्ता है तृतीयमें दृष्टान्तका अभाव है अर्थात ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं विदित होता कि, जिससे जिसमें चैतन्य नहीं है ऐसे जड सावयव लोह काष्ठ आदिका ब्रह्म कारणसे उत्पन्न होना सिद्ध कियाजाय क्योंकि, कारणमें सूक्ष्मगुणोंसे कार्यकी सत्ता रहती है कारणही परिणाम व आकृतिभेद विशेषसे कार्यरूप होता है रूप आदि गुण कारण व कार्यमें समानही होतेहैं जैसे मृत्तिका व घट सुवर्ण व कुण्डल

आदिमें जो विना कार्यके सत्ता के नियम कार्यवस्तुकी उत्पत्ति होती तौ तन्तु सिकता आदि से घट व तेल आदि उत्पन्न होते ऐसा नहोनेसे नियत कारणसे नियत कार्यकी प्रकटता होनेसे कारणमें कार्यका अदृष्ट सत्ता होना सिद्ध होता है ब्रह्ममें ब्रह्मसे विलक्षण अशुद्ध सावयव अचेतन जगत्के गुणोंका सत्ता होना संभव न होनेसे ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण मानना युक्त नहीं है अब इस विकल्प वा आक्षेपकी विलक्षणता होनेसे ब्रह्ममें जगत्का सत्ता न मानाजाय असतही जगतका (जो नहींथा उसीका) उत्पन्न होना माना जाय यह उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥

असदितिचेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

अनु०—असत्था यह कहाजाय नहीं प्रतिषेधमात्र होनेसे॥७॥

भाष्य—जो कार्यरूप जगत्से कारणरूप ब्रह्म विलक्षण है तो कार्य व कारण दोनों के भिन्न द्रव्य होनेसे कारण परब्रह्ममें कार्य जगत् नहीं रहता असत्ही जगत् की उत्पत्ति होती है इससे जगत् ब्रह्ममें असत् था न यह कहाजाय अर्थात् ऐसा मानाजाय तौ ऐसा कहना वा मानना युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है प्रतिषेध मात्र होनेसे अर्थात् प्रतिषेध कथनमात्र होनेसे वस्तुतः कार्यका सत्होना प्रतिषेधके योग्य न होनेसे क्योंकि जो कार्यके सत्ताका सम्बंध नहीं होता तौ विशेष कारणसे विशेष कार्य की उत्पत्तिका नियम नहोता विना कारणविशेष कार्यविशेष की उत्पत्ति न होनेसे कारणमें कार्यका सत्होना निश्चित होता है इससे जगत् कार्यके धर्म ब्रह्ममें मानने ही योग्य होंगे और ब्रह्म व जगत्का एकही द्रव्यहोना वाच्य होगा यथा आकृति परिमाणकी विलक्षणता होनेपरभी सुवर्ण व कुण्डलके एकद्रव्य होनेमें भेद नहीं होता इस सूत्रमें पूर्वसूत्रमें जो समान लक्षण होनेका प्रतिषेध किया है उसको सूत्र वाक्यमें शेष मानकर योजित करनेसे सूत्रका ऐसा अर्थ ग्राह्य है कि असत् था यह कहाजाय नहीं प्रतिषेध मात्र होनेसे अर्थात् समानलक्षण होनेके नियमका प्रतिषेधमात्र होनेसे आशय यह है कि पूर्वसूत्रमें शरीरसे केशआदि गोमयसे विच्छू आदि उत्पन्न होनेका अभिप्राय सूचितकरनेसे कारण व कार्यके समान लक्षण होनेके नियमका प्रतिषेधमात्र है द्रव्यके सत्होनेका प्रतिषेध नहीं कहा इससे कनक व कुण्डलद्रव्यत्वसे एकही वस्तु होनेके समान ब्रह्मही अपनेसे विलक्षण जगत् आकारमें परिणामको प्राप्त होताहै अर्थात् जगत्में रूप बनजाताहै ऐसाही मानना होगा परन्तु एक द्रव्य माननेमें दोषहोनेकी प्राप्तिको आगे सूत्रमें वर्णन करतेहैं ॥ ७ ॥

अपीतौतद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

अनु०—प्रलयमें वैसेही प्रसङ्ग होनेसे समंजस (समीचीन वा अच्छा) नहीं है ॥ ८ ॥

भाष्य–प्रलयमें जब सब चित् अचित्वस्तुरूप जगत् ब्रह्ममें लीनहोता। ० ब्रह्मसे भिन्न ज्ञात व वाच्य नहोसकनेसे एकीभावको प्राप्त सत्ब्रह्मही शब्दसे वाच्य होता है उपादान कारण माननेमें वैसाही जैसा दोष व विरुद्धगुणयुक्त जगत् है ब्रह्मके होनेका प्रसङ्ग होनेसे ब्रह्मको उपादानकारण व ब्रह्म व जगत्को कनक व कुण्डलके समान एकही द्रव्यमानना अच्छा नहीं है अर्थात् ऐसा मत उत्तम व ग्राह्य नहीं है अब इसका व्याख्यान यह है कि, प्रलयपूर्वक सृष्टिका होना वर्णित है और प्रलयमें आत्मा ब्रह्मका होना व ब्रह्मकारणात्मक जगत्कार्यको मानकर ब्रह्मकारण में लीन ब्रह्मसे भिन्न जगत्के न होनेसे–कनक कुण्डलके समान एकही द्रव्य स्वीकारकरके सृष्टिसे पूर्व ब्रह्मके सत्होने व आत्माशब्दसे वाच्यहोनेसे जगत्को भी सत् व आत्मारूप होना वर्णन कियाहै यथा छान्दोग्य व ऐतरेय उपनिषद्में ऐसा वर्णन है **सदेव सौम्येदमग्र आसीत् आत्मावा इदमग्र आसीत्** अर्थ–हे सौम्य (अग्रे) आगे अर्थात् सृष्टिसे पूर्व (इदं सत् एव) यह अर्थात् यह दृश्यमान जगत् सत्ही (आसीत) था (अग्रे) सृष्टिसे पहिले (इदम् आत्मा वै) यह जगत् आत्मा ही (आसीत्) था इन वाक्योंसे जो कारण व कार्य का एकही द्रव्य होना अंगीकार कियाजाय प्रलयमें एकही होनेसे जगत्कार्यमे जितने दोष व पुरुषार्थ विदित होतेहैं वह सब ब्रह्ममें भी होंगे ऐसा माननेमें सब वेदान्तके वाक्य असत्य व अयुक्त होजायंगे क्योंकि वेदान्तमें ब्रह्मको ऐसा वर्णन कियाहै **यस्सर्वज्ञः सर्ववित्** अर्थ–जो सबको जाननेवाला व सबमें विद्यमान **अपहतपाप्माविजरोविमृत्युः** अर्थ–पापरहित जरारहित मृत्युरहित है **न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते** अर्थ– (तस्य कार्यं) उसका कोई कार्य (च) और (करणं) करण (न विद्यते) नहीं है कोई (तत्समः च अभ्यधिकः) उसके बराबर और उससे अधिक (नदृश्यते) नहीं देखाजाता **तयोरन्यः पिप्पलंस्वाद्वत्ति** अर्थ–(तयोः अन्यः) उन दोमेंसे अन्य एक अर्थात् जीवात्मा व परमात्मारूप दो पक्षियोंमेंसे एक जीवात्मा (पिप्पलं स्वादु अत्ति) पिप्पलको अर्थात् कर्मफलको भक्षण करताहै अर्थात् भोग करताहै **अनीशया शोचति मुह्यमानः** असमर्थतासे अर्थात् संसारके विषय व दुःखभोगरूप फांसीसे निकलनेमें समर्थ न होनेसे मोहको प्राप्त अविद्याआदि क्लेशोंमें ग्रस्त जीव शोचताहै इस प्रकारसे कहेहुये परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एकही वस्तु वा पदार्थमें होनेका प्रसंग होगा परन्तु ऐसा होना संभव नहोनेसे असंगत है यदि यह कहाजावे कि, सब चित् अचित् वस्तु ब्रह्मका शरीर है उस चित्अचित् वस्तुरूप शरीरही में दोषोंके प्राप्तहोनेसे कारण व कार्य अवस्थाको प्राप्त ब्रह्ममें दोषोंका प्रसंग नहींहै तो यह युक्त नहीं है क्योंकि, जगत् व ब्रह्मका शरीर व शरीरीहोना असंभव है संभव होनेमें शरीर सम्बंध से ब्रह्ममें लग वा प्राप्त हुये दोषोंका निवारण नहीं होसक्ता चित् अचित् वस्तुका ब्रह्मका शरीर

होना इससे संभव नहीं है कि, जो कर्मफल रूप सुख व दुःखका साधन व इन्द्रियोंका व पंचवृत्तिधर्मक प्राणसे होनेवाली चेष्टाका आश्रय है पृथिवी आदि भूतोंके मेल विशेषसे बनाहुआ है उसको शरीर कहते हैं परमात्माको श्रुतिमें ऐसा वर्णन किया है **अपहतपाप्माविजरः** अर्थ--पापरहित जरारहित है **अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति** अर्थ--अन्य अर्थात् जीवसे भिन्न परमात्मा इस शरीरमें विना कर्मफलभोग करते साक्षीरूप देखता है **अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुस्सशृणोत्यकर्णः, । अप्राणो ह्यमना इत्यादि** अर्थ--विना हाथ पांव चलता व ग्रहण करता है विना नेत्र देखता व विना कान सुनता है प्राणरहित व मनरहित है इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्म कर्मफलभोग शरीर इन्द्रियरहित प्रतिपादित होनेसे चेतन अचेतनवस्तु उसका शरीर होना सिद्ध नहींहोता और व्यष्टिरूप तृणकाष्ठ आदिकोंका व समष्टिरूप भूतसूक्ष्म इन्द्रियोंका आश्रय होना संभव नहीं होता क्योंकि, सूक्ष्म भूतमें पृथिवी आदिका संघात (मेल) नहीं है और चेतन जो ज्ञानरूपमात्र है उसमें यह सबका होना संभव नहीं है । भोगस्थान ग्रहआदिकोंका शरीर होना प्रसिद्ध नहीं है और परमात्मा जो स्वतःसिद्ध अतिशय आनन्दरूप है उसके लिये चित् अचित्स्थान होनेका नियम होना संभव नहींहोता इससे भोगसाधन मात्रका शरीर होना मन्तव्य नहीं है और **अशरीरं शरीरेषु, अपाणिपादो जवनो ग्रहीता** अर्थ--शरीरोंमें शरीररहित है विनाहाथ पांव चलता व ग्रहण करता है इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे परमात्माके शरीरका अभाव वर्णन कियागयाहै इससे जगत् व ब्रह्मका शरीर शरीरी होना असंभव है संभव माननेमें ब्रह्ममें जैसे शरीरमें हुये रोगआदिका व चन्दनआदिक स्पर्शका दुःख सुख जीवात्माको होताहै ऐसाही जगत्शरीर सम्बंधी दोषोंके होनेका प्रसंग ब्रह्ममें होनेसे अर्थात् जगत्के समान अचेतन सावयव अशुद्ध दुःखपरिणामरूप ब्रह्मके होनेसे ब्रह्मको उपादान कारण मानना असमञ्जस है अर्थात् अन्याय वा युक्ति हेतु विरुद्ध है इससे उपादान कारण प्रतिपादनपर वेदान्तवाक्य स्वीकारके योग्य नहीं है अब इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ८ ॥

नतु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

अनु०--नहीं तौ दृष्टान्त होनेसे ॥ ९ ॥

भाष्य--असमंजस तौ नहीं है क्यों असमंजस नहींहै दृष्टान्त होनेसे अर्थात् एकही के दो अवस्थाओंका योग होनेहीमें गुण व दोषोंके भेद होनेका दृष्टान्त होनेसे अर्थात् दृष्टान्त विद्यमान होनेसे आशय यह है कि, चिदचित् वस्तु शरीर होनेसे उसमें आत्मारूप विद्यमान परब्रह्मका संकोच व विकासरूप कार्य व कारणभाव दो अवस्थाओंका सम्बंध होनेमें भी कुछ विरोध नहीं है क्योंकि संकोच व

विकास परब्रह्मके शरीररूप चित् व अचित् वस्तुमें प्राप्त होते हैं शरीर में प्राप्त हुये दोष आत्मा में नहीं लगते और आत्मामें प्राप्त गुण शरीर में नहीं होते यथा देवता मनुष्यआदि शरीरों युक्त जीवात्माओंका दृष्टान्त विद्यमान है कि, शरीरमें प्राप्त बालत्व युवत्व व स्थविरत्वका अर्थात् लडकाई जवानी व बुढाई आदिका सम्बंध आत्माके साथ नहीं होता और आत्मामें प्राप्त ज्ञान सुखआदि गुण शरीरमें नहीं होते देवता उत्पन्न हुआ मनुष्य उत्पन्न हुआ और यह वही बालक अब युवा (जवान) व स्थविर (वृद्ध) है यह कहना शरीर व आत्माविषयमें मुख्य है जीवात्माके भूतसूक्ष्म शरीरहीका देवता व मनुष्यआदि रूप होना वाच्य होता है आत्मा सब शरीरोंमें एकही रहता है जैसा कि, आगे एकदेह को छोडकर अन्यदेहमें जाने वा प्राप्त होनेकेलिये भूतसूक्ष्मों-सहित जीवात्मा देहसे गमन करता है इत्यादि सूत्रकारही वर्णन करेंगे अर्थात् आगे तृतीय अध्यायमें वर्णन किया है जो यह शङ्का है कि, चित् अचित् वस्तु-रूप सूक्ष्म व स्थूल जगत् ब्रह्मका शरीरहोना संभव नहीं है वा सिद्ध नहीं होता इसका समाधान यह है कि, अनेक वेदान्त वाक्योंमें स्थूल व सूक्ष्म चेतन अचेतन सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मका शरीर होना वर्णित है इससे अपनी मतिसे कल्पित कुतर्कको त्यागकर वेदान्त वा श्रुतिवाक्योंसे सिद्ध जगत्का शरीर होनाही मन्तव्य है वेदान्तवाक्य यह है यथा वाजसनेयक में काण्वशाखामें और माध्यन्दिन शाखामें अन्तर्यामि ब्राह्मणमें ऐसा वर्णन है **यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्य पृथिवी शरीरम्** अर्थ–जो पृथिवीमें रहता हुआ विद्यमान है पृथिवी जिसका शरीर है इसीप्रकारसे पृथिवीआदि समस्त अचित् (अचे-तन) वस्तु को और **यो विज्ञाने तिष्ठन् यस्य विज्ञानं शरीरं य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरमिति** अर्थ–जो विज्ञान में (बुद्धिमें) स्थित रहताहै जिसका विज्ञान शरीर है जो आत्मामें (जीवात्मामें) स्थितहै जिसका आत्मा शरीर है इसप्रकारसे चेतनको पृथक् कहकर प्रत्येक पृथिवीआदि जड व चेतन को परमात्माका शरीर होना वर्णन कियाहै सुबाल उपनिषदमें भी ऐसेही **यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यस्य पृथिवी शरीरम्** अर्थ–जो पृथिवीके भीतर विचरताहै पृथिवी जिसका शरीर है यहांसे आरंभकरके **य आत्मानमन्तरे सञ्चरन् यस्यात्मा शरीरम्** अर्थ–जो आत्माके भीतर सञ्चार करता विद्यमानहै जिसका आत्मा शरीर है इत्यादि कथनसे सब अवस्थामें जड व चेतनवस्तुको परमात्माका शरीर होना कहकर **एष सर्वभूतान्तरा-त्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायण इति** अर्थ–(एषः) यह (सर्वभूतान्तरात्मा) सब भूतोंका अन्तरात्मा (अपहतपाप्मा) पापरहित (दिव्यः) प्रकाशमान (एकःदेवःनारायणः) एक अद्वितीय देवता नारायण है इसप्रकारसे सबभूतोंमें आत्मारूप होना कहाहै स्मृतियोंमें भी ऐसाही वर्णनहै यथा

जगत्सर्वं शरीरन्ते अर्थ--सब जगत् तेरा शरीर है **यदम्बु वैष्णवः कायः** अर्थ--जो जल है यह विष्णुका शरीरहै **तत्सर्वं वै हरेस्तनुः** अर्थ--वह सब हरिका अर्थात् अपने सेवकों के क्लेशका हरनेवाला जो परमात्मा है उसका तनु है **तानि सर्वाणि तद्वपुः** अर्थ-वे सब उसका शरीर है अर्थात् उक्त परमेश्वरका शरीर है **सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् इत्यादि** अर्थ-उसने सृष्टिरचनाका संकल्पकरके अपने शरीरसे इत्यादि अर्थात् अपने भूतसूक्ष्मशरीरसे सृष्टिको उत्पन्न किया, इत्यादि वाक्योंसे सब जडचेतनवस्तु ब्रह्मका शरीरहोना वर्णन किया गया है लोकमें शरीरशब्द घटआदि शब्दके समान एकाकार द्रव्यमें नियतहोनेकी वृत्तिसे अनुगत (एकही समान ज्ञात) नहीं है अर्थात् नियत एकही समान आकृतिवृत्ति सम्बंधी द्रव्यका वाचक नहीं है अनेक विलक्षण आकारयुक्त कृमि कीट पतङ्ग सर्प नर पशुआदिमें अगौण अर्थात् मुख्यप्रयोगसे प्रयुक्त (प्रयोग कियागया) देखाजाता है तिससे जो प्रवृत्तिनिमित्तका व्यवस्थापनरूप सब प्रयोगोंके अनुगुण हो अर्थात् सर्वत्र घटित होसकै ऐसा लक्षण शरीरका स्वीकार करनाचाहिये कर्मफलभोगका जो हेतु वा साधन हो इत्यादिक प्रवृत्तिका निमित्त होनेसे जो लक्षण शरीरका कहा गया है वह सब प्रयोगोंके अनुगुण नहीं है अर्थात् सब प्रयोगोंमें वा सर्वत्र समानरूपसे घटित वा चरितार्थ नहीं हो सक्ता क्योंकि जैसा कि पूर्वही कहागया है ईश्वरके शरीररूप वर्णन कियेगये पृथिवी आदिमें उक्त लक्षणकी प्राप्ति नहीं होसक्ती अर्थात् ईश्वरकी इच्छासे हुये शरीरोंमें और **स एकधा भवति त्रिधा भवति** अर्थ-वह अर्थात् मुक्त एकप्रकारका होता है तीन प्रकारका होता है इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे मुक्तोंके इच्छामात्रसे हुये मुक्तोंके अनेक शरीरमें उक्त लक्षण व्याप्त नहींहोता क्योंकि मुक्तोंके शरीरोंमें कर्म फलभोगके निमित्त होनेका अभाव है और परमपुरुषकी इच्छासे हुयोंमें पृथिवीआदि भूतोंका संघात विशेष नहीं है जैसा कि स्मृतिमें कहाहै **न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः** अर्थ--(अस्य परमात्मनः)इस परमात्माका(देहः)देह (भूतसंघसंस्थानः न) भूतोंके मेलसे बना हुआ नहींहै इससे भूतसंघातरूप शरीर होनेके लक्षणकी व्याप्ति नहींहै और पंचवृत्ति प्राणके आधीन जिसका धारण है अर्थात् पंचवृत्तिप्राण के आधीन जो स्थित रहताहै ऐसा लक्षण स्थावर शरीरोंमें व्याप्त नहींहोता क्योंकि स्थावरोंमें यद्यपि प्राणवायु रहताहै तथापि पंचवृत्तिसे अर्थात् पांचप्रकारसे शरीरमें रहकर शरीरका धारक नहींहोता और इन्द्रियोंका आश्रयहोनेका लक्षण भी स्थावरोंमें अव्याप्त समझना चाहिये इससे शरीरका लक्षण ऐसा स्थित करना चाहिये कि, जिस चेतनका जो द्रव्य सर्वात्मासे (सम्पूर्णरूप व सबप्रकारसे) स्वार्थमें (अपनेलिये) नियम कियेजाने व धारण किये जानेके योग्य होवै वह चेतन छोडके सम्पूर्ण एकस्वरूप वस्तु उसका (चेतनका) शरीर है रोगयुक्त शरीरोंमें नियमन (नियममें वा आधीन रखना) आदि न होनेकी शङ्का

का उत्तर यह है कि, जैसे औषधविशेषसे अग्निआदिकी शक्तिका प्रतिबंध होनेसे उष्णताआदिका होना विदित नहीं होता ऐसेही नियमनशक्ति प्रतिबंधको प्राप्त होनेसे विद्यमानही नियमनशक्तिका अदर्शन होताहै अर्थात् प्रतिबंधकारणसे नियमनकी प्रकटता न होनेसे नियमनआदि देखनेमें नहीं आते अथवा ज्ञात नहीं होते और मरेहुयेके शरीरमें पूर्वही शरीरनामसे कथित भूतसंघातरूप एकपिण्डदेशहोनेसे शरीर होनेका व्यवहार होताहै अर्थात् संघातरूप पिण्ड पूर्वव्यवहार सम्बंधसे शरीर नामसे कहाजाता है नियम और धारण करनेवाले चेतनके वियोग होनेपर शरीर चेष्टारहित होजाताहै और फिर बिगडकर नष्ट होजाता है इससे यही लक्षण स्वीकारके योग्य है इस लक्षणसे सब वस्तु सम्पूर्णरूपसे स्वार्थमें परमात्मासे नियमकरने व धारण करनेके योग्य उसकी (परमात्माकी) शेषतासहित एकस्वरूप है ऐसा होनेसे सब चेतनअचेतन उसका शरीर है **अशरीरं शरीरेषु इत्यादि** अर्थ–शरीरोंमें शरीररहित है इत्यादि जो श्रुतिमें वर्णित है यह कर्मनिमित्तसे हुये शरीरके प्रतिषेधपर है क्योंकि पूर्वलिखित श्रुतियोंसे शरीरका होना सिद्ध है अथवा ऐसा आशय ग्राह्य है कि जैसे जीवात्मा शरीरके भीतर स्थित हो शरीर का नियन्ता व धारणकर्ता होता है ऐसेही सब वस्तुओंमें प्राप्त स्थित परमात्मा सबको नियममें रखता धारण करता है इस साधर्म्यसे सब वस्तुको शरीरके समान कल्पना करिके उपचारसे सबको ब्रह्मका शरीरहोना वर्णन किया है साध्यधर्मकी समानतासे दृष्टान्तकी सिद्धि होनेसे अन्य अंशमें विरोध प्राप्तहोनेमें भी कुछ दोष नहीं है यह पुरुष सिंह है इत्यादि गौण वा औपचारिक प्रयोगोंके समान सब वस्तु का शरीर कथन स्वीकार करनेमें उक्त शंकाओंका समाधान निश्चित करना चाहिये ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

अनु०–अपने पक्षमें दोषहोनेसे भी ॥ १० ॥

भाष्य–उक्त प्रकारसे ब्रह्मकारणवाद निर्दोष होनेमात्रही से ब्रह्म व जगत् का शरीर व शरीरीभाव स्वीकार करना व शरीर व शरीरी में अभेद भावके लक्ष्यसे ब्रह्मका कारण होना माननेयोग्य नहीं है प्रधान कारण वादीको अपने पक्षमें दोषहोनेसे भी उसको त्यागकर ब्रह्मकारण वादही मानना युक्तहै प्रधान कारणवादमें दोष यह है कि, जड प्रधान स्वयं कर्ता नहीं होसक्ता और प्रधान कारणवादी कपिलाचार्य पुरुषको अकर्ता निर्विकार वर्णन किया है इससे पुरुषका कर्ता वा कारण होना संभव नहीं है इससे सृष्टिके लिये प्रधानकी प्रवृत्ति नहीं होसक्ती और न प्रधान की सन्निधिसे प्रधानके धर्म पुरुषमें प्राप्त होनेसे पुरुषका कर्ता वा कारण होना मानना युक्त होसक्ता है अर्थात् साङ्ख्यदर्शन के निर्माता वा वक्ता

आचार्य साङ्ख्यमें ऐसा वर्णन कियाहै कि, प्रकृतिकी सन्निधिसे प्रकृतिके अर्थात् प्रधानके धर्म कर्तृत्वआदि पुरुषमें होतेहैं और पुरुषकी सन्निधिसे प्रकृतिके अर्थात् प्रधानके धर्म कर्तृत्व आदि पुरुषमें होतेहैं और पुरुषकी सन्निधि (समीपता) से पुरुषकी चेतनतारूप धर्म प्रकृतिमें प्राप्तहोताहै तब प्रकृति जगत्की उत्पत्तिको आरंभ करतीहै पुरुष स्वभावसे निर्विकार अकर्ताहै प्रकृतिकी सन्निधिसे प्रकृतिके धर्मका उसमें अध्यासहोनेसे कर्ता कहाजाताहै जैसे अयस्कान्तमणि अर्थात् चुम्बक यद्यपि कुछ नहीं करताहै परन्तु उसके समीप होनेहीसे लोहके टुकडे खिचतेहैं वा चलतेहैं उनके संचलनमें चुम्बक खींचताहै ऐसा चुम्बकका कर्ता होना कहाजाताहै ऐसेही पुरुषका कारण वा कर्ताहोना समझना चाहिये अब इसमें यह विचार करनेयोग्य है कि, निर्विकार चिन्मात्र (चेतनमात्र) एक रस पुरुषकी प्रकृतिके जिस सन्निधानसे प्रकृतिके धर्मके अध्यास सम्बंधसे सृष्टिमें प्रवृत्ति होतीहै वह सन्निधान किसप्रकारका मानना चाहिये वह प्रकृतिका पास होनाही मात्रहै अथवा प्रकृतिमें प्राप्त कोई विकाररूप है अथवा पुरुषमें प्राप्त कोई विकार है, पुरुषमें प्राप्त विकार नहीं माना जासक्ता क्योंकि, पुरुषमें विकार होना माना नहींगया और प्रकृतिका भी विकार नहीं होसक्ता क्योंकि, सन्निधान धर्मके अध्यासरूप कार्यका हेतु है, जो वही कार्य मानलियाजायगा तो अध्यासका हेतु होना असंभव होगा क्योंकि, वही हेतु व हेतुमान् दोनों नहीं होसक्ता होना-मात्रही रूप सन्निधान होनेमें मुक्तमें भी प्रकृतिधर्मके अध्यास होनेका प्रसंग होगा अर्थात् मुक्तमें प्रकृतिधर्मका अध्यासहोनेसे मुक्तके बद्ध होजानेका प्रसङ्ग होगा इससे किसीप्रकारसे पुरुषकी जगत्रचना में प्रवृत्ति नहीसकने तथा जड प्रकृतिका जडत्वसे स्वयं जगत्रचनामें प्रवृत्त न होसकने के दोषसे भी प्रकृति कारण-वाद युक्त नहीं है इस साङ्ख्यमत विषयमें पूर्वपक्षपूर्वक निर्णयको सूत्रकार आगे विशेष वर्णन करेंगे ॥ १० ॥

तर्काऽप्रतिष्ठानादपि ॥ ११ ॥

अनु०—तर्कके प्रतिष्ठान (प्रतिष्ठा) न होनेसे भी ॥ ११ ॥

भाष्य--तर्कके प्रतिष्ठित नहोनेसेभी श्रुतिमें जिसका प्रतिपादन है ऐसा श्रुति-मूल ब्रह्मकारणवादही आश्रय करनेयोग्य है अर्थात् प्रधानकारणवाद श्रुतिमूलक न होनेसे ग्रहण के योग्य नहीं है ब्रह्मकारणवादही ग्रहण करनेके योग्य है तर्ककी प्रतिष्ठा, नहोनेसे कहनेका आशय यह है कि, एक मनुष्य जो अपने तर्क से किसी पदार्थका निर्णय कर्ता है उसको उससे विशेष तर्ककरनेवाला अथवा अपने तर्कको यथार्थ समझनेवाला दूसरा, खण्डनकरके अपने तर्कसे निर्णय कियेहुयेको स्थापित करताहै उससे भी अन्य उसके तर्कमें दोष आरोपण कर्ताहै इससे किसी एकके तर्कका प्रतिष्ठान नहीं होसक्ता यथा शाक्य उलूक्य गोतम

कणाद कपिल पतञ्जलि श्रेष्ठ पुरुषोंके तर्कोंका एक दूसरेके तर्कोंसे व्याघात होनेसे तर्कका प्रतिष्ठित न होना विदित होताहै परोक्ष अर्थ जो मनुष्योंके इन्द्रियजन्य ज्ञानसे बाहर है उसमें श्रुतिमें जो वर्णित है वही स्वीकारके योग्य है इस कथनका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मकारणवादमें जो समाधान वर्णन कियागयाहै उसमें जो तर्कका अवकाश रहने वा किये तर्कका यथेष्ट समाधान न समझनेमें संशय रहै तौ ब्रह्मकारणवाद अथवा किसी परोक्ष पदार्थमें जो बुद्धि व इन्द्रियोंका विषय नहीं है उसमें श्रुतिही का प्रामाण्य मानना युक्त है इससे ब्रह्म कारणवादही मानने योग्य है अब इस शंकाका आक्षेप करिकै कि कपिलआदि महात्माओंके तर्कको मिथ्या मानना व तर्कको सर्वथा अप्रतिष्ठित समझनाभी उचित नहीं है क्योंकि तर्कही द्वारा निर्णय करनेसे तत्वका निश्चय होताहै इसका समाधान वर्णन करतेहैं ॥ ११ ॥

अन्यथाऽनुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः१२॥

अनु०--अन्यथा अनुमानके योग्य है जो यह मानाजावै तौ ऐसा माननेमें भी मोक्ष न होनेका प्रसङ्ग है इससे मानना चाहिये ॥ १२ ॥

भाष्य--इससे मानना चाहिये यह सूत्रमें शेष है आशय यह है कि, जो तर्कको अप्रतिष्ठित न मानै अन्यथा अर्थात् तर्कही द्वारा अनुमेय (अनुमानके योग्य) है जो ऐसा मानाजावै तौ ऐसा मानने में भी मोक्ष न होनेका अर्थात् तर्कसे मोक्ष न होनेका प्रसङ्ग है इससे ब्रह्महीं कारण होना व कारणका कार्यमें अभेदभाव मानना चाहिये आशय यह है कि, जो तर्कहीसे सिद्ध वस्तुको यथार्थ माने तौ पुरुष बुद्धिमूलक तर्कमें ऐसा ज्ञात होनेसे कि, एक अपनी बुद्धि से तर्क करिकै किसी पदार्थको स्थापित करता है दूसरा उससे अधिक तर्कमें कुशल उसके तर्कमें दोष आरोपण करके उसके मतको खण्डन करता है उसके भी तर्कमें कोई अन्य बुद्धिमान् दोष देखाकर अन्य सिद्धान्त वर्णन करता है और बुद्धिसे विचार करनेमें एक किसीके मतमें कुछ दोष होनेका अवकाश विदित होता है इससे एक दूसरेके तर्क व पक्ष प्रतिपक्ष अवलम्बन करके अर्थके निश्चय करनेके मनोरथमें तर्कसे विमोक्ष (छुटकारा) न होनेका प्रसंग है अर्थात् सर्वथा तर्कसे रहित न होनेकी प्राप्ति है इससे अतीन्द्रिय अर्थमें अर्थात् जो इन्द्रिय द्वारा जानने योग्य वस्तु नहीं है उसमें शास्त्रही (वेदही) प्रमाण है इससे तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है जैसा श्रुतिमें कहा है **नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ता ऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ** अर्थ-यमने कहा है कि हे प्रेष्ठ अर्थात् अतिप्रिय नचिकेता (एषा मतिः) यह मति अर्थात् यह बुद्धि जो मैंने तुझको उपदेशसे ब्रह्मज्ञान

विषयमें दी है (तर्केण न आ अपनेया) तर्कसे न त्यागकरनाचाहिये अर्थात् तर्कसे सिद्ध नहोने व समझमें न आनेसे त्याग न करनाचाहिये (अन्येन एव) अन्यही से अर्थात् लौकिक तर्क करनेवालेसे भिन्न ब्रह्मज्ञानी वेदके ज्ञाता आचार्यहीसे अथवा लोकसे अन्य (भिन्न) वेदहीसे (प्रोक्ता) कहीगई (सुज्ञानाय) उत्तम ज्ञानके लिये होती है यद्यपि तर्क निर्णयके लिये उपयोगी है परन्तु श्रुतिसे प्रतिपादित वस्तुमें जो उसकी पुष्टिके लिये तर्क होवे वही ग्रहणके योग्य है केवल बुद्धिमूलक तर्क ग्राह्य नहीं है यथा महात्मा मनुजीने कहाहै **आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः** अर्थ--(यः) जो पुरुष (आर्षं) ऋषियोंके कहेहुये अर्थात् उपदेश किये हुये पदार्थ को (च) और (धर्मोपदेशम्) धर्मके उपदेश को (वेदशास्त्राविरोधिना तर्केण अनुसंधत्ते) वेदशास्त्रके विरोध से रहित तर्कके पश्चात् धारण वा निश्चय करता है (सः) वह (धर्मं) धर्मको (वेद) जानता है (इतरः न) दूसरा नहीं अर्थात् नहीं जानताहै इससे सांख्य आदि स्मृति वेदविरुद्धतर्कमूलक होनेसे प्रधानकारणवाद अंशमें मानने योग्य नहीं है ब्रह्म कारणवाद ही वेद प्रमाण से सिद्ध व उक्त प्रकारसे तर्कसे भी पुष्ट माननेके योग्य है जो आचार्य तर्काप्रतिष्ठानात्से अविमोक्षप्रसंग यहांतक एकही सूत्र मानते हैं यह भी युक्त है, सूत्रकारकी शैलीके विरुद्ध होनेकी शङ्का करके दो सूत्र पृथक् २ स्थापन करनेमें कोई विशेष फल नहीं है और शैलीके विरुद्ध होनेके हेतुसे कोई दोष विशेषकी प्राप्ति नहीं है न सूत्रकारकी ऐसी प्रतिज्ञा निश्चित होनेका हेतु विदित होता है कि, हेतु कथन मात्रमें सूत्र पूर्ण कियाजायगा किसी स्थलविशेषमें अन्य तर्क उपयोगी शब्दसहित सूत्रवाक्य न रक्खाजायगा यदि हेतुमात्र कथनमें सूत्रकी समाप्ति रखनेकी शैली स्वीकार कीजावै तौ **जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात्** अ० १ पा० १ सू० ३२ में तीन हेतु होनेसे तीन विभागकरनेसे इस एकके तीन सूत्र होनाचाहियेथा इसको श्रीरामानुज स्वामी व शैलीविरुद्ध होनेका दोषारोपण करनेवाले सुदर्शनाचार्यभी एकही स्वीकार किया है इससे यहांभी दोनोंको एकसूत्र माननेमें दोष नहीं है तर्काप्रतिष्ठानात्से प्रसङ्गः पर्य्यन्त एकसूत्रवाक्य स्थापितकरिकै ऐसा सूत्रका अर्थ व आशय ग्रहण करना युक्त व उत्तम विदित होताहै कि इन्द्रियजन्य ज्ञानसे ब्रह्मकारणवाद अर्थात् ब्रह्मका निमित्त व उपादान कारण होना और कारण व कार्यका अभेद होना, पर वा बाह्य होनेसे तर्ककी प्रतिष्ठा न होनेसेभी ब्रह्मकारणवाद में तर्क आश्रयणीय नहीं है इसपरभी जो अन्यथा अर्थात् तर्कही द्वारा अनुमेय (अनुमानके योग्य) मानके निमित्तही कारण होना उपादान कारण नहोना स्वीकार किया जावै तौ ऐसा मानने व होनेपर भी विशेष मोक्ष न होनेका प्रसङ्ग है इससे निमित्त व उपादान दोनो कारण, व करण व कार्यमें अभेदभावसे सब ब्रह्मात्मक मानना यथार्थ है आशय यह

है कि पर मोक्ष विना द्वैत बुद्धिका नाशहुये व लक्ष्य ब्रह्मही सबमें ज्ञात होनेके प्राप्त नहीं होता अर्थात् जबतक उपासक ध्याता ब्रह्मके अति प्रेम व ध्यानमें मग्न होकर द्वैतबुद्धिसे रहित हो अपने को भी ब्रह्मही रूप नहीं देखता तबतक कैवल्य मोक्षको नहीं प्राप्तहोता क्योंकि संसार में भी यह अनुभूत व परीक्षासे सिद्ध होता कि, जिसको किसीसे अतिप्रेम होता है वह अपने चित्तसे अपने प्रेय वा प्रियतमसे अभिन्न व एकही अवस्थामें होनाचाहताहै अपने व उसके पदार्थ व चित्त वृत्तिमें द्वैतभावको त्यागकरता व न रहने का मनोरथ करताहै असमर्थ होनेसे सांसारिक प्रेय वस्तुमें उसका मनोरथ पूर्ण नहीं होता परन्तु अतिप्रेमका धर्म अभेद बुद्धि होनेका निश्चित होता है जबतक भेदबुद्धि है तबतक ध्यान व प्रेमकी उत्कृष्टताका अभाव सिद्ध होता है इसीसे समाधिमें एकाग्रचित्त प्रेममें मग्न ब्रह्ममय देखनेही में मोक्ष प्राप्तहोनेके उपदेश में श्रुतिमें ऐसा वर्णन किया है **मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति** अर्थ–(यः) जो(इह) इस संसारमें (नाना इव) अनेक प्रकारसे वा अनेकके समान (पश्यति) देखता वा जानता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्युसे (मृत्युम् आप्नोति) मृत्युको प्राप्त होता है तिससे मोक्षार्थीको सब ब्रह्ममय लक्ष्य होनेके अभिप्राय से उक्तप्रकारसे शरीर शरीरी व शक्ति व शक्तिमानमें अभेदान्वित भावको ग्रहणकरके ब्रह्मका निमित्त व उपादान दोनों कारण होना स्वीकार करना युक्त व मन्तव्य है यह सिद्धान्त है ॥ १२ ॥

ब्रह्मसे भिन्न प्रधानके समान अन्यकारणोंके प्रतिषेध में सू०
१३ अधि० ४ ।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १३ ॥

अनु०–इससे अर्थात् इसके समान शिष्ट (बाकी) अपरिग्रह (ग्रहण नकियेगयेभी) अर्थात् वेदमें जिनका ग्रहण नहींहै वह भी व्याख्यात अर्थात् निषेध कियेगये समझना चाहिये ॥ १३ ॥

भाष्य–जैसे इस सांख्यतंत्रमें वर्णित कपिलाचार्यके मत प्रधान कारणवादको निराकरण (खण्डन) वा प्रतिषेध कियागया है ऐसेही जो वेदमें ग्रहण नहीं कियेगये अर्थात् जो वेदमें वर्णित नहोनेसे वेदप्रमाणरहित हैं ऐसे कणादआदि अन्य आचार्य ऋषियोंके परमाणुकारणवाद आदि सब जो शिष्ट (कहनेको रहगये) हैं प्रतिषेध कियेगये समझना चाहिये इससे परमाणु कारणत्व शून्यात्मकत्व अशून्यात्मकत्व ज्ञानात्मकत्व अर्थात्मकत्व क्षणिकत्व नित्यत्व ऐकान्तित्व अनेकान्तित्व सत्यासत्यात्मकत्व आदि पक्षोंको निराकृत (खण्डित) जानकर ब्रह्महीको निमित्त व उपादान कारण मानना चाहिये ॥ १३ ॥

भोक्ता होनेकी शंका व समाधान में सू० १४ अधि० ५ ।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १४ ॥

अनु०–भोक्ताप्राप्तहोने वा सिद्ध होनेसे विभाग न होगा जो यह कहाजावै होगा लोकके समान ॥ १४ ॥

भाष्य–जो साङ्ख्यमतवादी यह आक्षेपकरैं कि, जो यह कहागया है कि, स्थूल व सूक्ष्म सब चिदचित् वस्तु (चेतन व जड वस्तु) जिसका शरीर है ऐसे परब्रह्मके कारण व कार्यरूप होनेसे जीव व ब्रह्म दोनोंका स्वभावसे भिन्न होना सिद्ध होता है सो दोनोंका विभाग (भिन्न होना) संभव नहीं होता है ब्रह्मको शरीरवान् माननेमें शरीरवान् जीवहीके समान ब्रह्मकाभी दुःख व सुखका भोक्ता होना सिद्ध होनेसे जीव व ब्रह्ममें विभाग (भेद) न होगा शरीरसंयुक्तको दुःख सुख अवश्य होता है श्रुति प्रमाणसे यह सिद्ध है श्रुतिमें कहा है **न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रियेऽस्पृशत्** इति अर्थ–(सशरीरस्य सतः) शरीरयुक्त सन्तके (प्रियाप्रिययोः) सुख व दुःखका (अपहतिः) नाश (न अस्ति) नहीं है (वाव) निश्चयसे (अशरीरं सन्तं) शरीररहित सन्तको (प्रियाप्रिये) सुख व दुःख (न स्पृशतः) स्पर्श नहीं करते अर्थात् नहींहोते सशरीर जीवोंमें प्राप्त बालत्व स्थविरत्व (लडकाई व वृद्धापन) में जीवमें विकार संभव न होनेमेंभी शरीरके धातुओंके सम व विषमहोनेके निमित्तसे दुःख सुखका योग होता है इससे सशरीर ब्रह्मके कारण होनेके वादमें जीव व ब्रह्मके अविभाग होनेका (भेद नहोनेका) दोष होगा और केवल ब्रह्मके कारण कहनेमेंभी मृत्तिका व सुवर्ण आदिके समान होनेमें जगत्में प्राप्त अपुरुषार्थ आदि दोष ब्रह्ममें प्राप्तहोंगे इससे ब्रह्मकारणवाद अयुक्त होनेसे प्रधानकारणवादही श्रेष्ठ है इसके परिहार वा समाधानके लिये यह कहा है. होगा लोकके समान अर्थात् जीव व ईश्वरके स्वभावमें विभाग इसप्रकारसे समझना चाहिये जैसे लोकमें राजाकी आज्ञाके अनुसार प्रवृत्तहोनेवाले और न प्रवृत्तहोनेवालोंको राजाके अनुग्रह व निग्रह (अनुग्रहके विरुद्ध) से सुख दुःख होनेपरभी शरीरयुक्त होनेमात्र से शासक (शासनकर्ता) राजामें सुख दुःख भोक्ता होनेका सम्बंध नहीं होता, आशय यह है कि, यद्यपि शरीरवान् होनेमें राजाके भृत्यआदि उसके शासनके आधीन व राजा एकही समान होते हैं तथापि उक्तप्रकारसे अन्य भृत्य प्रजाओंको सुख दुःख प्राप्त होता है राजाको नहीं होता द्रविड भाष्यकारने इस विषयमें ऐसा दृष्टान्त वर्णन किया है कि. जैसे कोई शरीरवान असमर्थ सामग्रीरहित किसी घोरवन अनेक सर्प व्याघ्र दुःखद जन्तुओंयुक्त अनर्थ संकटरूपमें प्राप्त होनेसे अतिभय व क्लेशको प्राप्त होता है और समर्थ उक्त अनर्थ क्लेशसे रहित होने वा

निवृत्त करनेकी सामग्रीयुक्त शरीरवान् राजा उस घोर देशमें वर्तमान होनेपरभी व्यजन (पंखा) आदि चलनेसे सुखद वायु देहमें प्राप्तहोने आदि व अन्यसुखसामग्रीद्वारा सुखी रहनेसे उस घोरसंकटयुक्त देशके दोषसे युक्त नहीं होता फिर अभिमत लोकोंको पालन करता है विश्वजनोंसे उपभोग्य भोगोंको धारण करता है ऐसेही ब्रह्म अपने सामर्थ्यसे इस जगत् व सब देशोंमें रहता है उसमें जीवोंके समान दोष प्राप्त नहीं होते सब लोकोंकी रक्षा करता है विश्वजनोंसे भोग्य भोगोंको धारण करता है परन्तु कमलपत्रमें जलका मेल नहोनेके समान भोगोंमें वह आसक्त नहीं होता इस लोकदृष्टान्तसे और इस हेतुसे भी सशरीर माननेमें दृश्य सशरीर जीवोंके समान ब्रह्ममें दोष आरोपण नहीं होसक्ता कि, शरीरके धातुओंके सम व विषम होनेके निमित्त (कारण) से जीवका सुख दुःखका भोक्ता होना व शरीरयुक्त होना कार्य नहीं हुआ वा नहीं है पुण्य व पापरूप कर्मनिमित्तसे है और जो शरीरसहित दुःख सुखरहित न होना श्रुतिमें कहा है वह भी कर्मसे आरब्ध शरीरके विषय में है श्रुतिमें कर्मफलभोगरहित मुक्त आत्माओंके शरीरधारणविषयमें ऐसा वर्णन है **स एकधा भवति त्रिधा भवति पंचधा भवति इत्यादि स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरस्समुत्तिष्ठन्ति इत्यादि स तत्र पर्य्येति जक्षन्क्रीडन्रममाण इति** अर्थ-(सः) वह मुक्त पुरुष (एकधा भवति त्रिधा भवति पंचधा भवति इत्यादि) एकप्रकारका होताहै तीनप्रकारका होता है पांचप्रकारका होताहै इत्यादि अर्थात् इच्छानुसार अनेक वा अनेकप्रकारके शरीर धारण करता व त्यागकरता है (सः) वह मुक्तपुरुष (यदि) जो (पितृलोककामः) पितृलोककी इच्छाकरनेवाला (भवति) होता है तो (अस्य) इसके अर्थात् मुक्तके (सङ्कल्पात् एव) संकल्पहीसे (पितरः) पितर (समुत्तिष्ठन्ति) प्रकट वा उत्पन्नहोते हैं इत्यादि अर्थात पितृलोक आदि सब जिस जिस लोक वा पदार्थकी मुक्त इच्छाकरता है उसके संकल्पमात्रसे वह सब प्राप्त होते हैं कर्मफलभोग बंधनरहित कर्मअनुसार शरीरआदि होने व सुखदुःख होनेका सम्बंध नहीं रहता (सः) वह मुक्त (जक्षन् क्रीडन् रममाणः) हसता क्रीडाकरता अर्थात् अनेकशरीरोंसे क्रीडा करता और इच्छासे उत्पन्न सुखद व भोग्यवस्तु वा ब्रह्मसुखमें रमताहुआ (तत्र) उसमें ब्रह्मलोकमें (पर्य्येति) सर्वत्र सबप्रकारसे ब्रह्मसुखको प्राप्तहोता है इस प्रकारसे इच्छामात्रसे मनोरथ सिद्ध होने वा करनेमें स्वतंत्र होनेसे कर्मसम्बंधसे रहित शुद्धस्वरूपसे प्रकटहुए शरीरयुक्त होनेपरभी मुक्तमें अपुरुषार्थ होनेका कुछ लेश वा गंधमात्र नहीं होता जब मुक्तजीवोंके विषयमें ऐसा श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध है तब नित्यमुक्त सब पापोंसे रहित ब्रह्ममें कर्मसम्बंध होने व शरीरयुक्त होनेमें सुखदुःखभोक्ता होनेका संशय करना सर्वथा अयुक्त है पापरहित परमात्माका स्थूल सूक्ष्मरूप सम्पूर्ण जगतशरीर होनेमें भी कर्म सम्बंध

का लेश वा गंध नहीं है इसमें जो यह शङ्का होवै कि, पूर्वही **संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्** इस सूत्रमें ब्रह्मको भोग प्राप्तहोने की शंकाका समाधान वर्णन कियाहै फिर कहनेका क्या प्रयोजन था तो इसका उत्तर यह है कि, वहां उपासनाके लिये हृदयदेशमें स्थित ब्रह्मका शरीरके अन्तर वर्तमान होनेमात्रसे भोगके साथ सम्बंध न होना वर्णन कियाहै यहाँ जीव व ब्रह्म दोनों के शरीरवान् होनेमें समान सुख दुःखभोक्ता होनेके शंकाका समाधान किया गया है अब यह विज्ञापनके योग्य है कि, जो श्रीशङ्कराचार्य स्वामी वा अन्य अद्वैतपक्षावलम्बी ब्रह्मकारणवादमें भोक्ता व भोग्यके विभाग न होनेकी शंकाकरिके समुद्रफेन व तरङ्गके दृष्टान्तसे विभागप्रतिपादनपर इस सूत्र का व्याख्यान कियाहै वह युक्त नहीं है क्योंकि, अंतरमें विद्यमान शक्ति अविद्या उपाधियुक्त कारणब्रह्मसे सृष्टिहोना माननेवालोंके मतमें इसप्रकारसे आक्षेप व समाधानका होना असङ्गत विदित होता है कि, कारणमें प्राप्त शक्ति व अविद्या उपाधिसे उपहित ब्रह्मके भोक्ता होने और उपाधि भोग्य होनेसे दोनों विलक्षणोंका परस्पर एक रूप होना वा उनमें एकरूप होनेका भ्रम होना संभव नहीं होता है और ब्रह्मस्वरूप के परिणाम होनेको अद्वैतवादीभी नहीं अंगीकार करते अंगीकार करनेपरभी **न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्** अर्थ–कर्मका विभाग न होनेसे न होवै नहीं अनादि होनेसे इस सूत्रमें सूत्रकारके जीवों और उनमें प्राप्त कर्मोंको अनादि होना प्रतिपादनकरनेसे भोक्ता व भोग्य आदिके विभाग (भेद) होनेमें किसीको शङ्का नहीं होसक्ती मृत्तिका सुवर्ण परिणामरूप घटशराव (पुरई, दिया) कटक (पहुँची अथवा बाजूबंद) मुकुट आदिके विभागके समान भोक्ता व भोग्यका विभाग संभव होनेसे स्वरूप परिणाम में भी ब्रह्मका भोक्ता व भोग्य होना सिद्ध होगा यहभी अयुक्त व असंभवही है ॥ १४ ॥

ब्रह्मकारणसे जगत् कार्य भिन्न न होनेके विचारमें सू० १५ से २० अ० ६ ।

तदनन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः ॥ १५ ॥

अनु०–उससे भिन्नता नहींहै आरंभण शब्दआदिसे अर्थात आरंभणशब्दआदि वाक्योंसे ॥ १५ ॥

भाष्य–उससे भिन्नता नहीं है आरंभण शब्दआदिसे अर्थात् आरंभण आदि वाक्योंसे उससे अर्थात् कारणसे कार्यकी भिन्नता नहीं है अर्थात् कारण ब्रह्मसे कार्यरूप जगत्की भिन्नता नहीं है किसप्रमाण वा हेतुसे भिन्नता नहीं है आरंभण शब्द आदि श्रुतिवाक्य होनेसे इसका व्याख्यान यह है कि, छान्दोग्य उपनिषद् में श्वेतकेतुके पिताने श्वेतकेतुसे ब्रह्मकारणसे उत्पन्न जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहोना प्रतिपादन करने और ब्रह्मका ज्ञान होनेसे सब पदार्थ ज्ञात होनेका उप-

१ आरंभणशब्दः आदौ येषां वाक्यानां ते आरंभणशब्दादयः तेभ्यः आरंभणशब्दादिभ्यः ।

देश करने और ब्रह्मज्ञानरहित अनेक विद्याग्रंथ पठनकी तुच्छता जनाने पुत्र के विद्याका अभिमान छोडाने के अभिप्राय से यह प्रश्न किया कि, हे श्वेतकेतो ! तुम जो अपनी विद्याके अभिमानी हो तो मेरे इस प्रश्नका उत्तर देव कि, तुमने आचार्य अध्यापकसे (पढानेवाले से) उस उपदेशको पूंछाहै आचार्यने तुमको ऐसा उपदेश कियाहै कि, जिससे न सुना सुनाहुआ न माना मानाहुआ न जाना जानाहुआ होजाताहै ऐसा सुनकर श्वेतकेतुने पितासे पूँछा कि, ऐसा कैसे होसक्ता है ऐसा उपदेश कौन है इस प्रश्नपर पिताने प्रथम लौकिकदृष्टान्तसे निश्चित करानेके लिये ऐसा वर्णन कियाहै **यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं** अर्थ–हे सौम्य (यथा) जैसे (एकेन मृत्पिण्डेन) एक मृत्तिकाके पिण्डसे अर्थात् मिट्टीके पिण्डके जाननेसे (सर्वं मृण्मयं) सब मृत्तिकामय पदार्थ अर्थात् मिट्टीसे बनेहुये घट शराव (सरवा वा दिया) आदि सब मिट्टीके पदार्थ (विज्ञातं स्यात्) विज्ञात अर्थात् जानगये होवैं अथवा होते हैं (विकारः) विकार अर्थात् विकाररूप घटआदि पदार्थ (वाचारंभणं नामधेयं) वाक्का आरंभण अर्थात् आलम्बन नाममात्र है अर्थात् नाममात्र वाक्से कहनेके लिये है (मृत्तिका इति एव सत्यम) मृत्तिकामय सब होनेसे परमार्थ से मृत्तिकाही सत्य वस्तु है ऐसेही अन्यदृष्टान्त वर्णन किया है कि, जैसे लोहके ज्ञान होनेसे लोहसे बनेहुये सब पदार्थ लोहमय जानजाते हैं उनके पृथक् २ नाम वाचारंभणमात्र हैं लोहही सत्य है इत्यादि ऐसा कहकर यह उपदेश किया है कि, सृष्टिसे पूर्व सत् नामसे वाच्य एक ब्रह्मही था फिर उससे सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन करिकै ब्रह्ममय अर्थात् ब्रह्मात्ममय सब चित् अचित्वस्तुरूप जगत्का वर्णन किया है इस प्रकारसे जो कारण व कार्यके अभेदहोनेमें केवल नाम भेद वाचारंभण (वाक्से कथनमात्र) रूप विकार अर्थात् कार्यपदार्थको कहा है इस श्रुतिप्रमाण सूचित करनेके लिये सूत्रमें आरंभणशब्दादि कहा है अर्थात् वाचारंभण शब्द आदि में है जिन वाक्योंके ऐसे कारण व कार्यके अभेदहोनेमें जो श्रुतिवाक्य हैं उनसे अर्थात् उनके प्रामाण्यसे परमकारण ब्रह्मसे जगत्कार्य भिन्न नहीं है यह सूत्रवाक्यका अर्थ व संक्षेपसे उसका आशय कहागया अब पक्षप्रतिपक्षपूर्वक वेदान्तमें प्रतिपादित अभेदही पक्षसिद्धान्त निर्णय करनेके लिये कुछ विस्तारसे व्याख्यान कियाजाता है कारण व कार्यके अभेदहोनेके खण्डन में काणाद (वैशेषिक मतवाले) यह कहते हैं कि, विलक्षण बुद्धिसे बोध्य (जाननेके योग्य) होनेसे कारण व कार्यका अभेद होना संभव नहीं होता है अर्थात् तन्तु व पट व मृत्तिकाके पिण्ड व घट आदिमें कारण व कार्यका ज्ञान पृथक् होनेसे एकही बुद्धि अर्थात् एकही होनेका ज्ञान नहीं होता शब्दसे भी भेद सिद्ध है क्योंकि तन्तु पट अथवा पट तन्तु नहीं

कहेजाते कार्यभेदसे भी भेद होना विदित होता है क्योंकि,मृत्तिकाके पिण्डसे पानी नहीं भराजाता अथवा नहीं लायाजाता और घटसे देवार वा भीति नहीं बनाई जाती कालभेद से भी क्योंकि पूर्वकाल में कारण व अपरकालमें कार्य होता है आकारभेदसे भी क्योंकि कारण पिण्डाकार और कार्य विस्तारमुख गोल उदरयुक्त आकारवाला होता है तथा मृत्तिका रहतेहुये घट नष्टहुआ कहाजाता है बहुतन्तु व एकपट कहेजाने व ज्ञात होनेसे संख्यासेभी भेद विदित होता है और जो कारणही कार्य होता तो कारकके (कार्य करनेवालेके) व्यापारसे क्या सिद्ध कियाजाता अर्थात् जो कार्य सिद्ध कियाजाता है इस सिद्ध करनेकी आकांक्षा न होती परन्तु विना व्यापार कार्य नहीं होता इससे कारण से पृथक् है और नित्यकार्यके अभेद होनेमें कारणके समान उसके नित्य होनेसे सदा सबके नित्य होनेका प्रसंग होनेसे नित्य अनित्य का विभाग न होगा जो यह कहाजावै कि, कार्य सत्ही रहता है परन्तु प्रथम प्रकट नहीं रहता कारक व्यापारसे प्रकट कियाजाता है तो प्रकटताकी भी प्रकटता फिर उसकी भी प्रकटता अपेक्षित होनेसे अनवस्था दोष प्राप्त होनेसे और प्रकटताकी अपेक्षा न होनेमें कार्यकी नित्य उपलब्धिका (प्रत्यक्ष होनेका) प्रसंग होनेसे और उसकी उत्पत्ति माननेमें असत् कार्य होनेके वादका प्रसंग होनेसे ऐसा कहना युक्त नहीं है और कारक के व्यापारके अभिव्यञ्जक (प्रकाशित वा प्रकट करनेवाला) होने में घटके लिये किये हुये व्यापारसे कारक (करवा, अनार) आदिकी भी अभिव्यक्ति (प्रकटता) होना चाहिये जैसे कि, प्रकाशक दीप आदि- में किसी विशेष अभिव्यङ्ग्य (प्रकाशित किये जानेके योग्य) होनेका नियम देखनेमें नहीं आता अर्थात् ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता कि, घटके लिये रक्खागया दीप करक (करवा) आदिको प्रकाशित नहीं करता है इससे असत्ही कार्यकी उत्पत्तिके हेतुसे कारकके व्यापारका अर्थवान् होना (सफलहोना) सिद्ध होता है इससे कार्य सत् होनेके वादकी सिद्धि नहीं होती अब उत्तर यह है कि, नहीं कारण शक्तिके नियमहीसे कार्यकी सिद्धि होनेसे नियत कारणका उपादान होना सत्हीका कार्य होना सिद्ध करता है जो कारणमें कार्यका सत्ता न होता तो जिस कारणमें जिसका सत्ता है उसीसे उसके प्रकट होनेका नियम न होता अग्नि जलका भी घट बनजाता अथवा सबसे सब कार्यवस्तु प्रकट होते अब सत्कार्य- वादमें कारक व्यापार व्यर्थ होनेकी शंकाका उत्तर यह है कि, असत्कार्यवादीके पक्षमें भी कार्यके विद्यमान न होनेसे कारक का व्यापार संभव नहीं होता क्योंकि जब कार्य नहीं है तब कार्यसे भिन्न वस्तुमें कारक व्यापारसे प्रवृत्त होगा अन्य होनेमात्रमें कुछ विशेषता न होनेसे तन्तुओंमें प्राप्त कारक व्यापारसे घटकी उत्पत्ति होजायगी परन्तु ऐसा न होने और नियतकारणसे नियतकार्य होनेसे कारणसे कार्यकी प्रकटतासे पूर्वही कार्यका सत् होना सिद्ध होता है इससे कारणसे भिन्न

कार्य नहीं है ऐसा कहते हैं । परमार्थसे कारणसे पृथक् कार्यनाम कोई वस्तु नहीं है अविद्यासम्बंधसे कार्य पृथक् मानाजाता व उसका नाम पृथक् कहा जाता है इससे जैसे कारण मृत्तिका द्रव्यसे घट शराव आदिकों में मृत्तिका प्रत्यक्ष वा ज्ञात होनेसे घट शरावआदि कार्य व्यवहार मात्रालम्बनके लिये अर्थात् कथनमात्रके लिये भिन्न मिथ्या होते हैं कारण द्रव्य मृत्तिकाही सत्य है ऐसेही निर्विशेष सत् वस्तुमात्र कारणरूप ब्रह्मसे भिन्न अहंकार आदि जो कथनमात्रके लिये भिन्न हैं ऐसे सम्पूर्ण प्रपंचरूप मिथ्या हैं कारणरूप सत् वस्तुमात्र ब्रह्मही सत्य है तिससे कारणसे भिन्न कार्य न होनेसे कारण व कार्यमें भेद नहीं है जो यह कहाजावे कि,शुक्तिकामें(सीपमें)भ्रमसे चांदीका बोध होनेआदिके समान घटआदि कार्योंके असत्यहोनेकी प्रसिद्धि व दृष्टान्तकी सिद्धि नहीं है तो यह कहनेयोग्य नहींहै क्योंकि घटआदिमें भी युक्तिसे मृत्तिका द्रव्यमात्रहीका सत्यहोना स्थापन कियाजाता है उससे भिन्नका युक्तिसे निषेध कियाजाता है युक्ति यह है कि, मृत्तिका द्रव्यमात्र का तो अनुवर्तमानहोना ज्ञातहोता है अर्थात् जो वस्तु मृत्तिका पिण्डाकारमें थी वही घट आदिआकारमें है ऐसा वही होनेका ज्ञान होता है उससे भिन्नका व्यावर्तमान होना विदित होता है अर्थात् उससे भिन्न अन्यके न होनेका ज्ञान होता है रज्जु सर्पआदिकोंमें अधिष्ठानरूप रज्जु (रस्सी) आदि जिनका अनुवर्तमान होना अर्थात् वही है ऐसा बोध होना निश्चित होता है उनकी सत्यता होती है और व्यावर्तमान सर्प फटीहुई पृथिवी की दराज जलकी धाराआदि की असत्यता प्रतीत होती है ऐसेही अधिष्ठानरूप अनुवर्तमान मृत्तिका द्रव्यही सत्य व व्यावर्तमान घट शराव आदि सब असत्य रूप समझनाचाहिये । और सत् आत्माके विनाशका अभाव होनेसे असत् खरहाके सींगकी उपलब्धि (प्रत्यक्षता) न होनेसे उपलब्धि व विनाश दोनोंयुक्त कार्यवस्तु सत् व असत् दोनोंसे अनिर्वचनीय (कहनेयोग्य नहीं) है ऐसा अनिर्वचनीय सीपमें चांदी भासित होनेआदि के समान असत्यही है उसका अनिर्वचनीय होना प्रतीति व उसके बाध (नाश) से सिद्ध है अब तर्कसे ऐसा विचारणीय है कि, कार्यका उत्पन्न करनेवाला सुवर्णका मृत्तिकाआदि द्रव्य क्या अविकृत (विकारको न प्राप्तहुये) कार्यको उत्पन्नकरताहै वा कुछ विशेष (भेद) को प्राप्तहुआ सर्वदा उत्पादक (उत्पन्न कर्ता) होनेका प्रसङ्ग होनेसे अविकृत उत्पन्न नहीं करता यह निश्चित होता है और न विशेषान्तरको प्राप्त अर्थात् विकारको प्राप्त अन्य प्रकारका होकर उत्पन्न करता है. क्योंकि, विशेषान्तरकी प्राप्तिको (अन्यरूप भेदकी प्राप्तिको) भी शेषान्तरकी प्राप्तिपूर्वक होना चाहिये फिर उसको भी वैसाही होनेसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी, जो यह कहाजावे कि, अविकृतही कारण देश काल विशेष के साथ सम्बंधको प्राप्त कार्यको उत्पन्न करताहै तो अविकृतका देशआदि विशेष के साथ सम्बंध नहीं होसक्ता और विशेषान्तरको प्राप्तहुयेका कार्य उत्पन्नकरना

पूर्वके समान अनवस्था दोष से संभव नहीं होताहै । ऐसा तर्क करना वा कहना युक्त नहीं है क्योंकि, मृत्तिका सुवर्ण दुग्धआदिसे घट रुचक दधि आदिकोंकी उत्पत्ति प्रत्यक्षसे सिद्ध होती है और सीपमें चांदी भासित होनेके पश्चात् देश कालआदिसे उत्पन्न उपाधिमें बाध (उपाधिका व मिथ्याज्ञानका नाश) होनेके समाधान घटआदि कार्यमें बाधहोनाभी विदित नहीं होता इससे प्रतीतिके आलम्बनकरनेवालों प्रतीतिको सत्य माननेवालोंको कारणसे कार्यकी उत्पत्ति अवश्य मानना चाहिये क्योंकि इसमें विकल्प होही नहीं सक्ता अथवा स्थिर नहीं रहसक्ता क्या सुवर्णआदिमात्रही स्वस्तिक (आभूषणविशेष व चौक)आदिका आरम्भक(उत्पन्न कर्ता) है अथवा रुचक (कंठका आभूषण और अशरफी) आरंभक है अथवा रुचक आदिमें आश्रित सुवर्णआदि है प्रथम सुवर्णसे भिन्न कार्यका अभाव होनेसे सुवर्णआदि आरंभक नहीं है क्योंकि, आपही अपनेका आरंभक होना असंभव है जो यह कहाजाय कि, स्वस्तिक सुवर्णसे भिन्न देखनेमें आताहै तो पूर्वप्रत्यक्ष सुवर्णहीके होनेका ज्ञान होनेसे उससे भिन्न अन्य वस्तु प्रत्यक्ष न होनेसे सुवर्णसे भिन्न नहींहै जो यह कहाजावे कि, बुद्धिसे भिन्न प्रतीत होने और अन्यशब्द अर्थात् नामसे कहेजानेआदिसे भिन्न वस्तुका होना सिद्ध होता है तो अनिरूपित वस्तुको आलम्बन करनेवाले बुद्धिभेद व अन्यशब्द शुक्तिकामें (सीपमें) रजत (चांदी) भासित होने व कहेजानेआदिके समान भ्रांतिमूल होनेसे (भ्रमकारणसे होनेसे) अन्यवस्तु होनेके साधक (सिद्धकरनेवाले) न होनेसे ऐसा कहने वा मानने योग्य नहीं है रुचक (अशरफी) आदिभी स्वस्तिक आदिके आरंभक नहीं हैं क्योंकि, पटमें तन्तुओंके समान उपलब्ध (ज्ञात वा प्रत्यक्ष) नहीं होते और स्वस्तिकमें रुचकमें आश्रित आकारसे सुवर्णकी उपलब्धि (प्रत्यक्षता) न होनेसे रुचकमें आश्रितरूप सुवर्णभी आरंभक नहीं है। इससे मृत्तिका आदिसे भिन्न घटआदि कार्यका असत्य होना ज्ञात होनेसे ब्रह्मसे भिन्न सम्पूर्ण जगत् कार्य मिथ्यारूप है यह दृष्टांत सरलतासे ब्रह्मसे भिन्नका मिथ्या होना समझमें आनेके लिये काल्पनिक मृत्तिका आदिके सत्यत्वको दिखाकर कार्यका असत्य होना प्रतिपादन कियागयाहै परमार्थसे मृत्तिका सुवर्णआदि कारणभी ब्रह्मके कार्य होनेसे कार्य होनेमें विशेष न होनेसे घट रुचकआदि कार्यके समान मिथ्यारूप हैं यथा इन श्रुतियोंमें वर्णित है **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्** अर्थ-(इदं सर्वं) यह सब अर्थात् यह सब जगत् (ऐतदात्म्यम्) यह ब्रह्म है आत्मा जिसका ऐसा है अर्थात् ब्रह्म आत्मामयहै **तत् सत्यं** अर्थ-वह अर्थात ब्रह्म सत्य है **नेह नानाऽस्ति किञ्चन** अर्थ-(इह) इस जगत्में (किञ्चन) कुछ(नाना) अनेक (न अस्ति) नहीं है **मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति** अर्थ- (यः) जो (इह) इस जगत्में (नाना इव) अनेकके समान (पश्यति) देखता है (सः) वह (मृत्योः) मृत्युसे (मृत्युम्) मृत्युको (आप्नोति) प्राप्त होता है **यत्र हि**

द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं विजानीयात् इत्यादि अर्थ-(यत्र) जिसमें अर्थात् जिस अज्ञानअवस्थामें (द्वैतम् इव) द्वैतके समान (भवति) होता है (तत्अर्थात् तत्र) तिसमें (इतरः इतरं) अन्य, अन्यको (पश्यति) देखता है (यत्र तु) और जिसमें अर्थात् जिस ब्रह्मज्ञान होनेकी अवस्थामें (अस्य) इसका अर्थात् इस ब्रह्मज्ञानीका (सर्वं) सब (आत्माएव) आत्माही (अभूत्) होगया अर्थात् ब्रह्मको सर्वत्र देखता हुआ और अपनेको उससे भिन्न न जानकर अपने व ब्रह्ममें अभेदबुद्धिसे आत्मा द्रव्यमात्रवस्तुलक्ष्यसे जब सब अपने आत्मा ब्रह्ममय सब होगया (तत् अर्थात् तत्र) उसमें अर्थात् उस सब एक आत्माही विदित होनेकी अवस्थामें (केन) किससे अर्थात् किस इन्द्रिय वा भेदबुद्धिसे (कं) किसको (पश्येत्) देखै इत्यादि इसीप्रकार की श्रुतियोंसे ब्रह्मसे भिन्न वस्तुका मिथ्या होना ज्ञात होता है जैसा वर्णन कियागया इससे सम्पूर्ण कार्यका मिथ्या होना विदित होने और सत् वस्तु मात्रही प्रत्यक्षका विषय होनेसे दोनोंमें विरोध होनेपर भी और स्वरूप सत् होनेआदिमें विना प्रत्यक्ष आदिके सत्य होनेमें असंभव होनेका दोष होनेसे प्रत्यक्षआदिकी अपेक्षा होनेमेंभी इन्द्रियजन्य (इन्द्रिय वा इन्द्रियोंसे उत्पन्न) ज्ञानकी आकांक्षारहित लोकबुद्धिजन्य शङ्काके अवकाशसे रहित शास्त्रप्रमाण बलवान् होनेसे शास्त्रसे अर्थात् वेद वा वेदभागरूप उपनिषदोंकी श्रुतियोंके प्रमाणसे सिद्धहुये वस्तुमें प्रत्यक्ष आदिसे विरुद्ध होनेकी शङ्का करना युक्त नहीं है इससे कारणरूप ब्रह्मसे भिन्न सब मिथ्या है अर्थात् नित्य अपने स्वरूपसे स्थिर नहीं है परन्तु प्रपंचके मिथ्याहोनेसे जीवके भी मिथ्याहोनेकी शङ्का करने योग्य नहीं है क्योंकि ब्रह्महीके जीवरूप होनेसे ब्रह्मही सब शरीरोंमें जीवरूपसे प्रवेश करता है यथा यह श्रुति है **"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"** अर्थ-इस जीवरूप आत्मासे शरीरोंमें प्रवेश करके नामरूपको प्रकट वा स्पष्ट करूं **"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः"** अर्थ-(सर्वभूतेषु) सब प्राणियों वा आकाशआदि भूतोंमें (एकः देवः गूढः) एक देव परमात्मा अदृश्य विद्यमान है **एको देवो बहुधा सन्निविष्टः** अर्थ-(एकः देवः) एक देवता अर्थात ब्रह्म (बहुधा) अनेक प्रकारसे (सन्निविष्टः) प्रविष्ट है अर्थात् सब पदार्थ व शरीरोंमें प्रविष्ट है **"एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते"** अर्थ-(एषः) यह (गूढः आत्मा) सब भूतोंमें अदृश्य छिपा आत्मा अर्थात् सबभूतोंमें गुप्तरूप विद्यमान आत्मा (न प्रकाशते) प्रकाशित नहीं होता है **नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा इत्यादि** अर्थ-अन्य कोई द्रष्टा नहीं है इत्यादि जो यह शंका होवै कि, जो एकही ब्रह्म सब शरीरोंमें जीवरूपसे प्राप्त होता तो मेरे पाद में पीडा शिर में सुख है ऐसा बोध होनेके समान सब शरीरोंमें दुःख व सुखका ज्ञान

होता और जीव ईश्वर बद्ध मुक्त शिष्य आचार्य ज्ञानी अज्ञानी होनेआदिकी व्यवस्था न होती तो इसका कोई अद्वैतवादी ऐसा समाधान करते हैं कि, एकही मुखके मणि कृपाण दर्पण आदिमें भिन्न भिन्न उपाधिवशसे छोटा बडा मलिन व विमलरूपसे अनेक प्रकारके प्रतिबिम्ब दृष्ट होनेके समान एकही ब्रह्मके प्रतिबिम्बरूप जीवोंके सुखी दुःखी होना आदि भेद समझना चाहिये और श्रुतिमें ऐसा वर्णन है कि, इस जीवात्मारूपसे प्रवेशकरके नाम रूपको प्रकटकरूं इससे जीवोंका ब्रह्मसे अभेद होना सिद्ध होता है इस प्रमाणसे यह कहते हैं कि, परमार्थसे अभेद होना सत्य है अविद्याजन्य कल्पनासे काल्पनिक भेदको मानकर व्यवस्था (भेदोंकी अवस्था) कही जाती है अब इसमें यह विचारने योग्य है कि, जो काल्पनिक भेद है तो किसकी कल्पना है प्रथम ब्रह्म परिशुद्ध ज्ञानात्माके कल्पनाशून्य होनेसे ब्रह्मकी नहीं होसक्ती और कल्पनाके अधीन जीव भाव और जीवमें आश्रित कल्पना होना सिद्ध होनेसे परस्पर आश्रय होनेका प्रसंग (योग) होनेसे और ऐसा अयुक्त होनेसे जीवोंकी भी मानने योग्य नहीं है । इसपर अद्वैतपक्षवादियोंका यह उत्तर है नहीं अविद्या व जीव दोनों बीज व अंकुरके समान अनादि होनेसे ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि, जो वास्तव में स्वरूप वा वेषसे सिद्ध है वही वस्तु किसीका आश्रय होता है वा होसक्ता है सिद्धान्तमें जिसका वेष वा स्वरूपही सिद्ध नहीं है ऐसे अवस्तुका आश्रय होना वंध्यापुत्र व आकाशपुष्पके समान असंभव है परमार्थसे जिसका असिद्धताही एक वेष है अर्थात् मिथ्या है ऐसी अवस्तुरूप अविद्यामें परस्पर आश्रयहोना आदि वस्तुओंके दोष असिद्धिको नहीं प्राप्तकरते अर्थात् परस्पर आश्रयत्व दोषकी प्राप्ति न होनेसे उससे अविद्याका न होना सिद्ध नहीं होता यद्यपि ब्रह्मसे भिन्न न होनेसे ब्रह्मके समान जीवको भी अविद्याका आश्रय न होना चाहिये परन्तु परमार्थसे ब्रह्मसे भिन्न नहोनेसे स्वरूपसे विशुद्ध होनेपरभी कृपाण आदिमें प्राप्त मुखप्रतिबिम्बकी श्यामता (मलिनता) आदिके समान औपाधिक अशुद्धि संभव होनेसे अविद्याका आश्रय होना सिद्ध होनेसे काल्पनिक होनेकी सिद्धि होती है । प्रतिबिम्ब में प्राप्त श्यामता आदिके समान जीवमें प्राप्त अशुद्धिभी भ्रांतिही है क्योंकि, अन्यथा मानने में जीवकी मुक्ति नहीं होसक्ती जीवोंके भ्रमका प्रवाह अनादि होनेसे उसका हेतु (कारण) अन्वेषण (खोज) के योग्य नहीं है सो यह ऐसा कहना अद्वैतमें जो निपुण नहीं है और भेद वादमेंभी श्रद्धालु है प्रवीण नहीं है ऐसे दोनोंसे भ्रष्टसे विना विचार जँभाईमें निकलेहुये शब्दोंके समान है. क्योंकि, जीवके अकल्पित (कल्पनारहित) स्वाभाविक रूपसे अविद्याका आश्रय होनेमें ब्रह्मही का अविद्याका आश्रय होना उक्त (कहागया) होगा । उससे भिन्न उसमें कल्पित आकारसे अविद्याका आश्रय होनेमें जडका अविद्याका आश्रय होना उक्त होगा क्योंकि अद्वैतवादी ब्रह्मको

ज्ञानरूप व कल्पित आकारको जड मानते हैं इन दोसे भिन्न अन्य किसी आकार को नहीं मानते हैं जो कल्पित आकारविशिष्ट स्वरूपहीसे अविद्याका आश्रयहोना मानाजावै तौ अखण्ड एकरसस्वरूपका, विना अविद्याके विशिष्टरूप होना सिद्ध न होनेसे अविद्याके आश्रयका आकारही ब्रह्म है यह निरूपण वा निश्चय किया जाता है। और जो बंध व मोक्षकी व्यवस्था सिद्ध होनेके लिये जीवका अज्ञान माना जावै तो जीवके अज्ञानपक्षमें भी बंध मोक्ष आदिकी व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है क्योंकि अविद्या (अज्ञान) का विनाश ही मोक्ष है ऐसे मोक्ष में जो अविद्या एकही है तो एकके मुक्त होनेमें अविद्या का नाश होनेसे अन्यभी सब मुक्त होजांयगे जो अन्यके मुक्त न होनेसे अविद्या बनीरहैगी तौ अविद्याके नष्ट न होनेसे एककी भी मुक्ती न होगी जो प्रत्येक जीवसे भिन्न भिन्न अविद्या है इससे जिसकी अविद्या नष्ट होगी वह मोक्ष को प्राप्त होगा जिसकी नष्ट न होगी वह बंधमें रहैगा ऐसा माना जावै तो ऐसा मानना युक्त नहीं है क्योंकि यह निश्चय करना चाहिये कि जिस जीवभेदको लेकर अविद्या का भेद होना कहते हैं वह जीवभेद कैसा है स्वाभाविक है अथवा अविद्याकल्पित है (अविद्यासे कल्पित है) प्रथम स्वाभाविक होना अंगिकार न किये जानेसे और भेद सिद्ध होनेके लिये अविद्याकी कल्पना व्यर्थ होनेसे स्वाभाविक नहीं है और जो अविद्या कल्पित है तौ यह जानना चाहिये कि, यह जीवभेद करनेवाली अविद्या ब्रह्मकी है अथवा जीवों की जो ब्रह्मकी मानी जावै तौ जैसा हम ब्रह्ममें अविद्याकी प्राप्तिरूप दोषको आरोपण करतेहैं वैसेही तुम अद्वैतवादियोंका मानलेना सिद्ध होजावैगा और जो जीवोंकी मानीजावै तौ जो यह कहागयाहै कि, जीवोंके भेदकी कारण अर्थात् भेदकी उत्पन्न करनेवाली अविद्या है यह मिथ्या होगा और अविद्या जीवोंके कल्पनाका हेतु होनेसे जीवोंका अविद्याका आश्रय होना असंभव है क्योंकि; जीवोंके कल्पना (उत्पत्ति) से पहिलेही जीवोंको अविद्या आश्रय नहीं करसक्ती अर्थात् उनमें आश्रित नहीं होसक्ती। और जो प्रतिजीवमें बद्ध व मुक्तहोनेकी व्यवस्था सिद्ध होनेके लिये जो अविद्या कल्पना की जाती है उनही से जीवभेदभी होता है ऐसा मानते हों, तौ जीवभेदकी सिद्धिसे अविद्या सिद्ध होतीहै उन सिद्ध हुयों में जीवके भेदकी सिद्धि होती है इस प्रकारसे परस्पर आश्रयत्व (आश्रयहोना) होगा इसमें बीजांकुरके समान होना सिद्ध नहीं होताहै क्योंकि बीज व अंकुरमें अन्य अन्य बीज अन्य अंकुरके उत्पादक(उत्पन्नकर्ता) होतेहैं इसमें तौ जिन अविद्याओंसे जो जीव कल्पना कियेजाते हैं उनहींको आश्रयकरिकै उन अविद्याओंकी सिद्धि होती है ऐसा नहीं होसक्ता और जो बीज व अंकुरके समान पूर्व पूर्व जीवोंमें आश्रित जो अविद्या है उनसे उत्तर उत्तर जीवोंकी कल्पना को मानौ तौ ऐसा मानने में जीवोंका नाश होना, अकृताभ्यागम कृतप्रहाण अर्थात् विना किये की प्राप्ति व

किये हुये का नाश अर्थात् किये हुयेके फलभोगका नाश होने आदि दोष होनेका प्रसंग होगा, इसीसे पूर्व पूर्व जीवाश्रित अविद्याओंसे ब्रह्मका उत्तर उत्तर जीवों का प्रकट वा उत्पन्न करना भी निरस्त (खण्डित) समझना चाहिये अविद्या का प्रवाह स्वीकार किये जानेमें उनमेंसे प्रत्येक अविद्यासे कल्पित जीवकी भी वैसेही प्रवाहरूप अनादिता होगी सत्य निश्चलरूपसे अनादिता न होगी ऐसा होनेमें मोक्ष पर्य्यंत जीवरूप की स्थिरता सिद्ध न होगी । और जो यह कहाहै कि अवस्तुरूप होनेसे असिद्धहोनाही एक वेष है जिसका अर्थात् परमार्थ से जो असिद्धही रूप है ऐसी अविद्यामें परस्पर आश्रयत्व आदि वस्तुदोष असिद्धिको नहीं प्राप्त करते अर्थात् परस्पर आश्रयत्व-आदि दोषसे अविद्या असिद्ध नहीं होती ऐसा माननेमें मुक्त जीव और परब्रह्म अविद्याके आश्रय होंगे अर्थात् मुक्तों और ब्रह्ममें अविद्या आ-श्रित होगी । जो यह कहा जावै कि शुद्ध विद्यास्वरूप होनेसे अशुद्ध रूप अविद्या ब्रह्ममें नहीं मिलसक्तीहै तो यह प्रश्न है कि क्या युक्ति प्रमाण अनुसार अविद्या का आश्रय होना मानाजाताहै जो ऐसा है तो उक्त परस्पर आश्रय होना आदि युक्तियोंसे जीवोंकोभी आश्रय न करेगी अर्थात् जीवमें भी आश्रित न होगी । अन्य तर्क यह है कि, जीव में आश्रित अविद्याका तत्त्वज्ञानके उदय होनेसे नाशहोनेपर जीवका नाशहोगा अथवा न होगा, जो नाश न होगा तो अविद्याके नाश होनेपर भी ब्रह्मसे भिन्न जीवत्व बना रहनेसे मोक्ष न होगा । और जो यह कहाहै कि, मणि कृपाण दर्पण आदिमें प्रत्यक्षहुये मुखका मलिनत्व विमलत्व आदिके समान शुद्धि अशुद्धि की व्यवस्था सिद्ध होती है इसमें यह विचारणीय है कि, अल्पत्व मलिनत्व आदि दोष कब नष्ट होंगे, जो कृपाणआदि उपाधि दूरहोनेमें यह कहाजावै तो यह प्रश्न है कि, उपाधि दूर होनेमें अल्पत्व आदिका आश्रय प्रतिबिम्ब रहताहै वा नहीं रहताहै, जो रहताहै ऐसा कहाजावै तो प्रतिबिम्बस्थानीय जीवकेभी स्थितहोने वा रहनेसे मोक्ष न होनेका प्रसङ्ग है और प्रतिबिम्बका नाश होता है ऐसा अंगीकार करने में वैसेही जीवका नाश होनेसे जीवका स्वरूपनाशरूप मोक्ष होगा । अन्य तर्क यह है कि, जिसको जो अपुरुषार्थरूप दोष प्रतिभासित होता है उसीका नाशही उसका पुरुषार्थ है इसमें यह प्रश्न है कि, औपाधिक (उपाधिसे हुआ) दोष प्रति-भास (दोषका प्रतिभासित होना) बिम्बस्थानीय ब्रह्मका है अथवा प्रतिबिम्ब-स्थानीय जीवका वा किसी अन्यका, अल्पत्वआदि दोषोंके प्रतिभाससे मुख व मुखके प्रतिबिम्बके शून्य होनेसे प्रथम दो कल्पोंका दृष्टान्त घटित नहीं होता कि, ऐसा कहाजावै कि, यह दृष्टान्त है क्योंकि मुख व मुखके प्रतिबिम्बको अल्प-त्वआदि दोष भासित नहीं होते हैं अर्थात् मुख व मुखके प्रतिबिम्ब अल्पत्व आदि को नहीं जानते हैं ब्रह्मको दोष भासित होनेमें ब्रह्ममें अविद्याहोनेका प्रसंग

है इससे युक्त नहीं है जीव और ब्रह्मसे भिन्न अन्य द्रष्टाके अभावसे तीसरा कल्प भी कल्पित नहीं होसक्ता और यह निरूपणके योग्य है कि, अविद्यासे कल्प्य (कल्पनाके योग्य) जीवका कल्पक (कल्पना करनेवाला) अर्थात् भ्रमका आश्रय को है, अचेतन होनेसे अविद्या नहीं है और वही कल्पक वही कल्प्य (जिसकी कल्पना कीजाय) होना और अपनी सिद्धि के लिये आपहीको अपेक्षा होना असंभव होनेसे और जब जीव सिद्धही है फिर उसके लिये कल्पना की अपेक्षा न होनेसे, और जीव कल्प्य माननेमें प्रथम जीवही का न होना स्वीकारके योग्य न होनेसे जीवहीके अस्तित्वमें दोष प्राप्त होनेसे जीव भी नहीं है यदि ऐसा माना जावै कि, शुक्तिकामें (सीपमें) रजत (चांदी) भासित होनेके समान अविद्यासे कल्प्य होनेसे ब्रह्मही जीव भावका कल्पक है तो ब्रह्महीका अज्ञान होना सिद्ध होता है ब्रह्मका अज्ञान अंगीकार करनेमें यह प्रश्न है कि, ब्रह्म जीवों को देखता व जानता है वा नहीं जो नहीं देखता व नहीं जानता तो ब्रह्मसे ईक्षापूर्वक विचित्र सृष्टि व नाम रूपका व्याकरण (प्रकट करना) न होगा और जो देखताहै तो विना अविद्याके अखण्ड एक रस ब्रह्म जीवोंको नहीं देखता है इससे ब्रह्मके अज्ञान होनेका प्रसंग है इस प्रकारसे अयुक्त होनेसे माया व अविद्यासे (अविद्या कारणसे वा अविद्याद्वारा) विभाग कहना भी निरस्त (खण्डित) है । विना अज्ञान के मायावी ब्रह्मका भी जीवदर्शी होना नहीं हो सक्ता और न मायावी पर को देखकर मोहित करलेनेको समर्थ होताहै और माया जो अन्य द्रष्टा (देखनेवाले) हैं उनके मोहनका साधन मात्रहोनेसे देखेहुये परमपदार्थोंमें मायावीके दर्शनकी (मायाकृत कार्य देखनेकी) साधन नहीं होती और जो ऐसा मानाजावै कि, ब्रह्मकी माया ब्रह्मको जीवदर्शी करती हुई जीवके मोहनकी हेतु है तो शुद्ध अखण्ड एकरस स्वप्रकाश ब्रह्मके परदर्शनकी (परजीवके देखनेकी) कारण होने से माया शब्द अविद्याहीका अन्य नाम ठहरेगा वा अन्य नाम माननेयोग्य होगा । अथवा यह मानलिया जाय कि, विपरीत दर्शन (अयथार्थज्ञान) का हेतु अविद्या है माया तो ब्रह्मसे भिन्न मिथ्या रूप वस्तु को मिथ्याही रूपसे देखाती हुई ब्रह्मके विपरीत दर्शन का हेतु नहीं है इससे वह अविद्या नहीं है तो एक चन्द्रमा का होना ज्ञात होजानेपर दो चन्द्रमा होनेके ज्ञानका हेतुभी अविद्या होनेसे ऐसा मानना युक्त नहीं है जो ब्रह्म अपनेसे भिन्नवस्तुको मिथ्याही जानता है तो उसको मोहित नहीं करताहै क्योंकि, उन्मत्तको छोडकर कोई बुद्धिमान् जिनको मिथ्या जान लेता है उनके मोहित करनेके लिये चेष्टा वा प्रयत्न नहीं करताहै अथवा ऐसा मानाजाय कि, अपुरुषार्थ अपरमार्थ दर्शन का हेतु अविद्या है माया ब्रह्म के अपुरुषार्थ दर्शनका हेतु नहीं है इससे माया अविद्या नहीं है तो यह यथार्थ नहीं है दुःख का हेतु न होने से अपुरुषार्थ रूप न होनेमें भी

चन्द्रमाके दो होनेके ज्ञानका हेतु अविद्याही है माया कहना युक्त नहीं है अर्थात् यद्यपि दो चन्द्र होनेका ज्ञान दुःखका हेतु व अपुरुषार्थरूप नहीं होता तथापि उसका हेतु अविद्याही है और जो अविद्याके नाशके लिये प्रयत्न करती हुई माया द्वैतदर्शनमात्रका कारण अपुरुषार्थके दर्शनका कारण नहीं है तो नाशरहित होनेसे ब्रह्मस्वरूपकी अनुबन्धिनी (साथ लगीहुई) नित्य होगी जो यह कहाजाय कि, अच्छा ऐसेही हो क्या दोष है इसका उत्तर यह है कि, द्वैत दर्शनही दोष है द्वैत माननेमें **यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् इत्यादि** अर्थ--(यत्र) जिसमें अर्थात् जिस ब्रह्मज्ञानमें (अस्य) इसका उपासकका (सर्वं) सब (आत्मा एव) आत्माही (अभूत्) होगया (तत् अर्थात् तत्र) उसमें (केन) किससे अर्थात् किस इन्द्रिय से (कं) किसको देखै अर्थात् द्वितीयके अभावमें किसको देखै इत्यादि अद्वैतकी उपदेश करनेवाली श्रुतियों में विरोध प्राप्त होगा, जो यह कहाजावै कि, श्रुतियोंमें परमार्थ विषयका प्रतिपादन है मायाके अपरमार्थरूप होनेसे श्रुतिमें विरोध नहीं है तो अपरिच्छिन्न (देश काल परिणामभेदसे रहित) आनन्दैकस्वरूप ब्रह्मका मायादर्शन अथवा मायायुक्त होना विना अविद्याके संभव नहीं होताहै अन्य शङ्का यह है कि, अपरमार्थरूप नित्य मायाकेसाथ ब्रह्मका क्या प्रयोजन है जो जीवका मोहन है यह कहाजावै तो अपरमार्थरूप मोहन से क्या प्रयोजन है क्रीडा प्रयोजन कहाजावै तो जो अपरिच्छिन्नानन्द है अर्थात् भेदरहित सदा एकरस आनन्दरूप है उसको क्रीडासे क्या फल है जो ऐसा कहाजावै कि, पूर्ण भोगवाले महाराजाओंकी भी क्रीडा उनकी इच्छासे हुई पुरुषार्थ रूप प्रत्यक्ष होता है तो ऐसा दृष्टान्त घटित नहीं होताहै क्योंकि अपरमार्थ रूप क्रीडा के उपकरण (सामग्री) जो अपरमार्थ रूपसे प्रतिभासित होते हैं उनसे सिद्ध अपरमार्थरूपक्रीडा और अपरमार्थरूप उसके प्रतिभाससे उन्मत्त ही को क्रीडारस सिद्ध होसक्ता है वा प्राप्त होसक्ता है अनुन्मत्तको (जो उन्मत्त नहीं है उसको) क्रीडारस नहीं होसक्ता और मायाका आश्रय मानेगये ब्रह्मसे भिन्न अविद्याका आश्रय जो जीव है उसकी कल्पनाका असंभव होना पूर्व कहेहुयेके समान समझना चाहिये अर्थात् अन्योन्याश्रयत्व(परस्पर आश्रय होना) आदि दोषोंसे समझनाचाहिये इससे ब्रह्मही अनादि अविद्यायुक्त अपने में प्राप्त अनेक भेदोंको देखताहै ऐसा ब्रह्मके अद्वितीयत्व (अद्वितीयहोना) माननेवालोंको मानना चाहिये जो बंध व मोक्षकी व्यवस्था ब्रह्मके प्रतिबिम्बरूप जीवके अज्ञानपक्षमें भी अर्थात् जीवमें अविद्या आश्रित होनेसे ब्रह्म प्रतिबिम्बरूप जीवके अज्ञानसे बंध माननेमेंभी उक्त प्रकारसे सिद्ध नहींहोती वह ब्रह्म अज्ञानवादीको कहना अनिष्ट व अनुचित है क्योंकि एकही ब्रह्मके अपने अज्ञानकी निवृत्तिसे मोक्षको प्राप्त होजानेसे बद्ध व मुक्त की व्यवस्थाहोका अभाव हो जाताहै इससे ब्रह्माज्ञानवाद (ब्रह्मके अज्ञानहोनेका वाद) युक्त व इष्ट नहीं है

और व्यवह्रियमाण (बोल चाल वा बात चीतमें कहेगये) बद्ध मुक्त शिष्य आचार्य आदि भिन्न अर्थवाचक शब्दोंसे सिद्ध व्यवस्थाके काल्पनिक होनेसे स्वप्न देखनेवालेके समान एकही की अविद्या से सब कल्पनाओं की सिद्धि होनेसे अर्थात् एकही स्वप्न देखनेवालेसे देखेगये जो शिष्य आचार्य आदि हैं वह अविद्यासे कल्पितही हैं इससे बहुतोंकी बहुत अविद्याओंका कल्पना करनाभी युक्त नहीं है इससे बंध मोक्षव्यवस्था व स्वपरव्यवस्था (अपने व परकी व्यवस्था) पारमार्थिकी होना जीवाज्ञानवादी (जीवको अज्ञान कहनेवाले) से भी अंगीकार कियेजाने योग्य नहीं है और अपारमार्थिकी एकहीकी अविद्यासे सिद्ध होती है और प्रयोग व बंधमोक्षकी व्यवस्था व स्वपरकी व्यवस्था अपनी अविद्यासे कल्पित अपारमार्थिकी होनेसे स्वप्नमें देखेहुये व्यवस्थाके समान है अन्य शरीरभी इस मेरे शरीर के समान शरीर होनेसे कार्य होने, जड होने और कल्पित होनेसे मेरीही अविद्यासे कल्पित है विवादसे अध्यासित चेतन जात (चेतनहुआमात्र अर्थात् सब चेतन वस्तु) चेतनत्वसे (चेतनजाति होनेसे) मैं ही हूँ, जो मैं नहीं हूँ वह वस्तु अचेतन (जड) देखाजाता है जैसे घट ऐसा मानना चाहिये इससे अपने व परका विभाग बद्ध मुक्त शिष्य आचार्य आदिकी व्यवस्था एकहीकी अविद्यासे कल्पित है । द्वैतवादीके मतमेंभी व्यवस्था सिद्ध न होनेका आक्षेप होसक्ता है क्योंकि व्यतीत कल्पोंके अनन्त होनेसे एक एक कल्पमें एक एक जीवके भी मुक्त होनेमें सबका मोक्ष होना संभव होनेसे एकभी बद्ध न रहनेसे बद्ध व मुक्तकी व्यवस्था नहीं रहसक्ती व्यवस्था न रहनेसे सृष्टि व प्रलयका प्रवाह न रहना चाहिये जो आत्माओंके अनन्त होनेसे अमुक्त (मोक्षरहित) हैं यह कहा जावै तो यह प्रश्न है कि, अनन्त होना क्या है, असंख्येयत्व (सङ्ख्याके योग्य न होना) जो यह अर्थ होवै तो बहुत होनेसे अल्पज्ञजीवोंसे असङ्ख्येय होनेपरभी सर्वज्ञ परमेश्वरको संख्येयही (संख्यायोग्यही) है उसको भी संख्येय न होनेमें वह सर्वज्ञ न ठहरेगा जो यह उत्तर दियाजाय कि, आत्माओंके असंख्येय होनेसे अविद्यमान संख्याके न जाननेसे ब्रह्ममें सर्वज्ञ न होनेका दोष नहीं आता तो भिन्न होनेमें संख्यारहित होना सिद्ध नहीं होता है भिन्न होनेसे माष (उर्द) सर्षप (सरसों) घट पट आदिके समान आत्मा संख्यावान् है और आत्माओंके भिन्न होनेमें घट आदिके समान आत्माओंका जडहोना आत्मा न होना, नाशवान्होना घटित होता है और ब्रह्मका अनन्तत्व (अनन्तहोना) न होगा क्योंकि, अनन्तत्व परिच्छेद (देश काल व परिमाण विशेषकी मर्य्यादासे भेदहोना) रहित होना है भेदवादमें अन्यवस्तुसे विलक्षण ब्रह्मके होनेसे ब्रह्मका परिच्छेदरहित होना नहीं कहा जासक्ता सिद्धान्तमें अन्यवस्तुका होनाही अन्यवस्तुके परिच्छेदका कारण है जो अन्यवस्तुसे परिच्छिन्न (भिन्न) है वह देशसे व कालसेभी अवश्य परिच्छिन्न

होता है अन्यवस्तुसे विलक्षण होनेहीसे वस्तुसे घटआदि परिच्छिन्नहीं हैं और देशसे और कालसेभी परिच्छिन्न (परिमाण भेदयुक्त) दृष्ट हैं (प्रत्यक्षसे विदित हैं) ऐसेही सब चेतन (जीवात्मा) व ब्रह्मवस्तुसे परिच्छिन्न देश व कालसेभी परिच्छेदको प्राप्त होते हैं । ऐसा होनेमें **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ—सत्य ज्ञानरूप अनन्त ब्रह्म है इत्यादि सबप्रकारसे परिच्छेदरहित कहनेवाली श्रुतियोंसे विरुद्ध होगा और जीवोंके व ब्रह्मके उत्पन्नहोने व नष्टहोने आदिकाभी प्रसङ्ग होगा कालपरिच्छेदही उत्पत्ति व विनाशका हेतु है इसीसे ब्रह्माआदि स्तम्बपर्य्यन्त सम्पूर्ण जगत् अविद्यासे हुआ एकही अपरिच्छिन्न ब्रह्मका विकाररूप कार्य है और सुख दुःखके ज्ञानहोनेकी व्यवस्थाआदिभी स्वप्नमें हुये व्यवस्थाके सदृश अविद्याके स्वभावसे होनेसे सिद्ध होती है इससे एकही नित्यमुक्त स्वप्रकाश स्वभाव ब्रह्म अनादिअविद्याके वशसे जगद्रूप होजाता है इससे परमार्थसे ब्रह्मसे भिन्नका अभाव होनेसे ब्रह्मकारणसे जगत्की अभिन्नता है अर्थात् ब्रह्मकारण व जगत्कार्यकी एकता है इसका उत्तर यह है कि, निर्विशेष स्वप्रकाशमात्र ब्रह्म अनादि अविद्यासे तिरोहित (छिपाहुआ) अपने स्वरूपको व अपनेमें प्राप्त अनेक भेदको देखता है तो यह निरंश (अंशरहित) प्रकाशस्वरूपका प्रकाश निवृत्तिरूप तिरोधान (छिपाव) होनेमें स्वरूपहीका नाश होना सिद्ध होनेसे तिरोधान असंभव होने आदिदोषोंसे सब प्रमाणसे विरुद्ध और अद्वैतवादीके अपनेही नित्यहोने आदि वचनसे विरुद्ध मानने योग्य नहीं है । जो यह कहा है कि, कारणसे भिन्न कार्य होना युक्तिसे बाधित होनेसे सीपमें चांदी भासित होनेके समान भ्रम है तो प्रत्यक्षसे उपलब्धहुये कार्यके सत्यहोनेमें संशय न होने व सत्यहोनेमें युक्ति अपेक्षित न होने और उसके निषेधमें युक्तिका अभाव होनेसे अयुक्त है जो यह कहागया है कि, अनुवर्तमान कारणका सत्यत्व और व्यावर्तमान (वही वा वैसा नहीं है ऐसा जानागया) घट शराव आदि कार्योंका असत्यत्व है यह भी अन्यत्र देखेहुयेका अन्यत्र व्यावर्तमानहोना सत्यताका बाधक नहीं होसक्ता अर्थात् कार्यद्रव्य वा वस्तुमें प्रत्यक्षहुये आकृति परिमाण विशेष आदि कार्यधर्म सत्यही विदित होते हैं यह कारण वस्तु वा अन्यकार्यमें जो देश काल व धर्म भेदयुक्त होनेसे अन्य है उसमें व्यावर्तमान होते हैं उसी द्रव्यमें व्यावर्तमान न होने अन्यत्र होनेसे कार्यकी असत्यता नहीं होती और गोमय (गोबर) आदिके कार्य बिच्छूआदिकोंमें व घट आदि कार्योंमें पाकज (अग्निमें पकनेसे हुये) धर्मोंकी प्राप्तिमें देखनेसे कारणका अनुवर्तमान होना (यह वही है ऐसा ज्ञात होना) भी विदित नहीं होता इत्यादि हेतुओंसे अनुवर्तमान व व्यावर्तमान होनेके हेतु अनैकान्तिक (सर्वत्र एकही प्रकारसे घटित न होनेवाला) होनेसे अयुक्त है इससे कार्यकी असत्यता सिद्ध नहीं होती जो उपलभ्यमान (प्रत्यक्षसे जानागया) व विनाशी होनेसे सत्

व असत् दोनों कहने योग्य न होनेसे कार्यका असत्य होना कहागया है यह भी यथार्थ नहीं है उपलब्धि (प्रत्यक्षता) व विनाशके योगसे मिथ्या होना सिद्ध नहीं होता केवल अनित्य होना सिद्ध होता है जिस देश काल सम्बंधयुक्त जो ज्ञात है उसी देश काल सम्बंधी रहते हुये उसका बाधित होनाही अर्थात् उसके प्रथम स्वरूप ज्ञानमें असत्य होना दोष विदित होनाही मिथ्या होनेका हेतु हैं अन्यदेशकालसम्बंधसहित प्रत्यक्ष हुयेका अन्य देशकालसम्बंधी होनेके साथ बाधित होना अन्य देश कालकी व्याप्ति न होने मात्रको सिद्ध करता है मिथ्यात्व को सिद्ध नहीं करता, देश काल आदि कारणसे सिद्ध हुई उपाधिमें आत्मा के समान बाधित न होनेसे घटआदि कार्य सत्य है जो यह कहाहै कि, अविकृत (विकाररहित) व विकृत (विकारको प्राप्त) कारणस्वरूपसे कार्यकी उत्पत्ति संभव नहीं होती है देशकालआदि सहकारियों (सहायकरनेवालों) से युक्त कारणसे कार्यकी उत्पत्ति संभव होनेसे ऐसा कहना असत् है (यथार्थ नहीं है) जो यह कहा है कि, विकृत व अविकृत देश कालआदि का समवधान (संयोग वा सम्बंध) संभव नहीं होताहै । यह भी अयुक्त है क्योंकि जो यह कहाजावै कि, पूर्वमें अविकृतही देश काल आदिका समवधान (संयोग) संभव होनेसे अविकृत होनेमें विशेषता न होनेसे पूर्वमें भी देश कालआदिका समवधान होजावै वा होजानाचाहिये तो देश काल आदिका सम्बंध अन्यकारण अर्थात कर्म व ईश्वरसंकल्प व नियमके अधीन है वह विकारके अधीन न होनेसे ऐसा नहीं होता इससे देश कालआदि समवधान रूप भेदको प्राप्त कारण कार्यको उत्पन्न करता है ऐसा मानने में कुछ हानि नहीं है । कार्य उत्पन्नकर्ता होनेकी शक्तिसे जो कारण का कार्य उत्पन्न करना बाधारहित प्रत्यक्ष होता है वह किसीप्रकारसे छिपाया नहीं जासक्ता अर्थात् किसी प्रकारसे कोई उसको भेट नहीं सक्ता । जो यह आक्षेप है कि, सुवर्णमात्र रुचकआदि कार्यका अथवा रुचक आदिका आश्रय जो सुवर्ण है उसका आरंभक होना संभव नहीं होता है यह भी देशकालआदि सामग्रीयुक्त सुवर्ण आदि मात्रहीका आरंभक (उत्पन्न कर्त्ता) होना संभव होनेसे युक्त नहीं है और सुवर्णसे स्वस्तिक भिन्न है ऐसा प्रत्यक्ष होने बुद्धिसे भेद प्रतीत होने व भिन्न शब्दसे वाच्य होनेसे आदि हेतुओंसे भिन्न वस्तु सिद्ध होनेसे आरंभक सुवर्णसे कार्य भिन्न नहीं देखाजाता है ऐसा कहने योग्य नहीं है और यह सीपमें चांदी भासित होनेआदिके समान भ्रम नहीं है क्योंकि उत्पत्ति व विनाशके मध्यमें जिसकी उपलब्धि (प्रत्यक्षता) होती है उसका उसके देशकालसम्बन्धी होनेसे देश काल विशेषका सम्बन्ध न रहनेसे नाश होना देखाजाता है और जो उपलब्धि होती है उसकी बाधा करनेवाली कोई युक्ति विदित नहीं होती जो स्वास्तिक पूर्वही उपलब्ध (प्रत्यक्षसे ज्ञात) नहीं था उसकी उपलब्धि होनेके

समयमें भी स्वस्तिकका आश्रय होनेसे सुवर्णकी भी अनुवृत्ति (पूर्वके सदृश ज्ञान होना) होनेसे उसमें (स्वस्तिकमें) यह सुवर्णही है ऐसा ज्ञान होना भी विरोधरहित है अर्थात् ऐसा ज्ञान सत्यके विरुद्ध भ्रमआदि दोषसे रहित है श्रुतिमें **सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः इत्यादि** अर्थ–हे सौम्य ! यह प्रजा सत् मूल(कारण) से उत्पन्न है इससे सत् है यह आशय है इत्यादि श्रुतिसे जगत् प्रपंचका सत्य होना सिद्ध होनेसे प्रपंचका मिथ्यासाधन भी असत्य व अयुक्त है। जो यह कहाहै कि, एक ही आत्मासे सब शरीर आत्मवान् होते हैं यह सत्य नहीं है क्योंकि ऐसा होता तो सब शरीरों में हुये सुखदुःखोंका ज्ञान व स्मरण होता और दुःख व सुख एकही समयमें होनेसे एकसाथ होते परन्तु ऐसा असंभवका होनाही असंभव होने व ऐसा उपलब्ध न होनेसे असिद्ध है । सौभरिआदि सिद्धयोगियोंने योग-बलसे जो अनेक शरीर उत्पन्नकिये हैं उनमें व पूर्वजन्मके शरीरोंमें हुये सुख दुःखोंका बोध व स्मरण उनके एकआत्मामें हुआहै ऐसा इतिहाससे विदित होता है और ऐसाभी कहना यथार्थ नहीं होसक्ता कि, आत्माके भेदसे प्रतिसंधान (अनेकमें से प्रत्येकके ज्ञानको धारण वा स्मरणकरना) का अभाव नहीं है मैं पदार्थ जो ज्ञाताहै उसके भेदसे है क्योंकि अंतःकरणरूप जो अहंकार है वह शरीर इन्द्रियआदिके समान जड व करण होनेसे ज्ञाता होना प्रतिपादित नहीं है व न होसक्ता है ज्ञाता आत्माही मैं शब्दसे वाच्य पदार्थ है जो यह कहा है कि, शरीर होना, जड होना, कार्य होना कल्पित होना सब शरीरों में एकसम होनेसे सब शरीर एकही की अविद्यासे कल्पित हैं यहभी भूतशरीर आदिक वर्तमान समयके किसी शरीरमें विद्यमान आत्माकी अविद्यासे कल्पित न होसकनेसे अयुक्त है और विद्यमान शरीरोंकी उपलब्धि बाधित न होनेसे सत्यता सिद्ध होनेसे कल्पित होनेकाभी अभाव है अर्थात् कल्पितहोना सिद्ध नहीं होता । और जो चेतनसे भिन्न सब पदार्थोंका जड होना देखनेसे सब चेतनोंका अभेदहोना कहा है वहभी सुख दुःख आदि व्यवस्था होनेके भेद प्रतिपादनही से निरस्त (खण्डित) हैं और जो यह कहा है कि, मुझीएकसे सब शरीर आत्मवान् हैं मेरीही अविद्यासे कल्पित हैं मैं ही सब चेतनजातहूँ इसप्रकारसे मैं शब्दसे वाच्य अर्थका एकहोना प्रतिपादन किया है यह अपने सिद्धान्तको न जानेहुये अद्वैत-वादीका भ्रान्तिसे जल्पना करना है क्योंकि अद्वैतमतमें मैं व तू आदि अर्थसे विलक्षण चिन्मात्र (ज्ञानस्वरूपमात्र) आत्मा है । और निर्विशेष चिन्मात्रसे भिन्न सब मिथ्या है ऐसा कहनेवाले अद्वैतवादीको मोक्षके लिये श्रवणआदि प्रयत्न सब निष्फल हैं । अविद्याका कार्य होनेसे, सींपमें चाँदी भासित होने आदिमें चांदीआदि उपादान आदिके लिये प्रयत्न करनेके समान कल्पित आचार्यके अधीन ज्ञान कार्य होनेसे शुकाचार्य; प्रह्लाद, वामदेवआदिकोंके प्रयत्न के समान मोक्षके लिये प्रयत्न करना भी व्यर्थ है । अविद्यासे कल्पितवाक्योंसे

उत्पन्न होनेसे आपही अविद्यात्मक होनेसे, अविद्यासे कल्पित ज्ञातामें आश्रित होनेसे अथवा कल्पित आचार्यके अधीन जो श्रवण है उससे उत्पन्न होनेसे स्वप्नमें हुये बंधके निवर्तक (निवृत्त करनेवाले) वाक्यसे उत्पन्न ज्ञानके समान तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे जन्य (उत्पन्न होने योग्य) ज्ञान बंधका निवर्तक (निवारण करनेवाला) नहीं है अन्य आक्षेप यह है कि, निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म, अविद्याके कार्यरूप और अविद्यासे कल्पित ज्ञातामें आश्रित हुये ज्ञानसे जानने योग्य होने वा ज्ञात होनेसे अथवा अविद्यासे कल्पित ज्ञानसे जाननेयोग्य होनेसे मिथ्या है जो ऐसा है तो वह स्वप्नमें देखेहुये पदार्थ व गंधर्वनगरआदिके समान है । निर्विशेष चिन्मात्रब्रह्म आपही प्रकाशित वा ज्ञात नहीं होता क्योंकि प्रमाणान्तर (अन्यप्रमाण) की अपेक्षा रखता है जो आत्मसाक्षिक (आत्माके अस्तित्वका निश्चय करनेवाला) स्वयं प्रकाशरूप ज्ञान विदित होता है वह ज्ञेय (ज्ञानका विषय) विशेषकी सिद्धिरूप ज्ञातामें प्राप्तही जानाजाता है यह पूर्वही कहागया है और उसका प्रकाशक निर्विशेष होनेके साधन यौक्तिक (युक्ति-सम्बंधी) ज्ञान स्थापित कियेगये वह सब अविद्याके कार्य होनेसे इत्यादि अनुमानोंसे खण्डन कियेगये हैं । और निर्विशेष चिन्मात्रका अज्ञानका साक्षी होना और उसमें अहङ्कार आदि व जगत्का भ्रम होना संभव नहीं होता है क्योंकि साक्षी होना धर्म व भ्रमआदि भी ज्ञाताविशेष में होते हैं ज्ञानमात्रमें नहीं होते हैं और उसका प्रकाशक होना और अपने अधीन प्रकाशहोनाभी सिद्ध नहीं होता है क्योंकि किसीपदार्थविशेषमें किसी किसी पुरुषकी सिद्धि होनारूप जो वस्तु है वह प्रकाश है, यह विदित होताहै यही उसकी स्वयंप्रकाशता अद्वैतवादियोंसे भी प्रतिपादन की जाती है ऐसा धर्मरहित जो निर्विशेष (विशेषतारहित) है उसकी स्वप्रकाशता (आप प्रकाशरूप होना) संभव नहीं होतीहै जो अपनी समाजमें अद्वैतवादियोंका ऐसा कथन है कि. अपरमार्थसे भी परमार्थ कार्य होना देखा जाता है सो भी उनके आपही ऐसा अंगीकार होना करनेसे कि. वह सब कार्य बाधरहित कल्पनारूप व्यवहारविषयमें सत्य है सिद्धान्तमें अविद्यारूपही है निरस्त (खण्डित) है और सर्वत्र परमार्थ ही अर्थात् सत्यरूप ही कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है अपरमार्थ से परमार्थ होना अयुक्त होनेसे मानने योग्य नहीं है और यह सब पदार्थ जो इन्द्रिय व बुद्धिसे अनेक पृथक् पृथक् प्रत्यक्ष से विदित होते हैं इनको अद्वैतवादी अद्वैतश्रुतिके प्रमाण से मिथ्या नहीं कहसके क्योंकि श्रुति भी अविद्याका कार्य होनेसे अविद्यात्मक होनेसे अन्य अविद्याकार्य वस्तुके समान मिथ्याही हैं मिथ्या प्रमाण मन्तव्य नहीं है । जो यह कहा है कि. ब्रह्म अपारमार्थिक (अयथार्थ) ज्ञानसे ज्ञात होनेमें भी पीछे बाध न होनेसे अर्थात् पीछे यथार्थ ज्ञान होनेमें उसका असत् बोध होना रूप विरोध न होनेसे ब्रह्म सत्यही है. यह अयुक्त है क्योंकि दुष्ट कारणसे उत्पन्न

ज्ञानसे जानागया असत्यही होता है इससे दुष्ट कारणसे हुये ज्ञानका विषय निश्चित होनेपर पीछे बाध न होना कुछभी सत्यताको सिद्ध नहीं करता यथा नेत्रमें प्राप्त विकार दुष्टकारणसे उत्पन्न ज्ञानसे शुक्लरूप पीत (पीला) निश्चित होनेपर पीछे बाध न होनेपर भी शुक्लवस्तुमें पीत रूप असत्यही है दुष्टकारणके अभावमें धर्मी शुक्लवस्तुके अस्तित्वमें बाध न होनेपरभी वह असत्यही सिद्ध होगा । तथा शून्यही तत्त्व है इस वाक्यसे हुये ज्ञानका पीछेसे बाध (अन्यथा वा विरुद्ध होना) न देखनेपरभी अर्थात् न जाननेपरभी दोषकारणसे होना निश्चय होनेहीसे उस जानेहुये पदार्थकी असत्यता सिद्ध होती है । जो ऐसा कहा जावै कि, **नेह नानाऽस्ति किञ्चन विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** अर्थ–इसमें अर्थात् इस जगत्में नाना पदार्थ कुछ नहीं है विज्ञान व आनन्दरूप ब्रह्म है इस प्रकारसे विज्ञानमात्रसे भिन्न सम्पूर्ण वस्तुका निषेध कहनेसे सब वस्तुसे पर होनेसे विज्ञानरूप ब्रह्मका निषेध नहीं होता यही पीछे बाध न होना कहाजाता है. शून्य ही तत्त्व है इसमें शून्यका भी जो अभाव कहता है उसका उससे (शून्यसे) परविषयक (विषयसम्बंधी) कथन होनेसे उस कथन का बाध होना विदित होताहै क्योंकि सब शून्यतासे भिन्न का निषेध असंभव होनेसे उसी शून्य ही का पीछे बाधरहित होना ज्ञात होता है तो ऐसा कहने में प्रत्यक्षआदिक दोष मूल होना और वेदान्तसे उत्पन्न सब शून्य होनेके ज्ञानका भी दोष मूल होना (दोष कारणवान् होना अर्थात् दोषकारणसे उत्पन्न होना) एकही समान हुआ इससे सब विज्ञान (नाना प्रकार के ज्ञान) पारमार्थिक (वास्तवमें सत्य) ज्ञातामें प्राप्त और आपभी परमार्थरूप व पदार्थविशेषकी सिद्धिरूप हैं उनमेंसे कोई दोषमूल होताहै परन्तु दोष सत्य है, और कोई पारमार्थिक सामग्रीसे उत्पन्न निर्दोष होता है जबतक ऐसा न माना जायगा तबतक सत्य व मिथ्या व मिथ्या अर्थ की व्यवस्था व लोकव्यवहार की सिद्धि न होगी पारमार्थिक ज्ञाताके अंतःकरणमें पहिले प्राप्तहुये पदार्थविशेषकी सिद्धिरूप प्रकाशके अर्थात् ज्ञानके पश्चात् वाणीसे व्यक्त लोकव्यवहार पारमार्थिक व भ्रांतिरूप भेदसे दो प्रकारका होता है । निर्विशेष (एकभेदरहित) सन्मात्रका पारमार्थिक व अपारमार्थिक के प्रतिभासआदिका हेतु होना असंभव होनेसे लोकव्यवहार संभव नहीं होता है और जो अद्वैतवादीके पक्षमें विनाअधिष्ठान (आधारवस्तु) भ्रमका होना संभव न होनेसे सब अध्यासों का (अन्यवस्तुमें अन्यहोने के ज्ञानों का) अधिष्ठान सन्मात्र को कहा है वह भी दोष दोषाश्रय ज्ञाता व ज्ञानोंके परमार्थ न होनेपरभी पारमार्थिक (सत्य) भ्रमकी सिद्धि होनेके

---

१ सत् व मात्र मिलकर सन्मात्र होताहै सत् का अर्थ है होताहै जिस वस्तुका इतनाही ज्ञान होवै कि, कोई पदार्थ है और विशेष न कहा जाय वह सन्मात्र है ब्रह्मको अद्वैतवादी ज्ञानरूप है प्राप्तहोना मानकर सन्मात्र व भेदरहित होनेसे निर्विशेष कहते हैं ।

समान अधिष्ठानके अपरमार्थरूप होनेपर भ्रमकी सिद्धि होनेसे अधिष्ठानकाभी निषेध होजानेसे निराकृत (खण्डन कियागया) समझना चाहिये जो अद्वैतवादी यह कहै कि, अधिष्ठानके अर्थात् भ्रमके आश्रयके अपरमार्थ (असत्) होनेमें भ्रमहोना नहीं देखागया इससे सन्मात्रका पारमार्थिक होना अवश्य मानने योग्य है तो दोष, दोषाश्रय, ज्ञाता व ज्ञानोंकेभी परमार्थरूप न होनेमें कहीं भ्रमका होना नहीं देखागया इससे देखे व जानेके अनुसार इनका भी परमार्थरूप होना अवश्य माननेयोग्य है भिन्न पक्षआरोपण करके विरुद्ध कथनसे कुछ लाभ विशेष नहीं है जो अद्वैतवादियोंका यह आक्षेप है कि, भेदपक्षमें भी अनन्तकल्प व्यतीत होनेमें सब आत्माओंके मुक्तहोजानेसे बद्धरहना संभव न होनेसे बद्ध व मुक्तकी व्यवस्था रहना संभव नहीं होती है व्यवस्था न रहनेसे सृष्टि व प्रलयका नित्य प्रवाह रहना चाहिये इसका उत्तर यह है कि, श्रुतिमें जो यह कहा है कि, मुक्त फिर संसारमें नहीं आता इसमें यद्यपि न आना कथनमात्रसे कभी नहीं आता ऐसा विदित होता है परन्तु सिद्धान्तमें कल्पान्तपर्य्यन्त मुक्त फिर संसार में नहीं आता कल्पान्तपर्य्यन्त विद्यमानसृष्टिकी अवधि मानकर व सम्पूर्णसृष्टिके अन्त होनेतक मुक्तोंकी संसारमें आवृत्ति (फिर लौटना) नहीं होती अन्यप्राणियोंके कोटियोंवार जन्म मरण होते हैं इससे यह कहा है कि, मुक्तोंकी फिर संसार में आवृत्ति नहीं होती इसमें शतपथ ब्राह्मणकी यह श्रुति प्रमाण है **तेषामुपासकानामिहास्मिन् कल्पे पुनरावृत्तिर्नास्ति कल्पान्तरे त्वावर्तन्त एव** अर्थ–(तेषाम् उपासकानाम्) उन उपासकोंकी अर्थात् उक्तब्रह्मउपासकोंकी (अस्मिन् कल्पे) इस वर्तमान कल्पमें (इह) इस संसारमें (पुनः आवृत्तिः नास्ति) फिर आवृत्ति नहीं है अर्थात् उपासकोंका फिर लौटकर संसारमें आना नहीं होता है (कल्पान्तरे तु) अन्यकल्पमें तो (आवर्तन्ते एव) फिर आतेही हैं इससे द्वैतपक्षमें बद्ध मुक्तकी व्यवस्था में दोष नहीं आसक्ता जो यह शंका होवै कि, जो कल्पान्तर में जीवकी फिर संसारमें आवृत्ति होती है तो मोक्षके लिये क्यों प्रयत्नकरनाचाहिये तो उत्तर यह है कि, वर्ष महीना दिनोंमें सुख प्राप्त होनेके लिये प्राणी इच्छाकरते व प्रयत्नकरते हैं एक कल्पमें सत्ययुग त्रेता द्वापर कलियुग ऐसे लाखों वर्षोंके परिमाणवाले युग एक एक सहस्र व्यतीत होजाते हैं अर्थात् सहस्र चतुर्युगी व्यतीत होजाती हैं तबतक परमानन्द

---

१ शतपथ ब्राह्मणके अन्तर्गत चतुर्दशकाण्ड सम्बंधिनी माध्यन्दिनारण्यक व्याख्या में यह श्रुतिवाक्य है ।

२ एक कल्पमें सहस्रचतुर्युगी व्यतीत होनेमें प्रमाण यह है कि, सूर्यसिद्धांत में शास्त्रकार चतुर्युगीको युगनामसे कहा है और सहस्रयुगका कल्प होनेमें ऐसा वर्णन किया है "इत्थंयुगसहस्रेण भूतसंहारकारकः । कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तः शर्वरी तस्य तावती" ॥

जो ब्रह्मानन्द है जिससे अधिक और ऐसे महादीर्घ कालतक रहनेवाला कोई सुख नहीं है उसके लिये प्रयत्न अवश्य कर्तव्य है कल्पान्तरमें भी मुक्त जब शरीरधारणकरता है तब प्रथम यथासंस्कार विशेष, सिद्ध देवताओंविशेषके पदमें प्राप्तहोताहै फिर यथासंकल्प व कर्मके न्यून अधिक अवस्थाको प्राप्तहोताहै यदि यह शङ्का होवे कि, उत्तमअवस्था व बुद्धिको प्राप्त न्यूनअवस्थाको प्राप्तकर-नेवाले कर्म व संकल्पको क्यों करेगा तो उत्तर यह है कि, जीवमें विषयसुख की अभिलाषा होना व मोहको प्राप्तहोना इन्द्रिय व अन्तःकरण व अविद्याके योगसे असंभव नहीं है जो ब्रह्महीको अविद्यावश जीव होजाना कहते हैं उनको ब्रह्मके दोषनिवारणकरनेके लिये हेतु व प्रमाण खोजकरना चाहिये जीवविषयमें समाधान होना असंभव नहीं है मुक्तहोनेमें जीवका फिर कभी आगमन न होना युक्ति व हेतु व श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध नहीं होता क्योंकि श्रुति में जीवको जन्ममरणरहित वर्णन किया है यथा **न जायते म्रियते वा विपश्चित्** इत्यादि अर्थ–ज्ञानवान् आत्मा न उत्पन्नहोता है न मरता है इत्यादि जब जीवका जन्म न होनेसे जीवकी आदि नहीं है तो मुक्तिमें अन्त न होना चाहिये यदि अन्तहोना (सर्वथा नष्टहोना) मुक्ति है तो आदिभी अवश्य मानना पड़ेगा ऐसा होने में आदि में विना कर्म जन्म व दुःख सुख भोग होना आदि दोष प्राप्त होने से अयुक्त है अन्य हेतु मुक्तके फिर संसार में आनेका यह निश्चित् होता है कि, श्रुतिप्रमाण से मोक्षमें भी जी-वात्माके साथ मनका सम्बंध बनारहता है मनके धर्मसे अवस्थान्त-रको प्राप्तहोना संभव है और ब्रह्महीरूप होजाना सिद्ध नहीं होता श्रुति यह है **स यदा पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्ति-ष्ठन्ति** इत्यादि अर्थ–(सः) वह उक्त मुक्तआत्मा (यदा) जब (पितृलोक-कामः भवति) पितृलोककी इच्छा करनेवाला होता है अर्थात् इच्छाकरता है तब (अस्य) इसके मुक्तके (संकल्पादेव) संकल्पहीसे (पितरः समुत्तिष्ठन्ति) पितर प्रकट होते वा उत्पन्नहोते हैं इत्यादि संकल्पकरना मनका कार्य है इससे अंतः-करण मनका मोक्षदशामेंभी होना ज्ञात होता है और इस श्रुतिमें स्पष्ट मनका होना वर्णित है **मनसैतान्कामान्पश्यन् रमते ब्रह्म-लोके** अर्थ–मुक्त (एतान् कामान्) इन कामों को (मनसा पश्यन्) मनसे देखतेहुये (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोकमें (रमते) रमता है इत्यादि जो मोक्षमें जीवका ब्रह्मरूपही होजाना व मुक्तकी फिर संसारमें आवृत्ति न होना व बद्ध अवस्थामें अविद्या उपाधिमात्रसे जीव ब्रह्ममें भेद होना मानते हैं उनका मत अयुक्त व श्रुति-विरुद्ध है क्योंकि, उक्त श्रुतियोंसे मोक्षमें भेद होना सिद्ध है और युक्तिविरुद्ध होनेके हेतु यह हैं कि, ऐसा मानने में जीवका स्वरूप नाश होनाही मोक्ष होगा स्वरूपसे नष्ट हुयेको मोक्ष आनन्द क्या प्राप्त होगा भोक्ता का तो नाशही होगा अन्य तर्क

यह है कि. जो अंतःकरणसम्बंधसे ब्रह्मका जीवत्व होता है और अन्तःकरणही का लोकान्तरमें गमन आगमन होता है अन्तःकरण उपाधिके सम्बंधसे जीवका गमन आगमन उपचारसे कहाजाता है तो प्रतिदिनभी अन्यस्थानको जाना आना अंतःकरणही का ठहरता है इससे यह सिद्धान्त विदित होता है कि, प्रतिदिन व प्रतिक्षण ब्रह्मके अन्य नये नये देशमें अन्तःकरणोंके प्राप्त होनेसे नये नये जीव होने व छूटे हुये देशरूप जीवोंके नाश होनेमें कोई स्थायी जीव विशेषका होना सिद्ध न होनेसे जीवोंके बद्ध व मुक्त होनेकी व्यवस्था सिद्ध नहीं हो सक्ती और कर्म फलभोग होने व कर्मअनुसार सृष्टि होनेका नियम नहीं होसक्ता है परन्तु विना अपराधही ब्रह्म अनेक देशरूप अवयवोंसे बंधनको प्राप्त हुआ नित्य नये नये देशोंमें भी बंधनको प्राप्त होता रहता है ऐसे मतसे मुक्त जीवका नाश न होना और उसमें अन्तःकरण सम्बन्ध रहना फिर आगमन होना मानना उत्तम है. जो यह कहा जावे कि, कार्य ब्रह्मके उपासकोंकी फिर आवृत्ति होना श्रुतिमें कहा है कारण निर्विकारके उपासक ज्ञानीकी आवृत्ति नहीं होती तो ऐसा तर्क व हेतुयुक्त श्रुतिप्रमाण से सिद्ध नहीं होता तुम्हारे तर्कके समाधानके लिये श्रुतिप्रमाण व युक्ति से जैसा वर्णन किया गया है उस प्रकार से हमारे उत्तर से मोक्षका होना सिद्ध होता है ऐसेही तुम अद्वैतवादीको अपने मतके सिद्धि के लिये हमारे आक्षेप वा तर्कका उत्तर देना चाहिये जो विना हमारे आरोपित दोषोंके निवारण अपने मत को निर्दोष व सत्य मानते हो तो सब मुक्त होनेपर फिर आवृत्ति न होनेसे बद्ध व मुक्तकी व्यवस्था न होनेकी हमारे मतमें शंका करना उचित नहीं है हमारे को भी अपनेहीके समान समझ लेना चाहिये और जीवोंके अनन्त होनेसे भी बद्ध व मुक्त की व्यवस्था की सिद्धि होजाती है इससे हमारे मतमें दोष प्राप्त नहीं होता । जो यह कहा है कि, आत्माओंके भिन्न होनेमें घटआदिके समान जडहोने आत्मा न होने व नाशमान् होनेका प्रसंग है ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि एक जातिके पदार्थोंका अन्यजातीय पदार्थोंसे भिन्नहोना अन्यजातीय होना वा अन्य जातीय व्यक्तियोंके धर्मयुक्त होना सिद्ध नहीं करता है यथा घटआदिकोंका भेद उनका पटहोना सिद्ध नहीं करता है जो यह कहा है कि, भिन्नहोनेमें वस्तुसे परिच्छेद होनेसे देश व कालसे भी ब्रह्मका परिच्छेद होगा इससे ब्रह्मका अनन्त होना सिद्ध न होगा यहभी इस हेतुसे कि, परिच्छिन्नपदार्थोंकेभी देश व कालके परिच्छेदका न्यून व अधिक होनेसे कोई नियम होना न देखनेसे देश कालसम्बंधकी इयत्ता (इतना परिमाणहोना) का निर्णय अन्यप्रमाणसे होता है ऐसेही ब्रह्मका सब देश व कालके साथ सम्बंध होनाभी अन्यप्रमाणसे सिद्धहोनेसे विरोध नहीं है, अयुक्त है । जो शंका होवै कि, सिद्धान्तमें परिच्छेद होनेमात्रसे भी सबप्रकारके परिच्छेदरहित न होनेसे अनन्त होनेकी सिद्धि नहीं होती तो तुम अद्वैतवादीका

मतभी जो अविद्यासे विलक्षणहोना मानतेहो ऐसेही सिद्ध होनेसे समान है अर्थात् अविद्यासे विलक्षण होना ब्रह्मका, अंगीकार करनेमें भी भिन्नहोनेसे भेदसम्बंधी कहेगये सब दोष तुम्हारे मतमें भी प्राप्तहोंगे जो ब्रह्मका अविद्यासे विलक्षण होना न मानाजावै तो ब्रह्मअविद्याहीरूप होगा, भेद होना न मानने में अपने पक्ष व परपक्षका साधन व दूषणादिका विवेक न होनेसे सब व्यवहार बिगडजायगा अनन्तहोनेकी प्रसिद्धिभी देश व कालके परिच्छेदरहित होनेमात्रसे है वस्तुसे परिच्छेद रहित होनेसे नहीं है क्योंकि इसप्रकारके पदार्थकी कि,जिसका वस्तुमेंभी परिच्छेद न होवै शशविषाण (खरहाके सींग) के समान होनेसे उपलब्धि नहीं होती भेदवादीके मतमें सब चिदचित् वस्तुरूप शरीरसे ब्रह्मही सबप्रकार होनेसे अपनेसे व परसे भी परिच्छेद (परिमाणविशिष्ट भिन्नता) नहीं होताहै इसप्रकारसे कारण से कार्यके सत्य होनेसे ब्रह्मका कार्य सब जगत् ब्रह्मसे अन्य ही है ऐसा प्राप्त होनेमें सूत्रके उक्त अर्थ व व्याख्यान से ब्रह्म कारणसे जगत् कार्यका अभेदहोना समझना चाहिये उससे अर्थात् कारणब्रह्मसे जगत् कार्यकी भिन्नता नहीं है आरंभण शब्द आदि हेतुओंसे इस सूत्रके अर्थके आशय जनानेके लिये मृत्तिका घट व सुवर्ण रुचक केयूरआदिके दृष्टान्त सहितवाचारंभणमात्र कार्य नामसे वाच्य होना कारणही कार्यरूप होनेसे दोनों में भेद न होना वर्णन कियागया है अब उससे अधिक सूत्रसम्बंधी कारण व कार्य के भिन्न न होनेके विषयमें व्याख्यान यह है कि, काणाद जो यह कहते हैं कि. मृत्तिकाके पिण्डसे जल भरलाना यह कार्य नहीं होता घट से जल भरना कार्य होताहै इत्यादि से कारण से कार्य का भिन्न होना सिद्ध है इसके प्रतिषेधमें उत्तर यह है कि, जल भरने आदि व्यवहारविशेष की सिद्धिके लिये मृत्तिका द्रव्य ही कर्ताद्वारा अन्य प्रकारके संस्थान (अवयव व आकारविशेष का बनाव वा रचना) को व अन्य नाम को प्राप्त होता है इससे सिद्धान्त में घटआदिभी मृत्तिकाही है मृत्तिका द्रव्य है यही विदित होने अन्यद्रव्य विदित न होनेसे मृत्तिकाही सत्य है इससे उसी मृत्तिका व सुवर्ण आदिद्रव्यके अन्यसंस्थानमें प्राप्त होजानेमात्रहीसे अन्यप्रकार होनेकी बुद्धि व अन्यशब्दसे वाच्यहोना आदि सिद्ध होते हैं जैसे एकही देवदत्तमें प्राप्त अवस्था विशेषोंसे बाल है युवा (जवान) है वृद्ध है इत्यादि बुद्धिभेद शब्दभेद व कार्यभेद होनाभी देखाजाता है । जो यह आक्षेप है कि. मृत्तिका रहतेहुये घट नष्ट हुआ ऐसा व्यवहार होनेसे कारणसे कार्य भिन्न है इसका परिहार उत्पत्ति व विनाश आदि कारणरूप द्रव्यहीके अवस्थाविशेष होना अंगीकार करनेसे होगया भिन्न भिन्न अवस्थाको प्राप्त उसी एक द्रव्यके भिन्न भिन्न शब्द (नाम) व भिन्न कार्य होना मानना युक्त है । द्रव्यका भिन्न भिन्न अवस्थामें होना कारक (कर्ता) के अधीन है इससे कारकका व्यापार अर्थवान् होनेसे व्यर्थ होने की शङ्का निवृत्त

समझना चाहिये। कार्यकी उत्पत्ति स्वीकारकरनेमेंभी सत्हीकी उत्पत्ति होनेसे कार्यके सत् होनेमें दोष व विरोध नहीं प्राप्तहोता है जो यह कहा जावे, कि, जो पूर्वही है वह उत्पन्न होता है यह परस्परविरुद्ध कथन है तो यह उत्पत्ति विनाशको तत्त्वसे न जानेहुयेकी शङ्का है द्रव्यके उत्तर उत्तर (एक एकके पीछे नये नये हुये) संस्थानका योग पूर्व पूर्व संस्थानसे प्राप्तका विनाश अपने वर्तमान अवस्थाको प्राप्तकी उत्पत्ति है इससे सब अवस्थाओंमें द्रव्य वही रहनेसे सत्कार्यवादमें (कार्य सत् होनेके वादमें) विरोध नहीं होता जो असत् संस्थानकी उत्पत्ति होनेमें असत्कार्यवाद होनेका प्रसङ्ग है यह कहा जावे तो असत्कार्यवादीके मतमें भी उत्पत्तिके उत्पत्तिमान् न होनेमें सत्कार्यवाद होना सिद्धहोगा और उत्पत्तिमान् होनेमें फिर उसकी उत्पत्तिको उत्पत्तिमान् माननेमें ऐसेही फिर माननेमें अनवस्थादोषकी प्राप्ति होगी। हमारे मतमें अवस्थाओंका अपने स्वरूपसे भिन्न सिद्धहोना व कार्ययोगके योग्यहोना संभव न होनेसे अवस्थावान्हीके उत्पत्तिआदिक मानना निर्दोष है। कपालत्व, (कपालका होना) चूर्णत्व (चूर्णका होना) व पिण्डत्व अवस्थाओंके त्यागसे घटत्व (घटहोना) अवस्था होनेके समान एकत्व अवस्थाके त्यागसे बहुत्वकी अवस्था होती है, उसके त्यागसे फिर एकत्वकी अवस्था होती है ऐसा कहा जावे तो कुछ विरोध नहीं है इसी अभिप्रायसे कारणसे कार्यको भेदरहित श्रुतिमें प्रतिपादन किया है यथा **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** अर्थ–हेसौम्य ! (सत् एव इदं) सत्ही यह अर्थात् इस कालमें विभक्त नामरूप (नामरूपसे विभागको प्राप्त) होनेसे नानारूपयुक्त यह एक जगत् (अग्रे) आगे सृष्टिसे पहिले नामरूपके विभाग न होनेसे (एकम् एव अद्वितीयम् आसीत्) एकही अद्वितीय था अर्थात् सर्वशक्तिमान् एक भेद रहित व्यवहारके योग्य सत्शब्दवाच्य होनेसे अन्य अधिष्ठातासहित न होनेसे अद्वितीय था इस प्रकारसे कार्यरूप जगत्का अन्य न होना प्रतिपादन किया गया है तथा यह श्रुति है **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय** अर्थ--उसने ईक्षा किया बहुत होऊं उत्पन्न होऊँ उत्पन्न कियेगये तेजआदि विविध गये तेजआदि विविध विचित्र स्वरूप जगत् रूपसे अपने आत्माके बहुत होनेको संकल्प करिके जगत्की उत्पत्ति कहनेसे कार्यरूप जगत्का परमकारण ब्रह्मसे भिन्न न होना निश्चय कियाजाता है सत्शब्दसे वाच्य सर्वज्ञ सत्यसंकल्प निर्दोष परब्रह्मही को सत्ही यह, ऐसा कहने योग्य जगत् का होना और सत्शब्दसे वाच्य जगत्का नामरूपविभागरहित होनेमें एकहोना अद्वितीय होना अपनेसे भिन्न अधिष्ठाताकी अपेक्षारहित होना कहा है फिरभी विविध विचित्र जगत्रूप बहुतहोनेका संकल्परूप ईक्षा करना और संकल्पअनुसार सृष्टि करना; कैसे सिद्ध होता है यह शंका करके ऐसा वर्णन

---

१ सत्शब्दवाच्य ब्रह्मही यह ।

किया है सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि अर्थ-(सा इयं देवता) सो यह अर्थात् पूर्वही जो सत्नामसे कहागया और जिसका अभी वर्णन होरहाहै सो यह देवताने (ऐक्षत) ईक्षाकिया कि, (अहं) मैं (इमाः तिस्रः देवताः) ये अर्थात् पहिले कहेहुये तेज जल पृथिवी तीनदेवताओंमें (अनेन जीवेनात्मना) इस जीवात्मासे अर्थात् अपनी बुद्धिमें पूर्वसृष्टि में हुये जीवको अनुभवकरके यह कहा है कि, इस जीवात्मासे वा जीवात्मासहित (अनुप्रविश्य) पूर्वसृष्टिके समान प्रवेश करिके (नामरूपे) नामरूपको (व्याकरवाणि) प्रकट वा स्पष्ट करूं (तासां) उन तीनोंमेंसे (एकैकाम्) एक एकको (त्रिवृतं त्रिवृतं) एकएकको तीनोंमें परस्पर मिलाके प्रत्येकको मिश्रित (करवाणि) करूं । तीन देवतासे शरीरके आरंभक सब जडवस्तुको कहकर आपही है आत्मा जिस शरीररूप जीवमें उस जीवात्मासहित अथवा जीवशरीररूपसे प्रवेश करके नामरूपको प्रकटकरूं यह ब्रह्मकी ईक्षा विषयक वाक्यका अर्थ है सो यह कहनेसे कार्यावस्थ व कारणावस्थ व स्थूलसूक्ष्मरूप सब चिदचित् (जडचेतन) वस्तुका परब्रह्मका शरीरहोना व परब्रह्मका सबका आत्माहोना जो अन्तर्यामिब्राह्मणआदिमें सिद्ध है उसको स्मरण कराया वा जनाया है इससे पूर्वमें कहीहुई शंका निरस्त है । जीवसहित सब जडवस्तुमें ब्रह्मके आत्मरूपसे अवस्थित होनेपर नामरूपका व्याकरण कहनेसे चिदचित् शारीरक (शरीरवान्) ब्रह्मही जगत् व सत् शब्दसे वाच्य है इससे यह कहा है कि, सृष्टिसे पहिले यह जगत् सतही था एकही था इत्यादि इस आशयसे सब कहना युक्त है शरीररूप चिदचित्वस्तुमें सब विकार व अपुरुषार्थ प्राप्त है इससे ब्रह्मका निर्दोष होना सबसे श्रेष्ठ सब कल्याण गुणोंका आकार होना सिद्ध है उसमें कोई दोष नहीं आता ब्रह्मको जीव व प्रकृतिसे श्रेष्ठ होनेको महात्मा सूत्रकार इस सूत्रमें **अधिकं तु भेदनिर्देशात्** अर्थ--भेदके निर्देश (वर्णन वा उपदेश) से अधिक है अर्थात् जड प्रकृति व जीवसे ब्रह्म अधिक है आगे वर्णन करेंगे **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्** अर्थ-इस ब्रह्म आत्मामय यह सब जगत् है इस प्रकारसे सब जड चेतनका आत्मा ब्रह्मही है ऐसा श्रुति उपदेश करती है यह अर्थको तत्त्वमसि यह वाक्य सिद्ध करती है छान्दोग्य उपनिषद्में उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुको ब्रह्मका उपदेश किया है उसमें प्रथम सबका आत्मा ब्रह्म है ऐसा वर्णन करके तत्त्वमसि यह वाक्य कहा है इससे इसका आशय यह ग्रहण किया जाता है कि, जो ब्रह्म सब जगत्का आत्मा है वह तेरा आत्मा है आत्माशब्द मध्य पदका समासमें लुप्त होजानेसे तदात्मकस्त्वमसि का तत्त्वमसि होजाता है इससे यह अर्थ होता है कि, हे श्वेतकेतो ! जिस आत्मक यह सब जगत् है तदात्मक तू है

१ हंत यह अव्यय है इसका अर्थ भाषानुवाद में यथार्थ व्यक्त न होसकनेसे छोड दियाहै ।

अर्थात् सब जगत्का आत्मा तेरा आत्मा है अथवा शरीर शरीरीको अभेद मानकर अथवा चेतनजातिपदार्थ एकमानकर वही तू है ऐसा कहा है तौभी कोई दोष नहीं है अन्य प्रकरणोंमें वेदान्तवाक्योंमें ब्रह्मसे अन्य न होनेकी प्रतीति होती है यथा **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** अर्थ-(खलु) निश्चय से (इदं सर्वं) यह सब जगत् ब्रह्म है **आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितं** अर्थ-(अरे खलु) अरे निश्चयसे (आत्मनि दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते) आत्मा दृष्ट श्रुत मत व विज्ञात होनेमें अर्थात् दृष्टि श्रवण मन व बुद्धिसे ज्ञात होनेमें अर्थात् जानलेने में (इदं सर्वं विदितं) यह सब विदित होता है **इदं सर्वं यदयमात्मा** अर्थ-(यत् इदं सर्वं) जो यह सब जगत् है (अयम् आत्मा) वह यह आत्मा है **ब्रह्मैवेदं सर्वम् आत्मैवेदं सर्वम्** अर्थ-यह सब ब्रह्मही है यह सब आत्मा ही है तथा अन्य होनेके निषेधमें यह श्रुतिवाक्य है **नेह नानास्ति किञ्चन** अर्थ-इस संसार में अनेक कुछ नहीं है **मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति** अर्थ-जो इस संसार में अनेक के समान देखता वा जानता है अर्थात् उपास्य ब्रह्ममें भेद देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है **यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति इत्यादि ह्यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् इत्यादि** अर्थ-जिस अज्ञानअवस्थामें द्वैतके समान देखता है उसमें एक अन्य दूसरेको देखता है इत्यादि आदिशब्दसे सुनना सूँघना जानना मानना आदिका ग्रहण है और जिस ज्ञान अवस्थामें इस उपासक का सब आत्माही होगया अर्थात् सब एक आत्माही देख पडनेलगा उस अवस्थामें किससे किसको देखै इत्यादि इसप्रकारसे अज्ञानीके द्वैतदर्शन और ज्ञानीके अद्वैतदर्शनको प्रतिपादन करतीहुई श्रुति अन्य न होनाही तात्त्विक (सत्य) है यह प्रतिपादन करती है इसप्रकारसे आरंभणशब्द आदि वाक्यों से जगत्का परमकारण परब्रह्मसे अन्य न होना प्रतिपादित है इसमें तत्व (परमार्थ, सारांश) यह है कि, चिदचिद्वस्तु शरीरयुक्त ब्रह्म सदा रहनेसे सदा सब नामसे वाच्य है तथापि ब्रह्म कभी जब चिदचित् वस्तु शरीर अतिसूक्ष्म दशा में प्राप्त होता है कि, ब्रह्म का शरीर होनेपर भी ब्रह्मसे भिन्न कहने योग्य नहीं रहता है वह कारणावस्थारूप वा कारण अवस्थामें प्राप्त ब्रह्म है कभी विभक्त नामरूप व्यवहार के योग्य स्थूलदशामें प्राप्त चिदचित् वस्तु शरीरवान् ब्रह्म होता है वह कार्यअवस्थामें प्राप्त ब्रह्म है इससे कारण परब्रह्मसे कार्यरूप जगत् भिन्न नहीं है और चिदचित् वस्तु जिसका शरीर है ऐसे शरीरी ब्रह्मकी कारण अवस्थामें व कार्यअवस्थामें अनेक श्रुतियोंसे सिद्ध स्वभाव व्यवस्था व गुण दोष की व्यवस्था **न तु दृष्टान्तभावात्** इस सूत्रके व्याख्यान में वर्णन कीगई है । जो कार्य व कारण को अन्य न होना व कार्य को मिथ्या

होना वर्णन करते हैं उनके मतमें सत्य व मिथ्या का एक होना संभव न होनेसे कारण व कार्यका एक होना सिद्ध नहीं होता है और ऐसा माननेमें जगत् का सत्य होना ब्रह्मका मिथ्या होना भी सिद्ध होगा। जो कार्य को पारमार्थिक मानते हुये जीव व ब्रह्म दोनोंका औपाधिक अन्य होना स्वाभाविक अन्य न होना अर्थात् एक होना और जड उपाधिरूप प्रकृति व ब्रह्म दोनों को स्वाभाविक कहते हैं उनके मतमें उपाधि व ब्रह्मसे भिन्न अन्य वस्तुके अभावसे (न होनेसे) निरवयव अखण्डित ब्रह्महीका उपाधिके साथ सम्बंध होनेसे ब्रह्मस्वरूपही-का त्यागने योग्य आकार परिणाम होनेसे और शक्ति परिणाम स्वीकार (अंगीकार) करनेमें शक्ति व ब्रह्मके भिन्न न होनेसे जीवके पुण्य पापरूप कर्म होने और ब्रह्मके पापरहित होने आदिकी व्यवस्थाकी कहनेवाली और जडके परिणाम होने व ब्रह्मके परिणाम न होनेकी वर्णन करनेवाली श्रुतियोंमें विरोध होगा। और जो ऐसा कहते हैं कि, भोक्ता होने आदि सब विकल्पोंसे रहित सब शक्तियुक्त सन्मात्र द्रव्यही कारण ब्रह्म है वह प्रलयवेलामें सम्पूर्ण सुख दुःखोंके अनुभवविशेषसे रहित स्वप्रकाशरूपभी सुषुप्तिदशामें प्राप्त जीवात्माके समान जडसे विलक्षण स्थित सृष्टिवेलामें (समयमें) मृत्तिका के घट शराव आदि रूप होने व समुद्रके फेन तरङ्ग बुद्बुद (बुल्ला) आदि होनेके समान भोक्ता भोग्य व नियन्ता (नियम करता) रूपसे तीन अंशसे स्थित होता है इससे भोक्तृत्व (भोक्ता होना) भोग्यत्व और नियन्तृत्व (नियन्ता होना) ये और इनके सम्बंधी गुण व दोष घटत्व शरावत्व आदिके समान और उनमें प्राप्त कार्यभेदके समान व्यवस्थित होते हैं भोक्ता भोग्य व नियन्ता-ओंका घट, शराव, मणिक (मटका) आदिके मृत्तिका द्रव्यरूप होनेसे एक मृत्तिकाही होनेके समान,सत्स्वरूप होनेसे सत्ही एक होना सिद्ध होता है इससे सत्से अभिन्न अर्थात् सत् ब्रह्मरूपही जगत् विद्यमान है उनके मतमें सब श्रुति स्मृति इतिहास पुराणों और न्यायका विरोध है सब श्रुति स्मृति इतिहास पुराण सर्वेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सत्यसंकल्प निर्दोष देशकालसे भेद को न प्राप्त हुआ सीमारहित अतिशय आनन्दरूप परम कारण ब्रह्म का वर्णन करते हैं यथा पूर्वही श्रुति वर्णन कीगई है जिनका अर्थ यह है कि, हे सौम्य ! सृष्टिसे पहिले एक सत्ही था उसने ईक्षा किया कि, मैं बहुत होऊँ, आत्माही एक सृष्टिसे पहिले था और कुछ न था उसने ईक्षा किया लोकों को उत्पन्नकरूं और यह श्रुति है **तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् । सकारणं करणाधिपाधिपो न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः** अर्थ-(तम् ईश्वराणां परमं महेश्वरम्) उस ईश्वरोंके अर्थात् ब्रह्मा-आदि ईश्वरोंके परम महेश्वरको (च) और (तं देवतानां दैवतम्) देवताओंके परम दैवतको अर्थात् देवताओंसे भी पूज्य देवताओंके परम देवताको (विदाम)

हम जानें इत्यादि विदाम यह क्रिया आगे उत्तर भागमें है यह श्रुति श्वेताश्वतर उपनिषद्की है तथा उसीकी यह श्रुति है (सः) वह ब्रह्म (कारणं) सबका कारण है (करणाधिपाधिपः) करणों इन्द्रियोंका अधिप स्वामी जो जीव है उसकाभी स्वामी है (तस्य) उसका (कश्चित् जनिता अर्थात् जनयिता) कोई उत्पन्नकरनेवाला (न) नहीं है (च) और न (तस्य अधिपः) उसका कोई स्वामी है मनुस्मृतिमेंभी प्रथम स्वयंभू भगवान् ऐसा कहकर उसीको फिर ऐसा वर्णन किया है **सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु वीर्य्यमवासृजत् इति** अर्थ– उस अपने शरीर से अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा करनेवालेने संकल्पकरके आदिमें जलोंको उत्पन्न किया उनमें वीर्य्यको उत्पन्नकिया, ब्रह्मके स्वाभाविक ज्ञानवान् व शक्तिमान् होनेमें यह श्रुति प्रमाण है **पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च** अर्थ–(अस्य) इसकी अर्थात् ब्रह्मकी (स्वाभाविकी परा शक्तिः) स्वाभाविकी परम उत्कृष्टशक्ति (विविधा एव) अनेक प्रकारही (श्रूयते) सुनीजाती है (च) और (ज्ञानबलक्रिया) ज्ञानबल क्रिया (स्वाभाविकी श्रूयते) स्वाभाविकी सुनीजाती है इत्यादि प्रमाणोंसे भेदरहित सन्मात्र अर्थात् सत्तामात्रसे विद्यमान ब्रह्महीं परम कारण है परन्तु सत्तारूप से विद्यमानमात्र ब्रह्मको मानना युक्त नहीं है क्योंकि घट है पट है इस प्रकार से किसी धर्मी द्रव्य पदार्थ में धर्मके समान वा धर्मरूपसे सत्ताका प्रयोग वा व्यवहार होनेसे सत्ता आपही घट पट आदि द्रव्य वस्तु न होनेसे सन्मात्रका द्रव्य होना व कारण होना सिद्ध नहीं होता है और इस हेतुसे कि, सत् होना ही व्यवहार के योग्य है व्यवहार को योग्यताही सत् होना है व्यवहारके योग्य न होना व्यवहारके योग्य जो सत् (है वस्तु) है उसका न होना है द्रव्यही सत् वस्तु है ऐसा मानने में आकाश द्रव्य में क्रिया न होनेसे क्रिया आदि में न होनेका प्रसङ्ग है इससे सर्वत्र सत्ताकी व्याप्ति न होने से क्रियाआदि सब में एक समान सत्ताका प्रतिपादन संभव नहीं है और सदात्मा से (सत्स्वरूपसे) किसीके भिन्न न होने में सदात्माके सर्वज्ञ होनेसे सबके स्वभावोंका प्रतिसंधान होनेसे सब गुण व दोषोंके मेल होजानेका प्रसङ्ग (योग) है अर्थात् सबका मेल होजाना चाहिये इन हेतुओंसे ब्रह्मको निर्विशेष (भेदरहित) सन्मात्र मानना युक्त नहीं है इससे जैसा कहागया है शरीर शरीरी का अभेदान्वित भाव को ग्रहण करके अर्थात् शरीर शरीरी को समुदायरूपसे एक मान कर ब्रह्म कारण से जगत् का अन्य न होना और ब्रह्मको जगत् का उपादान होना कहा है अब इस शङ्काकी प्राप्ति है कि, एकहीके अवस्थ भेद होनेमें बुद्धिभेद अर्थात् अन्य होनेका ज्ञान होता है और शब्दभेद

होता है अर्थात् अन्य नाम कहाजाता है यथा बालत्व (लड़काई) युवत्व (जवानी) आदिमें और मृत्तिका दारु (लकड़ी) सुवर्ण भिन्नपदार्थोंमेंभी बुद्धिभेद व नामभेद होते हैं दोनोंमेंसे मृत्तिका व घटआदि कारण व कार्योंमें बुद्धि व शब्दभेद आदि अवस्थाही सम्बंधी हैं अर्थात् अवस्थाहीभेदसे बुद्धि व शब्दभेद होता है यह कैसे निश्चय कियाजाता वा निर्णय कियाजाता है इसके समाधानके लिये यह आगे सूत्र है ॥ १५ ॥

भावे चोपलब्धेः ॥ १६ ॥

अनु०--और भावमें (होनेमें) उपलब्धि होनेसे (प्रत्यक्ष होनेसे) ॥ १६ ॥

भाष्य-भावमें अर्थात् कार्यभावमें भी कारणकी उपलब्धि होनेसे कारणसे कार्यका भिन्न न होना सिद्ध होता है आशय यह है कि, आरंभणशब्दआदिसे केवल शब्दही प्रमाणसे कारण व कार्यका अभेद होना नहीं कहा जाता अन्यहेतु कुण्डलआदि कार्यपदार्थ होनेमें भी कारण सुवर्णही कुण्डलाकार प्रत्यक्ष होता है और ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है कि, यह सुवर्णही है आकारमात्रमें भेद है ऐसा भिन्न द्रव्यमें नहीं होता यथा सुवर्णआदि द्रव्योंमें मृत्तिका आदिका ज्ञान नहीं होता इससे बाल व युवाआदिके समान कारणही द्रव्य अन्यअवस्थाको प्राप्तकार्य नामसे कहाजाता है जब अवस्थाभेद होनेसे अन्यप्रकार होनेका ज्ञान व अन्य नामसे वाच्य होना बाल युवाआदि होनेके ज्ञान व शब्दोंसे सिद्ध है तब अन्यद्रव्य कल्पना करना वा कहना युक्त नहीं है और यह प्रत्यभिज्ञान (वही होनेका ज्ञान) जातिसम्बंधी नहीं है क्योंकि जातिमें आश्रित कोई अन्यद्रव्य (अन्यव्यक्ति) का होना विदित नहीं होता एकही सुवर्णजातीय द्रव्य कार्य व कारण दोनों अवस्था में प्रत्यक्ष होता है और द्रव्यभेद होनेमें समवायिकारणकी अनुवृत्तिसे कार्यमें प्रतिसंधान (वैसेही वा एकप्रकारका समझना) होता है ऐसा कह सक्ते हैं क्योंकि अन्यवस्तु होनेमें आश्रयकी अनुवृत्तिमात्रसे उसमें आश्रित द्रव्यमें प्रतिसंधान होना विदित नहीं होता यथा घटमें भरेहुये जलमें वही घट होनेका ज्ञानहोनेमें जल घट है ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं होता है। जो गोमय (गोबर) आदिके कार्य बिच्छूआदि में गोमयका प्रतिसंधान नहीं होता है इससे कारणसे कार्य भिन्न सिद्धहोनेकी शंकाकीजावै तौ बिच्छूआदिके शरीरोंमें भी आदिकारण पृथिवी होनेका प्रत्यभिज्ञान होनेसे कोई दोष नहीं है यद्यपि प्रत्यक्ष-मात्रसे कारणहोनेका निश्चय जैसा सुवर्णआदि में होता है बिच्छूआदि में नहीं होता तथापि पृथिवीके अणुओंसे शरीरकी उत्पत्ति निश्चित होनेसे ज्ञाताको अनुमानसे पृथिवीकारणका कार्यरूप अवस्थान्तरमें होना निश्चित होता

है अग्निके कार्य धूममें अग्नि होनेका प्रत्यभिज्ञान नहीं होता जो यह शंका कीजावे तो इसका उत्तर यह है कि, अग्निका प्रत्यभिज्ञान न होनेमें दोष नहीं है क्योंकि अग्नि निमित्तकारणमात्र है उपादान कारण नहीं है अग्निसंयुक्त आर्द्र इंधनसे (औदे इंधनसे) धूम उत्पन्न होता है जिस इंधनसे धूम उत्पन्न होता है उसकी गंध धूममेंभी प्रत्यक्ष होती है इससे आर्द्र इंधनका कार्य धूम है यह निश्चय होता है अग्निकी गरमी से आर्द्र इंधनसे इंधन व जलके अणु-सूक्ष्मरूप वायुमें उडते हैं वही धूम नाम से कहे जाते हैं इससे कार्य होनेमें भी यह वही कारण है ऐसा ज्ञान होनेसे ज्ञानभेद व नामभेद आदि होनेका कारण केवल अवस्थाभेद है अर्थात् ज्ञानभेद व नामभेदआदि अवस्थाभेदके साथ बँधे हैं ऐसा विदित होता है ॥ १६ ॥

सत्त्वाच्चापरस्य ॥ १७ ॥

अनु०—अपरके सत् होनेसे भी ॥ १७ ॥

भाष्य--अपरके अर्थात् कारणसे अपर जो कार्य है उसके सत् होनेसे अर्थात् कारणमें सत् होनेसे (विद्यमान होनेसे) कारणसे कार्यका अनन्यत्व (अभेदता) है कारणमें यह शब्द सूत्रमें शेष है अनन्यत्व शब्दकी अनुवृत्ति पूर्वसम्बंधसे ग्रहण कीजाती है लोक व वेदमें कार्यका कारणही होना कहाजाता है यथा लोकमें यह कहाजाता है कि, यह सब घट शराव आदि कल्ह (पूर्वदिनमें) मृत्तिकाही थे वेदमें ऐसा वर्णन है **सदेव सौम्येदमग्र आसीत्** अर्थ--हे सौम्य ! यह जगत् आगे सृष्टिसे पहिले सत्‌ही (सत्‌रूप ब्रह्मही) था कारण में जो कार्यकी सत्ता न होती तो नियत कारणविशेषहीसे कार्यविशेष होता है यह नियम न होता मृत्तिकाहीसे घट तन्तुओंहीसे पट होनेका नियमही कारणमें कार्यका सत्ता होना निश्चय करता है सत्ता न होनेमें सबसे सब कार्य होनेकी उपलब्धि होती नियम होना सिद्ध न होता ॥ १७ ॥

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषा-द्युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

अनु०—असत् कहनेसे नहीं है जो ऐसा कहाजावे नहीं धर्मा-न्तरसे (अन्यधर्मसे) कहनेसे, वाक्यशेषसे (रहेहुयेवाक्यसे) युक्तिसे और शब्दान्तरसे ॥ १८ ॥

भाष्य—जो यह शंका होवे कि, श्रुतिमें कार्यरूप जगतको असत् कहनेसे यथा **असदेवेदमग्र आसीत्** अर्थ–(इदं) यह जगत् (अग्रे) आगे सृष्टिसे

पहिले (असत् एवं आसीत्) असत्ही था **असद्वा इदमग्र आसीत्** अर्थ-(इदं) यह अर्थात् यह जगत् (अग्रे) आगे सृष्टिसे पूर्व (असत् व आसीत्) असत्ही था तथा लोकमें भी ऐसा कहनेसे कि, पूर्वदिनमें (कल्ह) बनने से प्रथम घट शरावआदि नहीं थे इत्यादि कार्यका कारणरूप मानना वा कारणमें सत् मानना युक्त नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि, नहीं अन्यधर्म से कहनेसे वाक्यशेषसे युक्तिसे व शब्दान्तरसे (अन्यशब्दप्रमाणसे) ऐसी शंका करना असंगत है कार्य सत्ही है अन्य धर्मसे कहनेसे अर्थात् अन्यधर्मसे असत् कहनेसे इसका आशय यह है कि, यह विद्यमान जगत् सृष्टि से पहिले असत् था अर्थात् जैसा नामरूप आकार युक्त अभी है ऐसा नहीं था इस विद्यमान रूपसे असत्ही था सूक्ष्म कारणरूप वर्तमान स्थूलके विरुद्ध होनाही असत् कहने का प्रयोजन है सर्वथा सत्तारहित कहनेका प्रयोजन नहीं है यथा कल्ह यह घट नहींथा यह कहनेका तात्पर्य यह है कि, जिस आकाररूपसे घट इस समय है ऐसा कल्ह नहीं था यही घटका न होना है घटमें आकारही भेद होगया सिद्धान्तमें मृत्तिकाही है उस मृत्तिकारूपसे पूर्वदिनमें भी विद्यमानथा, ऐसा आशय होना कैसे निश्चित होताहै वाक्यशेष से युक्ति से शब्दान्तरसे इन तीन हेतुओंसे वाक्यशेषसे (रहेहुये वाक्यशेषसे) कहनेका अभिप्राय यह है कि, **असद्वा इदमग्र आसीत्** अर्थ-सृष्टिसे पूर्व यह जगत् असत्ही था यह कहकर इसके आगे यह वाक्य है **तदात्मानं स्वयमकुरुत** अर्थ-(तत्) उसने अर्थात् जो सूक्ष्मकारण मात्र होनेसे इस कार्यरूप असत्था उस ब्रह्मने (आत्मानम्) अपने आत्माको (स्वयं) आपही (अकुरुत) किया अर्थात् जगत्रूप किया यह वाक्य जो शेष (बाकी) है इससे सर्वथा असत् तुच्छ कहनेका तात्पर्य नहीं है यह सिद्ध होता है क्योंकि, जो सिद्धान्तसे असत्होता वह अपने आत्माको (शरीरको) जगत् कार्यरूप कैसे करना इससे असत् कहनेका उक्तही आशय ग्राह्य है जैसा कि, यह तैत्तिरीय उपनिषद में वर्णन है ऐसाही छान्दोग्य में यह वर्णन है **असदेवेदमग्र आसीत्** अर्थ-यह जगत् सृष्टि से पूर्व असत्ही था ऐसा कहकर फिर असत्से उत्पन्नहुआ यह कहाहै इसपर यह शंका होनेपर कि,असत्से सत् कैसे हुआ उत्तरमें यह कहाहै **सदेव सौम्येदमग्रआसीत्** अर्थ-हे सौम्य यह जगत् सृष्टिसे पूर्व सत्ही था अर्थात् इस आकार व रूपधर्मसे जैसा अब है नहीं था इसरूप से असत् धर्मान्तरसे कारण रूपसे सत्ही इस प्रकार से असत् कहनेसे आगे कहे हुये जो शेष वाक्य है उनसे धर्मान्तरसे कार्यका सत् होना सिद्ध होता है युक्ति से भी धर्मान्तर होनाही असत् होना विदित होता है यथा मृत्तिका द्रव्य में विस्तार गोलाकार उदर मुख आकृतियोंका योगही घटत्व (घट होना) अर्थात् घटसत् होना है और घट है ऐसा व्यवहार होनेका हेतु है और उसीका उसके विरोधी भिन्न अवस्थाके साथ योग होना घट नहीं है ऐसा

व्यवहार होने का हेतु है अर्थात् कपालआदि अवस्थाका योग उसके (घट अवस्थामें प्राप्त द्रव्य के) विरोधी होनेसे घटअवस्थामें प्राप्त मृत्तिका द्रव्य के न होनेके व्यवहार का हेतु है अर्थात् घटरूप मृत्तिका है ऐसा कहने का हेतु है वा होता है इससे भिन्न घटाभाव (घटनाश) नाम कुछ विदित नहीं होता इससे अवस्थान्तर में धर्मान्तर होना ही असत् व सत् व कार्यान्तर वाच्य होने का हेतु है तथा शब्दान्तर से (अन्य शब्दप्रमाण से) भी यही सिद्ध होता है **यथा सदेव सौम्येदमग्र आसीत्** अर्थ—हे सौम्य सृष्टि से पहिले यह जगत् सत्‌ही था ऐसा कहकर स्पष्ट यह वर्णन किया है कि, तब नाम रूप रहित कारण मात्र प्रकट नहीं था अब नामरूपसहित प्रकट है अब दो आगेके सूत्रों में कारण से कार्य भिन्न न होनेके दृष्टान्त वर्णन करते हैं ॥ १८ ॥

पटवच्च ॥ १९ ॥

अनु०—पटके समान भी ॥ १९ ॥

भाष्य—यथा बहुत तन्तु परस्पर मिलके पट इस नाम व कार्यरूपको प्राप्त होते हैं तन्तुसे भिन्न पट कोई वस्तु नहीं है ऐसेही कारण ब्रह्मभी जगत् है ॥ १९ ॥

यथा च प्राणादिः ॥ २ ॥

अनु०—और जैसे प्राण आदि ॥ २० ॥

भाष्य—जैसे एकही वायु विशेष वृत्ति व स्थानको प्राप्त होनेसे प्राण अपान उदान व्यान व समान पांच नामसे कहाजाता है ऐसेही उक्त प्रकारसे एक ब्रह्म ही विचित्र अनेक रूप आकार से जगत् कार्य होता है इससे परमकारण परब्रह्म से जगत् अन्य नहीं है यह सिद्धान्त है ॥ २० ॥

जीवके कर्ता न होने व ब्रह्मही जगत्‌के कर्ता होनेमें सू० २१ से २३ अ० ७

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

अनु०—अन्यके कहनेसे हित न करने आदिदोषोंका प्रसंग होना अर्थात् हित न करने आदि दोषोंकी प्राप्ति होगी ॥ २१ ॥

भाष्य—ब्रह्मसे इतर (अन्य) जो जीव है तत्त्वमसि अर्थ—वह तूहै अयमात्माब्रह्म अर्थ—यह आत्मा ब्रह्म है इत्यादि वाक्योंसे जो जीवको भेदरहित ब्रह्मही मानते हैं यह युक्त नहीं है इतरके कहनेसे अर्थात् इतरके (जीवके) ब्रह्म कहनेसे सृष्टि करनेमें जीव वा ब्रह्म दोमेंसे एकको भी जगत् का कर्ता मानने

में अहित करने आदि दोषोंका प्रसङ्ग होगा अर्थात् हित न करने आदि दोषोंकी प्राप्ति होगी क्योंकि जो ब्रह्मही जीव है तौ जीव वा ब्रह्म स्वतंत्र सत्यसंकल्प सर्वज्ञ आत्मा, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक दुःखोंसे भरेहुये इस जगत् को अपने अनर्थके लिये उत्पन्न न करता सुख प्राप्त होनेके लिये जगत् को केवल सुखसामग्रीयुक्त उत्पन्न करता क्योंकि बुद्धिमान अपने अहित करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होता जो यह कहा जाय कि, औपाधिक भेद है औपाधिक भेद होनेसे भेदप्रतिपादक श्रुति है स्वाभाविक अभेदही है इससे अभेदप्रतिपादक श्रुतियां सिद्धान्तप्रतिपादक हैं तौ यह प्रश्न है कि, इस जगत् का अहित रूप होना ब्रह्म जानता है वा नहीं जो नहीं जानता तो सर्वज्ञत्वकी हानि है और जो जानता है तौ अपने से भेद रहित जीवके दुःखको अपनेको दुःखहोना जानते हुये ब्रह्मके अनर्थरूप जगत्के करने और मल मूत्र संयुक्त अनेक रोग पीडा से बाधित होने योग्य शरीर धारण करने में अहित करने आदि दोषों की प्राप्ति रुक नहीं सक्ती और जो अज्ञानविषयक जीव व ब्रह्म का भेद श्रुतिमें प्रतिपादित है ऐसा माना जावै तौ जीव अज्ञान होनेके पक्षमें पूर्व कहेहुये विकल्प व उसके फल (सिद्धान्त) को यहां समझना चाहिये ब्रह्म अज्ञान होनेके पक्षमें भी पूर्वही उत्तर वर्णन किया गया है फिर संक्षेपसे कहा जाता है कि, स्वप्रकाश स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) ब्रह्मका अज्ञानका साक्षीहोना और उसकी कीहुई जगत्की सृष्टि होना संभव नहीं होता है क्योंकि जो अज्ञानसे प्रकाश तिरोहित होना मानाजावै तौ तिरोधान (तिरोहित होना) प्रकाश निवृत्ति करनेवाला होनेसे प्रकाशही स्वरूप ब्रह्म होनेसे ब्रह्मके स्वरूपही की निवृत्ति होजायगी स्वरूप नाश होना आदि अनेक दोषोंका प्राप्त होना पूर्वही वर्णन किया गया है इससे ब्रह्मका जगत्का कारण होना असङ्गत है इसके उत्तरमें अब यह सूत्र है ॥ २१ ॥

अधिकन्तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

अनु०–अधिक तौ है भेद कहनेसे ॥ २२ ॥

भाष्य–तौ शब्द पूर्वपक्षके निवारणके लिये है अर्थात् जीवात्मा ब्रह्मरूप अथवा ब्रह्म जीवसे भेदरहित जगत्का कर्ता नहीं है ब्रह्म जीवसे अधिक व भिन्न है किस प्रमाणसे अधिक है भेदकहनेसे अर्थात् श्रुतिमें भेद वर्णन कियेजानेसे यथा **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः** अर्थ–जो आत्मा में रहताहुआ आत्माके मध्यमें है जिसको आत्मा नहीं जानता जिसका आत्मा शरीर है जो आत्माके मध्यमें नियमकरताहै वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है **स कारणं करणाधिपाधिपः** अर्थ–वह कारण है और करण इन्द्रियोंका अधिप स्वामी

जो जीव है उसकाभी स्वामी है **तयोरन्यःपिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति** अर्थ-उन दोमेंसे अर्थात् शरीर वृक्षमें वर्णन कियेगये जीव व ब्रह्म दोपक्षियोंमेंसे एक अन्य जीवात्मा पिप्पलरूप कर्मफलको खाताहै अर्थात् भोग करता है और अन्य परमात्मा भोग न करताहुआ केवल साक्षीरूपसे जीवके धर्माधर्म आचरणोंको देखता है **ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ** अर्थ-ज्ञानी और अज्ञानी दोनों अज (जन्मरहित) ब्रह्म और जीव एक समर्थ ऐश्वर्यवान् व दूसरा असमर्थ ऐश्वर्यरहित है **यस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः** अर्थ-(यस्मात) जिससे कि, (मायी) मायावान् ब्रह्म (एतद् विश्वं सृजते) इस विश्वको उत्पन्न करता है (तस्मिन्) उसमें ब्रह्मके किये हुये प्रपञ्चमें (अन्यः) अन्य जीव (मायया सन्निरुद्धः) मायासे सम्बद्ध है बद्ध हुआ भ्रमता है **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः** अर्थ--प्रधान माया व क्षेत्रज्ञ जीवका पति व गुणोंका ईश है **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्** अर्थ--(यः) जो (बहूनाम् एकः) बहुतपदार्थोंका एक कारण व अधिष्ठातारूप (नित्यानां नित्यः) नित्योंका नित्य अर्थात् सब नित्य पदार्थोंसे श्रेष्ठ नित्य (चेतनानाम् चेतनः) सब चेतनोंका चेतन अर्थात् सब ज्ञानवानोंसे विशेष ज्ञानवान् है वह (कामान्) कामोंको (विदधाति) धारण कर्ता है **योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद, योक्षरमन्तरे सञ्चरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद, यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यस्य मृत्युः शरीरं यं मृत्युर्न वेद, एष सर्वभूतान्तरात्मा दिव्यो देवः एको नारायणः** इत्यादि अर्थ--जो अव्यक्त (प्रधान) के भीतर प्राप्त हुआ स्थित रहता है जिसका अव्यक्त शरीर है जिसको अव्यक्त नहीं जानता है, जो अक्षर (पुरुष) के मध्यमें प्राप्त स्थित है जिसका अक्षर शरीर है जिसको अक्षर नहीं जानता है, जो मृत्युके मध्यमें रहता है जिसका मृत्यु शरीर है जिसको मृत्यु नहीं जानता, यह सब भूतोंका अन्तरात्मा दिव्य एक नारायण देव है इत्यादि भेदप्रतिपादक श्रुतिवाक्योंसे परमात्माका जीवसे अधिक श्रेष्ठ व भिन्न होना सिद्ध है ॥ २२ ॥

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

अनु-पत्थरआदिके समान उसकी (इतरकी अर्थात् जीवकी) एकताकी सिद्धि नहीं है ॥ २३ ॥

भाष्य-जैसे पत्थर लोह काष्ठ तृणआदि अचित् (जडवस्तु) के विकार व भेदरूप पदार्थोंका, निर्दोष निर्विकार सम्पूर्ण कल्याणगुणोंका आकर अपनेसे

---

१ यह वाजसनेयक की श्रुति है ।

२ तस्येतरस्यैक्यामनुपपत्तिस्तदनुपपत्तिरत्र मध्यमपदलोपी समासः ।

भिन्न सम्पूर्ण वस्तुओंसे विलक्षण अनन्त ज्ञान व आनन्दका एकही स्वरूप नाना-विध अनन्त महाविभूतिमान् जो ब्रह्म है उस ब्रह्मरूप होना सिद्ध नहीं होता ऐसेही पत्थर आदिके समान अनन्तदुःख संयोगके योग्य पापयुक्त जो अल्पज्ञ चेतन जीव है उसके **अपहतपाप्मा** अर्थ--पापरहित है इत्यादि वाक्योंके प्रमाणसे सम्पूर्ण दुर्गुणोंसे रहित जिससे अधिक होना संभव नहा है ऐसे अतिशय असंख्येय (संख्या योग्य नहीं) कल्याण गुणोंका आकर ब्रह्मरूप होनेकी सिद्धि नहीं है इससे ब्रह्म जीवके एकताकी सिद्धि नहीं है जो यह शंका होवै कि, जो एकता न मानी जायगी तौ श्रुतिमें जो ब्रह्म कारणसे जगत्कार्य व जीवका भिन्न न होना कहा है वह मिथ्या होगा तो उत्तर यह है कि, जैसा पूर्वही वर्णन किया गया है कि, श्रुतिमें पृथिवीआदि सब जड वस्तुको ब्रह्मका शरीर होना कहा है और वैसेही **यस्यात्मा शरीरं** इत्यादि अर्थ-जिसका आत्मा शरीर है इत्यादि श्रुतिसे चेतन जीवको भी ब्रह्मका शरीर होना कहा है इससे जीव ब्रह्मका शरीर है शरीर होनेसे शरीरमें जीवात्मा अवस्थित होनेके सदृश ब्रह्म उसका आत्मा रूप अवस्थित होनेसे शरीर व शरीरीको लोकके समान अभेद मानकर जीव ब्रह्मको एक प्रकारसे वर्णन करनेमें कुछ विरोध नहीं है अर्थात् यथा लोक में देवदत्तनामक पुरुषके विचार करनेमें विचार जो केवल आत्मा के ज्ञान सम्बंधी है शरीर का कार्य व व्यापार नहीं है उसमें यह कहाजाता है कि; देव-दत्त विचार करता है और देवदत्त के शरीरको देखकर वा जातेहुये देखकर यह दे-वदत्त जाता है तथा शरीरसे किसी कामको करते हुये देखकर देवदत्त अमुक काम करता है शरीर को अभेद मानकर सर्वत्र देवदत्तही नामसे कहा जाताहै और सुननेवालेको देवदत्तहीनामसे बोध होता है ऐसेही सब जड वस्तु व जीवके शरीर होनेमें ब्रह्मही नामसे वाच्य होना समझना चाहिये इससे सब अव-स्थामें प्राप्त ब्रह्म चिदचित् वस्तु शरीरवान् है सूक्ष्म चिदचित् वस्तु शरीरयुक्त ब्रह्म-कारणरूप कहाजाताहै वही स्थूल चिदचित् वस्तु शरीरयुक्त होनेमें जगत् नामसे कार्य कहाजाता है इसप्रकारसे जगत् व ब्रह्मका कार्यहोना व जडवस्तु व जीवका अन्य न होना कहा है अन्यथा सर्वज्ञ कल्याणगुणसागर एकरस आनन्दमय ब्रह्मका परिणामी व दुःखी होना मानना सब श्रुतियोंके विरुद्ध होता है **सदेव सौम्ये-दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं** अर्थ-हे सौम्य सृष्टिसे पहिले यह जगत् सतही एकही अद्वितीय था यह विभागरहित अवस्थामें अचित् (जड प्रकृति) युक्त जीवका ब्रह्मशरीररूप स्थित होनेकी अवस्था है ऐसा अवश्य अंगीकार करने योग्य है आगे सूत्रकारही **वैषम्यनैर्घृण्ये इत्यादि** इस सूत्र व इसके आगेके सूत्रमें यह वर्णन किया है कि, जीवोंको उत्कृष्ट व निकृष्ट दशामें करनेसे जो ब्रह्ममें विषमता व निर्घृणता दोष होनेकी शंका होवै तौ ब्रह्मने जीवोंके अनादि कर्मोंके अनुसार उनको दुःखसुखभागी किया है और उत्तम व निकृष्ट शरीरोंमें

उत्पन्न किया है इससे दोष नहीं है इत्यादि इससे प्रलयमेंभी कर्म संस्कारों सहित विभागरहित सूक्ष्मरूपसे ब्रह्मशरीररूप स्थित रहना सिद्ध होता है इससे आत्मारूप चिदचित् वस्तु शरीरवान् ब्रह्म कारण होना मन्तव्य है इसी आशयसे कारण मानना युक्त व श्रुतिप्रमाण से सिद्ध होता है जो जीवके अविद्या युक्त अवस्था होने व न होने के अभिप्राय से भेद को वर्णन करते हैं उनके मत में यह सब असङ्गत होगा, अविद्यामें प्राप्त ब्रह्म सर्वज्ञ सबका कारण सबका ईश्वर नहीं होसक्ता और सर्वज्ञ रहनेमें अविद्यावश नहीं होसक्ता इसीसे श्रुतियों में जीवात्मा व ब्रह्मका भेद प्रतिपादित है अद्वैतवादीके मतमें सब भेद अविद्या परिकल्पित है अविद्यावस्थामें अविद्यापरिकल्पित पदार्थोंका परस्पर भेद सीपमें चांदी भासित होने आदि भेदके समान है अर्थात् मिथ्या है ऐसा कहना युक्त व ग्राह्य नहीं है महात्मा सूत्रकारही **अधिकंतु भेदनिर्देशात्** इत्यादि सूत्रोंमें भेद प्रतिपादन किया है ब्रह्मकी जिज्ञासा कर्तव्य है ब्रह्म जगत्के जन्म आदि का कारण है इत्यादिसे ब्रह्मका जिज्ञास्य व जगत्का कारण होना सिद्ध होता है और **आपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् नतु दृष्टान्तभावात्** इन पूर्वोक्त सूत्रोंसे भेद होना प्रतिपादित है इससे सर्वश्रेष्ठ चिदचिद्वस्तुशरीरक चिदचित्से विलक्षण ब्रह्मका उक्त प्रकारहीसे कारण होना व अभेद होना युक्त है यह सिद्धान्त है ॥ २३ ॥

विना अन्य साधन सामग्री के ब्रह्मके सृष्टिकर्तृत्व-
वर्णन में सू० २४ से ३५ तक अधि० ८

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

अ०–उपसंहार (सामग्री का एकत्र होना वा संयोग होना) देखने से नहीं है जो यह शङ्का होवै नहीं क्षीर के समान है इससे॥२४॥

भाष्य–उपसंहार देखनेसे अर्थात् कारककलाप (कार्य उत्पन्न करनेवाली सामग्री समुदाय) का मेल अर्थात् एकत्र होना देखनेसे नहीं है अर्थात् ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है जो यह कहा जावै नहीं क्षीरके समान है अर्थात् दधि कार्यका क्षीर (दूध) कारण होनेके समान ब्रह्म कारण है इससे शङ्का युक्त नहीं है यह सूत्रवाक्य का अर्थ है कारककलाप शब्द सूत्रमें शेष है आशय इसका यह है कि, श्रुतिमें जो सृष्टिसे पूर्वही ऐसा वर्णन कियाहै कि, इस सृष्टिसे पूर्वही यह जगत् सत्नामसे वाच्य ब्रह्मही एक अद्वितीय था ऐसे अद्वितीय ब्रह्मका जगत्का कारण उत्पत्तिकर्ता होना संभव नहीं होता क्यों नहीं होता कारक-

---

१ हि शब्द जो सूत्रके अन्तमें है उसका अर्थ जिसकारणसे जिससे यह होताहै यहां भाषामें जिससे के स्थानमें इससे लिखना उत्तम जानकर इससे लिखाहै क्योंकि देशभाषामें ऐसेही कहाजाता है ।

कलापका उपसंहार देखनेसे अर्थात् लोकमें यह देखाजाता है कि; कुलालआदि घटआदिको कारककलापके उपसंहारहोनेमें अर्थात् घटआदिकी उत्पत्तिके उपकरणरूप सामग्री जो मृत्तिका दण्ड चक्र सूत्र आदि हैं उनके एकत्रहोने में उनकी सहायतासे घटआदिको उत्पन्न करते हैं कारककलापके उपसंहार न होनेमें घटआदि उत्पन्न करनेकी शक्ति रखनेपरभी घटआदिको उत्पन्न नहीं करसक्ते अद्वितीय ब्रह्मके कारक उपसंहार न होने से विना करण व अन्य कारक सामग्रीके सहायता विचित्र सृष्टिकी रचना उससे संभव न होनेसे ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है जो ऐसी शङ्का होवै तौ इसका उत्तर यह है कि, इस हेतु से कि, विना बाह्य व अन्य कारक उपसंहारके दधि कार्य का क्षीर कारण होनेके समान ब्रह्म जगत्का कारण होता है ब्रह्मका कारण होना अयुक्त नहीं है अर्थात् सब कार्य उत्पन्न करनेवाले कारणोंको उपकरणोंके उपसंहारकी अपेक्षा नहीं होती जैसे क्षीर जल विना अन्य उपकरण वा कारक उपसंहारके आपही दधि व हिम (बरफ) कार्य को करते हैं (आपही दधि व हिम रूप होते हैं) ऐसेही ब्रह्म चिदचित् सूक्ष्म कारण रूप शरीरसे स्थूल जगत् कार्य शरीर को धारण करके आप जगत् कार्य शब्द से वाच्य होता है जो यह शंका होवै कि दधि कार्य होनेमें अम्ल द्रव्य (खट्टी वस्तु) आदिका व हिम कार्य में अतिशीत का योग होना आदि साधन क्षीर व जल आदि में भी अपेक्षित होता है इससे सर्वथा साधन अपेक्षारहित होना सिद्ध नहीं होता ऐसेही ब्रह्मके जगत् कार्य करने वा होनेमें होना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि, जैसे विना अन्य अम्ल वस्तुके योग भी कालान्तर में अपनेही में उत्पन्न हुये विकार व कारण के योगसे दुग्ध दधिरूप होजाता है ऐसेही प्रलय होनेपर फिर जीवोंके अनादि कर्म संस्कारके अनुसार कर्मफल भोगप्राप्तिके लिये ब्रह्मसे परिमित नियत सृष्टि समय व ब्रह्मकी इच्छा का योगही ब्रह्मके जगत्के कारण होनेका साधनसामग्री है अर्थात् सृष्टिसमय में ब्रह्मकी इच्छा व जीवोंका कर्मविपाक के योग से ब्रह्मशब्दसे वाच्य ब्रह्म शरीर वा सामर्थ्य कारण रूप सूक्ष्म चिदचित् वस्तु स्थूल जगत् कार्यरूप होता है अर्थात् विनाअन्य बाह्यसाधनके दुग्धके दधि होनेके समान अपनी इच्छामात्रसे सृष्टिसमयमें ब्रह्म अपने चिदचित्वस्तु कारणरूप शरीर को स्थूल जगत् कार्यरूपमें परिणमितकरके जगत्रूप होता है अब इस शङ्काकी प्राप्ति है कि, लोकमें दुग्धआदि जडवस्तुका दधिरूप होना प्रत्यक्षसे सिद्ध होताहै परन्तु चेतन कुलाल आदिके शरीरमें भेदहोना अन्यरूप व आकारसे प्रकट होना दृष्ट नहीं होता और विना साधन अर्थात् उपकरणसामग्रीके इच्छामात्रसे कोई कार्य नहीं करसक्ते ऐसेही ब्रह्मका न करना संभव है इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ २४ ॥

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

अनु०-लोकमें देवता आदिकोंके समान भी ॥ २५ ॥

भाष्य-लोकमें देवताआदिके समानभी ब्रह्मका परिणाम है यह निश्चय करनाचाहिये अर्थात् जैसे लोकमें मंत्र अर्थवाद इतिहास पुराणोंसे अर्थात् शब्द प्रमाणसे देवता आदिकों का महाप्रभाववान् व सामर्थ्यवान् होना विदित होता है देवता आदि अर्थात् देवता पितर ऋषि सिद्ध अपने सङ्कल्प· मात्रसे अनेक शरीर धारण करते हैं जिसकी इच्छा करते हैं उस पदार्थको उत्पन्न करलेते हैं ऐसेही ब्रह्मका इच्छामात्रसे विचित्र सृष्टिका करना समझना चाहिये ॥ २५ ॥

ब्रह्मके उपादानकारण होने आदिके शंका समाधान में सू० २६ से ३१ अधि० ९ ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

अनु०-सम्पूर्णके होनेका प्रसङ्ग है अथवा निरवयवत्वशब्द का विरोध होगा अर्थात् निरवयव होना प्रतिपादक शब्दका विरोध होगा ॥ २६ ॥

भाष्य-अब यह आक्षेप है कि, यद्यपि सूक्ष्म चिदचित् वस्तु शरीरक ब्रह्मकारण व स्थूल चिदचित् वस्तु शरीरक ब्रह्म जगत् रूप कार्य माना जावे तथापि ब्रह्म का उपादान कारण मानना युक्त नहीं है क्योंकि निरवयव ब्रह्मका अवयव व द्वितीय देश संभव न होनेसे सम्पूर्ण ब्रह्म स्थूल चिदचित् वस्तु शरीरवान् का कार्यरूप होना सिद्ध होगा ऐसा होनेमें जगत् परिमाणपरिमित परिच्छिन्न होगा अनन्त न होगा और जगत्से पृथक् अपने शुद्ध स्वरूपसे ब्रह्मकी स्थिति न होगी एकदेशसे कार्यरूप होना माननेमें निरवयवत्वप्रतिपादक श्रुतिके विरुद्ध होगा अर्थात् **निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्** इत्यादि अर्थ-(निष्कलम्) अवयवरहित (निष्क्रियं) क्रियारहित (शान्तम्) शान्त एकरस अर्थात् परिणामरहित (निरवद्यं) दोषरहित (निरञ्जनम्) उपमारहित है इत्यादि इस श्रुतिके विरुद्ध होगा श्रुति बाधित होनेसे ब्रह्ममें अवयव व देशभेद होना मानने योग्य नहीं है इससे ब्रह्मको कारण मानना युक्त नहीं है अथवा इस सूत्रका ऐसा आशय भी ग्राह्य है कि, पूर्व में कहेहुये समाधानसे बाह्यसामग्रीकी अपेक्षा ब्रह्मको न होवै तो भी लोकमें इच्छा मात्रसे किसी कार्य वा कर्मका होना देखा नहीं जाता इच्छा करनेवाला जब अपने शरीर वा

व्यक्ति से भी कार्य सिद्ध करनेमें प्रवृत्त होता है अथवा उसकी आज्ञासे अन्य कोई शरीरसे प्रवृत्त होता है तब अपेक्षित कार्य सिद्ध होता है प्रवृत्त होनेवाला किसी कार्यमें अवयवमात्रसे प्रवृत्त होता है यथा हस्तसे लेखनआदिमें किसीमें सम्पूर्ण शरीरसे यथा किसी गुरु (गरू) पदार्थके उठाने व लेजाने किसी प्राप्यवस्तुके लिये स्थानान्तरको जानेआदिमें ऐसेही जगत्कार्य में ब्रह्मको प्रवृत्त होना चाहिये परन्तु ब्रह्मका प्रवृत्त होना संभव नहीं है क्यों कि निरवयवका एकदेश व अवयव संभव न होने से प्रवृत्त होने में सम्पूर्णके प्रवृत्त होनेका प्रसङ्ग है ऐसा होने में ब्रह्मका परिच्छिन्न होना सिद्ध होगा अनन्त होना मिथ्याहोगा एकदेश वा अवयवसे प्रवृत्त होना माननेमें निरवयव होना प्रतिपादक उक्त श्रुति बाधित होगी इससे ब्रह्मका कारण मानना युक्त नहीं है जो ऐसा अर्थ स्वीकार कियाजाय तो पूर्वेही अधिकरणका सम्बंध रहना मानना होगा जो इस अर्थमें यह दोष दियाजाय कि, पूर्वमें बाह्यसामग्री न होनेमें देवताआदिके समान ध्यान व इच्छामात्रसे कार्य-सिद्ध होना वर्णन करनेहीसे इस प्रकारके शङ्का व समाधानकी आवश्यकता नहीं रहती तौ इसका उत्तर यह है कि, आगे सूत्रकार **विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्** इस सूत्रमें कारणरहित होनेमें कार्य सिद्ध न होनेकी शङ्का करके यह समाधान किया है कि, इसका समाधान पूर्वेही वर्णन करदिया गया है इस शङ्का समाधानके भी पृथक् वर्णन की आवश्यकता नथी परन्तु सूत्रकार लोकके साधारण बोधमें आनेके अभिप्रायसे जो प्रत्यक्षसे विरुद्ध होना विदित होता है उनमें किंचित् भेद होनेमें भी शंकापूर्वक समाधानको वर्णन किया है बाह्य सामग्रीसे शरीरकी प्रवृत्ति भिन्न वस्तु है व शरीर व करणके होनेकी आव-श्यकता भिन्न है इससे प्रत्येक विषयमें शंका व समाधान करना अयुक्त नहीं है देवताआदिका प्रमाण भी शब्दमात्रसे सिद्ध बहुतेरे प्रत्यक्षवादी नहीं मानते इसीसे प्रत्यक्ष विरोध सम्बन्धी विकल्पोंको करके शब्द प्रमाण की पुष्टिके लिये जहांतक होसका है लौकिक दृष्टान्तसे भी सिद्ध करते हैं इसी अभिप्रायसे देवताओंके दृष्टान्तसे अधिक आगे लौकिक जीवात्माओंके दृष्टान्तमें यह वर्णन किया है **आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि** अर्थ-जिससे कि, आत्मामें भी ऐसेही विचित्र शक्तियां होती हैं इत्यादि अब उक्त आक्षेपका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ २६ ॥

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

अनु०—श्रुतिसे तौ सिद्ध है शब्दप्रमाणक होनेसे ॥ २७॥

भाष्य—ब्रह्म जो प्रत्यक्ष व अनुमानका विषय नहीं है केवल शब्द मूल है अर्थात् शब्दही प्रमाणक (प्रमाणवान्) है मूल शब्द यहां प्रमाणवाचक है

शब्दही प्रमाणसे साध्य होनेसे श्रुतिसे ब्रह्मका निरवयव होना व कारण होना सिद्ध है जब श्रुतिसे (शब्द प्रमाणसे) सिद्ध है तो अन्य प्रत्यक्ष आदिके विरुद्ध होनेसे उसके कारण व कर्ता होनेमें शङ्का वा दोष आरोपण करना युक्त नहीं है ब्रह्म जो अतीन्द्रिय पदार्थ है जिसमें इन्द्रियजन्य ज्ञानकी प्राप्ति नहीं है उसमें शब्दप्रमाणही अंगीकारकरना उचित है क्योंकि सर्वथा तर्क से उसके कारण होने आदि का निर्णय करना संभव नहीं है अनुमानसे भी ब्रह्म सिद्ध होता है इस लेखका यह अभिप्राय नहीं है प्रत्यक्षमूलक अनुमानआदिसे ब्रह्मका निश्चय नहीं होता केवल यह आशय है कि, अन्यप्रमाणकी मुख्यता नहीं है क्योंकि ब्रह्मविषयक विचारमें किसी अंशमें प्रत्यक्ष व अनुमान आदि से निर्णय नहीं होसका उस अंशमें शब्द प्रमाणही मुख्य मानने योग्य है श्रुतिसे ब्रह्मका जगत् का कारण व उत्पन्न कर्ता होना सिद्ध है यथा **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** इत्यादि अर्थ—जिससे यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं इत्यादि और निरवयव होना आदि भी श्रुतिसे सिद्ध है यथा **निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्** इत्यादि अर्थ—अवयवरहित क्रियारहित सदा एकरस दोषरहित उपमारहित है इत्यादि इसप्रकारसे शब्दप्रमाणसे कारण होना व निरवयव होना दोनों सिद्ध है इससे निरवयवहोना व उससे विचित्र सृष्टिहोना दोनो मन्तव्य है सृष्टिका कारण होना तौ अनुमानसेभी जैसा पूर्वही अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः इन सूत्रोंके व्याख्यान में वर्णन किया गया है सिद्ध होता है लौकिक जनोंकी अवस्था व इन्द्रियजन्य ज्ञानसे केवल यह निश्चय नहीं होती कि, सम्पूर्ण स्वरूपसे ब्रह्म कार्यरूप होता है वा कुछ अंशसे और बिना साधनसामग्री कैसे सृष्टिको करता है यह शब्द प्रमाणसे मानना चाहिये ब्रह्मकी शक्ती सबसे उत्कृष्ट व विलक्षण है उसको साधनसामग्रीकी आवश्यकता नहीं है तथापि ब्रह्मका उपादान कारण होना उसके चिदाचिद् वस्तु शरीर वा प्रकृति रूप सामर्थ्यद्वारा मानना युक्त है उसके शुद्ध आत्मस्वरूपसे मानना युक्त नहीं है जो यह कहा जावे कि, उसकी शक्ति विलक्षण होनेसे शब्दही प्रमाणसे शुद्ध आत्मस्वरूपसे भी उसका उपादान होना अंगीकार करना चाहिये तौ इसका उत्तर यह है कि शब्द प्रमाण भी ऐसा मानना चाहिये कि, जो अन्य शब्दप्रमाणसे अर्थात् अन्यश्रुतिसे व प्रकरणमें पूर्वापर विरोधरहित हो व सर्वथा युक्ति व हेतु विरुद्ध न होवे केवल जो कुछ अंशमें प्रत्यक्ष आदिका विरोध होवे वह शब्द प्रमाणके विश्वाससे व शब्द भिन्न प्रत्यक्ष आदि प्रमाणका विषय न होनेसे ग्रहण न किया जावे तो अर्थ कुछ वाक्योंमें विदित होवे और बहुत वाक्यों में उसके विरुद्ध ज्ञात होवे और वह युक्तिहेतुसे असंभव होवे और जिनवाक्यों में वह साधारण विदित होता है विचारसे उनका अन्यअर्थ व आशय ऐसा ग्राह्य होवे कि, जो अन्य बहुत वाक्योंसे विरोधरहित घटित होसके तौ असंभवित

व विरोधयुक्त अर्थको त्यागकर जो अधिक वाक्यों में प्रतिपादित अर्थ व पूर्वापर वाक्योंके अर्थसे विरोधरहित हो और युक्तिसे भी असंगत न हो वही उत्तम व ग्रहणके योग्य है ब्रह्मको शुद्ध चेतन आत्मस्वरूपसे उपादान मानना न्याय वा युक्तिके विरुद्ध व श्रुतिमें जो अवयवरहित परिणामरहित कहा है इन शब्दोंके विरुद्ध तथा सूत्रकारसे वर्णन किये पूर्वापर सूत्रोंके विरुद्ध है इससे मानने योग्य नहीं है जो यह कहते हैं कि, अवयवरहित व अवयवसहित होना व नामरूप सब अविद्यासे कल्पित है यह यथार्थ नहीं है क्योंकि जब ब्रह्मसे पृथक् कोई पदार्थ नहीं है वही उपादान कारण व वही कार्यरूप है तब उसको अविद्याहोना असंभव है क्योंकि, ब्रह्म सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप प्रतिपादित है दो विरुद्ध धर्मोंका एक धर्मीमें होना असंभव है अविद्या कोई ऐसा पदार्थ मानने योग्य नहीं है कि, जो ब्रह्मकी सर्वज्ञता नष्ट करिके अपनी प्रबलता से ब्रह्मको अपने आधीन करलेती है इससे शुद्ध चेतन स्वरूपसे ब्रह्मको उपादान मानना युक्त नहीं है । शब्दप्रमाणकी मुख्यता होनेमात्रसे अन्य प्रमाणरहित प्रथम शब्दप्रमाणसे निश्चयकरनेको इस सूत्रमें वर्णन कियाहै अन्यथा जब ब्रह्मकी इच्छा मात्रसे कार्य सिद्ध होता है तब किसी अंशसे व सम्पूर्णस्वरूपसे कार्य होने वा कार्यमें प्रवृत्त होने की शंका भी युक्त नहीं है और कार्यरूप जगत्में व्यापकता मात्रसे स्थित होने व खण्डित न होनेसे व जगत्में भी अपने चेतन शुद्धस्वरूपसे विद्यमान रहनेसे आकाशके मंदिरआदिके भीतर बाहर सबमें व सबसे पृथक् रहनेके समान परिणाम व अवयवरहित व्यापक व अनन्त है सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मका एक अंश है यह श्रुतिमें प्रतिपादित है **यथा एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि** अर्थ-(अस्य) इसका अर्थात् ब्रह्म पुरुषका (एतावान् महिमा) इतना अर्थात् जितना तीनों कालमें विद्यमान यह जगत् है महिमा है (च) और (पुरुषः) ब्रह्मपुरुष (अतः ज्यायान्) इससे अर्थात् महिमा रूप जगत्से अधिक है अधिकताको वर्णन करते हैं (विश्वा भूतानि अर्थात् विश्वानि भूतानि) सब प्रकृतिसे लेकर पृथिवीपर्य्यन्त भूत (अस्य पादः) इसके एकपाद अर्थात् अंश हैं (अस्य दिवि) इसके स्वप्रकाश स्वरूपमें (त्रिपात्अमृतं) तीनपाद अमृत अर्थात् मोक्षसुखरूप है पादशब्द इसमें उपचारसे वर्णन किया है मुख्य अर्थसे पादवर्णन करने का आशय नहीं है जब जगतको एक पाद कहा है शेषको लोकमें प्रायःचारपाद कहनेका व्यवहार होनेसे तीनपाद कहा है तात्पर्य अधिक कहनेसे तिगुण का तीन अंश कहनेसे नहीं है अर्थात् पुरुष अधिक अनन्त हैं यह कहनेका आशय है यह पूर्वापर व अन्य श्रुतियोंसे निश्चित होता है इस श्रुतिसे सम्पूर्ण ब्रह्मका कार्य न होना जगत्से अधिक होना सिद्ध है और पाद शब्द

उपचार से कहनेसे उसके निरवयव होनेमें विरोध प्राप्त नहीं होतो परन्तु साधारण लौकिक जनोंकी बुद्धिमें संशय होनेसे और उनको वेदका गूढ आशय थोरे व्याख्यान से तर्कके समाधानपूर्वक निश्चित नहोनेसे शब्दप्रमाणसे सिद्ध निश्चय करनेको इस सूत्रमें सूत्रकारने वर्णन किया है अब इच्छामात्रसे बिना शरीरसे प्रवृत्त हुये व स्वरूप विकार प्राप्तहुये कार्य सिद्ध होना निश्चित कराने-के लिये और देवताआदिकोंके दृष्टान्त व शब्दप्रमाणमात्रसे निश्चय नहोना संभव होने से अन्य प्रमाणसे निश्चय कराने के लिये इसी लोकमें विदित व अनुभूत हो सकने योग्य आगे सूत्रमें जीवात्माओं के दृष्टान्त को वर्णन करते हैं ॥ १७ ॥

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

अनु०–इस हेतुसेभी कि, आत्मा में भी ऐसेही विचित्र शक्तियाँ होती हैं ॥ २८ ॥

भाष्य–हि शब्दका अर्थ जिस हेतुसे होता है परन्तु देशभाषा में इस हेतुसे लिखना उत्तम जानकर जिसहेतुके स्थानमें इस हेतुसे लिखा है शक्तिशब्द सूत्रमें शेष है सूत्रका आशय यह है कि, इसहेतुसे भी कि, आत्मा में भी ऐसेही अर्थात् परमात्माके सदृश अवस्था विशेषमें शक्तियां होती हैं परमात्मामें विलक्षण व विचित्रशक्तियोंका होना अयुक्त न समझना चाहिये अर्थात् जैसे कुम्हारआदि और सामान्यसे लौकिक जन विना साधन सामग्री कुछ नहींकरसक्ते ऐसेही सबको सबअवस्थामें मानना युक्त नहींहै अवस्थाभेद होनेमें सामर्थ्यमेंभी भेद होताहै साधन व तपविशेषसे जीवात्मामें इसी शरीरमें योगियोंको विशेष सामर्थ्य प्राप्तहोताहै जो इ-तर जनोंमें नहींहोता अर्थात् योगीसिद्ध अपनी इच्छामात्रसे अनेकशरीर उत्पन्नकरते व विचित्रकार्य करतेहैं ऐसेही ब्रह्म विना साधन व शरीरके इच्छामात्रसे जगत्कार्यको क रताहै जप तप व योगसे सिद्ध योगियोंको ऋद्धि सिद्धि प्राप्त होनेसे विचित्र सामर्थ्य आश्चर्य करनेयोग्य प्राप्त होता है अपने ध्यान व इच्छामात्रसे अनेक महल रथ भोग्यपदार्थ प्रकट करते हैं इतिहासमें सौभरिआदि ऋषियोंका अनेक शरीर धारण करना आदि सामर्थ्यका वर्णन है शास्त्रमें योगकी विभूतियोंका वर्णन है योगीको विशेष सामर्थ्यकी प्राप्ति होती है सिद्ध महात्माओंके कार्यको देखकर अन्यको उनके सामर्थ्यका अनुभव वा ज्ञान होता है जब योगी सिद्ध आत्माओंमें विचित्र शक्तियां प्राप्त होती हैं तब परमात्मा ब्रह्मके विचित्र गुण कर्ममें संशय करना युक्त नहीं है ॥ २८ ॥

---

१ चिदचित् वस्तु शरीरसे कार्यरूप होनेही में दोष व विरोध की प्राप्ति नहीं होती अद्वैतमत में ब्रह्म के अपने चेतन शुद्ध स्वरूपसे कार्य रूप होनेमें विरोध की निवृत्ति नहीं होसक्ती ।

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

अनु०—अपने पक्षमें दोषसे भी ॥ २९ ॥

भाष्य—जो प्रधानवादी कहेहुये समाधानको न माने तो उसको अपने पक्षमें समान दोष होनेसे भी ब्रह्मकारणवादका निषेध न करना चाहिये अर्थात् जैसा दोष ब्रह्मकारणवादमें कहागया है वैसाही प्रधान कारणवादमें प्राप्त होता है अर्थात् प्रधानवादी प्रधानको भी निरवयव व व्यापक मानते हैं इससे प्रधानके कारण माननेमें भी यह शङ्का है कि, निरवयव व्यापकका सावयव व परिच्छिन्न कार्यरूप होना संभव नहीं है और निरवयव प्रधान विना साधन ऐसे विचित्र स्थूल जगत्को कैसे करसक्ता है जो यह कहाजावै कि, सत्वगुण रजोगुण व तमोगुण यह उसके अवयव हैं तो यह विचार करनेयोग्य है कि, सत्व रज व तम गुणोंका समूह प्रधान है अथवा सत्व रज व तम गुणोंसे आरब्ध (उत्पन्न) प्रधान है जो आरब्ध मानाजाय तो आदिकारण होना मिथ्या होता है कारण माननेमें विरोध होता है और सत्त्वआदि आरंभकगुणोंके भी निरवयव होनेसे वह कार्यके आरंभक नहीं होसक्के समूह होनेके पक्षमें प्रदेश भेदरहित निरवयव गुण मिलकर स्थूलद्रव्यको उत्पन्न नहीं करसक्के क्योंकि सावयव सावयव मिलकर अपनेसे अधिक स्थूलद्रव्यको उत्पन्न करते हैं निरवयवोंके योगसे स्थूलता नहीं होसक्ती और तीन गुणोंका समूहरूप होनेसे प्रकृतिके अर्थात् प्रधानके मूल व निरवयव होनेका अभाव होता है सावयव होनेमें अनित्य होनेका प्रसंग है इससे प्रधानका मूल कारण व निरवयव होना सिद्ध नहीं होता ऐसेही परमाणुवादीके मतमें दोष प्राप्त होता है क्योंकि एक अणुका जो अन्य अणुके साथ संयोग होनेमें जो प्रदेश भेद रहित सम्पूर्णका संयोग मानाजावै तो परिमाणका अधिक होना संभव न होनेसे अणुपरिमाणमात्रही होनेका प्रसङ्ग है जो एकदेशसे संयोग होना मानाजावै तो निरवयव होनेमें विरोध होता है इससे प्रधानवादी व परमाणुवादीके अपने पक्षमें भी समान दोष होनेसे उनका ब्रह्मकारणवादमें दोष आरोपणकरना युक्त नहीं है जो उनके पक्षमें निरवयवके कारण हानके विरुद्ध तर्क होनेपर जगत्के कारण होनेमें दोष नहीं है तो निरवयव ब्रह्मके अपने निरवयव चिदचिद् वस्तुकारण शरीरसे स्थूलकार्यरूप होनेमें दोष नहीं है और अन्यउक्त हेतु व श्रुतिप्रमाणसे ब्रह्महीको कारण मानना युक्त है ॥ २९ ॥

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

अनु०—और सब शक्तियुक्त है उसके देखनेसे (शक्तिवर्णन देखनेसे) ॥ ३० ॥

भाष्य–शक्तिशब्द सूत्रमें शेष है श्रुतिमें ब्रह्मको सर्वशक्तिमान् वर्णन किया है यह देखनेसे ब्रह्म सर्वशक्तियुक्त है यह निश्चय करनाचाहिये इससे ब्रह्मके अनेक प्रकारकी सृष्टि रचने में शङ्का न करनाचाहिये ब्रह्मके सर्वशक्ति-युक्त होनेके प्रमाणमें यह श्रुति है **सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः, सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यः सर्वज्ञः सर्ववित् एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्र-मसौ विधृतौ तिष्ठतः** अर्थ–ब्रह्म (सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः) सब जगत्का कर्ता होनेसे सब कामोंका करनेवाला सब उत्तम कामवाला सब सुगंध व सब रसोंको ग्रहण करनेवाला (इदं सर्वम् अभ्यात्तः) इस सब जगत्में व्याप्त (अवाकी) वाक्रहित (अनादरः) संभ्रमरहित है (सत्यकामः) जिसका काम अर्थात् मनोरथ वा अभिलाषा कभी मिथ्या वा निष्फल नहीं होता ऐसा (सत्य-संकल्पः) जिसका संकल्प सदा सत्य होता है ऐसा ब्रह्म है (यः सर्वज्ञः सर्ववित्) जो सर्वज्ञ सब में विद्यमान है वह परमात्मा है हे गार्गि ! (वै एतस्य अक्षरस्य) निश्चयसे इस अक्षरके अर्थात् अविनाशी वा व्यापक ब्रह्मके (प्रशासने) आज्ञामें (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य व चन्द्रमा (विधृतौ तिष्ठतः) ब्रह्मशक्तिसे धारण किये गये स्थित रहते हैं इत्यादि श्रुतियोंसे सर्वशक्तिमान् सिद्ध होनेसे एक ब्रह्म निरव-यवसे ऐसे बृहत् (भारी) जगत्की रचनामें संशय करना युक्त नहीं है ॥ ३० ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

अनु०–जो करण (हथियार व इन्द्रिय) रहित होनेसे न हो यह कहा जावै तो कहागया है अर्थात् इसका उत्तर कहा-गया है ॥ १२ ॥

भाष्य–जो यह कहा जावै कि, ब्रह्म निरवय होनेसे हाथ पाँव नेत्र आदि इन्द्रिय व हथियार रहित है वह ऐसे जगत्को उत्पन्न नहीं करसक्ता तो उत्तर यह है कि, इसका समाधान पूर्वही शब्दही प्रमाण होना आत्मामें भी ऐसेही विचित्र शक्तियां होना आदि वाक्योंमें वर्णन कियागया है विना करण ब्रह्मके सब कर्म करने व करणोंके विषयोंके ग्रहण करनेमें यह श्रुति प्रमाण है **अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः** अर्थ–विना हाथ व पांवके चलनेवाला व ग्रहण करनेवाला है विना नेत्र देखता है व विना कान सुनता है इत्यादि ॥ ३१ ॥

---

१ यह छान्दोग्यकी श्रुति है ।
२ यह बृहदारण्यक उपनिषद्की श्रुति है ।

सृष्टिकरनेमें ब्रह्मके प्रयोजन विचारकरनेमें सू० ३२से३५अधि० १०।

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

अनु०—प्रयोजनवान् न होनेसे ॥ ३२ ॥

भाष्य--यद्यपि एकही व साधनसामग्रीरहित ब्रह्म सर्वशक्तिमान् होनेसे विचित्र जगत् उत्पन्न करने को समर्थ हो तथापि प्रयोजनवान् न होने से ब्रह्म का कारण होना संभव नहीं होता क्योंकि ब्रह्म आप्तकाम है उसको किसी पदार्थकी कामना नहीं है विना कामना वा मनोरथ कोई बुद्धिमान् कोई कार्य नहीं करता विना अपने प्रयोजन परके प्रयोजन के लिये भी सृष्टिमें प्रवृत्त होना नहीं कहा जासक्ता क्योंकि कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं है कि, जिसमें विना प्रयोजन कर्ताकी प्रवृत्ति सिद्ध होसके जो कोई समर्थ दयावान् किसी दीन प्रार्थना करनेवाले के दुःखनिवृत्तिके लिये कोई कार्य करता है वा दान देता है उसमें भी दयालुता से चित्त में उत्पन्न जो दुःख दूर करनेकी इच्छा है उसकी पूर्णता होती है इससे विना अपने प्रयोजन प्रवृत्ति नहीं होती परमात्मा का कुछ प्रयोजन होना विदित न होनेसे उसका कारण होना सिद्ध नहीं होता ॥ ३१ ॥ उत्तर-

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

अनु०—नहीं लोकके समान लीलाही केवल प्रयोजन है ॥ ३३ ॥

भाष्य– तु शब्द जो सूत्र में है यद्यपि उसका अर्थ नहीं, नहीं है परन्तु संस्कृतमें पक्षकी व्यावृत्तिके लिये प्रायः कहा जाता है व्यावृत्तिका फलितार्थ निषेध करना है और भाषामें यहां तु शब्द का अर्थ व्यक्त करनेके लिये कोई शब्द विदित नहीं हुआ इससे तु शब्दके स्थानमें नहीं शब्द अनुवादमें रक्खा गया है प्रयोजन शब्द पूर्वसम्बंध से ग्राह्य है सूत्रमें शेष है सूत्रका आशय यह है कि, प्रयोजन न होनेका आक्षेप करना युक्त नहीं है लोकके समान लीलाही केवल प्रयोजन है अर्थात् जैसे लोकमें सम्पूर्ण ऐश्वर्यको प्राप्त महाराजा विना किसी लाभ होनेके प्रयोजन केवल लीलाके लिये गेंद खेलना आदि क्रीडाविहार करता है ऐसेही स्वभावसे लीलाही प्रयोजनसे ब्रह्म जगत्के जन्म आदिको करता है अब इस संशयकी प्राप्ति है कि, लीलामें यद्यपि विशेष प्रयोजन न हो तथापि कुछ प्रयोजन अवश्य होता है विना कुछ प्रयोजन बुद्धिमान् कर्ताकी प्रवृत्ति नहीं होती परन्तु ब्रह्मका प्रयोजन मानने में श्रुतिमें जो ब्रह्मको आप्तकाम कहा है उसके विरुद्ध होता है और सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होनेसे अवश्य कुछ प्रयोजन होना अनुमित होता है और ऐसे महान् (बड़े) संसार कार्यका करना लीलामात्र कैसे

वाच्य होसक्ता है इसका उत्तर यह है कि, ब्रह्मका कोई निज प्रयोजन विशेष न होने केवल लीलामें किञ्चित् प्रयोजन सम्बंध होनेके समान प्रयोजन सम्बंध होनेसे और यद्यपि यह संसार रचना अतिभारी व कठिन प्रतीत होती है परन्तु अपरिमित शक्तिमान् ब्रह्मको लीलाहीके समान कहना युक्त होनेसे महात्मा सूत्रकारने लीलाही केवल होना कहा है यहां आशय विचारसे सिद्ध होता है अन्यथा लीला केवल कहना प्रतिवादी के आक्षेपका यथार्थ परिहार (समाधान) नहीं होसक्ता जगत् सृष्टिके कारण होनेके दो प्रयोजन हैं एक जीवोंका उनके अनादि सम्बंधसे लगेहुये कर्मोंका फल प्राप्त होना और परमात्मा के सामर्थ्य का सफल होना, सूत्रकारने भी आगे कर्मकी अपेक्षासे सृष्टिका होना व कर्मका अनादि होना वर्णन किया है उससे भी कर्मकी अपेक्षासे विचित्र सृष्टिका होना सिद्ध होता है । उक्त प्रयोजनका मानना युक्त है प्रयोजन ग्रहण न करनेमें ब्रह्मका सृष्टिकर्ता कारण होना असंभव होगा और ब्रह्म कारणप्रतिपादक श्रुतियां मिथ्या होंगी और महात्मा सूत्रकारके भी पूर्वापर कथनमें विरोध होगा क्योंकि आगे कर्म सापेक्ष (अपेक्षासहित) सृष्टिका होना वर्णन किया है जो कर्मकी अपेक्षासहित हुई तो लीलामात्र नहीं हो सक्ती क्योंकि मुख्य कारण अनेक भेदसे सृष्टि होनेका कर्म है न्यायसे विना कर्म भेद शरीर व अवस्थाभेद संभव न होनेसे अनेक अवस्था व शरीर भेदयुक्त सृष्टि हो नहीं सक्ती भेदरहित सम अवस्थामें कार्यरूप अनेक भोग विषयक जगत्के होनेकी आवश्यकता नहीं है और लीलामात्र माननेमें कर्मसापेक्षत्व कहना युक्त नहीं है साक्षी नियम-कर्ताका कर्म अनुसार फलदेना लीला नहीं है इससे जैसा प्रयोजन होना वर्णन कियागया है वह ग्राह्य है प्रयोजन माननेमें आप्तकामत्व प्रतिपादक श्रुतिके विरोध होनेकी शङ्का का उत्तर यह है कि, श्रुतिमें आप्तकाम कहनेका आशय यह है कि, परमात्मा को किसी सुखद व प्राप्य पदार्थ का अभाव नहीं है कि, अपने लिये उसकी प्राप्तिका उपाय वा साधन करै इससे सृष्टिकार्यमें भी उसका कुछ प्रयोजन नहीं होसक्ता परके अर्थ अर्थात् जीवोंको कर्मफल प्राप्तहोनेके लिये कार्य करनेमें जो प्रयोजन है उसके निषेध करनेका श्रुतिका आशय नहीं है जीवोंके भोगनिमित्त सृष्टि करनेहीमें ब्रह्मके सामर्थ्यकी भी सफलता सिद्ध हो जाती है ॥ ३३ ॥

वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ३४ ॥

अनु०—वैषम्य (विषमता) नैर्घृण्य (निर्घृणता) दोष होंगे नहीं अपेक्षासंयुक्त होनेसे और वैसेही श्रुति देखाती है अर्थात् वर्णन करती है इससे ॥ ३४ ॥

भाष्य-सूत्र वाक्य में शेष होनेसे और वाक्य पूर्ण होनेके लिये आशय से ग्राह्य होनेसे दोष होंगे व श्रुति शब्द सूत्र वाक्यके भाषा अनुवाद में मिलाये गये हैं सूत्रका व्याख्यान यह है कि, यद्यपि पूर्वोक्त शंकाओंके समाधान से ब्रह्मका कारण होना संभव भी होवे तथापि ब्रह्मको जगत्का कारण माननेमें ब्रह्ममें विषमता व निर्घृणता दोष प्राप्त होनेका प्रसङ्ग है अर्थात् इस हेतुसे कि, देवता मनुष्य पशु कृमि आदि उत्कृष्ट मध्यम व निकृष्ट योनियोंमें जीवोंको उत्पन्न करिके किसीको विशेष सुखी किसीको मध्यमदशामें और किसीको अतिदुःखी करता है राग द्वेष व पक्षपात सिद्ध होनेसे विषमता दोष और अतिघोर दुःख योग करने व प्रजाओंसे संहार करने से निर्घृणता (क्रूरता) दोष प्राप्त होता है श्रुतिमें ब्रह्म को निरवद्य (दोषरहित) शान्त वर्णन किया है निर्दोष समदर्शी ब्रह्ममें दोष प्राप्तहोना अनिष्ट व अयुक्त होनेसे ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है यह पूर्वपक्ष है इसके उत्तरमें सूत्रमें यह कहा है नहीं अपेक्षासंयुक्त होनेसे और वैसेही श्रुति वर्णन करती है इससे, इस उत्तरवाक्यमें नहीं शब्दसे आरोपित दोषका निषेध है अर्थात् ब्रह्ममें दोष होनेका प्रसङ्ग नहीं है क्यों नहीं है अपेक्षासंयुक्त होनेसे अर्थात् जीवोंके धर्म अधर्मकी अपेक्षासंयुक्त सृष्टि होनेसे आशय यह है कि, जीवोंके धर्म अधर्म कर्म अनुसार उनको ब्रह्म उत्कृष्ट व निकृष्ट अवस्थाओंमें प्राप्त व दुःखी व सुखी करता है इससे दोष प्राप्त नहीं होता जो विना जीवोंके कर्मकी अपेक्षा ऐसा करता तो विषमता निर्घृणता दोषकी प्राप्ति होती श्रुति भी ऐसेही कर्मानुसार सृष्टि होना वर्णन करती है यथा **पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन** अर्थ-उत्तम पुण्यकर्मसे होता है व नीच पापसे इत्यादि ॥ ३४ ॥

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३५ ॥

अनु०-विभाग न होनेसे (सृष्टिसे पूर्व जीवोंका विभाग न होनेसे) कर्म नहीं है जो यह कहाजाय नहीं अनादि होनेसे और सिद्धभी होता है अर्थात् अनादिहोना न्यायसे सिद्धभी होता है और उपलब्धभी होता है अर्थात् श्रुति में उपलब्धभी होता है ॥ ३५ ॥

भाष्य-सृष्टिसे पूर्व, जीवोंका न्यायसे श्रुतिमें ये शब्द सूत्रमें शेष है आशय से वाक्यके अर्थ-में अपेक्षित होनेसे वाक्यके अर्थमें ग्रहण किये गये हैं सृष्टिमें विभाग सिद्ध होनेसे सृष्टिसे पूर्व शब्द और विभाग एक निरवयव ब्रह्ममें वाच्य न होने

व कर्मसम्बंधभी न होनेसे जीव शब्द ग्राह्य है ऐसेही अन्य शेषशब्द विचारसे अपेक्षित सिद्ध होनेसे ग्राह्य है श्रुतिमें सृष्टिसे पूर्व एक सत्शब्दवाच्य ब्रह्मही होना वर्णित है यथा **सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** अर्थ-हे सौम्य ! यह सब जगत् सृष्टिसे पूर्व सत्ही था अर्थात् यह जो प्रत्यक्षसे विदित होता है कुछ न था सत्शब्दवाच्य ब्रह्मही एकही अद्वितीय था श्रुतिसे एक अद्वितीय सिद्ध होनेसे सृष्टिसे पहिले जीवों का विभाग न होनेसे उनका कर्म नहीं है इससे कर्मकी अपेक्षा से सृष्टिका विषम होना कहने योग्य नहीं है जो ऐसी शङ्का होवै तो इसका उत्तर यह है नहीं अनादि होनेसे इत्यादि नहीं शब्दसे विभाग न होनेका निषेध है अनादि होनेसे यह हेतु है अर्थात् जीव और उनके कर्मप्रवाहके अनादि होनेसे सृष्टिसे पूर्व जीवोंका विभाग व कर्म न होना कहना युक्त नहीं है नामरूपरहित ब्रह्ममें प्राप्त एकाकार ब्रह्मसे भिन्न कहने योग्य न होने अतिसूक्ष्म एक ब्रह्मही समान स्थित रहनेके आशय से श्रुतिमें विभागरहित एक अद्वितीय कहा है क्योंकि ऐसा न माननें में विना कियेकी प्राप्ति व कियेके नाशका प्रसङ्ग होना अर्थात् विना कर्म किये दुःख सुखका भोग व किये कर्मका कुछ फल न होना सिद्ध होगा इससे न्याय वा युक्तिसे अनादि होना सिद्ध होता और श्रुतिमें भी जीव व सृष्टिका अनादि होना उपलब्ध (ज्ञात) होता है जीवके अनादि होनेमें यह श्रुति प्रमाण है **न जायते म्रियते वा विपश्चित्** अर्थ-ज्ञानवान् आत्मा न उत्पन्नहोता है न मरता है सृष्टिप्रवाहके अनादि होनेमें यह श्रुति है **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्** अर्थ-सूर्य्य व चन्द्रमाको ब्रह्मने पूर्व कल्पके समान उत्पन्न किया तथा **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि** अर्थ-ब्रह्मने इच्छा किया कि, इस जीवात्मासहित पूर्वकल्पके समान प्रवेशकरके इसके अर्थात् तेज जल पृथिवी भूतोंमें प्रवेश करके इनके कार्यरूप शरीरोंसे नाम व रूपको प्रकट करूं सृष्टिके पूर्वभी इस जीव शब्द कहनेसे व पूर्वोक्त श्रुति जीवके जन्ममरणका निषेध करनेसे जीवका अनादि होना और जगत्का भी श्रुतिसे अनादि होना सिद्ध है दोनोंके अनादि होनेमें बिनाकर्म शरीर व शरीरकर्मरहित होना संभव न होनेसे कर्मका भी अनादि होना सिद्ध है इससे जीवोंके कर्मसे सृष्टि की आवश्यकता होनेसे जीवोंके कर्मफलके प्रयोजनसे और अपने लिये लीलामात्र प्रयोजनसे ब्रह्म जगत्का कारण है ॥ ३५ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

अनु०-सबधर्मोंकी सिद्धि होनेसे भी ॥ ३६ ॥

भाष्य-प्रधान परमाणु कारणोंमें कोई धर्म उनमें संभव होते हैं कोई असंभव विदित होते हैं ब्रह्म चेतन सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्में सब धर्म श्रुतिप्रमाणसे

सिद्ध होते हैं सब धर्मोंकी सिद्धिसे ब्रह्मही जगत्का कारण मानना युक्त है यह सिद्धान्त है इस सूत्रका ऐसाभी आशय ग्राह्य है कि, जगत्के अभाव में ब्रह्मका सामर्थ्य वेदद्वारा ब्रह्मके सब धर्मोंका ज्ञान सिद्ध नहीं होसक्ता था सृष्टि उत्पत्ति हीमें ब्रह्मके व सब धर्मियोंके धर्मोंकी सिद्धि होनेसेभी अर्थात् सिद्धि होनेके हेतु से भी सृष्टिकी आवश्यकता है सर्वधर्मोंकी सिद्धिही प्रयोजन है इस प्रयोजनसे भी ब्रह्मको जगत्का कारण व सृष्टिमें उसकी प्रवृत्ति मानना युक्त है सूत्रमें जो चकार है जिसका अर्थ भी रक्खा गया है पूर्व अधिकरणके समुच्चय व आकर्षणके लिये है यहांतक प्रयोजनहीं अधिकरण है अद्वैतवादियोंके मत में पूर्व सूत्र व श्रुतिसे सिद्ध अनादि कर्म व जीवोंका होना ब्रह्म व जीवमें भेद रहना कर्मानुसार सृष्टिहोना स्वीकारके योग्य न होनेसे और कल्पनासे भी यथार्थ घटित न होनेसे सूत्रकारके मत व श्रुति व न्यायसे विरुद्ध होनेसे अद्वैत मत युक्त नहीं है ॥ ३५ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाषाभाष्ये श्रीमत्प्रभुदयालुविरचिते
द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयपादप्रारंभः ।

प्रथम पादमें जगत्के जन्मआदिका कारण ब्रह्म वर्णन किया गया और परपक्षसे आरोपित दोषोंका निवारण किया गया अब इस द्वितीय पादमें अपने पक्षके रक्षाके लिये और परपक्षमें दोष विज्ञापन करने के लिये प्रधानआदि कारणवादियोंके मतका निराकरण (खण्डन) किया जाता है पूर्वही प्रधान कारणवाद का वेदान्तवाक्योंसे असिद्ध होना व वाक्योंके अर्थ के संदेहको निर्णय से दूरकरके ब्रह्मका कारण होना प्रतिपादन करिके खण्डन किया गया है अब विना वाक्यकी अपेक्षा युक्तिसे खण्डन किया जाता है यह विशेषता है इससे कहेहुयेका कथन नहीं है युक्तिसे भी खण्डन करनेका अभिप्राय यह है कि, तत्त्वको न जाने हुये अल्पबुद्धि मनुष्य प्रतिवादियों की युक्तियोंको सुनकर वेदान्तवाक्यों व ब्रह्ममें विश्वास व श्रद्धारहित न हो जावै और उनके मत व युक्तियोंका असत् होना विदित होजावै इसलिये प्रथम प्रधान कारणवादका खण्डन आरंभ करते हैं-

प्रधानके कारण होनेके खण्डनमें सू० १ से ९ तक अधि० १ ।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च ॥ १ ॥

अनु०-रचनाके असंभव होनेआदिसे अनुमान (प्रधान) नहीं है प्रवृत्तिके भी अर्थात् प्रवृत्तिके देखनेसे भी अथवा प्रवृत्ति के असंभव होनेसे भी ॥ १ ॥

भाष्य—साङ्ख्यमें अनुमानसे प्रधानको स्थापन किया है इससे अनुमान शब्द यहां प्रधानवाचक रक्खा है देखनेसे इस शब्दको शेष मानकर ग्रहण करनेसे प्रवृत्तिके देखनेसे भी यह अर्थ होता है और भी अर्थवाचक चकारसे अनुपपत्ति शब्दकी अनुवृत्ति करनेसे (फिर ग्रहण करनेसे) प्रवृत्तिके असंभव होनेसे भी यह अर्थ होता है इस सूत्रमें प्रतिपादित प्रधान कारणवाद का खण्डन है साङ्ख्य मतविषयक पक्ष प्रतिपक्ष समझनेके लिये आवश्यक जानकर प्रथम संक्षेपसे साङ्ख्यदर्शनके विषयका वर्णन किया जाता है साङ्ख्यमें पचीस गणका इसप्रकारसे वर्णन है कि, अतीन्द्रिय (इन्द्रियसे ग्राह्य नहीं) अतिसूक्ष्म लाघव (लघु होना) व प्रकाश जिसके कार्य हैं व सुखात्मक है ऐसे सत्त्वद्रव्य, चलना व स्तंभन जिसके कार्य है व दुःखात्मक है ऐसे रजोद्रव्य गौरव (गुरु होना) व आवरण (रोक, छिपाना) जिसके कार्य हैं व मोहात्मक (अज्ञानात्मक) है ऐसे तमोद्रव्योंकी समताको प्राप्त होकर एक अवस्था में होना प्रकृति है अर्थात् इन तीनोंकी सम होनेकी अवस्थारूप प्रकृति है वह एक आप अचेतन अनेक चेतनोंके भोग व मोक्षके अर्थ है और नित्य सबमें प्राप्त निरन्तर क्रिया करनेवाली है किसीका विकार नहीं है अर्थात् उसका कोई कारण नहीं है जिसका वह विकार अर्थात् कार्य समझा जाय वही सबका कारण है महत्तत्त्व, अहङ्कार, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये पांच तन्मात्रा सात प्रकृतिके कार्य और अन्य पदार्थों के कारण हैं इनमें से अहंकार जो महत्तत्व का कार्य है वह तीन प्रकारका है वैकारिक तैजस भूतादि और इन्हीं को अन्यनामसे यथाक्रमसे सात्विक राजस तामस भी कहते हैं इनमेंसे सात्विक इन्द्रियोंका कारण तामस भूतों का कारण और राजस भूतोंके कारण पांच तन्मात्रोंका कारण है राजस दोनों अर्थात् सात्विक व तामस इन्द्रिय व भूतकार्योंका अनुग्राहक है आकाश आदि पांच महाभूत कर्ण आदि पांच ज्ञान इन्द्रिय वाक्आदि पांच कर्मइन्द्रिय और मन यह षोडश केवल विकार हैं पुरुष परिणामरहित होनेसे न किसीकी प्रकृति है न किसीकी विकृति है अर्थात् न किसीका कारण है न किसीका कार्य है वह चेतनमात्र नित्य, क्रियारहित सर्वव्यापक और प्रत्येक शरीरमें भिन्न है विकार व क्रियारहित होनेसे उसका कर्ता व भोक्ता होना संभव नहीं होता है प्रकृति व पुरुषकी समीपतासे पुरुष के चैतन्य (ज्ञान) की प्राप्ति प्रकृतिमें व प्रकृतिका कर्तृत्व (कर्ता होना) स्फटिक मणिमें जपाकुसुमकी अरुणता भासित होनेके समान पुरुषमें भासित होनेसे पुरुष अपनेको मिथ्या ज्ञानसे मैं कर्ता हूँ मैं भोक्ताहूँ ऐसा मानता है इसप्रकारसे अज्ञानसे भोग व तत्वज्ञानसे मोक्ष होता है इसीको साङ्ख्य मतवाले प्रत्यक्ष

---

१ सत्त्वगुण रजोगुण तमोगुण यहां सत्त्वद्रव्य रजोद्रव्य तमोद्रव्य नामसे लिखे गये हैं सांख्य मतवाले इनको द्रव्य कहते हैं इससे गुणके स्थानमें द्रव्य नाम रक्खा गया है ।

अनुमान व शास्त्रसे अपनी कल्पनासे सिद्ध करते हैं ऐसा वर्णन करते हैं कि, अनेक कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति अंगीकार करनेमें कारणकी अनवस्था होनेसे (किसी एककी स्थिति न होसकनेसे) सम्पूर्ण जगत्का एक मूलकारण होना अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये जो परमाणु अंगीकार कियाजावे तो तन्तुआदि अवयव अपने अंशरूप छः पार्श्वोंसे (अङ्ग के देशोंसे) मिलकर अवयवी (अवयवयुक्त पदार्थ) को उत्पन्न करते हैं और तन्तुआदिभी अपने अवयवोंसे ऐसेही उत्पन्न होते हैं और वह भी ऐसेही अपने अवयवोंसे होते हैं परमाणुओंका भी अपने छः पार्श्वोंसे मिलकर कार्य को उत्पन्न करना मानना चाहिये अन्यथा स्थूलता युक्त कार्य उत्पन्न न होसकेंगे परमाणु भी अंशी होनेसे वह अपने अंशोंसे ऐसेही उत्पन्न होंगे और वह अंशभी ऐसेही अपने अंशोंसे होंगे इस प्रकारसे कहीं कारण की स्थिति न होगी इससे कारणकी व्यवस्था (विशेष अवस्था) सिद्ध होनेके लिये विविध विचित्र परिणाम होनेकी शक्तियुक्त स्वरूप नाशरहित महत्तत्वआदि अनन्त अवस्थाओंका आश्रय कोई कारण आश्रय करना चाहिये अर्थात् स्वीकार करना चाहिये वह एक कारण तीन गुणोंकी समता रूप प्रधान[1] है जैसे घट मुकुटआदि कार्यके कारण जो मृत्तिका व सुवर्ण आदि हैं वह कार्यके आकार व स्थूलता आदि भेदसे भिन्न विदित होते हैं द्रव्यत्व वस्तु व स्वरूप से कार्य से भिन्न नहीं होते और घट मुकुट आदि मृत्तिका सुवर्ण आदिसे उत्पन्न होते हैं और उनहीमें लीन होते हैं ऐसेही इस सुख दुःख मोहात्मक जगत्का कारण जिससे यह जगत् उत्पन्न हो और उसमें लीन होगा सुख दुःख मोहात्मक होना चाहिये इससे सुख दुःख मोहात्मक सत्त्व रज तम गुणोंकी सम होनेकी अवस्था रूप प्रधान जगत्का कारण है देश व कालसे अपरिमत प्रधानहीका कारणत्व है महत्तत्त्व अहंकार व तन्मात्रोंका परिमित होना सिद्ध होताहै घटआदि परिमित के समान होनेसे महत्तत्त्वादि सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न नहीं करसके इससे त्रिगुणरूप जगत्का गुणत्रयसाम्यरूप (तीनोंगुणोंकी समावस्थारूप) एक प्रधानही कारण है यह निश्चय कियाजाता है इस प्रधानकारणवादके खण्डन के लिये सूत्रमें यह कहा है कि, रचनाके असभव होनेसे प्रधान नहीं अर्थात् प्रधान कारण नहीं है व प्रवृत्तिके असंभव होनेसे भी अथवा प्रवृत्तिके देखने से भी आशय यह है कि,अचेतन होनेसे प्रधान जडसे ऐसे विचित्र अनेक नियमयुक्त संसारकी रचना असंभव होनेसे प्रधानकारण नहीं है आर जसे लकडी व मृत्तिका आदि जडवस्तु आपसे विनाचेतन कर्ताके रथ महल शय्याआदि बनने में प्रवृत्त नहीं होसके ऐसेही प्रधानका आपसे विना चेतन कर्ताके विचित्र पदार्थ अनेक नियमयुक्त सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्तिमें प्रवृत्त होना असंभव है सूत्रमें जो प्रथम चकार है उसके अर्थमें सूत्रके भाषा अनुवादमें आदिशब्द रक्खागया है चकार

---

१ प्रकृतिहीको प्रधान व अव्यक्त भी कहते हैं।

कहेहुयेसे अधिक अन्वयआदिके अर्थात् कार्यद्रव्यमें सम्बंध होनेसे कारणत्वका होना सिद्ध न होना आदि ग्रहण करनेके लिये है इससे यद्यपि चकारका मुख्यअर्थ आदि नहीं है तथापि आशयसे लिखागया है आदि कहनेका तात्पर्य यह है कि, अचेतनतासे असंभव होनाही मात्र नहीं है अन्यहेतु जो कार्यमें सुख दुःख मोहके अन्वय (सम्बंध) से कारणके सुखआदिआत्मक होनेके अनुमानके हैं वहभी अनैकांतिक (सर्वत्र एकसे सिद्ध न होनेवाले) होनेसे अयुक्त है यथा गौमें अन्वित (सम्बद्ध) शुक्लता गौ होनेका कारण सिद्ध नहीं होती इत्यादि जो यह कहाजाय कि, शुक्लता न हो परन्तु मुकुट कार्यमें अन्वित सुवर्णआदि द्रव्यके कारणहोनेकी व्याप्ति सिद्धही है ऐसेही सत्त्वआदिभी द्रव्य कार्यमें अन्वित (मिलेहुये) का कारण होना मानना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि, सत्वआदि द्रव्यस्वरूप नहीं है द्रव्यके धर्म वा गुण हैं पृथिवीआदि द्रव्यमें प्राप्त लघुता व प्रकाशआदिके कारण सत्वआदि पृथिवी आदिके धर्मही विशेष हैं मृत्तिका सुवर्णआदिके समान द्रव्यरूप कार्यमें अन्वित विदित नहीं होते सत्व-आदि गुण हैं ऐसेही प्रसिद्धि हैं जो कारणकी व्यवस्थाकी सिद्धिकेलिये जगत्का एकमूल (कारण) होना कहा है सत्वआदिकों के अनेक होनेसे वहभी सिद्ध नहीं होती है समअवस्थामें प्राप्त सत्वआदिही प्रधान है यह प्रधानवादियोंका मत है इससे कारणोंके बहुत होनेसे कारणअवस्थाही अनवस्था होती है सत्व-आदिकोंके परिमित होनेसे कारण होनेकी व्यवस्था सिद्ध नहीं होती क्योंकि परिमितोंका मूलकारण होना विदित नहीं होता इससे वहभी कार्यही होंगे कार्यहोनेसे अन्यकारणकी अपेक्षा करेंगे अपरिमित (परिमाणरहित) होनेमें तीनोंके सर्वव्यापक होनेसे न्यून व अधिक होनेके अभावसे विषमता की सिद्धि न होनेसे कार्यका उत्पन्न करना असंभव होनेसे कार्यके आरंभकेलिये परिमित होना अवश्य मानना होगा इससे तथा रथादिकोंकी प्रवृत्ति चेतन अधिष्ठाताहीके अधीन देखनेसे चेतन अधिष्ठाताकी आवश्यकता होनेसे किसी प्रकारसे प्रधान-कारणवाद युक्त नहीं है ॥ १ ॥

पयोंबुवच्चेत्तत्रापि ॥ २ ॥

अनु०–दूध व जलके समान कहाजाय तिनमें भी ॥ २ ॥

भाष्य--जो यह उत्तर दिया जाय कि, दूध व जलके समान प्रधानकी प्रवृत्ति संभव है अर्थात् जैसे विना चेतन अधिष्ठाताकी अपेक्षा अचेतन दूध स्वभावहीसे दधिरूपमें परिणामको प्राप्त होता है अथवा वत्सकी वृद्धिके लिये प्रवृत्त होता है मेघोंसे भिन्न हो पृथिवीमें एकरस आयेहुये अचेतन जलकी आपहीसे नारियळ ताळ आम कैथा नींब आदिमें भिन्न २ रसरूपसे परिणाम होनेकी प्रवृत्ति देखीजाती है ऐसेही परिणामस्वभाव प्रधानका अधिष्ठातारहित होनेपरभी सृष्टिसमयमें गुणोंकी

विषमतासे आपही स्वभावसे परिणामहोना सिद्ध होता है तो उत्तर यह है कि, तिनमेंभी अर्थात् दूध व जलमें भी विना अधिष्ठाताके प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि रथआदि अचेतनोंमें कभी विना चेतनके प्रवृत्ति देखी नहीं जाती श्रुतिप्रमाणसे जलआदिमें सबमें ब्रह्म अन्तर्यामी व जलअभिमानी देवता विद्यमान हैं इसमें यह श्रुति प्रमाण है **योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोन्तरो यमयति** अर्थ—जो जलोंमें अर्थात् जलअभिमानी देवतामें रहता जलोंके अभ्यन्तर व जलोंसे बाहर है जिसको जल अर्थात् जलअभिमानी देवता नहीं जानता है जिसका जल शरीर है जो जलोंको मध्यमें रहकर जलको नियममें रखता है जो यह शंकाहो कि, ब्रह्म कारणवादमें भी दुग्धके दधि होनेका दृष्टान्त **उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि** इस सूत्रमें दिया गया है तो इसका उत्तर यह है कि, इस सूत्रमें लौकिक दृष्टान्त से केवल यह देखाया गया है कि, विना बाह्य निमित्त वा सामग्रीकी अपेक्षा भी परिणाम होता है श्रुतिमें वर्णित मात्र (चेतन ब्रह्म) से अधिष्ठित होनेका निषेध नहीं किया गया अथवा दूध व जलमें भी कहनेका आशय यह है कि, दूध व जलभी आपसे प्रवृत्त नहीं होते न स्वतंत्र प्रवृत्त होसक्ते हैं स्तनोंमें दूध, दूधसे दधि और जल अनेक प्रकारसे नियमके साथ होते हैं इससे किसी अंतर्यामी नियन्ताका होना अनुमानसे सिद्ध होता है नियन्ता (नियमकर्ता) चेतनही होता है जड नहीं होसक्ता स्वतंत्र आपसे होनेमें नियमसे भिन्न प्रकारसे भी कहीं होना सिद्ध होता और दूध जल स्वभावसे प्रवृत्त होनेमें भी चेतनके अधीन है स्वभाव से बहते हुये जलको चेतन रोकदेने अन्य दिशासे अन्य दिशाको बहादेने दूधको दधिरूप होनेको रोककर अन्य प्रकारसे परिणमितकर देनेमें समर्थ है। दूध व जलसे बुद्धिपूर्वक नियम संयुक्त कार्यका होना विदित नहीं होता जगत्में बुद्धिपूर्वक किये गये नियमसंयुक्त कार्य निश्चित होते हैं दूध जलमें भी नियमयुक्त कार्य का कारण होना व जडकी स्वतंत्र प्रवृत्ति होना सिद्ध न होनेसे दूध जलके समान होने में भी प्रधान का जगत् का कारण होना सिद्ध नहीं होता ॥ २ ॥

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥ ३ ॥

अनु०—अपेक्षारहित होनेसे भेदसे वा भेदकी अवस्थिति न होनेसे भी ॥ ३ ॥

भाष्य—अपेक्षारहित होनेसे अर्थात् प्रधानके चेतन परमेश्वर अधिष्ठाताकी अपेक्षारहित होनेसे अर्थात् सांख्यमतअनुसार अपेक्षारहित होनेसे प्रधानके

१ जिस प्रकरण की यह श्रुति है वहाँ पृथिवी व जल आदि नामसे पृथिवी जल आदि अभिमानी देवताओंको कहा है यही अर्थ श्रुतियोंके भाष्यकारोंने लिखा है।

परिणाम महत्तत्त्वादि क्रमसे सृष्टि होनेमें सृष्टिके भेदसे (सृष्टिके अन्यथाभावसे) प्रलय होनेकी अथवा सृष्टिके भेदकी अर्थात् सृष्टिके अन्यथाभावरूप प्रलयकी अवस्थिति न होनेसे भी प्रधानका कारण मानना युक्त नहीं है अर्थात् विना पर-ब्रह्म अधिष्ठाताके प्रधानके परिणामसे सृष्टि होने में फिर उसमें भेद होकर उसके विरुद्ध प्रलयकी अवस्थिति न होनेसे महत्तत्त्वआदिकी उत्पत्ति व सृष्टिके नित्य होनेका प्रसंग होगा क्योंकि एक अवस्था से अन्य अवस्थाको चेतनही प्राप्त कर सका है अचेतन, स्वभावसे हुये को बदल नहीं सका स्वाभाविक परिणामसे हुई सृष्टिमें भेद होना अर्थात् उसका बदलना संभव न होनेसे प्रलयका अभाव होनेके और पुरुषको अकर्ता उदासीन मानते हैं इससे वह प्रवर्तक निवर्तक न होनेसे विना सर्वज्ञ सर्वसामर्थ्य ब्रह्मके अधिष्ठाता होनेके प्रधानसे उत्पत्ति प्रलय व विचित्र सृष्टिकी व्यवस्था होनेकी सिद्धि नहीं होसकी अथवा ऐसा सूत्रका अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि, समभावसे स्थित हुये तीन गुणोंके समुदायरूप को प्रधान कहते हैं उससे भिन्न कोई अन्य वस्तु प्रधानको प्रवर्तक अपेक्षाके योगकी अवस्थिति न होनेसे और पुरुष उदासीन प्रवर्तक व निवर्तक नहीं है इससे प्रधान अनपेक्ष है (अपेक्षारहित है अथवा पुरुषसे अपेक्षित नहीं है) अनपेक्ष होनेसे प्रधानका आपसे प्रवृत्त व निवृत्त होना अर्थात् सृष्टि व प्रलय करना अयुक्त है विना चेतन अधिष्ठाता प्रलय न होगा, सृष्टि नित्य होगी, प्रधानका कारण होना अयुक्त है, ये शब्द आशय व पूर्वसम्बंधसे ग्राह्य सूत्रमें शेष है ॥ ३ ॥

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ४ ॥

अनु०—और अन्यत्र अभाव होनेसे तृणके समान नहीं है ॥ ४ ॥

भाष्य—जो यह कहा जाय कि, जैसे तृण पल्लव जलआदि विना किसी निमित्त की अपेक्षा स्वभावहीसे दुग्धरूप परिणामको प्राप्त होते हैं ऐसेही प्रधान भी महत्तत्त्वआदिके आकारमें अर्थात् स्वरूपमें परिणामको प्राप्त होता है तो ऐसा कथन युक्त नहीं है क्योंकि तृणआदि सर्वत्र दुग्धरूपसे परिणमित नहीं होते धेनुआदिहीमें होते हैं अन्यत्र (अन्यमें)अर्थात् बैल आदिमें अभाव होनेसे उनका स्वाभाविक परिणाम होना सिद्ध नहीं होता जो स्वाभाविक होता तो जैसे धेनु आदिसे भक्षित हुये उसमें दुग्धरूप होते हैं ऐसेही बैलआदिसे भक्षित होनेपर बैल आदिमें दुग्धरूप होजाते इससे दुग्धहोनेमें धेनुआदिके उदरका सम्बंध व परमात्माका नियमही निमित्त है प्राज्ञ परमात्मासे अधिष्ठितही तृणआदि परिणाम को प्राप्त होते हैं इससे प्रधानको स्वतंत्र स्वभावसे तृणआदिके समान कारण कहनाभी युक्त नहीं है ॥ ४ ॥

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ ५ ॥

अनु०—पुरुष व मणिके समान है ऐसा कहा जाय तो भी वा वैसा होनेपरभी ॥ ५ ॥

भाष्य—जो ऐसा कहा जाय कि, जैसे एक देखने व जाननेकी शक्तियुक्त नेत्रवान् पंगु जो प्रवृत्ति शक्तिरहित पुरुष है उसके समीप प्राप्त हो उसके उपकार से एक अंध जो प्रवृत्त होनेकी शक्ति रखता है परन्तु विना नेत्र अज्ञानता से कहीं जाय नहीं सका गमन आदिमें प्रवृत्त होता है और नेत्रवाला प्रवृत्त करनेवाला होता है अथवा जैसे अयस्कान्तमणि (चुम्बक) आप प्रवृत्त नहीं होता परन्तु अपनी सन्निधि (समीपता) से लोहे को प्रवृत्त करता है ऐसेही क्रियारहित पुरुषका प्रवर्तक होना व प्रधानका प्रवृत्त होना माननाचाहिये तौ ऐसा माननेपरभी प्रधानका प्रवृत्त होना युक्त नहीं होसका क्योंकि प्रधानका स्वभावसे प्रवृत्तहोना व पुरुषका निष्क्रिय उदासीन कहना मिथ्या होगा क्योंकि अंधेको यद्यपि देखनेकी शक्ति नहीं होती परन्तु श्रवणशक्ति व शब्दोंका ज्ञान जब होता है तब प्रवृत्त होता है ज्ञानरहित नहीं होता प्रधान अचेतन ज्ञान-रहित है देखनेवालाभी मार्गको बताता है समझता है उदासीन निर्गुण क्रिया-रहित पुरुषके प्रवर्तक करनेके करण व व्यापार नहीं है और अयस्कान्तमणिकी समीपतासे लोहेकी प्रवृत्तिके समान प्रवृत्तिमानने में क्रियारहित पुरुष व जड प्रधानका समीपहोना संभव नहीं होता है और व्यापक होने व नित्य होनेसे नित्य संयोग व समीपता सिद्ध होनेसे नित्य सृष्टि होनेका प्रसंग है अथवा पुरुषके नित्यमुक्त होनेसे बंध व मोक्ष होनेका अभाव है इससे प्रधान कारणवाद युक्त नहीं है ॥ ५ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ६ ॥

अनु०—अङ्गीहोना संभव न होनेसे ॥ ६ ॥

भाष्य—सत्व रज तमके सम होनेकी अवस्थाको प्रधान कहते हैं सत्वआदिमेंसे कोई न्यून अधिक न होनेसे अङ्ग न होसकनेसे अंगी होना संभव न होनेसे भी जगत्की उत्पत्ति नहीं होसकती क्योंकि तीनमेंसे कोई अन्यप्रकारका भेद करनेवाला न होनेसे व अन्य कोई क्षोभ करनेवाला अर्थात् गुणोंका न्यून अधिक करनेवाला कारण न होनेसे महत्तत्त्व आदि कार्योंकी उत्पत्ति न होगी और विष-मता अंगीकार करनेमें नित्य सृष्टि होनेका प्रसंग होगा इससे प्रधानका स्वतंत्र कारण होना मानने योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ७ ॥

अनु०—अन्यथा अनुमान करनेमें भी चेतन शक्तिके वियोग से ॥ ७ ॥

भाष्य—जो अङ्ग अङ्गी न होनेसे प्रधानके कारण होनेका निषेध कियागया है वह न भी मानाजाय अन्यथा अनुमान किया जाय अर्थात् कार्यको देखकर कारण प्रधान स्वीकार करनेके लिये स्वभावही गुणोंके विषम होने का हेतु अनुमान किया जाय तो ऐसा अनुमान करनेमें नित्य विषम होनेकी अवस्था होगी सम अवस्था होना संभव न होगा क्योंकि स्वभावका नाश नहीं होसक्ता विषम होनेमें भी चेतनशक्तिके वियोगसे अर्थात् प्रधानमें ज्ञाता होनेकी शक्ति न होनेसे उससे ऐसी विचित्र अनेक नियमयुक्त शरीरोंसे पूर्णजगत्की रचना नहीं हो सक्ती ॥ ७ ॥

अभ्युपगमेऽप्यर्थाऽभावात् ॥ ८ ॥

अनु०—अंगीकार करनेमें भी प्रयोजनके अभावसे ॥ ८ ॥

भाष्य—अनुमानसे प्रधानकी सिद्धि माननेमेंभी कुछ प्रयोजन होना सिद्ध न होनेसे प्रधानसे सृष्टिहोना अर्थात् स्वभावसे प्रधानका जगत्का कारणहोना अनुमान करने योग्य नहीं है जो प्रधान कारणवादी पुरुषका भोग व मोक्ष सृष्टिका प्रयोजक कहते हैं यह दोनों संभव नहीं होते अर्थात् चैतन्यमात्र शरीर क्रियारहित निर्विकार निर्मल प्रकृतिसे विलक्षण पुरुषको प्रकृतिका दर्शनरूप भोग और उसके वियोगरूप मोक्षहोना संभव नहीं होता है और नित्य पुरुष व प्रकृतिके सन्निधानसे प्रकृतिके परिणाम विशेषसे सुख दुःख दर्शनरूप भोगकी संभावना करनेमें प्रकृतिका सन्निधान (समीपता) नित्य होनेसे कभी भी मोक्ष न होगा और पुरुष नित्य मुक्त असंग है उसके मोक्षकेलिये प्रवृत्त होना निरर्थक है इससे प्रधानकारणवाद युक्त नहीं है ॥ ८ ॥

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ ९ ॥

अनु०—विप्रतिषेध होनेसेभी समंजस नहीं है (अच्छा नहीं है) ॥ ९ ॥

भाष्य—साङ्ख्य दर्शनमें विप्रतिषेध होनेसे अर्थात् वाक्योंमें विरोध होनेसे साङ्ख्यमत प्रधानके स्वतंत्र कारणवादमे समीचीन (अच्छा) नहीं है इसका व्याख्यान यह है कि, साङ्ख्यमतवाले पुरुषके अर्थ प्रकृतिका कार्यहोना और पुरुषसे उसका दृश्य व भोग्य और पुरुषको प्रकृतिका भोक्ता अधिष्ठाता द्रष्टा व साक्षी अंगीकार करिके यह कहते हैं कि, पुरुषके भोग और मोक्षके

लिये प्रकृति जगत्को उत्पन्न करती है अर्थात् अज्ञानअवस्थामें अज्ञान से पुरुष अपनेको कर्ता व भोक्ता मानता हुआ जब विचारसे सांसारिक विषयमें क्लेश जानकर प्रकृतिसे विरक्त हो तत्त्वज्ञानसे अपने निजस्वरूप को जानकर उससे पृथक् होता है तब मोक्षको प्राप्त होता है भोगहोनेपर विराग व विराग से मोक्षहोनेसे दोनों प्रयोजनसे प्रकृतिका सृष्टि करना मानते हैं पुरुषका बंध व मोक्ष केवल भ्रममात्र से स्फटिक में जपाकुसुम की अरुणता जपाकुसुमके संयोग व वियोगसे भासित होने व न होनेके समान है अर्थात् प्रकृतिके संयोग रहनेतक जपाकुसुमकी अरुणता के समान पुरुषको बंध व क्लेश भासित होता है पारमार्थिक बंध मोक्ष साधन अनुष्ठान और मोक्ष प्रकृतिही के होते हैं निर्विकार उदासीन पुरुष व प्रकृतिके सन्निधान से (समीपता से व संयोगसे) प्रकृतिके कर्तृत्व धर्मका अध्यास पुरुषमें व पुरुषकी चेतनता (ज्ञान) धर्मका अध्यास प्रकृति में होता है इससे संयोगसे अचेतन प्रकृति चेतनके समान होती है व पुरुष उदासीन गुणवान् व कर्ताके समान होता है पंगु व अंध दोनोंके संयोग से देखने व चलनेका उपयोग एक दूसरे को होने समान प्रकृति व पुरुष में परस्पर के धर्मों से परस्पर को होनेसे पंगु व अंध के समान दोनों का संयोग है उस संयोगसे सृष्टि होती है ऐसा कहते हैं परन्तु नित्य निर्विकार अकर्ता उदासीन नित्यमुक्तस्वरूप पुरुष के साक्षी होना द्रष्टा होना व भोक्ता होना आदि धर्म संभव नहीं होते हैं । अध्यास व भ्रम भी दोनों विकारहीरूप होनेसे अध्यास कारणसे भ्रमहोना भी ऐसे निर्विकार पुरुषका संभव नहीं होता और अध्यास व भ्रम चेतन के धर्म हैं इससे ये प्रकृतिके धर्म संभव नहीं होते हैं क्योंकि चेतनका जो अन्यमें अन्यके धर्मका अनुसन्धान करना है उसको अध्यास कहते हैं ऐसेही भ्रमभी चेतनहीको होता है पुरुषके नित्य निर्विकार होनेसे प्रकृतिकी सन्निधिमात्रसे अध्यासआदि पुरुषके धर्महोना संभव नहीं होते जो अध्यासआदि पुरुषके धर्म हैं पुरुषमें संभव होते हैं ऐसा मानाजाय तो उनके नित्यहोनेका प्रसंग होगा सन्निधि होनेका कुछ प्रयोजन नहीं है इस प्रश्नपर कि, जो वही बंधमोक्षको प्राप्त होती है तो नित्यमुक्त पुरुषकी उपकारिणी कैसे होती है यह कहते हैं कि, निर्गुण अनुपकारी पुरुषके भोग व मोक्षकेलिये गुणवती उपकारिणी प्रकृति नाना विधि व उपायोंसे व्यापार करती है जबतक पुरुष अज्ञानवश मोहित रहता है तबतक वह पुरुषको आसक्त रखती है जब तत्त्वज्ञानसे पुरुष जिस स्वभावकी प्रकृति है उसको वैसा जानलेता है व अपने स्वरूपको पहिचान लेता है तब उससे निवृत्त होजाती है फिर उसके निकट जाकर अपने रूपको नहीं देखाती जैसे कोई स्त्री जबतक किसी पुरुषको अपने अधीन व मोहित जानती है उसके निकट सब प्रकारकी चेष्टा करती है जब पुरुष उसका कोई दोष जानलेता है और उससे उदासीन

होजाता है तब यह भी अपने से विरक्त और अपने दोषको जाने हुये के पास नहीं जाती यह भी कहना असंगत है क्योंकि नित्यमुक्त व निर्विकार होनेसे यह सिद्ध है कि, पुरुष कभी प्रकृतिको न देखता न अध्यास को प्राप्त होता है न अध्यास करता है प्रकृति अचेतन होनेसे अपने आत्मा को नहीं देखती न अध्यास को प्राप्त होती है । पुरुष का अपने आत्मा का दर्शन (ज्ञान) अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान है उसको स्वरूपदर्शन का विकार होना संभव नहीं होता है जो सान्निधि का होना ही मात्र दर्शन है यह कहा जाय तो सन्निधि के नित्य होनेसे नित्य दर्शन होने का प्रसङ्ग है, नित्य निर्विकारका स्वरूप से भिन्न कभी किसी कालमें सन्निधिका होना भी संभव नहीं होता है जो अपने सन्निधिमात्रही का देखना मोक्ष होना कहा जावै तो बंधहेतु भी वही है इससे नित्य बंध व मोक्ष होंगे जो अयथार्थ दर्शन बंध का हेतु व यथार्थ स्वरूप का दर्शन मोक्षका हेतु कहा जाय तो दोनों विधिके दर्शन सन्निधिमात्र से भिन्न कोई पृथक् वस्तु न होनेसे दोनोंके सदाही होनेका प्रसङ्ग है सन्निधिके अनित्य मानने में उसका हेतु खोज करने योग्य है फिर उसका भी हेतु खोजने फिर ऐसेही खोजने में अनवस्थादोषकी प्राप्ति है जो यह दोषनिवृत्तिके लिये स्वरूप का विद्यमान होनाही सन्निधि है यह कहा जाय तो स्वरूपके नित्य होनेसे बंध मोक्ष दोनों नित्य होंगे इत्यादि विप्रतिषेध होनेसे साङ्ख्यदर्शन समीचीन नहीं है ॥ ९ ॥

परमाणुकारणवादके प्रतिषेधमें सू० १६ से १९ अधि० २ ।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ १० ॥

अनु०—और ह्रस्व व परिमण्डल (परमाणु) से महत् व दीर्घ होनेके समान असमञ्जस है (अच्छा नहीं है) ॥ १० ॥

भाष्य--महत् व दीर्घ बड़ेको कहते हैं दो परमाणुओंसे युक्तको द्व्यणुक और द्व्यणुकहीको ह्रस्व कहते हैं साधारण ह्रस्व शब्दका अर्थ छोटा है तीन अणुओंसे संयुक्त द्रव्यको अणुक और चार अणुओंसे संयुक्तको चतुरणुक कहते हैं परिमण्डल का अर्थ परमाणु है परमाणु कारणवादी वैशेषिकोंका मत यह है कि, कारण द्रव्य समवायीके गुण कार्य द्रव्यमें समानजातीय अन्यगुणोंको उत्पन्न करते हैं जैसे शुक्लतन्तुओंसे विशेष आकार विस्तार युक्त शुक्लपटका तन्तुगुण समानजातीय गुणों सहित प्रकटहोना देखा जाता है प्रलयमें परमाणु निश्चल व संयोगरहित रहते हैं सृष्टिसमयमें अदृष्ट कारण युक्त आत्माके योगसे उनमें कर्म उत्पन्न होता है उससे द्व्यणुकआदिक्रमसे स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्तिसे सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है जब दो परमाणु मिलकर द्व्यणुकको उत्पन्न

करते हैं तब परमाणुमें प्राप्त रूपआदि गुणविशेष शुक्लआदि द्व्यणुकमें अपनेही जातिके अन्य शुक्लआदि गुणोंको उत्पन्न करते हैं इस परमाणुकारणवादके खण्डनमें सूत्रमें यह कहा है और ह्रस्व व परमाणुसे महद्व व दीर्घ होनेके समान असमञ्जस है, असमञ्जस शब्दकी अनुवृत्ति पूर्वसूत्रसे होती है आशय यह है कि, ह्रस्व अर्थात् द्व्यणुक व परमाणुसे महद्व व दीर्घका होना तर्क व युक्तिसे सिद्ध नहीं होता इससे कारण गुणोंसे कार्यगुणोंका समान जीव उत्पन्न होना कहना अयुक्त है द्व्यणुकआदिसे महद्आदि उत्पन्न न होनेके समान अन्य विषय भी वैशेषिकोंका मत असमञ्जस है अर्थात् समीचीन नहीं है इसका विशेष व्याख्यान यह है कि, जब दो अणु द्व्यणुकके आरंभक होतेहैं तब पारिमण्डल्य (परमाणुका परिमाण) से भिन्न अन्य परिमाण ह्रस्व द्व्यणुकमें प्राप्त होता है और दो द्व्यणुकोंसे अर्थात् दो ह्रस्वोंसे उत्पन्न चतुरणुकमें महत्परिमाण होता है उसमें ह्रस्व समवायिपरिमाण नहीं होता तथा अनेक त्र्यणुक चतुरणुकसे हुये स्थूल कार्यों में परिमाणभेद होते हैं जो परमाणु निरवयव है तो ह्रस्वमें अवयवका आरंभक नहीं होसक्ता और परमाणुके परिमाणसे विलक्षण द्व्यणुक आदिमें परिमाण उत्पन्न न होना चाहिये क्योंकि कारणगुणसमवायिका समानजातीय गुणोंका कार्य में आरंभक होना माना गया है उसमें विरोधहोगा अथवा इसप्रकारसे परमाणुओं से द्व्यणुकआदि अवयवियोंका उत्पन्न होना अयुक्त समझना चाहिये कि, जैसे तन्तुआदि अवयव अपने अंशोंसे अनेक पार्श्व वा देशोंसे परस्पर मिलकर अवयवी कार्यको उत्पन्न करते हैं ऐसेही परमाणुभी अपने अनेक पार्श्वों वा देशोंसे मिलकर द्व्यणुकआदिके उत्पन्न करनेवाले होंगे परन्तु परमाणुओंके प्रदेश भेद न होनेमें सहस्रों परमाणुओं के योग होनेपरभी एक परमाणुकी परिमाणसे भिन्न अणु ह्रस्व महत्दीर्घ होनेके परिमाणकी सिद्धि न होगी और प्रदेश भेद अंगीकार करनेमें परमाणुभी अंशयुक्त ठहरेंगे ऐसेही अंशोंके भी अंश सिद्ध होते जानेमें अनवस्थाकी प्राप्ति होगी और ऐसा माननेमें परमाणुओंके भी अनन्त अवयव होने व सरसों व पर्वतके भी अनन्त अवयव होनेमें अनन्त होनेकी समतासे इनमें परिणामभेद वा विषमताकी सिद्धि न होगी और पूर्वोक्तके समान अंशोंके अभावमें परमाणुओंके योगसे परिमाणकी अधिकता न होनेमें किसी अवयवी कार्यकी उत्पत्ति संभव न होगी इससे परमाणु कारणवाद युक्त नहीं है ब्रह्महीको कारण मानना युक्त है कोई इस सूत्रका व्याख्यान ब्रह्मकारणवादके दूषण के समाधान में वर्णन करते हैं वह युक्त नहीं है क्योंकि ब्रह्मकारणवादके दोषोंका समाधान पूर्वपादमें वर्णन करके इस पादमें परपक्षोंका प्रतिषेध वर्णन करते हैं इससे परपक्षके प्रतिषेधका प्रकरण है अब ह्रस्व व परमाणुसे महत् व दीर्घ संभव न होने के समान अन्य असमञ्जस क्या है यह आगे वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ ११ ॥

अनु०—दोनों प्रकारसे कर्म संभव नहीं है इससे उसका अभाव है ॥ ११ ॥

भाष्य--संभव नहीं है यह सूत्रमें शेष है परमाणुकारणवादी सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण परमाणुओंको मानते हैं और सृष्टिका आरंभ व क्रम इस प्रकारसे वर्णन करते हैं कि, अदृष्टकारणसे पार्थिवआदिके परमाणुओंमें से प्रथम वायवीय (वायुवाले) परमाणुओंमें कर्म उत्पन्न होता है उस आद्यकर्म (आदिमें हुये कर्म) से उत्पन्न हुये संयोगपूर्वक द्व्यणुक आदिक्रमसे जगत्की उत्पत्ति होती है इसपर यह आक्षेप है कि, दोनों प्रकारसे कर्म संभव नहीं है अर्थात् परमाणुमें प्राप्त अदृष्ट कारणसे हुआ आद्यकर्म माना जावै अथवा आत्मामें प्राप्त अदृष्टसे उत्पन्नहुआ मानाजावै दोनों प्रकारसे आद्यकर्मका होना संभव नहीं है क्योंकि जीवात्माके पुण्य व पाप अनुष्ठानसे उत्पन्न हुये परमाणुओंसे सम्बंधरहित जीवात्मामें प्राप्त अदृष्टका परमाणुओंमें प्राप्तहोना संभव नहीं है विनाप्राप्तहुये परमाणुओं में कर्म उत्पन्नहोनेका कारण नहीं होसक्ता । जो अदृष्टसंयुक्त आत्माके संयोगसे अणुओंमें अदृष्ट सम्बंध होनेसे उनमें कर्म उत्पन्न होना मानाजावै तो अदृष्ट प्रवाहके नित्य होनेसे सृष्टिके नित्यहोनेका प्रसंग है जो ऐसा कहाजाय कि, अदृष्ट विपाकापेक्ष[1] होता है अर्थात् कर्मके विपाक होनेकी अपेक्षा करता है विपाक होनेपर फल व कार्य होनेका कारण होताहै कोई अदृष्ट उसी समय में विपाकको प्राप्त होते हैं कोई जन्मान्तरमें और कोई कल्पान्तरमें प्राप्त होते हैं इससे विपाककी अपेक्षायुक्त होनेसे सदा उत्पन्न होनेका कर्ता होनेका प्रसङ्ग नहीं है तो यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि अनन्त आत्माओंसे एकसाथ संकेत पूर्वक न कियेहुये नाना प्रकारके अनेक कर्मोंसे उत्पन्नहुये अदृष्टोंका एकरूप विपाक होना संभव नहीं होताहै जिससे सृष्टिसमय में एकसाथ उत्पत्ति व प्रलयमें सबका संहार एक फल होवे और प्रलयतक वह एकफलदायक विपाक विनाफलके स्थित रहै इससे परमाणुओंमें आद्यकर्महोना सिद्ध नहीं होता कर्म न होनेमें संयोग न होगा संयोग न होनेसे द्व्यणुक आदिक्रमसे जगत् कार्यकी उत्पत्ति न होगी सृष्टिके समान कर्मका होना सिद्ध न होनेसे कर्मके न होनेमें विभाग होनेका अभाव होनेसे प्रलयहोना सिद्ध नहीं होसक्ता और अदृष्टभोग सिद्धिके लिये होता है प्रलयके लिये नहीं होता इससे परमाणुमें प्राप्त अथवा आत्मामें प्राप्त

---

१ विपाकका अर्थ पकनाहै जो कर्म कियेजातेहैं वह सब उसीसमय फल नहीं देते जैसे उचित अनुचित कियेहुये आहार विहार कालान्तरमें उत्तम व निकृष्ट फलको प्राप्त करते हैं फलदेने प्राप्तकरनेयोग्य दशाको विपाक कहतेह ।

अदृष्टसे दोनों प्रकारसे परमाणुमें कर्मसंभव न होनेसे सृष्टिके लिये उसका अर्थात् कर्मका अभाव है वा परमाणुके कारण होनेका अभाव है इससे परमाणु-कारणवाद युक्त नहीं है ॥ ११ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १२ ॥

अनु०—समवाय अंगीकार करनेसेभी समहोनेसे व अनवस्थितिसे (अवस्थिति न होनेसे) असमञ्जस है ॥ १२ ॥

भाष्य--असमञ्जस है यह पूर्वसम्बंधसे अनुवृत्तिसे सूत्रमें ग्रहण कियाजाता है समवाय अंगीकार करनेसे भी परमाणुवाद असमञ्जस है अर्थात् समीचीन नहीं है क्यों नहीं है सम होनेसे व अनवस्थितिसे (अनवस्थासे) अर्थात् किसी उपपादक (साधक) की अपेक्षा होनेमें समवाय, अवयवीकी जातिआदिके समहोनेसे और अनवस्था प्राप्त होनेसे समवायका मानना समीचीन नहीं है इसका स्पष्ट व्याख्यान यह है कि, भिन्न सिद्धपदार्थोंके आधार व आधेय भावका उपपादक (सिद्ध करनेवाला) संयोग होता है अयुतसिद्ध (अभिन्नसिद्ध) आधार व आधेयरूप पदार्थोंमें इसमें यह ऐसे ज्ञानका जो सम्बंध कारण होता है उसको समवाय कहते हैं जाति व विशेषगुण आदिभी द्रव्यमें अभिन्न स्थित व विदित होते हैं जातिआदिकोंका इसमें यह प्रत्यय (ज्ञान) विशेषका निर्वाहक अपेक्षित होनेसे जो वह समवाय मानाजाय तो समवायकेभी उन्हींके सम होनेसे उसकेभी ऐसे प्रत्यय होनेका हेतु खोजकरने योग्य है फिर उसकाभी इसीप्रकारसे खोजने वा माननेमें अनवस्थाकी प्राप्तिहोगी जो समवायका भिन्नतारहित सिद्ध होना स्वभावही है यह कल्पना कीजाय तो जाति गुणआदिकोंका भी यही स्वभाव होना कल्पना करना चाहिये फिर अदृष्टसे समवायको मानकर उसका यह स्वभाव है ऐसी कल्पनाकरना युक्त नहीं है समवायके नित्यहोने वा अनित्य होनेमें दोनोंमें यह दोष एकही समान है नित्य होनेमें अन्य दोषभी आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १२ ॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १३ ॥

अनु—नित्यही भावसे (होनेसे) भी ॥ १३ ॥

भाष्य—समवाय सम्बंध है सम्बंधरूप समवायके नित्य होनेसे सम्बंधी जगत्के भी नित्यही होनेसे अर्थात् विना सम्बंधी सम्बंधका रहना असंभव है इससे जगत्का भी नित्य होना सिद्ध होनेसे समवायका मानना समीचीन नहीं है क्योंकि युक्ति व शब्दप्रमाणसे किसी प्रकारसे जगत् का नित्य होना सिद्ध नहीं होता जगत्के घट पट आदि पदार्थ में जो जाति व गुणविशेषमें समवायसम्बंध नित्य माना

जाय तो घटआदिकों को नित्य होना चाहिये सो यह प्रत्यक्षसे विरुद्ध है इससे युक्त नहीं है इस सूत्रका ऐसा भी व्याख्यान करते हैं कि, जो परमाणु प्रवृत्ति स्वभाव माने जावै तो निवृत्तिकी नित्यता होगी नित्य प्रवृत्तिमें जगत्‌का नित्यही होना नित्य निवृत्तिमें जगत्‌का नित्यही न होना सिद्ध होगा इसमें सृष्टि व प्रलय मेंसे एक नित्यही होनेसे अन्यका अभाव होनेसे परमाणुकारणवाद युक्त नहीं है ॥ १३ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्य्ययो दर्शनात् ॥ १४ ॥

अनु०--और रूपआदिमान् होनेसे विपर्य्यय (उलटा पलटना) है देखनेसे ॥ १४ ॥

भाष्य--परमाणुकारणवादी वैशेषिकोंका यह मत है कि, पटआदि द्रव्य अपने अवयवोंके संयोगसे उत्पन्न होते हैं और उनके अवयवोंको विभाग करते जायँ तो सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभागहोते जाते हैं परन्तु विभाग अतिसूक्ष्म होजानेपरभी सर्वथा नष्ट होजाना संभव नहीं है क्योंकि जैसे अनेक अवयव व खण्ड होनेपर जबतक अवयव प्रत्यक्ष होते हैं यही सिद्ध होता है कि, स्थूलकार्य द्रव्यमात्रका नाश हुआ है कारणरूप द्रव्यवस्तुका नाश नहीं हुआ वह अनेक सूक्ष्म अवयवोंमें होगया है ऐसेही प्रत्यक्षसे विदित न होनेयोग्य सूक्ष्म अवयवोंमें अनुमान करनेयोग्य है जगत् पर्वत समुद्र आदि पदार्थ सब सावयव (अवयवयुक्त) हैं सावयवपदार्थ सब उत्पत्ति व नाशमान् होते हैं नित्य नहीं होते यह प्रत्यक्षआदि प्रमाणसे सिद्ध होता है विना कारणके कार्य उत्पन्न नहीं होता यह मृत्तिका तन्तुआदिसे घट पट आदि उत्पन्न होने व मृत्तिका-आदिके उत्पन्न न होनेसे सिद्ध है इससे सूक्ष्मसे सूक्ष्म जिससे अधिक सूक्ष्म विभाग न हो सके सर्वथा नष्ट होना संभव न होने व कारण का होना अवश्य होनेसे ऐसा परम सूक्ष्म कारण अवश्य मानने योग्य है इससे अतिसूक्ष्म अणु परमाणु नामसे वाच्य कारणरूप रहते हैं वह नित्य है पृथिवीआदिकों-का परमाणुपर्य्यन्त विभाग होना प्रलय है प्रलय में पृथिवी आदिके गंध रस रूप स्पर्श गुणों सहित वायुपर्य्यन्त चार भूतोंके परमाणु स्थित रहते हैं सृष्टि समयमें अदृष्ट कारणसे प्रथम वायुके परमाणुओं में कर्म उत्पन्न होता है उससे अणुसंयोगको प्राप्त हो द्व्यणुक आदिक्रमसे वायु उत्पन्न होता है ऐसेही क्रमसे आप्यआदि शरीर उत्पन्न होते हैं परमाणु कारणमें प्राप्त रूप आदि,कार्यद्रव्योंमें रूप आदि प्राप्तहो प्रत्यक्ष होते हैं इस परमाणुकारणके निराकरण (खण्डन) में यह कहा है कि रूप आदिमान् होनेसे व विपर्य्यय देखनेसे असमञ्जस है अर्थात् परमाणुओंके रूप आदिमान् अर्थात् रूप रस गंध स्पर्शवान् होनेसे नित्य व सूक्ष्म व निरवयव होनेआदिके विपर्ययसे परमाणुओंका अनित्य स्थूल व सावयव होना सिद्ध होगा क्योंकि

रूप आदिमान् घट आदिकोंका अनित्य व कारणसे उत्पन्न होना प्रत्यक्षसे सिद्ध है प्रत्यक्ष हुयेके अनुसारही अदृष्ट (न देखाहुआ) पदार्थ अनुमान से स्थापन किया जासका है क्योंकि प्रत्यक्षके अनुगुणही तुम परमाणुवादी भी परमाणुओंका रूप आदिमान् होना कहते हैं इससे परमाणुओंका नित्य व कारण मानना युक्त नहीं है ॥ १४ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ १५ ॥

अनु०—दोनों प्रकारसे भी दोष होनेसे ॥ १५ ॥

भाष्य—परमाणुओंका रूप आदिमान् होना ही मात्र माननेमें दोष नहीं है रूप आदिमान्, न मानने में भी दोष है न मानने में दोष यह है कि, कारणहीके गुणसे कार्यगुण होते हैं परमाणुओंके रूपआदि रहित होने में पृथिवी आदि भी रूपआदिशून्य होना चाहिये रूप आदिमान् होने में दोष होना प्रथमही कहा गया है दोनों प्रकार से दोष होनेसे परमाणुकारणवाद अच्छा नहीं ॥ १५ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १६ ॥

अनु०—परिग्रह न होनेसे भी शिष्टोंसे अनपेक्षा करने योग्य है अर्थात् अपेक्षा करने योग्य नहीं है ॥ १६ ॥

भाष्य—शिष्टों से व करने योग्य शब्द सूत्रमें शेष है कपिल आचार्य के मत में अर्थात् साङ्ख्यमतमें प्रधान का स्वतंत्र कारण होना जो श्रुति व न्यायसे विरुद्ध है त्यागकर कार्य का सत् होना आदि वेदके अनुयायी शिष्ट जनों से ग्रहण किया गया है कणाद आचार्यका परमाणु कारणवाद वैदिक शिष्ट जनोंसे सर्वथा ग्रहण नहीं किया गया परमाणुकारणवाद का शिष्टों से परिग्रह न होनेसे वेदज्ञ सत्पुरुषों से अत्यन्त अपेक्षा करने योग्य नहीं है अर्थात् सर्वथा मानने व आदर करने योग्य नहीं है ॥ १६ ॥

परमाणुओंको कारण व उनका समुदाय रूप कार्य द्रव्य माननेवालोंके मतके खण्डन में सू० १७ से २६ तक अधि० ३ ।

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १७ ॥

अनु०—उभयहेतुक (दोनों कारणों से हुये) समुदायमें उसकी प्राप्ति नहीं है ॥ १७ ॥

भाष्य—परमाणुकारणवादी वैशेषिकों के मतका खण्डन करके अब अन्यप्रकारके परमाणुकारणवादी सौगत मतको खण्डन करते हैं सौगतमत-

वाकों में चार भेद हैं उनमें से कोई पार्थिव (पृथिवीवाले) आप्य (जलवाले) तैजस (तेजवाले) वायवीय (वायुवाले) परमाणुओंके संघातमात्र रूप अवयवी रहित भूत भौतिक सब बाह्य पदार्थ और चित्त अर्थात् ज्ञानसन्तान और चैत्त अर्थात् रागादिक भीतरी पदार्थोंको मानते हैं और इन सबको पांच भेद से कल्पना करिके पंचस्कंध नामसे कहते हैं अर्थात् भूत व इन्द्रिय विषयों को रूप स्कंध प्रत्येक विषयोंके ग्राहक होनेमें मैं जानता हूँ देखताहूँ ऐसे अभिमानआरूढ ज्ञानको विज्ञानस्कंध मित्र शत्रु आदिके अनुभवसे उत्पन्न सुख दुःखरूप चित्त अवस्थाविशेषको वेदनास्कंध नामविशिष्ट विकल्प संयुक्त ज्ञानके संज्ञास्कंध और राग द्वेष मोह संस्कार धर्म अधर्मको संस्कारस्कंध कहते हैं। अन्य पृथिवी आदि सर्व बाह्य विज्ञानसे अनुमान (अनुमान करने योग्य) है यह कहते हैं तीसरे सब बाह्य अर्थों को स्वप्न पदार्थोंके समान कल्पना किये गये मिथ्या शून्य कहते हैं विज्ञान ही मात्र को परमार्थ सत् मानते हैं यह तीनौं अपने मानेहुये वस्तुको क्षणिक (क्षणमात्र रहनेवाले) कहते हैं और कहे हुये भूत भौतिक चित्त चैत्तसे भिन्न आत्मा आकाश आदिक को स्वरूपसे सत् नहीं मानते चौथे सब शून्य ही होना कहते हैं इनमेंसे प्रथम जो बाह्य पदार्थोंको इसप्रकारसे मानते हैं कि स्पर्श रूप रस गंध स्वभाववाले आप्य, रूप स्पर्श स्वभाववाले तैजस, और केवल स्पर्श स्वभाववाले वायवीय परमाणु, मिलकर पृथिवी जल तेज वायु आकार से प्रकट होते हैं अर्थात् पृथिवीआदि परमाणु समुदाय मात्र हैं अवयवी कोई वस्तु नहीं है और ऐसेही पृथिवीआदि भूतों से शरीर इन्द्रिय व विषय रूप संघात होते हैं और उनमें शरीर के भीतर वर्तमान, ग्राहक होनेके अभिमान से आरूढ विज्ञान संतानही आत्मारूपसे स्थित होता है व आत्मा नामसे कहा जाता है उसी से सब लौकिक व्यवहार होता है उनके मतके खण्डनमें यह कहा है कि, दोनों कारणों से हुये समुदायमें अर्थात् परमाणुकारणोंसे हुये पृथिवी आदि भूतरूप समुदाय और पृथिवी आदि हेतु से हुये शरीर नित्य विषयरूप समुदाय में उसकी अर्थात् जगत् रूप समुदाय की प्राप्ति अर्थात् सिद्धि नहीं होती क्योंकि परमाणुओंके व पृथिवीआदि भूतोंके क्षणिक होनेसे दूसरे क्षणमें नष्ट होजानेसे एक क्षण में संघात के लिये उद्यत हुये परमाणु वा भूत मिलकर कार्य रूप प्रकट होनेके क्षणमें नष्ट होजानेसे कोई कार्य व विज्ञान के विषय न हो सकेंगे विज्ञान के विषय न होनेसे त्याग व ग्रहण आदि व्यवहारके योग्य न होगे विज्ञानात्मा किसी पदार्थको जानकर अन्य क्षणमें जो पहिचानता वा स्मरण करता है यह न होना चाहिये क्योंकि, जाननेवाला व जानाहुआ पदार्थ दोनौ नष्ट होगये अन्यके देखे वा जानेहुयेको अन्य स्मरण नहींकरता और न अन्य को पेखकर अन्यका ज्ञान व स्मरण होता है इत्यादि हेतुओंसे और अचेतन

अणुओंके वा भूतोंका विना किसी चेतन स्थिर कर्ताके आपसे विशेष आकार व रूपमें नियमसे प्राप्त होना असंभव होनेसे और विज्ञान जो सिद्ध शरीर इन्द्रियरूप आकारसंघातमें विदित होता है प्रथम समुदायका हेतु न होसकनेसे समुदायरूप जगत्के होनेकी सिद्धि नहीं होती ॥ १७ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावानिमित्तत्वात् ॥ १८ ॥

अनु०—परस्परके कारण होनेसे सिद्ध है (संघातभाव सिद्ध है) यह कहाजाय नहीं संघातभावके (संघात होनेके) निमित्त न होनेसे ॥ १८ ॥

भाष्य—यदि यह कहाजाय कि, अविद्याआदि परस्पर कारण होनेसे संघात होना आदि सिद्ध है परस्पर कारण होना कहनेका आशय यह कहनेसे है कि, यद्यपि सब भाव (पदार्थ) क्षणिक हैं तथापि अविद्यासे उनका स्थिर बोध होना संभव है क्योंकि क्षणिक आदिमें स्थिर होना आदि रूप विपरीत बुद्धि अविद्या है उससे संस्कार नामक राग द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं उनसे चित्त प्रकाशरूप विज्ञान होता है उससे चित्त चैत्त पृथिवी आदि रूपवान् द्रव्य होता है उससे षडायतन नामक इन्द्रिय षट्क उससे स्पर्श नामक शरीर उससे वेदना आदि अर्थात् सुख दुःख तृष्णा अर्थात् वाक् व शरीर की चेष्टा भव अर्थात् धर्म अधर्म जाति जरा मरण शोक और उपक्लेश मद मान उपवास होते हैं उससे फिर अविद्या आदि उक्त प्रकार से होते हैं इसप्रकार से अविद्या आदि से वेदना आदि व वेदनाआदि से अविद्याआदि होनेसे यह अनादि अविद्या आदिका परस्पर का कारण होना रूप चक्रप्रवृत्ति है यह विना भूत व भौतिक संघात अङ्गीकार किये संभव नहीं होसक्ता इससे संघात होना आदि सिद्ध है तो इसका उत्तर यह है नहीं संघात होनेका निमित्त न होनेसे अर्थात् अविद्याआदि पृथिवी आदिके संघातके निमित्त (कारण) न होनेसे संघातका होना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि जो स्थिर नहीं है उनके स्थिर होनेकी बुद्धिरूप अविद्या अथवा अविद्यासे हुये रागद्वेषआदि क्षणिक (क्षणमात्र रहनेवाला) जो भिन्न पदार्थ है

---

१ विज्ञान, और भूतचतुष्टय अर्थात् पृथिवी जल तेज वायु व रूप यह षडायतन हैं इन्द्रियों के यह छः आयतन हैं इससे इन्द्रियों को षडायतन कहते हैं। २ व ३ इन्द्रियषट्कसे अभिप्राय पंच ज्ञानइन्द्रिय व अंतःकरण मनसे है. तृष्णा व भव शब्द के अर्थ मतविशेष में सांकेतिक है इससे संदेह न करना चाहिये।

उसकी संहतिके कारण होना सिद्ध नहीं होते जैसे सीपआदिमें चांदीआदि होनेकी बुद्धि सीपआदि पदार्थकी संहतिका कारण नहीं होती है और जिस क्षणिकमें स्थिर होनेकी बुद्धि होती है वह तभी अर्थात् दूसरे क्षणमें नष्ट होगया अब किसके रागआदि उत्पन्न होंगे और विना संस्कारका आश्रय स्थिर एक द्रव्यमाने हुये संस्कारकी अनुवृत्तिभी कल्पना नहीं कीजासक्ती ॥ १८ ॥

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ १९ ॥

अनु०—और उत्तरकी उत्पत्तिमें पूर्वका निरोध होनेसे ॥१९॥

भाष्य—इससे भी क्षणिक होनेके पक्षमें जगत्का उत्पन्न होना संभव नहीं होता है कि, पूर्वक्षणमें विद्यमान कारणका कार्य उत्पत्तिसमय उत्तरक्षणमें नाश होजानेसे कारण होना सिद्ध नहीं होसक्ता अभावके हेतु होनेमें अर्थात् कुछ हेतु न होनेमें विना नियम सदा सब स्थानमें सबकी उत्पत्ति होगी जो पूर्व क्षणमें होनाही हेतु होना कहाजाय तो कोई पूर्व क्षणमें विद्यमान घट, सम्पूर्ण होने-वाले बैल भैंसा घोड़ा पत्थर वृक्षआदिका हेतु होगा जो यह कहाजाय कि, एक जातीय पूर्वक्षणवर्तीका कारण होना कहनेका अभिप्राय है तो भी इस हेतुसे कि, पूर्वक्षणमें विद्यमान एकही घट सब देशोंमें उत्तरक्षणमें होनेवाले घटोंका हेतु होना अयुक्त है अथवा एकका एकही हेतु मानाजावे तथापि किस एकका हेतु है यह जाना नहीं जाता जो ऐसा मानैं कि, जिस देशमें क्षणिकघट स्थित है उसी देशसम्बंधी उत्तरक्षणिक घटका वह हेतु होता है तो क्षणिकवादियों से यह प्रश्न है कि, क्या तुम देशका स्थिरहोना मानते हो स्थिरहोने में सब क्षणिक होनेकी प्रतिज्ञा भङ्ग होगी क्षणिक होनेमें नेत्रआदि इन्द्रियोंके संयोगको प्राप्तहुये पदार्थोंके ज्ञानउत्पत्ति होनेके कालमें स्थित न रहनेसे किसी पदार्थका ज्ञानका विषय होना संभव नहीं होता है ॥ १९ ॥

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा वा ॥ २० ॥

अनु०—न होनेमें (कारण न होनेमें) प्रतिज्ञाकी बाधा होगी अन्यथा अनेकका एकसाथ होना सिद्ध होगा ॥ २० ॥

भाष्य—पूर्वसूत्रमें कारण सिद्ध होनेका निषेध किया है अब विना कारण कार्यहोनेमेंभी क्षणिकवादका अयुक्त होना सिद्धकरते हैं कारण न होनेमेंभी कार्यका होना माननेमें प्रतिज्ञाविरोध होगा अर्थात् क्षणिकवादियोंकी यह प्रतिज्ञा है कि, चारविधिके हेतुओंसे अर्थात् आधिपति प्रत्यय (इन्द्रिय) सहकार्य प्रत्यय (आलोक अर्थात् दर्शन निरीक्षण) आलम्बन प्रत्यय (विषय) समनन्तर

---

१ संहति व संघातशब्दका अर्थ मेल वा एकत्र होना है यह संहति व संघात कहनेका आशय पदार्थोंके आकारविशेषसे वा विशेषमें परमाणुपुञ्जोंका एकत्र होना अर्थात् एकट्ठा वा जमा होना है ।

प्रत्यय (पूर्वक्षणप्रत्यय अर्थात् संस्कार) इन चार प्रत्ययों (हेतुओं) से चित्त (रूपआदिका विज्ञानआदि) व चैत्त (सुखआदि) कार्य उत्पन्न होते हैं इसकी बाधा होगी जो प्रतिज्ञाकी बाधा न होनेके लिये पूर्वक्षण उत्तरक्षणकी उत्पत्तितक रहता है अर्थात् पूर्व क्षणिक घटरहतेही उत्तरक्षणिक उत्पन्न होता है ऐसा मानाजावै तो कारण कार्यका एकसाथ होना सिद्ध होगा इसमेंभी क्षणिकहोनेकी प्रतिज्ञा भङ्ग होगी इससे क्षणिकवाद युक्त नहीं है ॥ २० ॥

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २१ ॥

अनु०—प्रतिसंख्या व अप्रतिसंख्या निरोधकी प्राप्ति नहीं है विच्छेद न होनेसे (सम्बंध न टूटनेसे) ॥ २१ ॥

भाष्य—क्षणिकत्ववादी सौगत वा वैनाशिक यह कल्पना करते हैं कि, कोई वस्तु स्थिर नहीं है सब पदार्थ क्षण क्षणमें नाशको प्राप्त होते हैं जैसे दीपकी शिखा तेल व बत्तीके परमाणुओंसे प्रतिक्षण अन्य अन्य उत्पन्न होकर वायुमें लय होती जाती हैं अन्य अन्य शिखाओंके होनेमें परमाणुओंके निकलते जानेहीसे क्षण क्षणमें तेल क्रमसे अल्पताको प्राप्त होते सब नष्ट होजाता है ऐसेही प्रज्वलित अग्निकी ज्वालाओंमें लकड़ीके अणु वायुमें उड़ते जाते हैं ईंधनके अणुओंसे अन्य अन्य ज्वाला उत्पन्न होती हैं इसीसे लकड़ी वा ईंधनकी गुरुता (गरुआई) की अपेक्षा भस्महोनेपर अणुओंके कम रहजानेसे भस्मकी गुरुता बहुत न्यून होजाती है अग्निके प्रज्वलित न होनेपरभी अग्निसंयोगमें धूमरूपसे लकड़ीमें प्राप्त जलअंश व लकड़ीके अणु निकलते जाते हैं दीपकी जो अन्य अन्य शिखा क्षण क्षण प्रति उत्पन्न होती हैं वह सब एकजातिकी व्यक्ति संतानरूप अर्थात् सम्बंध न टूटनेसे लगातार चलते जानेके प्रवाहरूप एक दूसरे से निरन्वय (संयोग वा सम्बंधरहित) बुझजानेपर विनाशको प्राप्त होती है ऐसा प्रत्यक्ष व अनुमानसे विदित होनेसे अन्यत्र भी जहां अन्य अन्य व्यक्तियोंका क्षण क्षणमें उत्पन्न होना प्रत्यक्ष नहीं होता है ऐसेही सन्तानरूपसे समान व्यक्तियोंका उत्पन्नहोकर निरन्वय विनाशहोना अनुमान करना चाहिये इसप्रकारसे यक्ति स्थापन करिकै सब पदार्थोंको क्षणिक व अवस्तु मानकर प्रतिसङ्ख्यानिरोध व अप्रतिसङ्ख्यानिरोध नामसे सब वस्तुओंका दोप्रकारका विनाश मानते हैं बुद्धिसे एक एक सङ्ख्याके उत्तरपदार्थ व्यक्तियोंका नाश विदित होनेसे ऐसे बुद्धिपूर्वक पदार्थोंके विनाशको प्रतिसङ्ख्यानिरोध और जिसमें ऐसा विदित नहीं होता उस अबुद्धिपूर्वक पदार्थोंके विनाशको अप्रतिसङ्ख्यानिरोध कहते हैं और आकाशको आवरण (रोक) का अभाव (न होना) मात्र मानतेहैं इन तीन पदार्थको संस्कारसे बुद्धि से मानने

योग्य प्रमेय अंगीकार करतेहैं अन्य कोई वस्तु नहीं मानते इनको भी क्षणिक होनेसे अवस्तु कहते हैं प्रतिसङ्ख्या व अप्रतिसङ्ख्यानिरोधके खण्डन में यह कहा है कि, प्रतिसङ्ख्या व अप्रतिसङ्ख्यानिरोधकी प्राप्ति नहीं है क्यों प्राप्ति नहीं है विच्छेद न होनेसे अर्थात् सत् वस्तुका विच्छेदहोना संभव नहीं है न सत्का उत्पन्न होना व विनाशहोना संभव है द्रव्य एकही स्थिर रहताहै अन्य अन्य अवस्थाओंके साथ उसका योग होताहै द्रव्यका अवस्थान्तरको प्राप्तहोनाही उत्पत्ति व विनाश है जैसा कि, **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** इस सूत्रके व्याख्यान में कारणसे कार्यके भिन्न होनेके वर्णनमें प्रतिपादन किया गया है जैसे घट मुकुट-आदिमें मृत्तिका व सुवर्णआदि द्रव्य की अनुवृत्ति (वही वस्तु होनेकी बुद्धि) प्राप्त होनेसे सत् द्रव्य पदार्थका अवस्थान्तरमें प्राप्त होनाही उसका विनाश है यह निश्चित होनेमें यद्यपि प्रदीपकी शिखा आदि सूक्ष्म दशाको प्राप्त हो वायु घट आकाशमें अलक्षित वा लय होजानेसे अदृश्य होजानेसे मृत्तिका घट आदिके समान अवस्थान्तरको प्राप्त होनेपर भी वही द्रव्यको होना विदित नहीं होता तथापि दृष्टान्त व अनुमानसे अवस्थान्तरका प्राप्त होनाही युक्त व निश्चय करने योग्य है इससे उक्त निरोधों की प्राप्ति नहीं है और क्षणिक होना मानने योग्य नहीं है ॥ २१ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २२ ॥

अनु०-और दोनों प्रकार से दोष होनेसे ॥ २२ ॥

भाष्य-क्षणिकत्ववादी जो तुच्छ से (अवस्तु से) उत्पत्ति होना और उत्पन्न का भी तुच्छ होना कहते हैं ऐसा संभव न होना कहा गया अब और दोनों प्रकारसे दोष होने से यह कहने का आशय यह है कि, असंभव होना मात्रही नहीं, दोनों प्रकारसे मानने में दोष भी है दोष यह है कि, तुच्छ से उत्पत्ति होने में कार्य भी तुच्छात्मकही (तुच्छस्वरूपही) होगा क्योंकि जो जिस कारण से उत्पन्न होता है वह वैसेही अर्थात् कारण द्रव्य स्वरूपही विदित होता है जैसे मृत्तिका व सुवर्ण से उत्पन्न घट व मुकुट आदि मृत्तिका व सुवर्णात्मक देखने में आते हैं जगत् तुच्छात्मक दृष्ट नहीं होता न ऐसा प्रतीत होता है सत्का निरन्वय विनाश होना मानने में एक क्षणके उपरान्त सम्पूर्ण जगत्की तुच्छताही होगी पीछे तुच्छ से जगत्की उत्पत्ति होनेके पश्चात् कहागया वा कहना भी तुच्छही होगा इससे दोनों प्रकारसे दोष होनेसे क्षणिकत्ववादियोंके मतानुसार उत्पत्ति व नाश दोनों युक्त नहीं हैं ॥ २२ ॥

आकाशे चाविशेषात् ॥ २३ ॥

अनु०-आकाश में भी विशेष न होने से (भेद होनेसे) ॥ २३ ॥

भाष्य–प्रतिसंख्या व अप्रतिसंख्या निरोधकी प्राप्तिका खण्डन करनेसे बाह्य व अन्तर वस्तुओंका स्थिर होना प्रतिपादन किया गया अब उसीके प्रसङ्गमें सौगत जो आकाशको तुच्छ आवरणका अभावमात्र कहते हैं उसके निराकरण (खण्डन) में यह कहा है आकाशमें भी विशेष न होनेसे अर्थात् आकाशमें भी पृथिवीआदिमें अवस्तुता सिद्ध न होनेके समान अवस्तुता वा तुच्छता नहीं है किस हेतुसे नहीं है विशेष न होने से अर्थात् पृथिवीआदिसे आकाश में विशेष न होनेसे अर्थात् पृथिवी आदिके समान आकाश के भी बाधिक न होने व प्रतीतिसे सिद्ध होनेसे उस में कुछ भेद न होनेसे आकाशकी सिद्धि है यह प्रत्यक्षसे विदित होता है कि, यह श्येन (बाज) उडता है यहां अमुक अमुक पक्षी उडरहे हैं जिस देशमें उडते हैं वह पृथिवीआदिसे भिन्न आकाश निश्चित होता है और रोकका अभावमात्र अर्थात् पृथिवीआदिका अभावमात्र कहना युक्त नहीं है क्योंकि किसी विकल्प वा भेदसे अभावका होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि जो पृथिवीआदिका प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव आकाश मानाजाय तो वर्तमान-पृथिवीआदिमें आकाशकी प्रतीतिका योग न होनेसे जगत्को आकाशरहित होना चाहिये इतरेतराभाव (परस्परका अभाव) आकाश होनेमेंभी इतरेतर अभावके प्रत्येक वस्तुमें प्राप्त होनेसे वस्तुओंमें आकाशकी प्रतीति न होगी वा न होना चाहिये पृथिवी आदिकोंका अत्यन्ताभाव होना संभव नहीं होता है क्योंकि अभावरूप कल्पित आकाशही विद्यमान पदार्थोंकी अवस्था विशेष होनेको सिद्ध करता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें वर्तमान शब्दगुणका आश्रय आकाशका अवस्तुहोना वाच्य नहीं होसक्ता आकाशका शब्दगुणवान् होना अनुमानसे पृथिवीआदिकों के गुणविशेष निरूपण करनेसे सिद्ध होता है गुणका आश्रय कोई द्रव्य होता है पृथिवीआदिके समान शब्दगुणका आश्रय होनेसे द्रव्य वस्तु वा धर्मी वस्तु है इन हेतुओंसे आकाशका अवस्तु व अभावमात्र कहना अयुक्त है ॥ २३ ॥

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

अनु०–और अनुस्मृतिसे ॥ २५ ॥

भाष्य–क्षणिकवादी आत्मा व बुद्धिको भी क्षणिक होना कहते हैं उसके प्रतिषेधमें यह कहा है और अनुस्मृतिसे अर्थात् उक्तहेतुओंसे बाह्य वस्तुओंका क्षणिक न होना प्रतिपादन किया गया है और अनुस्मृतिसे आत्माका स्थिर होना क्षणिक न होना सिद्ध होता है और अनुस्मृतिसे अर्थात् पूर्व अनुभूत (अनुभवको प्राप्तहुये) वस्तुविषयक ज्ञानसे जिन वस्तुओंमें ऐसा ज्ञान होता है कि, यह वहीहै जो पूर्व ही देखाथा ऐसे बाह्य वस्तुओंका भी स्थिर होना सिद्ध होता है विना एक स्थिर आत्माके ज्ञानके यह वही वस्तु है जो मैंने पूर्वही देखा था

ऐसा ज्ञान नहीं होसक्ता क्योंकि जो भूतकालका द्रष्टा आत्मा विद्यमान न होवे वर्तमान कालमें अन्य ही होवे तो अन्यके देखे सुने आदिका स्मरण अन्यको नहीं होता इससे अनुस्मृति न होना चाहिये और पूर्व अनुभूत ही वस्तुको देख-कर यह वही है ऐसा स्मरण होता है अन्य वस्तुमें वही होनेका स्मरण व निश्चय नहीं होता इस प्रकारसे आत्मा व अन्य वस्तुओंके स्थिर होनेके हेतुमें भी स्मृति-शब्दवाच्य है इससे ऐसा भी सूत्रका अर्थ ग्राह्य है कि, उक्त हेतुओंसे सम्पूर्ण वस्तु-ओंका स्थिर होना सिद्ध होताहै तथा अनुस्मृति से भी संभवित होनेसे ऐसा अर्थ भी ग्राह्य होना कहा गया है मुख्यता आत्मा ही की स्थिरता प्रतिपादनविषयमें समझना चाहिये जो यह कहाजाय कि, ज्वालाआदिमें सदृश ज्वालाओंके होनेसे भ्रम वा मोहसे एक होनेका ज्ञान होनेके समान अन्य वस्तुओंमें भी अज्ञान से एक होनेका बोध होता है तो मोहको प्राप्त एक स्थिर ज्ञात न मान-ने से ऐसा कहना भी युक्त नहीं होसक्ता क्योंकि अन्यके देखे जाने हुयेका स्मरण अन्यसे होना असंभव होनेसे ज्ञाताका एकही होना अवश्य अंगीकार करना होगा और क्षणिकत्ववादी जो यह कहते हैं कि, प्रज्वलित अग्निमें क्षण क्षणमें अन्य अन्य समान रूपसे ज्वाला उत्पन्न होने व पूर्व पूर्वके नष्टहोनेपर भी मिथ्या ज्ञानसे एक ही ज्ञातहोनेके समान ज्ञेय (जाननेयोग्य) घटआदिकोंमें भी क्षण क्षण घटरूप व्यक्तियोंके नाश होने व अन्य अन्य होनेपर एक वही होनेका ज्ञान होता है क्योंकि सम्पूर्ण अनित्य नाशवान पदार्थ हैं सबमें क्षण क्षणमें आयु शक्ति अणुकाल रूप आदिकों का सूक्ष्म भेद जो प्रत्यक्षसे विदित नहीं होता, नाश होता रहता है इससे वही व्यक्तियोंका स्थिर रहना सिद्ध नहीं होता और वर्तमान अर्थ विषय अवर्तमान वस्तुसे व्यावृत्त (भिन्नताको प्राप्त) होनेसे विदित होता है जैसे पीतसे व्यावृत्त नील वस्तु इत्यादि ऐसेही भूत भविष्यत्से व्यावृत्त वर्तमान अन्य वस्तु होना विदित होता है द्वितीयक्षणमें वर्तमान क्षणिक भूत होजाता है इससे क्षण क्षणमें वस्तुओंका नाश होता है विद्यमान व अर्थ क्रियाके करनेवाले घटआदि सब क्षणिक हैं उत्तर उत्तर व अन्त्य क्षणिक घटोंके होनेसे पूर्व क्षणिक घटोंका नाशहोता है इसका उत्तर यह है कि, ज्वालाआदिमें अग्निकी उष्णता से दह्यमान (जलतेहुये) पदार्थके अणु हलके व सूक्ष्म हो वायुमें उड़ते व तेजके साथ ज्वालारूप होते हैं और तेलके न रहनेसे ईंधनआदिसे उसके भस्मकी गुरुताका परिमाण अति न्यून रहनेसे दग्धवस्तु

---

१ अनुस्मृतिशब्दमें अनुउपसर्ग अधिक होनेमें भी सामान्यसे स्मृति ही शब्दका अर्थ समझना चाहिये पश्चात् व सदृश अर्थवाचक अनुशब्दसहित स्मृति कहनेसे यह विज्ञापित होता है कि, एक ही वार नहीं, स्मरण होनेपर फिर जब वही वस्तु प्रत्यक्ष होगी, पूर्व स्मृति के सदृश वही होना विदित होगा प्रत्येक प्रत्यक्ष होनेके समय में समान स्मृति होनेसे स्थिरता सिद्ध होती है ।

अणुओंका वा अवयवोंका न रहना अन्यत्र चलाजाना सिद्ध होता है घटआदि में ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता कालभेद सब व्यक्तियोंमें समान होनेसे सब धर्मोंमें साधर्म्य माननेमें कोई हेतु नहीं है नहीं अग्निको प्रज्वलित देख-कर द्रव्यत्व साधर्म्यसे पृथिवी जलका प्रज्वलित मानलेना भी युक्त होगा अवर्तमान भूत भविष्यत्से व्यावृत्ति होनेसे वर्तमान वस्तु अन्य वस्तु, व असिद्ध नहीं होता केवल वर्तमान काल के साथ उसका संयोग होना सिद्ध होता है । और वर्तमान व अर्थक्रियाकारी कहना घटआदिका स्थिर होना सिद्ध करता है क्षणिक होनेहीके पक्ष का बाधक है क्योंकि दूसरे क्षण में नष्ट हुये का व्यापार संभव न होनेसे अर्थक्रियाकारी होना संभव नहीं होता है और जैसे अन्त क्षणवर्ती घट किसी कारणसे नष्ट होता है ऐसे ही अन्य क्षणवाले घट भी विना कारण नष्ट न होंगे मुद्गरआदिसे घातको न प्राप्त होनेतक स्थिर रहेंगे घातको प्राप्त होनेपर भी कपालआदिकी अवस्थाको प्राप्त होना ही घट का नाश होना है घटअवस्थासे कपालअवस्था तथा अन्य अवस्था को प्राप्त मृत्तिका वा पृथिवी द्रव्य सत् ही रहता है उसका नाश नहीं होता नहीं कारणसे कार्यका होना किसी प्रकारसे सम्भव नहीं होसक्ता अनुस्मृतिसे स्थिरता सिद्ध होने को कोई छिपा व मेट नहीं सक्ता इससे ज्ञाता व सब ज्ञेय पदा-र्थोंको क्षणिक कहना अयुक्त है ॥ २४ ॥

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २५ ॥

अनु०—असत्का नहीं होना दृष्ट न होनेसे ॥ २५ ॥

भाष्य—सौत्रान्तिक यह कहते हैं कि, जो वस्तु अवस्थित नहीं है वह ज्ञानका विषय नहीं हो सक्ता यह शङ्का न करना चाहिये ज्ञानहोनेके समयमें पदार्थ अवस्थित रहनेकी आवश्यकता नहीं है ज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु होना ही ज्ञानका विषय होना है कोई पदार्थ जो ज्ञानका हेतु (कारण) होता है उसका कारण होनेके समयमें अपने आकारका समर्पण करना ही ज्ञानका विषय होना है अर्थात् ज्ञानमें अपने आकारको समर्पणकरके पदार्थ नष्ट भी हो जाता है तो भी ज्ञानमें प्राप्त नीलआदि आकारसे अनुमान कियाजाता है बुद्धि में प्राप्त आकारसे उसका ज्ञान होता रहता है वा उसका आकार भासित होता है इसके प्रतिषेध में यह कहा है असत्का नहीं होना दृष्ट न होनेसे अर्थात् जो पदार्थ नष्ट हो गया वा अवस्थित नहीं है उस असत्का अर्थात् उसके नीलआदि आकारका ज्ञान नहीं होसक्ता क्यों ऐसा होना नहीं मानाजाता ऐसा दृष्ट न होनेसे अर्थात् धर्मिके विनष्ट होनेमें उसका धर्म किसी अन्यपदार्थमें प्राप्त होवे ऐसा दृष्ट न होनेसे स्थिर प्राप्तहीका प्रतिबिम्ब होता है बिना धर्मी धर्मकी स्थिति न होनेसे धर्मीहीकी स्थिरतामें प्रतिबिम्ब होता है धर्ममात्रका नहीं होता इससे ज्ञानकालमें पदार्थको अवस्थित

रहनेही से ज्ञान होना संभव होता है अथवा सूत्रका अर्थ ऐसा ग्राह्य है असत्से नहीं होता दृष्ट न होनेसे अर्थात् वैनाशिक जो असत् से (अभावसे) भावकी उत्पत्ति मानते हैं उनके मतके खण्डनमें यह कहा है कि, असत्कारण से कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती विना बीजके अंकुर न होने आदिसे कारणसे कार्य होना देखाजाता है विना सत् कारणके कार्यका होना दृष्ट न होनेसे असत्से अर्थात् अभाव से भावकी उत्पत्ति नहीं होती और जो अभाव से कार्य होता तो सुवर्णात्मक रुचक मृत्तिकात्मक घट होनेके समान अभावात्मक (अभावस्वरूप) होता अथवा विना कारण नियमके सबसे सबकी उत्पत्ति होती ऐसा न होने से कारण का नियम होना सिद्ध होता है इत्यादि हेतुओंसे अभावसे भाव मानना असङ्गत है ॥ २५ ॥

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २६ ॥

अनु०—ऐसेही उदासीनों को भी सिद्धि होय ॥ २६ ॥

भाष्य—जो विना कारण विषम अभावसे भावकी (पदार्थकी) उत्पत्ति होवै तो उदासीनोंको अर्थात् जो कुछ नहीं करते व्यापाररहित हैं उनको सांसारिक व पारमार्थिक प्राप्यवस्तुओंकी प्राप्तिरूप सिद्धि होजाय अर्थात् खेती न करनेवालोंको विना जोती व वहीहुई पृथिवीसे सब प्रकारके अन्न प्राप्त होना चाहिये विना विने व घटबनानेके व्यापार पट व घटआदि प्राप्त होना चाहिये बिना साधन व धर्माचरणके स्वर्ग व अपवर्गकी प्राप्ति होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता इससे पदार्थोंका क्षणिक होना व नष्टहुयेसे अर्थात् असत्से कार्यहोना मानना अयुक्त है ॥ २६ ॥

समुदायाधिकरणं समाप्तम् ।

उपलब्धिहेतुसे विज्ञानमात्रवादियोंके मतके खण्डनमें सू० २७ से २९ अधि० ४ ।

नाभाव उपलब्धेः ॥ २७॥

अनु०—उपलब्धि होनेसे अभाव नहीं है ॥ २७ ॥

भाष्य—विज्ञानमात्रहीके अस्तित्ववादी बौद्ध योगाचार्य यह कहते हैं कि, बाह्य पदार्थ कुछ नहीं हैं जैसे बाह्यपदार्थ विदित होते हैं इन आकारोंसे विचित्र विज्ञानही अन्तःस्थ हैं (हृदयमें स्थित हैं) बाह्य अर्थ होनेमें भी विज्ञानही के साथ उनकी उपलब्धि होती है विना विज्ञानके विज्ञानसे भिन्न विदित न होनेसे जो कुछ देखते व जानते हैं सब विज्ञानही है सब व्यवहार विज्ञानरूप अन्तरमें स्थित तदाकार बाह्यमें (बाहर) उपलब्ध होते हैं (प्रत्यक्ष होते हैं) और इस शङ्का

का कि, स्तंभ घट आदि अनेक स्थूलपदार्थका विज्ञानमात्र होना संभव नहीं होता विज्ञान ग्राहक व बाह्य पदार्थ ग्राह्य हैं ग्राहक ग्राह्य एक नहीं होसके यह उत्तर वर्णन करते हैं कि, जैसे वास्तवमें मिथ्यारूप होनेपरभी स्वप्नपदार्थोंका व सीपमें चांदीआदिका ग्रहण होता है अर्थात् ग्राह्य अर्थ स्वप्न पदार्थ आदि सत्य न होनेपरभी ग्राह्य होते हैं ऐसेही जाग्रत् अवस्थामें सब बाह्य पदार्थ ग्राह्य होते हैं अर्थात् स्वप्न पदार्थके समान विदित होते हैं असत् बाह्य पदार्थोंकी विचित्रता वासनाओंकी विचित्रतासे कहते हैं अर्थात् यह वर्णन करते हैं कि, अनादि संसारमें बीज व अंकुरके समान विज्ञान व वासनाओंका परस्पर निमित्त व नैमित्तिक भावसे होनेसे विचित्र होनेमें दोष नहीं प्राप्त होता इससे विचित्र होनेका प्रतिषेध नहीं होसक्ता वासनाओंके निमित्तसे ज्ञानकी विचित्रता होती है यह सिद्धान्त है इसके प्रतिषेध में यह कहा है कि, उपलब्धि होनेसे अभाव नहीं है अर्थात् बाह्य पदार्थोंका अभाव नहीं है किस प्रमाण से नहीं है उपलब्धि से अर्थात् उपलब्धि होनेसे तात्पर्य यह है कि, घट पट आदि बाह्य अर्थोंकी प्रत्यक्ष आदिसे उपलब्धि होने से अर्थात् प्रत्यक्ष आदिसे बाह्य पदार्थोंके विदित होने वा सिद्ध होनेसे पदार्थ असत् नहीं हैं और विज्ञानहीके साथ पदार्थोंकी उपलब्धि होती है इस विज्ञानवादीहीके वचन से उनके पक्षके विरुद्ध बाह्य पदार्थ का सत् होना सिद्ध होता है क्योंकि विना भेद व अन्य वस्तुके हुये एक में साथ, व सम्बंध, शब्दोंका प्रयोग नहीं होसक्ता और विज्ञानमात्रही मानना व अर्थोंका निषेध करना अन्य हेतुओंसे अयुक्त होना सिद्ध होता है यथा मैं घट को जानता हूं व पट को जानता हूँ इत्यादि अर्थज्ञान में ज्ञाता ज्ञान व ज्ञेय पदार्थ तीन पृथक् होनेकी प्रतीति सब लौकिक जनों को होती है ऐसा किसी को प्रतीत नहीं होता कि, मैं घट हूँ पट हूँ मेरा ज्ञानही घट पट है इत्यादि और वासनाओंका भी ज्ञानोंकी विचित्रता का हेतु मानना इस हेतुसे युक्त नहीं है कि, ज्ञानों को निरन्वय (एक दूसरे सम्बंधरहित) क्षणिक नाशवान् मानते हैं इससे क्षण क्षण निरन्वय विज्ञानोंके नाश होने में पूर्व ज्ञानसे उत्तर ज्ञान उत्पन्न न होने और कुछ सम्बंध सिद्ध न होनेसे वासनाका सिद्ध होना असंभव है इससे अर्थहीकी विचित्रतासे ज्ञानकी विचित्रता है ज्ञान जो साक्षात् प्रत्येक पदार्थके व्यवहारकी योग्यताका हेतुरूप प्रतीत होता है उसका प्रत्येक पदार्थके सम्बंधके अधीन होना ही प्रत्येककी भिन्नतारूप है अर्थात् भेदका साधक है और प्रत्येक पदार्थके साथ उसका संयोगरूप सम्बंध है इससे बाह्य अर्थका अभाव नहीं है जो विज्ञानवादी यह कहै कि, विज्ञान स्वयंप्रकाशात्मक होनेसे आपही प्रकाशित वा विदित होता है अर्थात् जैसे प्रदीप आपही अपने प्रकाशसे प्रकाशित होता है अन्यप्रकाशककी आकांक्षा नहीं करता ऐसेही विज्ञान अपनेही प्रकाशसे प्रकाशित होता है इससे बाह्य अर्थ नहीं है तो प्रदीप यद्यपि अन्य

प्रकाशककी अपेक्षा नहीं करता तथापि अपनेको आपही नहीं जानता उसके स्वरूपका ज्ञाता भिन्नही होता है आप ज्ञेयमात्र होता है ऐसेही सब बाह्य पदार्थ ज्ञाता आत्मासे ज्ञेय पदार्थ हैं बाह्य पदार्थ कुछ न होनेमें अग्निस्पर्शसे हुये दाहमें शीतलतारूप विज्ञानसे दाहजनित दुःखका तथा अन्यक्लेश जो हों उनका अनुभव न करना चाहिये विना बाह्य पदार्थकी अपेक्षा विज्ञानोंसे सब सुखसामग्री सम्पादन करना चाहिये अन्यथा अपने आत्मामें अग्नि दाह करता है इस अत्यन्त विरुद्ध क्रियाके मानने और विरोधरहित सब लौकिक जन जो विज्ञानसे अपने से भिन्न बाह्य अर्थका अनुभव करते हैं उसका न माननेमें विज्ञानवादियों की बुद्धिमत्ता हास्यके योग्य है विचारनेसे अनेक हेतुओंसे अयुक्त होनेसे विज्ञानमात्रवाद समीचीन नहीं है अब जो स्वप्नके समान जागरित पदार्थोंको कहते हैं इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ २७ ॥

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २८ ॥

अनु०—वैधर्म्य से (विरुद्ध धर्म होनेसे) स्वप्नआदिके समान भी नहीं है ॥ २८ ॥

भाष्य—स्वप्नज्ञानों से जागरित ज्ञानों का वैधर्म्य होनेसे जागरित ज्ञान पदार्थशून्य नहीं हैं अर्थात् पदार्थ सम्बंधरहित ज्ञानमात्र नहीं हैं वैधर्म्य यह है कि, स्वप्नज्ञान जागरित में बाधित होते हैं अर्थात् स्वप्न में ज्ञात वस्तु जागनेपर मिथ्या प्रतीत होते हैं जागरितअवस्था में हुये ज्ञान वा ज्ञात हुये पदार्थ स्वप्न अवस्था में बाधित नहीं होते आदिशब्द कहनेका आशय माया आदि में मिथ्या प्रतीत हुये पदार्थोंके कहनेका है अर्थात् निद्रा भ्रम माया विकार व उपाधिरहित जागरित ज्ञान किसी अवस्था में बाधित नहीं होता न ज्ञात हुये पदार्थ असत्य प्रतीत होते हैं अन्य वैधर्म्य यह है कि, स्वप्नदर्शन स्मृतिसंस्कार जन्य होता है जागरित दर्शन उपलब्धिरूप है अर्थात् इन्द्रिय व अर्थोंके सन्निकर्षसे साक्षात् प्राप्तिरूप है स्मृति व उपलब्धि में भेद है जैसे मैं इष्ट पुत्रको स्मरण करता हूँ यह कहनेका आशय यह है कि, इष्ट पुत्रकी उपलब्धि नहीं है उसके पूर्वज्ञात स्वरूप व गुणोंको अनुसंधान करता हूँ वा उसके उपलब्धकरनेकी इच्छा करताहूँ स्मृतिरूप व उपलब्धिरूप दोनोंमें अपनेही अनुभवसे भेद व मिथ्या व सत्यहोनेसे विरोध विदित होनेसे जागरित स्वप्नआदिके समान नहीं है यह सिद्ध है ॥ २८ ॥

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ २९ ॥

अनु०—उपलब्धि न होनेसे भाव नहीं है ॥ २९ ॥

भाष्य—जो यह कहा है कि, विना अर्थसम्बंध वासनाओंकी विचित्रता से ज्ञानकी विचित्रता होती है इसका यह प्रतिषेध है कि, अर्थशून्य केवल ज्ञानका

भाव (होना) सिद्ध नहीं होता क्यों नहीं होता उपलब्धि न होनेसे अर्थात् विना कर्ता व कर्म पदार्थके अर्थात् ज्ञाता व ज्ञेय (जिसका ज्ञान होता वा जाननेके योग्य) पदार्थके ज्ञान होनेकी उपलब्धि नहीं होती इससे विज्ञानमात्र मानना युक्त नहीं है ॥ २९ ॥

शून्यवाद सर्वथा संभव न होनेके वर्णनमें सू० ३० अधि०५।

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ ३० ॥

अनु०–और सर्वथा संभव न होनेसे ॥ ३० ॥

भाष्य–सब शून्यवादी माध्यमिक यह कहते हैं कि, विज्ञान व बाह्यपदार्थ कुछ नहीं हैं शून्यही तत्त्व है अभावकी प्राप्तिही मोक्ष है शून्यके हेतुरहितसाध्य होनेसे आपसे सिद्धहोनेसे यही अर्थात् शून्यही मानना युक्त है विद्यमानका हेतु अन्वेषणीय (खोजकरनेके योग्य) है सो वह भाव व अभाव दोनोंसे संभव नहीं होता है भावसे अर्थात् विद्यमानसे किसी पदार्थकी उत्पत्ति दृष्ट नहीं है क्योंकि मृत्तिका आदिके पिण्ड विद्यमान रहनेमें घटआदि उत्पन्न नहीं होते मृत्तिकापिण्डके अभाव होनेहीमें अर्थात् न रहनेहीमें उत्पन्न होते हैं अभावसेभी उत्पत्ति संभव नहीं होती क्योंकि पिण्डआदिके नष्ट होनेमें अभाव से जो घटआदि उत्पन्न होते तो अभावात्मकही होते तथा आपसे व परसे भी उत्पत्ति संभव नहीं होती आपसे अपनी उत्पत्ति होनेमें आत्माश्रय दोषका[1] प्रसङ्ग होनेसे व प्रयोजन न होनेसे आपसे उत्पत्ति संभव नहीं है परसे परकी उत्पत्ति होनेमें पर होनेमें विशेष न होनेसे सबसे सबकी उत्पत्ति होनेका प्रसङ्ग है इन हेतुओंसे जन्मका अभाव होनेहीसे विनाशका भी अभाव है इससे जन्म विनाश सत् व असत्आदि भ्रममात्र है विना अधिष्ठानके भ्रम संभव न होनेसे भ्रमका आधिष्ठान भी कोई पारमार्थिक तत्त्व आश्रय करनेयोग्य नहीं है क्योंकि दोष दोषोंका आश्रय होना ज्ञात होना आदिके परमार्थ न होनेपरभी भ्रमकी सिद्धि होनेके समान अधिष्ठानके भी परमार्थ न होनेमें भ्रमकी सिद्धि होती है इससे शून्यही तत्त्व है इसके प्रतिषेध में यह कहा है और सर्वथा संभव न होनेसे अर्थात् सर्वथा संभव न होनेसे सर्व शून्य होना भी संभव नहीं होता है क्योंकि लोकमें भाव व अभाव दोनों शब्दोंके प्रयोग व उनकी प्रतीति होनेमें विद्यमानही वस्तुका अवस्थाविशेषसे प्रत्यक्ष होना वा विदित होना सिद्ध होता है यह प्रतिपादन किया गया है इससे सबका सत् होना वा असत् होना वा अन्यथा होना किसीप्रकारसे माननेमें सबका

---

१ आत्मआश्रय दोष व प्रयोजन न होना कहने का आशय यह है कि, जब विद्यमान है तो अपने आत्मासे अर्थात् स्वरूपसे सिद्धही होनेसे उत्पन्न होना कहना असङ्गत है और होनेमें उत्पन्न होनेका प्रयोजन भी नहीं है क्योंकि जो नहीं होता वही होनेपर उत्पन्न कहाजाता है ।

तुच्छ वा शून्य होना संभव नहीं होता है क्योंकि अवस्थाविशेषसे विशेषित होनेयोग्य सब वस्तु हैं ऐसा जाननेवालेहीसे उसके अवस्थान्तरमें सब शून्य है ऐसा प्रतिज्ञात होसक्ता है इससे सबका तुच्छ होना किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता अन्य हेतु यह है कि, जो शून्यवादी किसी प्रमाणसे शून्यहोना जानकर शून्यहोनेको सिद्ध करता है तो उसको शून्यतासे भिन्न उस प्रमाणका सत्यहोना अंगीकार करना चाहिये उसके सत्य माननेमें सब शून्यहोना मिथ्या होगा और प्रमाणके असत्य होनेमें सब शून्य है इस प्रतिज्ञाके असिद्ध होनेमें सब सत्य है यह सिद्ध होगा इससे सर्व शून्यत्ववाद सर्वथा असंभव है ॥ ३० ॥

जीवआदि सप्त पदार्थवादी एकहीमें विरुद्ध धर्म माननेवालोंके मतखण्डनमें सू० ३१ से ३४ तक अधि० ६ ।

नैकस्मिन्नसम्भवात् ॥ ३१ ॥

अनु०—नहीं एकमें सम्भव न होनेसे ॥ ३१ ॥

भाष्य—सौगत मतको निरस्त (खण्डित) करिके अब जैनमतका प्रतिषेध करते हैं जैन यह मानते हैं कि, यह सब जगत् जीव व अजीवात्मक है ईश्वर जगत्का कर्ता नहीं है और सब जगत् छः द्रव्यमय है जीव धर्म अधर्म पुद्गल काल और आकाश इनमेंसे जीव तीन प्रकारके होते हैं बद्ध योगसिद्ध व मुक्त गतिमानोंकी गतिका कारणरूपव्यापी द्रव्यविशेष धर्म है स्थितिका हेतुरूप व्यापी वस्तु अधर्म है नाम, वर्ण(रूप)गंध रस स्पर्शवान् द्रव्य पुद्गल है और वह दो प्रकारका होता है परमाणुरूप व संघातरूप वायु तेज जल पृथिवी तनु भवन आदि काल व्यवहारका हेतु अणुरूप द्रव्य भूत, वर्तमान व भविष्यत् भेदसे तीनप्रकारका है आकाश एक व अनन्त प्रदेशयुक्त द्रव्य है इनमें अणुओं से भिन्न द्रव्य पंचास्तिकायभी ग्रहण करते हैं जीवास्तिकाय धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय आकाशास्तिकाय अनेक देशवर्ती द्रव्यमें अस्तिकायशब्दका प्रयोग कियाजाता है और जीवोंके मोक्षका उपयोगी अन्य संग्रह यह करते हैं कि, जीव अजीव आस्रव बंध निर्जर संवर व मोक्ष यह सात पदार्थ हैं यथार्थ ज्ञान होना मोक्षका उपाय है । ज्ञानदर्शन, सुख व वीर्य गुणवाला पदार्थ जीव है जीवसे भोग्य (भोगके योग्य) वस्तु अजीव है । जीवके उपभोगके उपकरणरूप इन्द्रियआदिक आस्रव हैं बंध आठ प्रकारका होता है घातिकर्मचतुष्टय व अघातिकर्मचतुष्टय इन दोमेंसे तत्वज्ञानसे मोक्ष होने व आर्हततंत्र व मोक्षके उपायोंमें विश्वास न करना व मोक्षसाधन में विघ्न, यह चार कल्याणके घातक घातिकर्म चतुष्टय और अपने जानेहुयेको सत्यमानना व नाम व गोत्रका अभिमान व शरीरके स्थितिके लिये कर्म करना यह चार अघाति कर्म चतुष्टय हैं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आन्तर्य

वेदनीयं,नामिकं,गौत्रिकं, आयर्ष्क, क्रमसे आठोंके ये नाम हैं मोक्षसाधन पापनाशक जपआदि निर्जर हैं ज्ञानइन्द्रियोंका रोकनेवाला समाधिरूप संवर है रागआदिक्लेशोंसे रहित जीवके स्वाभाविक आत्मरूपका प्रकट होना मोक्ष है पृथिवीआदिके हेतु(कारण) अणु है परन्तु जैसा वैशेषिक पृथिवी से वायुपर्य्यन्त चार भूतोंके चार प्रकारके परमाणु कहते हैं जैन ऐसा नहीं मानते हैं वह सब परमाणुओंको एकही स्वभाव के मानते हैं परिणामविशेषसे पृथिवीआदिका भेद होना कहते हैं और जीवा-स्तिकाय आदिकोंके अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुओंके अवान्तर भेद वर्णन करते हैं और उसको सप्तभङ्गीनय कहते हैं सप्तभङ्गीनयके भेद यह हैं अस्तित्ववांछा में कुछ है ऐसा मानना यह प्रथम भङ्ग है नास्तित्ववांछा में अर्थात् प्रवर्त्यके अस्तित्व न होनेकी वाञ्छा में कुछ नहीं है यह द्वितीय भङ्ग है क्रम से दोनों की वाञ्छामें कुछ है भी व कुछ नहीं भी है यह तृतीय भङ्ग है । एकही साथ दोनोंकी वाञ्छा में है व नहीं है दोनों एकही समय एकही में न कह सकने से अवक्तव्य होना अर्थात् कुछ कहने योग्य न होना चतुर्थ भङ्ग है । प्रथम व चतुर्थ भङ्गकी वाञ्छामें कुछ है व अवक्तव्य भी है यह पंचम भङ्ग है । द्वितीय व चतुर्थ भङ्गकी वाञ्छा में कुछ नहीं है व अवक्तव्य भी है अर्थात् कहने योग्य नहीं है यह षष्ठ भङ्ग है । तृतीय व चतुर्थ भङ्गकी वाञ्छा वा इच्छा में कुछ नहीं है और अवक्तव्य भी है यह सप्तम भङ्ग है ऐसेही एक व अनेक होनेको ग्रहणकरिके कुछ एक है कुछ अनेक है, कुछ एक है व अनेक भी है, कुछ एक है व अवक्तव्य है, कुछ अनेक है व वक्तव्य नहीं है, कुछ एक व अनेक व अवक्तव्य है ऐसेही कुछ नित्य है कुछ अनित्य है इत्यादि नित्यत्व अनित्यत्व, भिन्नत्व अभिन्नत्व आदि में सप्तभङ्गीनय को योजित करते हैं उक्त प्रकार से नित्यत्वआदि-में भी सप्तभंङ्गी नयके भेद समझ लेना व कल्पना करलेना चाहिये इसके प्रतिषेध के लिये यह कहा है नहीं एकमें सम्भव न होनेसे आशय यह है कि, ऐसा सप्तभङ्गीनय मानना युक्त नहीं है क्यों नहीं है एकमें संभव न होनेसे अर्थात् जैसे शीत व उष्णता (गरमी) छाया व आतप (घाम) का एक साथ होना संभव नहीं है ऐसेही अस्तित्व व नास्तित्व (होना न होना) नित्यत्व व अनि-त्यत्व एकत्व व अनेकत्वआदि विरुद्धधर्म एकधर्मी में होना असंभव है एकमें संभव न होनेसे जैनमत अयुक्त है और ईश्वरसे अनधिष्ठितपरमाणुओंको कारण मानते हैं इसका प्रतिषेध जैसा परमाणुकारणवादके प्रकरणमें कियागया है वैसाही यहां समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ॥ ३३ ॥

अनु०—ऐसेही आत्माका सम्पूर्ण न होना दोष होगा ॥ ३३ ॥

भाष्य–दोष होगा यह सूत्रमें शेष है जैसे एक धर्मी में विरुद्ध धर्म होन असंभव होनेका दोष कुछ होने व कुछ न होनेके बादमें कहागया है ऐसेही शरीर-परिमाण आत्मा माननेमें आत्माका सम्पूर्ण न होना दोष होगा आशय इसका आर्हतमत खण्डनका है आर्हतका यह मत है कि, शरीरमात्रमें रहनेसे आत्मा शरीरपरिमाण है अर्थात् जितना शरीर है उतनाही आत्माका परिमाण है शरीरसे अधिक होनेका प्रमाण नहीं होता क्योंकि शरीरही मात्रमें दुःखसुखको बोध करता है और सब शरीरमें न होवे तो सब शरीरमें हुये सुख दुःखको न जानसके और न सब शरीर व उसके अवयवोंको प्रवृत्त व निवृत्त करसके इसके प्रतिषेधमें आत्माका सम्पूर्ण न होना दोष कहनेका अभिप्राय यह है कि, शरीर-परिमाण माननेमें किसी विशेष शरीरके परिमाणसे मानना संभव नहीं होता क्योंकि जो मनुष्यशरीरके परिमाणसे मानाजावै तो मनुष्यशरीरमें स्थित आत्मा किसी कर्मविपाकसे हस्ती आदिके शरीरमें प्राप्त होनेमें सम्पूर्ण शरीरव्यापी न होगा और पिपीलिकाआदिके शरीरमें सम्पूर्ण प्रवेश न करसकेगा बाहर रह जायगा ऐसेही अन्य शरीरपरिमाण मानने उससे अधिक व न्यून शरीरोंकी प्राप्तिमें दोष होगा सम्पूर्णरूपसे आत्मा शरीरोंमें प्राप्त वा व्याप्त होना सिद्ध नहीं होगा एकही शरीरमें बाल युवा व वृद्ध होनेकी अवस्थाओंमें शरीर भेद होनेसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होनेका अभाव होगा जो यह कहाजाय कि, जीवके बहुत अवयव हैं छोटे शरीरमें वह अवयव संकुचित होजाते हैं बड़े शरीरमें फैल जाते हैं इससे आत्माके सम्पूर्ण प्राप्त न होनेका दोष न होगा तो भी युक्त नहीं होसक्ता अयुक्त होनेका हेतु आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ३३ ॥

न पर्य्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः॥ ३३ ॥

अनु०–विकार आदि होनेसे पर्य्यायसे भी अविरोध (विरोध रहित) नहीं होता ॥ ३५ ॥

भाष्य–पर्यायसे अर्थात् अवयवोंके संकोच व विकाससे (सिकडने व फैलने) से कभी छोटा व कभी बड़ा हो अवस्थान्तरको प्राप्त होने से छोटे व बड़े शरीर में सम्पूर्णरूपसे आजाना कहनेसे भी अविरोध नहीं होता अर्थात् आत्मा में विरोध होनेकी निवृत्ति नहीं होती क्यों विरोध निवृत्त नहीं होता विकारआदि होनेसे अर्थात् अवस्थान्तर होना घटना बढना आदि विकार अनित्य घट व चर्म आदि में होते हैं इससे विकार व विकारके सम्बंधी अनित्यताआदि दोष प्राप्त होनेसे आत्माका संकोच व विकास भी मानना युक्त नहीं है क्योंकि बढना घटना विकार माननेसे आत्माका चर्मआदिके समान सावयव व अनित्यहोना सिद्ध होता है अनित्य होनेमें बंध मोक्षका अभाव होगा बंधमोक्षका अभाव होनेमें

शरीरपरिमाण आत्माके माननेवाले जैनमतके आचार्य आर्हतही बंध मोक्षकोभी मानते हैं इससे उनहीके मतमें विरोध सिद्ध होगा विरोधरहित न होनेसे पर्य्यायसे भी आत्माका शरीर परिमाण मानना असङ्गत है ॥ ३३ ॥

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥३४॥

अनु०–अन्त्य (अन्तवाले) की अवस्थिति होनेसे भी दोनोंके नित्यहोनेसे विशेष नहीं है ॥ ३४ ॥

भाष्य–परिमाणशब्द सूत्रमें शेष है अन्त्य परिमाणकी अर्थात् मोक्षअवस्थामें जो प्राप्त परिमाण है जिससे देहधारणके अभावसे फिर अन्यशरीरपरिमाणके कल्पनाकी प्राप्ति नहीं है ऐसे अन्त्यपरिमाणकी स्थिति होनेसेभी दोनोंके अर्थात् पूर्वके आदि व मध्य अवस्थाके परिमाणोंके नित्य होनेसे दोनोंमें कुछ विशेष (भेद) नहीं है इससे शरीर परिमाण मानना अयुक्त है आशय यह है कि, जो कोई नित्य परिमाण न माननेमें आत्माका नाश होना सिद्ध होता है इससे अन्त्यपरिमाण नित्य माना जावे तो अन्त्यके नित्य होनेके समान पूर्वके आदि मध्यवाले भी दोनों जीवके परिमाण नित्य होंगे मोक्षके समान बंध अवस्थामें प्राप्त आदि मध्यवाले दोनों परिमाणोंके नित्य होनेसे किसीमें कुछ भेद नहीं है विशेष न होनेसे कोई एक परिमाण मानना युक्त है संकोच व विकाससे अन्य शरीर परिमाणको प्राप्त होना कहना असङ्गत है क्योंकि एकही परिमाणसे रहनेवाले पदार्थ का नित्य होना विदित होता है परिमाणान्तरको प्राप्त होनेवाला पदार्थ नित्य नहीं होता इससे अणु वा महान् दोमेंसे एक परिमाण जीवका अङ्गीकार करना चाहिये शरीर परिमाण होना मानने योग्य नहीं है इससे आर्हत मत असङ्गत है ग्रहणके योग्य नहीं है ॥ ३४ ॥

ईश्वरके उपादान कारणत्वके खण्डन करनेवाले व निमित्त कारण माननेवालोंके मतके प्रतिषेध में सूत्र ३५ से ३९ अधि० ७ ।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३५ ॥

अनु०–पतिका (ईश्वरका) निमित्तकारण होना संभव नहीं है असामञ्जस्यसे (समीचीन न होनेसे) अथवा पतिशब्दसे पशुपति नामका ग्रहण करनेसे सूत्रका अर्थ यह होता है पशुपतिका मत ग्राह्य नहीं है समीचीन न होनेसे ॥ ३५ ॥

भाष्य—इस सूत्रमें नहीं है शब्द निषेधके सम्बंध से और निमित्तकारण होना संभव, अथवा, मत, ग्राह्य, शब्द वाक्यके अर्थमें अभिप्रेत होनेसे ग्रहण किये गये हैं इस अधिकरणमें जितने सूत्र हैं सब ईश्वरके कारणमात्र होनेके निषेधमें घटित होसक्ते हैं इन सूत्रोंसे निमित्त कारणके खण्डनसे अधिक उपादान कारणके खण्डनमें योजित हो सक्ते हैं परन्तु पूर्व ही महात्मा सूत्रकारने उपनिषद् वाक्यों के आशयसे अपने सूत्रोंमें ब्रह्मको उपादान व निमित्त कारण दोनों होना प्रतिपादन किया है उक्त सूत्रोंके व्याख्यानअनुसार ब्रह्मका दोनों कारण होना संभव व श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध है उसके विरुद्ध यहां ब्रह्मके कारणमात्र होनेके खण्डनमें सूत्रोंका व्याख्यान करनेमें पूर्वापरविरुद्ध व अयुक्त होगा इससे यहां महाशय सूत्रकार निमित्तकारणवादी जो ब्रह्मके उपादान कारण होनेका चेतनका जड होना निरवयव निराकारका सावयव साकार होना आदि हेतुओंसे असंभव होना दोष आरोपण करिके प्रतिषेध करते हैं उनके मतको इस आशयसे कि, ब्रह्म कारणवाद केवल तर्कसे निर्णय करने योग्य नहीं है शब्दप्रमाणहीसे उपादान व निमित्त कारण मानने योग्य है जो तर्कसे निमित्त कारणका होना तुम सिद्ध व उपादान होनेको अयुक्त समझते हो तो उपादानका तर्कसे असंभव होना तो विदित होताही है परन्तु निमित्तका होना भी संभव नहीं होता खण्डन करते हैं पशुपतिआदि परमेश्वरको निमित्त कारण मानते हैं अर्थात् प्रकृति व पुरुषका अधिष्ठाता व प्रकृति उपादानसे जगत्का उत्पन्न करनेवाला मानते हैं उनके मतके खण्डन में यह कहा है कि, ईश्वरका निमित्त कारण होना संभव नहीं है समीचीन न होनेसे अथवा विशेषकरके पशुपतिही के मत खण्डनपर यह कहा है कि, पशुपतिका मत ग्राह्य वा आदरके योग्य नहीं है समीचीन न होनेसे, तात्पर्य यह है कि, उपनिषद्में दोनों कारण ब्रह्मको वर्णन किया है उपादान होनेका निषेध करनेसे श्रुतिविरुद्ध होनेसे, व विना राग द्वेष व मोहके प्रवृत्ति न होनेसे सृष्टिउत्पत्तिमें ब्रह्मकी प्रवृत्ति होनेमें ब्रह्म निष्काममें रागआदि दोष प्राप्त होनेसे लौकिक जनोंके समान सिद्ध होनेसे तर्कसे निमित्तकारण मानना समीचीन नहीं है ॥ ३५ ॥

सम्बंधानुपपत्तेश्च ॥ ३६ ॥

अनु०—सम्बंध सिद्ध न होनेसे भी ॥ ३६ ॥

भाष्य--जैसे राजा व उसके सेवकोंमें प्रत्येकके प्रयोजनविशेषसे स्वामी व सेवक सम्बंध होनेसे राजा अपने सेवकोंको कर्ममें प्रवृत्त करता है ऐसा ब्रह्म व प्रधान व पुरुषमें सम्बंध होना वा अन्य किसी प्रकारका सम्बंध सिद्ध नहीं होता अर्थात् अन्य संयोग वा समवायरूप सम्बंध भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रधान पुरुष व ब्रह्म तीनों निरवयव नित्य व सर्वगत(सर्वत्रव्यापक) होनेसे संयोग संभव

नहीं होता व आश्रय आश्रयीभाव न होनेसे समवायसम्बन्ध सिद्ध नहीं होता विना सम्बंध ब्रह्मको प्रधान का प्रेरक व निमित्त कारण होनेका कोई हेतु नहीं होसक्ता इससे सम्बंध सिद्ध न होनेसे भी समीचीन नहीं है ॥ ३६ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

अनु०—अधिष्ठानकी सिद्धि न होनेसे भी ॥ ३७ ॥

भाष्य—जैसे कुलालआदिके मृत्तिकाआदि अधिष्ठान होते हैं मृत्तिकाआदिको लेकर घटआदि कार्योंको उत्पन्न करते हैं ऐसा प्रधान ब्रह्मका अधिष्ठान होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि कुलालआदि शरीरवान्ही में अधिष्ठानशक्ति होना व प्रत्यक्ष सावयव मृत्तिका आदिका अधिष्ठान होना देख जाता है शरीर इन्द्रिय-रहित ब्रह्मका अप्रत्यक्षरूपआदिरहित प्रधान अधिष्ठान नहीं होसक्ता न अप्रत्यक्षरूप अवयवरहित प्रधान से अनेक आकार व रूपवान् जगत्की रचना कर सक्ता है इससे अधिष्ठानकी सिद्धि न होनेसे भी निमित्त कारण मानना युक्त नहीं है ॥ ३७ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ३८ ॥

अनु०—जो करणवान् माना जाय नहीं भोग आदिकोंसे ॥ ३८ ॥

भाष्य—जो यह मानाजाय कि, जैसे करण (इन्द्रिय) अर्थात् चक्षुइन्द्रिय-आदिके अप्रत्यक्ष रूपआदिहीन जीवके अधिष्ठान होते हैं और शरीर व रूप आदिरहित जीवात्मा इन्द्रिय व शरीरका अधिष्ठाता होता है ऐसेही जीवके करणके समान प्रधान ब्रह्मका अधिष्ठान होना सिद्ध होता है तो यह भी युक्त नहीं है क्यों नहीं है भोगआदिकों से अर्थात् इन्द्रिय व शरीरवान्को सुख दुःखका भोग होना देखा जाता है ऐसेही शरीर व इन्द्रियवान् होनेमें संसारी जीवोंके समान ब्रह्ममें भी सुख दुःख का भोग क्षुधा पिपासा व अन्य शरीरधर्म प्राप्त होंगे इससे अधिष्ठान होना संभव नहीं है ॥ ३८ ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ३९ ॥

अनु०—अन्तवत्त्व (अंतवान्होना अर्थात् नष्ट होना) अथवा असर्वज्ञता होगी ॥ ३९ ॥

भाष्य—ब्रह्मके इन्द्रिय व शरीर होनेमें जीवके समान ब्रह्मका अन्तवत्त्व (नाशहोना) और सर्वज्ञ न होना सिद्ध होगा क्योंकि शरीरधारी सब नाश-वान् व जितना इन्द्रियोंसे ज्ञान होसक्ता है उतनेहीके जाननेवाले अल्पज्ञ होते हैं

---

१ अधिष्ठाता जिसको आलम्बन करिके वा लेकर क्रियाको करै वा कार्य में प्रवृत्त हो वह अधिष्ठान है और अधिष्ठाताकी क्रियाको भी अधिष्ठान कहते हैं।

इससे निमित्तकारणमात्र होना भी तर्कसे सिद्ध न होनेसे श्रुतिविरुद्ध होनेसे निमित्तकारणवाद पशुपति आदिका समीचीन नहीं है पशुपतिका मत अन्यअंशमें श्रुतिविरुद्ध न होनेसे मन्तव्य है केवल निमित्तकारणमात्र मानना व उपादानका निषेध करना वेदान्तविरुद्ध होनेसे निराकृत कियागया है ॥ ३९ ॥

जीवकी उत्पत्ति माननेके मतके प्रतिषेध में सू० ४० से ४३ अधि० ८ ।

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४० ॥

अनु०—उत्पत्ति संभव न होनेसे ॥ ४० ॥

भाष्य—भागवत मतका शास्त्र जो पञ्चरात्रतंत्र है उसमें ऐसा वर्णन है कि, परम कारण ब्रह्म वासुदेव अपने आत्माके चार प्रकारसे विभाग करिके वासुदेव व्यूह, सङ्कर्षण व्यूह, प्रद्युम्न व्यूह व अनिरुद्धव्यूहरूपसे स्थित हुआ वासुदेव परब्रह्म कारण है अन्य उसके कार्य हैं जीवका सङ्कर्षण मनका प्रद्युम्न व अहङ्कारका अनिरुद्ध नाम है वासुदेवसे सङ्कर्षण (जीव) सङ्कर्षणसे प्रद्युम्न (मन) प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध (अहङ्कार) उत्पन्न होते हैं इसके निषेधमें यह कहा है उत्पत्ति संभव न होनेसे अर्थात् जीवकी उत्पत्ति संभव न होनेसे भागवत मत युक्त नहीं है वा असङ्गत है यह शब्द सूत्रमें शेष है अभिप्रायसे ग्राह्य है संभव न होना कहनेका यह आशय है कि, श्रुतिमें जीवको उत्पत्ति व नाशरहित वर्णन किया है यथा **न जायते म्रियते वा विपश्चित्** अर्थ—ज्ञानवान् आत्मा न उत्पन्न होता है न मरता है इससे जीवकी उत्पत्ति संभव नहीं है तथा यह अनुभवसिद्ध है कि, जो उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है जीवके अनित्य होनेमें साधन व धर्मका उपदेश व मोक्षकी प्राप्ति सब निष्फल होंगे श्रुति वा अनुमानसे सिद्ध न होनेसे वासुदेवसे जीवकी उत्पत्ति संभव न होनेसे भागवतमत असङ्गत है ॥ ४० ॥

न कर्तुः करणम् ॥ ४१ ॥

अनु०—कर्तासे करण नहीं होता (करण उत्पन्न नहीं होता) ॥ ४१ ॥

भाष्य—देवदत्तआदि कर्तासे कुठारआदि करण उत्पन्न नहीं होते भिन्नही होते हैं इससे मन जो अन्तर इन्द्रिय करण है वह कर्ता जीवसे उत्पन्न नहीं है ऐसा निश्चित है और श्रुतिमें इन्द्रियोंकाभी ब्रह्महीसे उत्पन्न होना वर्णन किया है यथा **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च** अर्थ—इस ब्रह्मसे प्राण, मन व सब इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं इससे जीवसे मनकी उत्पत्ति मानना युक्त नहीं है ॥ ४१ ॥

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४२ ॥

अनु०–अथवा विज्ञानादिभावमें (ब्रह्मविज्ञान आदिभावमें) उसका प्रतिषेध नहीं है ॥ ४२ ॥

भाष्य–विज्ञानसे ब्रह्मविज्ञान कहनेका अभिप्राय है क्योंकि प्रकरण व विज्ञान-शब्दके सम्बन्धसे विज्ञेय ब्रह्मका ग्रहण अभिप्रेत है (अभिप्रायसे अपेक्षित है) वाशब्द विकल्पअर्थवाचक भावान्तरसे पूर्वपक्ष त्यागकर अन्यपक्षस्थापनके लिये कहा है इससे वाशब्दका अर्थ अथवा रक्खागया है अब सूत्रवाक्यके अर्थ व आशयका व्याख्यान यह है कि, पंचरात्रतंत्रमें वासुदेवसे जीवकी उत्पत्ति व जीवसे मनकी उत्पत्ति जो श्रुति व न्यायसे विरुद्ध प्रतीत होती है वर्णन की गई है इससे उसका महात्मा सूत्रकार प्रतिषेध करिके आगे उक्त तंत्रमें चारों वासुदेवआदि नामसे वाच्य ब्रह्मके व्यूह ब्रह्महीरूप है ऐसा वर्णित है इसको श्रुतिके विरुद्ध न जानकर यह कहा है कि, अथवा ब्रह्म विज्ञान आदि भावमें अर्थात चारोंको ब्रह्महीरूप होना माननेमें उसका अर्थात् पंचरात्रतंत्रका प्रतिषेध नहीं है क्योंकि जो विशेष अधिकारी नहीं है उनको उपासनाकी सुगमताके लिये विशेष अधिकार प्राप्त होनेके उपायमें प्रथम ऐसा अन्यनाम व व्यक्तिमें ब्रह्मके नाम व स्वरूपका अध्यास करिके उपासना करना उपनिषद् वाक्योंमें भी कहा है यथा आकाश प्राण ज्योति आदित्य मन आदि नामसे ब्रह्म को कहकर दहर आकाश आदिको उपास्य कहा है जैसा कि, पूर्वसूत्रोंमें और उनके व्याख्यानमें उक्त श्रुतियोंसे सिद्ध है ब्रह्मविज्ञानके साथ आदि शब्द कहने का आशय ब्रह्मके समान ऐश्वर्यवान् अनन्त होना आदि भावना करनेका है अर्थात् सङ्कर्षणआदि ब्रह्मही है ऐसा ब्रह्मरूप जाननामात्र ब्रह्मविज्ञान है ब्रह्मके अन्य धर्म व्यापक परम ऐश्वर्यवान् अनन्तशक्तिमान् प्रकाशस्वरूप होने आदि का अध्यास करनेके लिये आदि शब्द कहा है अब अन्य हेतु पंचरात्र तंत्रके प्रतिषेध न होनेका आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ४२ ॥

विप्रतिषेधाच्च ॥ ४३ ॥

अनु०–विप्रतिषेधसे भी ॥ ४३ ॥

भाष्य–विप्रतिषेधसे भी अर्थात् पंचरात्रतंत्रमें जीवकी उत्पत्तिके विप्रतिषेधसे भी उसके प्रामाण्यका प्रतिषेध नहीं है अर्थात् जिस जीवकी उत्पत्ति होनेके हेतुसे उसका प्रतिषेध कहा गया है उस जीवकी उत्पत्ति का उसी तंत्रमें निषेध किया है और जीवको नित्य वर्णन किया है इससे जीवकी उत्पत्ति जो वर्णन किया है वह लोकमें दृष्ट जन्ममरण व्यवहारसे गौण वा लाक्षणिक वर्णन है मुख्य व सिद्धान्त नहीं है सिद्धान्तमें अनादि व अनन्तही वर्णन किया है

क्योंकि उक्त तंत्रमें ऐसा वर्णन है **अचेतना परार्था च नित्या सतत-विक्रिया। त्रिगुणा कर्मिणां क्षेत्रं प्रकृतेरूपमुच्यते। व्याप्तिरूपेण सम्बंधस्तस्याश्च पुरुषस्य च। स अनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः** अर्थ–(अचेतना) जड (परार्था) परके अर्थात् पुरुषके अर्थ कार्यरूप होनेवाली वा कार्य करनेवाली (नित्या) नित्य (सततविक्रिया) निरन्तर विकारधर्मवाली (त्रिगुणा) सत्व, रज, तम तीन गुणरूप स्थित (कर्मिणां क्षेत्रं) कर्म करनेवाले जीवोंकी क्षेत्र अर्थात् भोगस्थान है (प्रकृतेः रूपम् उच्यते) यह प्रकृतिका रूप कहाजाता है (तस्याः) उसका (च) और (पुरुषस्य) पुरुषका (व्याप्तिरूपेण सम्बंधः) व्याप्तिरूपसे सम्बंध है (सः) वह अर्थात् पुरुष (अनादिः अनन्तः) अनादि और अनन्त है (परमार्थेन निश्चितः) यह परमार्थसे अर्थात् सिद्धान्तसे निश्चय कियागया है इससे पुरुषका अर्थात् जीवका अनादि होना प्रतिपादन करने से जीवका उत्पन्न होना उक्त तंत्रका सिद्धान्त नहीं है प्रथम जो दो सूत्रोंमें खण्डन है वह सिद्धान्त नहीं है पूर्वपक्षमात्र है सिद्धान्त में प्रतिषेध नहीं किया जो यह शङ्का होवे कि, यह परपक्षके प्रतिषेधका प्रकरण है इससे प्रतिषेध करना सिद्धान्त होना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि, जो अपने से विरुद्ध पक्ष हो वह परपक्ष है जो विरुद्ध न हो वह परपक्ष नहीं है, विरुद्ध पक्षके खण्डनका प्रकरण होनेही से श्रुतिविरुद्ध जीवआदिकी उत्पत्ति वर्णन के अंशका प्रतिषेध करिके भावान्तर से श्रुतिसिद्धान्तके अनुकूल जानकर यथार्थ होना स्वीकार करिके स्थापन किया है पक्षपातरहित आप्त सत्पुरुषका व्यवहार यह नहीं होसक्ता कि किसीको उत्तम सत्य समझकर केवल पक्षपातसे असत्य होना प्रतिपादन करैं परीक्षकोंके लिये अपने निश्चित कियेहुये सिद्धान्तके तर्कसे निर्णय करनेमें प्रथम पूर्वपक्ष ग्रहण करना पडता है क्योंकि विना पक्ष प्रतिपक्ष स्थापन किये तर्कपूर्वक निर्णय नहीं होसक्ता इससे जिज्ञासुओं वा अल्पज्ञ जनोंके संदेहनिवृत्ति करनेके लिये प्रथम विरुद्ध अंशमें आक्षेप करिके सिद्धान्त यह विज्ञापन किया है कि, उक्त तंत्रका ऐसा सिद्धान्त नहीं है ब्रह्मविज्ञान आदिभावसे चार व्यूहोंके ब्रह्मरूप माननेमें दोष नहीं है इससे उक्त तंत्रका प्रतिषेध नहीं है श्रीशङ्कराचार्य स्वामीने जो **विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः** इस सूत्रका ऐसा अर्थ वर्णन किया है कि, जो सङ्कर्षण आदि ब्रह्मविज्ञानआदि भावसे ब्रह्मरूपही माने जावैं इससे उत्पत्ति असंभव होनेका दोष नहीं है यह कहाजावे तो ऐसा माननेपरभी उत्पत्ति असंभव होनेके दोषका प्रतिषेध नहीं है यह सूत्रके शब्दोंके अनुगुण नहीं है व सूत्रकारके अभि-प्रायसे विरुद्ध है क्योंकि जो महाशय सूत्रकारका ऐसा आशय होता तो सूत्रमें वाशब्दके स्थान अपिशब्दका प्रयोग करते अर्थात् **विज्ञानादिभावेऽपि**

सम्प्रतिषेधः ऐसा कहते जिससे स्पष्ट यह ज्ञात होता है कि, विज्ञानआदि भाव होनेमें भी उत्पत्ति असंभव होनेके दोषका प्रतिषेध नहीं है वाशब्द इसनेकी कुछ आवश्यकता नहीं अपिशब्दसे साधारण जैसा आशय श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजी अन्य शब्दोंको योजितकर खींचकर अपने अभीष्ट व्याख्यान में लिखते हैं, निश्चित होता और अन्य प्रकारके अर्थका ग्रहण न होसका परन्तु वा शब्दसे जैसा अर्थ ऊपर वर्णन किया गया है वैसाही सूत्रके शब्दोंसे ज्ञात होता है और यही आशय महात्मा सूत्रकारका होना निश्चित होता है और जो श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजीने **विप्रतिषेधाच्च** इस सूत्रके व्याख्यान में यह लिखा है कि, पंचरात्र तंत्रमें पर्वापर विरुद्ध कथनसे विप्रतिषेध होनेसे अर्थात् ज्ञान ऐश्वर्य शक्ति बल वीर्य तेज गुण रूपही यह सङ्कर्षण आदि भगवान् वासुदेवही हैं इस कथन में गुणही गुणी होना विरुद्ध कथनआदि होवेसे और वेदका विप्रतिषेध व निन्दा ऐसे कथन से कि, चारों वेदोंमें कल्याणको प्राप्त न होकर शाण्डिल्यने पंचरात्रतंत्र शास्त्रको पढा, सिद्ध होनेसे उक्त तंत्रमें ऐसा वर्णन असङ्गत है यह भी यथार्थ नहीं है क्योंकि गुण व गुणीको अभेद मानकर एकही होना श्रुतियों में भी वर्णित है यथा **विज्ञानमानन्दं ब्रह्म** अर्थ–विज्ञान व आनन्दस्वरूप ब्रह्म है इत्यादि, आदि शब्दसे जो यह ग्रहण किया जाय कि, प्रथम प्रद्युम्न व अनिरुद्धको भिन्न कहकर फिर यह आत्माही है यह विरुद्ध कथन है तो श्रुतिमें भी आकाश मन प्राण आदिको भिन्न और ब्रह्मका अध्यास करिके उपासना करनेके लिये अथवा सब ब्रह्मात्मक होनेसे अभेद भाव ग्रहण करिके आशयविशेषसे आकाश मन आदिको ब्रह्मही उपास्य कहा है यथा **कं ब्रह्म खं ब्रह्म मनो ब्रह्मेत्युपासीत** इत्यादि अर्थ–सुखरूप ब्रह्म है आकाश ब्रह्म है मन ब्रह्म है यह उपासना करे इत्यादि कथन भी विरुद्ध मानना चाहिये उक्त तंत्रमें मनहीको प्रद्युम्न कहा है और प्रद्युम्न आदि ब्रह्मही है ऐसा कहा है श्रुति में भी मनको ब्रह्म व उपास्य कहना सिद्ध होनेसे पंचरात्रतंत्रमें भी भावान्तर से भेद व अभेद कथन श्रुतिअनुसारही है चारों वेदों में श्रेयको न प्राप्त होकर पंचरात्र तंत्रको पढा इस कथन से वेदकी निन्दा नहीं सिद्ध होती विना उत्तम उपदेशक व विचारके अब भी चारों वेद व शास्त्रके पढनेमात्र से श्रेय नहीं प्राप्त होता यह कहने में उक्त तंत्र में वेद में कहेहुये गूढाशय सरलरीतिसे वर्णित होनेसे उसकी और उत्तम उपदेशके होनेसे उसके वक्ताकी प्रशंसा अवश्य है अभी जो कोई वेद व उक्त तंत्रको किसी प्रकारसे विना अच्छेप्रकार समझे पढजाय और बोध न होवे और कोई उसको वेदोक्त व तंत्रोक्त आशयको जिसप्रकारसे वह समझ सके उसप्रकारसे सरल व्याख्यान का कोई ग्रंथ लिखकर समझा देवे तो यह कहना कि, अमुक पुरुष वेद व पंचरात्र तंत्र पढनेमें ज्ञान लाभ न करके अमुक

ग्रंथको पढ़ा उससे उसको ज्ञान प्राप्त हुआ असत्य व अनुचित नहीं है परन्तु इससे उक्त वेद व तंत्रकी निन्दा सिद्ध नहीं होसक्ती वेदके पठनसे कुछ श्रेय नहीं है तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं होता ऐसे कथनसे निन्दा वा विरोध ग्रहण करना युक्त होसक्ता है अन्यथा कोई ऐकान्तिक हेतुविशेष न होनेसे निन्दा वा विरोध मानना युक्त नहीं है इससे जो अर्थ सूत्रोंका वर्णन कियागया है वही युक्त है॥ ४३॥

इति श्रीशारीरिकमीमांसाभाषाभाष्ये श्रीमत्प्रभुदयालुविरचिते
द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः पादः ३.

पूर्वपाद में तर्कसे अपने पक्षका स्थापन व पर पक्षका प्रतिषेध किया है और पूर्वापर विरोध होनेसे वेदविरुद्ध अन्य पक्षवादियोंके तंत्र व दर्शन ग्रंथोंमें दोष आरोपण करके उनको अयुक्त कहा है परन्तु उत्पत्तिविषयक श्रुतियोंमें वेदान्तमें भी परस्पर विरोध होना विदित होता है क्योंकि किसी श्रुतिमें आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन है किसीमें नहीं किसीमें वायुसे उत्पत्ति वर्णित है किसीमें तेजसे इत्यादि विरोध वेदान्त वाक्योंकाभी अयुक्त होना विदित होता है यह संशय निवृत्त करने व अपने पक्षके निर्दोष सिद्ध करनेके लिये जीवकी उत्पत्ति असंभव वर्णनके साथ आकाशआदि की उत्पत्तिप्रतिपादक श्रुतियोंके निर्णयके लिये इस पादमें आकाश आदिकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं उनमेंसे प्रथम आकाशकी उत्पत्ति विचारके आरंभमें यह सूत्र है।

आकाशकी उत्पत्ति निरूपणमें सू० १ से ९ तक अधि० १।

न वियदश्रुतेः॥ १ ॥

अनु०—आकाश नहीं श्रुति न होनेसे ॥ १ ॥

भाष्य—आकाश नहीं उत्पन्न होता किस प्रमाणसे श्रुति न होनेसे अर्थात् छान्दोग्य उपनिषद् में सृष्टिप्रकरणमें तेजही आदिकी उत्पत्तिका वर्णन है आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन नहीं है इससे आकाशका उत्पत्तिका श्रवण न होनेसे आकाश उत्पन्न नहीं होता यह सूत्रका अर्थ व आशय है उत्पन्न होता यह शब्द सूत्रमें शेष है छान्दोग्यमें सृष्टिप्रकरणमें प्रथम यह कहकर कि, सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ब्रह्म था ऐसा वर्णन किया है **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत** इत्यादि अर्थ—उसने ईक्षाकिया बहुत होऊँ उत्पन्न होऊँ उसने तेजको उत्पन्न किया इत्यादि परन्तु आकाशकी उत्पत्तिकी वर्णनः करनेवाली कोई श्रुति उक्त प्रकरणमें नहीं है इससे श्रुति न होनेसे वा उक्त प्रकरणमें उत्पत्तिका श्रवण न होनेसे आकाश उत्पन्न नहीं होता ॥ १ ॥

अस्ति तु ॥ २ ॥

अनु०—है तो ॥ २ ॥

भाष्य--यद्यपि छान्दोग्यमें सृष्टिप्रकरणमें आकाशकी उत्पत्तिकी श्रुति नहीं है तथापि ऐसा नहीं है कि, आकाशकी उत्पत्तिप्रतिपादक श्रुति न होवे श्रुति तो है अर्थात् तैत्तिरीयकमें **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ–सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म है ऐसा ब्रह्मके वर्णन के पश्चात् यह वर्णन है **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी इत्यादि** अर्थ–(तस्मात्) उसकारण सत्य आदिस्वरूप (वै एतस्मात् आत्मनः) इस आत्माही से अर्थात् जो सत्य ज्ञानस्वरूप वर्णन कियागया है उसी इस वर्णन किये जातेहुये आत्माही से (आकाशः संभूतः) आकाश उत्पन्न हुआ (आकाशात् वायुः) आकाश से वायु (वायोः अग्निः) वायु से अग्नि (अग्नेः आपः) अग्नि से जल और (अद्भ्यः पृथिवी) जलोंसे पृथिवी उत्पन्न हुई इत्यादि आकाशकी उत्पत्ति वर्णनमें यह श्रुति है अब इस शङ्काकी प्राप्ति है कि, छान्दोग्य में तेज जल पृथिवीमात्र तीनही दृश्य भूतोंकी उत्पत्तिको वर्णन किया है तैत्तिरीय में आकाशकी उत्पत्तिका भी वर्णन है दो विरुद्ध कथन में से क्या निश्चय करना चाहिये न्याय से आकाश निरवयव आत्माके समान व्यापक उत्पन्न होना संभव नहीं होता क्योंकि सावयवका उत्पन्न होना रूपान्तर को प्राप्त होना विदित होता है इससे आगे सूत्र में यह कहा है ॥ २ ॥

गौण्यसंभवाच्छब्दाच्च ॥ ३ ॥

अनु०—गौणी है असंभव होनेसे शब्दसे भी ॥ ३ ॥

भाष्य--आकाशकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाली श्रुति गौणी है अर्थात् सिद्धान्त से उत्पन्न होना वर्णन नहीं करती उत्पन्न हुयेके समान मानकर गौण अर्थ से उत्पत्ति वर्णन करनेवाली है क्यों गौणी है असंभव होनेसे अर्थात् उक्त प्रकार से युक्ति से और छान्दोग्य में प्रथम तेजकी उत्पत्ति कहने से आकाशकी उत्पत्ति संभव न होनेसे और शब्दप्रमाण से भी आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध न होनेसे क्योंकि श्रुति में कहा है **वायुश्चान्तरिक्षञ्चैतदमृतमिति** अर्थ–वायु और आकाश अमृत अर्थात् नाशरहित नित्य है जिसका नाश नहीं उसकी उत्पत्तिभी नहीं होसक्ती इससे श्रुतिका गौणी होना सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ४ ॥

अनु०—एकहीका होगा ब्रह्मशब्दके समान ॥ ४ ॥

भाष्य–इस शङ्काके समाधानके लिये कि, श्रुतिमें आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे तेज इत्यादि एकही उत्पन्न हुआ शब्द जो सबमें

कहा गया है आकाशमें उसका गौण होना व अन्यमें मुख्य होना कैसे संभव होता है यह कहा है कि, होय एकही का ब्रह्म शब्दके समान अर्थात् जैसे तैत्तिरीय उपनिषद्में भृगुवल्लीमें तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्म अर्थ-तपसे अर्थात् ज्ञानसाधनसे ब्रह्मको जानो क्योंकि तप अर्थात् ज्ञानस्वरूप ब्रह्म है तप शब्द का अर्थ यहां ज्ञान है इसी उपदेश अधिकार में वरुणने भृगुसे अन्न प्राण मन आनन्दरूप ब्रह्मको कहा है अर्थात् अन्नं ब्रह्म प्राणो ब्रह्म इत्यादि कहकर आनन्दो ब्रह्म कहा है इसमें एकही ब्रह्मशब्द अन्न आदिमें गौण व आनन्दमें मुख्य अर्थसे कहागया है ऐसेही एकही उत्पन्न हुये शब्दका आकाशमें जिसका उत्पन्न होना असंभव है गौण अर्थसे. व अन्य तेज आदिमें मुख्य अर्थसे प्रयोग होगा वा हो सका है इससे आकाशमें गौण प्रयोग मानना युक्त है अब इस उत्तर व युक्तिको सिद्धान्त अंगीकार न करिके सिद्धान्त वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् ॥ ५ ॥

अनु०—प्रतिज्ञाकी अहानि (हानि न होना) भेद न होनेसे ॥५॥

भाष्य—भेद न होनेसे अर्थात् अन्य तेजआदिके समान आकाशके भी कार्य होनेमें भेद न होनेसे प्रतिज्ञाकी अहानि है अर्थात् हानि नहीं है आशय यह है कि, तेजआदिके समान आकाशको कार्य कहनाही प्रतिज्ञाके अनुकूल है इसमें प्रतिज्ञाकी हानि नहीं है अन्यथा आकाशको कार्य न मानने अर्थात् ब्रह्मसे उत्पन्न ब्रह्मका कार्य न माननेमें छान्दोग्यमें जो यह प्रतिज्ञा है येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतंमतमविज्ञातंविज्ञातम् इत्यादि अर्थ—जिससे अर्थात् जिस ब्रह्मज्ञानसे अश्रुत श्रुत (न सुनाहुआ सुनाहुआ) अमत मत (न मानाहुआ मानाहुआ) अविज्ञात विज्ञात (न जानाहुआ जानाहुआ) होता है । तथा यह श्रुति है आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् अर्थ—अरे निश्चयसे आत्माके दृष्ट श्रुत मत व विज्ञात होनेमें अर्थात् तत्त्वज्ञानसे आत्माको प्रत्यक्ष करलेने सुनलेने मानलेने व जानलेनेमें यह सब जगत् विदित होता है अर्थात् सम्पूर्ण जगत्में जितने पदार्थ प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष हैं सब विदित होजाते हैं इस प्रतिज्ञाकी हानि होगी आशय यह है कि, जैसे मृत्तिका कारण से बनेहुये घट शरावआदि एकमृत्तिका के जाननेसे ज्ञात होजाते हैं कि, यह मृत्तिकामय मृत्तिकाके कार्य हैं सुवर्णकारणके कार्य कुण्डल केयूर आदि सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्ण द्रव्य होना विदित होते हैं ऐसेही ब्रह्मको कारण होने व सब आकाशआदि भूत और भौतिक पदार्थ ब्रह्मके कार्य होनेहीमें ब्रह्मके जाननेमें ज्ञात होसके हैं और प्रतिज्ञा सत्य होसकी है आकाश कार्यरूप

न होनेमें ब्रह्मज्ञान होनेमें भी कारणकार्यसम्बंध न होनेसे विज्ञात न होनेमें प्रतिज्ञाकी हानि होगी इससे श्रुतिप्रमाणसे तेजआदिके समान आकाश को भी कार्य मानना चाहिये छान्दोग्यमें भी सृष्टिप्रकरणमें आकाशकी उत्पत्ति न कहनेसे आकाशका कार्य होना असिद्ध नहीं होता छान्दोग्यहीमें सत् ब्रह्मके जाननेसे सब ज्ञात होना कहनेसे सब ब्रह्मका कार्य होना प्रतिपादित होना सिद्ध होने व तैत्तिरीयकमें स्पष्ट उत्पन्न होना कहनेसे आकाशकी उत्पत्ति मानना चाहिये ॥ ५ ॥

शब्देभ्यः ॥ ६ ॥

अनु०—शब्दोंसे ॥ ६ ॥

भाष्य--छान्दोग्यमें यह वर्णन है **सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्** अर्थ--हे सौम्य ! सृष्टिसे पूर्व यह विद्यमान जगत् सत्ही अर्थात् सत् शब्द वाच्य ब्रह्मही था ब्रह्मसे भिन्न कुछ न होनेसे एकही अद्वितीय था ऐसा शब्द से सृष्टिसे पूर्व एकही होनेका निश्चय होनेसे तथा **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्** अर्थ--इस ब्रह्मआत्माके यह सब है (यह सब जगत् है) इत्यादि शब्दोंसे भी छान्दोग्यमें आकाशकी उत्पत्ति होना भेदरहित सबके समान कार्य होना प्रतीत होता है और उसने तेजको उत्पन्न किया यह प्रथम तेजकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाली श्रुति आकाशकी उत्पत्तिको निवारण नहीं करती अर्थात् अन्य श्रुतिसे सिद्ध आकाशकी उत्पत्तिका इससे प्रतिषेध नहीं होता इससे उक्त तैत्तिरीयक श्रुतिसे और छान्दोग्यमें भी अन्य श्रुतियोंसे सिद्ध होनेसे आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध होती है अब जो यह कहा है कि, आकाशकी उत्पत्ति असंभव होनेसे आकाशकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाली श्रुति गौणी (गौणअर्थवाचक) है इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥

यावद्विकारन्तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

अनु०—और जितना विकार है उसका विभाग है लोकके समान अथवा जितना विकार है उतनाही विभाग लोकके समान ॥ ७ ॥

भाष्य--उसका विभाग ऐसा अर्थ करनेमें उसका यह शब्द आक्षेपसे ग्रहण किया जाता है और जितनाके साथ उतना कहनेका सम्बंध होनेसे विभाग है इसका उतनाही विभाग है ऐसा अर्थ ग्राह्य है अब प्रथम पूर्व अर्थके अनुसार सूत्रका व्याख्यान यह है कि, **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**[1] अर्थ--यह सब जगत् इस ब्रह्म

---

१ छान्दोग्यकी श्रुति है ।

कारणात्मक है अर्थात् इस सबमें अतिसूक्ष्म एकरस अन्तर्यामी परमात्मा सब में व्यापक सबका आत्मारूप है और सब उससे स्थूल अवस्थान्तरको प्राप्त कार्य व शरीररूप हैं इस श्रुतिमें जितना विकार (कार्य) रूप जगत् है सब ब्रह्मका कार्य है यह सिद्ध होनेसे सब जगत्के अन्तर्गत आकाशके भी कार्य होनेका वचन होनेसे उसका अर्थात् आकाशका ब्रह्मसे विभाग अर्थात् ब्रह्मसे उत्पत्ति उक्त (कथित) है कैसे उक्त है लोकके समान यह दृष्टान्त है, अर्थात् जैसे लोकमें कोई एक स्थानमें सब देवदत्तोंके पुत्रोंको देखकर उनमेंसे बहुतसे पुत्रोंकी उत्पत्ति कहकर यह कह देवे कि, यह सब देवदत्तके पुत्र हैं तो जिनकी उत्पत्तिको नहीं कहा उनकी उत्पत्ति सब देवदत्तके पुत्र हैं यह कहनेसे कहेके समान होजा-यगी अर्थात् जिनकी उत्पत्ति नहीं कहीगई वह भी देवदत्तसे उत्पन्न हुये समझे जायँगे ऐसेही सृष्टि वर्णन समयमें यद्यपि छान्दोग्यमें प्रथम तेजको उत्पन्न किया ऐसा वर्णन करिकै सृष्टिक्रमको वर्णन किया है आकाशकी उत्पत्ति नहीं कही परन्तु आगे यह सब ब्रह्मका कार्य है ऐसा कहा है इससे आकाशका ब्रह्म कारणसे उत्पन्न होना सिद्ध होता है आकाश ब्रह्म का कार्य है कार्य सिद्ध होने में वायु और आकाशका अमृत कहना बहुत दीर्घ कालतक स्थिर रहनेके अभिप्राय से देवताओंके अमर वा अमृत कहे जानेके समान है इससे आकाशकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाली श्रुति गौणी नहीं है द्विती-य प्रकारके अर्थका व्याख्यान यह है कि, जितना विकार वस्तु यथा घट शराव केयूर (वजुल्ला वा बाजूबंद) कंकण कुण्डल आदि हैं उतनाही विभाग लोकमें देखा जाता है अर्थात् जिन जिनमें एक दूसरेसे विभाग होना विदित होता है वह सब कार्य है पृथिवीआदि से पृथक् यह आकाश है ऐसा पृथिवीआदि से आकाशका विभाग विदित होता है इससे आकाश भी विकाररूप होना सिद्ध होता है अब जो यह शङ्का है कि, जो विकारी अर्थात् कार्यरूप द्रव्य होता है वह कारण अवस्था से कार्य अवस्था में विशेषताको प्राप्त होता है अर्थात् कार्य होने में भेद होता है क्योंकि अवस्थान्तरको प्राप्त होनाही विकार है आकाश के अवस्थाभेद होनेकी संभावना नहीं होसक्ती इससे उत्पत्ति संभव न होनेसे आकाशकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाली श्रुति गौणी कल्पना की जाती है इसका उत्तर यह है कि, सृष्टि से पहिले आकाशआदि कोई वस्तु परम कारण ब्रह्मसे भिन्न न होने व भेदके अभाव से भिन्न ज्ञेय व व्यवहारके योग्य न होनेसे जैसा अब जगत्के विद्यमान होनेके समयमें पृथिवी आदि से भेदको प्राप्त पृथिवी आदि से भिन्न यह आकाश है ऐसा शब्दगुणवान् व निकलने पैठने उठने आदि लक्षणसे ज्ञेय आकाशस्वरूप प्रत्यक्ष व अनुमानसे प्रतीत होता है ऐसा सृष्टिसे पूर्व नहीं था यही उसका विशेष होना व अवस्था-न्तरको प्राप्त होना है ऐसी विशेषता होनेसे आकाशका उत्पन्न होना व कार्य

होना श्रुतिमें वर्णित है अथवा सन्मात्र ब्रह्मसे भिन्न वाच्य न होनेकी अवस्थासे आकाशको व्यवहार व प्रतीत होनेके योग्य अवस्थामें ब्रह्महीके करनेसे आकाश ब्रह्मका कार्य है ब्रह्मको अवस्थान्तरमें प्राप्त करनेवाला कोई कारण न होनेसे वह किसीका कार्य नहीं है केवल आकाशही नहीं, सम्पूर्ण जगत्की अर्थात् सब भूत भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति सूक्ष्म अदृश्य कारण स्वरूपसे व्यवहार व प्रत्यक्ष आदिके विषय होने योग्य स्थूल अवस्थामें प्राप्त होना है क्योंकि **सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्** इस श्रुतिसे सम्पूर्ण विद्यमान जगत् सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ब्रह्मही था, सिद्ध है. अर्थात् अतिसूक्ष्म ब्रह्ममें लीन ब्रह्मसे भिन्न वाच्य न होनेसे एक ब्रह्मरूप कहनेयोग्य था वही स्थूलरूपमें अनेक रूप आकारसे प्रकट होनेसे अनेक नाम रूपसे वाच्य व प्रतीत होता है इससे सूक्ष्म स्थूल व आकार व दृश्य अदृश्य भेदसे द्रव्यका अवस्थान्तरमें प्राप्त होनाही उत्पन्न होना व नष्ट होना है तथा अवस्थान्तर को प्राप्त करना उत्पन्न करना व नष्ट करना है और अवस्थान्तर होना भावान्तर से उत्पत्ति व नाश है आकाश सावयव पदार्थ से रूप व आकार भेदको नहीं प्राप्त होता तथापि उक्त प्रकारसे अवस्थाभेदको प्राप्त होता है अर्थात् विद्यमान जगत् में प्रकाशमान द्रव्योंके प्रकाश व इन्द्रियोंके योग व अन्य विजातीय द्रव्योंके सम्बंधयुक्त होनेके विशेष से अन्य द्रव्यों से भिन्न प्रतीत होने व व्यवहारके योग्य होनेसे उत्पन्न व कार्यशब्दसे वाच्य है. जो यह शङ्का होवे कि, ब्रह्मको ऐसा वर्णन किया है **आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः** अर्थ—आकाशके समान सर्वव्यापक नित्य है इससे आकाश व ब्रह्मकी समता होनेसे आकाशको भी नित्य कारणरूप समझना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि, आकाश से अधिक अन्य कोई अधिक व्यापक होनेकी उपमा योग्य न होनेसे आकाशकी उपमा वर्णन किया है सिद्धान्त में ब्रह्म व्यापकता में आकाश से अधिक है यथा श्रुति में कहा है **ज्यायानाकाशात्** अर्थ—आकाश से अधिक है और **आकाशशरीरं ब्रह्म** अर्थ—आकाशशरीरवान् ब्रह्म है यह कहनेसे ब्रह्मकी अपेक्षा आकाशशरीरवत् ब्रह्म आत्मस्वरूप आकाशसे भी सूक्ष्म है यह सिद्ध होता है इससे ब्रह्म आकाशसे सूक्ष्मतर व अधिक सर्वव्यापक कारणरूप व आकाश उसका कार्यरूप है ॥ ७ ॥

अब आकाश व वायु अमृत है यह कहनेसे वायुका नित्य होना संभव है इससे आकाशके दृष्टान्तसे वायुकी उत्पत्ति आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं—

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

अनु०—इसीसे वायु व्याख्यात है ॥ ८ ॥

भाष्य—इसी हेतुसे अर्थात् आकाशकी उत्पत्तिके हेतुसे वायु भी व्याख्यात है अर्थात् आकाशकी उत्पत्ति के हेतुसे वायुकीभी उत्पत्ति श्रुतिमें कहे हुयेके अनुसार आकाशसे होना व्याख्यान समझना चाहिये ॥ ८ ॥

अब जिनको उत्पत्ति संभव नहीं होती ऐसे आकाश व वायुकी उत्पत्तिके समान ब्रह्मकी उत्पत्तिकी भी कल्पना हो सक्ती है इससे ब्रह्मकी उत्पत्तिका निषेध वर्णन करते हैं—

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

अनु०—सत्की उत्पत्तिका असंभव है सिद्ध न होनेसे (कारण सिद्ध न होनेसे) ॥ ९ ॥

भाष्य—उत्पत्तिशब्द व कारणशब्द सूत्रवाक्य अर्थ में अपेक्षित होनेसे सूत्रमें शेष हैं सत् ब्रह्मकी उत्पत्तिका असंभव है अर्थात् सत्की उत्पत्ति होना संभव नहीं है क्यों संभव नहीं है कारणकी सिद्धि न होनेसे अर्थात् विना कारणके कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती सब पदार्थोंका कारण तो ब्रह्म श्रुतिप्रमाण और अनुमानसे कोई सत् वस्तु समर्थ ज्ञानवान् कारण अवश्य अंगीकारयोग्य होनेसे सिद्ध होता है क्योंकि विना सत् कारणके कार्यका होनाही असंभव है सत् ब्रह्मका अन्य कारण शब्द व अनुमानसे किसी प्रकारसे सिद्ध नहीं होसक्ता क्योंकि सत्से सत्की उत्पत्ति कहना अयुक्त है सत्से अधिक कोई पर सामान्य नहीं है सब द्रव्य वा पदार्थ उसकी अपेक्षाविशेष है विशेषसे सामान्यकी उत्पत्ति नहीं होती कारण सामान्य व कार्य विशेषरूप होता है और असत् निरात्मकसे सत्का होना असंभव है विना मूल प्रकृतिरूप सत्कारणके अङ्गीकार किये एक एकका कारण होने मात्र की कल्पना करनेमें अनवस्थाकी प्राप्ति है उससे कुछ सिद्धान्त न होनेसे दोष रूप है और सत् मात्र कारणसे आगे अधिक बुद्धिसे किसी अन्य कारणकी कल्पनाभी नहीं होसक्ती और उक्त हेतुसे कारण का होना आवश्यक है इससे सत् परम कारण जिसका अन्य कारण नहीं है उसीको ब्रह्म कहते हैं इस प्रकार से युक्तिसेभी उसका कारण सिद्ध नहीं होता और श्रुतिप्रमाणसे तो कारणरहित परमकारण होना सिद्धही है यथा **स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः** अर्थ—वह सबका कारण है जीवात्मा का स्वामी है न उसका कोई उत्पन्न करनेवाला है न उसका कोई स्वामी है इससे किसी प्रमाणसे सत्ब्रह्मकी उत्पत्ति संभव नहीं है ॥ ९ ॥

उत्पत्ति असंभव होनेकी समान शङ्काके हेतुसे आकाशहीके दृष्टान्तसे वायु निरूपित होने व साधर्म्यहीके हेतुसे उत्पन्नशङ्कासे प्रसङ्गसे ब्रह्मकी उत्पत्तिका निरूपण होनेसे यहांतक आकाशका अधिकरण है ॥ ९ ॥

रूपवान् तेज व अन्य समान द्रव्योंकी उत्पत्ति वर्णनमें तेज-अधिकरण सू० १० से १७ अधि० २ ।

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

अनु०—तेज इससे जिससे वैसेही श्रुति कहती है ॥ १० ॥

भाष्य—तेजसे इससे अर्थात् इस पूर्व उक्त वायुसे उत्पन्न होता है जिससे कि, श्रुतिमें वैसेही वर्णन है कि, वायुसे अग्नि हुआ यथा **आकाशाद्वायुः वायोरग्निः** अर्थ-आकाशसे वायु वायुसे अग्नि अर्थात् तेज हुआ इत्यादि कोई आचार्य सबका कारण ब्रह्म होनेसे वायुरूप ब्रह्मसे तेज हुआ ऐसा अर्थ ग्रहण करते हैं ब्रह्म सबका कारण होनेसे कारणके कारण होनेसे कार्यके कार्यका भी कारण मानना युक्त है क्योंकि जो आदि कारण है वह सब कार्यों का कारण माना जासक्ता है ॥ १० ॥

आपः ॥ ११ ॥

अनु०—जल ॥ ११ ॥

भाष्य—जल इससे अर्थात् तेजसे क्योंकि वैसेही श्रुति कहती है ऐसेही श्रुति कहती है इन शब्दोंकी अनुवृत्ति पूर्वसूत्रसे आती है श्रुतिमें कहा है **अग्नेरापः** अग्निसे जल होते हैं इस श्रुतिके अनुसार अग्नि अर्थात् तेजसे जल उत्पन्न होते हैं ॥ ११ ॥

पृथिवी ॥ १२ ॥

अनु०—पृथिवी ॥ १२ ॥

भाष्य—पृथिवी अर्थात् पृथिवी इनसे जलोंसे जैसा श्रुति कहती है वैसेही श्रुति कहती है इसकी अनुवृत्ति चली आती है जलों से पृथिवी उत्पन्न होती है क्योंकि उक्त क्रम वर्णन करनेवाली श्रुतिमें यह कहा है **अद्भ्यः पृथिवी** अर्थ—जलोंसे पृथिवी अर्थात् जलोंसे पृथिवी हुई इत्यादि ॥ १२ ॥

अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १३ ॥

अनु०—अधिकाररूप अन्य शब्दोंसे ॥ १३ ॥

भाष्य—तैत्तिरीयकमें **अद्भ्यः पृथिवी** अर्थ—जलोंसे पृथिवी हुई ऐसा वर्णन है और छान्दोग्यमें सृष्टिप्रकरणमें ऐसा वर्णन है **ता आप ऐक्षन्त बह्व्यःस्याम प्रजायेमहि ता अन्नमसृजन्त** अर्थ—(ता आपः) उन जलोंने (ऐक्षन्त) ईक्षण किया (बह्व्यः स्याम) हम बहुत होवें प्रजायेमहि उत्पन्न होवें (ताः) उन्होंने (अन्न

असृजन्त) अन्नको उत्पन्न किया इस वाक्यमें यह संशय होता है कि, यहां जलोंने अन्न अर्थात् गेहूँ यव आदि धान्यको उत्पन्न किया क्योंकि अन्न शब्द धान्यवाचक प्रसिद्ध हैं और जलसे अन्न अर्थात धान्योंका उत्पन्न होना देखाभी जाता है अन्न शब्दसे पृथिवीका अर्थ कैसे ग्राह्य होसक्ता है पृथिवीका अर्थ न होनेमें तैत्तिरीयककी श्रुतिविरुद्ध कथन होता है इसके निर्णय के लिये यह कहा है अधिकार रूप व अन्य शब्दोंसे, आशय यह है कि. अन्नशब्दसे पृथिवीहीको कहा है किस प्रमाणसे पृथिवीका कहना सिद्ध होता है अधिकाररूप, व शब्दोंसे अर्थात् अधिकार आदि हेतुओंसे अधिकारसे पृथिवीको कहना सिद्ध होता है क्योंकि महाभूत आकाश आदिकोंकी उत्पत्तिका अधिकार है धान्यका नहीं है तथा तेजआदि भूतोंके रूप वर्णनमें पृथिवीका अन्नशब्दसे कहा है यथा **यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्येति** अर्थ-(अग्नेः) अग्निका (यत् रोहितं रूपं)जो लाल रूप है (तत् तेजसः रूपं) वह तेजका रूप है (यत्) जो (शुक्लं) शुक्ल है (तत् अपां) वह जलोंका है अर्थात् वह जलोंका रूप है (यत् कृष्णं) जो काला है (तत् अन्नस्य) इति वह अन्नका अर्थात् पृथिवीका रूप है यद्यपि पृथिवीके रूप (रंग) कई प्रकारके होते हैं तथापि कृष्णरूप अधिक होनेसे कृष्णरूप कहा है इस रूपवर्णनसे भी अन्नशब्द पृथिवी-वाचक सिद्ध होता है क्योंकि तेज जल सजातीय भूतोंके साथ पृथिवीही ग्राह्य है शब्दान्तर से अर्थात् अन्यश्रुति से जलसे पृथिवीकी उत्पत्ति कहनेसे यथा उक्त तैत्तिरीयककी श्रुतिमें जलोंसे पृथिवीका होना कहा है उससे समान भूतोंकी सृष्टि वर्णनमें होनेसे अन्नशब्द पृथिवी वाचक सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

अब यह संदेह प्राप्त होता है कि, छान्दोग्यमें जो तेजने ईक्षाकिया जलोंको उत्पन्न किया जलोंने ईक्षा किया पृथिवीको उत्पन्नकिया ऐसा जड जल आदिकोंका ईक्षा करना व सृष्टिकरना असंभव है इसमें यथार्थ क्या मानना चाहिये आकाश आदि भूत आपही अपने वायुआदि कार्योंको उत्पन्न करते हैं वा परमेश्वर उत्पन्न करता है इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं-

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १४ ॥

अनु०-उसके अभिध्यानसे (सृष्टिके संकल्प वा विचारसे) उसके लिंगसे (लक्षणसे) वह है ॥ १४ ॥

भाष्य-महत्तत्त्व कार्योंका. प्रत्येक कार्यमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे स्थित महत्तत्त्व आदि वस्तुशारीरक परमात्माही कारण है किस हेतुसे परमात्मा ही महत्तत्व से लेकर पृथिवीपर्य्यन्त कार्योंका महत्तत्त्व आदि आकार वा शरीर में आत्मारूप स्थित हो क्रमसे सबका आपही कारण है उसके अभिध्यानही से

अर्थात् कार्यरूप सृष्टिके सङ्कल्पहीसे परमात्माही सबका कारण होना सिद्ध होता है अर्थात् श्रुति में जो ऐसा वर्णन है **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय** अर्थ–उसने अर्थात् पूर्वोक्त सत् ब्रह्मने ईक्षा किया कि, मैं बहुत होऊं उत्पन्न होऊं ऐसे कार्यरूप बहुत होनेके सङ्कल्पही से यह सिद्ध होता है कि, ब्रह्मही सबका कारण है वही संकल्पपूर्वक सृष्टि उत्पन्न किया है और उसके लिङ्ग अर्थात् शब्द लिङ्गसे उसीका कारण होना सिद्ध होता है शब्दलिङ्ग से अर्थात् उसके सर्वात्मकत्व प्रतिपादक शब्द रूप लक्षण वा प्रमाण से यथा अन्तर्यामी ब्राह्मणमें ऐसा वर्णन है **यः पृथिव्यां तिष्ठन् योऽप्सु तिष्ठन् यस्तेजसि तिष्ठन् यो वायौ तिष्ठन् य आकाशे तिष्ठन् इत्यादि** अर्थ–जो पृथिवी में रहता हुआ विद्यमान है जो जलोंमें रहता हुआ विद्यमान है जो तेजमें रहता हुआ विद्यमान है जो वायु में रहता हुआ विद्यमान है जो आकाश में रहता हुआ विद्यमान है इत्यादि तथा सुबालोपनिषद्में ऐसा वर्णन है **यस्य पृथिवी शरीरम्** अर्थ–जिसका पृथिवी शरीर है इस प्रकारसे पृथिवी से अव्यक्त तक सबको ब्रह्मका शरीर होना व ब्रह्मको सबका आत्मा होना कहा है इससे तेजने ईक्षा किया जलोंको उत्पन्न किया जलोंने ईक्षा किया पृथिवी को उत्पन्न किया इत्यादि जो श्रुतिमें वर्णन है इससे तेजआदि जडको इच्छा करिके आपही अपने कार्यको उत्पन्न कर्ता न समझना चाहिये इसका तात्पर्य यह है कि, तेजको उत्पन्नकर तेजरूप शरीरमें आत्मारूपसे व्याप्त तेजशरीरक ब्रह्मने ईक्षा किया व जलोंको उत्पन्न किया जल जलशरीरक होनेसे जलस्वरूप ब्रह्मने ईक्षा किया पृथिवीको उत्पन्न किया इत्यादि ॥ १४ ॥

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १५ ॥

अनु०–इससे (कार्योंकी उत्पत्तिसे) विपरीतही प्रलयक्रम है इससे भी सिद्ध होता है ॥ १५ ॥

भाष्य--श्रुतिमें पृथिवीआदिकार्योंके प्रलयका क्रम उत्पत्तिक्रमसे विपरीत वर्णन किया है यथा पृथिवी जलमें लय होती है जल तेजमें लय होते हैं इत्यादि अव्यक्तपर्य्यन्त कार्योंका अपने अपने कारणोंमें क्रमसे लय वर्णन करिके अव्यक्तका परमकारण ब्रह्ममें लय होकर एकीभूत होना वर्णन किया है यह जो कार्योंके लयका उत्पत्तिसे विपर्यय (उलटा) क्रम है इससे भी ब्रह्म सबका कारण होना सिद्ध होता है यदि ब्रह्म सबका कारण न होता तो एक एक कार्य कारणोंमें क्रमसे लय होतेहुये सब ब्रह्ममें लयको प्राप्तहो एकीभूत न होते क्योंकि लोकमें कार्योंका उत्पत्तिक्रमसे विपरीत अपने कारणहीमें लयहोना देखाजाता है यथा बरफ वा वर्षाके पत्थर जलसे उत्पन्न कार्य होते हैं लय होनेमें कार्यरूप से फिर कारण वस्तु जलरूप होते हैं व जलमें लीन होते हैं ऐसेही कुण्डलआदि

अपने कारण सुवर्ण व घटआदि अपने कारण मृत्तिकाहीमें लीन होते हैं इस प्रकारसे चिदचित् वस्तु शरीरक ब्रह्महीं अपने शरीरसे सब भिन्न भिन्नरूप आकार शरीर भेदसे प्रकटहो कारण व कार्यरूप होता है इससे सब कार्य्योंका कारण व सब कारणोंका परम कारण ब्रह्महीं है ॥ १५ ॥

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १६ ॥

अनु०-क्रमसे मध्यमें विज्ञान (इन्द्रिय) व मन वर्णित है उसके लिङ्गसे (मध्यमें होनेके प्रमाण से) जो यह शङ्का हो नहीं विशेष होनेसे ॥ १६ ॥

भाष्य-विज्ञानके साधनरूप होनेसे यहाँ विज्ञानशब्दसे इन्द्रियोंको कहा है अथर्वमें उत्पत्तिप्रकरणमें ऐसा वर्णन है **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्य धारिणी** अर्थ-(एतस्मात्) इससे अर्थात् इस प्रकट ब्रह्मसे (प्राणः जायते) प्राण उत्पन्न होताहै (च) और (मनः) मन (सर्वेन्द्रियाणि) सब इन्द्रियां (खं) आकाश (वायुः) वायु (ज्योतिः) तेज (आपः) जल (विश्वस्य धारिणी) विश्वकी धारण करनेवाली पृथिवी यह सब उत्पन्न होते हैं इस श्रुतिमें वर्णन की हुई उत्पत्ति से जो यह शङ्का है कि, इस में प्राण व आकाशआदि भूतोंके मध्यमें मन व इन्द्रियोंकी उत्पत्ति का क्रमसे वर्णन है और पूर्व में कही श्रुति में आत्मा से आकाश हुआ ऐसा वर्णन है इस श्रुति में उक्त क्रमसे मध्य में मन व इन्द्रियां होनेके प्रमाण से पूर्व श्रुतिका क्रम भङ्ग होता तो इसका उत्तर यह है नहीं विशेष न होनेसे अर्थात् इस श्रुति में क्रमसे विशेष नहीं है सामान्यसे क्रमरहित प्राण आदिकोंकी उत्पत्तिमात्र परमात्मासे वर्णित है इससे यह श्रुति क्रमपर नहीं है पूर्वोक्त श्रुति क्रमविधायक है तथा प्रलयवर्णनमें श्रुतिमें वर्णन किया है **पृथिव्यप्सु प्रलीयते** अर्थ-पृथिवी जलमें लीन होती है यहांसे आरंभ करिकै क्रमसे कार्योंका कारणोंमें लय वर्णन करतेहुये ब्रह्ममें लयहोने व एकीभाव होनेपर्य्यन्त वर्णन किया है इससे भी क्रमभेद होना प्रतीत नहीं होता अन्य सृष्टिश्रुति व प्रलयश्रुतिसे समानक्रम निश्चित होनेसे इस श्रुतिका क्रमपर न होना सिद्ध होता है इससे अव्यक्तआदि शरीरवान् परब्रह्महीसे सब कार्योंकी उत्पत्ति होती है और तेजआदि नामोंसे सर्वात्मक होनेसे ब्रह्मही वर्णन कियागया है यह निश्चय करना चाहिये अब यह आक्षेप करिकै कि, सब शब्द ब्रह्मवाचक होनेमें जिन जिन शब्दोंसे भिन्न भिन्न उनसे वाच्य वस्तुओंका कथन होता है वह रुक जायगा और सब वस्तुओंका होना व प्रतीत होना मिथ्या होगा इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १६ ॥

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्त-स्तद्भावभावित्वात् ॥ १७ ॥

अनु०–शंका युक्त नहीं है चराचर जिसका व्यपाश्रय है अर्थात् आश्रय है ऐसा चराचरवस्तुमें आश्रित जो उनके नामोंका व्यपदेश है ब्रह्मका वह व्यपदेश (कथन) वा उन नामोंसे ब्रह्मका व्यपदेश भाक्त है उनके भावभावी होनेसे (उन चराचर कार्योंके स्वरूपमें होजानेसे) ॥ १७ ॥

भाष्य–तुशब्द जो सूत्रमें है वह शंकाकी व्यावृत्ति (निवारण) के लिये है भाषामें कोई एक शब्द उसके अर्थमें रखने योग्य ज्ञात न होनेसे शङ्का युक्त नहीं है इतना तुशब्दका अर्थ अनुवादमें रक्खा गया है सूत्रवाक्यका व्याख्यान यह है कि, शङ्का करना युक्त नहीं है पदार्थोंके भेद व उनके नामोंकि प्रयोगमें बाधा नहीं होसक्ती कार्यअवस्थामें अनेक पृथक् पृथक् चराचर जगत्के पदार्थ और उनके पृथक् पृथक् नामोंका व्यवहार सत्य व मुख्य है परन्तु ब्रह्महो अपने चिदचित् वस्तु शरीरसे अर्थात् प्रकृति व पुरुषरूप सामर्थ्य वा शरीरसे अनेक नाम व रूपसे कार्यरूप जगत् हुआ है इस भावसे अर्थात् जितना कार्य पदार्थ है ब्रह्मका उनके भाव (स्वरूप) भावी होनेसे अर्थात् ब्रह्मही उनके रूप से प्रकट होनेसे कार्य व कारणके अभेद होनेके भावसे कार्योंके नाम से कारणरूप ब्रह्मका व्यपदेश भाक्त है इससे ब्रह्मको तेजआदि रूपही मानकर तेज आदि नामोंसे ब्रह्मको वर्णन किया है सबका आत्मा अन्तर्यामी व प्रेरक होनेसे आकाश तेज आदि नाम से ब्रह्मका कहना वा उनके रूप से ब्रह्मको मानना युक्त है इस सूत्रका व्याख्यान ऐसा भी होसक्ता है कि, जन्म मरणआदिका व्यपदेश चराचर व्यपाश्रय स्थावर जङ्गम शरीरों में मुख्य है जीवात्मा में उसके शरीरभावभावी होनेसे (शरीर से भिन्न ज्ञात न होनेसे शरीरहीके समान माने व कहे जाने) से जन्म व मरणआदि जो हैं उनका व्यपदेश भाक्त है क्योंकि जीव नित्य जन्मआदि रहित है परन्तु यह अर्थ युक्त नहीं है क्योंकि इसके अगलेही सूत्रमें आत्माके उत्पन्न न होने व नित्य होनेका वर्णन है इससे पुनरुक्त व पिष्टपेषण दोष होगा ॥ १७ ॥

आत्माकी उत्पत्तिके निषेधमें सू० १८ अधि० ३ ।

नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १८ ॥

अनु०–आत्मा उत्पन्न नहीं होता श्रुतिसे (श्रुतिप्रमाण होनेसे) उसने (श्रुतियोंसे) नित्य होनेसे भी ॥ १८ ॥

---

१ कोई नात्माश्रुतेः इसके अर्थमें श्रुतिशब्दके पूर्व अकार निकालकर अश्रुतः ऐसा पदच्छेद-

भाष्य-आकाशआदिकी उत्पत्ति ब्रह्मसे वर्णन कीगई है सब आकाश आदिकोंकी उत्पत्ति सुननेसे यह संशय होता है कि, जीवकी भी उत्पत्ति होती है वा नहीं क्योंकि एक विज्ञान सबका विज्ञानसे होता है ऐसी श्रुतिमें प्रतिज्ञा है जैसा पूर्वही वर्णन कियागया है और सृष्टिसे पूर्व एकही होना श्रुतिसे निश्चित होनेसे और आकाशआदिके समान जीवकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाली भी श्रुतियाँ हैं इससे जीवका उत्पन्न होना ज्ञात होता है जीवकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाली श्रुतियां यह हैं **तोयेन जीवान् विससर्ज भूम्याम्** अर्थ-(भूम्याम्) पृथिवीमें (जीवान्) जीवोंको (तोयेन) जलसे (विससर्ज) उत्पन्न किया **प्रजापतिः प्रजा असृजत्** अर्थ-प्रजापति ब्रह्माने प्रजाओंको अर्थात् जीवोंको उत्पन्न किया **सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाःप्रजाः सदायतनाःसत्प्रतिष्ठाः** अर्थ- हे सौम्य!(इमाः सर्वाः प्रजाः)यह सब स्थावर जङ्गमरूप प्रजा अर्थात् उत्पन्न प्राणी (सदायतनाः) सत् ब्रह्मही जिनका स्थान है (सत्प्रतिष्ठाः) सत् ब्रह्मही जिनका आधार है ऐसे हैं **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** अर्थ-जिससे यह प्राणी (जीव) उत्पन्न होते हैं और यह कहनाभी युक्त नहीं है कि,**तत्त्वमसि** अर्थ-वह तू है इत्यादि श्रुतियोंसे जीवका ब्रह्मही होना विदित होने व ब्रह्मके नित्य होनेसे जीवकाभी नित्य होना सिद्ध होता है क्योंकि, ऐसा ब्रह्म माननेमें सब जगत्‌ही ब्रह्म होना सिद्ध होता है जीवहीमात्रमें विशेषता नहीं है क्योंकि श्रुतियोंमें ऐसा वर्णन है **ऐतदात्म्यमिदं सर्वं सर्वं खल्विदं ब्रह्म** इत्यादि अर्थ-इस ब्रह्मात्मक यह सब है निश्चयसे यह सब ब्रह्म है इत्यादि श्रुतियोंसे आकाशआदिका भी ब्रह्मत्व सिद्ध होनेसे आकाश पृथिवीआदि सबका नित्य होना सिद्ध होगा इससे जीव भी आकाश आदिके समान उत्पन्न होता है इस संशय निवारण करनेके लिये यह कहा है कि, आत्मा उत्पन्न नहीं होता उत्पत्ति वर्णन का सम्बंध पूर्वसे चला आता है इससे सम्बंध से उत्पन्न होने शब्दका ग्रहण होता है किस प्रमाण से उत्पन्न नहीं होता श्रुति[1] से अर्थात् श्रुति में आत्माकी उत्पत्तिका प्रतिषेध है इससे उनसे (श्रुतियोंसे) नित्य होनेसे भी अर्थात् जो श्रुतियां आत्माके जन्मका निषेध करती हैं वह और अन्य जो आत्माको नित्य होना वर्णन करती हैं उन श्रुतियोंसे आत्माका नित्य होना भी सिद्ध होता है जन्मका प्रतिषेध व नित्य होना श्रुतियोंसे सिद्ध होनेसे आत्मा उत्पन्न नहीं होता यह सिद्ध होता है

-करके ऐसा अर्थ कहते हैं कि, आत्मा उत्पन्न नहीं होता श्रुति न होनेसे परन्तु 'तोयेन जीवान् विससर्ज', 'प्रजापतिः प्रजा असृजत्' इत्यादि श्रुतियां जीवकी उत्पत्तिविधायक होनेमें श्रुति न होनेसे ऐसा कहना अयुक्त है यद्यपि निर्णयसे जीवका उत्पन्न होना आकाशआदिके समान सिद्ध न हो परन्तु श्रुति होनेसे असंगत है ।

१ यहां श्रुतिसे यह शब्द यद्यपि एक वचन है तथापि जातिवाचक मानके एक वा अनेक श्रुतियां ग्राह्य हैं क्योंकि उत्पत्तिकी निषेध करनेवाली श्रुतियां एकसे अधिक हैं ।

जन्मका निषेधप्रतिपादक व नित्यत्व प्रतिपादक श्रुतियां यह हैं यथा **न जायते म्रियते वा विपश्चित्** अर्थ-विपश्चित् अर्थात् बुद्धिमान् वा ज्ञानवान् यह आत्मा (जीव) न उत्पन्न होता है न मरता है **ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ** इत्यादि अर्थ-(द्वौ अजौ) दो अज अर्थात् दोजन्मरहित परमात्मा व जीवात्मा हैं वह कैसे हैं (ज्ञाज्ञौ) ज्ञानवान् व अज्ञान हैं अर्थात् परमात्मा ज्ञानवान् व जीव मोहवश अज्ञान है (ईशानीशौ) ईश व अनीश है परमात्मा ईश अर्थात् ऐश्वर्यवान् समर्थ है जीव अनीश अर्थात् असमर्थ है **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः** इत्यादि अर्थ-(अयं) यह आत्मा (अजः) जन्मरहित नित्य (शाश्वतः) सदा विद्यमान व पुराण है इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे जीव उत्पन्न नहीं होता जो जीवका उत्पन्न होना न माना जायगा तो एकके विज्ञानसे सबके विज्ञान होनेकी जो श्रुतिमें प्रतिज्ञा है वह सिद्ध न होगी क्योंकि विना कारण व कार्य सम्बंधके एक ब्रह्मके ज्ञानसे जीवका ज्ञान न होगा और जीवको कार्य माननेमें आकाशआदिके समान जीवकी भी उत्पत्ति अङ्गीकृत होजायगी इस आक्षेपका समाधान यह है कि, जीवका कार्यत्व सिद्ध होनेपर भी जीवकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती किसी द्रव्यका एक अवस्थासे अन्य अवस्थामें प्राप्त होनेको कार्य होना कहते हैं सो जीवमें भी अवस्थाभेद होता है इससे जीवका कार्य होना सिद्ध होता है जन्ममृत्युरहित होनेसे जीव उत्पन्न नहीं होता परन्तु भेद यह है कि, जैसे जडभूतोंका अन्यथाभाव होता है ऐसा जीवका नहीं होता जीवके ज्ञानका संकोच व विकाश होनाही रूप अन्यथाभाव (अवस्थाभेद) होता है आकाशआदि भूत व भौतिक कार्योंके स्वरूपका अन्यथाभाव होता है यह जो स्वरूपसे अन्यथाभाव होना रूप उत्पत्ति है जीवमें उसके होनेका निषेध किया है भोग्य, भोक्ता व नियन्ता इन तीन भिन्न स्वभाववालोंको कहकर भोग्य वस्तुमें प्राप्त जो उत्पत्ति आदिक हैं उन का भोक्ता में होनेका प्रतिषेध करिकै व भोक्ताकी नित्यताको प्रतिपादन करिकै और भोग्य में प्राप्त उत्पत्ति आदिको व भोक्तामें प्राप्त अपुरुषार्थोंका होनेको नियन्ता (नियमकर्ता परमात्मा) में प्रतिषेध करके नियन्ताका नित्य होना निर्दोष होना सर्वज्ञ होना सत्यसङ्कल्प होना जीवोंका अधिपति होना विश्वका स्वामी होना प्रतिपादन करिकै सब अवस्थाओंको प्राप्त चिदचिद् वस्तु उसका शरीर है और वह सबका आत्मा है यह प्रतिपादन किया है इससे सदा चिदचिद् (जड व चेतन) वस्तु जिसका शरीर है ऐसा ब्रह्म कभी अपनेसे भिन्न नहीं वचनसे कहने योग्य नहीं अतिसूक्ष्म दशाको प्राप्त चिदचिद् वस्तु शरीर युक्त स्थित होता है वह कारणावस्थ (कारण अवस्थाको प्राप्त) ब्रह्म और कभी विभागको प्राप्त नाम रूप स्थूल चिदचिद् वस्तु शरीरवान् होता है तब कार्य्यावस्थ ब्रह्म कहाजाता है कारणावस्थ ब्रह्मकी जब कार्य्यअवस्था प्राप्त होती है तब कारण अवस्थामें शब्दआदिरहित (नामरूपआदिरहित) जो अचित्

अंश (जडअंश) रहता है भोग्य होनेके लिये शब्दआदिसहित होनेसे उसके स्वरूप का अन्यथाभाव (अन्य प्रकारका होना) रूप विकार होता है और कर्मफलविशेषका भोक्ता होनेके लिये कर्मअनुरूप ज्ञान संकोच व विकास (ज्ञानका न्यून व अधिक होना) रूप चिदंश जो जीव है उसका विकार होता है शरीररूप चित् व अचित्के दोनों प्रकारोंके विकारोंसे विशिष्ट नियन्ता अंशमें दोनों प्रकारकी विशिष्टता रूप विकार होता है यही प्रकार ब्रह्मका कारण अवस्थासे कार्य अवस्था प्राप्तिरूप विकार है इस प्रकारसे चिद्-चित् वस्तुशरीरक ब्रह्म कार्यरूप जगत् होता है इसीसे एकहीके अवस्थान्तर प्राप्त होनेरूप विकार होनेकी अपेक्षासे **येनाश्रुतं श्रुतं इत्यादि** अर्थ--जिससे अश्रुत श्रुत होता है **एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम्** अर्थ—एक विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है ऐसी प्रतिज्ञा करके मृत्तिकाआदिका दृष्टान्त दिया है **यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्** इत्यादि अर्थ—हे सोम्य! जैसे एक मृत्तिकाके पिण्ड जाननेसे सब मृत्तिकासे बनेहुये पदार्थोंका ज्ञान होता है इत्यादि इसप्रकारसे ज्ञानका संकोच व विकास जिनमें होता है ऐसे जो जो शरीर जीव धारण करता है उस उस शरीरके साथ सम्बंध व वियोग होनेके अभिप्रायसे **प्रजापतिः प्रजा असृजत** अर्थ-प्रजापतिने प्रजाओंको उत्पन्न किया इत्यादि श्रुतियोंमें जीवके जन्म व मरणका वर्णन है अर्थात् उपचारसे जन्म व मरणका वर्णन है और जन्म मरणका प्रतिषेध वर्णन करनेवाली श्रुतियां मुख्य अर्थसे निर्विकार शुद्ध शरीर सम्बंधरहित जीवको जन्ममरणरहित व नित्य वर्णन करती हैं और जो यह श्रुतियां हैं **स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतो ब्रह्म नित्यो नित्यानाम्** इत्यादि अर्थ--सो यह आत्मा महान् (श्रेष्ठ व व्यापक) अज (जन्मरहित) अजर अमर अमृत (मुक्त आनन्दरूप) ब्रह्म है नित्योंका नित्य है अर्थात् अन्य नित्य जीवोंमें किसी हेतु व अपेक्षासे जन्म व मरणका भी व्यवहार होता है उसमें कभी किसी प्रकारसे नहीं होता इससे सब नित्योंसे सदा एकरस नित्य व श्रेष्ठ है यह परब्रह्म प्रतिपादनपर है सृष्टिसे पूर्व नाम व रूपका विभाग न होनेसे सदा ऐसे चिदचित् वस्तुविशिष्ट ब्रह्मका एक होना सिद्ध होता है नाम व रूपके विभागके भाव और अभावहीसे अनेक होना व एक होना श्रुतिमें वर्णन कियागया है यथा यह श्रुति है **तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते इति** अर्थ--(तद् ह इदं) वह यह जगत् (तर्हि अव्याकृतम् आसीत्) तो सृष्टिसे पूर्वकालमें रूप आकाररहित अप्रकट था (तद्) वह (नामरूपाभ्याम्) नाम व रूपसे (व्याक्रियते) प्रकट किया जाता है । और जो अविद्या उपाधिक जीव होना कहते हैं और जो पारमार्थिक उपाधिकृत कहते हैं और जो ऐसा कहते हैं कि, सन्मात्रस्वरूप ब्रह्म आपही भोक्ता भोग्य व नियन्ता रूपसे तीन प्रकारसे अवस्थित होता है यह सब

अविद्याशक्ति उपाधिशक्ति और भोक्ता भोग्य व नियन्ता शक्तियोंके प्रलय कालमें रहनेपर भी उस समय में नाम व रूपके विभागके अभावही से एक होना प्रतिपादन करते हैं और **वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वा त्** इस अध्यायके प्रथम पादक इन दो सूत्रोंसे भी जीवके भेदका और जीवके कर्मोंके प्रवाहका अनादि होना महर्षिसूत्रकारने अङ्गीकार किया है यह सिद्ध होता है उक्त तीन मतवालों में यह विशेष है कि, एक यह कहते हैं कि, अनादि अविद्यासे ब्रह्म आपही मोहित होता है दूसरे यह कहते हैं कि, पारमार्थिक अनादि उपाधि से ब्रह्म आपही बँध जाता है उपाधि व ब्रह्मसे भिन्न अन्य वस्तु न होनेसे ब्रह्मही उपाधिके विचित्र आकारसे परिणाम-को प्राप्त होता है और अनिष्ट कर्मफलोंको भोगता है नियन्ता अंशके भोक्ता न होनेमें भी अर्थात् नियन्ताके स्वाभाविक भोक्ता न होने में भी सर्वज्ञ होनेसे भोक्ताको अपने से अभिन्न अर्थात् भिन्न नहीं है यह अनुसन्धान करता है व आपही भोग करता है हमारे मतमें स्थूल व सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त चिदचित् वस्तु शरीरवान् ब्रह्म कार्य व कारण दोनों अवस्था में अवस्थित होनेपर भी सम्पूर्ण दोषोंसे रहित सत्यसङ्कल्प होना आदि अपरिमित उत्तम गुणोंका सागर अपने शुद्ध स्वरूपसे स्थित रहता है अपुरुषार्थ और स्वरूपोंके अन्यथाभाव यह सब प्रकाररूप चिदचित् वस्तु में प्राप्त होते हैं ब्रह्ममें नहीं होते इससे यह मत समीचीन है आत्मनित्यत्वनिरूपणमधिकरणं समाप्तम् ॥ १८ ॥

आत्माके स्वरूपनिरूपण में सू० १९ से ३२ तक अधि० ४ ।

ज्ञोऽत एव ॥ १९ ॥

अनु०–ज्ञाता है ईसीसे ॥ १९ ॥

भाष्य–आत्मा ज्ञाता है आत्मा शब्दकी अनुवृत्ति पूर्व सूत्रसे होती है किस प्रमाणसे ज्ञाता है इसीसे अर्थात् इसी श्रुतिप्रमाणसे जिससे आत्मा का उत्पत्तिरहित होना वर्णन कियागया है यह सूत्रका अर्थ है, अब इसका व्याख्यान यह है कि, जीवात्माके विषय में कई प्रकारके मत आचार्य्योंके हैं इस से इस संशयकी प्राप्ति है कि, जैसा सुगत व कपिल आचार्य का मत है आत्मा ज्ञानमात्र है अथवा जैसा कणादका मत है जडस्वरूप आगन्तुक चैतन्य गुणवाला है अर्थात् मनके योगसे ज्ञान आत्मा में होता है स्वयं चेतन नहीं है अथवा ज्ञाता होना आत्माका स्वरूप है प्रथम ज्ञानमात्रही

१ पूर्वसूत्रमें श्रुतिप्रमाण से यह हेतु वर्णन किया है उसीकी अनुवृत्ति इस सूत्रमें इसीसे यह कहनेसे ग्रहण की जाती है इससे श्रुतिसे यह अर्थ पूर्वसूत्रमें ग्रहण करना युक्त है अश्रुतेः ऐसा पदच्छेद करके श्रुति न होनेसे ऐसा अर्थ करना युक्त नहीं है क्योंकि ऐसे अर्थ से अनुवृत्ति नहीं होसक्ती न सम्बंध घटित होसक्ता है ।

मानना युक्त है यह विदित होता है क्यों ज्ञानमात्र है श्रुति व स्मृतिप्रमाण से श्रुति यह है **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च** अर्थ- विज्ञान यज्ञको करता है और कर्मों को विस्तार करता अर्थात् अनेक प्रकारके यज्ञों व कर्मोंको करता है स्मृतिवाक्य यह है **ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः** अर्थ-यह आत्मा ज्ञानस्वरूप व परमार्थ से अर्थात् सिद्धान्त से अत्यन्त निर्मल है इत्यादि वाक्यों में आत्माका ज्ञानस्वरूप होना प्रतीत होता है कणाद आत्माको ज्ञानस्वरूप नहीं मानते आगन्तुक चैतन्य (जिसमें आनेवाला वा प्राप्त होनेवाला ज्ञान होने का गुण वा धर्म है) मानते हैं क्योंकि आत्मा सर्वत्र व्यापक है उसके स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप होने वा ज्ञाता होनेमें उसको व्यापक होनेसे सदा सब स्थानमें ज्ञान होना चाहिये इन्द्रियोंकी आवश्यकता न होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता सुषुप्ति व मूर्च्छा आदिमें आत्माके रहनेमेंभी ज्ञानका होना विदित नहीं होता जागरित अवस्थामें मन, इन्द्रिय व विषयोंके संयोगहीमें ज्ञानकी उत्पत्ति देखी जाती है आत्माका व्यापक होना इस हेतुसे कहते हैं कि, आत्माका कार्य सर्वत्र होता है जो आत्मा व्यापक न हो तो दूरदेशमें प्राप्त वा स्थित पदार्थ चंद्र सूर्य्य आदि का ज्ञान इन्द्रिय व शरीरके जानेका प्रमाण न होनेसे न होना चाहिये स्वाभाविक ज्ञान न होना सुषुप्ति आदिमें निश्चित होता है ऐसे संशय निवारण करने के लिये यह सिद्धान्त वर्णन किया है कि. आत्मा ज्ञाता है अर्थात् आत्मा न ज्ञानमात्र है न जड़ है ज्ञाता है श्रुतिप्रमाणसे यथा छान्दोग्यमें प्रजापतिके वाक्यमें मुक्त व अमुक्तोंके स्वरूप कहनेमें ऐसा वर्णन है **यो वेदेदं जिघ्राणि स आत्मा मनसैवैतान्कामान्पश्यन् रमते ब्रह्मलोके** अर्थ-(यः वेद) जो जानता है कि, (इदं जिघ्राणि) मैं इसको सूंघता हूँ (सः आत्मा) वह आत्मा है। (मनसा एव) मनहीसे (एतान् कामान्) इन कामोंको (पश्यन्) देखतेहुये (ब्रह्मलोके) ब्रह्मलोकमें (रमते) रमता है अर्थात् आत्मा ब्रह्मलोकमें रमता है इत्यादि तथा **विज्ञातारमरे केन विजानीज्जानात्येवायं पुरुषः** अर्थ--अरे (विज्ञातारं) विज्ञाताको अर्थात् जाननेवालेको (केन) किस करण वा द्वारा (विजानीयात्) जाने (अयं पुरुषः एव) यह पुरुष ही (जानाति) जानता है तथा **एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः** अर्थ--(एष हि) यही (विज्ञानात्मा पुरुषः) विज्ञानात्मा पुरुष (द्रष्टा) देखनेवाला (श्रोता) सुननेवाला (घ्राता) सूंघनेवाला (रसयिता) स्वाद लेनेवाला (मन्ता) माननेवाला (बोद्धा) जाननेवाला (कर्ता) करनेवाला है जो यह कहा है कि, आत्माके स्वाभाविक ज्ञाता होनेमें उसके व्यापक होनेसे उसको सर्वदा सर्वत्र ज्ञान होना चाहिये इसका समाधान आगे वर्णन करते हैं॥ १९ ॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ २० ॥

अनु०-उत्क्रान्ति (शरीरसे निकलना वा शरीरका त्याग) गति व आगतियोंकी (जाने व आनेकी) श्रुतिसे आत्मा अणु है ॥ २० ॥

भाष्य-श्रुतिसे इस शब्दकी पूर्वसे अनुवृत्ति होती है आत्मा अणु है यह शब्द सूत्रमें शेष है सम्बंधसे व आशयसे ग्रहण कियेजाते हैं आत्मा व्यापक नहीं है आत्माके शरीर त्यागने लोकान्तरमें जाने व आनेकी प्रतिपादक श्रुतियोंसे आत्मा अणु है यह सिद्ध होता है क्योंकि सर्वव्यापक का जाना निकलना संभव नहीं है निकलनेके विषयमें यह श्रुति है **स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति स हैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति** अर्थ-(सः आत्मा) वह आत्मा (यदा) जब (अस्मात् शरीरात्) इस शरीरसे (उत्क्रामति) निकलता है तब (एतैः सर्वैः सह एव) इन सब सहितही अर्थात् इन सब इन्द्रियोंसहितही (उत्क्रामति) निकलता है तथा **चक्षुषो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः** अर्थ-(चक्षुषः) नेत्रसे वा (मूर्ध्नः) शिरसे वा (अन्येभ्यः शरीरदेशेभ्यः) अन्य शरीरके देशोंसे आत्मा निकलता है गतिप्रतिपादक श्रुति यह है **ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति** अर्थ -(ये वा एके) जो एके (तस्मात् लोकात्) इस लोकसे (प्रयन्ति) जाते हैं (ते सर्वे) वे सब (चंद्रमसम् एव) चन्द्रमाहीको अर्थात् चन्द्रमा लोकहीको (गच्छन्ति) जाते हैं आगतिमें यह श्रुति है **तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे** अर्थ -(तस्मात् लोकात्) उस लोकसे (अस्मै लोकाय कर्मणे) इस कर्म लोकके अर्थ अर्थात् इस लोकमें वा इस लोकको (पुनः एति) फिर प्राप्त होता है व कर्मणः ऐसा भी पाठ पाया जाता है इससे कर्मसे इस लोकको ऐसा अर्थ भी ग्राह्य है ॥ २० ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २१ ॥

अनु०-अपने आत्माके साथही दो उत्तरवालोंकी सिद्धिसे॥२१॥

भाष्य-सिद्धि शब्द सूत्रमें शेष है उत्क्रान्ति तो किसीप्रकारसे स्थिर आत्माकी भी हो सक्ती है जैसे किसी ग्रामके स्वामीका अधिकार निकल जाने वा न रहनेमें उस ग्राममें रहनेपरभी वह ग्रामका स्वामी नहीं है वा नहीं रहा कहाजाताहै ऐसेही शरीरमें आत्माकी उत्क्रान्ति वाच्य होसक्ती है परन्तु उत्तरवाली दो जो गति व आगति हैं यह अपने आत्माके साथही उनकी सिद्धि होसक्ती है अर्थात् जिस आत्मा में गति व आगति होती हैं वह उस अपने सम्बंधी आत्माके साथही होती है गति आगति आत्माहीकी सिद्ध होनेसे आत्माका अणु होना सिद्ध होता है क्योंकि व्यापकमें गति आगतिका (गमन आगमनका) होना असंभव है ॥ २१ ॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २२ ॥

अनु०—जो यह कहा जाय कि, अणु नहीं है उसकी (अणु-होनेकी) श्रुति न होनेसे नहीं इतरका (अन्यका) अधिकार होनेसे ॥ २२ ॥

भाष्य—जो यह शङ्का कीजाय कि, **योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु** अर्थ-(यः अयं) जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है ऐसा जीवको कहकर यह वर्णन किय है **स वा एष महानज आत्मेति** अर्थ-(सः वै एषः आत्मा) निश्चयसे सो यह आत्मा (महान् अजः) व्यापक व जन्मरहित है ऐसा आत्माका व्यापक होना श्रुति में वर्णित होनेसे जीव अणु नहीं है तो इसका उत्तर यह है नहीं इतर अर्थात् जीवसे है उसका अधिकार होनेसे अर्थात् यद्यपि प्रारंभमें जीव कहा गया है तथापि मध्यमें **यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मा** अर्थ-(यस्य) जिसका अर्थात् जिस जीवका (अनुवित्तः) उपास्य वा प्राप्य अर्थात् प्राप्त होनेयोग्य (प्रतिबुद्ध आत्मा) महात्मा अर्थात् परमात्मा है ऐसा परमात्माका वर्णन है उसीका सम्बंध व अधिकार होनेसे परमात्माहीको व्यापक व अज कहा है जीवको नहीं कहा ॥ २२ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्याम् ॥ २३ ॥

अनु०—आप अणुही शब्द व उन्मानसे अर्थात् साक्षात् अणु शब्द व उन्मानप्रमाणोंसे ॥ २३ ॥

भाष्य--साक्षात् अणु शब्द आत्माके परिमाणमें श्रुतिमें कहा है इससे और उन्मानसे अर्थात् अणुसदृश वस्तुको लेकर उसके समान मान (परिमाण) वर्णन करनेसे आत्माका अणु होना सिद्ध होता है अणुशब्द इस श्रुति में है **एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश** अर्थ-जिस शरीरमें प्राण पांच प्रकारसे अर्थात् प्राण अपान समान उदान व्यानभेदसे प्रवेश किया है उसमें यह अणुआत्मा चित्तसे वा ज्ञानसे जानने योग्य है तथा उन्मानत्वमें यह श्रुति प्रमाण है **वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते** अर्थ--(वालाग्रशतभागस्य) वालके अग्रभागके सौ भागमें से एक भागका(शतधा कल्पितस्य च)सौ अणु कल्पना कियेगयेका (भागः) जो भाग है अर्थात् सौ भागमेंसे एक भाग है (सः जीवः विज्ञेयः) वह जीव जानने योग्य है अर्थात् जितना वह भाग है उतनाही जीव है (स च) और वह जीव (आनन्त्याय कल्पते) अनन्त होनेके लिये कल्पना किया जाता है अर्थात् परमात्माके ध्यान व आत्मज्ञानसे अविद्या नाश होनेमें

१ इस श्रुतिका अर्थ पूर्वही लिखागया है ।

मुक्त अवस्थामें परमात्माकी अनुग्रह व प्राप्तिसे अनन्त ज्ञान व सामर्थ्यवान् होनेसे व ब्रह्ममें प्राप्त सब स्थानामें व्याप्त होनेसे अनन्त होनेके लिये कल्पना किया जाता है इन प्रमाणोंसे आत्मा अणु है ॥ २३ ॥

अब यह शंका है कि, जो आत्मा अणु है तो सब शरीरमें व्यापक न होना चाहिये और व्यापक न होनेमें सब शरीरमें हुये दुःख सुखका ज्ञान न होना चाहिये पहले इसका समाधान अन्यके मतसे वर्णन करते हैं–

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २४ ॥

अनु०–चन्दनके समान विरोध नहीं है ॥ २४ ॥

भाष्य–जैसे हरिचन्दनका बिन्दु देहके एक देशमें वर्तमान सकल देहव्यापीको आनन्दित करता है ऐसेही आत्मा भी शरीरके एक देशमें विद्यमान त्वचा सम्बंध से सम्पूर्ण देहमें वा उसके किसी देशमें हुये दुःख सुख शीत व उष्ण स्पर्शको जानता है जैसे हरिचन्दनकी सुगंध जहां चन्दनबिन्दु है उससे दूर देशमें जाती है ऐसेही आत्माका ज्ञान आत्मासे भिन्न देशमें जाता है ॥२४॥

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥ २५ ॥

अनु०–जो अवस्थिति विशेष होनेसे कहा जाय नहीं हृदयमें अङ्गीकार करनेसे ॥ २५ ॥

भाष्य–हरिचन्दके बिन्दु आदि देहके किसी देशविशेषमें स्थित हुये शीतलता सुगंधआदिको करते हैं आत्माका कोई देश विद्यमान नहीं है जो यह आक्षेप किया जाय तो उत्तर यह है कि, नहीं, आत्माका देशविशेष है हृदयमें अङ्गीकार करनेसे अर्थात् श्रुतिमें आत्माकी स्थिति हृदयमें वर्णन की गयी है यथा **हृदि ह्ययमात्मा तत्रैकशतं नाडीनामित्यादि** अर्थ–(अयम् आत्मा) यह आत्मा (हृदि) हृदयमें है (तत्र एकशतं नाडीनां) वहां एक सौ नाडियोंका इत्यादि तथा आत्मा को है यह कहकर ऐसा वर्णन किया है **योयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः** (यः अयं) जो यह (प्राणेषु विज्ञानमयः) प्राणोंमें विज्ञानमय (हृदि अन्तर्ज्योतिः) हृदयमें अन्तर्ज्योतिः है अब अपने मतसे समाधान वर्णन करते हैं ॥ २५ ॥

गुणाद्वाऽऽलोकवत् ॥ २६ ॥

अनु०–अथवा गुणसे आलोक (प्रकाश) के समान ॥२६॥

---

१ हरिचन्दन कपिलवर्ण चन्दनविशेष है जो अन्य चन्दनसे अधिक सुगंधवान् व शीतल होता है ।

भाष्य–अथवा आत्मा अपने ज्ञान गुणसे सम्पूर्ण देहमें व्यापक होकर स्थित है जैसे मणि व सूर्यआदि एक देशमें वर्तमान अपने आलोकसे अनेक देशमें व्यापक होते ह अर्थात् उनका आलोक अनेक देशव्यापी होता है ऐसेही हृदयस्थ आत्माका ज्ञान सब देहमें व्यापक रहता है ज्ञाताका ज्ञान प्रभा (प्रकाश) के समान है इससे अपने आश्रय सूर्य व मणिसे प्रभाके अन्यदेशमें प्राप्त होनेके समान आत्माका ज्ञान आत्मासे भिन्न अन्य देशमें प्राप्त वा व्यापक होता है यह सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

अब यह शङ्का है कि, आत्माको विज्ञानमात्र कहा है फिर ज्ञानको स्वरूपसे भिन्न गुण कहना कैसे होसक्ता है इसका उत्तर वर्णन करते हैं--

व्यतिरेको गंधवत्तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

अनु०–भेद है गंधके समान और वैसेही भेदश्रुति देखाती है अर्थात् वर्णन करती है ॥ २७ ॥

भाष्य–जैसे पृथिवीकी गंध पृथिवीका गुण होना विदित होनेसे गंध व पृथिवीका भेद है ऐसेही मैं जानता हूँ ऐसा बोधहोने वा कहनेमें जानना अर्थात् ज्ञान ज्ञाताका गुण प्रतीत होता है इससे आत्मासे ज्ञानका भेद सिद्ध होता है और भेद होना श्रुति वर्णन करतीहै यथा **जानात्येवायं पुरुषः** अर्थ-(अयं पुरुषः)यह पुरुष अर्थात् आत्मा (जानाति एव) जानताही है इत्यादि इससे आत्मा ज्ञान-मात्रही नहीं है ज्ञानवान् है अर्थात् ज्ञान गुणवान् है ॥ २७ ॥

पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

अनु०--पृथक् उपदेशसे ॥ २८ ॥

भाष्य–श्रुतिमें स्पष्ट विज्ञाता व विज्ञानका पृथक् (भिन्न) उपदेश करनेसे भेद सिद्ध होता है यथा **न हि विज्ञातुर्विज्ञाते विपरिलोपो विद्यते** अर्थ–(विज्ञातुः विज्ञाते) विज्ञाताके विज्ञात होनेमें अर्थात् ज्ञाता है ऐसा ज्ञाता का ज्ञान होजानेमें (न हि विपरिलोपः विद्यते) विज्ञाता का लोप नहीं है अब यह शङ्का है कि, **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च** अर्थ–विज्ञान यज्ञको करता है और कर्मोंको भी करता है तथा **ज्ञानस्वरूप-मत्यन्तनिर्मलम्** अर्थ–आत्मा ज्ञानस्वरूप अत्यन्त निर्मल है **यो विज्ञाने तिष्ठन्** इत्यादि अर्थ–जो विज्ञानमें रहताहुआ विद्यमान है अर्थात् जो परमात्मा विज्ञानरूप जीवमें स्थित रहता है इत्यादि श्रुतियों में **ज्ञानही आत्मा है** ऐसा कहा है भेद होता तो क्यों ऐसा वर्णन न होता इसका समाधान वर्णन करते हैं ॥ २८ ॥

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

अनु०—वही वा उससे कथन तो वही गुणसार होनेसे प्राज्ञके समान है ॥ २९ ॥

भाष्य--विज्ञानहीको आत्मा कहना युक्त नहीं है वही अर्थात् विज्ञानही आत्मा है यह कहना वा विज्ञान नाम से आत्माको कहना तो वही विज्ञानही) आत्माका सार गुण होनेसे है, अर्थात् सिद्धान्तसे मुख्य अर्थसे नहीं है उपचार से विज्ञानही गुण आत्माका सार अर्थात् प्रधान गुण है इससे विज्ञानही नाम से कथन है प्राज्ञके समान अर्थात् जैसे प्राज्ञ (परमात्मा) का आनन्द सार रूप गुण होनेसे आनन्द नामसे वर्णन है यथा **यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्** अर्थ-(यत्) जो (एषः आकाशः आनन्दः) यह आकाश आनन्द (न स्यात्) न होता अर्थात् आकाशवत् व्यापक आनन्द गुणवान् ब्रह्म न होता इत्यादि **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** अर्थ- आनन्द ब्रह्म है यह जाना वा जानता भया **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ- सत्य, ज्ञान रूप व अनन्त ब्रह्म है इस श्रुतिमें ज्ञानको सार रूप गुण मान कर ज्ञान नामसे ब्रह्मको कहा है ऐसेही आनन्द व ज्ञान गुण सार होनेसे आनन्द व ज्ञान शब्दसे प्राज्ञके कहे जानेके समान विज्ञान (बुद्धि) शब्दसे आत्माका कथन है ॥ २९ ॥

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

अनु०—और जबतक आत्मा है तबतक रहनेवाला होनेसे दोष नहीं है वह वा वैसेही देखनेसे ॥ ३० ॥

भाष्य—अब इस आक्षेपके समाधानमें कि, जो विज्ञान व आत्मा भिन्न हैं तो संयोग सम्बंध संभव होनेसे आत्मा व विज्ञानका वियोग भी होना संभव है वियोग होनेम विज्ञानका नित्य सम्बंध न रहनेसे विज्ञानही सार गुण मानना युक्त नहीं है यह कहा है यावत् आत्मभावी होनेसे अर्थात् आत्माके रहनेतक रहनेवाला होनेसे विज्ञानके वियोग होनेका दोष नहीं है अर्थात् प्राप्त नहीं होता आशय यह है कि, जो द्रव्यका विशेष स्वाभाविक गुण है उससे रहित द्रव्य कभी नहीं होता वह द्रव्यके रहनेतक रहता है द्रव्यका नाश हो तो उसका नाश होसक्ता है अन्यथा नहीं उसमें संयोग व वियोग दोनोंकी कल्पना अयुक्त है विज्ञान अर्थात् चैतन्य धर्म आत्माके रहनेतक रहनेवाला है अर्थात् नित्य रहनेवाला है विना विज्ञानके आत्मा चेतन पदार्थही नहीं होसक्ता इससे विज्ञान मुख्य गुण साररूप है ऐसाही लोकमें देखनेसे सिद्ध होता है कि, समवायसम्बंधसे सिद्ध स्वाभाविक गुण द्रव्यके रहनेतक रहते हैं वह द्रव्य रहते हुये कभी नष्ट नहीं होसके यथा अग्निकी उष्णता व प्रकाश वायुका स्पर्श पृथिवीका गंध

इत्यादि अब यह शङ्का है कि, जो विज्ञान नित्य आत्माका गुण होता तो सुषुप्ति व मूर्छामें विज्ञानका अभाव होता है यह न होता इससे आत्माका स्वाभाविक गुण नहीं है इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ३० ॥

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

अनु०--पुंस्त्व (युवापन वा जवानी) आदिके समान इस सत्‌ही (विद्यमानही) की प्रकटताका योग होनेसे ॥ ३१ ॥

भाष्य-सुषुप्तिआदिमें यद्यपि प्रकट नहीं होता वा विदित नहीं होता परन्तु ज्ञान धर्म आत्मामें विद्यमानही रहता है इस विद्यमानही विज्ञानकी जागरित आदि अवस्थामें प्रकटता होती है जैसे पुंस्त्व धातु विशेष शरीरके साथ सम्बंध होनेसे बालकमें भी विद्यमान रहता है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) का योग युवा अवस्थाही में होनेसे युवा अवस्थाही में होनेसे युवा अवस्थाहीमें प्रकट होता है जो बाल्यावस्थामें न हो तो युवामें भी प्रकट होना संभव नहीं है ऐसेही सुषुप्ति व मूर्छा में विद्यमानही विज्ञानकी जागरित आदि में प्रकटता समुझना चाहिये सुषुप्तिमें भी मैं पदार्थका रहना विदित होता है और आत्माके ज्ञाता होने आदि धर्म पूर्वही प्रतिपादन किये गये हैं इससे जीवात्माका ज्ञाता होनाही स्वरूप है मुक्त होनेकी अवस्थामें भी विज्ञानका अभाव नहीं होता क्योंकि मुक्तको श्रुति ऐसा वर्णन करती है **मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ब्रह्मलोके** अर्थ-मनसे इन कामोंको देखते हुये मुक्त ब्रह्मलोकमें रमता है इत्यादि अब विज्ञानरूपही आत्मा होने वा आत्माके सर्वगत (सर्वत्र व्यापक) होनेमें दोषको वर्णन करते हैं ॥ ३१ ॥

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतर-नियमो वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

अनु०--अन्यथा (अणु न होने व्यापक वा विज्ञानमात्र होनेमें) नित्य उपलब्धि (ज्ञान) व अनुपलब्धि (ज्ञान न होना) का प्रसङ्ग होगा अथवा अन्यतरका नियम होगा (दोमेंसे एकके होनेका नियम होगा) ३२ ॥

भाष्य-अणु होनेसे अन्यथा होनेमें अर्थात् ज्ञानमात्र वा व्यापक होनेमें कोई भेद होनेका हेतु न होनेसे जगत्के सब प्राणियोंका ज्ञान व अज्ञान एक साथ प्राप्त होनेमें आत्मामें नित्य एकही समयमें उपलब्धि व अनुपलब्धि होनेका प्रसङ्ग होगा अर्थात सबको उपलब्धि व अनुपलब्धि एक साथ होगी अथवा उपलब्धि-मात्रका हेतु आत्मा होनेमें सदा सर्वत्र (सब स्थानमें) उपलब्धिही होनेमें अनु-

पलब्धि (ज्ञानकी अप्राप्ति) कहीं किसीको न होगी और जो अनुपलब्धिमात्र होगी तो सदा सर्वत्र उपलब्धि न होगी हमारे पक्षमें शरीरके अन्तर आत्मा अवस्थित होनेसे शरीरके भीतर शरीर विशेषहीमें आत्माको विशेष ज्ञान हो सक्ता है अन्यत्र नहीं इससे व्यवस्थाकी सिद्धि होती है जो इन्द्रियोंके अधीन उपलब्धिका होना मानाजाय तो भी सब व्यापक आत्माओंका सब इन्द्रिय व अन्तःकरणोंके साथ संयोग होनेसे और अदृष्ट आदिका भी नियम न होनेसे उक्त दोषकी निवृत्ति नहीं होसक्ती ॥ ३२ ॥

आत्माके कर्ता होनेके प्रतिपादन में सू० ३३ से ३९ अधि० ५

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

अनु०—कर्ता है शास्त्रके अर्थवान् होनेसे ॥ ३३ ॥

भाष्य—यह आत्मा ज्ञाता और अणुपरिमाण है यह वर्णन कियागया अब इस हेतुसे कि, बहुत उपनिषद् व स्मृति वाक्योंमें आत्माका अकर्ता होना वर्णित है यह संशय होता है कि, आत्मा कर्ता है अथवा आप अकर्ता है चेतन गुणोंका कर्तृत्व उसमें भासित होता है इस विषयमें विचार करते हैं प्रथम पूर्वपक्ष यह है कि, अध्यात्म शास्त्रमें (आत्मनिरूपण शास्त्रमें) आत्माका अकर्ता होना व गुणोंका कर्ता होना सुननेसे आत्मा अकर्ता है यह विदित होता है यथा कठवल्ली उपनिषद्में **न जायते म्रियते** अर्थ--न उत्पन्न होता है न मरता है ऐसा जीवको कहकर जन्ममरणआदि सब प्रकृतिके धर्म हैं जीवके नहीं है इससे जीवके जन्ममरणआदिका निषेध करिके हननआदि क्रियाओंमें भी जावके कर्ता होनेका निषेध किया है निषेधमें यह श्रुति है **हन्ता चेन्मन्यत हन्तु हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते** अर्थ–(हन्ता) मारनेवालाहै(हन्तुं मन्यते चेत्) जो ऐसा मारनेवाला वा मारतेहुयेको मानता है (च) और (हतं) मारेगयेको (हतं मन्यते चेत्) मारा गया है ऐसा मानता है (तौ उभौ न विजानीतः) वे दोनों नहीं जानते हैं अर्थात् तत्त्वज्ञानरहित अज्ञान हैं (अयं) यह अर्थात् यह जीवात्मा (न हन्ति) न मारता है (न हन्यते) न माराजाता है तथा गीतामें श्रीकृष्णचन्द्र महाराजने भी कहा है **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते** अर्थ–(प्रकृतेः गुणैः) प्रकृतिके गुणोंसे (सर्वशः) सबप्रकारके (कर्माणि क्रियमाणानि) कर्म किये जाते हैं (अहङ्कारविमूढात्मा) अहङ्कारसे मोहित आत्मा (अहं कर्ता इति मन्यते) मैं कर्ता हूँ ऐसा मानता है इससे प्रकृतिही कर्ता है पुरुष अज्ञानसे अपनेको कर्ता मानता है व भोक्ता है इत्यादि इसके उत्तरमें यह कहा है कर्ता है अर्थात् आत्माही कर्ता है गुण नहीं है किस हेतुसे आत्मा कर्ता है शास्त्रके

अर्थवान् होनेसे आशय यह है कि, जीवके कर्ता न माननेमें शास्त्रमें जो यह उपदेश किया है **यजेत स्वर्गकामः मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत** अर्थ--स्वर्गकी इच्छा करनेवाला यज्ञ करै मुमुक्षु (मोक्षकी इच्छा करनेवाला) ब्रह्मकी उपासना करै यह मिथ्या होगा जीवके कर्ता होनेहीमें शास्त्रके अर्थवान् होनेसे अर्थात् शास्त्रके उपदेशका प्रयोजन सत्य व सिद्ध होनेसे शास्त्रका सार्थक होना सिद्ध होनेसे जीवही कर्ता होना सिद्ध होता है क्योंकि स्वर्ग व मोक्ष आदि फलका भोक्ताहीके कर्ता होनेमें भोक्ताके साथ सम्बंध होसक्ता है अचेतन प्रकृतिके कर्ता होनेमें चेतन आत्माके साथ कर्मफलका सम्बंध नहीं होसक्ता चेतनहीके लिये शास्त्रमें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा व ज्ञान उत्पन्न होनेके लिये उपदेश है अचेतन प्रधानको बोध कराना संभव नहीं है इससे चेतनही भोक्ताके कर्ता होनेमें शास्त्रका प्रयोजन सिद्ध होसक्ता है अन्यथा नहीं होसक्ता और जो यह कहा है कि, आत्मा न मारता है और न माराजाता है मारनेकी क्रियामें आत्माके अकर्ता होनेका वर्णन है यह आत्माके नित्य होने व मारनेके योग्य न होनेसे कहा है और जो प्रकृतिके गुणोंसे सब कर्म कियेजाते हैं यह गीता स्मृतिमें वर्णन किया है वह सांसारिक प्रवृत्तियोंमें जीवकी कर्तृत्वता सत्त्व रज व तमोगुणोंके संसर्गही कारणसे होती है आत्माके शुद्धस्वरूपके साथ कर्तृत्वका योग नहीं है इस अभिप्रायसे कहा है गीताहीमें स्पष्ट यह कहा है **कारणं गुणसङ्गोस्य सदसद्योनिजन्मसु** अर्थ--(अस्य) इसके अर्थात् जीवके (सदसद्योनिजन्मसु) सत् व असत् योनियोंमें जन्म होनेमें (गुणसङ्गः) गुणोंका सङ्ग (कारणं) कारण है आशय यह है कि, गुणोंहीके साथ आत्मा कर्ममें प्रवृत्त होता है इससे गुणोंको मुख्य हेतु जानकर गुणोंको कर्ता होना कहा है केवल आत्मा कर्ता नहीं है यह आत्माके अकर्ता कहनेका आशय है आत्मा सर्वथा अकर्ता है वा मोहसे कर्ता ज्ञात होना कहना युक्त नहीं है अकर्ताको विना हेतु अर्थात् बिनाकर्म किये सुख दुःख फल प्राप्त होना और जैसा कहागया है शास्त्रका उपदेश निष्फल होना सिद्ध होनेसे अकर्ता मानना युक्त नहीं है श्रुति में भी स्पष्ट आत्माके कर्ता वर्णन किया है यथा **एष हि द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता-विज्ञातात्मा पुरुषः** अर्थ--निश्चयसे यह विज्ञाता आत्मा द्रष्टा (देखने-वाला) श्रोता (सुननेवाला) मन्ता (माननेवाला) बोद्धा (बोधकरनेवाला) व कर्ता है इत्यादि ॥ ३३ ॥

उपादानाद्विहारोपदेशाच्च ॥ ३४ ॥

अनु०--ग्रहण से और विहारके उपदेशसे ॥ ३४ ॥

भाष्य--जीवकी प्रक्रियामें श्रुतिमें **स यथा महाराजः** वह जैसे महाराजा ऐसा आदि में कहकर यह वर्णन किया है **एवमेवैष एतान्प्राणान्गृहीत्वा स्वे-**

शरीरे यथाकामं परिवर्तते अर्थ -(एवमेव एषः) ऐसेही यह अर्थात् यह आत्मा (एतान् प्राणान् गृहीत्वा) इन प्राणोंको ग्रहण करके (स्वशरीरे) अपने शरीरमें (यथाकामं) इच्छाअनुसार (परिवर्तते) परिवर्त होता है अर्थात् विचरता वा विहार करता है इस प्रकारसे प्राणोंके अर्थात् शरीर इन्द्रियोंके ग्रहण (धारण) व प्रेरण करने व विहारकरनेके वर्णनसे आत्माका कर्ता होना सिद्ध है ॥ ३४ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देश-विपर्ययः ॥ ३५ ॥

अनु०-क्रियामें कहनेसे भी जो न होता तो निर्देशका विपर्यय होता ॥ ३५ ॥

भाष्य-विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च अर्थ-विज्ञान (जीवात्मा) यज्ञको विस्तारसे करता है और कर्मोंकोभी करताहै इस प्रकारसे श्रुतिमें क्रियामें प्रवृत्त विज्ञानको कर्ता कहनेसे विज्ञानशब्द जीववाचक व जीवका कर्ता होना सिद्ध होता है जो यह कहाजाय कि, विज्ञानशब्द बुद्धिवाचक है आत्मावाचक नहीं है तो जो अन्तःकरण बुद्धिका वाचक यहां इस श्रुतिमें विज्ञानशब्द होता तो निर्देश अर्थात् वर्णनमें विपरीत होता अर्थात् जो अंतःकरण अर्थमें विज्ञानशब्दका प्रयोग होता तो विज्ञानंके स्थानमें विज्ञानेन ऐसा होता अर्थात् विज्ञान यज्ञको करता है ऐसा कहनेके स्थानमें विज्ञानसे यज्ञको करता है ऐसा वर्णन होता इससे विज्ञानशब्दसे कर्ता आत्माहीका वर्णन समझना चाहिये ॥ ३५ ॥

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३६ ॥

अनु०-उपलब्धिके समान नियम नहीं है ॥ ३६ ॥

भाष्य-आत्माके कर्ता न होनेमें यह दोष है कि, जैसे आत्माके व्यापक होनेमें नित्य उपलब्धि होना वा नित्य अनुपलब्धि होना वा एक साथ दोनों होना संभव होनेसे उपलब्धिका नियम न होना कहागया है ऐसेही आत्माके कर्ता न होनेमें व प्रकृतिके कर्ता होनेमें सब पुरुषोंके साथ उसका साधारण सम्बंध होनेसे व सब पुरुष उसको साधारण व एक सम होनेसे सब कर्म सबके भोगके लिये होंगे और किसी आत्माका व्यापक होना अङ्गीकार करनेसे सबका सन्निधान (समीप होना) भी भेदरहित एक समान होगा इसीसे अन्तःकरण आदिकोंका भी नियम होना संभव नहीं होता कि, जिसके आधीन व्यवस्था (अवस्था भेद वा नियम) का होना मानाजावै उपलब्धिके समान अन्तःकरण व

इन्द्रियोंका नियम संभव न होनेका दोष प्राप्त होनेसे आत्माका कर्तृत्व मानना युक्त है ॥ ३६ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३७ ॥

अनु०—शक्तिके विपरीत होनेसे ॥ ३७ ॥

भाष्य--बुद्धि कर्ता होनेमें कर्तासे भिन्न अन्यका भोक्ता होना संभव न होनेसे भोक्ता होनेकी भी शक्ति बुद्धिहीको होगी इससे आत्माके भोक्ता शक्तिका नाश होगा अर्थात् आत्मा भोक्ता होनेकी शक्तिसे रहित होजायगा भोक्ता होना बुद्धिहीका सिद्ध होगा ऐसा होनेमें आत्माके होनेमें भी प्रमाणका अभाव होगा इससे आत्मा को अकर्ता मानना युक्त नहीं है ॥ ३७ ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३८ ॥

अनु०—समाधिका अभाव होनेसे भी ॥ ३८ ॥

भाष्य--बुद्धिके कर्ता होनेमें मोक्षका साधनरूप जो समाधि है उसमें भी बुद्धिही कर्ता होगी मैं प्रकृतिसे भिन्न हूँ ऐसा विचार करना व ध्यान करना समाधि है बुद्धि प्रकृतिका कार्य प्रकृतिरूप है इससे प्रकृतिसे मैं भिन्न हूँ ऐसा प्रकृतिका समाधिमें ध्यान करना असंभव व असङ्गत है इससे भी आत्माही कर्ता है अब यह शंका है कि, आत्माका कर्ता होना माननेमें सदा कर्तृत्व बना रहैगा कभी कर्तृत्व समाप्त न होगा इसका उत्तर आगे वर्णन करते हैं ॥ ३८ ॥

यथाच तक्षोभयथा ॥ ३९ ॥

अनु०—जैसे तक्षा (बढई) दोनों प्रकारसे ॥ ३९ ॥

भाष्य--जैसे तक्षा (बढई) जब इच्छा करता है व वास्य (वसुला) आदि करणोंको ग्रहण करता है तब कार्यमें प्रवृत्त अनेक व्यापार करता है और जब इच्छा नहीं करता तो वास्यआदि करण पास होनेपर भी कुछ नहीं करता वास्यआदि करणोंको छोडकर व्यापाररहित होजाता है ऐसेही जब जीव इच्छा करता है तब वांछाअनुसार कर्म करता है जब इच्छा नहीं करता तब वाक् आदि करणों (इन्द्रियों) से संयुक्त होनेपरभी नहीं करता रागद्वेष मोह इन्द्रियोंको ग्रहणकर जीवात्मा कर्ममें प्रवृत्त होता है करणोंको त्यागकर इच्छारहित शान्तचित्त होनेमें सांसारिक कार्यको नहीं करता चेतन आत्माका इच्छा अनुसार करना व न करना दोनों संभव है अचेतन बुद्धिके कर्ता होनेमें उसके वांछाआदि नियमके कारणोंके न होनेसे सदा कर्तृत्व बना रहैगा कभी बन्द न होगा इससे अचेतन को कर्ता मानना असङ्गत है ॥ ३९ ॥

जीवका कर्तृत्व परमात्माके अधीन होनेके निरूपणविषयमें सू० ४० व ४१ अधि० ६ ।

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४० ॥

अनु०—परमात्मासे उसकी श्रुतिसे ॥ ४० ॥

भाष्य—जीवका कर्म करना अपने अधीन है वा परमात्माके अधीन है यह विचार करनेमें प्रथम यह विदित होता है कि, जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र है क्योंकि ईश्वरके अधीन उसका कर्ता होना माननेमें शास्त्रमें (वेदमें) जो विधि (करनेयोग्य का उपदेश) व निषेध (न करने योग्यका मनाकरना) है सब अनर्थक होजायगा क्योंकि जो अपनी बुद्धि से प्रवृत्त होने व निवृत्त होनेमें समर्थ है वही कर्म अनुसार फल प्राप्त होनेके योग्य होता है इससे कर्ता होनेमें जीवको स्वतंत्र होना चाहिये इसमें महर्षि सूत्रकारने यह सिद्धान्त वर्णन किया है परमात्मा से उसकी श्रुति होनेसे आशय यह है कि, जीवका कर्तृत्व परमात्मा कारण से है अर्थात् परमात्माके अधीन है किस हेतुसे उसकी अर्थात् परमात्माके अधीन होनेकी श्रुति होनेसे श्रुति यह है **एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति** अर्थ—(हि एषः एव) निश्चय यही परमात्मा (यम्) जिसको अर्थात् जिससे (साधु कर्म) पुण्य कर्म (कारयति) कराता है (तम्) उसको (एभ्यः लोकेभ्यः) इन लोकोंसे (उन्निनीषति) ऊपर स्वर्ग वा अन्य उत्कृष्ट लोकको प्राप्त करता है (एषः एव) यही (असाधु कर्म कारयति) जिसको पाप कर्म कराता है (तम्) उसको (अधो निनीषति) नीचे निकृष्ट लोक वा दशा में प्राप्त करता है तथा **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां** अर्थ— सब जनोंके भीतर प्रविष्ट (प्रवेश किये हुये) जनोंका शासन कर्ता है इत्यादि अब इस में यह शङ्का है कि, जो श्रुतिमें ऐसा वर्णन है तो शास्त्रमें विधि निषेधका उपदेश वृथा जीवको विना किये कर्म का फल होगा परमात्मामें विषमता व निर्घृणता दोष प्राप्त होगा इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ४० ॥

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा-वैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४१ ॥

अनु०—कियेहुये प्रयत्नोंकी अपेक्षायुक्त परमात्मा करता है विहित व प्रतिषिद्धोंके वृथा न होनेआदि हेतुओंसे ॥ ४१ ॥

भाष्य—परमात्मा करता है वा जीवोंको प्रवृत्त करता है यह सूत्रमें शेष है

प्रकरण व सूत्रशब्दोंके सम्बंध व अभिप्रायसे ग्राह्य है अब इसका व्याख्यान यह है कि, परमात्मा जो जीवोंको कर्म कराता है वह जीवोंके किये प्रयत्नोंकी अपेक्षा करिके करता है अर्थात् जैसा जीव मनोरथ करिके किसी कार्यके करनेमें प्रवृत्त होता है वा उद्योग करता उसमें उसकी इच्छा अनुसार परमात्मा उसमें रुचि उत्पन्न करता है यही परमात्माका कराना है परन्तु आदि कारण जीवकी इच्छा होनेसे जीवही पुण्य व पापकर्म फलका भागी होता है ईश्वर आप प्रेरण करिकै जीवको प्रवृत्त नहीं करता इससे परमात्मामें विषमता व निर्घृणता दोष नहीं प्राप्त होता जब कर्मके अनुसार शरीर उत्पन्न करिकै परमेश्वरने समझने व विचार-नेके लिये बुद्धिवृत्ति आदि साधन दिया है उसके विरुद्ध विचार न करिकै उत्पन्नहुई इच्छाके अनुसार जीव करता है तब वही अपने कर्मके फल भोगके योग्य समझा जाता है जैसे कोई पुरुष दो मनुष्योंको धनके दो भाग करिकै देदेवै और उन-मेंसे एक सत्कर्ममें व्ययकरै और एक कुकर्म में तौ अपने कियेहुये शुभ अशुभ कर्मोंके भोक्ता वही होंगे क्योंकि कर्म उन्होंने अपनी मति अनुसार किया है धन-दाताकी सम्मति से नहीं किया जो इसमें यह संशय हो कि, यह दृष्टान्त लौकिक जनोंके लिये यथार्थ होसक्ता है सर्वज्ञ परमात्माके लिये नहीं होसक्ता सर्वज्ञ परमात्माको किसीको ऐसी सामग्री न प्राप्त करना चाहिये कि, जिससे कोई कर्मकरनेवाला पापकरै तो इसका उत्तर यह है कि, कर्मके साधन शरीर व इन्द्रिय जो परमेश्वर उत्पन्न करता है वह भी जीवोंके पूर्व जन्मके कर्मही अनुसार उत्पन्न करता है व कर्म संस्कार अनुसार रुचि उत्पन्न करताहै व कर्म कराता है यह कर्मसंस्कार व उस के अनुसार रुचि होना व कर्मोंमें प्रवृत्ति होना अनादि कालसे चलाआता है कर्मअनुसार रुचि व कर्ममें प्रवृत्ति होना ईश्वरकृत नियम है उसके नियम से ऐसा होनेसे नियमकर्ता परमेश्वरको उत्पन्न करता है कर्म कराता है उपचारसे श्रुतिमें वर्णन किया है उक्त नियम सबके लिये समान है इससे ईश्वरके शरीर उत्पन्न करने आदि में विषमता व पक्षपातआदि कोई दोष नहीं है जैसे मेघवृष्टिसे अनेक वृक्ष गुल्म लता धान्यको उत्पन्न करता परन्तु उनके बीज अनुसार उत्पन्न करता है इससे मिष्ट कटु कण्टक पुष्प दुर्गंध सुगंधवाले अनेक भेदोंके कारण उनके बीजही होते हैं मेघ उत्पन्न करनेमात्रका कारण होता है ऐसेही जीवोंकी इच्छा व प्रयत्न अनुसार रुचि उत्पन्न करने व कर्म करानेमें ईश्वर विषमताआदिका कारण नहीं होता इससे ईश्वर में दोष नहीं प्राप्त होता और जीवको विना कर्म फल नहीं प्राप्त होता साधारण पूर्वजन्मकृतकर्मअनुसारही शुभ अशुभ कर्ममें रुचि व प्रवृत्ति होती है और बुद्धिकी मन्दता व तीव्रता होती है और जहांतक जन्मान्तरके कर्मफलरूप दुःख सुख प्राप्त होनेका सम्बंध विशेष है वहाँतक परमेश्वरके नियमके अधीन होनेसे जीवकी परतंत्रता है

जीवके क्रियमाण कर्म में विशेष उपदेशग्रहण सत्संग विचारसाधन से जो जीव परमेश्वर आराधन व धर्माचरण में इच्छा व प्रयत्न करता है तो उसमें परमेश्वर सहायता करता है व उत्तम रुचिको उत्पन्न करता है व क्रमसे विशेष सामर्थ्य आनन्द व अपनी प्राप्तिरूप फल देता है और जो विषय व अधर्मकी इच्छा करता है उसको उसीप्रकार रुचि व प्रवृत्तिको प्राप्त करके निकृष्ट फल देता है आदिकारण जीवहीकी इच्छा व प्रवृत्ति होनेसे जीवही फलका भोक्ता होता है नियम सबके लिये समान होनेसे नियमकर्ता में दोष नहीं होसक्ता सर्वथा जीव इच्छा व कर्म करनेमें परतंत्र नहीं है विहित व प्रतिषिद्ध कर्मोंका जो उपदेश शास्त्रमें है उसके वृथा न होने आदि हेतुओंसे अर्थात् विहित व प्रतिषिद्ध कर्मोंके वृथा न होने विना कर्म फलप्राप्त न होनेसे विषमता आदि दोष ईश्वरमें प्राप्त न होनेके हेतुओंसे जीवके कियेहुये प्रयत्नोंकी अपेक्षासे परमात्मा नियमसे जीवोंको प्रवृत्त करता है यह सिद्धान्त है ॥ ४१ ॥

जीवको परमात्माका अंश वर्णनमें सू० ४२ से ५३ तक अधि०८ ।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ ४२ ॥

अनु०—अंश है नाना (अनेक) कहनेसे और अन्यथा (अन्यप्रकारसे) कहनेसे एक दाश (केवट) कितव (जूवा खेलनेवाले धूर्त) आदि होनाभी कहते हैं ॥ ४२ ॥

भाष्य—अब कहीं श्रुतिमें जीव व ब्रह्मको भिन्न कहीं ब्रह्मही सब होना वर्णित होनेसे यह संशय होता है कि, जीव ब्रह्मसे अत्यन्त भिन्न है वा ब्रह्मही भ्रमको प्राप्त जीव होता है अथवा ब्रह्मही उपाधिसे अवाच्छिन्न (भेदको प्राप्त) है अथवा ब्रह्मका अंश है प्रथम अत्यन्त भिन्न होना विदित होता है क्योंकि श्रुतिमें ऐसा वर्णन है **ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ** इत्यादि अर्थ-(ज्ञाज्ञौ) ज्ञानवान् परमात्मा व अज्ञान जीवात्मा (द्वौ) दोनों (अजौ) जन्मरहित (ईशानीशौ) एक ऐश्वर्यवान् समर्थ व दूसरा असमर्थ है इत्यादि इसप्रकारसे ज्ञानवान् व अज्ञान दोनोंका भेदरहित प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां अग्निसे सींचै ऐसा कहनेके समान विरुद्ध अर्थ प्रतिपादन करनेसे औपचारिकी हैं अर्थात् उपचार से भेद अभेदकी वर्णन करनेवाली हैं और ब्रह्मका अंश जीव है यह भी सिद्ध करने योग्य नहीं है क्योंकि किसी वस्तुके एक देशको अंश कहते हैं जीव ब्रह्मका एकदेश होनेमें जो जीवमें प्राप्त दोष है वह सब दोष ब्रह्ममें प्राप्तहोंगे ब्रह्मके अखण्डनीय होनेसे ब्रह्मका खण्डरूप अंशभी जीव नहीं होसक्ता इससे अत्यन्त भिन्न है ब्रह्मका अंश प्रतिपादन करना कठिन है जो यह कहाजावै कि, भ्रान्त

ब्रह्मही जीव है क्योंकि **तत्त्वमसि अयमात्मा ब्रह्म** इत्यादि अर्थ–वह तू है अर्थात् वह ब्रह्म तू है यह आत्मा ब्रह्म है इत्यादि वाक्योंमें ब्रह्महीको आत्मा कहा है और जो अनेक होना भेद वर्णन करनेवाली श्रुति है वह जैसा प्रत्यक्षआदिसे अविद्यान्तर्गत पदार्थ सिद्ध होता है उनको वर्णन करती है अथवा ब्रह्मही अनादि उपाधिमें अवच्छिन्न जीव है क्योंकि ब्रह्मही जीवात्मारूपसे उपदेश किया गया है तो उपाधि वा भ्रान्तिसे कल्पित ब्रह्मको जीव कहना नहीं होसक्ता ऐसा कहने वा माननेमें बन्ध व मोक्षआदिकी व्यवस्था का होना असंभव होगा ऐसे संशय प्राप्त होनेमें यह वर्णन किया है अंश है अनेक कहने से व अन्यथा कहनेसे एके दाश व कितवआदि होनाभी कहते हैं इसका अभिप्राय यह है कि, जीव ब्रह्मका अंश है किस हेतुसे अनेक कहनेसे अर्थात् सृष्टिकर्ता व उत्पन्न कियेगये नियन्ता(नियम करनेवाला) नियम्य(नियमके योग्य)सर्वज्ञ व अज्ञ स्वाधीन व पराधीन शुद्ध व अशुद्ध होना आदिका श्रुतिमें वर्णन होनेसे और अन्यथा अर्थात् एक भेदरहित होनाभी कहनेसे यथा **तत्त्वमसि** अर्थ–वह तू है तथा यह आत्मा ब्रह्म है इत्यादि और एक अर्थात् आथर्वणिक ब्रह्मसूक्तमें **ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवाः** अर्थ–(इमे दाशाः) यह केवट ब्रह्म हैं यह (दास) सेवक ब्रह्म है (इमे कितवाः) यह जुवा खेलनेवाले वा धूर्त ब्रह्म हैं इसप्रकार ब्रह्महीको दाश कितव आदि सब होना कहते हैं अर्थात् सब में ब्रह्मव्यापक होनेसे अभेद ब्रह्ममय सब मानके सबको ब्रह्मही होना कहा है इस प्रकार से दोनों प्रकारका कथन सिद्ध होनेके लिये जीव ब्रह्मका अंश होना अंगीकार करने योग्य है परन्तु मुख्य अर्थसे निरवयव ब्रह्मका अंश होना संभव न होनेसे चेतनरूप समानजातीय होने व ब्रह्मसे अल्प सामर्थ्यवान् अल्प परिमाण होनेसे अंशके समान होनेसे उपचार से अंश कहा है अथवा चिदचित् वस्तुशरीरक ब्रह्मको वर्णन करनेसे चित्अंश अर्थात् चेतन अंश जीव होनेसे जीव को ब्रह्मका अंश मानना युक्त है ॥ ४२ ॥

मन्त्रवर्णात् ॥ ४३ ॥

अनु०–मंत्रके वर्णसे (अक्षरसे) ॥ ४३ ॥

भाष्य–मंत्रके वर्णसे जीवका अंश होना सिद्ध होता है मंत्र यह है **पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि** अर्थ–(अस्य) इसके अर्थात् इस उक्त ब्रह्म पुरुषके (विश्वा भूतानि) सम्पूर्ण भूत अर्थात् स्थावर जङ्गम सब प्राणी (पादः) एक पाद अर्थात् एक अंश हैं (अस्य) इस पुरुषके (दिवि) स्वप्रकाशस्वरूप लोकमें (त्रिपाद् अमृतम् अस्ति) तीन पाद अमृत अर्थात् जरामरणरहित मोक्ष सुखरूप है इस श्रुतिमें पादशब्द अंशवाचक है जीवोंके बहुत होनेसे सम्पूर्ण जीव ऐसा बहुवचन करिके अंश होना जो कहा है सो एक

जाति होनेके अभिप्राय से कहा है और सूत्रमें अंश है यह और आत्मा उत्पन्न नहीं होता इस सूत्र में जो एक वचन कहा है यह भी जातिअभिप्राय से कहा है ॥ ४३ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ४४ ॥

अनु०–स्मरणभी कियाजाता है अर्थात् स्मृतिमेंभी कहा है ॥ ४४ ॥

भाष्य–गीता स्मृतिमें श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपनेमें ब्रह्मभाव करिके यह कहा है **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः** अर्थ–(जीवलोके) जीवलोकमें (मम एव अंशः) मेराही अंश (जीवभूतः सनातनः) जीवरूप सनातन है इससे भी जीव ब्रह्मका अंश होना विदित होता है परन्तु अंश होनेमें यह शङ्का होती है कि, जो ब्रह्मका एकदेशरूप जीव अंश है तो जीवमें प्राप्त रागद्वेष अधर्म दुःख आदि दोष सब ब्रह्ममें भी होंगे इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ४४ ॥

प्रकाशादिवत्तु नैवं परः ॥ ४५ ॥

अनु०–प्रकाशआदिके समान है ऐसा परमात्मा नहीं है ॥४५॥

भाष्य–जैसे प्रकाशमान् सूर्य, अग्नि, आदिका प्रकाश विशेषण अंश होता है गोत्व (गोपन अर्थात् गौजातिआदि) विशिष्ट गौ अश्व आदिके गोत्व अश्वत्व आदि विशेषण अंश कहेजाते हैं क्योंकि किसी विशिष्ट वस्तुका विशेषण अंशही समझाजाता है विचार करनेवाले विशिष्ट वस्तुमें विशेषण के अंश व विशेष्यको अंशी कहते विशेषण हैं विशेष्य दोनोंके अंश व अंशी होनेमें भी स्वभाव से विलक्षण होना देखा जाता है ऐसेही जीवशरीरक ब्रह्म होनेसे ब्रह्म विशेष्य व जीव विशेषण दोनोंके अंश अंशी होने में भी स्वभाव भेद होना सिद्ध होता है जैसे प्रकाशआदि विशेषण अंशमें भासित हुये टेढाई गोळाई मन्दता आदि उपाधि दोष प्रकाशमान् विशेष्य में नहीं होते ऐसेही शरीररूप वा चेतन जातिरूप विशेषण अंश जीवमें प्राप्त दोष परमात्मा में नहीं प्राप्त होते इससे जैसा दुःख सुख भोक्ता जीव है ऐसा परमात्मा नहीं है **तत्त्वमसि व अयमात्मा ब्रह्म** अर्थ--वह तू है यह आत्मा ब्रह्म है इत्यादि श्रुतियों में वह शब्द से ब्रह्मशब्द वाच्य तू है यह आत्मा ब्रह्म है यह शब्द भी जीवशरीरक ब्रह्मवाचक होनेसे एकही अर्थके कहनेवाले वा प्रतिपादन करनेवाले हैं इसका विशेष वर्णन पूर्वही किया गया है ॥ ४५ ॥

स्मरन्ति च ॥ ४६ ॥

अनु०–स्मरण भी करते हैं अर्थात् स्मृति में भी वर्णन है ॥४६॥

भाष्य--जीवमें प्राप्त विकार दुःख सुख आत्मा में नहीं प्राप्त होते यह व्यास आदिकोंने भी वर्णन किया है इस से स्मृतिसे सिद्ध होता है यथा **तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवांभसा । कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते। स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः** अर्थ-(तत्र) तिसमें (हि) जिससे कि, (यः परमात्मा) जो परमात्मा है (सः) वह (नित्यः निर्गुणः स्मृतः) नित्य व निर्गुण स्मरण कियागया है इससे कर्म (च) और (फलैः अपि) कर्मफलोंसे (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता (अम्भसा पद्मपत्रम् इव) जैसे जलके साथ कमलका पत्र नहीं मिलता (कर्मात्मा तु) कर्म करनेवाला आत्मा तो (यः असौ) जो यह जीवात्मा (मोक्षबन्धैः युज्यते) मोक्षबंधों से युक्त होता है (सः अपरः) वह परमात्मासे अन्य है (सः) वह (पुनः) फिर (सप्तदशकेन राशिना युज्यते) सत्रह राशिसे युक्त होता है अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय पांच प्राण, मन व बुद्धि इन सत्रह पदार्थके समूहका लिङ्गशरीर धारण करता है. अब यह शंका है कि, जो जीव ब्रह्मका शरीर व अंश है तो सब जीव एकही समान ब्रह्मके अंश वा शरीर होनेमें किसीके लिये वेदपठनकी आज्ञा, किसीके लिये नहीं, भार्यामें गमन करै, गुरुजनकी स्त्रियोंमें गमन न करै इत्यादि विधि निषेध भेद क्यों किया है इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ४६ ॥

अनुज्ञापरिहारा देहसम्बंधाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४७ ॥

अनु०--अनुज्ञा व परिहार देहसम्बंधसे ज्योतिआदिके समान है ॥ ४७ ॥

भाष्य--सब ब्रह्मके अंश चेतन जाति व शरीररूप होनेमें भी धर्म अधर्म अनुसार उत्तम व निकृष्ट देहसम्बंध होने अथवा देहसम्बंधसे कायिक वाचिक मानसिक अनेक शुभ अशुभ कर्म संयोग होनेसे शास्त्रमें जो अनुज्ञा (आज्ञा) व परिहार (निषेध) है वह युक्त है ज्योतिआदिके समान अर्थात् जैसे अग्नित्व (अग्निपन) से अग्नि एक होनेमें भी श्रोत्रिय (वेद पढनेवाला) धर्मवान्के घरसे ग्रहण करनेकी अनुज्ञा व श्मशान (चिता) से ग्रहण करनेका परिहार (निषेध) है तथा अन्नत्वसे अन्न एकही वस्तु होनेमें भी धर्मवान् के अन्नके लिये अनुज्ञा है और अधर्मी अभिशस्त (जिसका लोकमें अपवाद है) उसका अन्न ग्राह्य नहीं है इत्यादि ॥ ४७ ॥

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४८ ॥

अनु०—और सन्तति न होनेसे व्यतिकर (एक दूसरेमें मेल) नहीं है ॥ ४८ ॥

भाष्य—अब इस शंकाके समाधानकेलिये कि, जो एक ब्रह्महीके अंश जीव हैं तो सब जीवोंमें हुये सुखदुःख ब्रह्मको प्राप्त होना चाहिये यह कहा है कि, सन्तति न होनेसे व्यतिकर नहीं है इसका आशय यह है कि, ब्रह्मका एकदेश वा खण्डरूप अंश कहनेका अभिप्राय नहीं है वा नहीं मानते जिससे एक सन्तति सब आत्माओंमें होनेसे ब्रह्ममें दोषकी प्राप्ति होवै चेतनजाति होने व सर्वव्यापक परमात्मासे व्याप्य अणुपरिमाण होनेसे अंश कहते हैं इससे ब्रह्मके अंश होनेमें भी सन्तति (सब में लगातार एक सम्बंध चलाजाना वा बनारहना) न होनेसे जीवोंके अणु होने व प्रतिशरीरमें भिन्न होनेसे परस्पर जीवोंके भोगका मेल व ब्रह्ममें जीवोंके कर्म व भोगका मेल नहीं होता जो अनेक व्यापक आत्मा मानते हैं जो ब्रह्महीं भ्रान्त होकर जीव होना कहते हैं और जो उपाधिउपहित जीवको ब्रह्म होना कहते हैं उनके मतमें जीव व ब्रह्मका और परस्पर जीवोंके कर्म व भोगका व्यतिकर होना आदि सब दोष प्राप्त होते हैं जो यह कहा जाय कि, भ्रान्त ब्रह्मके जीव होनेके वाद में भी अविद्याउपाधिसे हुये भेदसे भोगकी व्यवस्था (अवस्थाभेद) होना संभव है इसका उत्तर आगे वर्णन करते हैं ॥ ४८ ॥

आभास एव च ॥ ४९ ॥

अनु०—आभास ही है ॥ ४९ ॥

भाष्य—हेतुशब्द सूत्रमें शेष है आभासही है अर्थात् हेतु आभासही है आशय यह है कि, अखण्ड एकरस प्रकाशमात्रस्वरूप ब्रह्मके स्वरूपके तिरोधान (छिपना) पूर्वक उपाधिभेदसे जो जीवप्रतिपादनका हेतु है यह आभासमात्र है अर्थात् हेतु ऐसा भासित होता है परन्तु यथार्थ हेतु नहीं है क्योंकि प्रकाशस्वरूप ब्रह्मके प्रकाश (ज्ञानरूपप्रकाश) का तिरोधान होना व अविद्या प्राप्त होना ब्रह्मके स्वरूपका नाशही होना है इसका विशेष व्याख्यान पूर्वही कियागया है अथवा आभासा एव ऐसा पाठ सूत्रका है ऐसा पाठ होनेमें अन्य जो हेतु अद्वैत व ब्रह्मअज्ञानके प्रतिपादनके हैं सब हेतु आभासही हैं सिद्धान्तसे सत्य नहीं है ऐसा अर्थ सिद्ध होता है चकार जो सूत्रमें है वह और श्रुति-विरोध होनेके ग्रहणका सूचक है यथा **पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा** इत्यादि अर्थ—पृथक् आत्माको और प्रेरण करनेवालेको मानकर इत्यादि **ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ** इत्यादि अर्थ—ज्ञानवान् व अज्ञान

दो जन्मरहित एक सामर्थ्यवान् व एक असमर्थ है तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति अर्थ—उन दोमेंसे अर्थात् शरीररूप वृक्षमें वर्णन कियेगये जो आत्मा व परमात्मा दो पक्षी हैं उन दोमेंसे एक कर्मफलको खाता है और दूसरा विना खाते वा भोग करते हुये साक्षीरूप देखता व प्रकाशमान् है इत्यादि श्रुतिविरोधसे एक आत्माका मानना असङ्गत है अविद्या कल्पित उपाधिभेदमें सब उपाधियोंसे उपहित होनेमें भी स्वरूपका एक होना अंगीकार करनेसे उपाधिसहितही अवस्थामें प्राप्त ब्रह्ममें जीवोंके भोगका व्यतिकर होगा अब जो पारमार्थिक उपाधिसे उपहित ब्रह्म जीव होनेके वादमें उपाधिभेदका कारण अनादि अदृष्ट है उससे व्यवस्था सिद्ध होना कहा-जाय तो इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ४९ ॥

अदृष्टानियमात् ॥ ५० ॥

अनु०—अदृष्टका नियम न होनेसे ॥ ५० ॥

भाष्य--अद्वैत पक्षमें जब एकही ब्रह्म है तो उपाधिपरम्पराका हेतु अदृष्ट भी ब्रह्मस्वरूपही में आश्रित होनेसे नियमका हेतु न होनेसे व्यवस्था सिद्ध नहीं होसक्ती क्योंकि उपाधि व अदृष्टोंके साथ (अज्ञात कारणोंके साथ) ब्रह्महीका सम्बंध होनेसे ब्रह्मके स्वरूपका भेद वा खण्ड होना संभव नहीं है ब्रह्म सर्वज्ञ व अच्छेद्य (अखण्ड) है ॥ ५० ॥

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५१ ॥

अनु०--ऐसेही संकल्प आदिकोंमें भी अर्थात् सृष्टि संकल्प आदिकोंमें भी ॥ ५१ ॥

भाष्य—अदृष्ट कारणसे हुये सृष्टि संकल्प आदिमें भी उक्तही हेतुसे नियम नहीं होसक्ता अर्थात् अखण्ड सर्वव्यापक ब्रह्मके अनेक जीवभेद होनेका नियम एक ब्रह्महीमें आश्रित अदृष्ट नहीं करसक्ता जो यह कहाजाय कि, खण्डरूप भेद कहनेका अभिप्राय नहीं है प्रदेशभेदसे उपाधिवश जीवभेद होगा इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ५१ ॥

प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५२ ॥

अनु०—प्रदेश भेदसे है जो यह कहाजाय नहीं अन्तर्भावसे (एकके भीतर अन्य होनेसे) ॥ ५२ ॥

भाष्य—जो यह कहाजाय कि, यद्यपि एकही ब्रह्मस्वरूप है और वह खण्ड करनेयोग्य नहीं है तथापि नानाउपाधियोंसे सम्बंधको प्राप्त होता है उपाधि सम्बंधी ब्रह्मके प्रदेशोंके भेदसे भोगकी व्यवस्था होना संभव है तो इसका उत्तर यह है कि, नहीं अर्थात् व्यवस्थाका होना संभव नहीं है क्यों नहीं है अन्तर्भावसे

अर्थात् उपाधियोंके एक देशसे अन्य ब्रह्मके प्रदेशमें जानेसे सब प्रदेशाका सब उपाधिके भीतर आजानेसे अर्थात् सब उपाधियोंके साथ योग होनेसे सब जीवोंके दोष व सुख दुःखका व्यतिहार ब्रह्ममें होगा प्रदेश भेद होनेमें भी सब प्रदेश ब्रह्महीके ब्रह्मस्वरूपके अन्तर्गत होनेसे उन प्रदेशसम्बंधी दुःख ब्रह्महीको होगा पूर्वही नित्य उपलब्धि व अनुपलब्धिका प्रसंग होना अन्यथा दोमें से एक होनेका नियम होगा । उपलब्धिके समान नियम नहीं है इन दो सूत्रों से जो वेदसे बाह्य जीवको सर्व व्यापक मानते हैं उनके पक्षमें दोष वर्णन किया है अब यहां आभासही है इत्यादि सूत्रोंसे जो वेदको अवलम्बन करिके ब्रह्मके एक होनेके वादी हैं उनके मतमें दोष होना वर्णन कियाहै आभासही है इस सूत्रका जो यह अर्थ करतेहैं कि, सूर्य व चन्द्रमाका जलमें प्रतिबिम्ब पडनेके समान जीव ब्रह्मका आभासही है अर्थात् प्रतिबिम्बही है ऐसा अर्थ असङ्गत है क्योंकि प्रतिबि- म्ब रूपवान् साकारवस्तुका साकार व रूपवान् पदार्थमें होता है निरवयव नीरूप पदार्थ ब्रह्मका प्रतिबिम्ब नहीं होसक्ता और अन्य द्रष्टाके अभावमें सर्वज्ञ ब्रह्मका आपही अपनेमें अपनेही स्वरूपके प्रतिबिम्बमें भ्रान्त होना असंभव होनेसे ब्रह्मका जीव होना व बिम्ब व प्रतिबिम्ब होना सिद्ध न होनेसे अयुक्त है ऐसेही अन्य सूत्रोंका अद्वैतपक्षका व्याख्यान अयुक्त है इससे जो व्याख्यान आभासहीहै इत्यादिसूत्रोंका वर्णन कियागया है यही योग्य है ॥ ५२ ॥

इति श्रीशारीरकमीमांसाभाषाभाष्ये श्रीमत्प्रभुदयालुविरचिते
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थपादप्रारंभः ।

तृतीय पाद में आकाशआदिकी उत्पत्ति वर्णन करनेके प्रसङ्ग में जीवकी उत्पत्ति व जीवके स्वरूपका निरूपण करिके अब जीव के उपकरण जो प्राण इन्द्रिय हैं उनकी उत्पत्तिका निरूपण इस पादमें करते हैं ।

प्राणउत्पत्तिवर्णन १ में सू० १—३ अधि० १ ।

तथा प्राणाः ॥ १ ॥

अनु०—वैसेही प्राण उत्पन्न होते हैं ॥ १ ॥

भाष्य—जैसे परमात्मासे आकाशआदिका उत्पन्न होना कहा गया है वैसेही परमात्मासे प्राण उत्पन्न होते हैं उत्पन्न होते हैं यह शब्द सूत्रमें शेष है पूर्व सम्बंध से उत्पन्न होनेका अर्थ ग्रहण कियाजाता है अथवा आत्माके पश्चात् प्राणका वर्णन है इससे आत्माका समीप सम्बंध होनेसे ऐसा अर्थ पूर्वपक्षविषय- क सूत्रका ग्रहण करना चाहिये कि, जैसे आत्मा उत्पन्न नहीं होता वैसेही प्राण

उत्पन्न नहीं होते बहुवचन कहनेसे प्राणशब्द इन्द्रिय अर्थका वाचक है अर्थात् इन्द्रियां उत्पन्न नहीं होतीं क्योंकि जैसे आत्माका उत्पन्न न होना श्रुतिमें कहा है ऐसेही प्राणोंका उत्पन्न न होना सिद्ध होता है यथा यह श्रुति है **असद्वा इदमग्र आसीत् किं तदसदासीदिति ऋषयो वाव तेऽग्रे सदासीत्तदाहुः के ते ऋषय इति प्राणा वाव ऋषयः इति** अर्थ-(अग्रे) आगे अर्थात् सृष्टि से पहिले (इदम्) यह जगत् (असत् वै आसीत्) असत् ही था (किम् तत् असत् आसीत्) वह असत् क्या था इस प्रश्न-पर यह उत्तर है (ऋषयः वाव ते अग्रे सदासीत् अर्थात् आसन्) वह ऋषिही सृष्टिसे पहिले सत् थे (तदा आहुः) तब कहा अर्थात् प्रश्न किया (के ते ऋषयः) वह ऋषि कौन थे इस प्रश्नपर यह उत्तर है (प्राणाः वाव ऋषयः) प्राणही ऋषि हैं इसप्रकार से सृष्टिसे पहिले प्राणोंका होना श्रुतिसे सिद्ध होनेसे प्राणोंका नित्य होना उत्पन्न न होना सिद्ध होताहै इसका उत्तर यह है कि, प्राण उत्पन्न होते हैं उत्पत्तिरहित नहीं हैं उत्पन्न होनेमें श्रुति प्रमाण है क्योंकि यह श्रुति है **सदेव सोम्येदमग्र आसीत्** **आत्मा वा इदमेक एव अग्र आसीत्** अर्थ-हे सोम्य ! सृष्टिसे पहिले यह जगत् सत्ही था सृष्टिसे पूर्व यह जगत् एक आत्माही था इत्यादि श्रुति-योंमें सृष्टिसे पूर्व एकही सत् ब्रह्मका होना वर्णित है इससे और **एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च**-अर्थ-(एतस्मात्) इससे ब्रह्मसे (प्राणः जायते) प्राण उत्पन्न होताहै (च) और (मनः सर्वेन्द्रियाणि) मन व सब इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं इस श्रुतिसे स्पष्ट उत्पन्नहोना सिद्ध है आत्माके समान प्राणके नित्यहोनेके प्रतिपादनमें श्रुति नहीं है इससे प्राणका उत्पन्न न होना सिद्ध नहीं होता और सृष्टिके पूर्व जो प्राणको होना कहाहै वहां प्राणशब्दसे परमात्माहीको वर्णन किया है प्राणशब्द परमात्मावाचक भी प्रसिद्ध है यथा अन्य श्रुतिने परमात्माको प्राण शब्दसे वर्णन किया है **सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते इति** अर्थ-(सर्वाणि ह वै इमानि भूतानि) निश्चय यह सब भूत अर्थात् सब प्राणी (प्राणम् अभिसंविशन्ति) प्राणमें प्रवेश करते हैं अर्थात् लीन होते हैं (प्राणम् अर्थात् प्राणात् अभ्युज्जिहते) प्राण से उत्पन्न होते हैं इससे सृष्टिसे पहिले ब्रह्महीको प्राण वा प्राणरूप होना कहा है यद्यपि आत्माके समान उत्पन्न न होना पूर्वपक्ष लेकर इस सूत्रका व्याख्यान जैसा किया

---

१ यह छान्दोग्यकी श्रुति है ।
२ यह ऐतरेय उपनिषद्की श्रुति है ।
३ यह मुण्डक उपनिषद्की श्रुति है ।
४ यह छान्दोग्यकी श्रुति है ।
५ यहां पंचमीके स्थान में द्वितीया समझना चाहिये क्योंकि वैदिकप्रयोग में सुप् आदिका व्यत्यय होजाता है वैदिकप्रयोगके समान यहां समझना चाहिये ।

गया है होसक्ता है परन्तु इस अर्थ में उत्पन्न होनेका उत्तर आप से कहकर घटित करना पड़ता है सूत्रकारका कोई सूत्र सिद्धान्तपक्षका नहीं मिलता इससे आकाशके समान उत्पन्न होता है यही अर्थ ग्रहण करना उत्तम है अब इस आक्षेपका कि, प्राणकी उत्पत्ति वर्णन करनेवाली श्रुति गौणी है प्राणका उत्पन्न न होनाही मुख्य मानना चाहिये समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

गौण्यसंभवात्तत्प्राक्छ्रुतेश्च ॥ २ ॥

अनु०–गौणी संभव न होनेसे और उसीको पूर्व (सृष्टिसे पूर्व) होना श्रुतिसे अर्थात् श्रुतिसे सिद्ध होनेसे ॥ २ ॥

भाष्य–प्राणकी उत्पत्तिप्रतिपादक श्रुतिका गौणी होना संभव न होनेसे गौणी नहीं है संभव न होना कहनेका आशय यह है कि, प्राणको श्रुतिमें प्रकृतिरूप वर्णन नहीं किया कार्यरूप वर्तन किया है यथा **एतस्माज्जायते प्राणः** अर्थ– इससे प्रकृतिरूप ब्रह्मसे प्राण उत्पन्न होता है **स प्राणमसृजत्** उसने प्राणको उत्पन्न किया, इत्यादि कार्यका नित्य होना संभव नहीं है इससे और सृष्टिसे पूर्व उसीका अर्थात् ब्रह्महीका होना श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध होनेसे प्राण उत्पन्न होते हैं प्राणका उत्पत्तिरहित होना संभव न होनेसे श्रुति में प्राणकी उत्पत्तिका वर्णन मुख्य है इससे उत्पत्तिप्रतिपादक श्रुति मुख्य है गौणी नहीं है और **तत्प्राक् श्रुतेः** इस का ऐसा भी अर्थ ग्रहण करते हैं उससे पूर्व श्रुतिसे, अर्थात् उससे नाम प्राणसे पूर्व (पहिले) उत्पन्न होता है यह शब्द श्रुतिसे अर्थात् श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध होनेसे, तात्पर्य यह है कि, **एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च** इत्यादि अर्थ–इससे प्राण उत्पन्न होता है और मन व सब इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं ऐसेही आकाश वायु तेज पृथिवीका उत्पन्न होना कहा है इस श्रुतिमें जायते शब्द जिसका अर्थ उत्पन्न होता है यह है प्राण शब्दसे पहिले श्रुतिमें कहा है यही मुख्य उत्पन्न होनेका वाचक शब्द मनसे लेकर पृथिवीपर्य्यन्त उत्पन्न कहेगये पदार्थोंके साथ सम्बंध रखता है उन्हींके साथ प्रथम गणना प्राणकी है अर्थात् प्रथम नाम प्राणका पठित है उसमें गौण प्रयोग होनेका कोई विशेष हेतु नहीं है इससे अन्य मन आदिके समान प्राणोंका उत्पन्न होना भी मुख्यही अर्थसे श्रुतिमें वर्णित है यह निश्चय करना चाहिये ॥ २ ॥

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ३ ॥

अनु०–वाक्के उस पूर्वक होनेसे (सृष्टिपूर्वक होनेसे) ॥ ३ ॥

भाष्य–सृष्टिसे पहिले एक सत्शब्द वाच्य ब्रह्मसे भिन्न नाम व रूपका अभाव होनेसे वाक् (वाणी) का अभाव होनेसे प्राणशब्दवाच्य पदार्थ व

प्राणशब्दका अभाव था क्योंकि वाक्की प्रवृत्ति वाक्के विषय आकाश आदिकोंकी सृष्टिपूर्वक होती है अर्थात् सृष्टि होनेके पश्चात् वाक्की प्रवृत्ति होती है यथा **तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते** अर्थ-वह उक्त यह जगत् तो नामरूपरहित प्रकट नहीं था वह नाम व रूपसे प्रकट कियाजाता है प्रलयमें कार्यरूप वाक्आदि इन्द्रियोंके अभावसे प्राण वा प्राण शब्दवाच्य इन्द्रियोंका अभाव था इससे प्राणका उत्पत्तिरहित होना सिद्ध नहीं होता प्राण उत्पन्न होते हैं सृष्टिसे पूर्व जो प्राणका होना कहा है वह प्राण शब्दसे ब्रह्मका कथन है अर्थात् प्राणशब्द ब्रह्मवाचक है ब्रह्म सब रूप व आकार व प्राणभेदोंमेंभी सत्तारूप विद्यमान होनेसे बहुवचन कहनेमें दोष नहीं है ॥ ३ ॥

इन्द्रियोंके सात वा ग्यारह होनेके निरूपणमें सू० ४ व ५ अधि० २ ।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ४ ॥

अनु०-सात हैं गतिसे विशेषित होनेसे ॥ ४ ॥

भाष्य--प्राणोंकी उत्पत्तिका वर्णन करिके अब प्राणोंकी अर्थात् इन्द्रियोंकी संख्यामें जो कईप्रकारसे श्रुतियोंमें वर्णन कियेजानेसे यह संशय होता है कि, कौन संख्या को निश्चित समझना चाहिये उसके निर्णयके लिये प्रथम पूर्वपक्षमें यह कहा है सात हैं गतिसे विशेषित होनेसे अर्थात् उत्पन्न हो व मरनेमें जीवके साथ सातही प्राणोंका संचार होना श्रुतिमें वर्णन किया है इससे सात ही प्राण (इन्द्रिय)हैं यथा मुण्डकउपनिषद्में यह श्रुति है **सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्तहोमाः। सप्त इमे लोकाः येषु संचरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त** अर्थ-(सप्तार्चिषः) सातप्रकारकी अपने अपने विषयको जतानेवाली किरणें जिनकी हैं और (सप्त होमाः) सात प्रकारका जिनका होम अर्थात् जिनकी ग्रहणकी शक्ति है ऐसे (सप्त प्राणाः) सात प्राण अर्थात् पांच ज्ञान इन्द्रिय वाक् व मन(तस्मात्)उससे अर्थात् उस आदिपुरुष परमात्मासे (प्रभवन्ति) उत्पन्न होतेहैं तथा(समिधः)ईंधन अर्थात् उक्त सात इन्द्रियोंके सातप्रकारके विषय प्राणकी शक्तियोंके अग्निको उत्तेजित करनेवाले ईंधन हैं(सप्त इमे लोकाः) सात यह लोक हैं (येषु) जिनमें (गुहाशयाः प्राणाः) गुहारूप अन्तःकरण वा हृदयमें सोनेवाले अर्थात् रहनेवाले प्राण (सञ्चरन्ति) विचरते हैं अर्थात् जन्म व मरण व शरीरकी स्थिति में आत्माके साथ इन पृथिवी आदि सात लोकोंमें विचरते हैं यह प्राण (सप्त सप्त निहिताः) सात सात स्थापित हैं अर्थात् परमात्मासे प्रत्येक शरीरमें सात सात स्थापित हैं इसप्रकारसे सातका वर्णन होनेसे सातहीका होना निश्चित होता है अन्य विषयोंके ग्राहक होनेसे कहीं आठ वर्णन

किया है यथा **अष्टौ ग्रहाः** अर्थ–आठ ग्रहणकर्ता इन्द्रिय हैं हाथ सहित सात जो ऊपर वर्णन किया है आठ कहा है कहीं सात शीर्षण्य (शिरवाले) जो सात नेत्र कर्ण नासिका व मुखके छेद हैं यह सात व दो नीचेके छिद्र स्थानको इन्द्रिय मानके कहीं नव इन्द्रिय वर्णन किया है कहीं पांच ज्ञानइन्द्रिय व पांच कर्मइन्द्रियको मिलाके दश इन्द्रिय कहा है कहीं मनसहित ग्यारह इन्द्रिय वर्णन किया है कहीं बुद्धि चित्त अहङ्कार सहित चौदह वर्णन किया है परन्तु सातसे अधिक का जीवके साथ जाना उक्त श्रुतिमें नहीं कहा इससे जीवके अल्प उपकारक होनेमात्रसे उनको उपचारसे प्राण कहा है मुख्य अर्थसे गतिविशेषित होनेसे सातही हैं इसके उत्तरमें सिद्धान्त आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ५ ॥

अनु०–स्थितमें (स्थितजीवमें) हस्त (हाथ) आदि भी हैं इससे ऐसा नहीं है ॥ ५ ॥

भाष्य–स्थित जीवमें श्रोत्र नेत्र आदिके समान जीवके उपकार करनेवाले और अपने अपने भिन्नकार्य करनेवाले हस्त आदिभी हैं इससे ऐसा नहीं है अर्थात् इन्द्रिय सातही नहीं हैं इससे इस श्रुतिप्रमाण से **दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः**[1] अर्थ–(पुरुषे) पुरुषमें अर्थात् जीवमें (इमे प्राणा दश) यह प्राण दश हैं (आत्मा एकादशः) मन ग्यारहवाँ है ग्यारह इन्द्रिय हैं इस श्रुति में आत्मा शब्द मनका वाचक है क्योंकि आत्मा शब्दके शरीर बुद्धि आदि अन्यभी अर्थ हैं बुद्धि चित्त अहंकार मनहीकी वृत्तियोंके भेदके नाम हैं इससे मनही बुद्धिआदि नामसे वृत्तिभेदसे कहा जाता है अर्थात् निश्चय वृत्तिसे बुद्धि अभिमानवृत्तिसे अहङ्कार चिन्ता वा स्मरणवृत्तिसे चित्त कहाजाताहै इससे ग्यारह से अधिक संख्या माननेकी आवश्यकता न होनेसे ग्यारह इन्द्रिय होना निश्चय करना चाहिये शब्द स्पर्श रूप रस गंध इन पांच विषयोंके ज्ञानकेलिये पांच करण कर्ण (कान) त्वक् (चमडा) नेत्र जिह्वा नासिका यह पांच ज्ञानइन्द्रिय और बात करना ग्रहण करना चलना मलत्याग करना व मैथुन आनन्दलाभ करना यह कर्मभेद हैं इनकेलिये आवश्यक पांच करण अर्थात् इन्द्रिय वाक् हस्त पाद पायु गुदा व उपस्थ (लिङ्ग वा योनि) और सुख दुःख बोध होनेका करना व सब बाह्य इन्द्रियोंके विषयोंकाभी ग्राहक ग्यारहवां अन्तःकरण मन है ग्यारहसे न्यून संख्या जहां वर्णन कियाहै वहां गमन आदि कार्यकेलिये जितना कहनेकी आवश्यकता रहीहै उस अभिप्रायसे न्यून संख्याका कथन है अधिक बुद्धिआदि मनहीके भेद हैं यह श्रुतिमें वर्णन कियाहै इससे मनहीके अन्तर्गत होनेसे मनके कहनेसे उनकाभी

---

१ बृहदारण्यक उपनिषद्के श्रुतिका प्रतीक है ।

कथन होजाताहै श्रुति यह है **कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव** अर्थ–काम संकल्प संदेह श्रद्धा अश्रद्धा धैर्य्य अधैर्य्य लज्जा बुद्धि भय यह सब मनही है अर्थात् यह सब मनहीके कार्य हैं इससे अधिक माननेकी आवश्यकता नहींहै भावविशेषसे जहां अधिक भी कहा है उसमें दोष नहीं सिद्धान्तमें ग्यारहीका मानना युक्त है ॥ ५ ॥

इन्द्रियोंके अणु होनेके वर्णनमें सू० ६ व ७ अधि० ३ ।

अणवश्च ॥ ६ ॥

अनु०–अणु भी हैं ॥ ६ ॥

भाष्य–प्राण अणु भी हैं पूर्वसम्बंधसे प्राणशब्दकी अनुवृत्ति होती है प्राण अणु हैं अर्थात् सूक्ष्म हैं व्यापक नहीं हैं यह इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये कहा है कि, श्रुतिमें ऐसा वर्णन है **ते एते[1] सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः** अर्थ–(ति एते) ते यह अर्थात् प्राण (सर्वे समाः एव) सब समानही हैं (सर्वे अनन्ताः) सब अनन्त हैं इससे प्राणोंका व्यापक होना विदित होता है इस श्रुतिमें जो अनन्त कहा है यह प्राणके कार्योंके अनेक व अधिक होने व प्राणमें ब्रह्मका अध्यास करके उपासना करनेके अभिप्रायसे कहा है यथा यह श्रुति है **यो हैतानन-न्तानुपास्ते** अर्थ–जो इन अनन्तोंको उपासन करता है इत्यादि सिद्धान्तमें प्राण अणु हैं क्योंकि श्रुतिमें प्राणोंका गमन वर्णन है व्यापकका जाना व आना नहीं होसका श्रुति यह है **प्राणमनुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति** अर्थ–निकलतेहुये प्राणके पीछे सब प्राण अर्थात् इन्द्रिय निकलते हैं अर्थात् शरीरको त्याग करते हैं ऐसा श्रुतिमें कहनेसे व मरनेवालेके पास बैठेहुयेको भी निकलते प्रत्यक्ष न होनेसे प्राणोंका सूक्ष्म होना सिद्ध है ॥ ६ ॥

श्रेष्ठश्च ॥ ७ ॥

अनु०–श्रेष्ठ भी ॥ ७ ॥

भाष्य--सामान्यसे प्राणशब्दसे वाच्य इन्द्रियोंके समान श्रेष्ठ जो मुख्य प्राण है वहभी उत्पन्न होता है यह अर्थ है क्योंकि प्रलयमें एक ब्रह्मसे व्यतिरिक्त अन्यका अभाव श्रुतिमें वर्णन किया है जैसा पूर्वही वर्णन किया गया है अथवा यह अर्थ है कि, प्राण श्रेष्ठ भी है श्रुति में वर्णन किया है **प्राणो वाव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च** अर्थ–प्राण निश्चयसे ज्येष्ठ व श्रेष्ठ है सब प्राणोंसे अर्थात् इन्द्रियोंसे प्राणकी प्रथम उत्पत्ति वर्णन होनेसे मुख्य प्राण सब इन्द्रियोंसे ज्येष्ठ और सब इन्द्रियोंसे गुण व व्यापारमें अधिक होनेसे श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

---

१ यह बृहदारण्यक उपनिषदकी श्रुति है ।
२,३,४ यह भी बृहदारण्यक की श्रुति हैं ।

मुख्य प्राणके स्वरूपनिरूपण में सू० ८ से ११ तक अधि० ४ ।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ८ ॥

अनु०-पृथक् उपदेश होनेसे वायु व क्रिया नहीं है ॥ ८ ॥

भाष्य-यह श्रुति है **यः प्राणः स वायुः** अर्थ-जो प्राण है सो वायु है इससे यह विदित होता है कि, वायुही को प्राण कहते हैं और लोक में उच्छ्वास व निश्श्वास अर्थात् शरीरके बाहर व भीतर वायुके आने व जानेकी जो क्रिया है उसको प्राण शब्द कहना प्रसिद्ध है इससे वह क्रियाही प्राण है यह ज्ञात होता है परन्तु इसमें यह निश्चित नहीं होता कि, सिद्धान्त क्या मानना चाहिये इससे यह कहा है कि, प्राण न वायु है न क्रिया है किस हेतुसे वायु व क्रिया नहीं है पृथक् उपदेशसे अर्थात् श्रुतिमें वायु व क्रियासे पृथक् (भिन्न) प्राणका उपदेश होनेसे अर्थात् श्रुतिमें प्राणको वायु व क्रियासे भिन्न कहा है इससे प्राण दोनोंसे भिन्न है श्रुति यह है **एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी** अर्थ-इससे अर्थात् इस उक्त ब्रह्मसे प्राण उत्पन्न होता है और मन व सब इन्द्रिय आकाश वायु तेज जल उत्पन्न होते हैं व विश्वकी धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है मन इन्द्रिय व वायु से भिन्न उत्पन्न होना कहनेसे वायु व वायुकी क्रियासे प्राणका भिन्न होना सिद्ध होता है परन्तु इसमें इस शंकाकी प्राप्ति है कि, इस श्रुतिमें पृथक् वर्णन होनेसे वायुसे प्राण भिन्न है यह विदित होता है अन्य श्रुतिमें प्राणको वायु होना वर्णन किया है यथा **यः प्राणः स वायुः** अर्थ-जो प्राण है वह वायु है इससे श्रुतियोंमें विरोध पायाजाता है इसका समाधान यह है कि, अवस्थान्तरको प्राप्त वायुही प्राण नामसे कहाजाता है और अवस्था व कार्य भेदसे प्राण अपान समान उदान व्यान नामसे भी वायु कहाजाता है अवस्थाही भेद होनेसे श्रुतिमें वायुसे भिन्न वर्णन किया है क्योंकि वायुमात्र नहीं है यथा कुण्डल यद्यपि सुवर्णहीका विकाररूप कार्य है परन्तु सुवर्णमात्र न होनेसे सुवर्ण से भिन्नही वर्णन किया जायगा ऐसाही श्रुतिमें भी कहा है **वायुरेवाय-मध्यात्ममापन्नः पञ्चव्यूहो विशेषात्मनावतिष्ठमानः प्राणो नाम भण्यते न तत्वान्तरं न वायुमात्रं** अर्थ-(अध्यात्मन् आपन्नः) शरीरको प्राप्तहुआ (पञ्चव्यूहः) पांच प्रकारके स्वरूपभेदमें हुआ (विशेषात्मना अवतिष्ठमानः) विकाररूपसे स्थित (वायुः एव) वायुही (प्राणः नाम भण्यते) प्राण इस नामसे कहा जाता है (न तत्वान्तरं) न अन्यतत्व है (न वायु-मात्रं) न वायुमात्र है । इससे भेद व अभेद से कहलेनेमें दोष नहीं है अब यह शंका है कि, प्राण विषयमें यह श्रुति है **सुप्तेषु वागादिषु प्राण एवैको**

जागर्ति इत्यादि तथा प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्

अर्थ–(सुप्तेषु वागादिषु) सोये हुये वाक्आदि इन्द्रियों में (एकः प्राणः एव) एक प्राण ही (जागर्ति) जागता है अर्थात् जब वाक्आदि इन्द्रिय सब चेष्टा व्यापाररहित होजाते हैं तब सुप्त अवस्था में प्राण ही व्यापार-युक्त रहता है (प्राणः) प्राण अर्थात् मुख्य प्राण (इतरान् प्राणान्) अन्य प्राणोंको अर्थात् इन्द्रियोंको (पुत्रान् माता इव) जैसे पुत्रों को माता इस प्रकारसे (रक्षति) रक्षा करता है ऐसे कथन से जीवके समान प्राणका भी स्वतंत्र होना ज्ञात होता है इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ८ ॥

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ ९ ॥

अनु०–नेत्रआदिके समानही है उनके साथ शासन वा उप-देशआदि होनेसे ॥ ९ ॥

भाष्य–नेत्रआदिके इन्द्रियोंके समान प्राण जीवका उपकरण मात्र है जीवके समान स्वतंत्र व भोक्ता व कर्ता नहीं है कर्ता व भोक्ता व इच्छा अनुसार स्वतंत्र कर्ममें प्रवृत्त होनेवाला जीवही है प्राणका,चक्षुआदिके समान होना कैसे सिद्ध होता है उनके साथ नेत्रआदि इन्द्रियोंके साथ श्रुतिमें प्राणका उपदेशआदि होनेसे अर्थात् प्राण संवाद आदिमें नेत्र आदिकोंके साथ ही प्राण वर्णन कियागया है समान धर्म होनेहीसे इन्द्रियोंके साथ पठित होना ज्ञात होता है आदिशब्द से प्राणका अचेतन होना आदि का विज्ञापन है अर्थात् अचेतन होनेआदिसे भी प्राण कर्ता भोक्ता व स्वतंत्र नहीं होसक्ता अब यह शङ्का है कि, जो प्राण नेत्र आदि करणके समान होता तो नेत्र आदिके विषयरूप आदिके समान कोई प्राणका भी विषय होता जो प्राणके द्वारा ग्रहण कियाजाता सो ऐसा कोई ज्ञात नहीं होता इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

अकरणत्वाच्च न दोषः तथाहि दर्शयति ॥ १० ॥

अनु०–करण न होनेसे दोष नहीं है और वैसाही श्रुति देखाती है अर्थात् श्रुतिभी ऐसेही वर्णन करती है ॥ १० ॥

भाष्य–प्राण करण (इन्द्रिय) नहीं है इससे प्राणसे ग्राह्य विषय न होनेमें दोष नहीं है चक्षुआदिके समान उपकारक प्राण है उपकरण में नेत्र आदिके साथ समानधर्मता है करण होनेमें समान सहनेका आशय नहीं है प्राण शरीरधारणका कारण है जैसा बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राणही देहधारणका हेतु होने व अन्य इन्द्रियोंसे प्राणके श्रेष्ठ होनेमें ऐसा वर्णन है कि, एक एक अन्य नेत्रआदि इन्द्रियोंके न रहनेपरभी शरीर अन्य इन्द्रियोंसहित स्थित बनारहा जब प्राण निकलने लगा सब इन्द्रिय शिथिल होकर कहा कि विना तेरे

हम एकभी नहीं रहसकते इससे श्रुतिमें यह वर्णन किया है **यस्मिन्नुत्क्रान्त इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स एव श्रेष्ठः** अर्थ–(यस्मिन् उत्क्रान्ते) जिसके निकल जानेमें (इदं शरीरं) यह शरीर (पापिष्ठतरम् इव) अति अशुद्ध ऐसा (दृश्यते) देखाजाता है अर्थात् शरीर मल मूत्र मांस रुधिर दुर्गन्धका पात्र होनेसे ऐसा पाप व अशुद्धरूप है परन्तु जीते में अनेक उत्तम व्यापार व ज्ञान व आत्मा व प्राण सम्बंध से उत्तम भी है जिस प्राणके न रहनेसे मृत शरीर किसी कामका नहीं रहता अतिअशुद्ध व निरर्थक समझा जाता व देखा जाता है (स एव) वही (श्रेष्ठः) श्रेष्ठ है इस से सब इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ प्राण अपान व्यान उदान समान पांच अवस्था से अवस्थित प्राण शरीर इन्द्रिय धारण करने आदि से जीवका उपकारी है इस से चक्षु (नेत्र) आदिके समान प्राण जीवका उपकरण विशेष है अब यह आक्षेप करिके कि, प्राण अपान आदि पांच सुने जाते हैं नाम भेद व कार्यभेद होनेसे प्राणआदिकोंका एक दूसरे से भिन्न वस्तु होना संभव है समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥ ११ ॥

अनु०–पांच हैं वृत्तियां जिसकी ऐसा पंचवृत्ति प्राण मनके समान कहा जाता है ॥ ११ ॥

भाष्य–जैसे कामआदि वृत्तियों में भेद होने व कार्य भेद होने पर भी काम आदि मनसे भिन्न वस्तु नहीं हैं क्योंकि श्रुति में कहा है **कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव** अर्थ-- काम, संकल्प संदेह श्रद्धा अश्रद्धा धैर्य अधैर्य लज्जा बुद्धि भय यह सब मनही हैं अर्थात् मनहीके कार्य हैं ऐसेही प्राण अपान व्यान उदान समान प्राणही है ऐसा वर्णन होनेसे प्राणहीकी यह पांच वृत्ति विशेष हैं अन्य पदार्थ नहीं हैं कोई आचार्य प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति इन पांच वृत्तियोंके समान प्राणआदि पांच वृत्तियोंका होना वर्णन करते हैं यह अर्थ भी समसङ्ख्या होनेसे युक्त है परन्तु अनेक वृत्ति होनेमात्रसे अभिप्राय होने और श्रुतिप्रमाण मुख्य होने और मुख्य वृत्ति सङ्कल्प प्रमाण आदि पांच संख्या में न आनेसे पूर्वही अर्थ ग्राह्य है ॥ ११ ॥

मुख्य प्राणके अणु होनेके वर्णन में सू० १२ अधि० ५ ।

अणुश्च ॥ १२ ॥

अनु०–अणु भी है ॥ १२ ॥

भाष्य–मुख्य प्राण अन्यप्राण के समान अणुभी है क्योंकि श्रुतिमें **तमु-**

त्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति अर्थ--उसके अर्थात् मुख्य प्राणके निकलते हुये सब प्राण निकलते हैं अर्थात् शरीरको त्याग करते हैं उत्क्रमण (निकलना) व्यापकमें नहीं होसक्ता इससे अणु है व्यापक वर्णन करनेका हेतु अर्थात् कहीं प्राणको व्यापक कहा है उसका हेतु पूर्वही **अणवश्च** इस सूत्रके व्याख्यानमें वर्णन कियागया है ॥ १२ ॥

अग्नि आदिके अधिष्ठानवर्णनमें सू० १३ व १४ अधि० ६ ।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्प्राण-वता शब्दात् ॥ १३ ॥

अनु०--जीवसहित अग्नि आदिका अधिष्ठान तो उसके परमात्माके आमननसे (विचार वा सङ्कल्पसे) होता है शब्दसे (शब्दप्रमाणसे) ॥ १३ ॥

भाष्य--मुख्य प्राणसहित प्राणोंकी उत्पत्ति व प्राणोंका परिमाण वर्णन कियागया अब यह विचार करते हैं कि, पूर्वही **अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्** इस सूत्रमें प्राण (इन्द्रियां) अग्नि आदि देवताओंके अधिष्ठान (मुख्यस्थान) है अर्थात् प्राणोंमें अग्निआदि देवता रहते हैं यह प्रतिपादन किया गयाहै और जीव सब अपने भोगसाधनरूप प्राणोंका (इन्द्रियोंका) अधिष्ठान है यह अधिष्ठाता है यह लोकमें सिद्ध है और **एवमेवैष एतान्प्राणान्गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते** अर्थ--(एवम् एव) ऐसेही (एषः) यह अर्थात् जीव (एतान् प्राणान्) इन प्राणोंको (गृहीत्वा) ग्रहण वा धारण करके (यथाकामम्) इच्छा अनुसार (परिवर्तते) कर्मों में प्रवृत्त होता है इत्यादि श्रुति वाक्यों से भी सिद्ध है यह जीवका और अग्नि देवताओंका प्राण अधिष्ठान होना जीव व प्राणोंके अधीन है या परमात्माके अधीन है यह निर्णय करनेके लिये यह कहा है कि, जीवसहित अग्नि आदि देवताओंका वाक्आदि इन्द्रिय अधिष्ठान परमात्माके संकल्प से होता है अर्थात् परमात्माके संकल्प व नियम के अधीन है यह शब्दप्रमाणसे सिद्ध है यथा अन्तर्यामी ब्राह्मणआदि में कहा है **योऽग्नौतिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निश्शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः** अर्थ--जो अग्निमें स्थित हुआ अग्निके मध्यमें है जिसको अग्नि नहीं जानता जिसका अग्नि शरीर है जो अग्निमें विद्यमान अग्निको नियम में रखता है वह अंतर्यामी अमृत अर्थात् नित्य तेरा आत्मा है तथा **यो वायौ तिष्ठन् य आदित्ये तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन् यश्चक्षुषि तिष्ठन् इत्यादि** अर्थ-- जो वायु में रहता हुआ, जो सूर्य

में रहता हुआ जो आत्मा में रहता हुआ जो नेत्रमें रहता हुआ इत्यादि अग्निके समान वायु आदि सब में परमात्माका शरीरमें जीवात्माके समान विद्यमान रहना व सबका नियन्ता होना वर्णन किया है श्रीशङ्कराचार्यजी इस सूत्रके दो विभाग करके दो सूत्र स्थापन किये हैं **ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्** इतना एकसूत्र है इसका अर्थ ऐसा वर्णन करते हैं ज्योतिआदि अर्थात् अग्नि आदिके अधिष्ठान है उसके (अग्निआदिके अधिष्ठानके) आमननसे अर्थात् श्रुतिमें प्रतिपादन होनेसे इसका व्याख्यान यह है कि, इस संशय निवारणके लिये कि, वाक्आदि इन्द्रिय अपने कार्यमें अपने महिमा व सामर्थ्य-से आप प्रवृत्त होते हैं वा यह किसी देवताओंके अधिष्ठान हैं उनसे अधिष्ठित होकर प्रवृत्त होते हैं यह कहा है कि, अग्नि आदिका वाक्आदि इन्द्रिय अधि-ष्ठान हैं यह शब्दसे सिद्ध है यथा **अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्** अर्थ--अग्नि वाक् होकर मुखमें प्रवेश किया, वायु प्राणरूप होकर नासिकामें प्रवेश किया इत्यादि वाक्रूप आदि होकर अग्नि आदिके प्रवेश करनेसे वाक्आदि करणमें वाक्के देवता अग्निआदिके स्थित होनेसे प्रयोजन है इसपर यह आक्षेप करिके कि, जो वाक्आदि इन्द्रिय वा प्राणके देवता हैं तो उनका भोक्ता भी होना संभव है जीवका भोक्ता होना सिद्ध न होगा परिहारमें यह सूत्र वर्णन किया है **प्राणवता शब्दात्** अर्थ—प्राणवान् सहित शब्दसे (शब्दप्रमाणसे) इसका व्याख्यान यह है कि, प्राण-वान् जो प्राणोंका स्वामी अधिष्ठाता जीव है उसके साथ ही प्राणों व प्राणोंके देवता-ओंका शरीरके साथ सम्बंध है देवता भी जीवात्माके भोगके उपकारक है स्वयं भोक्ता नहीं है शब्दसे जीवात्माहीका भोक्ता होना सिद्ध होता है यथा **यत्रैतदा-काशमनुप्रविष्टं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषः दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदे-दं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणं** अर्थ—जिसमें अर्थात् जिस गोलक में यह आकाश अर्थात् छिद्रमें अनुप्रविष्ट चक्षु इन्द्रिय है चाक्षुष (चक्षु का अभि-मानी) जो है वह पुरुष है दर्शनके लिये (रूपदर्शनके लिये) चक्षु (नेत्र इन्द्रिय) है और जो यह जानता है कि, मैं सूंघता हूँ वह आत्मा है अर्थात् चेतनरूप आत्मा है गंधके जाननेके लिये नासिका करणरूप है इत्यादि ऐसा व्याख्यान भी युक्त है परन्तु अभिमानी देवताओंका निरूपण पूर्वही सूत्रकार करचुके हैं इससे इस व्याख्यानका निषेध करिके जैसा ऊपर वर्णन किया गया है वैसा श्रीरामानुजाचार्यने व्याख्यान किया है पूर्वही अर्थ उक्त हेतुसे युक्त व विशेष ग्राह्य है ॥ १३ ॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १४ ॥

अनु०--और उसके नित्य होनेसे ॥ १४ ॥

भाष्य–और उसके अर्थात् सबका जो परमात्मासे अधिष्ठित होना है उसके नित्य होनेसे अर्थात् परमात्मा सबका नित्य नियन्ता व अधिष्ठाता होनेसे उसके संकल्प ही व नियम से जीव व अग्निआदि देवताओंका अधिष्ठाता होना सिद्ध होता है यथा श्रुति में कहा है **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् इत्यादि** अर्थ-(तत् सृष्ट्वा) उसको अर्थात् उक्त जगत्को रचकर (तदेव) उसीमें अर्थात् जगत्में (अनुप्राविशत्) पूर्वकल्पके सदृश प्रविष्ट हुआ अर्थात् व्याप्त हुआ (तत्) उसमें (अनुप्रविश्य) पूर्वके समान प्रवेश करके (सत्) विद्यमान प्रत्यक्ष स्थूल (च) और (त्यत्) वह अर्थात् अविद्यमान अर्थात् अप्रत्यक्ष सूक्ष्म अमूर्त दोप्रकारका जगत् (अभवत्) हुआ इत्यादि से सबमें प्रविष्ट परमपुरुषके नियन्ता होनेसे सब चिदचित्वस्तुमें ब्रह्मका व्याप्तहोना श्रुतिमें वर्णित है ॥ १४ ॥

मुख्य प्राण व इन्द्रियोंके भेदवर्णनमें सू० १५ व १६ अधि० ७ ।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १५ ॥

अनु०–श्रेष्ठसे अन्यत्र (अन्यमें) उनके (इन्द्रियोंके) कथन से वह इन्द्रिय भिन्न हैं ॥ १५ ॥

भाष्य–इस संदेहनिवृत्ति होनेके लिये कि, सर्वत्र वा सब कहेहुये प्राणशब्द-मात्रमें इन्द्रियोंका अर्थ ग्रहण करना चाहिये अथवा श्रेष्ठ प्राणसे भिन्न कहेहुये प्राणोंमें प्राणशब्दका अर्थ इन्द्रिय ग्रहण करना चाहिये यह कहा है श्रेष्ठसे अन्यमें वा अन्योंमें इन्द्रियोंके कहनेसे इन्द्रिय भिन्न हैं अर्थात् प्राणसे भिन्न हैं भिन्न शब्द सूत्रमें शेष है यथा **इंद्रियाणि दशैकञ्च** इत्यादि अर्थ–इन्द्रिय ग्यारह हैं पांच ज्ञान इन्द्रिय पांच कर्म इन्द्रिय व अन्तःकरण मन यह ग्यारह इन्द्रिय हैं यह ग्यारह इन्द्रिय नामसे वाच्य होते हैं श्रेष्ठ प्राण कभी इन्द्रिय नामसे नहीं कहाजाता श्रेष्ठ प्राणसे भिन्न अर्थ म इन इन्द्रियोंके लिये भी प्राणशब्द कहा जाता है ॥ १५ ॥

भेदश्रुतेर्वैलक्षण्याच्च ॥ १६ ॥

अनु०–भेद सुननेसे वा भेद प्रतिपादक श्रुति होनेसे विलक्षण होनेसे भी ॥ १६ ॥

भाष्य–श्रुतिमें प्राणको मन व इन्द्रियोंसे भिन्न वर्णन किया है **यथा**

---

१ अनुप्राविशत् का अर्थ पीछे प्रवेश किया यह होता है प्रायः यही अर्थ ग्रहण करते हैं परन्तु प्रवेश करनेके पूर्व जगत् देशमें सर्वव्यापक ब्रह्मका अभाव होना युक्त नहीं है अभाव न होनेमें प्रवेश करना कहना असङ्गत है इससे अनु शब्दका सादृश्य अर्थ ग्रहण करके जैसा पूर्व-कल्पमें जगत् रचकर सब जगत्में व्याप्त था ऐसेही वर्तमान जगत्को रचकर प्रवेश किया अर्थात् व्याप्त हुआ यह तैत्तिरीय उपनिषद्की श्रुति है ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनःसर्वेन्द्रियाणि च अर्थ--इससे (ब्रह्मसे) प्राण उत्पन्न होता है और मन व सब इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं यद्यपि मनको कहीं इन्द्रियोंसे भिन्न कहा है तथापि अन्य श्रुतिमें मनको इन्द्रियोंमें होना कहा है यथा **इन्द्रियाणि दशैकञ्च** अर्थ--इन्द्रिय ग्यारह हैं **मनःषष्ठानीन्द्रियाणि** अर्थ--मन छः इन्द्रिय हैं अर्थात् ज्ञान इन्द्रिय पांच चक्षु आदि व मन यह छः इन्द्रिय हैं इत्यादि विलक्षण होनेसे भी इन्द्रियों व मुख्य प्राण का भेद सिद्ध होता है विलक्षणता यह है कि, सुषुप्ति अवस्थामें किसी इन्द्रियकी वृत्ति नहीं रहती प्राणकी वृत्ति विद्यमान रहती है मनसहित चक्षु आदि इन्द्रियोंका कार्य किसी पदार्थके ज्ञानका साधन होना है प्राणका कार्य शरीर व इन्द्रियोंका धारणकरना है सुषुप्तिमें सब इन्द्रियोंके लय होने में एक प्राणही जागता है प्राणके निकलने में सब इन्द्रिय उसके साथ शरीरको त्याग करते हैं ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां पूर्वही सू० ६ व ८ के व्याख्यान में लिखी गई हैं इसप्रकार से श्रुति व प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से भेद सिद्ध होनेसे मुख्य प्राण इन्द्रियों से भिन्न है ॥१६॥

जीवके सामर्थ्य से असंभव होनेसे ब्रह्महीं जगत्के कर्ता होनेके वर्णन में सू० १७ से १९ तक अधि० ८ ।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ १७ ॥

अनु०--संज्ञा (नाम) व मूर्तिकी सृष्टि अर्थात् नाम व रूप क व्याकरण तो त्रिवृत् करनेवालेका उपदेश होनेसे ॥ १७ ॥

भाष्य--जीव और जीवके साथ सम्बंध होनेसे प्रसङ्ग से इन्द्रिय व प्राणोंकी उत्पत्ति व स्वरूपआदिका निरूपण करके श्रुति से नाम व रूपका कर्ता जीवके होने की शङ्का संभव होनेसे जीवके कर्ता होनेके निषेध व ब्रह्महीके कर्ता होनेके प्रतिपादनमें यह कहा है नाम व मूर्तिका व्याकरण तो त्रिवृत् करनेवाले का उपदेश होनेसे । अब इसका व्याख्यान यह है कि, छान्दोग्य उपनिषद्में तेज जल व पृथिवीकी उत्पत्ति वर्णनसे अन्तर ऐसा वर्णन है **सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति** अर्थ--(सा इयं) वह इस देवताने अर्थात् जो सत्‌नामसे कहा गया व जिसने तेज जल व पृथिवीको उत्पन्न किया वह इस ब्रह्मदेवताने (ऐक्षत) ईक्षा किया कि,(हन्त) अब (अहं) मैं (इमाः तिस्रः देवताः) इन तीन देवताओंमें (अनेन जीवेन आत्मना) इस जीवरूपसे अर्थात यह जो पूर्व सृष्टि से अनुभूत कर्मसंस्कार युक्त जीव है इस जीवात्मास (अनुप्रविश्य) प्रवेशकरके (नामरूपे) नाम व रूपको (व्याकरवाणि) प्रकटकरूं (तासां) उनके मध्यम अर्थात् उनमेंसे (एकैकां)

एक एकको (त्रिवृतं त्रिवृतं) तीनोंका तीनोंसे मिलाहुआ (करवाणि) करूं। इसमें यह संशय है कि, ब्रह्म देवताने अपने स्वरूपसे प्रवेशकरके नाम रूपके व्याकरण (प्रकटकरना) की ईक्षा नहीं किया जीव स्वरूपसे प्रवेशकरिकै नामरूपके व्याकरण की ईक्षा कियाहै इससे नामरूपका प्रकट कर्ता जीव है यह विदित होताहै और जो मैं शब्द कहा है कि,मैं प्रकटकरूं यहां मैं शब्द औपचारिक अर्थात् लाक्षणिक है जैसे लोकमें राजा यह कहता है कि, दूतद्वारा शत्रुके सैन्यको प्रवेश करिकै सैन्यमें मिलूं अथवा अमुक सेनापति द्वारा शत्रुको जीतूं यद्यपि मैं ऐसा करूं ऐसा कहता है परन्तु उसकी आज्ञासे सैन्यमें दूतही प्रवेश करता है सेनापति व योधाही लडते हैं ऐसेही जीवद्वारा ब्रह्मरूपका व्याकरण किया है इससे जीवही कर्ता है इसके निर्णयके लिये यह कहा है कि, नाम रूपका व्याकरण तो इत्यादि तो शब्द सूत्रमें जीव कर्ता होनेके पक्षके निवारणके लिये है आशय यह है कि, नामरूपका प्रकट करनेवाला परमात्मा ही है किस हेतुसे त्रिवृत् करनेवालेका कारण होनेसे अर्थात् जिस परमात्माने तेज आप (जल) व अन्न (पृथिवी) को उत्पन्न किया है और तेजआदिको त्रिवृत् किया है उसीने कहा है कि, मैं नाम रूपको प्रकटकरूं इससे ब्रह्महीका कर्ता होना सिद्ध होता है मैं शब्दका कथन औपचारिक मानना युक्त नहीं है क्योंकि अल्पज्ञ व अल्प सामर्थ्यवान् जीवसे ऐसा विचित्र अनेक नियम व अनेक प्रकारकी सृष्टि पर्वत नदी समुद्र देवता मनुष्य आदियुक्त जगत्का होना संभव नहीं है और जो ब्रह्माको जीव शब्दसे वाच्य स्वीकार करिकै जैसा लोकमें व इतिहासोंमें प्रसिद्ध है ब्रह्माको नाम रूपका प्रकटकर्ता मानें तो यह भी नहीं सिद्ध होसका क्योंकि नामरूपके व्याकरण होने आकाश आदि महाभूतोंके उत्पन्न होनेके पश्चात् ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई है अर्थात् तेज जल पृथिवीसे जो अण्ड उत्पन्न हुआ है उसमें ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई है जैसा कि, स्मृतिमें कहा है **तस्मिन्नण्डेऽभवद्ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः** अर्थ–उस अण्डमें सब लोकके पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुये इससे नामरूपका कर्ता परमात्माही है जो यह शंका हो कि, जो ब्रह्मही कर्ता है तो इस जीवात्मासे प्रवेश करिकै ऐसा क्यों कहा है तो इसका उत्तर यह है कि, जीवशरीरक परब्रह्म होनेसे जीव शब्दसे परब्रह्म हीको कहा है जैसे तेजआदिशरीरक ब्रह्म होनेसे तेजआदि नाम से ब्रह्महीको यह कहा है तेजने ईक्षा किया जलोंको उत्पन्न किया जलोंने ईक्षा किया पृथिवीको उत्पन्न किया इत्यादि जैसा पूर्वही वर्णन किया गया है अथवा जीवहीके कर्मअनुसार सृष्टिका होना वर्णन है इससे जीवों सहित प्रवेश करके उनके कर्म अनुसार अनेक प्रकारकी सृष्टि ब्रह्मने किया है यह आशय है अब यह आशङ्का है कि, त्रिवृत् करनेवालाही नाम व रूपका व्याकरण करनेवाला होनेपर भी परमात्माका नाम व रूपका व्याकरणकर्ता होना निश्चित नहीं होसका क्योंकि सृष्टि होनेपर जीवोंमें भी त्रिवृत् करनेके प्रकारका

वर्णन है यथा **सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो भागस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः** इत्यादि अर्थ–हे सोम्य! (इमाः तिस्रः देवताः) यह तीन देवता अर्थात् तेज जल व पृथिवी (पुरुषं प्राप्य) पुरुषको प्राप्तहोकर अर्थात् पुरुष जीवात्माके शरीरको प्राप्त होकर (एका एका) एक एक (त्रिवृत् त्रिवृत) तीन तीन प्रकारका (भवति) होता है (तत्) वह (मे) मुझसे (विजानीहि) तू जान अर्थात् जैसे वह एक एक देवता त्रिवृत् होता है मैं वर्णन करताहूं सुनकर उसको जान (अन्नम् अशितं) पृथिवी का विकाररूप भोजन किया हुआ अन्न (त्रिधा) तीन प्रकारका (विधायिते) होता है (तस्य) उसका (यः) जो (स्थविष्ठः भागः) स्थूल भाग है (तत्पुरीषं) वह विष्ठा (भवति) होता है (यः मध्यमः) जो मध्यम है (तत् मांसं) वह मांस होता है (यः अणिष्ठः) जो अति सूक्ष्म-भाग है (तत् मनः) वह मन होता है इत्यादि तथा नाम व रूपके व्याकरणके पश्चात् भी त्रिवृत्करण श्रुतिमें वर्णित है यथा **सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्** अर्थ–सो यह देवता इन तीन देवताओंमें (तेज जल पृथिवीमें) इस जीवात्मासे अनुप्रवेश करके नाम व रूपको प्रकट किया उन तीनमें से एक एकको त्रिवृत् त्रिवृत् किया ऐसा त्रिवृत् करणके पश्चात् अग्नि सूर्य चन्द्रमामें त्रिवृत्करणका उदाहरण दिया है यथा **यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्येति** अर्थ--अग्निका जो लालरूप है वह तेजका है जो शुक्ल है वह जलका है जो कृष्ण है वह पृथिवीका ऐसेही सूर्य चन्द्रमा व विद्युत् (बिजुली) में वर्णन किया है इससे शरीरमें त्रिवृत्का कथन होनेसे व अग्नि सूर्य आदिमें त्रिवृत् होना कहनेसे जीवका वा किसी विशेष सिद्ध पुरुष ब्रह्मा आदि जिनको भौतिक सृष्टि रचनेका सामर्थ्य प्राप्त है उनका भी त्रिवृत् करण व नाम व रूपका व्याकरण कर्म होना संभव है इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १७ ॥

मांसादिभौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ १८ ॥

अनु०–मांस आदि भौम (भूमिके विकार) हैं जैसा शब्द प्रमाण है अन्य दोके भी (जल व तेजके भी) हैं ॥ १८ ॥

१, व २ इन दोनों श्रुतियोंका अर्थ पूर्वेही वर्णन कियागया है इससे यहां विशेष वर्णन नहीं किया सेयं देवता इत्यादि यह श्रुति जो यहां लिखी गई है और जो पूर्वेही लिखीगई है दोनोंमें इतनाही भेद है कि, उसमें ईक्षा किया है इसमें उसी ईक्षा कियेहुये त्रिवृत करणको किया है यह वर्णन है ।

भाष्य–कोई जीव वा सिद्धपुरुषका कर्म त्रिवृत् करण व नाम व रूपका कर्म नहीं होसक्ता केवल आदि सृष्टिमें त्रिवृत् करनेवाले परमात्माही का नाम व रूपका व्याकरणरूप कर्म है शरीरमें प्राप्त अन्नआदिका जो त्रिवृत् होना कहा है वह त्रिवृत् अन्न आदिके तीन भेद वा कार्य होनेको कहा है अन्य भूतमें अन्य भूतके मेल होने वा करनेको त्रिवृत् नहीं कहा यथा भूमिका कार्यरूप जो अन्न है वह भक्षित हो उदरमें जब प्राप्त होता है तब मांस आदि उसके विकार होते हैं इससे मांस आदि भूमिविकार हैं यथा श्रुतिमें कहा है **अन्नमशितं त्रेधा विधीयते** इत्यादि इस पूर्वोक्तश्रुतिमें यह वर्णन है कि, भोजन किया हुआ अन्न तीन प्रकारका होता है उसका जो अतिस्थूल भाग है वह विष्ठा होता है जो मध्यम भाग है वह मांस होता है जो अति सूक्ष्म भाग है वह मन होता है ऐसेही यथाशब्द अर्थात् जैसा श्रुतिमें वर्णित अन्य दो जो जल व तेज हैं उनके भी कार्य हैं अर्थात् भूमिके समान **आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यो स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठस्स प्राणः** अर्थ–(पीताः आपः) पिये हुये जल (त्रेधा विधीयन्ते) तीन प्रकारके होते हैं (तासां) उनमेंसे (यः स्थविष्ठः धातुः) जो अतिस्थूल धातु है (तत् मूत्रं भवति) वह मूत्र होता है (यः मध्यमः) जो मध्यम है (तत् लोहितं) वह रुधिर होता है (यः अणिष्ठः सः प्राणः) जो सूक्ष्म अंश वा धातु है वह प्राण होता है। ऐसेही भोजन से प्राप्त तेजके स्थूल धातुको अस्थि मध्यमको मज्जा अस्थिके भीतरका मांस व सूक्ष्म धातुको वाक् होना कहा है ऐसा वर्णन करके फिर आगे यह वर्णन किया है **अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्** अर्थ–हे सोम्य! अन्नमय मन है जलमय प्राण है तेजमयी वाणी है इससे उनमेंसे एक एकको त्रिवृत् त्रिवृत् किया यह जो त्रिवृत्करण प्रकार कहागया है भोजन कियाहुआ अन्न तीन प्रकारका होता है इत्यादि इसके उदाहरण व दृष्टान्त नहीं हैं क्योंकि जो ऐसा मानाजाय और विद्यमान प्रत्यक्षसे विदित पृथिवी जल व तेज शुद्ध त्रिवृत् करणसे रहित समझेजायँ और इनका जो परस्परमेल होवै वह त्रिवृत्करण होना अंगीकार किया जाय तो पृथिवी आदिके जो मांस आदि विकार कहेगये हैं वह अपने कारण पृथिवी आदिके समान स्थूल सूक्ष्म व सूक्ष्मतर होना चाहिये इस युक्तिसे मन प्राण व वाक् अति सूक्ष्म होनेसे तीनों तेजके विकार होना चाहिये ऐसा होनेमें अन्नमय मन है यह जो श्रुतिमें कहा है इसके विरुद्ध होगा ऐसेही अन्य विकार वा कार्योंमें विरोध प्राप्त होना सिद्ध होगा आदि सृष्टि आरंभमें पूर्वही जो पृथिवी आदिको परमात्माने एक दूसरेमें मिश्रित करके त्रिवृत् किया है उन त्रिवृतही पृथिवी आदि पुरुषमें प्राप्त हुये को भोजन कियाहुआ अन्न इत्यादि वाक्योंमें यह वर्णन किया है कि, एक एकके तीन तीन प्रकारके परिणाम होते हैं

तेज जल व पृथिवीका त्रिवृत्करण सृष्टिसे पहिलेही होना चाहिये क्योंकि विना त्रिवृत्कृतहुये तेजआदि प्रत्यक्षके विषय व कार्यके आरंभकही नहीं होसक्ते परस्पर संयुक्त ही तेजआदि कार्य उत्पन्नके योग्य होते हैं उनको कार्य आरंभके योग्य परमात्माका करना यही त्रिवृत् करण है ब्रह्माण्डके अन्तरमें वर्तमान श्वेतकेतुको सृष्टि से पहिले हुये त्रिवृत् करणका देखाना असंभव होनेसे ब्रह्माण्डमें विद्यमान त्रिवृत् कृत तेज आदिके कार्यसे अग्नि आदिमें त्रिवृत् करणको देखाया है अब यह संशय है कि, जो ऐसेही होना स्वीकार किया जाय तौ भी यह शङ्का है कि, जो अन्नआदि तीनों में से प्रत्येक तेज जल अन्नात्मक हैं अर्थात् तीनों में से एक एकमें तीनोंके अंशोंका मेल है तो **अन्नमशितम् आपः पीता-स्तेजोऽशितं** अर्थ--भोजन किया हुआ अन्न, पिया हुआ जल, भोजन किया हुआ तेज ऐसा जो कहा है इसमें अन्न जल तेज का एक एक रूपसे कहना कैसे होसक्ता है इसका उत्तर अगले सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १८ ॥

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ १९ ॥

अनु०–विशेष होनेसे उसका वाद है उसका वाद है ॥ १९ ॥

भाष्य–भूमिआदिक की एक एकमें विशेष होनेसे अर्थात् अधिकता होनेसे उसका (एक एक होनेका) अर्थात् अन्नआदिका वाद है यह सत्य है त्रिवृत् कृत होनेसे तीनौ भूत रज्जुके लरोंके समान एक एकमें मिले वा लिपटे हैं भिन्न नहीं हैं परन्तु तेजकी विशेषता अग्निमें पृथिवीकी अन्नमें कारण रूप जलकी इस कार्यरूप जलमें होनेसे तेज आदि एक एकका नाम कहा जाता है और श्रुतिमें नामका कथन है सूत्रमें उसका वाद है उसका वाद है यह दोवार कहना अध्यायकी समाप्तिका सूचक है ॥ १९ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभ्याष्ये श्रीमत्प्यारेलालात्मजबांदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीप्रभुदयालुना देशभाषया विनिर्मिते द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थपादः समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयाध्यायप्रारंभः ।

पूर्व दो अध्यायमें ब्रह्मका निरूपण किया है और जो जो शङ्का उसके विषयमें संभव थीं उनका समाधान वर्णन करिकै सिद्धान्त स्थापित किया है और जीवके स्वरूपका भी निरूपण किया है अब इस तृतीय अध्यायमें उपायरूप ब्रह्मकी उपासना अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्तिरूप मोक्षके साधन का वर्णन करते हैं उस उपासना आरंभका अन्तरङ्ग व मुख्य उपाय सम्पूर्ण ब्रह्मसे भिन्न वस्तुमें वैराग्य

होना व प्राप्य ब्रह्म वस्तुमें श्रद्धा व प्रेम होना है उसके सिद्ध होनेके लिये इस अध्यायके प्रथम व द्वितीय पादमें लोकान्तरोंमें भ्रमते हुये जागरित स्वप्न सुषुप्ति व मूर्च्छा अवस्थाओंको प्राप्त जीवके अनेक दोषोंका व ब्रह्मके निर्दोष होने व सम्पूर्ण उत्तम गुणोंके आकर होनेका वर्णन कियाजाता है प्रथम शरीर त्यागकर जो जीव अन्य शरीरको कर्मअनुसार धारण कर्ता है इसमें यह विचार करने योग्य है कि अन्य देहकी उत्पत्तिके कारण जो भूत हैं उन भूतसूक्ष्मों सहित जीव देहसे गमन करता है अथवा जीव मात्र ही गमन करता है प्रथम ऐसा विदित होता है कि जहां जहां जीव जाता है वहां सर्वत्र भूत सूक्ष्म सुलभ व प्राप्त हैं जीवके साथ भूतोंके जानेकी आवश्यकता नहीं है परन्तु यह सिद्धान्त नहीं है इसका सिद्धान्त यह वर्णन किया है ।

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

अनु०—उससे (शरीरसे) अन्तर प्राप्त होनेमें मिलाहुआ जाता है प्रश्न व निरूपणसे अर्थात् प्रश्न व उत्तरसे ॥ १ ॥

भाष्य—उस शब्दसे पूर्वमें जो मूर्तिशब्द कहागया है उसको ग्रहण किया है मूर्तिशब्दसे देहके कहनेका अभिप्राय है इससे सूत्रका अर्थ यह है कि, देह त्यागकर देहान्तरको गमन करनेमें अर्थात् अन्य देहके लिये जीवके गमन में मिलाहुआ अर्थात् भूतसूक्ष्मोंसे मिलाहुआ जीव जाता है किस प्रमाणसे प्रश्न व निरूपणसे अर्थात् प्रश्न निरूपणविषयक उत्तरसे यह सूत्रका अर्थ है इसका विशेष व्याख्यान यह है कि, छान्दोग्य उपनिषद्में यह कथा है कि, श्वेतकेतु पञ्चालोंकी सभामें गये वहां प्रवाहणने श्वेतुकेतुसे यह कहा कि, तुम्हारे पिताने तुमको शिक्षा किया है तो तुम हमारे प्रश्नोंका उत्तर देव कि, इस लोकसे जो जीव जाते हैं फिर जैसे वह आते हैं । देवयान व पितृयाण मार्ग जिनसे जीव आते हैं इस लोकको जिसमें प्राप्त होकर फिर लौट आते हैं जानते हौ यह चार प्रश्नकरके पांचवाँ प्रश्न यह किया है वेत्थ **यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति** अर्थ—(यथा) जैसे (पञ्चम्याम् आहुतौ) पांचवी आहुतिमें (आपः) जल (पुरुषवचसः भवन्ति) पुरुष नाम से वाच्य होते हैं (वेत्थ) जानते हौ प्रश्न सुनकर श्वेतकेतुने कहा भगवन् मैं नहीं जानता प्रवाहणने कहा कि. जो तुम मेरे प्रश्नोंको नहीं जानते तो तुह्मारे पिताने क्या उपदेश किया है यह सुनकर श्वेतकेतु पिताके पास जाकर प्रश्नोंको कहा पिताने कहा कि, इन प्रश्नोंका उत्तर मैं भी नहीं जानता यह कहकर प्रवाहणके पास जाकर उक्त प्रश्नोंकी जिज्ञासा की प्रवाहणने बहुत कालतक ठहराकर जीवके गमन आगमनविषयक अपने प्रश्नों

का उत्तर आपही वर्णन किया पांचवे प्रश्नके उत्तर वर्णन करनेमें रूपकसे द्युलोकको अग्नि वर्णन करके द्युलोकरूप अग्निमें इस प्रकारसे आहुतिको वर्णन किया है **तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति** अर्थ-(तस्मिन् एतस्मिन् अग्नौ) उस इस अग्निमें द्युलोक अग्निमें (देवाः) देवता अर्थात् प्राण (श्रद्धां) श्रद्धाको अर्थात् जीवके साथ गये हुये भूत सूक्ष्म अवस्थाविशेषको (जुह्वति) हवन करते हैं अर्थात् छोडते हैं (तस्याः आहुतेः) उस आहुतिसे (सोमो राजा संभवति) सोम राजा होता है अर्थात् सोमराजा नामसे वाच्य अमृतमय दिव्यदेह रूपसे परिणामित होता है कर्मके क्षय होनेपर उसके फिर पृथिवीमें लौटकर आनेके क्रम वर्णनमें ऐसेही अग्निरूप से कहेगये पर्जन्य (मेघ) में आहुतिको इस प्रकारसे वर्णन किया है कि, इस मेघरूप अग्निमें देवता (प्राण) सोमराजाको अर्थात् अमृतमय देह-का हवनकरते अर्थात् छोडते वा डालते हैं वह अमृतमय देह वर्षारूप होता है पृथिवी रूप अग्निमें देवता वृष्टिको हवन करते हैं उस वृष्टिरूप आहुति से अन्न होता है पुरुष रूप अग्निमें देवता अन्नको हवन करते हैं उस आहुति से (रेतः सम्भवति) वीर्य होता है पांचवे स्त्रीरूप अग्निमें देवता वीर्यको हवन करते हैं उस आहुति से वा आहुतिका गर्भ होता है इस प्रकारसे पांचवी आहुतिमें जल पुरुष नाम से वाच्य होते हैं इस प्रकारसे प्रश्न व उत्तर से यह विदित होता है कि, जीव देहके हेतु भूतसूक्ष्म सहित देह त्यागकर जाता है अब यह शंका है कि, जो जल ही पुरुषवाच्य (पुरुष नाम से वाच्य) होते हैं तो शरीरसे जाते हुये जीवात्माके साथ जलौं मात्रका जाना प्रतीत होता है अन्य भूतसूक्ष्मों का मेल होना क्यों कहा जाता है अब इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

अनु०-त्र्यात्मक होनेसे (तीनोंयुक्त स्वरूप होनेसे) तो अधिकतासे ॥ २ ॥

भाष्य-त्र्यात्मक होनेसे तो शङ्का युक्त नहीं है अधिकतासे अप्नामका कथन है यह सूत्रका आशय है तौशब्द शंकाके निषेधके लिये कहा है इससे शङ्का युक्त नहीं है यह अर्थ ग्रहण किया गया है और आप (जल) का कथन है अधिकतासे यह हेतु है विशेष व्याख्यान यह है कि, त्रिवृत्करण श्रुतिसे एक एक भूत तेज अप (जल) अन्न (पृथिवी) में परस्परका मेल होनेसे प्रत्येकमें तीनौं हैं इससे प्रत्येक आत्मक हैं अपके भी त्र्यात्मक होनेसे अपमें

१ यह गमन आगमन शुभकर्म करनेवाले प्राणियोंके विषयमें समझना चाहिये ।

तेज अन्न भी अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये इससे सब भूतसूक्ष्मों सहित जीवका गमन कहनेमें दोष नहीं है सब त्र्यात्मक हैं तौ आप पुरुषवाच्य होते हैं ऐसा केवल आपही (जलही) को क्यों कहा है इस शङ्काके समाधानके लिये अधिकतासे यह हेतु वर्णन किया है अर्थात् अन्य भूतोंकी अपेक्षा सब देहोंमें रस रुधिर वीर्य अपमय (जलमय) द्रवद्रव्यकी अधिकता है जो यह कहाजाय कि, पृथिवी धातुकी भी देहमें अधिकता देखी जाती है तौ यह शङ्का युक्त नहीं है तेज व अन्नकी अपेक्षा अपहीकी अधिकता सिद्ध होगी क्यों कि, देहके बीज जो शुक्र (पुरुषका वीर्य) शोणित (स्त्रीका वीर्य रूप रुधिर) है उनमें अपहीकी अधिकता ज्ञात होती है इससे अधिकतासे अपनामका कथन है ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

अनु०–प्राणोंकी गतिसे भी ॥ ३ ॥

भाष्य–प्राणोंकी गति वर्णनसे भी भूत सूक्ष्मों सहित जीवका जाना सिद्ध होता है अर्थात् जीवकी गति वर्णन में यह श्रुति है **तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुक्रामति प्राणमनुक्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुक्रामन्ति** अर्थ–उस शरीरको त्यागकर गमन करते हुये जीवके पीछे प्राण अर्थात् मुख्य प्राण गमन करता है और गमन करते हुये प्राणके पीछे सब प्राण (इन्द्रिय) गमन करते हैं इस प्रकार से प्राणकी गति सुननेसे और विना आश्रय प्राणोंकी गति संभव न होनेसे प्राणोंके आश्रय भूतसूक्ष्म जीवके साथ अवश्य जाते हैं यह निश्चित होता है क्योंकि विना आश्रय प्राण, न कहीं जाते व स्थित होते हैं न जासक्ते व स्थित होसक्ते हैं भूतोंकी गति सिद्ध होनेसे भूतोंके अन्तर्गत अप (जल) की गति सिद्ध होती है ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

अनु०–अग्निआदिकों में प्राप्तिश्रुतिसे यह कहा जाय नहीं भाक्त होनेसे ॥ ४ ॥

भाष्य–मरणकालमें मरनेवाले जीवके वाक्आदि अग्निआदिमें लयको प्राप्त होते हैं यह श्रुतिसे सिद्ध होता है यथा **यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यम्** इत्यादि अर्थ–(यत्र) जिसमें अर्थात् जिस मरणसमयमें (अस्य मृतस्य पुरुषस्य) इस मरेहुये पुरुषकी (वाक्) वाणी (अग्निम् अप्येति) अग्निको प्राप्त होती है अर्थात् अग्निमें लय होती है (प्राणः) प्राण (वातं) वायुको प्राप्त होता है (चक्षुः) नेत्र (आदित्यम्) सूर्य्यको प्राप्त होते हैं वाक्आदिकोंका अग्निआदिमें प्राप्त होना वा लय

होना श्रुतिसे सिद्ध होनेसे जीवके साथ प्राणोंका जाना कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि, जब अग्निआदिमें वाक्आदि प्राण लीन होगये जीवके साथ जानेको न रहे तब जीवके साथ गमन कहना कैसे युक्त होसक्ता है जो यह कहा जाय अर्थात् ऐसी शङ्का होवे तो इसका उत्तर यह है नहीं भाक्त होनेसे अर्थात् अग्नि-आदिमें प्राप्त होना जो कहा है यह कहना भाक्त है अर्थात् गौण है मुख्य अर्थसे यह नहीं कहा भाक्त कथन होनेसे शंकायुक्त नहीं है कैसा भाक्त है जैसा कि, इस श्रुतिमें वर्णन है **ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः** अर्थ--(लोमानि) रोमे (ओषधीः अर्थात् औषधीः अपियन्ति) औषधियोंको प्राप्त होते हैं (केशाः) केश (वनस्पतीन्) वनस्पतियोंको प्राप्त होते हैं रोम व केशोंका औषधि व वनस्पतियोंमें जाना असंभव है इससे गौण अर्थ से जाना कहा है आशय इसका यह है कि, मरण कालमें लोम अभिमानी देवता लोम अभिमानको छोडकर औषधि अभिमानी देवता में जाकर प्राप्त होता है केवल औषधि अभिमानी होता है इत्यादि ऐसेही वाक्अभिमानी वाक्अभिमानको छोडकर केवल अग्नित्वका अभिमानी होता है इत्यादि समझना चाहिये ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादितिचेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

अनु०--प्रथममें न सुननेसे यह कहाजाय नहीं वेही सिद्ध होनेसे ॥ ५ ॥

भाष्य--जो यह शङ्का हो कि, प्रथम होममें अर्थात् द्युलोक अग्निमें होमकरनेके वर्णनमें श्रद्धा को हवनकरना कहा है अप (जल) को होमके योग्य नहीं कहा श्रद्धा जीवके मनकी वृत्तिविशेषको कहते हैं इससे जल होमके योग्य नहीं है तो ऐसी शङ्का युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है वेही अर्थात् जलही श्रद्धा शब्दसे कहे गये हैं यह प्रश्न व उत्तर से सिद्ध होनेसे क्यों कि यह प्रश्न है **वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति** अर्थ--जैसे पांचवीं आहुतिमें आप (जल) पुरुष नाम से वाच्य होते हैं जान्ते हो इसके उत्तर में प्रथम ही श्रद्धाको द्युलोकमें होम करने योग्य कहा है जो उत्तर में श्रद्धा शब्दसे अपका कहना न माना जाय तो प्रश्न अन्य व उत्तर अन्य होनेसे असङ्गत होगा पांचवीं आहुति में अप (जल) पुरुष वाच्य होते हैं यह उत्तर जो निगमन (अंत सिद्धान्तरूप) है श्रद्धाका अपही होना सिद्ध करता है क्योंकि जानते हो कैसे पांचवीं आहुतिमें आप पुरुषवाच्य होते हैं इस प्रकारसे अपोंके पुरुष होनेके प्रकारका प्रश्न करिके उसीके उत्तर वर्णनकरनेमें श्रद्धा सोमराजा वर्षा अन्न व वीर्य व गर्भ रूपसे अपोंका (जलोंका) परिणाम ही कहकर आप पुरुष-शब्द वाच्य होते हैं यह सिद्धान्त में कहा है इससे श्रद्धा में शब्द श्रुतिमें जलहीका

वाचक है अन्यथा प्रश्न व उत्तरकी संगति नहीं होसकी और श्रद्धाशब्दका अप अर्थमें वाच्य होनेका वैदिक प्रयोगभी देखा जाता है यथा **श्रद्धा वा आपः** अर्थ-श्रद्धा निश्चयसे जल है तथा **श्रद्धा सारूप्यं गच्छन्त्यापो देहबीजभूताः** अर्थ-(देहबीजभूताः आपः) देहके बीजरूप आप अर्थात् जल (श्रद्धासारूप्यं) श्रद्धाकी सरूपताको (गच्छन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् श्रद्धाही रूप होते हैं इससे अन्यभूतों मिश्रित जलोंसे मिलाहुआ जीव जाता है यह सिद्ध है ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

अनु०—श्रुत न होनेसे जो यह शङ्काकी जाय, नहीं, इष्टआदि कारियोंकी प्रतीतिसे ॥ ६ ॥

भाष्य—अन्य भूत व जलोंसंयुक्त जीव जाता है जो ऐसा कहनेमें जीव नाम श्रुत न होनेसे (न सुननेसे) अन्य भूत व जलोंसहित जीव नहीं जाता यह शंका की जाय अर्थात् जीव भूतोंसे मिलाहुआ जाता है ऐसा जीवका नाम श्रुतिमें नहीं कहा जीवका नाम श्रुत न होनेसे जीव मिला हुआ जाता है यह सिद्ध नहीं होता जो यह शङ्का की जाय तो इसका उत्तर यह है नहीं इष्ट आदि कारियोंकी प्रतीतिसे अर्थात् इसी प्रकरणमें जिसमें पांचवीं आहुतिमें अपोंका पुरुष वाच्य होना कहा है आगे यह वर्णन किया है कि, जो ब्रह्मज्ञानरहित उत्तमकर्म करनेवाले हैं वह द्युलोकको प्राप्त होकर सोमराजा होते हैं पुण्य कर्मोंके क्षय होनेपर फिर गर्भको प्राप्त होते हैं यथा यह वाक्य है **य इमे ग्रामे इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति** अर्थ-(ये इमे) जो यह (ग्रामे) गृहस्थ (इष्ट) अग्निहोत्रआदि यज्ञकर्म (पूर्ते) वापी कूप तडाग आरामआदि बनाना (दत्तं) यथाशक्ति द्रव्य देना (इति) इस प्रकारके आचरणोंको (उपासते) सेवन करते हैं अर्थात् करते हैं (ते) वे पुरुष (धूमम् अभिसम्भवन्ति) धूमके सन्मुख प्राप्त होते हैं अर्थात् मरणकालमें धूमअभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं यहांसे आरंभ करके रात्रि पक्षआदिअभिमानी देवताओंको प्राप्त होना कहकर ऐसा वर्णन किया है **पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमध्वानं पुनर्निवर्तन्ते, यो यो ह्यन्नमत्ति यो यो योनौ रेतस्सिञ्चति तद्भूय एव भवति** अर्थ-(पितृलोकात् आकाशं) पितृलोकसे आकाशको (आकाशात् चन्द्रमसम्) आकाशसे चन्द्रमको प्राप्त होते हैं (एषः सोमो राजा) ये सोम राजा होते हैं अर्थात् यह दृश्यमान चन्द्रमाके मण्डल में प्राप्त होते हैं (तत् देवानाम् अन्नम्) वह देवताओंका अन्न होता है (तं) उसको (देवाः भक्षयंति) देवता भक्षण करते हैं (तस्मिन्) उसमें

१ ग्राम शब्द यहां गृहस्थ वाचक है वानप्रस्थ व संन्यासियोंका वन विशेषण है ऐसेही गृहस्थोंका ग्रामवासी होनेसे ग्रामशब्दसे गृहस्थको सूचित किया है ।

(यावत् सम्पातं) जबतक पतित नहीं होता अर्थात् जबतक पुण्य क्षय होनेसे वहां से पतित नहीं होता तबतक (उषित्वा) रहकर (अथ एतम् अध्वानम्) उसके उपरान्त इसी मार्ग से (पुनः निवर्तन्ते) फिर आते हैं अर्थात् लौटते हैं (यः यः) जो जो (अन्नम् अत्ति) अन्नको खाता है (यः यः) जो जो (योनौ) योनिमें (रेतः) वीर्यको (सिञ्चति) सींचता है (तत् भूय एव)वह फिरभी (भवति) होताहै अर्थात् वीर्यरूपसे उसके अवयव योनिमें प्राप्तहोकर पुत्ररूपसे फिर शरीर अंशमें उत्पन्न होता है यहां भी इस वाक्यमें द्युलोकमें श्रद्धाको हवन करते हैं उस आहुतिसे सोमराजा होता है यह कहा है एकही अर्थ होनेसे श्रद्धाअवस्थारूप विशेषदेहको प्राप्त सोमरूप देहविशिष्ट होता है यह कहना सिद्ध होता है देह शब्द जीवका विशेषणरूप होनेसे विशेष्य जीवहीमें सम्बंधको प्राप्त व घटित होता है इससे भूतोंसे मिलाहुआ जीव जाता है यह सिद्ध हो है अब यह शंका है कि, उसको देवता भक्षण करते हैं ऐसा कहनेसे सोमराजा जीवका होना संभव नहीं है क्योंकि जीव भक्षणीय (भक्षणके योग्य) पदार्थ नहीं है इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥

अनु०–भाक्तही है आत्माके जाननेवाले न होनेसे वैसेही श्रुति देखाती है अर्थात् वर्णन करती है ॥ ७ ॥

भाष्य–इष्टकारियोंको जो अन्न व देवताओंसे भक्ष्य कहा है वह भाक्त (गौण) अर्थ से कहा है मुख्य अर्थ से नहीं कहा, मुख्य अर्थसे भक्ष्य व अन्न होनेमें श्रुतिमें **स्वर्गकामो यजेत** अर्थ–स्वर्गकी इच्छा करनेवाला यजन करै इत्यादि जो उपदेश हैं यह सब मिथ्या होजायँगे क्योंकि जो आपही भक्षित होगया वह सुखभोग नहीं करसक्ता इससे चन्द्रमण्डलमें इष्टकारियोंको उपभोग न होगा उपभोगके अभावमें इष्टकारी किस प्रयोजनके लिये यज्ञआदि पुण्य कर्म करनेमें परिश्रम करेंगे इससे भक्षण का अर्थ यहां भोग व अन्न शब्दका अर्थ भोग्य पदार्थ का ग्राह्य है यथा इस वाक्यमें कहा है **राज्ञां विशोऽन्नं पशवोऽन्नं विशां** अर्थ–(विशः) वैश्यजन (राज्ञाम् अन्नम्) राजाओंके अन्न है (पशवः) पशु (विशां) वैश्योंके अन्न है अन्न कहनेका अभिप्राय भोग्य पदार्थका है अन्नके भोगसे शरीरको सुख होता है वैश्य वा प्रजाओंसे करआदिद्वारा प्राप्त उनके धन व उनकी सेवासे राजाको सुख प्राप्त होता है इससे वैश्य राजाके भोग्यपदार्थ होनेसे अन्नशब्दसे कहेगये हैं ऐसेही भोगमें सुखदायक व उपयोगी होनेसे पशुओंको वैश्योंका अन्न होना कहा है क्योंकि पशु वाणिज्य कृषि व्यापार तथा दुग्ध दधि भोग्य पदार्थ प्राप्त होनेके हेतु होनेसे

उनके उपयोगी होते हैं इसी प्रकारसे इष्ट स्त्री पुत्र मित्रके समान गुण भावको प्राप्त इष्टकारियोंके साथ जो देवताओंका सुख भोग व विहार होता है वही भक्षण शब्दसे कहनेसे प्रयोजन है मोदकआदिके समान चावने व निगलनेसे प्रयोजन नहीं है देवताओंके भक्षण आदिका निषेध श्रुतिवाक्यहीसे सिद्ध है श्रुति यह है **न देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति** अर्थ--(देवाः) देवता (न अश्नन्ति) न खाते हैं (न पिबन्ति) न पीते हैं (एतत् अमृतम् एव) इस अमृतहीको (दृष्ट्वा) देखकर (तृप्यन्ति) तृप्त होते हैं इससे इष्ट-मित्र आदिके समान धर्मवाले इष्टकारियोंसे सुखलाभ करनेसे इष्टकारियोंको देवता भोगकरते हैं यही अर्थ ग्राह्य है जैसे वैश्यआदि प्रजा जो राजाके भोग्य हैं उनसे राजाको तथा राजाकी रक्षा व राजाके उत्तम नियमों से उनको दोनों को सुख प्राप्त होता है ऐसे ही अन्य दृष्टान्तोंमें भोक्ता व भोग्य दोनोंका सुख होना समझना चाहिये ऐसे ही देवताओंके साथ सुख भोग प्राप्त होनेसे इष्टकारियोंके पुण्य कर्म करने व स्वर्ग फलकी इच्छा करने में कोई दोष नहीं है आत्मवित् न होनेसे अर्थात् आत्मज्ञ न होनेसे इष्टकारी देवताओंके उपभोग्य होते हैं यद्यपि चन्द्रलोक आदिकी प्राप्ति पुरुषार्थ नहीं है जबतक आत्मज्ञान नहीं होता तबतक पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता तथापि जो आत्मज्ञानरहित हैं उनकी श्रद्धा व रुचि होनेके लिये चन्द्रलोकआदिकी प्राप्ति फलको वर्णन किया है विना परमात्माके ज्ञान व उपासना अन्य देवता की उपासनाको न्यून श्रुतिमें वर्णन किया है इससे आत्मज्ञान ही मुख्य पुरुषार्थरूप है यथा यह श्रुति है **योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्** अर्थ--(यः) जो (अन्यां देवतां) अन्य देवताको (उपास्ते) उपासन करता है अत्यन्त प्रेम व समाधिमें मग्न हो अथवा एक ही जाति द्रव्यभावसे अपनेको व ब्रह्मको एक नहीं जानता (असौ अन्यः अहम् अन्यः अस्मि इति) यह परमात्मा अन्य है मैं अन्य हूं ऐसा ध्येय ब्रह्म व अपनेमें भेद जानताहै (सः) वह (न वेद) नहीं जानता है अज्ञान है और (यथा पशुः) जैसे पशु (एवं) ऐसेही (देवानां सः) देवताओंके बीचमें वह होता है इसप्रकारसे पशुवत् देवताओंका उपकरण होना श्रुतिमें कहा है इससे इष्टकारी देवताओंके भोग्य होते हैं अन्य अर्थ देवताओं में पशु होनेका यह भी होता है कि, देवताओंके मध्यमें अर्थात् विद्वानोंके मध्यमें आत्मज्ञान-रहित इष्टकारी पशुके समान होता है अन्य श्रुतिमें चन्द्रमण्डलमें भोग होना वर्णन किया है यथा **स सोमलोके भूतिमनुभूय पुनरावर्तते** अर्थ--(सः) वह इष्टकारी (सोमलोके) चन्द्रलोकमें (भूतिं) ऐश्वर्यको (अनुभूय) प्राप्त होकर (पुनः आवर्तते) फिर पृथिवीलोकमें आता है इस प्रकारसे इष्टकारियोंको देवताओंके साथ वासकरतेहुये भोग प्राप्त होना

श्रुतिमें वर्णित है इससे भक्षण व अन्न भाक होनेसे शङ्का युक्त नहीं है इष्टकारी जीवोंका अन्य भूत व जलोंसे मिलाहुआ जाना सिद्ध व युक्त है ॥ ७ ॥

कर्मसंस्कार युक्त जीवके आगमन वर्णनमें सू० ८ से ११ तक अधि० २ ।

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

अनु०—कृतके विनाशमें अनुशयवान् (कर्मसंस्कारयुक्त) आता है दृष्ट (श्रुति) व स्मृतिसे, जैसा गया वैसा नहीं भी ॥ ८ ॥

भाष्य—इष्टकारी धूमआदि मार्गसे पितृयानसे चन्द्रमण्डलमें जाकर भोगाको भोग करतेहुये पुण्यक्षय होनेतक रहते हैं फिर उसी मार्गसे पतित होते हैं यह श्रुतिमें कहा है इसमें यह निश्चय होना चाहिये कि, कुछ कर्म शेष रहते हैं तब जीव चन्द्र लोक से भूर्लोकमें आता है अथवा सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय होनेपर कर्म क्षय होनेतक रहना कहनेसे यह विदित होता है कि, सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय होनेतक चन्द्रमण्डल में वास करता है कोई कर्म शेष नहीं रहता तब वहां से आता है परन्तु विना कर्म भूलोक में जन्म लेना व विना कारण सुख दुःख भोग करना भी संभव नहीं होता इससे दोमेंसे एक निश्चित न होनेसे संशय होता है इसके सिद्धान्त में सूत्रमें यह कहा है कि, कृतके विनाशमें अर्थात् किये हुये पुण्यकर्मके नाश होने में अनुशयवान् (शेषकर्म संस्कारयुक्त) आता है किस हेतु वा प्रमाण से ऐसा सिद्ध होता है दृष्ट व स्मृति से अर्थात श्रुति व स्मृति से श्रुति यह है **तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति** अर्थ—(तत्कोऽर्थः तेषां) उनमेंसे अर्थात् अनुशायियों में से (ये) जो (इह अभ्याशः) इस लोकमें आनेवाले हैं (ते) वे (यत् रमणीयचरणाः) जो पुण्य कर्म करनेवाले हैं तो (रमणीयां योनिं) उत्तम योनिको (आपद्येरन्) प्राप्त होंगे वा प्राप्त होते हैं

---

१ अभि आङ् पूर्वक अशूङ्व्याप्तौ इस धातुका अभ्यास होता है यहां अभ्यागन्तारः यह अर्थ ग्रहण कियाजाता है कोई आचार्य अभ्याशशब्दका अर्थ शीघ्र ही कोई अवश्य ही यह अर्थ ग्रहण करते हैं यह अर्थ भी इस अभिप्रायसे कि, पुण्य क्षीण होने पर शीघ्रही इस लोक में आते हैं वा अवश्य ही संस्कार अनुसार सुयोनि वा कुयोनि को प्राप्त होते हैं ग्राह्य है ।

२ यहां क्रियापदमें वैदिक प्रयोग होनेसे लकारका व्यत्यय है ।

अर्थात् (ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वैश्ययोनिं) ब्राह्मणयोनिको क्षत्रिययोनिको अथवा वैश्ययोनिको प्राप्त होते हैं (अथ ये) और जो (इह अभ्याशः) इस लोकमें आनेवाले हैं (ते यत्) वे यदि (कपूयचरणाः) पाप आचरणवाले हैं तो (कपूयां योनिं) निकृष्ट योनिको (आपद्येरन्) प्राप्त होते हैं अर्थात् (श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं) कुत्ताकी योनिको वा शूकर योनिको वा चण्डालयोनिको प्राप्त होते हैं सुयोनि व कुयोनिमें जन्म ही होनेसे प्राणियोंके उत्तम व निकृष्ट भोग होनेका विभाग देखा जाता है विना हेतु अर्थात् कारण विशेष विभाग (भेद) होना अयुक्त व असंभव है इससे कर्मोंका शेष रहना न्यायसे भी सिद्ध होता है जो कर्मक्षय होनेतक रहना कहा है उसका आशय यह है कि, चन्द्रमण्डलमें रहनेके योग्य जो पुण्य है उसके क्षय होने तक रहता है उपरान्त वहां रहनेके योग्य न रहनेसे पतित होता है स्मृतिमें अनुशयवानका इस लोकमें आना व उत्पन्न होना कहा है यथा **वर्णाश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवित्तवृत्तसुखमेधसो हि जन्म प्रतिपद्यंते** अर्थ--(वर्णाः आश्रमाः अर्थात् आश्रमिणः) वर्ण व आश्रमवाले (स्वकर्मनिष्ठाः) अपने कर्ममें निष्ठ अर्थात् आरूढ (प्रेत्य) मरकर (कर्मफलं) कर्मफलको (अनुभूय) भोग करिके (ततः) वहांसे भोगके पश्चात् (शेषेण) शेषसे अर्थात् रहे हुये कर्मसे (विशिष्ट देशजातिकुलरूपायुःश्रुतवित्तवृत्तसुखमेधसः) विशेषता युक्त देश जाति कुल रूप आयु श्रुत अर्थात् ज्ञान धन वृत्त अर्थात् आचार सुख व बुद्धि ये गुण जिनमें हैं ऐसे (जन्म प्रतिपद्यंते) जन्मको प्राप्त होते हैं। शेष कर्म जो कहा है उससे यह अभिप्राय नहीं है कि. जिन पुण्यकर्मोंसे चन्द्रमाके मण्डलमें प्राप्त हुआ उनमें शेष रहगये क्योंकि ऐसा होनेमें पाप व पुण्य भेदसे उत्तम मध्यम व निकृष्ट योनियोंमें जो उत्पन्न होना श्रुतिमें वर्णित है वह मिथ्या इससे अन्य शुभ व अशुभ कर्मोंका संस्कार मानना चाहिये आरंभको प्राप्तहुये कर्मफलके समाप्त होने व अन्य कर्मफलके आरंभ न होनेको मरण कहते हैं अब इसमें यह संशय है कि. संचित प्रारब्ध व क्रियमाण कर्मोंके संस्कारसे अनेक कर्मफल भोग्य होनेको शेष बने रहते हैं इससे जब एक आरब्ध कर्म फलभोग समाप्त होवै शीघ्र ही दूसरेका आरंभ होजाना चाहिये मरण न होना चाहिये इसका उत्तर यह है कि, अनेक विरुद्ध कर्मोंके फलोंका एकसाथ आरंभ होना संभव न होनेसे बलवान् कर्मसे न्यून कर्म रोकको प्राप्त होता है इससे उसकी प्रवृत्ति नहीं होती और न यह कहाजाय रुका है कि, अनेक कर्म एकही मरण कालमें एक साथ प्रकट होकर एक जातिको आरंभ करते हैं क्योंकि, भिन्न २ कर्मोंके अनुसार पृथक् पृथक् फल प्राप्त होते हैं सबका एक ही फल होना संभव नहीं है। न यह कहना युक्त है कि, मरणमें कुछ कर्मोंकी अभिव्यक्ति (प्रक-

टता) होती है और दुर्बल कर्म नष्ट होजाते हैं क्योंकि, ब्रह्मज्ञानरहित होनेमें विना भोग कर्मका नाश नहीं होता अर्थात् केवल यथार्थ ब्रह्मज्ञान ही होनेसे कर्मका क्षय होता है और किसी अवस्थामें किसी उपायसे नहीं होता इससे कर्मसंस्कार शेष रहना और कर्म अनुशयवान् अर्थात् शेष कर्मसंयुक्त जीव भूलोकमें आते हैं जैसा जाता है इसी प्रकारसे आना और ऐसा नहीं भी कहनेका आशय यह है कि, आरोहण (ऊपरजाना) धूम रात्रि अपरपक्ष दक्षिणायन षण्मास पितृलोक आकाश चन्द्रमाके क्रमसे होता है और अवरोहण (नीचे उतरना) चन्द्रमाके स्थानसे आकाश वायु धूम अभ्र मेघ क्रमसे होता है आकाशसे अवरोहण होनेसे वायुआदिकी प्राप्तिसे इसी प्रकारसे है पितृलोकआदिकी प्राप्ति न होनेसे ऐसा नहीं भी है ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

अनु०—चरण कहनेसे जो यह शङ्का कीजाय नहीं उपलक्षणके अर्थ है यह कार्ष्णाजिनि मानते हैं ॥ ९ ॥

भाष्य—रमणीयचरणाः कपूयचरणाः ऐसा जो श्रुतिमें कहा है इसमें चरण शब्द कहनेसे पुण्य व पापरूप कर्मका कहना ज्ञात नहीं होता क्योंकि, लोक व वेदमें चरण शब्द आचारमें प्रसिद्ध है लौकिक चरणशब्दका अर्थ आचार व आचारशील व वृत्त इन शब्दोंको पर्य्याय (एक ही अर्थवाचक) मानते हैं वेदमें भी आचार व कर्मको भेदसहित वर्णन किया है यथा यह श्रुति है **यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणीति** अर्थ–(यानि कर्माणि) जौन कर्म (अनवद्यानि) निन्दित नहीं हैं (तानि) वह (त्वया) तुमसे (सेवितव्यानि) सेवन करनेके योग्य हैं अर्थात् वह तुम्हारे करनेके योग्य हैं (नो इतराणि) अन्य नहीं अर्थात् जो निन्दित कर्म हैं वह करने योग्य नहीं हैं (अस्माकं) हमारे (यानि सुचरितानि) जौन उत्तम आचरण हैं (तानि) वह (त्वया) तुझसे वा तुमसे (उपास्यानि) उपास्य हैं अर्थात् वह तुमको धारण करना चाहिये (नो इतराणि) अन्य नहीं इससे श्रुतिसे ऐसा विदित होता है कि, चरण अर्थात् आचरण वा शीलसे योनिविशेषकी प्राप्ति होती है अनुशयसे अर्थात् शेषकर्मोंसे नहीं होती जो यह शङ्का होवे तो यह युक्त नहीं है यह चरण का कहना श्रुतिमें उपलक्षणके लिये है अर्थात् कर्मके उपलक्षण के लिये है यह कार्ष्णाजिनि ऋषि मानते हैं क्यों कि, केवल आचारसे सुख व दुःख का प्राप्त होना असंभव है सुख दुःख पुण्य व पाप ही कर्मके फल हैं ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

अनु०—अनर्थक होना यह कहा जाय नहीं उसकी अपेक्षा युक्त होनेसे ॥ १० ॥

भाष्य—जो यह कहा जाय कि, जो सुख व दुःख कर्मका फल है तो आचार के निष्फल होनेसे आचार अनर्थक है तो उत्तर यह है कि, नहीं पुण्य कर्मके उसकी अर्थात् आचारकी अपेक्षा युक्त होनेसे अर्थात् आचारवान् ही का पुण्य कर्मोंमें अधिकार है यथा यह वचन है **सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मणि। आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः** अर्थ—(सन्ध्याहीनः अशुचिः) संध्याहीन अपवित्र (नित्यं सर्वकर्मणि) नित्य सब कर्ममें (अनर्हः) योग्य नहीं है अर्थात् कर्म करनेका अधिकारी नहीं है । (आचारहीनं) आचारहीनको (वेदाः) वेद (न पुनन्ति) पवित्र नहीं करते इससे चरणश्रुति कर्मके उपलक्षणके अर्थ है यह कार्ष्णाजिनिका मत है ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति बादरिः ॥ ११ ॥

अनु०—पुण्य पाप ही है यह बादरि आचार्य मानते हैं ॥ ११ ॥

भाष्य—चरण अर्थात् आचरण शब्द सुकृत दुष्कृत ही अर्थात् पुण्य व पाप कर्म ही वाचक है उपलक्षण व लक्षण मानने की आवश्यकता नहीं है यथा लोक में कहते हैं **धर्मं चरत्येष महात्मेति अधर्मं चरत्येष पापिष्ठः** अर्थ—(एषः महात्मा) यह महात्मा (धर्मं चरति) धर्म करता है (एषः पापिष्ठः) यह पापिष्ठ (अधर्मं चरति) अधर्म करताहै इत्यादि यह बादरि आचार्यका मत है इससे पुण्यकर्म करनेवालोंको, रमणीयचरण व पाप कर्म करनेवालोंको कपूयचरण कहना युक्त है और अनुशयसहित ही जीवका अवरोहण होता है यह सिद्धान्त है ॥ ११ ॥

अनिष्टआदि कारियोंके वर्णनमें सू० १२ से २१ अधि० ३।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

अनु०—अनिष्टआदि कारियोंका भी गमन श्रुत (सुना-गया) है ॥ १२ ॥

भाष्य—इष्टकारियोंका चन्द्रमण्डल में जाना वा पुण्य क्षीण होने पर फिर आना वर्णन करिके अब अनिष्टकारी भी जाते हैं वा नहीं जाते यह विचार करते हैं जो वेद-विहित कर्मको नहीं करते और जो निषिद्ध कर्मको करते हैं ऐसे दोनों प्रकारके पाप कर्म करनेवालोंको अनिष्टकारी कहते हैं श्रुतिमें सामान्यसे सबका चन्द्रमाके मण्डल में जानेका वर्णन है यथा **ये वैके चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते**

सर्वे गच्छन्ति अर्थ-(ये वा एके) जो कोई एके (अस्मात् लोकात्) इस लोकसे (प्रयन्ति) जाते हैं (ते सर्वे) वे सब (चंद्रमसम् एव) चन्द्रमाही को अर्थात् चन्द्रमण्डलही को (गच्छन्ति) जाते हैं इस प्रकारसे विशेषतारहित सब हीकी गति सुननेसे शुभ व अशुभ कर्म करनेवाले दोनों की एक ही समान गति होना विदित होता है परन्तु दोनों की समान गति होना अयुक्त है इसका समाधान आगे वर्णन करते हैं ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति-दर्शनात् ॥ १३ ॥

अनु०-संयमनमें (यमालयमें) अनुभव करके अर्थात् दुःख अनुभव नाम भोग करके, इतरोंका (अन्य जो हैं उनका) जाना व आना होता है उसकी गति देखनेसे ॥ १३ ॥

भाष्य-इतरोंका पुण्य कर्म करनेवालोंसे अन्य जो पाप कर्मकरनेवाले हैं उनका यमालयमें दुःख अनुभव के लिये जाना होता है दुःखका अनुभव (भोग) करिकै फिर इस लोकमें आना होता है ऐसा इतरोंका आरोह (यमलोकको दुःखभोगस्थानविशेषको) जाना व अवरोह (वहांसे फिर इस लोकमें आना) होता है कैसे यह सिद्ध होता है उसकी यमके स्थानकी गति देखनेसे अर्थात् श्रुतिमें वर्णित देखनेसे अर्थात् कठोपनिषद्में यम व नचिकेतके संवादमें पापियोंके गतिविषयमें श्रुति देखनेसे श्रुति यह है **न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे** अर्थ-(वित्तमोहेन) धनके मोहसे अर्थात् धन ऐश्वर्य आदिमें आसक्त होकर उनके मोहसे (मूढम्) अज्ञान अर्थात् अज्ञान अंधकारमें प्राप्त (प्रमाद्यन्तम्) प्रमाद करते हुये अर्थात् अविद्यासे कल्याण मार्गको त्यागकर विषयआसक्त होते हुये (बालं) बालको अर्थात् विवेकरहितको (साम्परायः) परलोक वा परमार्थसाधन (न प्रतिभाति) भासित नहीं होता अर्थात् ज्ञान नहीं होता (अयं लोकः) यह लोक है अर्थात् यह प्रत्यक्षसे दृश्यमान स्त्री धन पुत्र आदि हैं (परः नास्ति) परलोक नहीं है अर्थात् इस लोकसे भिन्न परलोक वा परमार्थ वस्तु कुछ नहीं है (इति मानी) ऐसा माननेवाला (पुनः पुनः) वारंवार (मे वशं) मेरे वशको (आपद्यते) प्राप्त होता है अर्थात् मुझ न्यायाधीशके आधीन हो दण्डको प्राप्त होता है इत्यादि ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

अनु०-स्मरण भी करते हैं ॥ १४ ॥

भाष्य—मनु पराशर व्यास आदि भी स्मरण करते हैं अर्थात् अपनी स्मृतियोंमें नचिकेत उपाख्यान आदिमें पापियोंका यमलोकमें गमन व दण्ड होना वर्णन करते हैं ॥ १४ ॥

अपि च सप्त ॥ १५ ॥

अनु०—और सात भी स्मरण करते हैं ॥ १५ ॥

भाष्य—पापियोंके दुःख भोगके लिये महारौरव आदि सात नरक भी स्मरण करते हैं अर्थात् महारौरव आदि सात नरक को भी स्मृति में कहा है इससे पापियोंकी चन्द्रलोकमें गति नहीं होती, सब चन्द्रलोकको जाते हैं यह पापियों सहित सब कहनेका आशय नहीं है पुण्यात्मा जितने हैं वह सब चन्द्रमण्डलको जाते हैं यह सब कहनेका अभिप्राय है यथा कोई निमंत्रित ब्राह्मणोंके लिये यह कहे कि, सब ब्राह्मणोंको भोजन करा देव या सब भोजन कर गये तो निमंत्रित ही ब्राह्मणोंके लिये सब शब्दका प्रयोग समझा जायगा कि, उनमेंसे कोई शेष न रहे वा नहीं रहगया सम्पूर्ण भूमण्डलके ब्राह्मणोंके लिये सब शब्द का प्रयोग ग्रहण करना अयुक्त है ऐसेही यहां समझना चाहिये अब यह शङ्का है कि, जो रौरव आदि सात स्थान पापियोंके हैं तौ यमहीके स्थान मात्रको प्राप्त होना कैसे कहा है इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ १५ ॥

तत्रापि तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

अनु०—उनमें भी उसके व्यापारसे विरोध नहीं है ॥ १६ ॥

भाष्य—उनमें सात नरकोंमें भी उसका अर्थात् यमहीका व्यापार होनेसे उसीकी आज्ञासे उनको जानेसे यमालयमात्र कहनेमें विरोध नहीं है ॥ १६ ॥

विद्याकर्मणोरितितु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

अनु०—विद्या व कर्म यह दोके तो प्रकृत होनेसे ॥ १७ ॥

भाष्य—यदि यह शंका हो कि, अनिष्टकारी (पापी) भी यमलोकको प्राप्त होकर अपने कर्म अनुरूप यातनाको भोगकर पीछे चन्द्रमण्डलको प्राप्त हो वहांसे इसलोकको आते हैं ऐसा मानाजाय तौ इसके समाधान के लिये यह कहा है विद्या व कर्म यह दोके तो प्रकृत होनेसे तो शब्द पक्षकी निवृत्तिके लिये है अर्थात् दो के तौ प्रकृत होनेसे तीसरे पापियोंके लिये चन्द्रमण्डलकी प्राप्ति नहीं है दो, एक विद्या व दूसरे कर्मके फल भोगके लिये देवयान व पितृयान मार्ग कहे गये हैं अनिष्टकारियोंके विद्या (ज्ञान) रहित होनेसे जैसे देवयानसे उनका गमन संभव नहीं होता ऐसेही पुण्य कर्मोंसे रहित होनेसे पितृयानसे चन्द्रमण्डल को भी उनका गमन संभव नहीं होता देवयानके लिये विद्या व पितृयानके लिये

पुण्यकर्म प्रकृत हैं, यथा तद्य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषामभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरित्यादि अर्थ-(तत् कोर्थः तेषां) उनके मध्यमें अर्थात् उक्त गृहस्थोंमेंसे (ये) जो(इत्थं)ऐसा(विदुः)जानते हैं अर्थात् इस प्रकारसे मरणेके पश्चात धूम मार्गसे जाना व फिर आना व नाना योनिमें उत्पन्न हो क्लेश सहना जानते हैं व चित्तसे विरक्त हो ईश्वरकी उपासना करते हैं वह गृहस्थ (च) और (ये इमे) जो यह वानप्रस्थ व संन्यासी (अरण्ये) वनमें श्रद्धा व तपको उपासन करते हैं (ते) वह सब (अर्चिषम) ज्योतिको अर्थात् ज्योति अभिमानी देवताको (अभिसंभवन्ति) प्राप्त होते हैं (अर्चिषः) ज्योति से अर्थात् अग्निरूप ज्योति से (अहः) दिनको अर्थात् दिन अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं इत्यादि वर्णन से देवयान मार्गको कहा है और य इमे ग्रामे इष्टापूर्तदत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति अर्थ-जो यह ग्रामवासी अर्थात् गृहस्थ यज्ञ आदि वापी कूप तडाग आराम (बाग) बनवाना व दानदेना आदि कर्मोंको करते हैं वे धूमअभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं इत्यादि से पितृयाण मार्गको कहा है और उत्तम कर्म करनेवाले पितृयाणसे जानेवालोंके लिये यह कहा है येवैके चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति अर्थ-जो एके इस लोकसे जाते हैं वह सब चन्द्रमण्डलहीको जाते हैं पापियोंके लिये इन दोमेंसे एक मार्ग भी नहीं है इससे पापी चन्द्रमण्डलको नहीं जाते अब यह शङ्का है कि, पांचवीं आहुतिमें पुरुषवाच्य होते हैं ऐसा कहा है जब शरीर बनता है तब शरीरवान् पुरुष नामसे कहा जाता है अन्य भूतोंसहित जिससे शरीर बनता है ऐसे आप (जल) क्रमसे चन्द्रलोकसे आकर गर्भमें प्राप्त हो शरीरके आरंभक होते हैं पापियोंका चन्द्रमण्डलमें गमन न होनेमें उनके शरीरोंका आरंभ ही न होगा अर्थात् उनके शरीर नहीं बन सके इससे शरीरआरंभके प्रयोजनसे उनका भी चन्द्रमण्डलमें गमन होना मानना चाहिये इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १७ ॥

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

अनु०--नहीं तीसरेमें वैसेही उपलब्धि होनेसे ॥ १८ ॥

भाष्य-तृतीय स्थानमें अर्थात् पापकर्म करनेवालोंमें पंचम आहुतिका नियम नहीं है किस हेतुसे नहीं है वैसेही उपलब्धि (प्राप्ति) होनेसे अर्थात् श्रुतिप्रमाण प्राप्त होनेसे यथा यह श्रुति है अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृती-

१ जिसका वर्णन वा निरूपण करना इष्ट है उसको वक्ता आदि में कहकर उसको हेतु उदाहरण व उसके साथ सम्बंधको प्राप्त अन्य विषय व कथाओं सहित वर्णन करता है ऐसे प्रथम कहे गये वर्णन योग्य मुख्य पदार्थ वा विषयको कहते हैं ।

यं स्थानं तेनासौ लोको न सम्पूर्य्यते अर्थ-(अथ एतयोः पथोः) अथ इन दो मार्गोंमेंसे अर्थात् आर्चि व धूम मार्गमेंसे (कतरेण चं) किसी एकसे भी जो (न अर्थात् न यन्ति) नहीं आते (तानि इमानि क्षुद्राणि भूतानि) वह यह क्षुद्र प्राणी (असकृदावर्तीनि) अनेक वार जन्ममरणमें वर्तनेवाले (भवन्ति) होते हैं (जायस्व म्रियस्व) उत्पन्न हो व मरो जिनके लिये यही ईश्वरका नियम वा शासन है अर्थात् ईश्वर नियमसे क्लेश भोगते उत्पन्न होते मरते रहते हैं उत्तम कर्म व भोगको नहीं प्राप्त होते (इति) ऐसा क्षुद्र जन्तुओंका लक्षण रूप (एतद् तृतीयं स्थानं) यह तीसरा स्थान अर्थात् तीसरा संसारका स्थान हैं (तेन) उससे अर्थात् उक्त दोसे भिन्न जो पापी क्षुद्र जीवोंका तीसरा स्थान अर्थात् तीसरी संसारकी स्थिति है उससे (असौ लोकः) यह लोक अर्थात् चन्द्र लोक (न सम्पूर्य्यते) प्राप्त नहीं किया जाता अर्थात् क्षुद्र पापियोंसे प्राप्त नहीं किया जाता अर्थात् उनको यह लोक प्राप्त नहीं होता तृतीय स्थान शब्दसे पापी प्राणियोंको कहा है उनके शरीरके आरंभके लिये पंचम आहुतिकी अपेक्षा नहीं है वह अनेक योनि मशक कीट कृमि पतंग व नीच अवस्था में उत्पन्न होते व मरते रहते हैं ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

अनु०—लोकमें भी स्मरण किया जाता है ॥ १९ ॥

भाष्य—लोकमें भी विना वीर्यसंयोग धृष्टद्युम्न व द्रौपदी आदिका होना इतिहासआदिसे स्मरण किया जाता है इससे पंच आहुतिहीकी शरीरकी उत्पत्ति में आवश्यकता नहीं है ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

अनु०—देखनेसे भी ॥ २० ॥

भाष्य—देखने से भी प्रत्यक्ष से विदित होता है कि, अण्डज जरायुज उद्भिज्ज स्वेदज प्राणियोंके शरीर उत्पन्न होते हैं उन सब में पंच आहुतिका सम्बंध नहीं हो सक्ता और श्रुतिमें भी विना पंचम आहुतिकी अपेक्षा अण्डज आदि शरीरोंकी उत्पत्ति देखी जाती है यथा **तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति अण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति** अर्थ-(खलु) निश्चयसे (तेषाम् एषां भूतानाम्) उन उक्त इन भूतोंके (त्रीणि एव बीजानि) तीनही बीज (भवन्ति) होते हैं (अण्डजं जीवजम् उद्भिज्जम्) अण्डज जीवज व उद्भिज्ज, उद्भिज्ज व स्वेदजकी उत्पत्ति विना योनिसम्बंध होती है उसमें पंच आहुतियोंका योग नहीं है अब यह शङ्का है कि, श्रुतिमें तीन ही कहा है स्वेदजको नहीं कहा इसका उत्तर वर्णन करते हैं॥ २० ॥

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

अनु०–संशोकजका (स्वेदजका) तीसरे शब्दसे अवरोध (संग्रह) है ॥ २१ ॥

भाष्य–अण्डज जीवज उद्भिज्ज तीन नाम कहा हैं इनमें तीसरा शब्द जो उद्भिज्ज है उससे स्वेदजका भी ग्रहण होजाता है, क्योंकि पृथिवी व जल परमाणुओंसे दोनों की उत्पत्ति होती है ॥ २१ ॥

उतरने वा आनेवाले जीवका आकाशआदि होनेके निरूपण में सू० २२ अधि० ४ ।

तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

अनु०–उनके समान भावकी प्राप्ति होती है संभव होनेसे ॥ २२ ॥

भाष्य–उसके आकाशके समान भावकी अर्थात् समान होनेकी प्राप्ति होती है श्रुतिसे सिद्ध होनेसे । इष्टकारी भूतसूक्ष्मों सहित चन्द्रमामण्डलको जाते हैं वहां कर्मक्षय होनेतक रहकर फिर अनुशय (कर्मसंस्कार) सहित पृथिवीमें आते हैं यह कहा है और अवरोह (नीचे पृथिवीमें आना) के प्रकारको भी वर्णन किया है उसमें यह कहा है **अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षतीति** अर्थ–(अथ एतम् एव) अथ इसी (अध्वानं) मार्गको (यथा इतं) जैसा गया उसी प्रकारसे उसको (पुनः निवर्तन्ते) फिर लौटते हैं अर्थात् इसी उक्त गयेहुये मार्गसे फिर लौटते हैं इसीसे प्रथम (आकाशं) आकाशको प्राप्त होते हैं अर्थात् चन्द्रमण्डल में जो जलविशेषसे सुखभोगके लिये शरीर बनता है कर्मक्षय होने पर वह सूक्ष्मरूप हो लयको प्राप्त होता है उस अतिसूक्ष्महुये जलोंसहित जीव आकाशको प्राप्त आकाशरूप होता है (आकाशात् वायुम्) आकाशसे वायुको प्राप्त होता है (वायुः भूत्वा) वायु होकर (धूमः भवति) धूम होता है (धूमः भूत्वा) धूम होकर (अभ्रं भवति) अभ्र होता है अर्थात् जलभराहुआ वा स्थूल जमाहुआ जलरूप होता है (अभ्रं भूत्वा) अभ्र होकर (मेघो भवति) मेघ होता है अर्थात् वर्षाके योग्यरूप मेघ होता है (मेघः भूत्वा) मेघ होकर (प्रवर्षति) बरसता है अर्थात् वृष्टिके साथ जलमें मिलाहुआ आता है इत्यादि अब इसमें यह संशय है कि, आकाशआदि होना जो कहा है इसमें आकाश आदिस्वरूपही होना कहा है अथवा आकाशआदिके सदृश होना मात्र, इस

संशय निवृत्त करनेके लिये यह कहा है उनके समान होनेकी प्राप्ति होती है अर्थात् आकाशआदिके सदृश होता है प्रथम अतिसूक्ष्मरूप आप (जल) सहित आकाशसदृश होता है फिर क्रमसे वायुआदिमें मिलकर संसर्गसे उनमें प्राप्त उनके समान होता है आकाशआदिका स्वरूपही नहीं होता किस हेतुसे समान होना मात्र ग्रहण किया जाता है संभव होनेसे अर्थात् सदृश होना मात्र संभव है स्वरूप होना संभव नहीं है क्योंकि जीवका आकाश आदि जड वस्तु होना संभव नहीं है और जड होनेमें सुख दुःखका भोग होना असंभव है इससे आकाशआदि स्वरूप होना स्वीकारके योग्य नहीं है ॥२२॥

चन्द्रमण्डलसे आनेवाले जीवका आकाशआदि रूपसे दीर्घ कालतक रहने वा न रहनेके वर्णन में सू० २३ अधि० ५।

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

अनु०—नहीं बहुतकाल तक विशेष होनेसे ॥ २३ ॥

भाष्य—बहुत बहुत कालतक पूर्व पूर्व आकाश आदि सदृश रहकर उत्तर उत्तर वायु आदिको प्राप्त होता है अथवा थोडे थोडे कालतक कोई नियमका हेतु न होनेसे यह संशय होता है इसके निर्णय के लिये यह कहा है नहीं बहुत-कालतक अर्थात् दीर्घ कालतक आकाशआदि के समान आकाश आदिमें प्राप्त नहीं रहता अल्प अल्प कालतक रहता है किस हेतुसे विशेष होनेसे, श्रुतिमें यह वर्णन है **अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं**[1] अर्थ—(वै खलु) निश्चयसे (अतः) इससे धान्यआदिसे (दुर्निष्प्रपतरं) दुःखसे निकलना होता है धान्यआदिसे दुःखसे विलम्बसे निकलना कहनेसे यह ज्ञात होता है कि, पूर्व आकाशआदिकी प्राप्ति में शीघ्र (जल्दी) ही सुखसे निकलना होता है । अथवा ऐसा आशय ग्राह्य है कि विना कर्मफलभोग जीव सांसारिक दशा में रह नहीं सक्ता आकाशआदि-सदृश होनेमें भोग नहीं होसक्ता इससे गर्भरूप होनेतक आकाशआदि भावमें अल्पही अल्प कालतक जीव रहता है ॥ २३ ॥

धान्यआदिमें जीवका संश्लेष (योग) मात्र होनेके वर्णनमें सू० २४ से २७ अ० ६ ।

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

अनु०—अन्यसे अधिष्ठितमें पूर्वके समान कहनेसे ॥ २४ ॥

भाष्य—वृष्टिमें मिले जीवोंका आना वर्णन करिके यह कहा है त इह व्रीहि-

---

१ दुर्निष्प्रपततरम् ऐसा शब्द है वैदिक प्रयोग होनेसे तकारका लोप होगया है इससे निष्प्रपतरं ऐसा होगया है ।

यवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा जायन्ते अर्थ-(ते) वे जीव (इह) इस भूलोकमें (व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषाः) धान्य यव ओषधि वनस्पती तिल उर्द (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं इसमें यह जानने योग्य है कि, अन्य जीवोंसे अधिष्ठित धान्यआदिमें अनुशयी जीवोंका अर्थात् चन्द्रमण्डलसे जो कर्म संस्कार युक्त आते हैं उनका संश्लेष (योग) मात्र होता है वा धान्यआदि स्थावर जातिहीमें अनुशयी जीवोंका जन्म होता है और जातिमें प्राप्त सुख दुःखोंको भोग करते हैं यद्यपि उत्पन्न होते हैं यह कहनेसे यह विदित होता है कि, धान्य आदिरूप ही उत्पन्न होते हैं परन्तु यह यथार्थ न होनेसे सिद्धान्त यह वर्णन किया है कि, अन्यसे अधिष्ठितमें अर्थात् अन्यजीवसे अधिष्ठित व्रीहि (धान) आदिमें संश्लेषमात्र है संश्लेष शब्द सूत्रमें शेष है किस हेतुसे संश्लेषमात्र होता है पूर्वके समान कहनेसे अर्थात् जैसे आकाशआदिसे मेघपर्य्यन्त केवल उनका होना कहा है कर्मव्यापारको नहीं कहा ऐसेही कर्मव्यापाररहित धान्य-आदिका होना भी कहा है इससे अनुशयियोंका धान्यआदिके साथ दुःख व सुखके भोगका कुछ सम्बंध नहीं है जहां भोक्ताहोना कहनेका अभिप्राय है वह भोगसाधनरूप कर्मको भी कहा है यथा **रमणीयचरणाः कपूयचरणाः** अर्थ-पुण्य कर्म करनेवाले व पापकर्म करनेवाले इत्यादि इष्टआदि कर्मका फल स्वर्गभोग है वह स्वर्गभोग होनेही से समाप्त होजानेसे और आकाश आदि व धान्यआदि होनेमें कोई कर्मसम्बंध न कहने और मध्यमें कोई अन्य कर्म न होनेसे धान्यआदिके समान होनेहीसे धान्य आदिमें संसर्गहोनेसे जन्म होना औपचारिक वर्णन किया है मुख्य अर्थसे जन्महोना स्वीकारके योग्य नहीं है मुख्य अर्थसे अनुशयियोंका धान्य आदि होना व उनमें भोग होना माननेमें धान्य आदिके काटेजाने पीसेजाने अग्निमें पकाये जाने भक्षण किये जानेमें उनके अभिमानी अनुशयी निकल जांयगे धान्यआदि शरीरोंसे उनका वियोग होजायगा क्योंकि जो जीव जिस शरीरका अभिमानी होता है वह उस शरीरके खण्ड खण्ड व चूर्ण होनेमें उससे निकल जाता है यहां प्रसिद्ध है ऐसा होनेमें धान्य आदिसे उत्पन्न वीर्यआदिमें अनुशयियोंका सम्बंध न रहेगा इससे अनुशयियोंका संसर्गही मात्र होता है अन्य पापी जीवोंका स्थावर जातिमें जन्म होता है अनुशयियोंका नहीं होता ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

अनु०-अशुद्ध है इससे जन्म कहा जाय नहीं शब्दसे ॥२५॥

भाष्य-जो यह शङ्का कीजाय कि, अनुशयीभी पापरहित शुद्ध नहीं होते कर्मसंस्कारहीसे सुख दुःख फलभोगके लिये उनका भूलोकमें अवरोहण होता है इससे संचित कर्मसे कोई अशुद्ध (पाप) है जिससे व्रीहि (धान्य)

आदिमें उसका जन्म होता है और स्थावरभावको प्राप्त पाप फलको भोग करता है क्योंकि जबतक मोक्ष नहीं प्राप्त होता तबतक अनेक जन्मान्तरके संचित कर्म व कर्मफलोंका संस्कार बना रहता है तो उत्तर यह है नहीं अनुशयी स्थावरभावको नहीं प्राप्त होता किस हेतुसे शब्दसे अर्थात् श्रुतिसे अनुशयियोंका स्थावर होना सिद्ध नहीं है इससे श्रुतिमें जैसा पूर्वही वर्णन किया गया है यह कहा है कि, जिन अनुशयियों का पुण्य कर्मका संस्कार शेष है वह ब्राह्मणआदि योनियोंको प्राप्त होते हैं और जो पापकर्मसंस्कारयुक्त हैं वह कुत्ताआदि योनियों से प्राप्त होते हैं कुत्तासे चण्डालयोनि पर्य्यन्त होना कहा है स्थावर होनेको नहीं कहा अन्य जो चन्द्रमण्डल में प्राप्त होने योग्य कर्म नहीं करते क्षुद्र व पाप कर्म करनेवाले हैं वह स्थावरताको प्राप्त होते हैं पुण्य क्षीण होनेमें जो चन्द्रमण्डलसे आते हैं उनका संश्लेषही मात्र स्थावर धान्य आदिके साथ होता है धान्यआदिमें उनका जन्म नहीं होता ॥ २५ ॥

रेतःसिग्योगोथ ॥ २६ ॥

अनु०—अथ (धान्यआदि भाव कहनेके अनन्तर) रेतःसिकके साथ (वीर्य सींचनेवालेके साथ) योग है ॥ २६ ॥

भाष्य—इससे भी धान्यआदिके साथ संयोगमात्र ही अनुशयियोंका होना विदित होता है कि, धान्यआदि होना कहनेके पश्चात् अनुशयियोंका वीर्य सींचनेवालेके साथ योग होना कहा है यथा **यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति** अर्थ--(यःयः) जो जो (अन्नम्) अन्नको (अत्ति) खाता है (यः) जो (रेतः सिञ्चति) वीर्यको सींचता है (तद्भूय एव) वही होकर अर्थात् वीर्य सींचनेवाले पिताकी आकृतिही रूप (भवति) होता है अर्थात् वीर्यद्वारा योनिमें प्राप्त उसके अवयवोंके अंशयुक्त वीर्यसे गर्भ स्थानमें शरीरको प्राप्त हो उत्पन्न होता है इससे रेत सींचनेवाला ही होता है इसमें मुख्य अर्थसे अनुशयीका रेतःसिक् (वीर्यसींचनेवाला) होना सिद्ध नहीं होसक्ता क्योंकि अन्नस्थ (अन्नमें स्थित) अनुशयीका रेतःसिक् होना असंभव है यदि रेतःसिकही प्रकट होता है यह मानाजाय तो उत्पन्न बालकको रेतःसिक् होना चाहिये सो नहीं होता बहुत काल पीछे जब युवा अवस्थाको प्राप्त होता है तब रेतःसिक् होता है इससे विना औपचारिक अर्थके मुख्य अर्थसे अनुशयीको रेतःसिक् होना कहना अयुक्त है इससे रेतःसिकके साथ वा रेतःसिक् होनेका योगही रेतःसिक् होना अङ्गीकार करने योग्य है ऐसाही धान्यआदिका संश्लेष (योग) ही धान्यआदि होना मानने योग्य है ॥ २६ ॥

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

अनु०—योनिसे शरीर होता है ॥ २७ ॥

भाष्य–योनिमें रेत (वीर्य) प्राप्त होनेमें योनिसे कर्मफल सुख दुःख भोग करनेके लिये अनुशयीका शरीर उत्पन्न होता है इसमें यह श्रुति प्रमाण है **तद्य इह रमणीयचरणाः** इत्यादि यह श्रुति पूर्वही वर्णनकीगई है इसमें पुण्य कर्म करनेवालोंको उत्तम योनि ब्राह्मणआदि व पाप कर्म करनेवालोंको निकृष्ट योनि कुत्ता शूकर आदिमें उत्पन्न होना वर्णन किया है यहां कर्म करनेवालोंकि कर्म संस्कार रहे हुये अनुसार जन्म होना कहनेका आशय है इस शरीर प्राप्त होनेके पूर्व आकाशआदि व धान्यआदिमें संश्लेषमात्र अनुशयियोंका होता है यही आकाशआदि होता है मुख्य अर्थसे वही होना कहनेका आशय नहीं है यह उक्त हेतुओंसे निश्चित है ॥ २७ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादः समाप्तः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयपादप्रारंभः ।

पूर्व पादमें जीवकी जाग्रत् अवस्था व गति आगति को वर्णन किया है अब इस पादमें जीवकी स्वप्न आदि अवस्थाओंको वर्णन करते हैं ।

स्वप्नदृष्टिके वर्णनमें सू० १–६ अधि० १ ।

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

अनु०–सन्ध्यमें (स्वप्नमें) सृष्टि है जिससे कि, श्रुति कहती है ॥ १ ॥

भाष्य–जाग्रत् व सुषुप्ति दोनोंकी सन्धिमें होनेसे स्वप्न स्थानको सन्ध्य कहा है सन्ध्यमें अर्थात् स्वप्नमें सृष्टि होती है किस हेतुसे सृष्टि होती है यह अङ्गीकार किया जाता है जिससे अर्थात् जिस हेतुसे श्रुति ऐसा कहती है बृहदारण्यक में यह श्रुति है **न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते** इत्यादि अर्थ–(तत्र) उसमें अर्थात् स्वप्नस्थान में (रथाः न भवन्ति) रथ नहीं होते हैं (न रथयोगाः) न रथ में जिनका योग है ऐसे घोडा आदि होते हैं (न पंथानः भवन्ति) न मार्ग होते हैं (अथ) इसके अनन्तर (रथान् रथयोगान् पथः) रथोंको रथके योग्य घोडोंको मार्गोंको (सृजते) उत्पन्न करता है अर्थात् जो उत्पन्न करता है इत्यादि कहकर वाक्य की समाप्तिमें (स हि कर्ता) अर्थ वही कर्ता है यह कहा है इसमें यह संशय है कि, यह स्वप्नमें रथआदिकोंकी सृष्टि जीव करता है अथवा ईश्वर करता है स्वप्न स्थानको सन्ध्य कहा है इससे स्वप्नका देखनेवाला जीव ही कर्ता है यह प्रतीत होता है ॥ १ ॥

निर्मातारञ्चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

अनु०—और एकशाखावाले कर्मोंके निर्माताको (जीवको) कहते हैं और कामशब्दसे पुत्रआदि कहेजाते हैं ॥ २ ॥

भाष्य—काम व कामशब्दसे कहेजाते हैं यह शब्द सूत्रमें शेष व आशयसे अपेक्षित व ग्राह्य है एके शाखावाले अर्थात् यजुर्वेदीय कठ शाखावाले जीवको कामोंका निर्माता (रचनेवाला) मानते हैं यथा कठ शाखा वा कठोपनिषद्में यह श्रुति है **य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामंकामं पुरुषो निर्मिमाणः** अर्थ-(यः एषः) जो यह (पुरुषः) पुरुष (कामंकामं) कामोंकामोंको अनेक कामनाओंमेंसे प्रत्येक कामनाको (निर्मिमाणः) रचताहुआ (सुप्तेषु) सोतेहुयोंमें (जागर्ति) जागता है कामशब्द यहाँ पुत्रआदि कामना कियेगये पदार्थोंका वाचक है इच्छामात्रका वाचक नहीं है क्योंकि इससे पूर्वमें भी यमने नचिकेतासे ऐसा कहा है **सर्वान् कामाञ्छन्दतः प्रार्थयस्व शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व** अर्थ-(सर्वान् कामान्) सब कामनाओंको (छन्दतः) स्वतंत्रतासे जैसी इच्छा हो (प्रार्थयस्व) मांगो (शतायुषः पुत्रपौत्रान्) सौ वर्षके आयुवाले पुत्र व पौत्रोंको (वृणीष्व) मांग यह कहकर यह कहा है **कामानां त्वा कामभाजं करोमि** अर्थ-(त्वा) तुझको (कामानां कामभाजं) कामनाओंकी इच्छाको प्राप्त होनेवाला (करोमि) करता हूं इससे कामशब्द पुत्रआदिवाचक सिद्ध होता है और प्रजापतिवाक्यमें जीवका सत्यसंकल्प होना भी श्रुत (सुनागया) है इससे स्वप्नमें रथ आदि पदार्थ जीव ही रचता है इस पूर्व पक्षका अब उत्तर वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

अनु०—यह तो सम्पूर्ण रूपसे अप्रकटस्वरूप होनेसे मायामात्र है ॥ ३ ॥

भाष्य—परमात्माकी सृष्टि वा शक्ति माया शब्दसे वाच्य होती है और माया शब्द आश्चर्यवाची है स्वप्नसृष्टि, जागरित अवस्थामें अप्रकटस्वरूप होनेसे व स्वप्न देखनेवाले मात्रसे स्वप्न अवस्थामात्रमें विचित्र रूपसे अनुभूत व ज्ञात होनेसे मायामात्र है अर्थात् आश्चर्यरूप परमात्माकी सृष्टि है क्योंकि, **कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः** इस उक्त श्रुतिमें परमात्माहीको निर्माण करताहुआ सोतेहुये जीवों में जागता है यह कहा है सोतेहुयोंमें जागना सोतेहुये जीवों में कहनेका अभिप्राय है उसी जागनेवाले व कामोंके निर्माण कर्ताको ऐसा वर्णन किया है **तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।**

तस्मिँल्लोकाः श्रिताःसर्वे तदु नात्येति कश्चन अर्थ-(तद् एव) वही (शुक्रं) शुद्ध (तद् ब्रह्म) वही सबसे बडा (तद् एव) वही (अमृतम्) अविनाशी (उच्यते) कहा जाता है (तस्मिन्) उस ब्रह्ममें (सर्वे लोकाः) पृथिवीआदि सब लोक (श्रिताः) ठहरे हैं (तद्) उसका (कश्चन) कोई (न अत्येति) उल्लंघन नहीं कर सका अर्थात् उसके नियमके आधीन सब हैं इस प्रकारसे आदि अन्तके साथ सम्बंध मिलाने से ब्रह्महीका कर्ता होना सिद्ध होता है जीव में उक्त धर्म सिद्ध नहीं होसके अब इस आक्षेप का कि, जीव भी स्वाभाविक रूप शुद्ध सत्यसंकल्प पापरहित कहाजाता है इससे उसमें भी ऐसे धर्म व ऐसा सामर्थ्य मानना अयुक्त नहीं है समाधान वर्णन करते हैं ॥ ३ ॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध-विपर्य्ययौ ॥ ४ ॥

अनु०-परके (परमात्माके) संकल्पसे तो तिरोहित है (इस जीवका स्वाभाविक रूप तिरोहित) अर्थात् छिपा है जिस कारणसे कि, उससे इसके बंध व मोक्ष होते हैं ॥ ४ ॥

भाष्य--तौशब्द शंकानिवृत्तिके लिये है अर्थात् स्वाभाविक रूप तो जीवके कर्मके कारणसे परमात्माके संकल्पसे तिरोहित है इससे स्वाभाविक रूपकी शङ्का तौ युक्त नहीं है किस हेतुसे तिरोहित है जिससे इसके जीवके कर्म व साधन अनुसार बंध व मोक्ष उससे परमात्मासे होते हैं अर्थात् जीवके कर्म संस्कारको विचारकर यथायोग्य परमात्मा अपने संकल्पसे कि, इसको ऐसा फल देना चाहिये जीवको बंध व मोक्षको प्राप्त करता है जीव बंध अवस्थामें अपने शुद्धरूपसे रहित है इससे उसको सत्यसंकल्प होना पापरहित होना आदि कहना व मानना अयुक्त है ब्रह्महीके संकल्प व नियमसे सब लोक व जीव प्रवृत्त व स्थित हैं और उसीकी प्राप्ति व अप्राप्तिसे मोक्ष व बंध है यथा तैत्तिरीय उपनिषद्में यह श्रुतिवाक्य है **भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः** अर्थ-(अस्माद्) इस परमेश्वरसे हुये (भीषा) भयसे (वातः) वायु (पवते) सबको पवित्र करता है वा अपने कार्यको करता है (भीषा) भयसे (सूर्य्यः) सूर्य्य (उदेति) उदय होता है इत्यादि **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति** अर्थ-(यदा) जब ही (एषः) यह जीवात्मा (एतस्मिन् अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने) इस देखने योग्य नहीं शरीररहित नामरहित आश्रयरहित में (अभयं प्रतिष्ठां) अभय व स्थितिको (विन्दते) प्राप्त होता है (अथ अभयं गतः

भवति) तभी भयरहित मुक्तिपदको प्राप्त होता है (यदा) जबही (एषः) यह जीवात्मा (एतस्मिन् उद् अरम् अन्तरम्) इस ब्रह्ममें वा उसके ज्ञानके उपायके अनुष्ठानेंमें थोडा भी अन्तर अर्थात् भेद वा विलम्ब (कुरुते) करता है (अथ तस्य भयं भवति) तब उसको भय होता है अर्थात् भयरूप जन्म मरण क्लेश प्राप्त होता है **एष एवानन्दयाति** इत्यादि अर्थ--(एषःएव) यह उक्त आनन्दरूप ब्रह्मही (आनन्दयाति) आनन्दित करता है अर्थात् अपनेमें प्राप्त हुये उपासकोंको वही आनन्दित करता है ॥ ४ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ५ ॥

अनु०—अथवा देहयोगसे वह भी ॥ ५ ॥

भाष्य—वह तिरोभाव भी देहयोगद्वारा अथवा सूक्ष्म प्रकृतिद्वारा होता है अर्थात् सृष्टिकालमें स्थूल अचित् वस्तु (प्रकृति) के साथ संयोग होनेसे प्रलय-कालमें नाम रूपरहित सूक्ष्म अचित् वस्तुके संयोगसे उसके द्वारा ब्रह्म जीवके स्वाभाविक रूपको तिरोहित करता है इससे स्वप्नमें जीव संकल्पमात्रसे रथ-आदिकी सृष्टिको नहीं करसका सब लोक उसमें आश्रित हैं कोई उसके नियम को उल्लंघन नहीं करसक्ता सब सोयेहुयोंमें जागता है इत्यादि सब धर्म परमात्माही में संभव होते हैं इससे जीवोंके अल्प अल्प कर्मोंके दुःख सुख फल भोगके लिये स्वप्नकालमात्रतक होनेवाले सुख दुःखके कारणरूप परमात्माही विचित्र विचित्र पदार्थोंको उत्पन्न करके वा जीवके पूर्व अनुभूत संस्कार अनुसार प्रकट करके जीवके अनुभवमें प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ६ ॥

अनु०—और सूचक भी है यह श्रुतिसे जानाजाता है उसके (स्वप्नके) जाननेवाले भी कहते हैं ॥ ६ ॥

भाष्य--इससे भी स्वप्नके पदार्थ जीवके संकल्पसे प्रकट नहीं होते कि, स्वप्न शुभ व अशुभका सूचक भी होता है यह श्रुतिसे ज्ञात होता है यथा **यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने** अर्थ--जब काम्यकर्मोंमें स्वप्नोंमें स्त्रीको देखे तब उस स्वप्न-निदर्शनमें अर्थात् स्त्रीका स्वप्न देखनेमें समृद्धिको जाने अर्थात् वह कर्म सिद्ध होगा यह जाने तथा **अथ पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति** अर्थ--और जो काले दाँतवाले काले पुरुषको देखता है वह इसको अर्थात् देखनेवालेको मारता है अर्थात् उसका आयु अल्प रहना सूचित करता है तथा गजपर स्वप्नमें सवार होना उत्तम फलसूचक खरपर सवार होना निकृष्टफलसूचक स्वप्नअध्यायके जाननेवाले कहते हैं इस प्रकारसे स्वप्नको

शुभअशुभसूचक वर्णन करते हैं जो जीवके आधीन स्वप्न सृष्टि होती तो जीव शुभहीकी सूचक सृष्टिको करता अशुभही सूचकको न करता और सुख देनेवाले पदार्थोंको देखता नाना प्रकारके दुःखदायक व भयंकर पदार्थोंको न देखता और दुःखको न प्राप्त होता इससे ईश्वरहीके नियमसे होनेसे स्वप्नसृष्टि ईश्वरहीसे कीगई मानने योग्य है और जो स्वप्नसृष्टि मिथ्यारूप होती तो उसका फल सत्य न होता उक्त प्रकारसे शब्दसे फलका होना विदित होनेसे और अनुभूत भी होनेसे मिथ्या कहना युक्त नहीं है जीवके अल्पकर्मोंके सुख दुःख अल्पकालमें भोगहोनेके लिये जीवके चित्त संस्कार अनुसार ईश्वरही कृत आश्चर्यरूप सृष्टि है ॥ ६ ॥

सुषुप्तिवर्णन में सू० ७ व ८ अधि० २ ।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

अनु०—उसका अभाव है नाडियोंमें और आत्मामें उसकी श्रुतिसे ॥ ७ ॥

भाष्य—अब सुषुप्ति स्थानकी परीक्षा करते हैं उसका अर्थात् स्वप्नका अभाव सुषुप्ति है वह नाडियोंमें व आत्मा अर्थात् परमात्मा में होती है अर्थात् नाडियोंमें व परमात्मामें जीवके प्राप्त होनेमें होती है किस प्रमाणसे उसकी (सुषुप्ति वर्णनकी) श्रुति होनेसे छान्दोग्यमें यह श्रुति है **यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति** अर्थ—(यत्र) जब (एतत्) यह अर्थात् यह स्वप्नमय जीव (समस्तः सम्प्रसन्नः सुप्तः) पूर्णतासे अच्छेप्रकारसे प्रसन्न सुप्त अर्थात् सोयाहुआ (स्वप्नं) स्वप्नको (न विजानाति) नहीं जानता है (तदा) तब (आसु नाडीषु) इन नाडियोंमें अर्थात् यह कहीहुई सूर्यके तेजसे पूर्ण नाडियोंमें (सृप्तः) प्राप्त वा प्रविष्ट (भवति) होता है बृहदारण्यकमें ऐसा वर्णन है **अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हितानामनाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते** अर्थ—(अथ) स्वप्न से अनन्तर (यदा) जब (सुषुप्तः भवति) सुषुप्त होता है (यदा) जब (कस्यचन अर्थात् किंचन न वेद) कुछ नहीं जानता है किस क्रम से सुषुप्त होता है यह वर्णन में यह कहा है (हिता नाम) हिता जिनका नाम है ऐसी देहके अन्नरसपरिणामरूप जिनको शिरा भी कहते हैं (द्वासप्ततिसहस्राणि) बहत्तर सहस्र (नाड्यः) नाडी (हृदयात्) हृदयसे अर्थात् हृदय नामक (कमलआकार) मांसपिण्ड रूपसे (पुरीततं) पुरीतत्को अर्थात् उस कमलाकार

हृदयको घेरे हुये शरीर देशको (अभिमतिष्ठन्ते) पृथक् पृथक् फैलती वा व्याप्त होती हैं (ताभिः) उन नाडियों से दर्शन स्पर्शन श्रवण आदि ज्ञानका फैलाव जो हृदय बुद्धिस्थान से नाडियों द्वारा होता है उसको (मत्यवसृप्य) संकुचित कर वा समेटकर व्यापाररहित हो (पुरीतति) पुरीतत में (शेते) सोता है और छान्दोग्यके अन्य श्रुतिमें ऐसा वर्णन किया है **यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति** अर्थ–हे सोम्य (यत्र कोर्थः यदा) जिस कालमें अर्थात् जब (एतत् पुरुषः) यह पुरुष (स्वपिति नाम) स्वपिति नाम होता है अर्थात् सुषुप्तिको प्राप्त नाम से कहा जाता है (तदा) तब (सता) सत्के साथ अर्थात् सत् शब्दसे वाच्य ब्रह्मके साथ (सम्पन्नः भवति) मिलाहुआ होता है इत्यादि इन वाक्यों में यह संशय होता है कि, कहीं नाडियोंमें कहीं पुरीतत में कहीं ब्रह्ममें प्राप्त हो सुषुप्त होना कहा है । इन सुषुप्तिके स्थानोंमें भेद वा विकल्प वर्णन होनेसे श्रुतियोंमें विरोध होना विदित होता है जो यह कहा जाय कि, विकल्प मानने योग्य नहीं है तो एक साथ अनेक स्थान प्रवृत्त होना असंभव होनेसे विकल्पही मानना युक्त विदित होता है इसके निर्णयके लिये यह कहा है कि, सुषुप्ति स्वप्नका अभाव है नाडियोंमें व परमात्मा में प्राप्त होनेसे होती है नाडियोंके साथ पुरीतत भी ग्राह्य है आशय यह है कि, स्थानोंका विकल्प नहीं है स्थानोंका समुच्चय (क्रममें प्राप्त व मुख्य स्थान कहनेका समुदाय रूप कथन) है यथा लोकमें कोई महलके भीतर किसी कोठेके भीतर पलंगमें सोता होवे और तीन पुरुष पृथक् पृथक् महल व कोठरी व पलंगमें सोता है यह कहैं तो तीनोंका कहना सत्यही है ऐसे ही नाडी व पुरीततको महल व उसके भीतर कोठरी वा कोई स्थानविशेष व ब्रह्मको मुख्य सोनेका स्थान पलंगके समान समझना चाहिये इससे साक्षात् सुषुप्तिका स्थान ब्रह्मही है सुषुप्तिमें ब्रह्महीमें प्राप्त जीव स्थित रहता है ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

अनु०–इससे जागना इससे ॥ ८ ॥

भाष्य–जिससे ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्तिका स्थान है इससे इस ब्रह्मसे जीवोंका जागना होता है जैसा कि, श्रुतिमें कहा है **सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामहे** अर्थ–(सतः) सत्से अर्थात् सत् ब्रह्मसे (आगत्य) आकरके अर्थात् जागनेमें यह जीव ब्रह्मसे आकरके (न विदुः) नहीं जानते हैं अर्थात् अविद्यामें प्राप्त यह नहीं जानते हैं कि, (सतः) सत् ब्रह्मसे (आगच्छामहे) हम आते हैं इत्यादि ॥ ८ ॥

---

१ यह छान्दोग्यकी श्रुतिवाक्यका अवयव है ।

उसी सोयेहुये जीवके फिर जागने में सू० ९ अधि० ३ ।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

अनु०—वही तो जागता है कर्म अनुस्मृति शब्द व विधि हेतुओं से ॥ ९ ॥

भाष्य—अब इस शङ्काकी प्राप्ति है कि, जो सुषुप्ति में जीव सब उपाधि व इन्द्रियोंसे रहित हो ब्रह्मको प्राप्त होता है तो मुक्त व सुषुप्त में भेद न होनेसे फिर जीवको ब्रह्मसे भिन्न हो अनेक प्रकारके दुःखभोग करनेके लिये शरीर व इन्द्रियोंके सम्बंधको प्राप्त होना व जागना न चाहिये इससे सुषुप्तसे भिन्न अन्य जीवका शरीरमें प्राप्त होना व जागना मानना चाहिये इसके समाधानके लिये यह कहा है वही तो जागता है तो शब्द शंकाके निषेधके लिये है कि, अन्य नहीं जागता जागता तो वही सुषुप्त ही है किन हेतुओं से वही जागता है कर्म अनुस्मृति शब्द विधियोंसे पूर्व दिन में किया हुआ कर्म जो शेष रहता है सुषुप्त जागकर अन्य दिन फिर उसी कर्मके पूर्णकरने में प्रवृत्त होता है अन्यके रहे हुये कर्मके पूर्ण न करने में अन्य कुछ हानि नहीं समझता उसी विचार व आशय से अन्य दिन सुषुप्तके प्रवृत्त होनेसे उसीका जागना विदित होता है तथा सुषुप्तको जागने पर यह स्मृति होती है कि, मैं वही हूँ यह वही पुरुष वा वस्तु है जिसको मैं कल्ह वा इतने दिन पहिले देखा था अन्यके जाने हुयेका स्मरण अन्य को नहीं होता इससे वही जागता है शब्द से सुषुप्तही का जागना सिद्ध होता है यथा **त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तथा भवन्तीति** अर्थ--(ते) वह अर्थात् सुषुप्ति मरण व प्रलयमें सत् ब्रह्ममें प्राप्त हुये जीव (इह) इस लोकमें जिस कर्म-निमित्तसे जिस योनिको प्राप्त हुआ है (व्याघ्रो वा इत्यादि) व्याघ्र हो वा सिंह हो वा वृक (भ्यडहा या विग) हो वा वराह (शूकर) हो वा कीट हो वा पतङ्ग हो वा दंश (डास) हो वा मसा हो (यत्यत्) जोजो (भवन्ति) होते हैं (तथा भवन्ति) वैसेही होते हैं अर्थात् जागनेके समयमें तथा प्रलयके पश्चात् फिर सृष्टि होनेमें वैसेही होते हैं ब्रह्मज्ञान को न प्राप्त हुये विना ब्रह्मको जाने सुषुप्ति मरण व प्रलयमें ब्रह्ममें प्राप्त होनेपर भी फिर जिस योनिमें जीव रहता है जैसे कर्म व वासना होती है कर्म अनुसार व भोग्य कर्म फलके लिये फिर उसी योनिमें प्राप्त होते हैं ब्रह्मज्ञान वा आत्मज्ञानको प्राप्तहो जो ब्रह्मको प्राप्त होता है वही परम ज्योति ब्रह्मको प्राप्तहो अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त मुक्तरूप इच्छा मात्रसे सब इष्ट पदार्थोंको प्राप्तहो परम आनन्दको भोग करता है यथा यह श्रुति है **परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्य्ये-**

ति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोके-षु कामचारो भवति सर्वपश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति अर्थ-ब्रह्मोपासक ज्ञानी (परं ज्योतिः) परं ज्योतिरूप ब्रह्मको (उपसम्पद्य) प्राप्त होकर (स्वेन रूपेण) अविद्याआदि दोषरहित अपने शुद्ध रूपसे (अभिनिष्पद्यते) सिद्ध होता है (सः) वह (तत्र) उस ब्रह्म लोकमें (जक्षन् क्रीडन्) हंसते अथवा अनेक प्रकारके पदार्थोंको भोग करते क्रीडा करते (रममाणः) अपने संकल्पमात्रसे स्त्री ज्ञाति व यानोंको उत्पन्न करके रमण करताहुआ (पर्य्येति) सब दिशाओंमें विचरता व प्राप्त होता है (सः) वह (स्वराट्) स्वयं, विराज-मान स्वतंत्र ऐश्वर्यवान् (सर्वेषु लोकेषु) सब लोकोंमें (कामचारः) इच्छा अनुसार विचरनेवाला (भवति) होता है (सर्वपश्यः) सब देखने योग्यको (पश्यति) देखता है (सर्वम् आप्नोति) सब पदार्थको प्राप्त होता है इस प्रकारके सर्वज्ञ व समर्थ होना श्रुतिसे विदित होता है सुषुप्त सब इन्द्रियोंसे रहित ज्ञान व भोगआदिमें अशक्त विश्राम स्थानके समान परमात्मामें प्राप्त स्वस्थ होकर फिर भोगके लिये उठता वा जागता है यह सिद्धान्त है ॥ ९ ॥

मूर्छाके परीक्षामें सू० १० अधि० ४ ।

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

अनु०-मूर्छितमें अर्द्ध सम्पत्ति होता है परिशेषसे (बाकी र-हनेसे) ॥ १० ॥

भाष्य-मूर्च्छितमें जो मूर्छा अवस्था होती है वह जागरित स्वप्न सुषुप्ति व मरणसे विलक्षण होनेसे किसीमें न मिलनेसे शेष रहनेसे भिन्न है क्योंकि, ज्ञानके अभावसे जागरित व स्वप्न नहीं है और निमित्त व आकारके विलक्षणरूप होनेसे मरण व सुषुप्ति नहीं है घातआदि निमित्तसे मूर्च्छा होती है यह निमित्त मरण व सुषुप्तिमें नहीं होते शरीर कंपआदिकी विलक्षणतासे भी सुषुप्ति नहीं है मरणमें प्राणका अभाव होता है मूर्च्छामें प्राण बने रहते हैं इससे मरण नहीं है इससे मूर्च्छा अर्द्धसम्पत्ति नामसे वाच्य पांचवी अवस्था है आधा सम्प्रत्यय (ज्ञान) वा लक्षण मरणका प्राप्त होनेसे मूर्च्छाको अर्द्ध सम्पत्ति नामसे कहा है ॥ १० ॥

स्थान सम्बंधसे ब्रह्ममें दोष न प्राप्त होनेके वर्णनमें सू० ११ से २१अधि० ५ ।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

अनु०-स्थानसे भी परका अर्थात् परमात्माका अपुरुषार्थ नहीं है जिससे कि, सर्वत्र उभयलिङ्ग (दोनो लक्षण युक्त) कहा जाता है वा कहागया है ॥ ११ ॥

भाष्य–दोष व दशा जाननेसे वैराग्य उदय होनेके लिये जीवकी अवस्थाओं का निरूपण करके अब विशेष प्रेम व श्रद्धा उत्पन्न होनेके लिये प्राप्य (प्राप्तहोने योग्य) उपास्य ब्रह्मके निर्दोष होने व सम्पूर्ण कल्याण गुणमय होने आदिका निरूपण करते हैं प्रथम यह विचार किया जाता है कि, जागरित स्वप्न सुषुप्ति मूर्च्छा व मरण स्थानोंमें जो दोष कहे गये हैं व जिन जिन दोषोंसे जीव युक्त होता है वह वह दोष उसके अन्तर्यामी ब्रह्म जो सब अवस्थाओंमें स्थित वा प्राप्त रहता है उसको भी होते हैं वा नहीं साधारणमें यह युक्त विदित होता है कि, प्रत्येक अवस्थामें प्राप्त शरीरमें अवस्थित होनेसे ब्रह्मंमेंभी दोष हैं जो यह कहाजाय कि, **संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्, स्थित्यदनाभ्यां च** इत्यादि सूत्रोंमें परब्रह्मके कर्मके वश न होनेसे दोषका न होना कहागया है फिर जो कर्मवश्य नहीं है ऐसे परब्रह्ममें स्थान सम्बंधसे दोष होना क्यों कहा जाता है इसका उत्तर यह है कि, देहका सम्बंधही अपुरुषार्थका हेतु है अन्यथा कर्महीं दुःखको उत्पन्न करैंगे देहसम्बंधका क्या प्रयोजन है देहके सम्बंधहीमें दुःखआदिका भोग जन्म मरण आदि होते हैं इससे कर्मवश्य न होनेमें भी नाना प्रकार अशुचि व दोषोंसे युक्त देहका सम्बंध होनाही अपुरुषार्थ है इससे शरीरके नियम करनेके लिये अपनीही इच्छासे उसमें प्रवेश करनेमें भी अपुरुषार्थ होनेका सम्बंध नहीं रुकसकता यथा पीव व लोहू आदिका मज्जन (स्नान) अपनी इच्छासे भी करना अपुरुषार्थ ही है इससे यद्यपि जगत्का एक कारण सर्वज्ञत्व आदि उत्तम गुणोंका आकर ब्रह्म है तथापि **यः पृथिव्यां तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन् यश्चक्षुषि तिष्ठन्** इत्यादि अर्थ–जो पृथिवीमें रहताहुआ आत्मामें रहता हुआ जो नेत्रमें रहता हुआ इत्यादि सब पदार्थोंमें रहता हुआ जो नियमन करता अन्तर्यामी ब्राह्मणआदिमें वर्णन किया है इस प्रकारसे जिस जिसमें अवस्थित होना कहा है उस उसके सम्बंध रूप अपुरुषार्थ अवश्य ब्रह्ममें हैं ऐसा आक्षेप प्राप्त होनेमें यह समाधान वर्णन किया है स्थान से भी परमात्माका अपुरुषार्थ नहीं है अर्थात् पृथिवीआदि स्थान से भी परमात्मा में दोष होना संभव नहीं है किस हेतुसे संभव नहीं है जिससे कि, सर्वत्र अर्थात् सब श्रुति स्मृतियों में परब्रह्मको उभय लिङ्ग (दोनों लक्षण युक्त) कहा जाता है अर्थात् सम्पूर्ण दोषों से रहित होने और कल्याण गुणोंका आकर होनेके लक्षण युक्त कहा जाता है यथा **अपहतपाप्मा, विजरो, विमृत्युर्विशोको,ऽविजिघत्सो,ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः** अर्थ– पापरहित जरारहित मृत्युरहित शोकरहित क्षुधारहित पियासारहित सत्यकाम व सत्यसंकल्प है **समस्तकल्याणगुणात्मकोसौ स्वशक्तिलेशाद्धृतभूतवर्गः । तेजोबले-**

१ इस श्रुतिका अर्थ पूर्वही लिखा गया है इससे सामान्यसे वाक्यार्थ लिखदिया है ।

अर्थमहावबोधस्ववीर्य्यशक्त्यादिगुणैकराशिः अर्थ-(असौ) यह अर्थात् यह ब्रह्म (समस्तकल्याणगुणात्मकः) सम्पूर्ण कल्याण गुणोंका स्वरूप है और (स्वशक्तिलेशात्) अपनी किंचित् शक्तिसे (धृतभूतवर्गः) भूत वर्गको धारण किये हैं (तेजोबलैश्वर्य इत्यादि) तेज बल ऐश्वर्य महाबोध अपना पराक्रम शक्तिआदि गुणोंका एकही राशि है **परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे** अर्थ-(पराणां परः) परोंका पर है अर्थात् सब उत्कृष्टोंसे उत्कृष्ट है (यत्र परावरेशे) जिस कारण व कार्योंके स्वामीमें (सकलाः) सब (क्लेशादयः) क्लेशआदि (न सन्ति) नहीं हैं इसप्रकारसे श्रुति व स्मृतियोंसे दोनो लक्षण युक्त ब्रह्म कहागया है जैसे आकाश घटाकाश आदि नामसे अल्प देशीय व महान् आकाश दोनो नामसे कहाजाता है सिद्धान्तमें महान् आकाश ही है उपाधिभेद मात्रसे घटाकाश आदि नामसे वाच्य होता है घटआदि स्थानसे सिद्धान्त लक्ष्यसे परिच्छिन्न होने व घटाकार आदि होनेके भेद नहीं होते ऐसेही परब्रह्म पृथिवी जीवात्मा बुद्धि इन्द्रियोंमें प्राप्त होनेमें भी अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूपसे स्थित रहता है उसमें पृथिवी आदि स्थान सम्बंधी दोष व अपुरुषार्थ नहीं होते ॥ ११ ॥

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

अनु०-भेदसे यह कहाजाय न प्रत्येकमें उसके वचन न होनेसे ॥ १२ ॥

भाष्य-जैसे छान्दोग्यमें प्रजापतिके वाक्यमें भी शुद्ध स्वरूपसे पापरहित होना आदि धर्मोंसे वर्णन किया है व संसारदशामें पापयुक्त कहा है उभयलिङ्ग जीवके होनेमें देवता आदिके देहयोगरूप अवस्था भेदसे अपुरुषार्थका योग होता है ऐसेही अन्तर्यामी परमात्माके स्वरूपसे पापरहित होने आदिसे दोनों लक्षणयुक्त होनेपर भी जिस जिस देवता आदिके शरीरका योग होता है उस २ शरीर योगरूप अवस्थाभेदसे अपुरुषार्थका योग होता है जो ऐसा कहा जाय तौ उत्तर यह है कि, नहीं प्रत्येक वचन न होनेसे अर्थात् उसीका होना न कहनेसे यथा **यः पृथिव्यां तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन्** इत्यादि अर्थ-जो पृथिवीमें रहताहुआ जो आत्मामें रहताहुआ विद्यमान है इत्यादिमें सबमें अंतवाक्यमें **स त अन्तर्याम्यमृतः** अर्थ -(सः) वह (ते आत्मा) तेरा आत्मा (अन्तर्यामी अमृतः) अन्तर्यामी अमृत है यह कहा है इस प्रकारसे अन्तर्यामीका „ अमृत होना कहनेसे और उसके (पृथिवी आदिके) वचन न होनेसे अर्थात् पृथिवीआदि ही होना न कहनेसे ब्रह्म अपने शुद्धही रूपसे व्यापक रहता है उसमें दोष प्राप्त नहीं होता पृथिवीआदि सबमें अपने इच्छासे नियमन करते हुये ब्रह्ममें उक्त पदार्थोंके सम्बंध में प्रयुक्त अपुरुषार्थ का प्रतिषेध होनेसे ब्रह्म में

बोधकी प्राप्ति नहीं है और जीव अपने कर्मानुसार ईश्वर नियम से अपने स्वरूपसे तिरोहित होता है जैसा **पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्** इस सूत्रमें वर्णन किया गया है जो यह शंका होवे कि, अपनी इच्छासे नियम करतेहुयेका भी अपुरुषार्थ होनेका सम्बंध है क्योंकि जिस जिस वस्तु में स्थित हो नियम करता है उस उस वस्तुके स्वभावके अधीन अपुरुषार्थका सम्बंध अवश्य होगा तो ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि अचित् (जड) वस्तु भी स्वभावसे कोई अपुरुषार्थस्वरूप नहीं है कर्मवश्य जो जीव हैं उनके कर्म स्वभावके अनुकूल कालभेदसे व पुरुष भेदसे वही एक पदार्थ परमात्माके संकल्प व नियमसे सुख व दुःखका देनेवाला होता है जो वस्तुस्वरूप होवै तो सब सर्वदा सबके सुखहीके लिये अथवा दुःखही के लिये होता सो ऐसा देखनेमें नहीं आता और ऐसेही कहा है **नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम । वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते । तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते । तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम्** अर्थ--हेद्विजोत्तम ! (पापपुण्ये नरकस्वर्गसंज्ञे) पाप पुण्य कृत नरक स्वर्ग यह दो नाम हैं (एकम् एव वस्तु) एकही वस्तु (दुःखाय सुखाय) दुःखके लिये व सुखके लिये (च) और (ईर्ष्यागमाय) ईर्ष्या प्राप्त होनेके लिये होता है इत्यादि (तत् एव) वही (प्रीतये) प्रीतिके लिये (भूत्वा) होकर (पुनः) फिर (दुःखाय) दुःखके लिये (जायते) होजाता है (तत् एव) वही (कोपाय) कोपके लिये (यतः) प्राप्त (च) फिर (प्रसादाय) प्रसन्नताके लिये (जायते) हो जाता है (तस्मात्) तिससे (किञ्चित्) कुछ (दुःखात्मकं) दुःखात्मक (नास्ति) नहीं है (च) और (न सुखात्मकं) न सुखात्मक है इससे जीवके कर्मवश्य होनेसे जैसे जैसे जिसके कर्म हैं उस उस कर्मके योग्य जो जो वस्तु है उस उसका सम्बंधही अपुरुषार्थ है वा होता है स्वाधीन परब्रह्मका वही सम्बंध प्रत्येक वस्तु का विचित्र नियमरूप लीलारसके लिये समझना चाहिये ॥ १२

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

अनु०—और ऐसेही एके (एक शाखावाले) कहते हैं ॥ १३ ॥

भाष्य--ऐसेही एके शाखावाले एकही देहसंयोगमें जीवका अपुरुषार्थ होना व परमात्माका न होना कहते हैं यथा **द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति** अर्थ--(सयुजा) साथ रहनेवाले अर्थात् घटआदि और आकाशके समान सदा इकट्ठेरहनेवाले (सखाया) परस्पर मित्र अथवा समान अर्थात् एकही ख्याति जिनके प्रकटताकी अर्थात् योगाभ्यास क्षम

दम तितिक्षा वैराग्य आदि जिन दोनोंके जाननेके एकही साधन हैं ऐसे (द्वा) दो (सपर्णा) पक्षी (समानं वृक्षं) एक वृक्षको अर्थात् शरीर वा जगत् रूप एक वृक्षको (परिषस्वजाते) सब ओरसे संग किये हुये प्राप्त हैं (तयोः) उन दोमेंसे (अन्यः) एक अन्य अर्थात् जीवात्मा है (स्वादु) स्वादिष्ठ (पिप्पलम्) पिप्पलको अर्थात् कर्मफलको (अत्ति) खाता है (अन्यः) और दूसरा जीवात्मासे भिन्न परमात्मा (अनश्नन्) न खाता हुआ अर्थात् कर्मफलका अनुभव न करता हुआ (अभिचाकशीति) साक्षी रूपसे देखता है अर्थात् सब शुभ अशुभ कर्मोंको देखता है अब यह आशङ्का है कि, **अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि** अर्थ–इस जीवशरीरसे अनुप्रवेश करिके नाम व रूपका व्याकरण करूं ऐसा ब्रह्मने इच्छा किया ब्रह्म है आत्मा जिस का ऐसे जीव सहित वा जीव शरीर रूपसे प्रवेश कियेहुये ब्रह्मका नाम व रूपका प्रकट करना कहा है इससे जीवके आत्मारूप ब्रह्मकाभी देवता मनुष्य आदिरूप होना और देवता मनुष्य आदि नामभी उसके भाक्त नाम होनेसे ब्रह्मका भी कर्मवश्य होना सिद्ध होता है इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ १३ ॥

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

अनु०–रूपरहितही है जिससे उसके प्रधान होनेसे ॥ १४ ॥

भाष्य–देवताआदि जिन जिन शरीरोंमें ब्रह्म प्रविष्ट है उन २ शरीरोंके रूपसे युक्त भी ब्रह्मरूपरहित ही वा रूपरहितके समान है जीवके समान शरीर निबन्धन व कर्मवश्य होना ब्रह्मका नहीं है उसका प्रधानत्व है इससे प्रधान होनेसे वही सबका मुख्य कारण व वही सब होना वही सबका आत्मा कहा जाता है सिद्धान्तमें वह नाम रूपका निर्वाहक है अपने शुद्ध रूपसे नाम व रूपआदिसे रहितही है यथा **आकाशो ह वै नाम, नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म** यह छान्दोग्यकी श्रुति है अर्थ–यह है (वै) निश्चयसे (आकाशः नाम) आकाश नाम है अर्थात् आकाशके समान शरीररहित सूक्ष्म व सर्व व्यापक होनेसे ब्रह्मका आकाश नाम है आकाशशब्दवाच्य ब्रह्म कैसा है (नामरूपयोः निर्वहिता) नाम व रूपका निर्वाह करनेवाला अर्थात् प्रलयमें सूक्ष्मरूपसे अपनेमें धारण किये सृष्टि समयमें फिर प्रकट करनेवाला व प्रवाह से कारण वा कार्य रूपसे नित्य रखनेवाला (ते) वह नाम रूप (यत् अन्तरा) जिसके मध्यमें वर्तमान रहते हैं अथवा जो उन नाम रूपोंके बीचमें विद्यमान नाम व रूपसे रहित है (तत्) वह (ब्रह्म) ब्रह्म है । इस प्रकारसे सबमें अनुप्रवेश होनेमें भी नाम व रूपका स्पर्शरहित नाम व रूपका निर्वाहक मात्र ब्रह्मको श्रुति प्रतिपादन करती है । यदि यह शङ्का हो कि, जिसको ब्रह्मका शरीर

होना कहा है उस शारीरक होने व अन्तर्यामी होनेमें रूपसम्बंधरहित वा रूपरहितके समान कहा जाना कैसे युक्त होसक्ता है तो इसका उत्तर यह है कि, जैसे जीव जिस जिस शरीरको धारण करता है उस उससे जन्य (उत्पन्न होनेयोग्य) सुख दुःखको प्राप्त होनेसे उस उस रूपके सम्बंधको प्राप्त होता है ऐसा सम्बंध ब्रह्मका नहीं होता इससे नाम रूपमें प्राप्त भी रूपरहितके समान है शास्त्रमें जो कर्म करना व कर्मका फल वर्णन किया है वह कर्म वश्य जीवहीके लिये है इससे ब्रह्म अरूपही है अन्तर्यामी रूपसे अवस्थित भी ब्रह्म सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होने व कल्याण गुणोंका आकर होने के लक्षण युक्त उभयलिङ्ग (दोनों प्रकारके लक्षणयुक्त है) अथवा सूत्रका अर्थ ऐसा ग्राह्य है कि, रूपवान् न होनाही उसका (ब्रह्मका) प्रधानत्व होनेसे अर्थात् मुख्यतासे श्रुतिमें रूपवान् न होनाही ब्रह्मका वर्णन कियागया है नामरूपसहित होनेका वर्णन गौण है अरूप होना आदि प्रतिपादनमें यह श्रुति है **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्** इत्यादि अर्थ-(अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अव्ययम्) शब्दरहित स्पर्शरहित रूपरहित नाशरहित है अब यह शंका है कि, ब्रह्मको निर्विशेष वर्णन किया है यथा अशब्द (शब्दरहित) इत्यादि तथा **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** इत्यादि अर्थ-सत्यज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म है इत्यादि श्रुतियोंसे निर्विशेष प्रकाशस्वरूपमात्र ब्रह्म है यह ज्ञात होता है और जो सर्वज्ञ सत्यसंकल्प जगत्का कारण सबका अन्तरात्मा सत्यकाम होना आदि है यह **नेति नेति** इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिषेधको प्राप्त होनेसे इनका मिथ्या होना विदित होता है इससे कल्याणगुणोंका आकर होना और सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होना उभयलिङ्ग ब्रह्मका होना संभव नहीं होता इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १४ ॥

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

अनु०-प्रकाशके समान वृथा न होनेसे ॥ १५ ॥

भाष्य-जैसे सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म है इत्यादि वाक्योंके वृथा न

---

१ शाङ्करभाष्यमें इस सूत्रका व्याख्यान इस प्रकारसे है कि, सूर्य्यआदिका प्रकाश जैसे अंगुली आदि उपाधिसम्बंधसे टेढा ज्ञान पडता है ऐसेही पृथिवीआदि उपाधिसम्बंधसे ब्रह्म पृथिवीआदिके आकारसे प्रतिपादन कियाजाता है आत्मज्ञानरहित जनोंके लिये आकारविशेषका उपदेश वृथा न होनेसे आकारवान्ब्रह्मप्रतिपादक वाक्य है यद्यपि साधारण प्रकाश सूर्यआदिका कहनेसे यह अर्थ युक्त होना विदित होता है परन्तु विचारनेसे यथार्थ नहीं है क्योंकि वृथा न होनेसे यह जो हेतु है यह ठीक नहीं लगता वाक्यमें भेद होता है और ऊपरसे अध्याहार करके कहना है प्रकाशका अर्थ ज्ञान वा ज्ञानका अर्थ प्रकाश ग्रहण करनेमें कुछ संशय करनेका स्थल नहीं है अनेक श्रुतिवाक्योंमें ऐसा अर्थ ग्राह्य है वस्तुके स्वरूपकी प्रकटताका हेतु प्रकाश होनेसे ज्ञान प्रकाशवत् व अज्ञान अंधकारवत् वाच्य होता है ।

होनेसे ब्रह्मका ज्ञान प्रकाशस्वरूप होना अंगीकार कियाजाता है ऐसेही सत्यसंकल्प होने सर्वज्ञ होने सब जगत्का कारण होने सर्वात्मक होने सम्पूर्ण अविद्याआदि दोषोंसे रहित होने आदिके वर्णन करनेवाले श्रुतिवाक्योंके वृथा न होनेसे उभयलिङ्ग भी ब्रह्म है यह मानना चाहिये ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

अनु०—और उसमात्रको श्रुति कहती है ॥ १६ ॥

भाष्य—और सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अर्थ—सत्यज्ञानस्वरूप ब्रह्म है इत्यादि तथा स यथा सैंधवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव अर्थ—(यथा) जैसे (सः सैंधवघनः) वह लवणका पिण्ड (अनन्तरः) बाहर (अबाह्यः) भीतर (कृत्स्नः) सम्पूर्ण (रसघनः एव) रसका पिण्डही है अर्थात् जो लवणका स्वादु विशेष है भीतर बाहर उसमें वही है (वै) निश्चयसे (एवं) ऐसेही (अयम् आत्मा) यह आत्मा (अनन्तरः अबाह्यः) बाहर व भीतर (कृत्स्नः) सब (प्रज्ञानघनः एव) प्रज्ञान अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूपही है इत्यादि श्रुति ब्रह्मको ज्ञान वा प्रकाशस्वरूपमात्रको प्रतिपादन करती हैं अन्यत्र श्रुतिवाक्यमें जो सत्यसंकल्प होना आदि प्रतिपादित है उसको निषेध नहीं करती नेति नेति इत्यादि अर्थ—यह नहीं है यह नहीं है इत्यादि जो श्रुतिमें कहा है इसका विषय वा आशय इसी अधिकरणमें आगे वर्णन करेंगे जो मात्र शब्द कहनेका यह आशय ग्रहण करते हैं कि, चैतन्यमात्र ब्रह्मको रूपान्तररहित निर्विशेष (विशेषणरहित) ब्रह्मको वर्णन करतीं हैं यह अयुक्त है क्योंकि यद्यपि ज्ञानस्वरूप कहना यथार्थ है परन्तु जो श्रुतियोंमें जगत्का कारण होना व्यापक होना नियामक होना सबका धारणकर्ता होना ब्रह्मका वर्णन किया है और यह सब विशेषण व ब्रह्मके प्रमाण व उत्कृष्टता के हेतु हैं इनके निषेधमें इनकी वर्णन करनेवाली श्रुतियोंका मिथ्यात्व व ब्रह्मकी असिद्धता दोषकी प्राप्ति है और इन ब्रह्मगुणोंको पूर्वही प्रतिपादन करके यहां ऐसा अर्थ करना निर्विशेष कहनेवाला अपनेही वचनका बाधक भी है इससे यही अर्थ ग्राह्य है कि, ज्ञानस्वरूप वर्णन करनेवाली श्रुति ज्ञानस्वरूप होनामात्र कहती हैं अन्यत्र प्रतिपादित गुणोंका निषेध नहीं करतीं इससे उभयलिङ्ग सविशेष व निर्विशेष ब्रह्मभावान्तरसे मानना युक्त व दोनोंप्रकारसे प्रतिपादक श्रुतियोंमें दोष व विरोध नहीं है ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्य्यते ॥ १७ ॥

अनु०—श्रुतिभी देखाती है अर्थात् कहती है स्मरण भी कियाजाता है अर्थात् स्मृतिसे भी जानाजाता है ॥ १७ ॥

भाष्य--श्रुतिजातिको एक मानकर श्रुतियोंके स्थान श्रुति कहती है ऐसा कहा है श्रुति कहती है अर्थात् श्रुतियां कहतीं हैं ऐसा अर्थ ग्राह्य है श्रुति वा श्रुतियां भी ब्रह्मको कल्याण गुणोंका आकर होना व सम्पूर्ण दोषोंसे रहित होना वर्णन करतीं हैं यथा **तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमञ्च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥** अर्थ--उस ईश्वरोंके अर्थात् वैवस्वतआदिकोंके परम महेश्वरको इन्द्रआदि देवताओंके परम दैवतको पतियोंके (प्रजापतियोंके) पतिको पर जो पुरुष है उससे पर स्तुतिके योग्य भुवनोंके स्वामी देवताको हम जानें । **स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः** अर्थ-- वह सबका कारण सब करणाधिपोंका (इन्द्रियोंके स्वामी जीवोंका) स्वामी है और उसका न कोई उत्पन्न करनेवाला है न स्वामी है **न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते । परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च** अर्थ– न उसके कार्य (शरीर) है न करण (इन्द्रिय) हैं कोई उसके समान और उससे अधिक देखने व जाननेमें नहीं आता उसकी स्वाभाविकी (स्वभावहीसे सिद्ध) विचित्र उत्कृष्ट शक्ति और ज्ञानक्रिया व बलक्रिया स्वाभाविकी सुनी जाती है **भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः** अर्थ– इसकी भयसे वायु बहता है व भयसे सूर्य्य उदय होता है **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन** अर्थ--जिस ब्रह्मको प्राप्त न होकर मनसहित वाणी जिससे निवृत्त होजाती है अर्थात् जिसतक न पहुंचकर जिससे इधरही से हट आती है उस ब्रह्मके आनन्दस्वरूपको विद्वान् (ज्ञानी) प्राप्त होकर किसीसे नहीं डरता **निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्** अर्थ–अवयवरहित क्रियारहित शान्त (विकाररहित) दोषरहित व निर्लेप मायारहित है इत्यादि स्मृतिवाक्य भी हैं यथा **यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः । सर्वकृत्सर्वशक्तिर्ज्ञानबलर्द्धिमान्** अर्थ–(यः) जो (अव्ययः) नाशरहित (सर्वकृत्) सब करनेवाला (सर्वशक्तिः) सर्वशक्तिमान् (ज्ञानबलर्द्धिमान्) ज्ञान बल ऋद्धिमान् (ईश्वरः) ईश्वर (लोकत्रयम् आविश्य) तीनों लोकको प्रवेश करके (बिभर्ति) धारण करता है **अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनोऽनादिमान्वशी । क्लमतन्द्रीभयक्रोधकामादिभिरसंयुतः** अर्थ–(अन्यूनः) न्यून नहीं है (च) और (अवृद्धिः अपि) वृद्धिरहित भी है (स्वाधीनः) स्वाधीन है (अनादिमान्) आदिरहित है (वशी) सबको वशमें रखनेवाला है (क्लमतन्द्रीभयक्रोधकामादिभिः असंयुतः) ग्लानि निद्रा भय क्रोध काम आदिसे संयुक्त नहीं है इत्यादि इससे सब अवस्थाओंमें अवस्थित भी

१ श्वेताश्वतर उपनिषद् व तैत्तिरीय उपनिषद्के यह वाक्य हैं इनका अर्थ पूर्वमें भी वर्णन कियागया है ।

ब्रह्मके उभयलिङ्ग (दोनों लक्षण युक्त) होनेसे जिन जिन स्थानमें ब्रह्म है उन उन स्थानोंके दोष परब्रह्म में नहीं प्राप्त होते ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्य्यकादिवत् ॥ १८ ॥

अनु०—और इसीसे सूर्य प्रतिबिम्ब आदिके समान उपमा है ॥ १८ ॥

भाष्य--जिससे कि, नाना प्रकारके स्थानों में स्थित भी परब्रह्म दोनों लक्षण युक्त होनेसे उन स्थानोंके दोष से भिन्न रहता है दोष उस में नहीं प्राप्त होते इसीसे सूर्यके प्रतिबिम्ब आदिकी उपमा है अर्थात् जैसे जल दर्पण आदि में सूर्य्य तथा आदि शब्दसे चन्द्रमा आदिका प्रतिबिम्ब प्राप्त होता है तो दोषयुक्त जल दर्पणमें प्रतिबिम्बित सूर्य आदि में जल दर्पण आदिके दोष नहीं प्राप्त होते ऐसेही सब पदार्थो में अवस्थित होने में भी ब्रह्म निर्दोष रहता है यथा यह वाक्य है **आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत्तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलधारेष्विवांशुमान्** अर्थ–(यथा) जैसे (एकं हि आकाशं) एकही आकाश (घटादिषु) घटआदिकोंमें (पृथक् भवेत्) भिन्न होवे अर्थात् जैसे घटादिकोंमें प्राप्त भी उपाधिहेतुसे घटाकाश नामसे वाच्य घट परिमाण भासित सिद्धान्तमें आकाश एकही महान् घटआदिसे भिन्न होता है (तथा) वैसेही (अनेकस्थः) अनेकमें स्थित (एकः आत्मा) एक आत्मा सबसे पृथक् रहता है और (जलधारेषु) जलकी धारों में (अंशुमान् इव) सूर्यके समान भिन्न रहता है **एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्** अर्थ–(हि) निश्चयसे (एकः एव) एकही (भूतात्मा) सब भूतोंका आत्मा (भूते भूते) भूत भूतमें अर्थात् आकाशआदि महाभूतोंमेंसे प्रत्येक आकाश वायु आदि भूतमें तथा प्रत्येक प्राणीमें (व्यवस्थितः) व्यवस्थित है अर्थात् भिन्न भिन्न अवस्थाओंसे स्थित है (एकधा) एकप्रकारसे अर्थात् निज शुद्धस्वरूपसे एक प्रकारसे (बहुधा एव च) अनेक प्रकारसे भी (जलचन्द्रवत्) जलमें चन्द्रमाके समान (दृश्यते) देखाजाता है ॥ १८ ॥

अम्बुवद्ग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

अनु०—जलके समान तो ग्रहण न होनेसे वैसा नहीं है ॥ १९ ॥

भाष्य--जैसा जलमें तथा दर्पणमें सूर्य व मुखआदिका प्रतिबिम्ब होता है वैसा पृथिवी आदि स्थानोंमें परमात्मा का ग्रहण न होनेसे वैसा अर्थात् जलके समान नहीं है अर्थात् उपमा यथार्थ नहीं है जलआदि सूर्यआदि-भांति से उनमें स्थित के समान नेत्रसे ग्रहण कियेजाते हैं अर्थात् देखेजाते हैं

परमार्थ से उनमें नहीं होते परमात्मा तो यः पृथिव्यां तिष्ठन् योऽप्सु तिष्ठन् य आत्मनि तिष्ठन् अर्थ- जो पृथिवीमें रहताहुआ जो जलोंमें रहताहुआ जो आत्मा में रहताहुआ विद्यमान है इत्यादि वाक्यों से परमार्थ से पृथिवी-आदि में व्यापक स्थित ग्रहण कियाजाता है सूर्य्य आदि का जो जल-आदिके दोषोंके साथ योग नहीं होता वह जल आदि में उनके स्थित न होनेहीसे नहीं होता ब्रह्म तो स्थित वा प्राप्तही है इससे दार्ष्टान्तिक व दृष्टान्तकी समानता नहीं है अथवा ऐसा आशय ग्राह्य है कि, साकारका प्रतिबिम्ब होता है ब्रह्म सूर्य्य आदिके समान आकार व रूपवान् नहीं है इससे उपमा युक्त नहीं है अब इसका समाधान वर्णन करते हैं ॥ १९ ॥

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवं दर्शनाच्च ॥ २० ॥

अनु०—अन्तर्भावसे (भीतर होनेसे) वृद्धि (बढ़ती) ह्रास (घटती) को प्राप्त होनेवाला होना है ऐसा दोनोंके समीचीन (अच्छा वा यथार्थ) होनेसे निश्चित होता है देखनेसे भी ॥ २० ॥

भाष्य—पृथिवीआदि स्थानोंमें अन्तर्गत होनेसे पृथिवीआदि स्थानोंमें प्राप्त जो वृद्धि व ह्रास आदि दोष हैं वह स्थानी ब्रह्ममें परमार्थसे प्राप्त नहीं होते जैसे जलआदिके दोष सूर्य्यआदिमें नहीं प्राप्त होते अर्थात् प्रतिबिम्बसे सूर्य्य आदि जलके अन्तर्गत प्रत्यक्ष होता और जलके बढ़नेमें प्रतिबिम्ब बढता घटनेमें घटता चलनेमें चलताहुआ ज्ञात होता है परन्तु वास्तव में सूर्य्य में बढ़ना घटना आदि कुछ नहीं होता ऐसेही पृथिवी-आदि स्थानोंमें प्राप्त होनेमें भी ब्रह्म उनके धर्म वा दोषोंको ग्रहण नहीं करता वा प्राप्त नहीं होता भीतर प्राप्त होनेमें स्थान के दोषोंमें लिप्त वा प्राप्त न होनेमात्रमें दृष्टान्त व दार्ष्टान्तिक दोनों साधर्म्य (समानधर्म होने) में भेद न होनेसे जल व सूर्य्यकी उपमा दिया है जिस अंशमें निर्दोषता देखानेका अभिप्राय है उस अंशमें ठीक होनेसे उपमा दिया है अन्य अंशमें विरोध होनेमें भी दृष्टान्तमें दोष प्राप्त नहीं होता यथा लोकमें यह देखनेसे भी विदित होता है कि, सर्वथा समान धर्म न होने विवक्षित अंशमात्रमें साधर्म्य होनेसे दृष्टान्तका ग्रहण कियाजाता है यथा यह पुरुष सिंहके समान है इत्यादि इससे जैसे किसी पुरुषको उसकी वीरता देखकर यह कहा जाता है कि, यह पुरुष सिंह है अन्य धर्म व आकार भेद होनेमें भी शूरतामात्रके साधर्म्यसे जैसे सिंहके समान कहना यथार्थ अंगीकार कियाजाता है ऐसेही ब्रह्मकी उपमा सूर्य्य प्रतिबिम्बमें

अंगीकार करना चाहिये यह उपमा लौकिक अज्ञान जनोंके साधारण समझमें आनेके लिये वर्णन किया है आकाशकी उपमा विशेष ग्राह्य है क्योंकि व्यापक व निराकार होनेसे ब्रह्म व आकाशमें समानधर्मता है जैसे एकही आकाश घट व मठ आदिमें उपाधि से पृथक् सोना भासित होता है वास्तव में एकही घट आदि धर्म व परिमाणसे रहित है ऐसेही पृथिवीआदि सब स्थानों में प्राप्त सब स्थानोंके धर्म व परिमाणसे रहित अपने गुण व स्वरूप से एकही ब्रह्म विद्यमान है और दर्शन शब्दसे जो श्रुतिका अर्थ ग्रहण कियाजाय तो श्रुति में भी ब्रह्मका सबके अन्तर में होना व सबसे भिन्न होना वर्णित है जैसा अन्तर्यामिब्राह्मण बृहदारण्यकमें ब्रह्मका पृथिवीआदिशरीरक होना व पृथिवीआदि जिसको नहीं जानते इससे उनसे व उनके धर्मों से भिन्न होना वर्णन किया है श्रुतिवाक्य यह है **यः पृथिव्यां तिष्ठन् इत्यादि य आत्मनि तिष्ठन् यम् आत्मा न वेद इत्यादि** अर्थसहित पूर्वही लिखेगये हैं अब यह शङ्का है कि, **द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चामूर्तञ्चेति** अर्थ--(द्वे वाव) निश्चय दो (ब्रह्मणः रूपे) ब्रह्मके रूप हैं (मूर्तञ्च अमूर्तञ्च) मूर्त और अमूर्त ऐसा बृहदारण्यकमें प्रकृतकरके (प्रारंभमें मुख्य विषय कहकर) सम्पूर्ण स्थूल व सूक्ष्मरूपप्रपञ्चको ब्रह्महीका रूप होना विचारकरके यह कहा है **तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासः** इत्यादि अर्थ--(ह वै) निश्चयसे (तस्य एतस्य पुरुषस्य रूपं) उस इस पुरुषका रूप (यथा) जैसे (महारजनं) कुसुमसे रँगा (वासः) पट है इत्यादि प्रकारसे पीले रंगके ऊर्णवस्त्रके समान इन्द्रगोप (वीरबहूटी) के समान अग्निकी ज्योतिके समान शुक्ल कमल व विद्युत्के समान आकारविशेषको कहकर अर्थात् जीवात्मामें व्यापक परमात्मा व जीवको भेद न कहकर आत्मामात्रको वासनाअनुसार कहीं रजोगुणको प्राप्त जैसे कुसुमआदिसे रँगा वस्त्र वा अतिअरुण वीरबहूटीके रंगके समान अनेक रंग व रागमें प्राप्त आत्माका रूप होता है अर्थात् स्त्रीआदि विषय संयोगमें रजोगुणमें प्राप्त वस्त्रआदिके समान अनेक रंगको धारण करता है और कहीं उत्तम वृत्ति व ज्ञानसे अग्निकी ज्योति बिजुली के समान प्रकाशवाला होता है ऐसा कहकर यह वर्णन किया है **अथात आदेशो नेति नेतीति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्तीति** अर्थ--(अथ) आत्माके रूप कहनेके अनन्तर (अतः) इससे अर्थात् जिससे कि, जो सत्यका सत्यरूप है वही रहजाता है इससे (आदेशः) यह आदेश है सत्यका उपदेश है (नेति नेति इति) यह नहीं है यह नहीं है अर्थात् जो विशेष रूप आकार नाम रूप कहागया है यह नहीं है (हि इति न) जिससे ऐसा वा यह नहीं है (तस्मात् एतस्मात् अन्यत् इति न) तिससे इससे अन्य है ऐसा नहीं है अन्य प्रकारका निर्देश नहीं है इससे(परम् अस्ति इति) परम है अर्थात् यही मुख्य है इस प्रकारसे सबको

ब्रह्मके प्रकार कहकर सबका प्रतिषेध करके सब विशेषोंका अधिष्ठान सन्मात्रही ब्रह्म है जितने विशेष (भेद) हैं वह अपने स्वरूपको न जानतेहुये ब्रह्मसे कल्पित हैं ऐसा श्रुतिमें वर्णन किया है इससे ब्रह्मका उभयलिङ्ग कहना कैसे युक्त होसक्ता है इसका समाधान वर्णन करते हैं ॥ २० ॥

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति भूयः ॥ २१ ॥

अनु०—प्रकृतके इतना होनेको अर्थात् इतना परिमाण होनेको प्रतिषेध करतीं हैं तिससे फिर कहती है ॥ २१ ॥

भाष्य—यह सिद्ध नहीं होता कि, आदि में जो ब्रह्मको विशेषवान् होना कहागया है नेति नेति शब्दसे उसका प्रतिषेध कियाजाता है क्योंकि ऐसा होनेमें भ्रान्तिसे जल्पित हुआ (बकागया) सिद्ध होगा यद्यपि अन्यत्र कहेहुये वाक्यों में पदार्थ अन्य प्रमाणसे सिद्ध हैं तथाऽपि उनका ब्रह्मका प्रकार होना ज्ञात नहीं है और अन्य जिनका स्वरूप व ब्रह्मका प्रकार होना दोनों अज्ञात हैं उनका चिदचिच्छरीरक ब्रह्मका प्रकार होना विज्ञापनके लिये यहां वह ब्रह्मके प्रकार वा कार्य होना उपदेश कियेगये हैं इससे उसका निषेध होना संभव नहीं होता है इससे मूर्त अमूर्तरूप जगत्का ब्रह्मरूप कहना जो प्रकृत है उसके परिमाणमात्र ब्रह्मके होने का प्रतिषेध नेति नेति वाक्य से मानना युक्त है अर्थात् ब्रह्मके जो विशेष (भेद वा कार्य) प्रथम कहेगये हैं उनसे विशिष्ट होनेसे जो ब्रह्मकी इयत्ता (मर्यादा) प्रतीत होती है नेति नेति शब्दसे उसका प्रतिषेध है नेति नेति अर्थात् ऐसा नहीं है ऐसा नहीं है अर्थात् उक्त प्रकारमात्रविशिष्ट ब्रह्म नहीं है नेति शब्दमें जो इति शब्द है उससे जैसा कहागया है उस प्रकारसे विशिष्ट होनेसे जो ब्रह्मकी इयत्ता (इतनाहोना) प्रकृत है उसका ग्रहण वा विचार किया जाता है क्योंकि निषेध करनेके पश्चात् फिर ब्रह्मके गुणों वा विशेषणोंको श्रुति वर्णन करती है इसीसे यह निश्चित होता है कि, ब्रह्मके प्रकृत विशेषणोंसे युक्त होनेमात्रको श्रुति प्रतिषेध करती है और फिर ब्रह्मके गुणजातको श्रुति वर्णन करती है इसमें यह वाक्य प्रमाण है **न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्** अर्थ—(इति नेति) इस प्रकारसे ऐसा नहीं है इस शब्दसे जो ब्रह्म प्रतिपादन कियागया है उस (एतस्मात्) इससे (अन्यत् न हि अस्ति) अन्य पर वस्तु नहीं है अर्थात् स्वरूपसे वा गुणसे ब्रह्मसे उत्कृष्ट अन्यवस्तु नहीं है (अथ तस्य ब्रह्मणः) अथ उस ब्रह्मका (सत्यस्य सत्यम् इति नाम धेयम्) सत्यका सत्य यह वा ऐसा नाम है अब इस नामका यह निर्व-

मन है कि, (प्राणाः वै सत्यं) प्राण निश्चयसे सत्य हैं (तेषाम् एषः सत्यं) उनके अर्थात् प्राणोंके मध्यमें प्राणोंसे विशेष यह सत्य है प्राण शब्दसे यहां प्राणके साथ व्यापार करनेवाले होनेसे जीव वाच्य हैं सूक्ष्म आकाशआदिके समान स्वरूपका अन्य प्रकार होना रूप परिणाम जीवका न होनेसे जीव सत्य हैं उनसे भी अधिक यह अर्थात् यह परमात्मा ब्रह्म सत्य है क्योंकि कर्मोंके अनुसार जीवोंके ज्ञानका संकोच व विकास होता है पापरहित परमपुरुषके ज्ञानमें संकोच व विकासभी नहीं होते इससे जीवोंसे यह श्रेष्ठ व सत्य है इससे इसप्रकारसे वाक्यशेषमें कहेहुये गुणसमूहके योगसे नेति नेति शब्दसे ब्रह्मका सविशेष होना (विशेषणयुक्त होना) प्रतिषेधको नहीं प्राप्त होता पूर्वमें प्रकृत इयत्तामात्रहीका प्रतिषेध करना ज्ञात होता है इससे परब्रह्म सविशेष व निर्विशेष उभयलिङ्ग है श्रुतिमें विशेषणोंयुक्त जो ब्रह्मको वर्णन किया है उन विशेषणोंके निषेधमें अर्थात् जगत् कार्य कारण होने आदि विशेषण जो श्रुति से सिद्ध हैं उनके निषेधमें ब्रह्मका अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणगोचर होना संभव नहीं है क्यों संभव नहीं है यह आगे सूत्र में वर्णन करते हैं ॥ २१ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥ २२ ॥

अनु०—जिससे कि, वह अव्यक्त है यह कहती है अथवा जिस से कि, उस अव्यक्तको कहती है ॥ २२ ॥

भाष्य—किस कारणसे वह अन्य प्रमाणगोचर नहीं है जिससे कि, वह अव्यक्त है यह श्रुति कहती है अथवा शास्त्र कहता है अथवा यह अर्थ है कि, जिससे उस अव्यक्तको श्रुति कहती है अन्य कोई किसी हेतु वा कारणसे नहीं जानता अव्यक्त कहनेमें श्रुतिवाक्य यह है **न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनं न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा इत्यादि** अर्थ—(अस्य) इसका अर्थात् रूपआदिरहित अव्यक्त ब्रह्मका (रूपं) स्वरूप (सन्दृशे) सामने अर्थात् नेत्रआदि इन्द्रियसे ग्राह्य होनेके योग्य स्थानमें (न तिष्ठति) स्थित नहीं होता है (कश्चन) कोई (एनं) इसको (चक्षुषा) नेत्रसे (न पश्यति) नहीं देखता है (चक्षुषा) नेत्रसे (न गृह्यते) ग्रहण नहीं कियाजाता (न वाचा अपि) वाक्से भी नहीं अर्थात् नहीं ग्रहण कियाजाता इत्यादि अब अन्य हेतु वर्णन करते हैं ॥ २२ ॥

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २३ ॥

अनु०—निश्चयकरके संराधनमें प्रत्यक्ष व अनुमानसे (श्रुति व स्मृतिसे) ॥ २३ ॥

---

१ यह श्वेताश्वतर उपनिषद्का वाक्य है ।

भाष्य-भक्ति ध्यान प्रणिधानआदि अनुष्ठानको संराधन कहते हैं अतिश्रद्धा व भक्तिसे एकाग्रचित्तमें ध्यान वा समाधिमें उसका साक्षात्कार होताहै यह श्रुति व स्मृतिसे सिद्ध होताहै यथा **ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः** अर्थ-(ज्ञानप्रसादेन) ज्ञानसे प्राप्तहुई स्वच्छता व प्रसन्नतासे (विशुद्धसत्त्वः) विशेष शुद्ध हुआ है सत्त्वगुण व चित्त जिसका ऐसा (ध्यायमानः) ध्यान करताहुआ (ततः) तिससे शुद्धचित्त व ज्ञान होनेसे (तं निष्कलम्) उस अवयवरहित ब्रह्मको (पश्यति) देखता है इत्यादि तथा स्मृतिवाक्य यह है **यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संजितेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः** अर्थ-(यं ज्योतिः) जिस ज्योतिस्वरूपको (विनिद्राः) निद्राको जीतेहुये (जितश्वासाः) श्वासको जीतेहुये (संतुष्टाः संजितेन्द्रियाः) संतुष्ट इन्द्रियोंको जीतेहुये (युञ्जानाः) ध्यान करनेवाले (पश्यन्ति) देखते हैं (तस्मै योगात्मने) उस योगसे प्राप्त होने योग्य आत्मा ब्रह्मके लिये (नमः) नमस्कार है **योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्** अर्थ-(तं भगवन्तं सनातनं) उस भगवन्त सनातनको (योगिनः) योगीजन (पश्यन्ति) देखते हैं इत्यादि इससे केवल संराधनमें साक्षात्कार होने व श्रुतिमें उक्त विशेषणोंसे ज्ञेय होनेसे श्रुतिमें उक्त विशेषणों का प्रतिषेध नहीं है ॥ २३ ॥

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २४ ॥

अनु०-प्रकाशआदिके समान विशेषता नहीं है और प्रकाश कर्ममें अभ्याससे होता है ॥ २४ ॥

भाष्य-इससे भी ब्रह्मके प्रकृत परिमाणवान् होनेहीको श्रुति प्रतिषेध करती है मूर्त व अमूर्तविशिष्ट होनेको प्रतिषेध नहीं करती यह निश्चित होता है जिससे कि, परब्रह्मके स्वरूपको साक्षात् कियेहुये वामदेवआदिकोंके ज्ञानमें प्रकाश (ज्ञान) आदिके समान अर्थात् ज्ञान आनन्दआदिके समान विशेषतारहित मूर्त अमूर्त आदि प्रपंचविशिष्ट होना भी ब्रह्मका गुण श्रुतिसे सिद्ध होता है इसके प्रमाणमें बृहदारण्यक की यह श्रुति है **तद्धैतत्पश्यनृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्य्यश्चेति** इत्यादि अर्थ-(ऋषिः वामदेवः) वामदेव ऋषि (तद् एतद्) उस इसको अर्थात् उस कहेहुये इस परब्रह्मको जिसके वर्णनका प्रसङ्ग चलाआता है (पश्यन्) देखतेहुये (प्रतिपेदे) यह प्रतिपादन किया वा कहा कि, (अहं) मैं (मनुः अभवम्) मनु हुआ (सूर्य्यः च) सूर्य्य भी अर्थात् सूर्य्य भी हुआ इत्यादि वामदेव आदिकोंको ब्रह्मके स्वरूपरूप प्रकाश व ज्ञान-

न्दआदि, साधन ध्यानात्मक कर्मके अभ्याससे प्राप्त हुआ है वा होना ज्ञात होता है ऐसेही संराधनके अभ्याससे उनको ब्रह्मके मूर्त अमूर्तआदि विशिष्ट होनेका व सबमें ब्रह्महीं आत्मारूप व्यापक होनेका ज्ञान होना वर्णन किया है इससे अमूर्त आदि विशिष्ट होनेका प्रतिषेध करना श्रुतिका सिद्धान्त नहीं है॥२४॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २५ ॥

अनु०—इससे अनन्तगुणोंसे विशिष्ट है वैसा होनेमें उभयलिङ्ग है ॥ २५ ॥

भाष्य—इससे अर्थात् इन कहेहुये हेतुओंसे ब्रह्मका अनन्त गुणगणसे विशिष्ट होना सिद्ध है इससे उभयलिङ्ग ब्रह्म सिद्ध होता है ॥ २५ ॥

दोनों प्रकारके कथन से ब्रह्मके तत्त्वस्वरूप निरूपण में सू० २६ से २९ अधि० ६ ।

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २६ ॥

अनु०—दोनों कहनेसे तो सर्पके कुण्डलके समान है ॥ २६ ॥

भाष्य—**द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तश्चामूर्तश्च** अर्थ—दो ब्रह्मके रूप हैं मूर्त व अमूर्त इत्यादि से मूर्त अमूर्तरूप जगत् प्रपंचको ब्रह्मका रूप होना कहागया है अथात **आदेशो नेति नेति** इत्यादिसे जैसा वर्णन कियागया है मूर्त अमूर्त अचित् (जड) वस्तुरूप जगत् परिमाण से परिमित ब्रह्मकी इयत्ता का प्रतिषेध कियागया है **न ह्येतस्मादिति** इत्यादिसे ब्रह्मसे उत्कृष्ट कुछ नहीं है यह कहनेके पश्चात् आकाशआदिकी अपेक्षा जीवोंका सत्य होना और जीवों से भी विशेष कभी ज्ञान आदिका संकोच न होनेसे परमात्माका सत्य होना प्रतिपादित है तथा **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः** (प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः) प्रधान अर्थात् प्रकृति व क्षेत्रज्ञ जीवोंका पति है (गुणेशः) गुणोंका ईश अर्थात् स्वामी है **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्** अर्थ—नित्योंका नित्य चेतनोंका चेतन है अर्थात् नित्य व चेतन जीवोंसे अधिक सदा एकरस रहनेवाला नित्य व उत्कृष्ट ज्ञानवान् चेतन ब्रह्म है इत्यादि श्रुतियोंसे यही अर्थ सिद्ध होता है अब अचित् वस्तु को जो ब्रह्मका रूप होना कहा है इस विषयमें ब्रह्मका निर्दोष होना सिद्ध होनेके-लिये यह विचार कियाजाता है कि, अचित् (जड) वस्तु मूर्त व अमूर्तरूप दोनोंका ब्रह्मका रूप होना कहा है और नेति नेति शब्दसे निषेधभी किया है तथा चित् वस्तु (चेतन वस्तु) जीवात्माको कहीं श्रुतिमें अभेद वर्णन किया है यथा **नान्योतोऽस्ति द्रष्टा** इत्यादि अर्थ—इस आत्मासे भिन्न अन्य कोई द्रष्टा अर्थात् देखनेवाला वा ज्ञाता नहीं है इत्यादि और भेद वर्णन करनेवाली बहुत श्रुतियां हैं यथा **तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः** अर्थ—(ध्यायमानः) ध्यान करताहुआ

(तं निष्कलं) उस निरवयवको अर्थात् निरवयव ब्रह्मको (पश्यति) देखता है यः **सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति** अर्थ-(यः अन्तरः सन्) जो मध्यहृदयमें स्थित हुआ (सर्वाणि भूतानि) सब भूतोंको (यमयति) नियममें रखता है इत्यादि इसप्रकारसे ध्याता (ध्यानकरनेवाला) व ध्यातव्य (ध्यानकरने योग्य) नियन्ता (नियम करनेवाला) व नियंतव्य (नियमकरने योग्य) होनेसे भेद वर्णन किया है जड व चेतन दोनोंको भेद व अभेदसे कहनेसे यह संशय होता है कि, यह अयुक्त विरुद्ध कैसे वर्णन कियागया है चेतन जीवात्माके अभेद कहनेमें एक प्रकारसे समाधान भी होता है कि, चेतन जातिभाव वा दृष्टिसे एकही मानकर अभेदके समान वर्णन किया है परन्तु विशेष शंका यह है कि, अचित्वस्तु मूर्त अमूर्तका अभेद होना संभव नहीं होता उक्त मूर्त अमूर्तको ब्रह्मरूप वर्णन करनेवाली श्रुति में तथा, **यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्** इत्यादि श्रुतिवाक्यों में जैसा कि, **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** इस सूत्रके व्याख्यान में इसका अर्थ वर्णन कियागया है, यह वर्णन किया है कि, जैसे मृत्तिकाके ज्ञान से सब मृत्तिकाके कार्य जानेजाते हैं ऐसेही ब्रह्मके ज्ञान से सब जगत् ज्ञात होता है जैसे घटआदि मृत्तिका के कार्य सिद्धान्तमें मृत्तिकाही है घटआदि नामभेद कथनमात्रके लिये हैं ऐसेही सब जगत्के पदार्थ ब्रह्मके कार्य ब्रह्मरूपही हैं नामभेद कथनमात्रको है इस में क्या निश्चय करना चाहिये इस शङ्काके उत्तर में प्रथम एक दृष्टान्त यह कहा है कि, दोनोंके कहनेसे अहि-कुण्डलके समान है अर्थात् अहिकुण्डलके समान समझना चाहिये आशय यह है कि, परोक्ष अतीन्द्रिय पदार्थ ब्रह्मका निर्णय केवल बुद्धिसे नहीं होसक्ता श्रुति में जगत् ब्रह्मका कार्य वर्णन कियागया है इससे कार्य होना मानने योग्य है और विशेषभावसे वह युक्तिसे भी सिद्ध होता है जैसा कि, पूर्वही ब्रह्मके चिदचित् शरीरक होनेमें वर्णन कियागया है भेद अभेदका वर्णन अहि-कुण्डके समान है अर्थात् जैसे एकही सर्पके सीधा होने व कुण्डल (गोलाकार) होनेमें भेद कहाजाता है परन्तु आकारभेदमात्र होता है सर्पवस्तुमें भेद नहीं होता ऐसेही सूक्ष्म कारणरूप जड चेतन शरीरक ब्रह्म स्थूल जड व चेतन शरीरक हो कार्यरूप जगत् होता है इससे यह जड चेतन वस्तु मूर्त अमूर्त पदार्थ-रूप जगत् अहिकुण्डलके समान कारणरूप जड चेतनविशिष्ट ब्रह्महीका संस्थान (बनाव) विशेष है अथवा अन्य दृष्टान्त आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ २६ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २७ ॥

अनु०—अथवा प्रकाश व उसके आश्रयके समान तेजवस्तु होनेसे ॥ २७ ॥

भाष्य–अथवा ब्रह्मही चिदचित् वस्तुरूपसे स्थित होना कहनेमें भेद प्रतिपादनकरनेवाली व ब्रह्मके अपरिणामी होनेकी प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें विरोध होता है इससे प्रकाश व उसके आश्रयके समान तेज वस्तु होनेसे चिद्‌चित्का ब्रह्मस्वरूप कहना समझना चाहिये अर्थात् जैसे प्रकाश अपने आश्रय-द्रव्य सूर्य्य चन्द्र आदिसे प्रकट व अनेक देश वा स्थानमें प्राप्त होता है व उसीमें आश्रित रहता है व आधारआधेयभावसे भिन्न व तेजस्त्व (तेजहोने) से उसका स्वरूपही कहाजाता है ऐसेही चिदचित् वस्तु जगत् ब्रह्महीसे प्रकट व अनेक देशमें प्राप्त वा बिस्तृत होता है व उसीमें आश्रित रहता है व उसके शरीर वा शक्तिरूप होनेसे उसका आत्मा ही रूप कहाजाता है ॥ २७ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २८ ॥

अनु०–अथवा पूर्वके समान ॥ २८ ॥

भाष्य–अथवा प्रकाशके आश्रय सूर्य्यआदि एकदेशीय साकारका दृष्टान्त निराकार व्यापकमें यथार्थ घटित न होने व सूर्यआदि व प्रकाश में तेजस्त्व जातिके अनुवर्तमान[2] होनेके समान ईश्वर जीव व जडवस्तु में ब्रह्मत्व जातिके अनुवर्तमान होनेका दोष प्राप्त होगा जीव व जडवस्तु ब्रह्म होने में ब्रह्मके गुण व श्रुति स्मृतिवाक्यों में विरोध होगा इससे पूर्वके समान सिद्धान्त मानना चाहिये अर्थात् जैसे पूर्वही जीवके विषयमें **अंशो नानाव्यपदेशात्** इत्यादि **प्रकाशादिवत्तु नैवं परः** इन सूत्रोंमें यह वर्णन कियागया है कि, अनेक कहनेसे जीव ब्रह्मका अंश है कैसे अंश है प्रकाश आदिके समान अर्थात् जैसे प्रकाश अपने आश्रय सूर्य आदिका विशेषण होनेसे अंश है क्योंकि विवेचन करनेवाले विशिष्ट (विशेषणयुक्त) वस्तुमें विशेषणको अंश व विशेष्यको अंशी कहते हैं कोई धर्म वा स्थानआदि जिससे विशेषता कही जावे वह विशिष्टका अंश वाच्य होता है परन्तु विशेषणसे भिन्न अंशमें विशेष्य विलक्षण होताहै जैसे गोत्वआदि विशेषण युक्त होनेमें भी कृष्ण शुक्ल होनेआदि असमान गुणोंसे गोआदि विलक्षण होते हैं इससे जीव अंशहोनेपर भी ऐसा अर्थात् जीवके समान पर अर्थात् परब्रह्म नहीं है यह कहा है ऐसेही जीवके सदृश पृथक् सिद्ध न होने योग्य विशेषण होनेसे अचित् वस्तुभी ब्रह्मका अंश है विशिष्ट वस्तुके एकदेशमें अर्थात् विशेषण-देश वा अंशमें अभेद व्यवहार करना मुख्य है और विशेषण व विशेष्यके स्वरूप व स्वभावभेदसे भेदव्यवहार भी मुख्य है इसप्रकारसे जैसे मणिव्यक्ति गुणी व आत्माके प्रकाश जाति गुण व शरीर पृथकता (भेद) रहित सिद्धलक्षण-

१ जिसका रूप कभी न बदले एकही समान रहे उसको अपरिणामी कहते हैं ।
२ जैसा एकमें ज्ञान हो दूसरे वा अनेकमें वैसेही जो ज्ञान होता है उसको अनुवर्तमान कहते हैं ।

तासे अंश कहेजाते हैं ऐसेही जीव व अचित्वस्तु ब्रह्मके अंश हैं अंशी परमात्मा दोनोंसे पर है ॥ २८ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ २९ ॥

अनु०-प्रतिषेधसे भी ॥ २९ ॥

भाष्य-स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः इत्यादि अर्थ-(वै) निश्चयसे (सः एषः आत्मा) वह यह आत्मा (महान्) उत्कृष्ट व व्यापक है (अजः) जन्मरहित है (अजरः) जरारहित है (अमरः) मृत्युरहित है इत्यादि तथा **स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्** अर्थ-(सः) वह अर्थात् जिस परमात्माके जाननेसे शोक मोह आदि का निवृत्त होना पूर्वेही वर्णन किया है वह आत्मा ब्रह्म (पर्य्यगात्) सर्वत्र व्याप्त हुआ है अर्थात् आकाशके तुल्य व्याप्त होरहा है वह कैसा है (शुक्रम्) संसारका उत्पन्न करने-वाला अथवा प्रकाशवान् है (अकायम्) शरीररहित है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म और लिङ्गशरीररहित है इसीसे (अव्रणम्) घाव फोडा वा खेदरहित है (अस्नाविरम्) नाडी नसोंसे रहित (शुद्धम्) शुद्ध निर्मल है अर्थात् शरीर-सम्बंधी अशुद्धताओंसे रहित है (अपापविद्धम्) पापफलोंसे सदा वर्जित है इत्यादि इसप्रकारसे आत्मा शब्द कहने जन्म जरा मृत्यु शरीर व पापरहित कहनेसे अर्थात् जन्मआदिके प्रतिषेधसे अचित् वस्तु व जीवात्माके धर्मोंके प्रतिषेध होनेसे विशेषण विशेष्य होनेहीसे ब्रह्म और चिदचित् वस्तुका अंश व अंशीभाव है और विशेषण अंशमें जातित्व व कारण कार्यत्व भाव लेकर अभेद होनेका अर्थात् वही होनेका वर्णन है इससे सूक्ष्म चिद्वस्तु विशिष्ट कारणरूप ब्रह्म व स्थूल चिदचित् वस्तुविशिष्ट कार्यरूप ब्रह्म है कारण से कार्यकी अभेदता है जैसा कि, **तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः** इस सूत्रके व्याख्यान में विस्तारसे वर्णन कियागया है इस से कारणरूप ब्रह्मके विज्ञान से सब कार्य-पदार्थोंका ज्ञाता होना आदि सब सिद्ध होता है और ऐसाही आशय ग्रहण करने में श्रुतियों में विरोध व ब्रह्ममें दोष नहीं प्राप्त होता ब्रह्मके निर्दोष होने व कल्याण गुणोंका आकर होनेसे ब्रह्मका उभयलिङ्ग होना भी सिद्ध है ॥ २९ ॥

ब्रह्मसे अन्य पर वस्तु होनेके निषेध में सू० ३० से ३६ अधि० ७ ।

परमतः सेतून्मानसम्बंधभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३० ॥

अनु०-सेतु परिमाण सम्बंध और भेदोंके कहनेसे इससे पर है अर्थात् कोई पर अन्य है ॥ ३० ॥

---

१ यह वाजसनेय उपनिषद्की श्रुति है ।

२ शुक्रम् में वैदिक प्रयोग होनेसे लिङ्गका व्यत्यय है इससे शुक्रं को शुक्रः ऐसा समझना चाहिये तथा अकायम् इत्यादिमें ।

भाष्य-अब कोई श्रुतियोंसे ब्रह्मसे भी पर कोई अन्य वस्तु होनेके हेतु भासित होनेसे जगत्के निमित्त व उपादान कारणरूप परम कारण परब्रह्मसे भी पर कोई वस्तु है वा नहीं यह विचार करनेमें प्रथम शङ्का करके सिद्धान्तमें अन्यके होनेका निषेध करते हैं प्रथम शङ्का यह है कि, परब्रह्म सेतुरूप वर्णित होने व उसके परिमाण सम्बंध व भेद वर्णन कियेजानेसे उससे भी कोई परवस्तु होना विदित होता है यथा **य आत्मा स सेतुर्विधृतिः** अर्थ-जो आत्मा है (सः) वह (सेतुः विधृतिः) सेतु व धारणरूप है लोकमें जिसके द्वारा कूलान्तर में अर्थात् जलप्रवाह वा अन्य हेतुसे अगम्य स्थानको उल्लंघन करि दूसरे किनारेमें वा अन्य गम्य स्थानको प्राप्त होवे उसको सेतु कहते हैं इससे सेतुरूप ब्रह्मसे कोई प्राप्य वस्तु अन्य है यह सिद्ध होता है परिमाणवर्णन में यह श्रुति है **तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादं षोडश-कलम्** अर्थ-(तत् एतत् ब्रह्म) वह यह ब्रह्म (चतुष्पाद) चार पदवाला (षोडशकलम्) सोलह कलावाला है इससे यह विदित होता है कि, सेतुसे परिमित वस्तुसे पार होकर अपरिमित कोई प्राप्य वस्तु है और सेतु व सेतुमान् का प्रापक (प्राप्त करनेवाला[1]) व प्राप्य (प्राप्त होनेयोग्य) रूप सम्बंधका कहना ज्ञात होता है इससे प्राप्य अन्य होना सिद्ध होता है तथा **परात्परं पुरुषमु-पैति** अर्थ-(परात् परं पुरुषं) परसे पर पुरुष को (उपैति) प्राप्त होता है इससे पर जो ब्रह्म है उससे पर होना सिद्ध होता है तथा **तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयमिति** अर्थ-(तेन पुरुषेण) उस पुरुषसे (इदं सर्वं पूर्णं) यह सब अर्थात् सब जगत् (पूर्णं) पूर्ण है (ततः) तिससे (यत्) जो (उत्तरतरं) अतिपर है (तत्) वह (अरूपं) रूपरहित (अनामयम) रोगरहित वा विकाररहित है इत्यादि इससे भेद होना ज्ञात होता है इन हेतुओंसे परब्रह्मसे पर अन्य कोई है यह सिद्ध होता है अब इस पूर्वपक्षका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ३० ॥

सामान्यात्तु ॥ ३१ ॥

अनु०-सामान्यसे (समान होनेसे) ऐसा तो नहीं है ॥ ३१ ॥

भाष्य-तुशब्द पूर्वपक्षको निवारण करता है इससे आशयसे ऐसा तो नहीं है यह सूत्रके अनुवादमें लिखागया है जो यह शङ्का है कि, सेतुकहनेसे परब्रह्मसे भी पर है ऐसा संभव नहीं है अथवा युक्त नहीं है क्योंकि यहां सेतुशब्द मुख्य अर्थसे प्रयुक्त नहीं है जिससे उससे उत्तरकर अन्य प्राप्य स्थान वा वस्तु का होना स्वीकार कियाजाय जो बांधे अर्थात् मर्य्यादामें बांधे सीमा उल्लंघन करनेसे

[1] यह छान्दोग्यकी श्रुतिकी प्रतीक है।

रोंके उसको सेतु कहते हैं जैसे बंधान मेड नामसे जो लोकमें देशभाषा में कहे जाते हैं भिन्न २ खेतोंके जलोंको अपनी सीमामें रखने वा बांधनेसे सेतु नामसे कहने योग्य हैं जिससे उतरकर पार जाय उसीमात्रको सेतु नहीं कहते सम्पूर्ण चिदचिद् वस्तु सब लोकोंको नियममें रखनेसे अर्थात् अपने नियमसे नियतमर्य्यादामें बांधनेसे परब्रह्मको सेतु कहा है इससे सेतुके समान होनेसे गौण अर्थसे सेतु कहा है ॥ ३१ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३२ ॥

अनु०—बुद्धिके लिये अर्थात् उपासनाके लिये पादवान् कहा है ॥ ३२ ॥

भाष्य—जो श्रुतिमें चतुष्पादआदि ब्रह्मको वर्णन किया है वह उपासनाके लिये है अर्थात् मन्दबुद्धिजन अनन्त निर्विकार ब्रह्ममें बुद्धि स्थिर नहीं करसक्के सबको ब्रह्ममय नहीं देख सकते इसलिये अध्यास करके उपासना करनेकेलिये चारपद षोडशकलायुक्त होना वर्णन किया है यथा मन व आकाशको ब्रह्मका प्रतीक कल्पना करिके मनके वाक् प्राण नेत्र व श्रोत्र चार पाद और आकाशके अग्नि वायु आदित्य (सूर्य) व दिशा चार पाद वर्णन किया है अथवा प्रकाशवान् अनन्तवान् ज्योतिष्मान् प्रतनवान् यह ब्रह्मके चार पाद कल्पना किया है इन एक एकके चार चार कला वर्णन किया है इससे षोडशकलावान् ब्रह्मको कहा है कलाओंका विभाग यह है प्रकाशवान् पादमें चार दिशा कला हैं अनन्तवान् पादमें पृथिवी आकाश द्युलोक समुद्र कला हैं ज्योतिष्मान् पादमें अग्नि सूर्य्य चन्द्रमा विद्युत् कला हैं प्रतनवान् पादमें नेत्र कर्ण वाक् मन कला हैं इसप्रकारसे उपासनाके लिये पादवान् वर्णन किया है सिद्धान्तसे ब्रह्मका परिमाण व पाद वर्णन करनेका तात्पर्य नहीं है ब्रह्मको श्रुतिमें **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ—सत्यज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म है ऐसा वर्णन किया है इससे अनन्त है परिच्छिन्न (एकदेशीय परिमाणवाला) नहीं है यह निश्चित होता है अब यह शङ्का है कि, परिमाणरहित व्यापकको परिमित होना कैसे संभव है जो उपासनाके लिये वर्णन किया है इसका समाधान वर्णन करते हैं ॥ ३२ ॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३३ ॥

अनु०—स्थानविशेषसे प्रकाशआदिके समान ॥ ३३ ॥

भाष्य—जैसे विस्तृत प्रकाश आदिका वातायन (झरोखा) आदि स्थानभेदसे उसी परिमाणसे अनुसंधान करना जैसे व्यापक आकाश का घट व सूचिकाछिद्र परिमाण उपाधिभेदसे अनुसंधान करना संभव है और

१ षिञ् बंधने इस धातुसे सेतुशब्द होता है इससे जो बाँधे उसको सेत कहते हैं ।

उपाधिसे उपाधि देशमें उसी परिमाणसे भासित होता है परन्तु परमार्थसे उसी परिमाण नहीं होता ऐसेही वाक्मनआदि स्थान विशेषरूप उपाधि भेदसम्बन्धी होनेसे परिमित ब्रह्मका अनुसंधान सम्भव होता है इससे परिमित होनेके समान वर्णन किया है ॥ ३३ ॥

उपपत्तेश्च ॥ ३४ ॥

अनु०—सिद्ध होनेसे भी ॥ ३४ ॥

भाष्य—श्रुतिसे भी एकहीके अनेक स्थान व स्थानभेदसे नामभेद होना सिद्ध होता है यथा एकही आकाशको स्थानविशेषसे बहिराकाश अन्तराकाश हृदयाकाश नामसे कहा है इसमें यह श्रुति प्रमाण है **योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो योयमन्तः पुरुष आकाशो योयमन्तर्हृदय आकाशः** अर्थ-(यः) जो (अयं) यह (वै) निश्चयसे (पुरुषात् बहिः) पुरुषसे बाहर (आकाशः) आकाश है (यः अयं) जो यह (अन्तः पुरुषे) पुरुषमें भीतर अर्थात् शरीरके भीतर (आकाशः) आकाश है (यः अयं) जो यह (अन्तः हृदये आकाशः) अन्तर हृदयमें आकाश है इस प्रकार श्रुतिसे सिद्ध होनेसे भी आकाशके समान एकही व्यापक ब्रह्मके उपाधिभेदसे परिमित स्वरूप व नामभेदका कथन है अथवा सूत्रका संभव होनेसे ऐसा अर्थ ग्रहण करके ऐसा आशय ग्राह्य है कि, छान्दोग्यमें पूर्वोक्त श्रुतिमें आत्माको सेतु व धारण कहा है व मुण्डकउपनिषद्में जिसमें स्वर्गलोक पृथिवी अन्तरिक्ष प्राणोंसहित मन गुथे हैं ऐसा कहकर यह वर्णन किया है **तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः** अर्थ-(एषः) यह अर्थात् जिसमें सूर्य्यआदि लोक सब गुथे वा लगे हैं (अमृतस्य) मोक्षका (सेतुः) सेतु है अर्थात् संसाररूप समुद्रसे पार होने व मोक्ष प्राप्त होनेका कारण है (तम् एव एकम्) उसी एक (आत्मानम्) आत्माको अर्थात् परमात्मा को (जानथ) जानो (अन्या वाचः) अन्य वाणियोंको अर्थात् जो परमार्थ से भिन्न हैं उनको (विमुञ्चथ) छोडो इन श्रुतियोंमें प्राप्य वस्तु कोई अन्य है यह शंका युक्त नहीं है क्यों नहीं है संभव होनेसे अपनी प्राप्तिका आपही उपाय संभव होनेसे यथा **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया** इत्यादि अर्थ--न यह आत्मा वचन से प्राप्त होनेयोग्य है (न मेधया) न बुद्धिसे इत्यादि निषेध करके यह कहा है **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्** अर्थ- (एषः) वह मनुष्य (यम् एव) जिस कारण परमात्माहीको (वृणुते) स्वीकार करता है अर्थात् जो अन्य सबसे चित्त खींचकर उसी में लगाता है उसीकी प्रार्थना स्तुति करता है (तेन) उससे (लभ्यः) प्राप्त होने योग्य है (तस्य अर्थात् तस्मै) उसको वा उसकोलिये (एषः आत्मा) यह परमात्मा (स्वां तनुं) अपने तनुको अर्थात् स्वरूपको

(वृणुते) प्रकाशित करता वा जनाता है । इससे अन्य उपाय व अन्य प्राप्य वस्तु न सुननेसे परब्रह्मसे अन्य पर नहीं है ॥ ३४ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३५ ॥

अनु०-तथा (वैसेही) अन्यके प्रतिषेधसे ॥ ३५ ॥

भाष्य-जैसे अन्य उक्त हेतुओंसे ब्रह्मसे पर कोई सिद्ध नहीं होता तथा (वैसेही) अन्य पर वस्तु होनेके प्रतिषेधसे पर ब्रह्मसे अन्य पर वस्तुका होना सिद्ध नहीं होता यह सूत्रवाक्यका अर्थ है इसका व्याख्यान यह है कि, यह जो शंका है कि, ऐसे श्रुतिके शब्दोंसे यथा **ततोयदुत्तरतरं, परात्परं पुरुषम्, अक्षरात्परतः परः** इत्यादि अर्थ-(ततः) उससे (यत् उत्तरतरं) जो उत्तरतर अर्थात् पर है (परात् परं पुरुषं) परसे पर पुरुषको (परतः अक्षरात् परः) पर अक्षरसे पर है इत्यादिसे परसे अर्थात् परब्रह्मसे भी पर कोई पदार्थ है युक्त नहीं है क्योंकि जहां परसे पर कहा है उसी प्रकरणमें ब्रह्मसे अन्य पर होनेका प्रतिषेध किया है यथा **यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्** अर्थ-(यस्मात्) जिससे (किञ्चित् अपरं) कोई अन्य वस्तु (परं) पर (नास्ति) नहीं है तथा **यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिदिति** अर्थ-(यस्मात्) जिससे (कश्चित्) कोई (न अणीयः) न छोटा है (न ज्यायः) न बडा है **न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति** अर्थ-(नेति) ऐसा नहीं है इसप्रकारसे कहेहुये (एतस्मात् ब्रह्मणः) इस ब्रह्मसे (अन्यत् परं) अन्य पर (न हि अस्ति) नहीं है इत्यादि वाक्योंसे परब्रह्मसे पर होने का प्रतिषेध है जो यह शङ्का हो कि, जो पर नहीं है तो उससे जो उत्तरतर (अतिपर) है यह क्यों कहा है तो इसका उत्तर यह है कि, इससे पहिले यह वर्णन किया है **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** अर्थ-(अहं) मैं (एतं) इस (महान्तम्) व्यापक (आदित्यवर्णं) प्रकाशस्वरूप (तमसः परस्तात्) अज्ञानसे पर (पुरुषं) पुरुषको (वेद) जानता हूं (तमेव) उसीको (विदित्वा) जानकर (अतिमृत्युं) अतिमृत्युको अर्थात् मोक्षको (एति) प्राप्त होता है (अयनाय) मोक्षके लिये (अन्यः पंथाः) अन्य कोई मार्ग (न विद्यते) नहीं है ऐसा परब्रह्मका जानना ही मोक्ष जो परम पद है उसका साधन कहा है परमपदके लिये अन्य पंथ नहीं है यह उपदेश करिके उसके प्रतिपादन करने वा सिद्ध करनेके लिये यह कहा है कि, जिससे कोई अन्य पर नहीं है जिससे न कोई छोटा है न बडा है तथा **वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वमिति** अर्थ-(वृक्षः इव) वृक्षके समान (स्तब्धः) निश्चल (दिवि) प्रकाशात्मामें अर्थात् प्रकाशस्वरूप अपनी महिमामें (एकः) अद्वितीय

(तिष्ठति) स्थित है (तेन पुरुषेण) उस पुरुषसे (इदं सर्वं) यह सब जगत् (पूर्णम्) पूर्ण है अर्थात् व्याप्त है इस प्रकारसे पुरुषका पर होना और उससे भिन्न अन्यका पर होना असंभव होना प्रतिपादन करके उससे जो उत्तरतर है वह रूपरहित व आमय-रहित है अर्थात् त्रिविधतापरहित है यह कहकर यह कहा है य एतद्विदुरमृता-स्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति अर्थ-(ये) जो (एतद् विदुः) इसको जानते हैं (ते) वे (अमृताः भवन्ति) मृत्युरहित मुक्त होते हैं (अथ इतरे) और अन्य जो नहीं जानते वह (दुःखमेव) दुःखहीको (यन्ति) प्राप्त होते हैं इस वाक्यमें जो पूर्वमें कहा है उसी अर्थको हेतुसे सिद्धान्तको श्रुति वर्णन करती है उससे शब्द जो श्रुतिमें है वह हेतुके लिये हैं पूर्वमें कहेहुये परमात्माको नहीं कहा कि, उससे उत्तरतर है ततः शब्द जिसका अर्थ उससे कहाजाता है वह कारण वा हेतुअर्थमें कहागया है उसका अर्थ तिससे अर्थात् तिसहेतुसे, यह ग्राह्य है इससे श्रुतिका यह अर्थ यह है कि, जो उत्तरतर है अर्थात् जो उत्तरतर पुरुषतत्त्व है जिससे कि, वही रूपरहित व आमय अर्थात् त्रिविध तापरहित है (तिससे) जो उस पुरुषतत्त्वको जानते हैं वही अमृत होते हैं अन्य दुःखहीको प्राप्त होते हैं ऐसा अर्थ ग्रहण न करनेमें प्रकरणके आदि अन्त व पूर्वापर वाक्यों में विरोध होगा । अब परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् अर्थ-(परात्परं) परसे पर (दिव्यं पुरुषं) दिव्य पुरुषको (उपैति) प्राप्त होता है इसमें जो परसे पर कहा है इसके पहिले अक्षरसे परसे पर है ऐसा कहा है इससे यह अर्थ है कि, अक्षर जो अव्याकृत (प्रधान) है उससे पर जो समष्टिरूप पुरुष है उससे पर अदृश्य सर्वज्ञ परम पुरुष परब्रह्म है यह कहा है परब्रह्मसे पर अन्य नहीं है ॥ ३५ ॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३६ ॥

अनु०-इससे सर्वगत होना व्याप्तिवाचक शब्दआदि-कोंसे ॥ ३६ ॥

भाष्य--इससे अर्थात् ब्रह्मसे सर्वगत होना अर्थात् सब जगत्का व्याप्य होना आयाम (व्याप्तिवाचक) शब्दआदिकों से सिद्ध होता है इससे व्याप्ति-वाचक शब्द जैसे उक्त श्रुतियोंमें कहा है उस पुरुष से यह जगत् पूर्ण है तथा नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः अर्थ-नित्य व्यापक सब में प्राप्त अतिसूक्ष्म जो भूतोंका कारण उत्पन्नकर्ता ब्रह्म है उसको धीर अर्थात् ध्यान करनेवाले दृढचित्त सर्वत्र देखते हैं आदिशब्द से ब्रह्मैवेदं सर्वम् आत्मैवेदं सर्वम् अर्थ-यह सब ब्रह्महीहै यह सब आत्मा ही है इत्यादि वाक्यों का ग्रहण है इससे परब्रह्मही सब से पर है यह सिद्धान्त है ॥ ३६ ॥

फलदाता परमेश्वर होनेके निरूपणमें सू० ३७ से ४० अधि० ८ ।

फलमत उपपत्तेः ॥ ३७ ॥

अनु०—फल इससे संभव होनेसे ॥ ३७ ॥

भाष्य—सांसारिक विषयोंसे विराग होनेकेलिये आत्मज्ञानरहित सब अवस्थाओंमें जीवमें दोष होना व उपासनामें इच्छा उत्पन्न होनेकेलिये उपास्य परमात्माका निर्दोष होना व कल्याणगुणोंका आकर होना व सबसे उत्कृष्ट होना वर्णन किया अब उपासना करनेवालोंको परमात्माही अपनी प्राप्ति रूप मोक्षफल तथा जीवोंके कर्मोंका फल देता है यह वर्णन करते हैं फल इससे अर्थात् परमात्मासे होता है किस हेतुसे संभव होनेसे अर्थात् परमात्मा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्हीका सबके कर्मोंको जानकर यथोचित सांसारिक व पारलौकिक भोगरूप व अपने स्वरूपकी प्राप्तिरूप मोक्षका देना संभव है इस कहनेका आशय यह है कि, जो कर्मको फलदाता कहते हैं यह कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि कर्म समाप्त होनेपर नष्ट होजाता है और जड है अचेतन होनेसे कभी उसका फल देनेमें सामर्थ्य होना संभव नहीं है और नष्टहुआ कालान्तरमें होनेवाले फलका साधन वा हेतु नहीं होसक्ता इससे परमात्माहीसे फल होना संभव होनेसे परमात्माही फलदाता है ॥ ३७ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३८ ॥

अनु०—श्रुत होनेसे भी ॥ ३८ ॥

भाष्य—श्रुत होनेसेभी अर्थात् श्रुतिप्रमाण होनेसेभी परमात्माही फल देता है यह सिद्ध होता है यथा **स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः एव ह्येवानन्दयातीति** अर्थ—(वै) निश्चय से (सः एषः) वह यह (महान्) व्यापक उत्कृष्ट (अजः) जन्मरहित (आत्मा) आत्मा अर्थात् परमात्मा (अन्नादः) अन्नका देनेवाला अर्थात् भोगका देनेवाला (वसुदानः) धनका देनेवाला है (हि) निश्चय (एषः एव) यही (आनन्दयाति अर्थात् आनन्दयति) आनन्दित करता अर्थात् मोक्षसुखको प्राप्त करता है इसप्रकारसे भोग व मोक्षका देनेवाला ब्रह्मही श्रुतिमें वर्णित है ॥ ३८ ॥

अब इसपर पूर्वपक्ष वर्णन करते हैं ।

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ३९ ॥

अनु०—धर्मको जैमिनि इसीसे ॥ ३९ ॥

भाष्य—इसीसे अर्थात् इसी श्रुतिप्रमाण से जैमिनि आचार्य धर्मको फलदाता मानते हैं यथा श्रुति में कहा है **स्वर्गकामो यजेत** इत्यादि अर्थ—स्वर्ग

की इच्छा करनेवाला यजन करे अर्थात् पूजन व यज्ञ करे इत्यादि यज्ञ करने से स्वर्गफल होना कहनेसे यज्ञआदि कर्महो फलके हेतु होनेसे फलके दाता हैं लोकमें भी कृषिआदि कर्मका फल होना विदित होता है ऐसेही वेदमें कहेहुये यज्ञ दान होम उपासनके परोक्ष फलका होना अनुमित होता है विना कर्म ईश्वरका फल देना मानने में ईश्वर में विषमता व निर्घृणता दोष होना प्राप्त होगा व धर्मका अनुष्ठान जो वेदमें कहागया है वह मिथ्या होगा धर्मही मुख्य फलका हेतु होनेसे धर्महीको फलदाता मानना युक्त है ॥ ३९ ॥

पूर्वन्तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४० ॥

अनु०—पूर्वहीको बादरायण हेतु कहनेसे ॥ ४० ॥

भाष्य--पूर्वमें कहेहुये परमेश्वरहीको फलदाता बादरायण आचार्य मानते मानते हैं किस प्रमाणसे हेतु कहनेसे अर्थात् नष्टहुये कर्मका कालान्तरमें होनेवाले फलका दाता होना व जड होनेसे यथोचित नियम विधान करना संभव न होनाआदि हेतुओंसे कर्मका फलदाता मानना युक्त नहीं है परमेश्वर समर्थ होनेपरभी अपने न्यायकारित्व व समदर्शित्वसे विना कर्मकी अपेक्षा जीवोंको भोग प्राप्त नहीं करता कर्मअनुसारही फल देता है इससे उसमें विषमता व निर्घृणताका दोष प्राप्त नहीं होता अपनी सर्वज्ञता व सामर्थ्यसे वही फल देनेवाला व नियमकर्ता संभव होनेसे परमेश्वरही फलदाता है ॥ ४० ॥

इति श्रीवेदान्तसूत्राणां देशभाषाकृतभाष्ये श्रीप्रभुदयालुविनिर्मिते
तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

अथ तृतीयपादप्रारंभः ।

ब्रह्मका फलदाता होनापर्य्यन्त वर्णन करिके अब इस पादमें वेदान्तमें उपदेश कीगई विद्याओंमें भेद अभेद होनेका निरूपण करते हैं इसका विवरण यह है कि, विद्याका अर्थ ज्ञान है ब्रह्मका ज्ञान होनेकेलिये जो ब्रह्मके उपासनों वा जीवात्मा व जीवकी अवस्थाओंके ज्ञान होनेके द्वारोंके प्रकार भिन्न भिन्न वेदान्तशाखाओंमें वर्णन कियेगये हैं उनमें से प्रत्येक एक भिन्न विद्या नामसे कहेजाते हैं यथा विश्वरूप ब्रह्मपुरुष अध्यास करिके ब्रह्मकी उपासना करनेके उपदेश को वैश्वानरविद्या जीव की गति आगतिके वर्णनमें द्युलोकआदि पांच प्रकारके अग्नियोंके ज्ञान के उपदेशको अग्निविद्या कहते हैं इत्यादि यह विद्या अन्य अन्य शाखाओंमें एकही नाम व फलसे कहीगई हैं परन्तु कुछ भेदके हेतु भासित होनेसे यह संशय होता है कि, भिन्न शाखाओंमें एकही नाम से वर्णित विद्याओं व

विज्ञानों में भेद है वा नहीं इस विषयका विचार करते हैं प्रथम पूर्वपक्ष यह है कि, छान्दोग्य में पंचाग्निविद्या में पांचही अग्नियोंका वर्णन है वाजसनेयिमें पांच अग्नियोंसे अधिक छठवीं अग्निका वर्णन है छान्दोग्य में प्राणसम्वादमें वाणी नेत्र कर्ण मन चार प्राण वर्णन कियेगये हैं वाजसनेयि ब्राह्मण व बृहदारण्यक उपनिषद्में चारसे अधिक पांचवां रेत (वीर्य) वर्णन कियागया है इस भेद से विद्यामें भेद है शाखान्तरमें एकही नाम व फलसे कहनेपर भी एकही विद्या नहीं है अथवा यह पूर्वपक्ष है कि, वैश्वानर विद्याआदिका अनेकशाखाओंमें फिर उसी नाम से सुनने और अन्यप्रकरणमें कथित होनेसे विद्या में भेद है विद्यामें भेदही होनेसे यह जो वाक्य है **तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णमिति** अर्थ-(यैः तु) जिनसे (शिरोव्रतं) शिरोव्रत (विधिवत् चीर्णम्) विधिवत् अनुष्ठान कियागया (तेषाम् एव) उनहीको अर्थात् उनकेलिये वा उनसे (ब्रह्मविद्यां) ब्रह्मविद्या को (वदेत) कहे इसप्रकारसे शिरो-व्रतवाले आथर्वणिकोंही के लिये विद्याके उपदेशका नियम होना सिद्ध होता है विद्याके एक होने में विद्याका अङ्गरूप शिरोव्रतकी अन्यशाखावालों में भी प्राप्ति होनेसे नियम होना संभव नहीं होता आथर्वणिकों में नियम होनेसे विद्यामें भेद है इस पूर्वपक्षके उत्तर में प्रथम यह सूत्र है ।

सब वेदान्तमें एकही प्रत्यय वर्णनमें सू० १ से ५ तक अधि० १ ।

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

अनु०—सब वेदान्तप्रत्यय (वेदान्तज्ञान) एक हैं चोदना (प्रेरणा वा विधि उपदेश) आदिके विशेष न होनेसे ॥ १ ॥

भाष्य—सब वेदान्तविज्ञान एकही हैं अर्थात् भेदरहित हैं क्यों भेदरहित हैं प्रेरणा वा विधिवचन एकही समान होनेसे विशेष न होनेसे अर्थात् उपासना करे वा जाने ऐसे विधि वा प्रेरणावचन व फल समान होनेके कथनसे विद्यामें भेद नहीं है यथा छान्दोग्य व वाजसनेयक दोनोंमें **यो ह वै ज्येष्ठञ्च श्रेष्ठञ्च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति** अर्थ--(यः ह वै) निश्चयसे जो (ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च) ज्येष्ठ और श्रेष्ठको (वेद) जानता है वह (स्वानां) अपने सजातीय वा ज्ञातियोंके मध्यमें (ज्येष्ठः च श्रेष्ठः च भवति) ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है इसप्रकारसे कहकर ज्ञेय ज्येष्ठ व श्रेष्ठ प्राणको कहा है ज्ञेयके जाननेके उपदेश वा विधि व फलमें भेद न होनेसे वाजसनेयकमें पांच संख्या व छान्दोग्यमें चार संख्या प्राणोंकी होनेसे विद्यामें भेद नहीं होसक्ता ऐसेही पंचाग्निविद्याआदिमें समझना चाहिये मुख्य ज्ञेय होने व फलमें जब समानता है तो एक शाखामें वर्णन किये प्रकार वा सङ्ख्यासे अन्य शाखामें एक संख्याके न्यून अधिक होनेसे विद्यामें भेद नहीं होसक्ता वैश्वानरविद्यामें वाजसनेयक व छान्दोग्य दोनोंमें वेद्य (जानने-

योग्य) वैश्वानरके उपासना में प्रेरणा व वैश्वानरविद्या यह नाम व ब्रह्म प्राप्तिरूप फल-संयोग एकही समान है विशेष नहीं है विशेष (भेद) न होनेसे विद्यामें भेद नहीं है यह सिद्धान्त है आदिशब्दसे शाखान्तर के अधिकरण व सिद्धान्तमें भेद न होनेके हेतु ग्रहण कियेजाते हैं यथा मीमांसामें अन्य शाखाके अधिकरण व अन्य-शाखामें कहेहुये कर्म में भेद है यह पूर्वपक्ष करके यह सिद्धान्तसूत्र वर्णन किया है एकं वा संयोगरूपचोदनाख्या विशेषात् अर्थ-(एकं वा) एकही है अर्थात् एक कर्म है संयोगरूप चोदना (विधायक शब्द) व आख्या (नाम) विशेष न होनेसे अर्थात् समान होनेसे जैसे शाखाभेद होनेमें भी एकही अग्निहोत्रमें जुहुयात् अर्थ हवन करे ऐसा विधायक शब्द अर्थात् चोदना तथा अग्निहोत्र नाम व फलसंयोग एकही होनेसे अग्निहोत्रकर्ममें भेद नहीं है यह सिद्धान्त वर्णन किया है ऐसेही यहां शाखाभेद होनेमें भी नाम विधि व फल एकही होनेसे विद्याका एकही होना स्वीकार करना चाहिये अब जो यह शङ्का है कि, प्रकरण भेद होने और फिर वही कहनेसे विज्ञेय (जाननेयोग्य) पदार्थमें भेद होना प्रतीत होता है इससे विद्या एक नहीं है इसका स्पष्ट व विशेष उत्तर द्वितीय सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

अनु०—भेद होनेसे नहीं है यह शंका होवे नहीं एकमें भी ॥२॥

भाष्य—समान शब्दके सुनने व प्रकरणभेद होनेसे विधेय (विधानके योग्य) पदार्थका भेद ज्ञात होनेसे विद्या एक नहीं है जो यह शंका होवे तो उत्तर यह है नहीं एकमेंभी अर्थात् एक विद्यामें भी प्रतिपादन करनेवालेके भेदसे फिर वही नाम व उपदेशका सुनना व प्रकरणभेद होना युक्त सिद्ध होता है इससे शंका करना अयुक्त है जहां एकही प्रतिपादन करनेवालेसे कहेहुये शब्द फिर सुने-जाते हैं और अन्य प्रकरण होता है वहाँ विना विधेय वा विज्ञेय (जानने-योग्य) भेदके ऐसा संभव न होनेसे विद्यामें भेद होता है वा समझाजाता है प्रतिपादन करनेवाला अन्य होनेमें फिर उसी नामसे उसी विद्याका वक्तासे कहाजाना संभव होनेसे अन्य विधेयका होना संभव नहीं है समान विधि व नाम व फलसे वही विद्या निश्चित होनेसे अन्य होनेकी कल्पना करना अयुक्त है इस सूत्रका ऐसा भी व्याख्यान करते हैं कि, वाजसनेयी पंचाग्नि-विद्यामें एक छठवी अग्नि मानते हैं छान्दोग्य पाँचही मानते हैं प्राणसम्वादमें छान्दोग्य चार प्राण व वाजसनेयी पांच कहते हैं इससे जो विद्यामें भेदहोना कहाजाय तो एकही विद्यामें भी कोई कुछ अधिक व कुछ न्यून वर्णन करता है अन्य अन्य वक्ताओंके कहनेमें कुछ न्यून अधिक होनेमात्रसे नव विद्येयके उप-देशमें अर्थात् मुख्यविषयमें व फलमें भेद होनेका वर्णन नहीं है विद्यामें भेद नहीं

होमका इससे भेद नहीं है यह व्याख्यान पूर्वही सूत्रमें होगया है परन्तु अन्यमतसे सूत्रव्याख्यान जनानेके लिये लिखदियागया है अब जो यह आक्षेप किया है कि, शिरोव्रतवाले आथर्वणिकोंके लिये विद्याके उपदेशका नियम श्रुतिसे ज्ञात होनेसे विद्यामें भेद होना प्रतीत होता है इसका समाधान वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

अनु०—स्वाध्यायके वैसेही होनेमें अर्थात् वैसेही सिद्ध होनेके लिये उसका नियम है (शिरोव्रतका नियम है) और समाचारमें (समाचारनामक ग्रंथमें) अधिकार होनेसे होमके समान उसका नियम है ॥ ३ ॥

भाष्य—शिरोव्रतउपदेशमें नियम होना विद्याके भेदको सूचित करता है यह कहना युक्त नहीं है शिरोव्रत विद्याका अङ्ग नहीं है स्वाध्याय (वेदपठन) का अङ्ग है स्वाध्यायके वैसेही सिद्ध होनेकेलिये अर्थात् शिरोव्रतसम्बंधही सिद्ध होनेके लिये उसका नियम है यह **नैतदचीर्णव्रतोऽधीयीत** अर्थ—(अचीर्णव्रतः) व्रतको अनुष्ठान न कियाहुआ (एतत्) इसको अर्थात् वेदको (न अधीयीत) न पढै इसप्रकारसे अध्ययन (पठने) के साथ संयोग होनेसे सिद्ध होता है और समाचारमें अर्थात् समाचारनामक वेदव्रतउपदेशग्रंथमें अधिकारसे अर्थात् अध्ययनव्रत अधिकारसे शिरोव्रत अध्ययनसम्बंधी है यह विदित होता है अर्थात् व्रतका अनुष्ठान न कियाहुआ वेदको न पढै इसी अधिकारण वा अधिकारमें समाचार ग्रंथमें शिरोव्रतभी वेदव्रतही होना वर्णन कियागया है और अध्ययनहीके लिये यह कहा है **तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्** अर्थ—जिनसे विधिवत् शिरोव्रत कियागया है उनहीको ब्रह्मविद्याको कहै अर्थात् पढावै यहां ब्रह्म शब्द वेदअर्थका वाचक है अर्थात् वेदविद्याको पढावै वा उपदेश करै अन्यको नहीं सवके समान अर्थात् होमके समान शिरोव्रतका नियम है अर्थात् जैसे सप्तसूर्य आदि और शतोदन पर्य्यंत सब होम आथर्वणिकोंके एकही अग्निसम्बंधी होनेके नियमसे एकही अग्निमें होते हैं गार्हपत्य दक्षिणाग्नि व आहवनीय इन तीन प्रकारके अग्नियोंमें नहीं होते ऐसेही शिरोव्रत कियेहुयेके लिये वेदविद्यापठन में आथर्वणिकों का नियम है ब्रह्मउपासनसम्बन्धी विद्याके लिये नियम का वर्णन नहीं है इस सूत्रका ऐसा भी पाठ देखागया है **स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः** ऐसा पाठ होनेमें ऐसा अर्थ होगा कि, शिरोव्रत स्वाध्यायका अङ्ग वा धर्म है धर्म वा अङ्ग शब्दका आक्षेप करिके

ऐसा अर्थ वाच्य होता है किसहेतुसे जिससे कि, तथात्वसे अर्थात् स्वाध्यायक अङ्गरूपसे समाचारग्रंथमें यह भी (शिरोव्रतभी) वेदव्रतही होना व्याख्यात है ऐसा आथर्वणिक मानते हैं और अधिकार होनेसे उसका नियम होमके समान है दोनों प्रकारके अर्थ से व्याख्यानका फल एकही है ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥

अनु०—देखाती भी है अर्थात् श्रुति भी देखाती वा जनाती है ॥ ४ ॥

भाष्य--इस हेतुसे भी विद्या का एक होना सिद्ध होता है कि, श्रुति भी सर्वत्र एक ब्रह्मही उपास्य व ज्ञेय कहनेसे विद्याके एक होनेको अर्थात् सब वेदान्तप्रत्ययको एक होनेको जनाती है यथा यह श्रुतिवाक्य है **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति** अर्थ--(यत्पदं) जिस पदको (सर्वे वेदाः) सब वेद (आमनन्ति) मानते हैं तथा **एतमेव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः** अर्थ--(एतम् एव) इसीको अर्थात् इस ब्रह्महीको (बह्वृचाः) ऋग्वेद जाननेवाले (महति उक्थे) महागुणवर्णनाविद्या ऋग्वेदमें (मीमांसन्ते) विचार करते हैं (एतम् एव) इसीको (अग्नौ) अग्निमें अर्थात् यज्ञमें (अध्वर्यवः) यजुर्वेद जाननेवाले विचार करते हैं (एतम् एव) इसीको (महाव्रते) महाव्रतमें ब्रह्मउपासनमें (छन्दोगाः) सामवेदवाले विचारते वा मानते हैं इत्यादि श्रुतियोंसे सब वेदान्तवाक्योंमें मुख्य ब्रह्मही उपास्य व विज्ञेय सिद्ध होनेसे विद्या एकही है इसप्रकारसे शाखान्तरों में कहेहुये एकही नाम व फलसे प्रकरणभेद वा कुछ शब्द व संख्याभेद होनेमें भी एकही विद्या होना स्थिर करके अब उसका प्रयोजन वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

उपसंहारोर्थाऽभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

अनु०—समान होनेमें विधिशेषके समान अर्थमें भेद न होनेसे उपसंहार अर्थात् गुणोंका उपसंहार कर्तव्य (करने योग्य) है ॥ ५ ॥

भाष्य—उक्त प्रकारसे सब वेदान्तवाक्योंमें समान उपासन होनेमें अन्य वेदान्तवाक्यों व शाखाओंमें कहेहुये गुणोंका अन्य वाक्यों वा शाखाओंमें उपसंहार करनेयोग्य है अर्थात् ग्रहण करने वा मिलालेने योग्य है किस हेतुसे उपसंहार करनेयोग्य है विधिशेषके समान अर्थभेद न होनेसे अर्थात् जैसे एक वेदान्तमें सुनाहुआ वैश्वानर व दहरआदि विधिका शेष (रहाहुआ) गुण उस विद्यासम्बंधी होनेसे उसका उपकाररूप प्रयोजन सिद्ध होनेकेलिये अनुष्ठान किया-

जाता है ऐसेही अन्यवेदान्तमें कहाहुआ भी उस विद्यासम्बंधी होनेसे वैसेही उपकाररूप होनेसे उपसंहार करना चाहिये अर्थात् ग्रहण वा अंगीकार करना चाहिये यही विद्याका एक होना निरूपण करनेका प्रयोजन है ॥ ५ ॥

वाजसनेयक व छान्दोग्यशाखामें उद्गीथ विद्यामें भेद होनेके वर्णन में सू० ६ से ९ तक अधि० २ ।

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

अनु०–अन्यथा होना शब्दसे सिद्ध है जो यह कहाजाय नहीं विशेष न होनेसे ॥ ६ ॥

भाष्य--प्रेरणा अर्थात् विधायक शब्दआदिके विशेष न होनेसे विद्याका एक-होना और एक होनेमें गुणोंका उपसंहार करना चाहिये यह वर्णन करके अब इसके अपवादमें जहां भेद है वह जनानेके लिये कोई विद्याओंमें जिनमें संशय प्राप्त होता है उनमें चोदना अर्थात् विधायक शब्दआदि अविशेष (समान) है वा नहीं यह निरूपण करिकै निर्णय करते हैं उद्गीथविद्या छान्दोग्य व वाजसनेयक दोनोंमें वर्णन कीगई है वाजसनेयकमें ऐसा वर्णन है कि, सात्त्विकवृत्तिरूप प्राणोंने परस्पर यह कहा है कि, हम उद्गाता होनेके कर्म से अर्थात् ओंकार व वेदमंत्रके गानेवाले होनेसे व यज्ञमें उद्गीथ (ओंकार व वेदमंत्रको गान) करके रजतम-वृत्तिरूप गुणोंसे रहित हो देवत्वको प्राप्त होंगे उद्गीथ करिकै हम असुरोंका नाश करैंगे यहां रज तम गुण की वृत्तियोंको असुर कहा है देवताओंने वाक् आदिसे कहा कि, तुम हमारेलिये उद्गान करो जब वाक्आदि उद्गान करने लगे तब अनृत (असत्यता) आदि पापसे ग्रस्त भये इससे वाक्आदि कों की निन्दा करिकै देवताओंने मुख्यप्राणसे कहा कि, तुम हमारेलिये उद्गान करो तब मुख्य प्राणने उद्गान किया उसके उद्गान करनेमें असुरोंने उसके पास जाकर उसको पापयुक्त करना चाहा उसमें प्राप्त होनेसे जैसे मिट्टीका पिण्ड पत्थरपर पडनेसे फूटकर नष्ट होजाता है ऐसेही असुर नष्ट होगये तब सब प्राण (इन्द्रियां) देवतारूप होगये अर्थात् सत्त्वगुणवृत्तिवाले होगये असुरोंका पराजय भया सब नष्ट होगये अर्थात् रजोगुण तमोगुणरूप सब पापवृत्तिरूप असुर नष्ट होगये ऐसेही जो मुख्यप्राणकी उपासना करता है उसका शत्रु परा-जित होता है इसमें यह श्रुति प्रमाण है अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रा-ऽत्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविव्यत्सन्स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वंसेतैवं हैव विध्वंसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवाअभवन्पराऽसुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य

एवं वेद अर्थ-(अथ ह इमं) अथ इस (आसन्यं प्राणं) मुख्य प्राणको (ऊचुः) कहा अर्थात् मुख्य प्राणसे कहा कि, (त्वं) तू (नः उद्गाय इति) हमारेलिये उद्गानकर (तथा इति) वैसेही मानकर (तेभ्यः) उनके लिये (एषः प्राणः) इस प्राणने (उदगायत्) उद्गान किया (ते विदुः) उन असुरोंने जाना कि, (अनेन उद्गात्रा) इस उद्गातासे अर्थात् उद्गान करनेवालेके द्वारा (वै) निश्चयसे (नः अर्थात् अस्मान्) हमको देवता (अत्येष्यन्तीति) जीत जावैंगे ऐसा जानकर (तम्) उसको अर्थात् मुख्य प्राणके (अभिद्रुत्य) पास जाकर (पाप्मना अविव्यत्सन्) पापसे वेधन करनेकी इच्छा करतेहुये मुख्य प्राणमें योगको प्राप्त होतेहुये (विनेशुः) नाशको प्राप्त हुये कैसे नाशको प्राप्त हुये (यथा) जैसे (लोष्ठः) मिट्टीका पिण्डा वा ढेला (अश्मानम् ऋत्वा) पाषाणको प्राप्तहोकर अर्थात् पाषाणके चूर्ण करनेके लिये पाषाणमें फेंका गया (विध्वंसेत) नाशको प्राप्त होवै (एवम् एव) ऐसेही (विध्वंसमानाः) नाशको प्राप्त होनेवाले (विष्वञ्चः विनेशुः) नाना गतिको प्राप्त हो नष्ट हुये (ततः) तिससे अर्थात् असुरोंके नाशके (देवाः अभवन्) वाक्आदि देवता हुये अर्थात् दोष व पापरहित हो आपही अपने अभिमानी अग्निआदि देवतारूप हुये (असुराः परा) असुर पराजित हुये ऐसेही (आत्मना) आत्माके समान अर्थात् प्रजापतिस्वरूप आत्माके समान यजमान (यः एवं) जो ऐसा (वेद) जानता है अर्थात् उद्गीथमें प्राण दृष्टि करिकै उपासन करता है वह (भवति) होता है (अस्य द्विषन् भ्रातृव्यः) इसका शत्रु द्वेष करताहुआ पापरूप (परा भवति) नष्ट होता है इसप्रकारसे प्राणको उद्गान कर्ता वर्णन किया है छान्दोग्यमें **देवासुरा यत्र संयेतिरे** अर्थ-(यत्र) जब (देवासुराः) देवता व असुरोंने (संयेतिरे) युद्ध किया यहांसे आरंभ करिकै देवता उद्गीथद्वारा असुरोंको पराजित करनेकी प्रतिज्ञा करिकै वाजसनेयकमें जैसा कहागया है वैसेही वाक्आदि दृष्टिमें दोष कहकर यह कहा है **अथ य एवायं मुख्यः प्राणः तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे** अर्थ-(अथ य एव अयम्) अथ वाक्आदिके अनन्तर जो यह (मुख्यः प्राणः) मुख्य प्राण है (तम् उद्गीथम्) उस उद्गीथकी (उपासां) उपासनाको (चक्रिरे) करते भये अर्थात किया इत्यादिसे वैसेही उद्गीथमें प्राणदृष्टि करनेसे शत्रुका पराजय व असुरोंका पराजयआदि वर्णन किया है अब इसमें यह संशय है कि, इसमें विद्याका एक होना मानना चाहिये अथवा नहीं पूर्वपक्ष यह है कि, विद्या एकही है क्यों एकही है दोनोंमें उद्गीथ उपास्यमें प्राणभाव करना शत्रुका पराजय फल प्राप्त होना व नाम एकही समान होनेसे एकही है इसी पूर्वपक्ष विषयमें सूत्रमें यह कहा है अन्यथा होना शब्दसे सिद्ध है जो यह कहाजाय नहीं विशेष न होनेसे इसका व्याख्यान यह है कि, जो यह शंका कीजाय कि, विद्या एक नहीं है क्योंकि शब्दहीसे अन्यथा होना अर्थात् रूपभेद होना प्रतीत होता है शब्दसे रूप भेद प्रतीत होना कहनेके

आशय यह है कि, वाजसनेयकमें देवताओंने कहा कि, तू हमारे लिये गाव व मुख्य प्राणने उद्गान किया इसमें उद्गानकर्ता प्राणको कहा है छान्दोग्यमें जो मुख्यप्राण है उस उद्गीथकी उपासना किया इसमें प्राणका कर्म कहा है एकमें कर्तामें प्राणदृष्टि व एकमें कर्ममें प्राणदृष्टि कहनेसे शब्दहीसे रूपका अन्यथा होना स्पष्ट है रूपके अन्यथा होनेमें विधेय (विधानके योग्य) में भेद होनेसे विद्यामें भेद है तो ऐसा कहना युक्त नहीं है विशेष न होनेसे (समान होनेसे) अर्थात् एकही नाम, शत्रुपराजय फल, एकही समान उद्गीथमें प्राणभाव वा प्राणदृष्टि करनेका उपदेश एकही समान दोनोंमें होनेसे विद्या एकही है कर्ता होना जो कहा है वह लाक्षणिक है अब इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥

नंवा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

अनु०—प्रकरणभेद होनेसे नहीं है परम श्रेष्ठ होनेआदिके समान ॥ ७ ॥

भाष्य—विद्याकी एकता नहीं है किस हेतुसे प्रकरणभेदसे प्रकरणभेद यह है कि, छान्दोग्यमें **ओमेतदक्षरमुद्गीथमुपासीत** अर्थ—ओं इस अक्षर उद्गीथकी उपासना करै ऐसा प्रथम उद्गीथके अवयव ओंकारको उपास्य कहकर इसी अक्षर ओंकारका उपव्याख्यान यह है कि, **देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे** अर्थ—(यत्र) जिस निमित्त (ह वै) निश्चयसे (देवासुराः) देवता व असुरोंने (संयेतिरे) युद्ध करतेभये अर्थात् किया इससे आरंभ करिके **अथ ह य एवायं मुख्यप्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे** अर्थ—अथ यही जो मुख्य प्राण है उस उद्गीथकी उपासना किया इसप्रकारसे उद्गीथके अवयवरूप प्रणव (ओंकार) की उपासनाको छन्दोग वर्णन करते हैं और वाजसनेयी जैसा पूर्वही कहागया है देवताओंने कहा कि, हम यज्ञमें उद्गीथसे अर्थात् उद्गीथद्वारा असुरोंको जीतेंगे इसप्रकारसे सम्पूर्ण उद्गीथ (सामवेद गान) को कहकर वाक्आदिसे उद्गान करने को कहा जब वह उद्गानमें पापयुक्त होगये तब उनकी निन्दा करिके मुख्यप्राणको कहा कि, तू हमारेलिये उद्गानकर इत्यादिसे सम्पूर्णके उद्गानको कहा है अवयव व सम्पूर्ण विषयक दो प्रकरणभेद होनेसे विधेयमें भेद है विधेयभेद होनेमें रूपभेद है इससे विद्याकी एकता नहीं है कैसे नहीं है इसमें यह दृष्टान्त है कि, जैसे एकही शाखामें उद्गीथके अवयवरूप प्रणवमें परमात्माकी दृष्टि करनेका विधान एकही समान होनेमें भी हिरण्मय (तेजमय) पुरुषदृष्टिके विधानसे परम श्रेष्ठ होनाआदि गुणविशिष्ट दृष्टिका विधान भिन्न है अर्थात् जो अतिश्रेष्ठ परमात्मा भाव गुणविशिष्ट उद्गीथ उपासन है वही श्रेष्ठ व उत्तम है इसमें यह श्रुति प्रमाण है **आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः**

---

१ नवाका अर्थ यहां नैवका है अर्थात् नहीं है यही निश्चय है ।

परायणं स एष परोवरीयान् उद्गीथः स एषोऽनन्तः अर्थ-(आकाशः हि एव) आकाशही अर्थात् आकाशवत् व्यापक परमात्माही (एभ्यः) इनसे अर्थात् इन सबसे (ज्यायान्) अधिक है (आकाशः परायणं) परमात्मा परम पद वा परम माप्य स्थान है (स एषः) वह यह (परः वरीयान्) सबसे पर व अतिश्रेष्ठ (उद्गीथः) उद्गीथ है (एष अनन्तः) यह अनन्त है परमश्रेष्ठत्व आदिगुणविशिष्ट उद्गीथकी उपासना नेत्र व सूर्य्यमें माप्त हिरण्यमय होना गुणविशिष्ट उद्गीथ उपासनासे भिन्न है एकही शाखामें परस्परके गुणोंका मेळ नहीं होता ऐसेही अन्यशाखामें मकारके कुछ समान शब्दवाले उपासनावाक्योंमें समझना चाहिये ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तदपि ॥ ८ ॥

अनु०-संज्ञासे (नामसे) एक हो ऐसा कहाजाय तो भी जैसा कहागया है ॥ ८ ॥

भाष्य-दोनों शाखाओं में उद्गीथ यह नाम एकही है इससे विद्या एक है ऐसा कहा जावे तो एक संज्ञा होनेसे भी एक नहीं होसक्ती जैसा कि, पूर्वसूत्रमें कहागया है कि, अत्यन्त श्रेष्ठ होनेआदि गुणयुक्त परमात्माका अध्यास करिके उद्गीथका उपासन करना अन्य मकारकी उद्गीथ उपासनासे श्रेष्ठ व भिन्न है इससे विद्या एक नहीं है यह भेद श्रुतिवाक्यही से सिद्ध है श्रुति से बाहर उद्गीथ नाम मात्रके मयोग से एक मानना लौकिकव्यवहार से उपचार से कहना है श्रुति शब्दों से भेद सिद्ध होना लौकिक व्यवहार से बलवान् है इससे एक मानना युक्त नहीं है मसिद्ध भेद होने में भी किसी अंशकी एकता से एक नामके होनेकी उपलब्धि होती है यथा परोवरीस्त्व (अत्यन्त श्रेष्ठ होना) मसिद्ध भेद कहा है तथापि नेत्र व सूर्य्य में माप्त हिरण्यमय होना गुणविशिष्ट उपासन भी उद्गीथही नाम से कहाजाता है आदि शब्द से अग्निहोत्र दर्श-पौर्णमासआदिका ग्रहण होता है इन में परस्पर भेद है परन्तु भेद होने में भी एकही ग्रंथ काठक में कहेजाने से एक काठकही नाम से कहे जाते हैं परन्तु एक नाम होनेसे भेदरहित एकही होनेका ममाण नहीं होता ऐसेही इसमें समझना एक संज्ञा होनेपरभी सर्वत्र भेद होता है यह कहनेका आशय नहीं है एकसंज्ञासे एकही होनाभी सिद्ध होता है परन्तु ऐकान्तिक नहीं है कि, सर्वत्र ऐसेही होवै जहां ऐसा जैसा कि, कहागया है कोई भेदका हेतु नहीं है वहां एकसंज्ञा होनेसे विद्याका भी एक होना निश्चित होता है जैसे संवर्गविद्याआदिमें अर्थात् जैसे संवर्गविद्या एकसंज्ञा होनेसे सब शाखाओंमें एकही विद्या स्वीकार कीजाती है तथा पंचाग्निविद्या सब शाखाओंमें एकही है यह पूर्वही वर्णन किया गया है ॥ ८ ॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

अनु०—व्याप्ति से भी समञ्जस (समीचीन वा यथार्थ) है ॥९॥

भाष्य-छान्दोग्यमें प्रथम प्रपाठकमें और अन्तमें कहीहुई विद्याओंमें भी उद्गीथका अवयवरूप प्रणव जो प्रथम कहा है उसीका उपास्य होना कहागया है उसके उपास्य होनेकी आदिसे प्रकरणके अंततक व्याप्ति होनेसे मध्यमें प्राप्त जो यह वाक्य है **उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्यामः** अर्थ-(उभये) दोनों अर्थात् शास्त्रज्ञान व विचारसे प्राप्त इन्द्रियोंकी उत्तम वृत्तियोंरूप देवता और स्वाभाविक इन्द्रियोंकी विषयोंमें आसक्तहोने व अभिलाषा करनेकी वृत्तियों रूप असुर (प्राजापत्याः) प्रजापति के लडके अर्थात् कर्मज्ञानका अधिकारी पुरुष प्रजापति से उत्पन्न यह दोनों परस्पर विरुद्ध रणमें प्रवृत्त हुये पुत्र थे (तत् ह) उनमेंसे (देवाः) देवता (उद्गीथम् आजह्रुः) उद्गीथको किया अर्थात् उद्गीथ भक्तिसे उपलक्षित उद्गाताके करनेका जो कर्म है वह किया परन्तु केवल उसका करना संभव न होनेसे अग्निष्टोमआदिको किया यह अभिप्राय है इस निमित्त किया कि, (अनेन) इससे अर्थात् इस उद्गीथ कर्म से (एनान्) इनको अर्थात् असुरोंको (अभिभविष्यामः) पराजित करेंगे इत्यादि इस में कहेहुये उद्गीथ शब्दका प्रणवहीके लिये वाच्य होना मानना यथार्थ है अवयवमें भी सम्पूर्ण वस्तुका नाम कहा जाता है जैसे पटके किसी अवयवके दग्ध होने में (जलने में) पट दग्ध होगया यह कहाजाता है ऐसेही उद्गीथका अवयवरूप प्रणवही उद्गीथ शब्दसे कहागया है वही प्राणदृष्टिसे उपास्य छान्दोग्य में सिद्ध करने योग्य है वाजसनेयकमें सम्पूर्ण उद्गीथ विषयमें उद्गीथ शब्द है इससे सम्पूर्ण उद्गीथका कर्ता उद्गाता उपास्य है इससे विद्याका अनेक होना सिद्ध है कोई इस सूत्रको अन्य अधिकरण में कहते हैं यह युक्त नहीं है क्योंकि चशब्द जो सूत्रमें है जिसका अर्थ भी अनुवाद में रक्खागया है वह पूर्वहीके साथ सम्बंध होना सूचित करता है इससे पूर्वही प्रकरणमें योजित करना व अवयव व अवयवीभाव से उद्गीथ व प्रणवका निरूपण करना युक्त है ॥ ९ ॥

प्राणविद्यामें भेद न होनेके वर्णन में सू० १० अधि०३ ।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

अनु०—सबके भेदरहित होनेसे अन्यमें यह अर्थात् यह ग्राह्य व उपास्य हैं ॥ १० ॥

भाष्य-छान्दोग्य व वाजसनेयक में इस प्रकारसे प्राणविद्याका वर्णन है कि, जो ज्येष्ठ व श्रेष्ठ को जानता है वह ज्येष्ठ व श्रेष्ठ होता है प्राण ज्येष्ठ व

श्रेष्ठ है इत्यादि ज्येष्ठता व श्रेष्ठतागुणयुक्त प्राणको उपास्य प्रतिपादन करिके वाणी में वसिष्ठत्व नेत्रमें प्रतिष्ठात्व कर्णमें संपत्त्य और मनमें आयतनत्व गुणोंको प्रतिपादन करिके वाणीआदिकी व देहकी प्राणके आधीन स्थिति होनेसे प्राणके आधीन प्रत्येकके कार्य होनेसे प्राणकी श्रेष्ठता प्रतिपादन करिके वाणीआदिके सम्बंधी वसिष्ठत्वआदि गुणोंको प्राणसम्बंधी होना प्रतिपादन किया है इस प्रकारसे छान्दोग्य व वाजसनेयकमें ज्येष्ठता व श्रेष्ठता गुण व वसिष्ठत्वआदि प्राणयुक्त प्राण उपास्य कहागया है कौषीतकियोंकी प्राणविद्यामें भी ऐसेही श्रेष्ठता व ज्येष्ठता गुणवाला प्राण उपास्य कहागया है परन्तु वाणीआदिके सम्बंधी वसिष्ठत्वआदि गुणोंका प्राणका सम्बंधी होना प्रतिपादन नहीं किया-गया इससे यह संशय है कि, विद्यामें भेद है वा नहीं प्रथम यह युक्त ज्ञात होता है कि, भेद है क्यों भेद है रूपभेदसे यद्यपि दोनोंमें प्राणही ज्येष्ठता व श्रेष्ठता-गुणवाला उपास्य होना प्रतीत होता है तथापि एकमें वसिष्ठत्वआदि गुणोंसहित व एकमें उनसे रहित उपास्य है यह प्रतीत होता है इससे उपास्यभेदसे विद्यामें भेद है इस पूर्वपक्षके उत्तरमें यह कहा है सबके भेदरहित होनेसे अन्यमें यह उपास्य हैं यह कहा है इसका आशय यह है कि, विद्यामें भेद नहीं है कौषीतकियोंके प्राणविद्यामें भी यह वसिष्ठत्वआदि गुण उपास्य हैं क्यों उपास्य हैं सबके भेदरहित होनेसे अर्थात् प्रतिज्ञात (प्रतिज्ञा कीगई) प्राणकी ज्येष्ठता व श्रेष्ठताका प्रतिपादन छान्दोग्यआदि सबका एकही समान है छन्दोगोंकी प्राण-विद्यामें आदिमें यह कहा है कि, देवताओंने अर्थात् प्राण वा इन्द्रियोंने परस्पर अपने अपने को श्रेष्ठ कहकर यह वाद किया कि, हम श्रेष्ठ हैं और वाजसनेयियोंकी प्राणविद्यामें हम श्रेष्ठ हैं ऐसा विवाद करतेहुये यह आरंभमें कहकर ऐसा वर्णन किया है कि, किसकी श्रेष्ठता है यह निश्चय करनेकेलिये वाक्आदि एक एक सब शरीरसे निकलकर एक एक वर्ष व्यतीत होनेपर फिर जब शरीरमें प्राप्त हुये तब केवल एक जो इन्द्रिय नहीं रहीथी उसके कार्यमात्रसे रहित शरीर अन्य सब इन्द्रियोंसहित अन्य इन्द्रियोंके कार्योंको कर्ता विषयोंको ग्रहण करता-हुआ स्थित रहा यथा चक्षु इन्द्रिय के न होनेमें अंधा वाक न होनेमें गूंगा स्थित

---

१ अतिवासकरनेवाला व आच्छादन करनेवाला होना वसिष्ठत्वका अर्थ है ।

२ प्रतिष्ठात्वका अर्थ प्रत्येक में स्थित होना ।

३ सम्पत्त्यका अर्थ जानने वा प्राप्त होनेका हेतु ।

४ आयतनका अर्थ आश्रय । अच्छे बोलनेमें चतुर उत्तमप्रकारसे वास करनेवाले होनेसे वाक्को वसिष्ठ नेत्रहीसे देखकर सम व विषम स्थानमें यथायोग्य स्थितहोनेसे नेत्रको प्रतिष्ठा कर्णसे वेदआदि शब्दहोने व ज्ञान होनेसे कर्णको सम्पत् सब इन्द्रिय विषयोंका मुख्य आश्रय मन होनेसे मनको आयतन कहा है ।

५ प्राणविद्यामें प्राणशब्द वा देवशब्द इन्द्रिय अर्थका वाचक है जहां मुख्य प्राण ऐसा कहा है वह प्राण अर्थवाचक समझना चाहिये ।

रहताहै ऐसेही एक एक न रहनेमें जीव शरीर व इन्द्रियों सहित स्थित रहा प्राण के निकलनेमें सब इन्द्रियोंका शिथिल होना व कुछ कार्य न करना कहकर सब इन्द्रियोंका कार्य करना व स्थित होना प्राणहीके आधीन होनेसे प्राणका ज्येष्ठ होना व श्रेष्ठ होना प्रतिपादन किया है वाक्‌आदिका कार्य प्राणके आधीन होना इस-प्रकारसे वर्णन किया है कि, वाक्‌ने प्राणसे कहा कि, मैं जो वसिष्ठ हूं वह वसिष्ठ तू है अर्थात् तेरेही वाससे मेरा वास वा मेरी स्थिति है इत्यादि कौषीतकियोंकी प्राणविद्यामें भी प्राणकी ज्येष्ठता व श्रेष्ठता प्रतिपादनके लिये वाक्‌आदिकों में वसिष्ठत्वआदि गुण प्रतिपादित हैं और देवताओंने (इन्द्रियोंने) प्रजापति पितासे यह कहा हममें कौन श्रेष्ठ है इत्यादि से वाक्‌आदिमें प्राप्त गुण व वाक्‌आदि और देह, प्राणके आधीन हैं इसप्रकारसे प्राणकी अधिकता वा श्रेष्ठता प्रतिपादित है वाक्‌आदिकोंके जो अपने अपने वसिष्ठत्वआदि गुण हैं वाक्‌आदिसहित उनका प्राणके आधीन होना मात्र फिर नहीं कहा इतने भेदसे रूपभेद नहीं होता वसि-ष्ठत्वआदि गुणसंयुक्त वाक्‌आदिकोंके कार्य प्राणके आधीन होना प्रतिपादन करनेही से वाक्‌आदिकोंके वसिष्ठत्वआदि गुणोंका हेतु (कारण) प्राण होना सिद्ध है वा सिद्ध होता है वाक्‌आदिके वसिष्ठत्वआदि गुणोंका हेतु होना यही प्राणका वसिष्ठत्वआदि गुणसंयुक्त होना है इससे अन्यत्र कौषीतकियोंकी प्राण-विद्यामें यह वसिष्ठत्वआदि गुण ग्राह्य वा उपास्य होनेसे उसमें भी वसिष्ठत्व-गुणोंका योग होनेसे सब भेदरहित एक समान सिद्ध होनेसे विद्या में भेद नहीं हैं जैसे विना वसिष्ठत्वआदि गुणोंके अनुसंधान प्राणकी ज्येष्ठता व श्रेष्ठताका अनुसंधान संभव न होनेसे न कहेहुये वसिष्ठत्वआदि गुणोंका भी प्राणविद्या में ग्रहण युक्त होना सिद्ध कियागया है ऐसेही जिन गुणोंके ग्रहण किये विना ब्रह्मके स्वरूप का अनुसंधान संभव नहीं होता है वह गुण सब ब्रह्मविद्याओंमें अनुसन्धान करनेके योग्य हैं यह इसका तात्पर्य्य ग्राह्य है ॥ १० ॥

सर्वत्र ब्रह्मके आनन्दआदि गुणोंके उपसंहार करनेके निरूपण में सू० ११ से १७ अधि० ४ ।

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

अनु०—आनन्दआदि गुण प्रधानके भेदरहित होनेसे ॥ ११ ॥

भाष्य—भेदरहित होनेसे इतने की अनुवृत्ति पूर्वसूत्रसे होती है इस अनुवृत्ति-सहित सूत्रवाक्यका अर्थ लिखागया है अब यह विचार कियाजाता है कि, ब्रह्मस्व-रूपके गुणोंका सब परविद्याओंमें (ब्रह्मउपासन व ज्ञानसम्बंधी विद्याओंमें) उपसंहार है अथवा नहीं है प्रथम पूर्वपक्ष यह है कि, जो प्रकरण नहीं है उसमें कहेहुये गुणोंके उपसंहार करनेमें कोई हेतु वा प्रमाण न होनेसे जो प्रकरणमें

कहेगये हैं उनहीका उपसंहार करना चाहिये इसके उत्तर में यह कहा है आनन्द-आदि गुण प्रधानके भेदरहित होनेसे अर्थात् सब उपासनाओंमें प्रधान गुणी ब्रह्मके भेदरहित होनेसे सर्वत्र आनन्दआदि ब्रह्मके गुणोंका उपसंहार करना चाहिये आदि शब्दसे सर्वव्यापक सर्वात्मक विज्ञान होना आदि गुणोंका जहां कथित नहीं है वहाँ भी ग्रहण करने का आशय है अब यह शङ्का है कि, जो ऐसा ग्रहण करना युक्त है तो गुणीके भिन्न न होनेसे आनन्दआदिके समान इस तैत्तिरीयकी श्रुति में जो प्रथम आनन्दमय आत्माको कहकर **तस्य प्रिय-मेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्षः इत्यादि** अर्थ-(तस्य) उसका (प्रियमेव) प्रियही (शिरः) शिर है मोद दक्षिण पक्ष है प्रमोद उत्तर पक्ष है इत्यादि प्रियशिर होना आदि ब्रह्मके गुण होना सुनेगये हैं इनके ग्रहण करनेका भी सर्वत्र प्रसंग होगा इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ११ ॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२॥

अनु०-प्रियशिर होना आदिकी प्राप्ति नहीं है जिससे कि, भेद होनेमें उपचय (बढ़ती) अपचय (घटती) होगी अर्थात् ब्रह्मकी अधिकता व न्यूनता होवैगी ॥ १२ ॥

भाष्य-ब्रह्मके स्वरूप प्रतीत होनेके गुणोंमें प्रियशिर होना आदि गुणोंकी प्राप्ति नहीं है क्योंकि वह ब्रह्मके गुण नहीं हैं प्रियशिर होनाआदि केवल रूपकसे वर्णन कियेगये हैं अर्थात् प्रिय मोद प्रमोद आनन्द सब न्यून आनन्द-भेदोंको अङ्ग कल्पना करके ब्रह्मको आनन्दरूप पक्षीरूपकसे वर्णन किया है वास्तवमें ऐसा होनेमें अर्थात् शिरपक्ष (पंख) पुच्छआदि अवयव भेद होनेमें ब्रह्मकी अधिकता व न्यूनता होवेगी क्योंकि शरीर व शरीरके अव-यवोंका न्यून व अधिक होना संभव है अथवा प्रियआदिमें अधिक व न्यून होनेके भेद हैं यथा पुत्रके देखनेका सुख प्रिय है उससेभी अधिक पुत्रकी वार्ता सुननेसे सुख होना मोद उससे भी अधिक पुत्रके उत्तम विद्या पढने व अन्य उत्तम गुणोंसे सुख होना प्रमोद है इत्यादि यह भेद एकरस प्रधान परमात्मामें होना संभव नहीं है यह न्यून अधिक भेद होनेमें होते हैं शिरआदि अवयव भेद होनेमें **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ-सत्य ज्ञानरूप अनन्त ब्रह्म है इत्यादि श्रुति-योंमें विरोध होगा इससे ईश्वरसम्बंधी जो ऐश्वर्य गंभीरता उदारता दयालुता सर्वज्ञताआदि अनन्त गुण हैं उनहीका गुणीके भिन्न स्थित न होनेसे जहां नहीं हैं वहां भी उपसंहार होने में सब सर्वत्र प्राप्त होते हैं जो यह कहा-जाय कि, अनन्त होनेसे उपसंहार नहीं होसक्ता तो इसका उत्तर आगे सूत्र में वर्णन करते हैं ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात्॥ १३ ॥

अनु०–इतर तो अर्थके समान होनेसे ॥ १३ ॥

भाष्य–इतर अर्थात् अन्य जो आनन्दआदि धर्म हैं वह अर्थके समान होनेसे अर्थात् एकही सदृश होनेसे सर्वत्र जिस प्रकरण में नहीं कहेगये वहां भी कहे-हुयेके समान ग्रहण कियेजाते हैं अर्थात् जो गुण ऐसे हैं कि, उनके अर्थ (पदार्थ) के स्वरूपका निरूपण व निश्चय होता है व अर्थ की प्रतीतिके अनु-बंधी हैं (साथ वा पीछे लगेहुये हैं) वह अर्थके स्वरूपहीके समान अनुवर्तित होते हैं वह गुण सत्यज्ञान आनन्द अमलत्व अनन्तत्वआदि हैं **यतो वा इमा-नि भूतानि जायन्ते** इत्यादि अर्थ–जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं इत्यादि वाक्यसे जगत् के कारण होनेसे उपलक्षित ब्रह्म **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आनन्दो ब्रह्म** अर्थ–सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म है आनन्द ब्रह्म है इन कहेहुये आनन्दआदि गुणोंसे ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण कियाजाता है इससे उपास्य ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान व निश्चय होनेकेलिये सब विद्याओंमें आनन्दआदि गुण उपसंहार करने योग्य हैं और जो निरूपित स्वरूप ब्रह्मके दयालुताआदि गुण प्रतिपादन कियेगयेहैं वह यद्यपि गुणी पृथक् नहीं है तथापि स्वरूपप्रतीतिके अनुबंधी न होनेसे जो जिस प्रकरणमें श्रुत है वह उसीमें ग्रहणके योग्य है सर्वत्र नहीं है ऐसेही प्रियशिर होनाआदि ब्रह्मके गुण नहीं हैं केवल रूपणमात्रके लिये कहा है अब यह पूर्वपक्ष है कि, जो यथार्थ स्वरूप ब्रह्मका नहीं है उसरूपसे ब्रह्मका रूपण किस लिये किया है रूपणभी किसी प्रयोजनके लिये होनाचाहिये यथा कठोपनिषद्में **आत्मानं रथिनं विद्धि** इत्यादि अर्थ–आत्माको रथी जान इत्यादिसे आत्माको रथी शरीरको रथ बुद्धिको सारथी इन्द्रियोंको घोडे आदिका रूपण उपासनके उपकरणरूप शरीर व इन्द्रियआदि वशीकरणके लिये कहा है यहां प्रियशिर होने आदि में ऐसा कोई प्रयोजन विदित नहीं होता इससे प्रियशिर होने आदि को भी ब्रह्मका गुण होना अङ्गीकारके योग्य है इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १३ ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

अनु०–आध्यानके लिये प्रयोजनके अभावसे (अन्य प्रयो-जन न होनेसे) ॥ १४ ॥

भाष्य–अन्य प्रयोजन न होनेसे आध्यानके लिये (अनुचिन्तन वा उपा-सनके लिये) रूपणका उपदेश है अर्थात् रूपकसे उपदेश कियागयाहै **ब्रह्मविदा-प्नोति परम्** अर्थ–(ब्रह्मविद्) ब्रह्मका जाननेवाला (परम् आप्नोति) मोक्षको प्राप्त होता है ऐसा उपदेश किये ब्रह्मके आध्यानरूप ज्ञान सिद्ध होनेके लिये

आनन्दमय ब्रह्म सिद्ध होने वा ध्यानमें लानेके लिये आनन्दमय ब्रह्म प्रियमोद-आदि रूपसे विभाग करके शिरपक्षआदि होनेके रूपसे बुद्धि में आरोपणके लिये रूपक कल्पना करिके वर्णन कियागया है जैसे प्राणमय मनोमय विज्ञानमय कोश वर्णन कियेगये हैं और **तस्य प्राण एव शिरः** अर्थ-उसका प्राणही शिर है इत्यादि से प्राणआदि अवयवरूपसे आरोपण किये जाते हैं ऐसेही अन्तरात्मा आनन्दमय भी प्रिय व मोदआदि रूपित एकदेशों वा अवयवोंसे शिरआदि होनेसे बुद्धिमें आरोपण कियाजाता है इसप्रकार आनन्द-मयके उपलक्षणरूप वर्णन किये प्रियशिर होनाआदि सदा सर्वत्र आनन्दमयकी प्रतीतिके लिये ग्राह्य नहीं है ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

अनु०-आत्मा शब्दसे भी ॥ १५ ॥

भाष्य-श्रुतिमें **एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः** अर्थ-इस विज्ञानमयसे आनन्दमय आत्मा भिन्न है ऐसा कहनेसे अनन्तर आनन्द-मयके प्रियशिर होना आदिका वर्णन है आत्माशब्दसे निर्देश होनेसे भी प्रियशिर होनाआदि उपास्यके गुण नहीं हैं यह सिद्ध होता है क्योंकि नी-रूप निराकार आत्माके शिरपक्ष व पुच्छ होना संभव नहीं है प्रियशिर होना आदि साधारण बुद्धिमें आरोपणके लिये रूपक कथनमात्र है जो यह शंका कीजाय कि, श्रुतिमें प्रथम अन्य अन्तर आत्मा प्राणमय है अन्य अन्तर आत्मा मनोमय है इसप्रकारसे जो आत्मा नहीं है उनमें भी पूर्वही आत्मा शब्दका प्रयोग किया है अनात्माको भी आत्मा कहनेसे विज्ञानमयसे आनन्दमय अन्य अन्तरात्मा है इसमें आत्माशब्द आत्माहीके लिये कहा यह निश्चय कैसे होसक्ता तो इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १५ ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

अनु०-आत्माका ग्रहण है इतरके समान उत्तरसे अर्थात् उत्तर वाक्यसे ॥ १६ ॥

भाष्य-विज्ञानमयसे अन्य अन्तर आत्मा आनन्दमय है इसमें आत्माशब्दसे परमात्माहीका ग्रहण है इतरके समान अर्थात् जैसे इतरमें (अन्यशाखामें) अर्थात् ऐतरेय उपनिषद्में इस वाक्यमें **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् स ऐक्षत लोकान्नुसृजा** इत्यादि अर्थ-(इदं) यह अर्थात् प्रत्यक्षसे विदित यह जगत् (अग्रे) आगे सृष्टिसे पहिले (वै) निश्चयसे (आत्मा एव) आत्माही अर्थात् परमात्माही (एकः) एक (आसीत्) था अर्थात् परमात्मासे भिन्न ज्ञात न होनेसे सूक्ष्मरूप परमात्माहीमें लीन होनेसे परमात्माही शब्दसे वाच्य था व

सूक्ष्म चिदचिद् वस्तुविशिष्ट कारणरूप एक परमात्माही था (सः) उसने (ऐक्षत) ईक्षाकिया कि, मैं (लोकानुसृजा) लोकोंको उत्पन्नकरूं और अन्य इसप्रकारके वाक्योंमें आत्मा शब्दसे परमात्माहीका ग्रहण है ऐसेही इस वाक्यमें आत्माशब्द परमात्माका वाचक है किस प्रमाणसे उत्तरवाक्यसे अर्थात् आनन्द-मयके प्रियशिर होना आदि वर्णन करनेके पश्चात् आगे उत्तरवाक्य यह है **सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय** अर्थ-उसने इच्छा किया बहुत होऊँ उत्पन्न होऊँ इस आनन्दमयविषयक उत्तरवाक्यसे आत्मा शब्दसे परमात्माका वाच्य होना सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

अनु०-अन्वयसे होवै जो यह कहाजाय होय अवधारणसे (निश्चयकरने वा धारण करनेसे) ॥ १७ ॥

भाष्य-पूर्वमें प्राणमयआदि अनात्माओंमें (जो आत्मा नहीं हैं उनमें) आत्मा शब्दका अन्वय (योग वा सम्बंध) देखनेसे उत्तरमें भी आत्मा शब्द आत्मा वा परमात्मावाचक है ऐसा निश्चय नहीं होसक्ता जो यह कहाजाय अर्थात् ऐसी शंका कीजाय तो उत्तर यह है कि, नहीं होय अर्थात् निश्चय होय निश्चय होना चाहिये अवधारणसे (धारण करनेसे) पूर्वमें भी **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः** अर्थ-(तस्मात् वा एतस्मात् आत्मनः) उस इस आत्मासे (आकाशः संभूतः) आकाश उत्पन्न हुआ इस वाक्यमें आत्मा शब्दसे परमात्माही बुद्धिसे धारण वा निश्चय कियागया होनेसे अन्न-मय आत्माके पश्चात् कहागया प्राणमय आत्मामें प्रथम परमात्मा बुद्धि अव-तीर्ण हुई है उसके अनन्तर प्राणमयसे मनोमयमें उससे विज्ञानमयमें उससे आनन्दमयमें क्रमसे प्राप्त होनेका उपदेश है आनन्दमयसे अन्य आत्मा न होनेसे उसीको यह कहा है कि, उसने इच्छा किया इत्यादि इस उत्तरवाक्यसे आत्मा शब्द परमात्मावाचक सिद्ध होता है और प्रारंभमें भी परमात्माहीमें स्थित होता है क्रमसे परमात्माहीके उपदेशमें कहागया है इससे आत्माशब्दका अन्वय परमात्मामें करना यथार्थ व निर्दोष है ॥ १७ ॥

जलोंको प्राणके वस्त्ररूप चिन्तन करने वा आचमनकी विधि होनेके निरूपणमें सू० १८ अधि० ५ ।

कार्य्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

अनु०-कार्यके आख्यानसे (अप्राप्त कथनसे) अपूर्व (अप्राप्त पूर्वमें न हुआ) विधेय (विधानके योग्य) है ॥ १८ ॥

भाष्य--पूर्व में वर्णन कीगई प्राणविद्याके निरूपण में जो शेष रहगया है उसको अब यहां निरूपण करते हैं छान्दोग्य व वाजसनेयक दोनोंमें ज्येष्ठ व श्रेष्ठ प्राणको उपास्य कहकर जलोंको प्राणोंका वस्त्र कहते हैं छान्दोग्य में ऐसा वाक्य है **स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो भवतीति** अर्थ-(सः) उसने अर्थात् प्राणने (ह उवाच) कहा अर्थात् प्राणअभिमानी देवताने कहा (मे वासः) मेरा वस्त्र (किं भविष्यति) क्या होगा (आपः इति ह ऊचुः) जल यह कहा अर्थात् वाक्आदि अभिमानी देवताओंने कहा कि, जल वस्त्र होगा (तस्मात् वै) तिससे अर्थात् जिससे कि, जल वस्त्र है तिससे (एतत् अशिष्यन्तः) यह भोजन करतेहुये ब्राह्मण विद्वान् यह करते हैं कि, (पुरस्तात्) भोजनसे पूर्व (च) और (उपरिष्टात्) ऊपरसे अर्थात् भोजन करनेके पीछे (अद्भिः) जलोंसे (परिदधति) परिधान करते हैं अर्थात् प्राणको आच्छादन करते हैं (लम्भुकः वासः भवति) वस्त्रको प्राप्त होनेवाला होता है (अनग्नः भवति इति) अनग्न होता है अर्थात् वस्त्र प्राप्त होनेसे नग्नतारहित वस्त्रयुक्त होता है वाजसनेयकमें ऐसा वर्णन है कि, प्राणने प्रश्न किया कि. मेरा वस्त्र क्या है उसके उत्तरमें वाक्आदिने यह कहा **आपो वास इति तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्ति एतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतदेव तदनमनग्नं कुरुत** अर्थ-(आपः वासः इति) जल वस्त्र हैं ऐसा कहा (तत्) तिससे अर्थात् जिससे कि, जल प्राणके वस्त्र हैं तिससे (विद्वांसः) विद्वान् ब्राह्मण (श्रोत्रियाः) वेद पढेहुये (अशिष्यन्तः) भोजन करतेहुये (आचामन्ति) आचमन करते हैं (च) और (अशित्वा) भोजन करिके (आचामन्ति) आचमन करते हैं अर्थात् जलको पीते हैं पहिले व पीछे आचमन करने से क्या प्रयोजन है (तत् एतत् एव) वह यही है अर्थात् यही अभिप्राय वा प्रयोजन है कि, (अनं) प्राणको (अनग्नं कुर्वन्तः) अनग्न करनेवाले (मन्यन्ते) मानते हैं अर्थात् ब्राह्मण यह मानते हैं कि. हम प्राणको वस्त्रयुक्त करते हैं (तस्मात्) तिससे (एवंविद्) ऐसा जाननेवाला (अशिष्यन्) भोजनकरतेहुये (आचामेत्) जलको पान करै (च) और (अशित्वा) भोजनकरके (आचामेत्) आचमन करै (एतत् एव तत् यत्) यही वह है जिससे (अनं) प्राणको (अनग्नं कुरुते) अनग्न अर्थात् वस्त्रयुक्त करता है अब इसमें यह संशय है कि, इन वाक्योंमें आचमनका विधान है अथवा जलोंका प्राणके वस्त्ररूप होनेका अनुसंधान (चिन्तन) है आचमनकी यह विधि होनेसे कि, भोजन करतेहुये आचमन करै भोजनकरिके आचमन करै और यही है जो प्राणको अनग्न करता है

इसमें विधि होनेका बोध न होनेसे अनग्नता कहना केवल स्तुतिके लिये प्रतीत होनेसे भोजन के अङ्गरूप आचमनहीका प्राणविद्यामें विधान है स्मृतिमें भी पवित्रताके लिये आचमन की विधि है इससे भी यहां आचमन विधान कियागया है ऐसा प्रतीत होता है परन्तु जलोंका प्राणका वस्त्रहोना व प्राणकी अनग्नता भी वर्णित होनेसे निश्चय नहीं होता इसके निर्णय वा समाधानके लिये यह कहा है कार्यके आख्यानसे (कथनसे) अपूर्व विधेय है इसका आशय यह है कि, आचमनके योग्य जलोंका प्राणका वस्त्रहोना ही चिन्तन करना अपूर्व यहाँ विधान कियागया है आचमनका विधान नहीं है किस हेतुसे कार्य्यके अर्थात् अप्राप्तके आख्यानसे अर्थात् आचमनका विधान स्मृतिमें व अन्यत्र प्रसिद्ध होनेसे उसके विधेय न होनेसे क्योंकि जानेहुयेके जाननेमें कुछ प्रयोजन नहीं होता है प्राणका वस्त्ररूप जलोंका चिन्तन जो अन्यत्र उपदिष्ट न होनेसे प्राप्त नहीं था उस कार्य्य अर्थात् करनेयोग्य अप्राप्त व्याख्यान होनेसे अपूर्व है अथवा ऐसा भी अर्थ ग्राह्य है कि, करनेके अभिप्रायसे कार्य्यके आख्यान से अर्थात् स्मृतिके कथन से आचमन कथित होनेसे उसकी आवश्यकता नहीं थी प्राणका वस्त्ररूप चिन्तन यह अपूर्व (अप्राप्त) विधान कियागया है क्योंकि अप्राप्तहीके विधानका प्रयोजन होता है प्राणके यह प्रश्नसे कि, मेरा वस्त्र क्या होगा उत्तरमें जलको वस्त्र कहने और यही प्राणको वस्त्रयुक्त करता है यह कहनेसे वाक्यके आदि अन्तमें जल प्राणके वस्त्र हैं यही दृष्टि करनेका उपदेश होना प्रतीत होनेसे प्राणके जलरूप वस्त्र चिन्तनही का विधान होना निश्चित होता है छान्दोग्य में भी उक्तश्रुति में तिससे यह ब्राह्मण भोजन करते हुये पहिले व पीछे जलों से प्राणको आच्छादन करते हैं ऐसा कहनेसे जलों से परिधानही अर्थात् वस्त्ररूप चिन्तनही कहा गया है आचमन नहीं कहागया ॥ १८ ॥

एकही विद्या में दो प्रकारके कहनेके दोषके निवारण व विद्याके एक होनेके प्रतिपादन में सू० १९ अधि० ६ ।

समान एवञ्चाभेदात् ॥ १९ ॥

अनु०—समान में (एकमें) ऐसेही भेद न होनेसे ॥ १९ ॥

भाष्य—वाजसनेयक में अग्निरहस्यमें शाण्डिल्यविद्या कहीगयी है उसमें **सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत** अर्थ—सत्य ब्रह्मको उपासन करै अर्थात् सत्य ब्रह्मकी उपासना करै यह आरंभमें कहकर **स आत्मानमेवोपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसङ्कल्पमाकाशात्मानमिति** अर्थ—(सः) वह (मनोमयं) मनोमय (प्राणशरीरं) प्राण है शरीर जिसका अर्थात् प्राणका

भी प्राण प्राणका धारण करनेवाला प्राणका आत्मा (भारूपं) प्रकाशरूप (सत्यसंकल्पम् आकाशात्मानम्) सत्यसंकल्प आकाशस्वरूप आकाशके समान व्यापक निराकार (आत्मानम्) आत्मा अर्थात् परमात्माको (उपासीत) उपासन करै ऐसा वर्णन किया है और उसीमें बृहदारण्यकमें फिर शाण्डिल्यविद्यामें यह वर्णन किया है **मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यं तस्मिन् हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्चेति** अर्थ–(मनोमयः) मनोमय (भाः) प्रकाशरूप (सत्यं) सत्यस्वरूप (अयं पुरुषः) यह पुरुष (यथा) जैसे (व्रीहिः वा यवः वा) तृण व छिलके भीतर चाउर वा यव रहता है ऐसेही (तस्मिन् हृदये) उस हृदय में स्थित रहता है (स एषः) सो यह पुरुष अर्थात परमात्मा (सर्वस्य वशी) सबका वश करनेवाला अर्थात् सबको अपने वशमें रखनेवाला (सर्वस्य ईशानः) सबका स्वामी सबसे समर्थ (सर्वस्य अधिपतिः) सबका अधिपति (इदं सर्वं यत् इदं किञ्च) जो कुछ यह जगत् जड चेतन उत्कृष्ट निकृष्ट पदार्थोंसे पूर्ण है इस सबको (प्रशास्ति) शासन करता है अपनी आज्ञा व सामर्थ्यके आधीन रखता है इन वाक्यों में यह संशय होता है कि, इनमें वर्णन कीगयी विद्यामें भेद है वा नहीं है संयोग व प्रेरण वा विधायक शब्द व नाम एक होने में भी वशकरनेवाला होना आदि उपास्यके गुणोंमें भेद होनेके हेतुसे रूपमें भेद होनेसे विद्या में भेद है ऐसे संशय निवारण करनेके लिये यह कहा है समानमें ऐसेही भेद न होनेसे यह कहनेका आशय यह है कि, जैसे अग्निरहस्यमें मनोमय प्राणशरीरवान् प्रकाशरूप सत्यसंकल्प होना आदि गुणों का समूह वर्णन कियागया है ऐसेही बृहदारण्यकमें भी मनोमय होना आदि समान होने में अधिक वशी होना आदिका सत्यसंकल्प होनेके गुणसे इस हेतुसे कि, वशी होना आदि सत्यसंकल्पत्वहीके कार्य हैं भेद न होनेसे रूपभेद नहीं है इससे विद्या एकही है ॥ १९ ॥

एकही उपास्य होनेमें स्थानभेदसे भेद होने वा न होनेके विचार में सू० २०–२२ अधि० ७ ।

सम्बंधादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

अनु०–सम्बंध से ऐसेही अन्य में भी ॥ २० ॥

भाष्य–जैसे विभाग से कहीगई शाण्डिल्यविद्यामें मनोमय होना आदि गुणविशिष्ट एकही उपास्य होनेसे एक विद्याके सम्बंधसे गुणोंका उपसंहार कहागया है ऐसेही एक विद्यासम्बंध से अन्य में भी गुणोंका उपसंहार समझना युक्त है यह सूत्रवाक्यका अर्थ है अब इसका व्याख्यान यह है बृहदारण्यक में

सत्यं ब्रह्म अर्थ—सत्य ब्रह्म है यह प्रारंभ में कहकर ऐसा वर्णन किया है तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः इत्यादि अर्थ—(तत् यत् सत्यं) वह जो सत्य है अर्थात् जो पूर्वोक्त सत्य ब्रह्म है (सः) वह (असौ आदित्यः) यह प्रसिद्ध आदित्य है (यः एषः) जो यह (एतस्मिन् मण्डले) इस प्रसिद्ध आदित्यमण्डलमें (पुरुषः) पुरुष है अर्थात् मंडलअभिमानी पुरुष है (च) और (यः अयं) जो यह (दक्षिणेऽक्षन् अर्थात् अक्षिणि) दक्षिण नेत्रमें (पुरुषः) पुरुष है इत्यादि इसप्रकारसे आदित्यमण्डलमें व नेत्रमें सत्य ब्रह्मको उपास्य कहकर दो उपनिषद् (उपासनविधि वा विद्या) होना कहा है यथा तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतं तस्योपनिषदहमित्यध्यात्ममिति अर्थ—आदित्य पुरुष व नेत्रपुरुषके शिरआदि अङ्ग भूलोकआदि कल्पना करिकै उपासना करनेको जो वर्णन किया है उसके वर्णन में यह वाक्य है कि, यह उपासनाविधि (तस्य) उसकी अर्थात् आदित्यमण्डलस्थ सत्यब्रह्म पुरुषकी (उपनिषद्) उपनिषद् है अर्थात् गुप्त अज्ञात उपासनविधिका कथन है वह उपास्य को है (अहः) प्रकाशस्वरूप है अथवा प्रकाश होनेसे उसका अहः यह नाम है (इति अधिदैवतं) ऐसा वा यह अधिदैवत ब्रह्म है अर्थात इसप्रकारसे अधिदैवतरूप ब्रह्म उपास्य कहागया इससे यह अधिदैवत ब्रह्मकी उपनिषद् है नेत्रपुरुष की उपासनामें यह वाक्य कि, यह उपासना (तस्य) उसकी अर्थात नेत्रस्थ पुरुषरूप उपास्य ब्रह्मकी (उपनिषद्) उपनिषद् है वह नेत्रस्थ पुरुष को है (अहं) मैं शब्द वाच्य है (इति अध्यात्मं) इससे अध्यात्मरूप उपास्य वस्तु है इससे अहं नाम है अर्थात् अहं नामक है इन दो कहीहुई रहस्य[1] नामवाली उपनिषदों में यह संशय है कि, इनमें जैसा कहागया स्थानविशेष नियत होनेसे अवस्थाभेद है अथवा दोनों स्थानोंमें दोनों मानने योग्य हैं क्योंकि दो उपनिषद् नामसे पृथक् कहा है और शेषवाक्यमें यह भी कहा है कि, यह दोनों परस्पर एकदूसरेमें प्रतिष्ठित हैं इससे दोमेंसे एकका निश्चय नहीं होता इसमें प्रथम पूर्वपक्षमें यह सूत्र है सम्बंधसे ऐसेही अन्यमें भी अर्थात् जैसे मनोमय होनाआदि विशिष्ट एकही उपास्य होनेसे रूपभेद न होनेसे एकही विद्या होनेके सम्बंधसे शाण्डिल्यविद्यामें गुणोंका उपसंहार कहागया है ऐसेही अन्यमें अर्थात् आदित्य व नेत्रसम्बंधी सत्य ब्रह्मके एकहोनेसे विद्याके एक होनेके सम्बंधसे सत्यविद्यामें दोनों स्थानोंमें दोनों उपनिषद्में कहेहुये गुणोंका उपसंहार करना व दोनोंरूपसे ब्रह्मका उपासन करना युक्त है इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ २० ॥

---

१ एकान्तकी बात वा कर्मको रहस्य कहते हैं एकान्तमें कहने व समझने योग्य तथा करने योग्य आदित्य व नेत्रपुरुषमें अध्यास करिकै ब्रह्मउपासन विद्यारूप उपनिषद् होनेसे दोनों उपनिषदोंको रहस्य नामसे कहा है इससे रहस्य नामवाली ऐसा लिखागया है ।

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

अनु०—नहीं विशेष होनेसे ॥ २१ ॥

भाष्य—विद्याके एक होनेसे उपसंहार कहना युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है विशेष होनेसे अर्थात् उपास्यके रूप विशेष होनेसे (रूपभेद होनेसे) ब्रह्मके एक होनेमें भी एकमें आदित्यमण्डलस्थरूपसे उपास्य होना दूसरेमें नेत्रमें स्थितरूप उपास्य होना जो कहागया है इसमें स्थानसम्बन्धी होनेके भेदसे रूपमें भेद होनेसे विद्यामें भेद हैं शाण्डिल्यविद्यामें दोनोंमें एकही हृदयही के आधारसे उपास्य होनेसे उपास्यके स्थानका भेद नहीं है इससे शाण्डिल्यविद्याके समान कहना युक्त नहीं है ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

अनु०—श्रुति भी देखाती है अर्थात् जनाती वा वर्णन करती है ॥ २२ ॥

भाष्य—श्रुतिभी जिसका नेत्रआधार व जिसका आदित्यमण्डल आधार है ऐसे दोके गुणोंके उपसंहारको वर्णन करती है **तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम** अर्थ—(तस्य एतस्य) उस इसका अर्थात् उस पूर्वोक्त आदित्यस्थ ब्रह्म व इस अक्षिस्थ (नेत्रस्थ) ब्रह्मका (तदेव रूपं) वही रूप है (यत् अमुष्य रूपं) जो इसका रूप है अर्थात जो सूर्य्यमण्डलस्थ ब्रह्मका भास्वरआदि रूप हैं वही इस अक्षिस्थ ब्रह्मका है (अमुष्य) इसके सूर्यमण्डलस्थके (यौ गेष्णौ) जो दो पर्व अर्थात चिह्न वा लक्षणविशेष (रश्मि वा प्रकाश व आकृतिमण्डलविशेष) हैं (तौ गेष्णौ) वही दोनों अक्षिस्थ ब्रह्मके लक्षण हैं (यन्नाम तन्नाम) जो नाम है वह नाम है अर्थात् जो आदित्यमण्डलस्थ पुरुष ब्रह्मका उद्गीथ नाम है वही अक्षिस्थ पुरुष का नाम है इसप्रकारसे सिद्धान्तमें ब्रह्मके एक होनेपरभी स्थानभेदसे दो होने का भेद वर्णन है ब्रह्मके एक होनेकी दृष्टिसे गुणोंका उपसंहार करनाभी श्रुतिअनुसार युक्त है परन्तु स्थानभेदसे विद्यामें भेद है शाण्डिल्यविद्याके समान एकता नहीं है ॥ २२ ॥

सम्भृति व द्युव्याप्ति ब्रह्मके गुण सब विद्याओंमें उपसंहारके योग्य न होनेके विचारमें सू० २३ अधि० ८ ।

सम्भृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

अनु०—सम्भृति व द्युव्याप्तिभी इससे ॥ २३ ॥

भाष्य--सब लोकोंके धारण करनेकी जो ब्रह्मकी शक्ति है उसको सम्भृति स्वर्गआदिमें ब्रह्मकी व्याप्तिको द्युव्याप्ति कहा है तैत्तिरीयकमें यह वाक्य है **ब्रह्मज्येष्ठावीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान** इत्यादि अर्थ-(ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या) ब्रह्महीहै ज्येष्ठ आदिकारण जिनका ऐसे वीर्य अर्थात् पराक्रमविशेष सृष्टिउत्पन्न करनाआदि अथवा पराक्रमरूप भूतभौतिक कार्य वह ब्रह्मसे (सम्भृतानि) धारण कियेगये हैं अर्थात् सब वीर्य्यों व कार्य्योंका आधार व कारण ब्रह्म है (ब्रह्म ज्येष्ठं) ब्रह्म ज्येष्ठ सबसे प्रथम विद्यमान कारण-रूप (अग्रे) आगे अर्थात् देवताआदि सृष्टिउत्पत्ति से पहिले (दिवम्) स्वर्गको (आततान) व्याप्त किया अर्थात् सदा सृष्टिसे पहिले भी स्वर्गलोकआदिमें व्यापक था इसप्रकारसे ब्रह्मकी सबके धारण करनेकी शक्ति व द्युलोकमें (स्वर्गमें) व्याप्ति आदिको वर्णन किया है ऐसे नारायणसंबंधी जो खिलवाक्य हैं अर्थात् विधिनिषेधरहित वाक्य हैं उनमें ऐसे गुण जो विना उपासना विशेषके आरंभ किये ब्रह्मकी प्रशंसा वा स्तुतिमात्रमें कहेगये हैं उनका सब विद्याओंमें उपसंहार होना युक्त विदित होता है इस तर्ककी निवृत्तिके लिये यह कहा है कि, सम्भृति व द्युव्याप्ति भी इससे अर्थात् इसीसे स्थानभेदसे सर्वत्र उपसंहार करने योग्य नहीं है यदि यह आक्षेप कियाजाय कि, विना विशेष नियमके कहेहुये गुणोंका स्थानविशेषका नियम होना कैसे संभव है तो इसका उत्तर यह है कि, हृदयआदि अल्पस्थान होना जिनमें विदित होता है ऐसी अल्पस्थानगोचरविद्याओं में द्युव्याप्ति (स्वर्गकी व्याप्ति) उपसंहार करने योग्य नहीं होसक्ती उसीके साथ होनेवाले अर्थात् उसीके साथ संबंध रखनेवाले संभृतिआदि अर्थात् सबको धारण करना पालन करना तथा सबका नियंता होना आदि गुणों का उपसंहार नहीं होसक्ता इससे अल्पस्थान विषयवाली वा अल्पस्थानसम्बंधी शाण्डिल्य व दहरआदि विद्याओं में संभृति व द्युव्याप्तिआदि गुण उपसंहार के योग्य नहीं हैं शाण्डिल्य व दहरविद्यामें जो ऐसा वर्णन है **ज्यायान् पृथिव्याः यावान् वायमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः** अर्थ-पृथिवी से अधिक है जितना यह आकाश है उतनाही यह अन्तर हृदय में आकाश है इत्यादि से जिनका उपसंहार नहीं होसक्ता ऐसे गुणोंका वर्णन मनोमय पापरहित होना आदि गुणविशिष्ट उपास्य ब्रह्मके माहात्म्य प्रतिपादनके लिये है ॥ २३ ॥

पुरुषविद्या में भेद अभेद होनेके निरूपण में सू० २४ अधि० ९ ।

पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

अनु०-पुरुषविद्यामें भी इतरोंके (अन्योंके) सम्पादन न करने वा उपदेश न करनेसे ॥ २४ ॥

१ ज्येष्ठावीर्येमें वैदिक प्रयोग होनेसे नि का लोप है ज्येष्ठानि वीर्याणि के स्थानमें ज्येष्ठा वीर्या ऐसा कहा है ।

भाष्य--तैत्तिरीयकमें इसप्रकारसे पुरुषविद्याका सम्पादन किया है **तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिः** इत्यादि अर्थ-(तस्यैवं यज्ञस्य विदुषः) उस यज्ञरूप विद्वान्का (आत्मा यजमानः) आत्मा यजमान है (श्रद्धा पत्नी) श्रद्धा पत्नी है अर्थात् यजमानकी स्त्री है (शरीरम् इध्मम्) शरीर ईंधन है (उरः वेदिः) उर वेदी (लोमानि) रोमें (बर्हिः) अग्नि शिखा हैं इत्यादि छान्दोग्यमें पुरुषविद्यामें इसप्रकारसे वर्णन है **पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम्** इत्यादि अर्थ-(पुरुषः वाव यज्ञः) पुरुषही यज्ञ है (तस्य) उसके (यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि) जो चौबीस वर्ष हैं (तत् अर्थात् तानि) वह (प्रातःसवनं) प्रातः कालका सवन है ऐसेही चवालिस वर्षको मध्यदिनका सवन और अडतालिस वर्षको सायंकालका सवन कहा है इत्यादि दोनोंमें पुरुषयज्ञविषयक वाक्योंके सुननेसे यह संशय होता है कि, इनमें एकही विद्याको कहा है अथवा भेद है पुरुषविद्या यह नाम एकही होने व पुरुषके अवयवोंमें यज्ञअवयवोंकी कल्पना एकही समान होनेसे एकही रूप होने और तैत्तिरीयकमें एकसौ सोलह वर्ष जीता है यह कहनेसे आयुप्राप्तिफल सिद्ध होने और छान्दोग्य तीनों २४ वर्ष आदि सवनोंके वर्ष जोडनेसे एक सौ सोलह वर्षका आयु कहना सिद्ध होनेसे एकही फल प्राप्त होनेसे विद्याका एकही होना निश्चित होता है परन्तु यह यथार्थ न होनेसे सिद्धान्तविज्ञापनके लिये यह कहा है पुरुषविद्या में भी इतरोंके सम्पादन न करने से, इसका आशय यह है कि, सम्भृतिआदि गुणोंके समान पुरुषविद्यामें भी गुणोंका उपसंहार युक्त नहीं है अथवा पुरुषविद्या नाम से दोनों वर्णन कियेजानेसे पुरुषविद्या होनेमें भी विद्यामें भेद है किस हेतुसे अन्यके सम्पादन न करने से अर्थात् एक शाखा में सम्पादन कियेगये गुणोंका अन्य में सम्पादन न होनेसे अर्थात् जो सायंकाल प्रातःकाल व मध्यदिन हैं यह सवन हैं इत्यादि से जो तैत्तिरीयक में वर्णन कियेगये हैं वह छान्दोग्य में नहीं कहेगये छान्दोग्य में पुरुषके आयुके तीन भाग, तीन सवन कल्पना कियेगये हैं छान्दोग्य में भोजनकी इच्छा करनेआदि को जो दीक्षा होना आदि कल्पना किया है तैत्तिरीयकमें नहीं किया यजमान पत्नी आदिकी कल्पना भी अन्यप्रकारसे है इससे दोनों में रूपका भेद है तथा फलभेद होना भी विदित होता है क्योंकि तैत्तिरीयकमें पूर्वानुवाक में ब्रह्मविद्याको कहकर और उसका फल ब्रह्मके महिमाको

---

१ बर्हि नाम अग्निका है शिखाकार रोमोंको मानकर अग्निशिखाका अर्थ ग्रहण कियागया है शिखाका अर्थ औपचारिक है ।

२ होम करने अर्थात् यज्ञ व स्नानको सवन कहते हैं यहां यज्ञसे अभिप्राय है यह पुरुषका आयुकालरूप अग्निमें हवनको प्राप्त होता है इससे आयुके तीन भाग करके तीन कालका होम वा यज्ञवर्णन किया है ।

प्राप्त होना कहकर **तस्यैवं विदुषः** अर्थ-(एवं) इसप्रकारसे (तस्य विदुषः) उस विद्वान्का अर्थात् ब्रह्मज्ञानीका इत्यादि वाक्यसे पुरुषविद्याको वर्णन किया है इससे इसी ब्रह्मज्ञानीका यज्ञ होना कल्पना किया है यह सिद्ध होता है इससे ब्रह्मविद्याका अंग होनेसे पुरुषविद्यामें भी ब्रह्मका प्राप्त होनाही फल होगा अङ्गीसे भिन्न अङ्गका फल होना संभव नहीं होता इससे तैत्तिरीयकमें कहीहुई पुरुषविद्या ब्रह्मविद्याका अङ्ग होना विदित होती है छान्दोग्य में पुरुषविद्याका फल आयुका प्राप्त होना वर्णन कियागया है इससे रूप व फल दोनोंके भेदसे विद्यामें भेद है इससे एक में प्रतिपादित गुणोंका दूसरेमें उपसंहार करने योग्य नहीं है ॥ २४ ॥

वेधआदि अर्थसम्बंधी मंत्रोंका विद्याके साथ सम्बंध न होनेके वर्णनमें सू० २५ अधि० १० ।

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

अनु०-वेध आदिके अर्थभेदसे ॥ २५ ॥

भाष्य-आथर्वणिक उपनिषद्के आरंभमें **सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य** अर्थ--अभिचार[1] करनेवाला देवतासे प्रार्थना करता है कि, हे देवते !(सर्वं प्रविध्य) सबको वेधनकर अर्थात् मेरे शत्रुके सब अंगोंको वेधनकर (हृदयं प्रविध्य) हृदयको वेधन करो इत्यादि मंत्रोंको वर्णन करते हैं सामवेदवाले रहस्यब्राह्मणके आरंभमें **देवसवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव** इत्यादि अर्थ--(देवसवितः) हे देवसवितः ! (प्रसुव यज्ञं प्रसुव) यज्ञको सिद्धकर और यज्ञपतिको सिद्धकर अर्थात् यज्ञके मनोरथको सिद्धकर ऐश्वर्यको प्राप्तकर इत्यादि कहतेहैं काठक व तैत्तिरीयक **ओं शन्नो मित्रः शं वरुणः** इत्यादि अर्थ--(ओं) ओंनामसे वाच्य हे परमात्मन्! (नः) हमारे लिये (मित्रः) प्राणवायु (शं) सुखदेनेवाला हो वा सुख प्राप्त करे (वरुणः) अपान वायु (नः शम्) हमारे लिये सुखदाता हो इत्यादि वर्णन करते हैं **श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि** अर्थ-(श्वेताश्वः) श्वेत है अश्व जिसका अर्थात् उच्चैःश्रवा श्वेत अश्व है जिसका सो तू हे इन्द्र! (हरितनीलः असि) हरित तृणविशेषके समान नील है इत्यादिक शाट्यायनी कहते हैं और ऐतरेयियों का महाव्रतब्राह्मणमें यह वाक्य है **इन्द्रो ह वै वृत्रं हत्वा महानभवत्** अर्थ-(इन्द्रः) इन्द्र (ह वै) निश्चय करिकै (वृत्रं) वृत्रको अर्थात् वृत्रासुरको (हत्वा) मारकर (महान्) श्रेष्ठ (अभवत्) हुआ इत्यादि कौषीतकी भी महाव्रतमें यह कहते हैं **प्रजापतिर्वै सम्वत्सरस्तस्यैष आत्मा यन्महाव्रतम्** अर्थ-(प्रजापतिः) प्रजापति (वै) निश्चय करिकै (सम्वत्सरः) सम्वत्सर

---

[1] जार वा मारडालनेके लिये जो कर्म वा अनुष्ठान कियाजाता है उसको अभिचार कहते हैं ।

है (तस्य) उसका (एषः आत्मा) यह आत्मा है (यद् महाव्रतं) जो महाव्रत है वाजसनेयी प्रवर्ग्यब्राह्मण में यह कहा है **देवा ह वै सत्रं निषेदुः** अर्थ-(देवाः ह वै) देवता निश्चयसे (सत्रं) यज्ञको (निषेदुः) प्राप्त हुये इत्यादि इन वाक्योंमें यह संशय है कि, **सर्वं प्रविध्य शन्नो मित्रः** इत्यादि मंत्रप्रवर्ग्यआदि कर्म विद्याके अङ्ग हैं वा नहीं हैं यह भासित होता है कि, विद्याके अङ्ग हैं क्यों अंग हैं ब्रह्मविद्याके समीपही कहेजानेसे विद्याका अङ्ग होना प्रतीत होता है यद्यपि सर्वं प्रविध्य (अर्थ-सबको वेधन करो वा विदीर्ण करो) इत्यादि मंत्रोंका व प्रवर्ग्यआदि कर्मका बलवान् श्रुतिवाक्योंसे कर्मोंमें योग होना विदित होता है तथापि **शन्नो मित्रः** तथा **सह नाववतु सह नौ भुनक्तु** इत्यादि अर्थ-यह प्रार्थना है कि, परमेश्वर (नौ) हम दोनोंको अर्थात् शिष्य व आचार्यको (सह) साथही (अवतु) तृप्त संतुष्ट करे (नौ) हम दोनोंकी (सह भुनक्तु) साथ रक्षा करे इत्यादि मन्त्रोंका अन्यमें विनियोग (योग वा सम्बंध) न होनेसे और विद्याका अधिकार होनेसे विद्याहीका अङ्ग होना विदित होता है इससे सब विद्याओंमें यह मंत्र उपसंहारके योग्य हैं ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेमें यह उत्तर है वेधआदिके अर्थभेदसे अर्थात् अंगोंको वेधनकर हृदयको वेधनकर तथा शन्नो मित्रः इस मंत्रके शेषवाक्यमें सत्य कहूँगा और सह नाववतु अर्थात् शिष्य व आचार्यकी परमेश्वर रक्षा करै इत्यादि शब्दोंसे अभिचार व पठन व यज्ञआदि में इनका विनियोग विदित होनेसे इनका विद्याका अङ्ग होना सिद्ध नहीं होता वेधनआदिका विद्याके साथ कुछ सम्बंध न होनेसे वेधआदि अर्थोंके भेदसे वेधआदि सम्बंधीवाक्य समीप पठित होनेमें समीप पाठमात्र विद्याका अङ्ग होनेका विशेष हेतु न होनेसे विद्याके अङ्ग नहीं हैं ॥ २५ ॥

ब्रह्मके साक्षात् करनेमें ब्रह्मज्ञानीके पाप व पुण्य नाश होनेके वर्णनमें सू० २६ अधि० ११ ।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

अनु०-हानिमें भी उपायन शब्द शेष होनेसे कुशाछन्दस्तुति उपगानके समान है सो कहागया है ॥ २६ ॥

भाष्य-हानिमें अर्थात् हानिवाक्यमें (हानिका जिसमें वर्णन है उस वाक्य में) भी उपायन है उपायन शब्द शेष होनेसे अर्थात् हानिवाक्यका शेष होनेसे यह कुशाछन्दस्तुति उपगानके समान है वा समझना चाहिये सो कहागया है अर्थात् पूर्वकाण्डमें (कर्मकाण्डमीमांसामें) कहागया है यह सूत्रका वाक्यार्थ

है अब इसका व्याख्यान यह है कि, छन्दोग यह कहते हैं **अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवानि** अर्थ-(कृतात्मा) मैं शब्द इसमें वाक्यसम्बंधसे ग्राह्य है मैं कृतात्मा अर्थात् कृतार्थात्मा निर्मल कियाहुआ चित्त (अश्व इव) अश्वके समान अर्थात् जैसे अश्व (रोमाणि विधूय) रोमोंको कँपाकर अर्थात् धूलियुक्त रोमोंको व जीर्ण रोमोंको झाडकर निर्मल होता है ऐसेही (पापं विधूय) पापको छाडकर अर्थात् त्यागकर निर्मल हो (चन्द्रः इव) जैसे चन्द्रमा (राहोः मुखात्) राहुके मुखसे (प्रमुच्य) छूटकर स्पष्ट होता है ऐसेही (शरीरं) शरीरको (धूत्वा) त्यागकर देह इन्द्रियके अभिमानसे छूटकर अर्थात् मुक्त हो (अकृतं ब्रह्मलोकं) किसीका कार्य नहीं अर्थात् नित्य निश्चल ब्रह्मलोकको (अभिसंभवानि कोऽर्थः अभिसंभवामि) सबप्रकारसे प्राप्त होताहूं आथर्वणिक यह कहते हैं **विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति** अर्थ-(विद्वान्) ब्रह्मज्ञानी (निरंजनः) शुद्धस्वरूप (पुण्यपापे) पुण्य व पापको (विधूय) त्यागकर (परमं साम्यं) ब्रह्मके परम समभावको (उपैति) प्राप्त होता है शाट्यायनी ऐसा वर्णन करते हैं **तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्** अर्थ-(तस्य) उसके ब्रह्मज्ञानीके (पुत्राः) पुत्र (दायम् उपयन्ति) धनको प्राप्त होते हैं अर्थात् मरेहुये ब्रह्मज्ञानीके धनको पुत्र ग्रहण करते हैं (सुहृदः) मित्रजन (साधुकृत्यां) पुण्योंको व (द्विषन्तः) द्वेष करनेवाले (पापकृत्यां) पापकर्मोंको (उपयन्तिः) प्राप्त करते वा ग्रहण करते हैं। तथा कौषीतकी यह कहते हैं **तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्ति अप्रिया दुष्कृतमिति** अर्थ-(तत्) उससे ज्ञान बल वा प्रभावसे ज्ञानी (सुकृतदुष्कृते) पुण्य व पापको (विधुनुते) त्यागता है (तस्य) उसके (प्रियाः ज्ञातयः) मित्र व स्वजन जन (सुकृतं) पुण्यको (उपयन्ति) प्राप्त करते हैं (अप्रियाः) विरोध रखनेवाले (दुष्कृतं) पापको इत्यादि इसप्रकारसे कहीं पापपुण्योंकी हानि व कहीं प्रिय व अप्रियों में उनकी प्राप्ति कहीगयी है और कहीं दोनों का कथन है हानि व उपायन एक एक विद्यामें भिन्न वर्णन कियेजानेमें भी दोनों सब विद्याओंके अङ्ग स्थापन कियेजानेके योग्य हैं सब ब्रह्मविद्याओंमें से प्रत्येक ब्रह्मविद्यामें निष्ठ व ब्रह्मको प्राप्त होनेवाले ज्ञानीके पाप पुण्यकी हानि अवश्य होनेयोग्य होनेसे और विना भोगको प्राप्तहुये पाप पुण्यसे सम्बंध छूटनारूप हानिही का विषय उपायन (अन्यत्र जाना वा प्राप्त होना) होनेसे हानि व उपायन सब

१ उपायन शब्दका अर्थ कोशसे उपहारके समान भेट वा नजर है जो वस्तु भेटमें दीजाती है वह देनेवाले से सम्बंधरहित हो जिसको दीजाती है उसकी होजाती है ऐसेही ज्ञानी के पुण्य पापोंका सम्बंध ज्ञानीसे छूटकर उसके मित्र व अमित्रमें प्राप्तहोता है इससे मित्र व अमित्रोंके भेटके समान होजानेसे उपायन शब्द कहा है मुख्य अर्थसे इच्छासे-

विद्याओंके अङ्ग होसके हैं ऐसा बुद्धिसे ग्राह्य होनेपरभी श्रुतिवाक्योंमें भेद होनेसे यह विचार कियाजाता है कि, हानिचिन्तन व उपायनचिन्तन व दोनोंका चिंतन इन तीनोंका विकल्प मानना चाहिये अथवा उपसंहार करना चाहिये,इसमें पूर्व-पक्ष यह है कि, पृथक् कहेजानेसे विकल्प मानना युक्त है जो दोनोंको एकमें ग्रहण करनेका आशय होता तो सर्वत्र दोनों कहेजाते ऐसा केवल कौषीतकियोंहीके वाक्यमें है अन्यमें नहीं है इससे अन्यमें दोनोंका उपसंहार कहना युक्त नहीं है अन्यशाखाओंमें एकही कहने दोनों न कहनेका विकल्पही प्रयोजन है इसके उत्तरमें यह सूत्र है कि, हानिमें भीउपायन है उपायनशब्द शेष होनेसे इत्यादि हानिमें भी कहनेका आशय यह है कि, विकल्प मानना युक्त नहीं है हानिवाक्य में भी उपायन है केवल हानि और केवल उपायन सुनने में दोनों का परस्पर संग्रह अवश्य होने योग्य है किस हेतुसे उपायन शब्द शेष होनेसे अर्थात् हानि-वाक्य का उपायन शब्द शेष होनेसे अथवा उपायनवाक्यका शेष होना भी कहना युक्त है ज्ञानी से त्याग कियेगये पुण्यपापोंके प्राप्तिस्थानका वाचक उपायन-वाक्य है अन्यत्र कहाहुआ उपायन वाक्य अन्यत्र कहेहुये हानिवाक्य का शेष है इससे हानिवाक्य में हानिमात्रके कहने से उपायनका भी ग्रहण होता है कैसे हानिवाक्यका शेष उपायनवाक्य होनेसे हानिमात्र कहनेमें भी उपायनका ग्रहण होता है कुशाच्छन्दस्तुति उपगानके समान यह दृष्टान्त है इसका विवरण यह है कि, कौषीतकी वा कालापि यह कहते हैं **कुशा वानस्पत्याः स्थता मा पात** अर्थ-- (कुशाः) हे कुशा ! (वानस्पत्याः) तुम वन-स्पति से उत्पन्न हो अर्थात् वन में स्थित महावृक्षसे उत्पन्न हो (स्थता) ऐसे तुम (मा पात) मुझको रक्षा करो अर्थात् मेरी रक्षा करो यह यज्ञकर्ता यजमानकी प्रार्थना है इसमें सामान्यसे वनस्पति होनामात्र ज्ञात होता है परन्तु शाट्यायनी यह कहते हैं **कुशा औदुम्बर्यः** अर्थ-- औदुम्बरी कुशा हैं उद्गाताओंके स्तोत्रगणनेके शलाकाओंको औदुम्बरी व औदु-म्बर कहते हैं इससे विशेष होना निश्चित होता है यह विशेष कहना कौषी-तकी शाखामें भी ग्रहण कियाजाता है इससे यह वाक्य कौषीतकी शाखा के वाक्यका शेष है इसप्रकारसे शाखान्तरमें कहेहुये विशेषका जिस शाखामें नहीं कहागया उस शाखान्तरमें ग्रहण होता है तथा देव व असुर यह छन्दके भेद हैं जहां कहीं **देवासुराणां छन्दोभिः** अर्थ--देव व असुरछन्दोंसे इतनाही

--ज्ञानीका देना व अन्यका ग्रहण करना दोनों असंभव हैं इससे उपायन शब्दका अर्थ ग्रहणका भी कहना युक्त नहीं है यद्यपि उपचार से कहनेसे ग्रहण अर्थ कहना भी अयुक्त नहीं है तथापि उपसर्ग व अय् गतौ धातुसे उपायन शब्द सिद्ध होनेसे अन्यके समीप या अन्यत्र जाना अर्थ उत्तम व घटित होनेयोग्य समझकर अन्यत्र जाना वा प्राप्त होना यह अर्थ रक्खागया है ।

कहा है इसमें विना विशेष कहनेके कौन छन्द पूर्व है कौन पर है यह ज्ञात नहीं होता पैङ्गिके वाक्यसे विशेष होनेका अर्थात् देवछन्द पूर्व होनेका निश्चय होता है यथा यह पैङ्गिवाक्य है **देवच्छन्दांसि पूर्वाणि** अर्थ–देवछन्द पूर्व हैं यह वाक्य शेष समझाजाता है तथा पैङ्गशाखामें षोडशिके स्तोत्रमें कोई कालविशेष नहीं कहा आर्चश्रुतिमें स्तोत्रपठन का समय सूर्य्योदय कहा है यह विशेषवाक्य पूर्ववाक्य का शेष है तथा **ऋत्विज उपगायन्ति** अर्थ–ऋत्विज गाते हैं इसमें अविशेष अर्थात् भेदरहित ऋत्विजोंके उपगान की प्राप्ति होनेमें **नाध्वर्युरुपगायेत** अर्थ–अध्वर्यु (यजुर्वेदपाठी) उपगान न करे इस वाक्य से यह विशेष ज्ञात होता है कि, अध्वर्यु से भिन्न अन्य ऋत्विज उपगान करें इसप्रकारसे जैसे कुशाआदि में विशेषका ग्रहण अन्य श्रुतियों से होता है ऐसेही हानि में उपायनका ग्रहण अन्य शाखाकी श्रुति से होता है सो यह कहागया है अर्थात् सो यही पूर्वकाण्डमें (पूर्वमीमांसामें) कहागया है यथा **अपि तु वाक्यशेषत्वादन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्** अर्थ–(अपि तु) निश्चय करिके (वाक्यशेषत्वात्) वाक्यके शेष होनेसे और (विकल्पस्य) विकल्पके (अन्याय्यत्वात्) न्यायके योग्य न होनेसे अर्थात् विकल्पका मानना न्याय से उचित व युक्त न होनेसे (विधीनां) विधियोंका (एकदेशः स्यात्) एकदेश होगा अर्थात् जिससे पूर्ण अभिप्राय सिद्ध वा निश्चित होवै ऐसे अनेकस्थल शाखाओं में कहेहुये विधियों वा विधिवाक्योंका एकदेश होगा अर्थात् समझाजायगा इसका दृष्टान्त यह है कि, अग्निष्टोमप्रकरणमें दीक्षित हवन न करै यह कहा है और जबतक जीता रहै तबतक अग्निहोत्रका हवन करै दोनों प्रकारके वाक्योंमेंसे एकका निश्चय नहीं होता इसका निर्णय अन्य श्रुतिसे होता है जिसमें यह वर्णन किया है कि, दीक्षितका अधिकार नहीं है दीक्षितसे भिन्न अन्यके लिये जीवनपर्य्यन्त अग्निहोत्र करनेको कहा है यह विशेषवाक्य शेष है ऐसा निश्चय करने योग्य है ऐसेही यहां समझना चाहिये इसप्रकारसे हानि व उपायन वाक्य दोनोंके एकवाक्य होनेसे केवल हानि वा केवल उपायनके न होनेसे विकल्पका होना सिद्ध नहीं होता विधूय विधुनुते यह शब्द जो श्रुतिमें कहा है यह धूञ् कंपने धातुसे होते हैं परन्तु यहां उक्त श्रुतियोंमें कांपनेका अर्थ घटित नहीं होता धातुओंके अर्थ जो धातुपाठमें पठित हैं वह उपलक्षणमात्रके लिये हैं शिष्टोंके प्रयोगसे पठितअर्थोंसे भिन्नअर्थ ग्रहण कियेजाते हैं इसीसे यह कहा है कि, धातुओंका अनेक अर्थ है इससे कांपना अर्थ घटित न होनेसे यहां नाशकरने वा दूरकरनेका अर्थ ग्रहण कियागया है जो विद्वान्के पुण्य व पाप सुहृद् व द्वेषकरनेवालोंमें जाना कहाहै यह मुख्यअर्थसे संभव न होनेसे क्योंकि पुण्यपाप चेतनमूर्तिमान् पदार्थ नहीं हैं कि, उनका चलना व दूसरेस्थानमें जाना स्वीकार कियाजाय उपचारसे

केवल ज्ञानकी स्तुतिकेलिये कहना विदित होताहै अर्थात् यह आशय है कि, ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे पापपुण्य नष्ट होजाते हैं कर्म व बंध कारणके नाश होनेसे ज्ञानी अतिउत्तम दोषरहित होता है ऐसे दोषरहित देवतारूप ब्रह्मज्ञानीकी जो निन्दा करता है व उससे द्वेष करता है उसको मिथ्या निन्दा व द्वेषका पाप व जो प्रशंसा व उससे मित्रता करता है उसको पुण्य व परमलाभ होता है यही ज्ञानीके पाप व पुण्योंका सुहृद् व द्वेष करनेवालों में प्राप्त होना है ज्ञाति वा अन्य कोई हो जो ब्रह्मज्ञानीके सुहृद् व द्वेष करनेवाले होते हैं वह पुण्य व पापभागी होते हैं ॥ २६ ॥

विद्वान्के देहवियोगहीके साथ पापपुण्यके वियोग होनेके वर्णन में सू० २७ से ३१ अ० १२ ।

साम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥

अनु०–देहत्याग (मरण) समयमें तरणे योग्यके अभावसे (न होनेसे) वैसेही अन्य कहते हैं ॥ २७ ॥

भाष्य–पुण्य व पापोंका हान व उपायन सब विद्याओंमें चिन्तन योग्य है यह कहागया उसमें यह विचारणीय है कि, हान देहके वियोग होनेके समयमें ही होता है अथवा देहसे निकलकर जानेके मार्ग में होता है क्योंकि दोनों प्रकारके वाक्य सुनजाते हैं यथा कौषीतकी ऐसा वर्णन करते हैं **स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकं गच्छति** अर्थ–(सः) वह अर्थात् ब्रह्मज्ञानी (एतं देवयानं पन्थानं) इस देवयान मार्गको (आपद्य) प्राप्त होकर (अग्निलोकं) अग्निलोकको (गच्छति) जाता है यह आदिमें कहकर **स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसाऽत्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते** अर्थ–(सः) वह (विरजां नदीं गच्छति) विरजा नदीको जाता है वा प्राप्त होता है (तां) उसको (मनसा अत्येति) मनसे पार होता है (तत्) वह (सुकृतदुष्कृते विधुनुते) पुण्य व पापको त्यागता है इस वाक्यमें मार्गमें पुण्य व पापका नाश होना प्रतीत होता है छन्दोगताण्ड्यशाखावाले यह कहते हैं कि, जैसे अश्व रोमोंको झाडकर निर्मल होता है ऐसेही पाप पुण्यको त्यागकर निर्मल हो ज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त होता है यह श्रुति पूर्वसूत्रमें वर्णन कीगई है इस श्रुतिसे तथा पूर्वोक्त शाट्यायनककी श्रुति से जिसमें यह वर्णन किया है कि, पुत्र धनको प्राप्त होते हैं सुहृद् पुण्यको व द्वेष करनेवाले पापको देहसे वियोग होनेके कालही में पुण्य व पापका नाश होना विदित होता है दोनों प्रकारके वाक्य सुनने से यह अनुमित होता है कि, पुण्य व पापके एकदेश

का नाश देहके वियोगसमय में होजाता है शेषका (बाकी रहेका) मार्गमें होता है इसमें सिद्धान्तविज्ञापनके लिये सूत्रमें यह कहा है कि, देह-त्यागसमयमें इत्यादि देहसे वियोग होनेके समयमें देहसे निकलनेसे पूर्व क्षणहीमें सम्पूर्ण पुण्य व पाप नष्ट होजाते हैं किस हेतुसे यह निश्चित होता है तरणेयोग्य कोई वस्तु न होनेसे अर्थात् ब्रह्मज्ञानीको देहसे वियोग होनेके पीछे पुण्य व पापसे तरणेयोग्य भोग अर्थात् प्राप्तहोने योग्य भोग न होनेसे विद्याफलरूप ब्रह्मकी प्राप्तिसे भिन्न पुण्य व पापसे भोगनेके योग्य सुख व दुःख नहीं रहते इससे मार्ग में छूटना कहना युक्त नहीं है वैसेही अर्थात् ऐसेही देहका वियोग होनेपर ब्रह्मकी प्राप्तिमात्र होना सुख दुःखका न होना अन्य शाखावाले कहते हैं यथा **अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः** अर्थ--(अशरीरं सन्तं) शरीररहित सन्तको (प्रियाप्रिये) सुख व दुःख (न स्पृशतः) स्पर्श नहीं करते तथा **एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते** अर्थ -(एषः सम्प्रसादः) यह ज्ञानी प्रसन्नरूप (अस्मात् शरीरात्) इस शरीरसे (समुत्थाय) उठकर अर्थात् पृथक् होकर (परं ज्योतिः) पर ज्योतिको अर्थात् परंज्योतिप्रकाशस्वरूप ब्रह्मको (उपसम्पद्य) प्राप्त होकर (स्वेन रूपेण) अपने शुद्ध स्वरूपसे (अभिनिष्पद्यते) सिद्ध होता है इत्यादि ॥ २७ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

अनु०–इच्छासे दोनोंके विरोधरहितहोनेसे ॥ २८ ॥

भाष्य–जैसा पूर्वसूत्र में कहागया है इसप्रकारसे सुकृत व दुष्कृत (पुण्य व पाप) के नाशका काल निश्चित होने में दोनों श्रुति व अर्थस्वभाव दोनोंका जिसमें विरोध न हो ऐसा यथेष्ट (इच्छानुकूल) पदोंके अन्वय (सम्बंध) को वर्णन करना चाहिये अर्थात् कौषीतकीवाक्य में **तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते** अर्थ–वह पुण्य व पापको त्याग करता है यह जो वाक्यका अंत वा आगेका अवयव है इसको **एतं देवयानपन्थानमापद्य** अर्थ–इस देवयान मार्गको प्राप्त होकर इत्यादि इस आदि अवयवसे पहिले योजितकरके वाक्यका अर्थ समझना चाहिये ऐसे अर्थ के स्वभावसे अर्थात् अर्थांशमें दोष न प्राप्त होनेके लिये जैसा इष्ट है उसप्रकारसे पदोंका अन्वय करने से श्रुतिवाक्य व अर्थ दोनों विरोधरहित होनेसे यथार्थ अर्थ घटित होनेके लिये यथेष्ट अन्वय करना उचित है जैसे कर्मकाण्डमें यह वाक्य है **अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचति** अर्थ–अग्निहोत्रको हवन करता है यवागूको पकाता है इस वाक्यमें अर्थस्वभावसे पदोंके क्रमके विरुद्ध पदोंका अन्वय कियाजाता है अर्थात् यवागू को पकाता है अग्निहोत्रका हवन करता है ऐसा कहनेसे अर्थकी संगति होती है पदक्रमसे नहीं होती क्योंकि अग्निहोत्रही के लिये यवागू अपेक्षित है

अग्निहोत्र होजाने में यवागूका पकानाही निष्प्रयोजन है ऐसेही कौषीतकी वाक्यका अन्वय समझना चाहिये अब इस में यह पूर्वपक्ष है ॥ २८ ॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

अनु०-दोनों प्रकारमें गतिका अर्थवत्त्व (अर्थवान् होना) है जिससे कि, अन्यथा होनेमें विरोध है ॥ २९ ॥

भाष्य-सुकृत व दुष्कृत (पुण्य व पाप) के एकदेशका देहके वियोगके समयमें व शेषका (बाकी रहेका) पीछे दोनोंप्रकारसे कर्मके नाश होनेहीमें गतिका अर्थवान् होना अर्थात् देवयान गतिका अर्थवान् होना सिद्ध होता है किस हेतुसे दोनोंप्रकारही से कर्मक्षय होने में देवयानगतिप्रतिपादक श्रुतिक अर्थवान् होना सिद्ध होता है जिससे की अन्यथा होनेमें विरोध है क्योंकि देहके वियोगकालही में सब कर्मोंके क्षय होनेमें सूक्ष्म शरीरका भी नाश होजायगा ऐसा होनेमें केवल आत्माका गमन संभव नहीं होता है इससे मरणसमयमें ब्रह्मज्ञानी के सब कर्मोंका क्षय होना संभव नहीं अब इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ २९ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

अनु०-सिद्ध है उसके लक्षणअर्थकी उपलब्धि होनेसे लोकके समान ॥ ३० ॥

भाष्य-सिद्ध है अर्थात् मरणकालमें सब कर्मोंका क्षय होना सिद्ध है कैसे सिद्ध है उसके लक्षणके अर्थकी उपलब्धि (प्राप्ति) होनेसे अर्थात् क्षीणकर्म व अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे प्रकटहुये मुक्तका भी देहसम्बंध होनेके लक्षणअर्थकी उपलब्धि होनेसे यथा यह श्रुति है **परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्य्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स एकधा भवति त्रिधा भवति** इत्यादि अर्थ-(परं ज्योतिः) परं ज्योति परमात्माको (उपसम्पद्य) अतिसमीप प्राप्त होकर मुक्तात्मा (स्वेन रूपेण) अपने रूपसे अर्थात् शुद्ध ज्ञानयुक्त स्वरूपसे (अभिनिष्पद्यते) सिद्ध होता है (सः) वह (तत्र) उसमें अर्थात् मुक्तिअवस्थामें वा ब्रह्मलोकमें (जक्षन्क्रीडन्रममाणः) हँसते क्रीडा करते रमणकरता हुआ (पर्य्येति) सब दिशाओंमें सर्वत्र गमन करता वा विचरता है (सः) वह (स्वराट् भवति) आपही ऐश्वर्यवान् होता है (तस्य) उसका (सर्वेषु लोकेषु) सब लोकों में (कामचारः भवति) इच्छा अनुसार विचरना होता है (सः एकधा भवति) वह एकप्रकारका होता है (त्रिधा भवति) तीनप्रकारका होता है इत्यादि एक प्रकारआदि कहनेका आशय यह है कि, एक

शरीर तीन शरीर ऐसेही अनेक शरीर धारण करके नानाप्रकार इच्छाअनुसार सुखभोग करनेको कहा है इससे मोक्षमें भी देह सम्बंध नामक अर्थ की उप- लब्धि होती है अर्थात् देहसम्बंध होना विदित होता है इससे सूक्ष्मशरीरयुक्त कर्मरहितका भी देवयान मार्गसे जाना सिद्ध होता है यदि यह शङ्का हो कि, सब कर्मोंके नष्ट होनेमें सूक्ष्म शरीरका भी होना सम्भव नहीं है इसका उत्तर यह है- कि, सांसारिक सुख दुःख भोगोंके साधन स्थूल शरीर और सब कर्मोंके नाश होने पर भी ब्रह्मज्ञानही ब्रह्ममें प्राप्तहोनेके लिये देवयान मार्गसे जानेकेलिये सूक्ष्म शरीरको स्थापित करता है अर्थात् विद्याके माहात्म्यरूप ब्रह्मके नियमसे सूक्ष्म शरीर स्थित रहता है जैसे लोकमें खेतोंके सींचनआदिके लिये बनायेगये तडाग- आदिक अन्न उत्पन्न होजाने व उसकी इच्छाआदिके न रहनेमें भी वही तडाग- आदिक को जो बनाये रखते हैं वह उसमें पानआदिको करते हैं ऐसेही लोकके समान देवयान मार्गसे जाने व ब्रह्ममें प्राप्त होनेके लिये सूक्ष्म शरीरका स्थापित रहना समझना चाहिये अब यह शङ्का है कि, देवयान मार्गसे जानेके लिये ज्ञानीका सूक्ष्म शरीर होना माननेपर भी यह जो कहा है कि, सब कर्मोंके क्षय होनेसे ज्ञानी देवयानमार्गसे ब्रह्मलोकको प्राप्तहो मुक्त होता है सम्पूर्ण दुःख सुखके अनुभवसे रहित होता है फिर जन्ममरणको नहीं प्राप्त होता है यह युक्त नहीं है क्योंकि, इतिहास पुराणोंमें वसिष्ठ अपान्तरतमआदि दक्ष नारद- आदि परम तत्त्व जाननेवालोंकी देहान्तरमें उत्पन्न होने व दुःख सुख भोग करनेकी अनेक कथा हैं ऐसे ज्ञानियोंके पुनर्जन्म होनेसे **ज्ञानान्मुक्तिः** अर्थ- ज्ञानसे मुक्ति होती है यह श्रुतिको कहना केवल विद्याके प्रशंसामात्रके लिये है ज्ञानसे भी मुक्ति नहीं होती अथवा मुक्तका भी जन्म होता है यह विदित होता है दोमेंसे तत्त्व क्या है यह निश्चित नहीं होता इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ३० ॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३१ ॥

अनु०—जबतक अधिकार है अर्थात् अधिकार रहनेतक अधिकारवालोंकी स्थिति है ॥ ३१ ॥

भाष्य—अधिकारवालोंकी अर्थात् अपान्तरतम वसिष्ठआदि अधिकार- वालोंकी अधिकार रहनेतक अवस्थिति है अर्थात् वेदप्रवर्तनआदि जिन अधि- कारोंमें परमेश्वरने उनको नियुक्त किया है जबतक उनके अधिकारके रहनेका काल है तबतक उनकी स्थिति है इससे अधिकारके अन्त होनेके पूर्वही बीचमें जो अपान्तरतम वसिष्ठआदि का अन्य देहमें उत्पन्न होना वर्णन है वह किसी निमित्तसे होने व उनके प्रारब्धके अधिकारके समाप्त न होनेसे उनकी स्थिति है उनके

प्रारब्धका क्षय नहीं हुआ न देवयानमार्गको प्राप्तहोकर मुक्त हुये हैं इससे अपान्तरतम वसिष्ठआदिके पुनर्जन्मके दृष्टान्तसे विद्याके फलमें दोष आरोपण नहीं होसक्ता अर्थात् जो यह इतिहास पुराणआदिमें कथा हैं कि, अपान्तरतम-वेदाचार्य विष्णुकी आज्ञासे कलियुग व द्वापरकी सन्धिमें व्यास हुये ब्रह्माके मनसे उत्पन्न ब्रह्माके पुत्र वसिष्ठ निमिके शापसे पूर्व देहको त्यागके मित्रावरुणसे उत्पन्न हुये ऐसेही भृगु सनत्कुमार दक्ष नारदआदिको किसीका पूर्व देह पतित होनेमें देहान्तर को प्राप्त होना और किसीका उसी शरीरमें स्थित रहकर योग ऐश्वर्यबलसे अनेक शरीरका धारण करना वर्णन किया है यह देहान्तरका प्राप्त होना जो प्रारब्धके विना समाप्त हुये व कर्मविशेषसे हुआ है और देवयानसे विना ब्रह्मलोकको प्राप्तहो मुक्तहुये ज्ञानियोंका कहागया है, ज्ञानके फल मोक्षमें दोष प्राप्त होनेका हेतु नहीं होसक्ता ॥ ३१ ॥

सब ब्रह्मउपासकोंका अर्चिरादिमार्गसे गमन करनेके वर्णनमें

सू० ३२ अ० १३ ।

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमाना-भ्याम् ॥ ३२ ॥

अनु०—नियम नहीं है शब्द व अनुमानसे (श्रुति व स्मृति-प्रमाणसे) सबोंका विरोध नहीं है ॥ ३२ ॥

भाष्य—उपकोसलआदि विद्या वा उपासनोंमें देवयान मार्गसे गति होनेका वर्णन है शाण्डिल्यविद्या वैश्वानरविद्याआदिमें नहीं है इससे यह शङ्का होती है कि, जिन उपासनों में देवयानमार्गसे ब्रह्मकी प्राप्तिको कहा है जो उनमें निष्ठ हैं उनहीको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है अथवा सब ब्रह्मके उपासनोंमें निष्ठ-हुवोंको होती है विचारनेसे यह विदित होता है कि, जिनमें अर्चिरादि गतिको अर्थात् देवयान मार्गका वर्णन किया है उनहीमें निष्ठ उपासकोंको होती है अन्य उपासन निष्ठोंको नहीं होती इसके समाधानके लिये सूत्रमें यह कहा है नियम नहीं है श्रुति व स्मृतिसे सबका विरोध नहीं है इसका व्याख्यान यह है कि, सब उपासनोंमें निष्ठ अर्चिरादि गतिसे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं उपकोसल-आदि उपासनोंमें निष्ठही की अर्चिरादि गति होनेका नियम नहीं है सबका उसी अर्चिरादि गतिसे अर्थात् सबके देवयान मार्गसे जानेहीमें श्रुति स्मृति-प्रमाणसे विरोध नहीं है अन्यथा विरोध होगा अथवा सर्वेषां शब्द जो सूत्रमें है उसके स्थानमें सर्वासां ऐसा भी पाठ देखनेमें आता है सर्वासां पाठ रखनेसे सूत्रका अर्थ ऐसा ग्राह्य है कि, पंचाग्निविद्या उपकोसलविद्याआदि जिनमें अर्चिरादि गतिका वर्णन है उनहीमें उससे गमन होनेका नियम नहीं है सब

विद्याओंमें जिनमें अर्चिरादिगतिका वर्णन नहीं है उनमें भी उसको कथित समझना चाहिये इससे श्रुति व स्मृतिसे अर्चिरादि गति होनेमें सब विद्याओंका विरोध नहीं है अर्थात् सबकी संगति है परन्तु तात्पर्य इसका यही है कि,सब विद्याओंमें कहेहुये उपासनप्रकारसे उपासना करनेवाले सब उपासकोंको श्रुति स्मृतिप्रमाणसे अर्चिरादि गति होती है इससे जैसा पाठ सूत्रमें रक्खागया है व प्रथम व्याख्यान कियागया है वही उत्तम है श्रुति स्मृतिप्रमाण में से प्रथम श्रुतिप्रमाण यह है छान्दोग्य व वाजसनेयक में पंचाग्निविद्या में सब ब्रह्मउपासननिष्ठोंका अर्चिरादि मार्ग से गमन होना कहा है यथा **य एवमेतद्विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति** अर्थ–(ये) जे अर्थात् जे गृहस्थ (एवम्) इसप्रकारसे जैसा कहागया है (एतत्) इसको अर्थात् पंचाग्निदर्शन वा ज्ञानको अर्थात् पंचाग्निविद्याको (विदुः) जानते हैं (च) और (ये) जो (इमे अरण्ये) यह अरण्य अर्थात् वानप्रस्थ व संन्यासी (श्रद्धां सत्यं) श्रद्धा व सत्यको (उपासते) उपासन करते हैं (ते) वह (अर्चिषं) ज्योतिको अर्थात् अग्निलोकको (अभिसंभवन्ति) प्राप्त होते हैं अर्थात् देह त्यागकर प्रथम अग्निलोकको जाते हैं इत्यादि अर्थ यही है जो वर्णन कियागया है वाजसनेयक व छान्दोग्यवाक्यके पाठमें कुछ भेद है वाजसनेयकवाक्य का पाठ **ये एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति** और छान्दोग्यका **तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासतेऽर्चिषमभिसंभवन्ति** इसप्रकारसे पंचाग्निविद्यानिष्ठ और वानप्रस्थ संन्यासी इत्यादि कहने से सब श्रद्धापूर्वक ब्रह्मके उपासकोंको कहकर अर्चिरादि मार्ग से जानेको कहा है इससे सब उपासकों का अर्चिरादि मार्ग से गमन सिद्ध होता है जो यह संशय होवे कि, वाक्य में ब्रह्मके उपासनको नहीं कहा श्रद्धा व तपको उपासन करते हैं ऐसा कहा है तो यहां श्रद्धा व तपशब्द ब्रह्मवाचक है यथा इस श्रुतिमें कहा है **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम् ।** अर्थ–सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म है सत्यही जिज्ञासा करने योग्य है तपशब्द भी एकही अर्थके साथ सम्बंध रखनेसे ब्रह्मवाचक है श्रद्धापूर्वक ब्रह्मका उपासन अन्यत्रभी कहागया है यथा सत्यही जिज्ञासा करनेयोग्य है यह प्रथम कहकर **श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्या** अर्थ–श्रद्धाही जिज्ञासा कियेजानेके योग्य है तथा स्मृतिमें भी कहा है **अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः** अर्थ–अग्निः ज्योतिः अहः अर्थात् दिन शुक्ल छः मास उत्तरायण यह जो हैं अग्निआदि शब्दसे अग्निआदि अभिमानी देवता ग्राह्य हैं अर्थात् अग्निआदि अभिमानी देवता जो हैं (तत्र)उनमें अर्थात् अग्निअभिमानी देवताओंके लोकोंमें क्रमसे (प्रयाताः) जानेवाले (ब्रह्मविदः

जनाः) ब्रह्मके जाननेवाले जन (ब्रह्म गच्छन्ति) ब्रह्मको प्राप्त होते हैं अग्निशब्द इसमें आर्चिशब्दके स्थानमें कहागयाहै इसप्रकारसे श्रुति स्मृतिमें सब ब्रह्मज्ञानियोंको इसी अर्चिरादि वा देवयानमार्गसे गमन वर्णन कियागया है इसप्रकारकी बहुत श्रुतिस्मृति हैं कोई आचार्य ऐसा व्याख्यान करते हैं कि, सगुण उपासक देवयानमार्गसे ब्रह्मलोकको जाते हैं निर्गुणउपासक शरीर त्यागकर सर्वव्यापक ब्रह्ममें प्राप्त होजाते हैं जो ब्रह्म सर्वत्र है उसकी प्राप्तिके लिये देश वा लोकविशेषमें जानेकी आवश्यकता नहीं है इस से सब शब्द सब सगुणविद्याअधिकारियों सगुणउपासकोंके लिये है निर्गुणविद्याअधिकारियोंके लिये नहीं है निर्गुणउपासकके गमनका निषेध युक्तिसे तथा श्रुति से सिद्ध होता है यथा **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति** अर्थ--(तस्य) उसके ब्रह्मज्ञानीके (प्राणाः) प्राण (न उत्क्रामन्ति) शरीरसे निकलकर कहीं नहीं जाते (ब्रह्म एव सन्) ब्रह्मही हो (ब्रह्म अप्येति) ब्रह्ममें लीन होता है इस में परमअधिकारी जो सर्वव्यापकआदि धर्मचिन्तनसे सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मध्यानमें निष्ठ ब्रह्ममय सब देखता है उसके गमनके निषेध में गतिनिषेधविषयक श्रुतिवाक्योंका चरितार्थ होना समझना चाहिये और जो प्रतीकअवलम्बन करिके अध्यास करिके उपासन करते हैं वह ब्रह्मलोकको अर्थात् जगत् प्रपंचयुक्त ब्रह्मस्वरूप से भिन्न शुद्ध सत्यस्वरूप ब्रह्मदेशको प्राप्त होता है, परन्तु विद्या सब सगुणही उपासनविषयक है निर्गुणविद्या वा उपासनका होनाही असंभव व प्रमाणरहित है सांसारिक व अनुत्तम गुण वा दोषोंके निषेध करनेमात्र से निर्गुणत्वका प्रतिपादन है अर्थात् एक पक्षसे निर्गुण कहनेका आशय है सर्वथा निर्गुणका उपास्य व प्रतिपाद्य होनाही संभव नहीं है और सर्वव्यापक होना आनन्दमय ज्ञानस्वरूप होनेआदि गुणोंका निषेधही नहीं होसक्ता इन गुणोंसे निर्गुण मानना ब्रह्मके स्वरूपहीका नाश मानना है इससे निर्गुणउपासन भेद माननाही अयुक्त है सब उपासनोंमें निर्दोष व उत्तम गुणोंसे ब्रह्मका चिन्तन विहित होनेसे निर्गुणत्व व सगुणत्व सम्बंध दृष्टिभेदसे वाच्य हो सक्ता है ॥ ३२ ॥

अक्षर शब्दसे वाच्यब्रह्मके स्थूल न होनेआदि गुणोंके सब विद्याओंमें उपसंहार करने वा न करनेके विचारमें

सू० ३३ व ३४ अधि० १४ ।

अक्षराधियान्त्ववरोधः सामान्यतद्भावा-भ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

अनु०—अक्षरबुद्धियोंका तो समान होने व उसमें होनेसे औपसदके समान अवरोध (संग्रहण) है सो कहागया है ॥३३॥

भाष्य–बृहदारण्यक में यह श्रुति है **तद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् इत्यादि** अर्थ–हे गार्गि ! (तद् ह एतद् अक्षरम्) उस इस अक्षरको अर्थात् अविनाशी ब्रह्मको (ब्राह्मणाः अभिवदंति) ब्राह्मण कहते हैं कि, (अस्थूलं) स्थूल नहीं है (अनणु) अणु अर्थात् सूक्ष्म नहीं है (अह्रस्वं) ह्रस्व नहीं है (अदीर्घम्) दीर्घ नहीं है इत्यादि तथा अथर्वण में **अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्** अर्थ–अथ अर्थात् अपरा विद्या कहने से अनन्तर (परा) पराविद्या वह है (यया) जिससे (तत् अक्षरं) वह अक्षर अर्थात् ब्रह्म (अधिगम्यते) जानाजाता है (तत् अद्रेश्यं) वह अदृश्य है अर्थात् देखने योग्य नहीं है (अग्राह्यं) ग्रहण योग्य नहीं है (अगोत्रं) गोत्ररहित है (अवर्णम्) वर्णरहित है (अचक्षुःश्रोत्रं) नेत्र व कर्णरहित है (तत्) वह (अपाणिपादं) हस्त व पादरहित है इत्यादि इनमें यह संशय होता है कि, यह जो जगत् प्रपंचसे विरुद्ध स्थूल न होना आदि अक्षरसम्बंधी गुण अर्थात् अक्षर नामसे कहेगये ब्रह्मके गुण वर्णन कियेगये हैं यह सब ब्रह्मविद्याओंमें अनुसंधान करनेयोग्य हैं अर्थात् बुद्धिसे ग्रहण करने वा चिन्तन करने के योग्य हैं अथवा जिनमें वर्णन कियेगये हैं उनही मात्र में यह युक्त विदित होता है कि, जिनमें कहेगये हैं उनहींमें अनुसंधानके योग्य हैं क्योंकि अन्यविद्याके रूप गुणोंका अन्यविद्याके रूप होनेमें प्रमाण नहीं है और इन प्रतिषेधरूप गुणोंमात्रका आनन्दआदि गुणोंके समान ब्रह्मस्वरूप बोधके उपाय होना भी संभव नहीं होता आनन्द ज्ञान व्यापकताआदि गुणोंसे ज्ञात हुये ब्रह्मस्वरूपमें स्थूल होनाआदि प्रपंचके धर्म प्रतिषेधको प्राप्त होते वा प्रतिषेधके योग्य होते हैं विना धर्मके आश्रयरूप धर्मीके अन्य सम्बंधरहित धर्मोंके प्रतिषेधका योग नहीं होसक्ता इसके निर्णयके लिये सूत्रमें यह कहा है कि, अक्षरबुद्धियोंका तो अवरोध (संग्रहण) है अर्थात् जिनमें कहेगये हैं उनहींमात्रमें ग्रहण करनेका नियम कहना युक्त नहीं है अक्षर शब्दसे निर्दिष्ट ब्रह्मसम्बंधी जो जो स्थूल व अणु न होना शरीर व नेत्रआदि इन्द्रियरहित होनाआदि बुद्धियां हैं इनका तो सब ब्रह्मविद्याओंमें अवरोध है किस हेतुसे समान होने व उसके भावसे अर्थात् सब विद्याओं में उपास्य अक्षरके (ब्रह्मके) समान होनेसे और स्थूल न होना आदि गुण उसमें अर्थात् ब्रह्मके स्वरूपप्रतीतिमें होनेसे स्थूल न होना आदि से असाधारण आकारसे वस्तुका ग्रहण है आनन्दआदि शरीरधारी जीवआत्माओंमें भी होनेसे केवलआनन्दआदि ब्रह्मके असाधारण स्वरूपके स्थापनके लक्षण नहीं होसक्ते सब दोष व विकाररहित नित्य आनन्दआदि होना ब्रह्मका असाधारण रूप है जीवात्मा में विकार व त्यागने योग्य गुणोंका सम्बंध होता है वा सम्बंध होने

की योग्यता है ब्रह्ममें हेय प्रत्यनीक (त्यागने व नाश होने योग्यके विपरीत) गुण हैं चिदचित् आत्मक जगत्के धर्मरूप स्थूलत्वआदिसे विपरीतरूप होना ब्रह्मका असाधारण रूप है इससे असाधारणरूप वा आकारसे ध्यान करने-वाले को स्थूल न होना आदिगुणों से विशेषित ज्ञान आनन्दआदि रूप ब्रह्म ध्यान करने योग्य है आनन्दआदिके समान स्थूल न होना आदि गुण भी ब्रह्म-स्वरूपकी प्रतीतिके अन्तर्गत होनेसे सब ब्रह्मविद्याओंमें अनुसंधान करने योग्य हैं किसप्रकारसे इन प्रतिषेधरूप गुणोंका सब विद्याओं में संग्रहण है वा यह गुण ग्रहणके योग्य हैं औपसदके समान यह दृष्टान्त है अर्थात् जैसे जामदग्न्य चतूरात्र यज्ञमें अर्थात् जमदग्निसे अनुष्ठित (अनुष्ठान कियागया) चतूरात्र यज्ञमें पुरोडाशसे साध्य उपसदनामक यज्ञकर्मके गुणरूप जो औपसद मंत्र अर्थात् उपसद् सम्बंधी पुरोडाशप्रदानके लिये उद्गाताके वेदमें अर्थात् साम-वेदमें **अग्ने वेर्होत्रं वेरध्वरं** इत्यादि. अर्थ--हे अग्ने! (वेः) देवगणका (होत्रं) हवन (वेः अध्वरं) देवतागणका यज्ञ तुम्हीं से होते हैं इत्यादि मंत्र पठित हैं उनका अध्वर्युओंके (यजुर्वेद जाननेवालोंके) साथ सम्बंध होता है क्योंकि पुरोडाशके दानकर्ता अध्वर्यु होते हैं । सामवेदमें पठित औपसद् मंत्र अङ्ग वा गुणरूप हैं उपसद् अङ्गी वा गुणीरूप प्रधान (मुख्य) है गुणप्रधानका (मुख्यका) अनुवर्ती होनेसे मुख्य जो उपसद कर्म व पुरोडाशप्रदान है उसके साथ व पुरोडाशप्रदानकर्ता होनेसे अध्वर्युओंके साथ औपसदोंका सम्बंध होता है ऐसेही मुख्य अर्थात् प्रधान अक्षर ब्रह्मके आधीन उसके विशेषणरूप गुण कहीं कहेगये हों उसके साथ सम्बंधको प्राप्त होते हैं सो कहागया है अर्थात् पूर्वकाण्डमें (मीमांसादर्शन में) जैमिनिसूत्रमें कहागया है सूत्र यह है **गुणमुख्य-व्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः** अर्थ-गुण व मुख्यके (व्यति-क्रमे) विरोधमें (तदर्थत्वात्) उसके अर्थ होनेसे अर्थात् कर्म वा विनियोग के अर्थ होनेसे (मुख्येन) मुख्य कर्मके साथ (वेदसंयोगः) वेदका संयोग होता है ॥ ३३ ॥

इयदामननात् ॥ ३४ ॥

अनु०-इतना माननेसे अर्थात् चिन्तन करनेसे ॥ ३४ ॥

भाष्य-अब इस शङ्काकी प्राप्ति है कि, सब ब्रह्मविद्याओंमें ब्रह्महीं गुणी होनेसे और गुणप्रधान गुणीके अनुवर्ती होनेसे (गुणीके पीछे साथ ही वर्तमान होने वा गुणीके आधीन रहनेसे) **सर्वकर्मा सर्वगंधः सर्वरसः** इत्यादि

---

१ पुरोडाश नाम पायस अर्थात् खीरकी हविका है जो जो यज्ञकर्म पुरोडाशसे साध्य हैं अर्थात् जिन जिनमें पुरोडाशका हवन तैत्तिरीयकमें विहित किया है उनको उपसद् कहते हैं और उपसद्सम्बंधी औपसद कहाजाता है ।

अर्थ—सब काम करनेवाला सब गंधवाला सब रसवाला है इत्यादि गुण जो वर्णन किये गये हैं इन सबका सब विद्याओंमें उपसंहार करनेमें प्रत्येक विद्यामें इनकी व्यवस्था न रहेगी अर्थात् विशेषविद्यामें विशेषगुणोंका नियम न रहेगा इसके समाधानके लिये यह कहा है कि, इतना चिन्तन करनेसे अर्थात् चिन्तन करनेके हेतुसे इतनेही गुणजात जो कहेगये स्थूल न होना आदिसे विशेषित आनन्दआदिक हैं जिसके विना अन्यसे व्यावृत्त (भेदको प्राप्त) ब्रह्मके स्वरूपका अनुसंधान (चिन्तन) संभव नहीं होता है सर्वत्र उपसंहार करने योग्य हैं अर्थात् इतनेही गुणसमुदायको सर्वत्र ग्रहण करना चाहिये अन्य जो स्थूल न होना आदि प्रतिषेध वर्णकवाक्यमें **अतमोवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगंधम् इत्यादि** अर्थ—तम नहीं है वायु नहीं है आकाश नहीं है संगरहित रसरहित गंधरहित है इत्यादि प्रतिषेध रूपगुणों व सर्वकर्मा सर्वगंधः सर्वरसः इत्यादि विधिरूप गुणोंको प्रत्येक विद्यामें व्यवस्थित समझना चाहिये सर्वत्र सबका उपसंहार करना युक्त नहीं है ॥ ३४ ॥

एकही अन्तरात्मा उषस्तव कहोलके प्रश्नोंमें वर्णन किये जानेसे एकही विद्या होनेके निरूपणमें सू० ३५ से ३७

अधि० १५।

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनोऽन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ॥ ३५ ॥

अनु०—सबका अन्तर है यह प्रथम उत्तर भूतग्रामवान् अपने आत्माका है (अपने आत्मासम्बंधी है) अन्यथा भेदकी सिद्धि न होगी जो यह कहाजाय नहीं उपदेशके समान ॥ ३५ ॥

भाष्य—बृहदारण्यकमें उषस्तने याज्ञवल्क्यसे यह प्रश्न किया है कि, जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है अर्थात् साक्षात् ज्ञानसे अपरोक्ष होनेसे (प्रत्यक्ष होनेसे) आपको विदित है जो आत्मा सबके अन्तरमें है उसको मुझे आप देखाइये अर्थात् उपदेशसे लक्ष्य कराइये इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने यह उपदेश किया है **यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा** इत्यादि अर्थ—(यः) जो (प्राणेन) प्राणसे अर्थात् मुखनासिकासे आने जानेवाले वायुसे (प्राणिति) प्राणकी चेष्टा करता है अर्थात् जिससे प्राण अपने कार्यको करता है (सः) वह (सर्वान्तरः) सबके मध्यमें विद्यमान (ते आत्मा) तेरा आत्मा है तथा (यः) जो (अपानेन अपानिति) अपानसे अपानकी चेष्टा करता है अर्थात् जिसके सत्ता से अपान वायु अपने कार्यको करता है वह तेरा

आत्मा है इत्यादि, संतुष्ट न होकर जब फिर उषस्तने यह प्रश्न किया कि, और स्पष्ट वर्णन कीजिये जिससे मैं प्रत्यक्षसे जानूँ तब यह कहा **न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तमिति** अर्थ-(दृष्टेः) दृष्टिसे (द्रष्टारं) द्रष्टाको अर्थात् देखनेवालेको (न पश्येः) तू न देख अथवा न देखैगा (श्रुतेः) कानसे (श्रोतारं) श्रोताको अर्थात् सुननेवालेको (न शृणुयाः) न सुन (मतेः) मतिसे (मन्तारं) माननेवालेको (न मन्वीथाः) न मान (विज्ञातेः विज्ञातारं न विजानीयाः) विज्ञानसे विज्ञाताको (जाननेवालेको) न जान अर्थात् लौकिक दृष्टि श्रुति मति ज्ञानसे न जानैगा (एषः) यह (सर्वान्तरः) सबके अन्तरमें प्राप्त (ते आत्मा) तेरा आत्मा है (अतः) इससे (अन्यत्) अन्य (आर्तं) कार्यरूप नाशमान् है यही एक अविनाशी नित्य है उषस्तके पश्चात् कहोलने ऐसाही प्रश्न किया उसके उत्तर में याज्ञवल्क्यने यह कहा है **योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एवंहैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्चेत्यादि अतोऽन्यदार्तमित्यन्तम्** अर्थ-(यः) जो (अशनायापिपासे) क्षुधा पिपासाको (शोकं मोहं जरां मृत्युं) शोक मोह जरा व मृत्युको (अत्येति) नहीं प्राप्त होता है (एवं) इसप्रकारसे (ह एतम् आत्मानं) इस आत्माको (विदित्वा) जानकर (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञाता (पुत्रैषणायाः) पुत्रके लिये जो कामना है उससे (वित्तैषणायाः) धनकी कामनासे इत्यादि सब कामनाओंसे चित्तको उठाकर भिक्षाचरण करते हैं यह सब कहकर अन्तमें यह कहा है (अतः अन्यत्) इससे अर्थात् इस आत्मासे अन्य (आर्तम्) कार्यरूप विनाशी अनित्य है इन प्रश्न उत्तरोंमें यह संशय है कि, इन दोनोंमें विद्यामें भेद है वा नहीं क्योंकि आत्माहीका उपदेश होनेसे यद्यपि एकहोना विदित होता है परन्तु शब्दोंसे भेद होना अनुमित होता है क्योंकि प्रश्न एकही प्रकार होनेपर भी उत्तरमें भेद पायाजाता है अर्थात् पहिले प्रश्नके उत्तरमें प्राणआदिका कर्ता सबका अन्तरात्मा होना वर्णन किया है पिछले प्रश्नमें क्षुधा पिपासाआदि रहित होना इससे यह विदित होता है कि, पहिले में प्राणआदिको व्यापारमें प्रवृत्त करनेवाला देह इन्द्रिय बुद्धि मन प्राणसे भिन्न जीवात्मा वर्णन कियागया है दूसरे में क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्युरहित परमात्मा इससे विद्या में भेद है जो यह शंका हो कि, सबका अन्तरात्मा होना जो कहा है यह प्रत्येक शरीर में प्राप्त जीवात्मामें कैसे संभव है तो पृथिवीआदि भूतोंका समूहरूप शरीरके अधिष्ठाता होनेसे सब भूतग्रामके अन्तरआत्मा होनेसे प्रत्यगात्मा (प्रत्येक शरीर में प्राप्त जीवात्मा) का भी सबके अन्तर होना संभव है यद्यपि भूतग्राममात्रकी अपेक्षाके साथ होनेसे जीवात्माका सबके अन्तर होना अपेक्षित है तथापि प्रत्यग-

त्माहीका अन्तर होना ग्राह्य है अन्यथा मुख्य सर्वेव्यापक परमात्मा जो सबके भीतर विद्यमान है उसको सबका अन्तरात्मा होना कहा है ऐसा अंगीकार करनेमें उत्तरवाक्य में जो भेद है वह असंगत होगा क्योंकि परमात्माका प्राण व अपानके व्यापार वा चेष्टाका करनेवाला संभव न होनेसे पूर्व उत्तर प्रत्यगात्माहीके विषयमें है इसके निर्णयके लिये पूर्वपक्षपूर्वक समाधानवर्णनमें यह सूत्रवाक्य है अन्तर होनेका प्रथम उत्तर भूतग्रामवान् अपने आत्मासम्बंधी है इत्यादि प्रथम उत्तर शब्द सूत्रमें शेष हैं सूत्रवाक्यके शब्दार्थका व्याख्यान यह है कि, प्रथम उत्तमें जो यह कहा है कि, वह तेरा आत्मा सबके अन्तरमें है यह जिज्ञासु प्रश्नकर्ताके अपने आत्माके ज्ञान होनेके विषयमें है इससे प्रत्यगात्मा सम्बंधी है परमात्मा सम्बंधी नहीं है अन्यथा मानने में अर्थात् परमात्मा सम्बंधी मानने में प्राणको चेष्टा करनेवाला कहने से उक्तप्रकारसे भेद होनेकी सिद्धि होती है वह न होगी भेद कहना मिथ्या होगा जो ऐसा कहाजाय अर्थात् ऐसी शंका होवै तो इसका उत्तर यह है नहीं अर्थात् विद्यामें भेद नहीं है दोनों प्रश्न व उत्तर परमात्माहीके विषयमें हैं प्रथम यह प्रश्न कि,जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है यह प्रश्न और जो आत्मा सबके अन्तरमें है यह उत्तर परमात्माही विषय में हैं ब्रह्मशब्द परमात्मामें साधारण प्रयुक्त होनेमेंभी प्रत्यगात्मामें भी कहीं उपचार से प्रयोग देखनेमें आता है इससे उसकी व्यावृत्तिकरके परमात्माही ज्ञात वा निश्चित होनेके लिये जो साक्षात् ब्रह्म यह विशेषण किया है अपरोक्ष होनाभी सब देश व सब कालसम्बंधी होना है यथा **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** अर्थ–सत्य ज्ञानस्वरूप अनन्त ब्रह्म है अनन्त होने रूप से जानागया सब ब्रह्मही होना सिद्ध होता वा जानाजाता है सबके अन्तरमें होना भी **यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः इत्यारभ्य य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तर इति** अर्थ–जो पृथिवी में रहताहुआ विद्यमान है जो पृथिवीके मध्यमें है यहां से आरंभ करिके जो आत्मा में रहताहुआ विद्यमान है जो आत्माके मध्यमें है इत्यादि सबके अन्तर्यामी परमात्माहीका ऐसा होना संभव होता है उत्तर भी ऐसेही परमात्माविषयक है जो प्राणसे प्राणकी चेष्टा करता है इसमें निरुपाधिकप्राणका कर्ता होना परमात्माहीका प्रतिपादित है क्योंकि सुषुप्तिमें प्रत्यगात्माका प्राण प्रति कर्ता होनेका अभाव है और जब अच्छेप्रकारसे न समझकर फिर उषस्तने प्रश्न किया है तब उसके उत्तरमें प्रत्यगात्मा से भेद जनानेके लिये प्राणकी चेष्टाका कर्ता परमात्माको कहा है कि, दृष्टिसे द्रष्टाको न देख इत्यादि अर्थात् इन्द्रियके आधीन दर्शन श्रवण मनन विज्ञानोंका कर्ता प्रत्यगात्मा को जो प्राणकी चेष्टा का कर्ता होना कहागया है ऐसा न मान क्योंकि सुषुप्तिआदिमें वह कर्ता नहीं होसक्ता परमात्माको प्राणकी चेष्टा व जीवनका कारण होना अन्य श्रुति से भी सिद्ध है यथा **को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष**

आकाश आनन्दो न स्यात् अर्थ-(हि) निश्चयसे (कः एव) को (अन्यात्) चेष्टा करे (कः प्राण्यात्) को प्राण धारण करे (यत्) जो (एषः) यह (आकाशः आनन्दः न स्यात्) आकाश आनन्द न हो अर्थात् प्रकाशरूप आनन्दस्वरूप ब्रह्म न हो इससे सब प्राणियोंके प्राणन (जीवन) का हेतु ब्रह्मही है व पूर्व प्रश्न व उत्तर दोनों परमात्माविषयमें हैं ऐसेही पीछेके प्रश्न व उत्तरमें क्षुधा पिपासा शोक मोह मृत्युरहित होना परमात्माका लक्षण साधारण होनेसे और दोनोंमें इससे अन्य कार्यरूप विनाशी है यह अंतमें कहनेसे परब्रह्महीका वर्णन होना सिद्ध होता है प्रश्न व उत्तर की आवृत्ति सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राणनका हेतु अर्थात् प्राणव्यापार वा जीवनके हेतु परब्रह्मके क्षुधा पिपासा जरा मृत्यु शोक मोहरहित होनेके प्रतिपादनके लिये है इसमें यह दृष्टान्त है उपदेशके समान अर्थात् जैसे सत् विद्यामें श्वेतुकेतुके पिताने श्वेतकेतुको विद्याभिमानी जानकर यह प्रश्न किया है कि, आचार्यसे उस उपदेशको पूछा है जिसके जाननेसे सब ज्ञात होता है तब श्वेतकेतुने कहा कि, उस उपदेशको मैं नहीं जानता हूं सदुपदेशके प्रश्न में **भगवांस्त्वेवमेतद्ब्रवीतु** अर्थ-(भगवान् तु) भगवान्ही अर्थात् आपही (एवं) इसप्रकारसे है (एतद्) इसको(ब्रवीतु)**कहें** अर्थात् कहिये फिर कहा **भगवान् विज्ञापयतु** भगवान बतायिये ऐसे प्रश्नकी और **एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्** अर्थ--(एषः) यह आत्मा ब्रह्म (अणिमा) अतिसूक्ष्म है (इदं सर्वं) यह सब जगत् (ऐतदात्म्यं) इस आत्मारूप है अर्थात् सबका आत्मा अन्तर्यामी यही है जो सबका आत्मा है (तत् सत्यम्) वह सत्य है इस उत्तरकी वारंवार आवृत्ति है अर्थात् वारवार कथन है यह सत् ब्रह्मका पृथक् पृथक् प्रकारका माहात्म्य विशेष प्रतिपादनके लिये विदित होता है ऐसेही एकही सबके अन्तर में प्राप्त ब्रह्मका सब प्राणियोंके प्राणनका हेतु होना व क्षुधाआदिरहित होना प्रतिपादन कियेजाने से एकही रूप होनेसे विद्याका एक होना सिद्ध है अब यह आक्षेप है कि, प्रश्न व उत्तर परब्रह्महीं विषय में होवै तो भी विद्यामें भेद होना नहीं रुकसक्ता क्योंकि एकमें सब प्राणियोंके प्राणनका हेतु होनेसे उपास्य कहा है दूसरे में क्षुधा पिपासारहित होनाआदि गुणों से उपास्य कहा है रूपभेद से प्रश्नकर्ताके भेद से भेद होना विदित होता है इसका उत्तर आगे सूत्र में वर्णन करते हैं ॥३५॥

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३६ ॥

अनु०-व्यतिहार करने योग्य है जिससे कि, इतरके समान विशेषित करते हैं (उत्तर वचन विशेषित करते हैं) ॥ ३६ ॥

भाष्य-विद्यामें भेद नहीं है क्योंकि दोनों प्रश्न सबका अन्तरात्मा होने गुणविशिष्ट ब्रह्मके विषय में हैं कहोलके प्रश्नमें **यदेव**, अर्थ-वही जो उक्त ब्रह्म है

ऐसा कहा है वही शब्द से पहिले उषस्तसे पूंछेहुये गुणविशिष्ट ब्रह्मके विषय में कहोल का भी प्रश्न है यह निश्चित होता है और प्रतिवचन (उत्तर) भी दोनों में वह तेरा आत्मा सबके अन्तर में है ऐसा सबका अन्तर-आत्मा होने गुणविशिष्ट ब्रह्मविषयमें एकही रूप है और विधि एकही है यथा **तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्** अर्थ--(तस्मात्) तिससे अर्थात् जिससे कि, पूर्वही ब्रह्मको जानकर ब्राह्मण धन पुत्रआदि सब छोडकर भिक्षाचरण किया है संसारसुखमें दुःख व ब्रह्मही ज्ञानमात्रमें सुख जाना है तिससे (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (पाण्डित्यं) पाण्डित्यको अर्थात् आत्मज्ञानको (निर्विद्य) अच्छेप्रकारसे पूर्णरूपसे जानकर (बाल्येन) बलभावसे अर्थात् ज्ञानबलभावसे (तिष्ठासेत्) स्थित होनेकी इच्छा करै अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में निश्चल चित्तसे स्थित होवे उपासन करै इसप्रकारसे सबका अन्तरात्मा होने गुण-विशिष्ट ब्रह्महीका विषय दोनोंमें निश्चित होने और सर्वान्तरात्मत्व विशिष्ट (सब का अन्तर आत्मा होना विशिष्ट) एकही ब्रह्म उपास्य होनेमें उषस्त व कहोल दोनोंमें परस्पर बुद्धियोंका व्यतिहार (एक दूसरेमें मेल) करना चाहिये अर्थात् सबका अनन्तर आत्मा ब्रह्मका सब प्राणियोंके प्राणनके हेतु होने विषयमें जो उषस्तके उपदेशकी बुद्धि है वह कहोल को और जो कहोलके उत्तर में क्षुधा पिपासा जन्म मरणरहित होने विषयक बुद्धि है वह उषस्त को धारण वा ग्रहण करना चाहिये इसप्रकारसे व्यतिहार किये जानेमें दोनोंसे सबके अन्तरात्मा ब्रह्मका जीवसे भेदयुक्त उपदेशकियाजाना निश्चित होती है प्रत्यगात्मासे भेदविज्ञापनके लिये सब प्राणियोंके प्राणोंके व्यापारका हेतु होने व क्षुधा पिपासा जन्म जरा शोक मोह मृत्युरहित प्रतिपादन करनेसे याज्ञवल्क्यके प्रतिवचन (उत्तर) सर्वान्तरात्मा ब्रह्मको विशेषित करते हैं इससे सर्वा-न्तरात्मा होनाही ब्रह्मका उपास्य गुण है प्राणकी चेष्टाका हेतु होना आदि उसके प्रतिपादक गुण उपास्य गुण नहीं हैं यदि यह शंका हो कि, जो सर्वान्तरात्मा होनाही मात्र जो उपास्य गुण है तो प्राणनके हेतु होने व क्षुधाआदिरहित होनेका दोनों प्रश्न कर्ताओंको व्यतिहार करके अनुसंधान करना चाहिये यह कहना कैसे युक्त होसक्ता है इसका उत्तर यह है कि, सब प्राणियोंके प्राणनका हेतु होनेसे जीव से व्यावृत्त सबके अन्तरात्मा ब्रह्म में उषस्तको निश्चय होने में कहो-लने यह विचारकर कि, जो जीवमें सम्भवित न हों ऐसे स्वभावविशेषसे व्यावृत्त सर्वान्तरात्मा अनुसंधान (चिन्तन) के योग्य है फिर प्रश्न किया याज्ञवल्क्यने भी उसके अभिप्रायको जानकर जीवात्मासे स्पष्ट भेद विदित होनेके लिये जीवात्माके गुणोंके विपरीत क्षुधा पिपासा शोक मोह जरा मृत्यु-रहित होने गुणोंसे विशिष्टका उपदेश किया है इससे उपास्यकी व्यावृत्ति प्रतीति सिद्ध होनेके लिये एकसे दूसरे में परस्पर बुद्धिका व्यति-

हार करने योग्य है इतरके समान (अन्य विद्याके समान) अर्थात् जैसे सत्विद्यामें वारंवार प्रश्न व उत्तरोंसे वही सत् ब्रह्मही स्पष्टतासे अन्य पदार्थोंसे पृथक् जानाजाता है पूर्व प्रतिपादन कियेहुये गुणोंसे अन्य-गुणोंसे विशिष्ट अन्य उपास्य प्रतिपादन नहीं कियाजाता है ऐसेही यहां समझना चाहिये अब यह शंका है कि, सत्विद्यामें भी प्रश्न व उत्तरके भेद होनेमें कैसे एक होना निश्चय कियाजाता है इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ३६ ॥

सैव हि सत्यादयः ॥ ३७ ॥

अनु०—सोई जिससे सत्यआदि ग्रहण कियेजाते हैं ॥ ३७ ॥

भाष्य--छान्दोग्यमें सत्विद्यामें सत् शब्दसे वाच्य परम कारणरूप पर देवताही जो **सेयं देवतैक्षत** अर्थ-(सा इयं देवता) उस इस देवताने ईक्षा-किया **तेजः परस्यां देवतायाम्** अर्थ--तेज परदेवतामें अर्थात् परदेवता में लीन होता है इन वाक्योंमें प्रकृत है अर्थात् मुख्य उपदेश्य विषय स्थापन कियागया है सोई (वही) **यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति** अर्थ--हे सोम्य ! जैसे (मधुकृतः) मधुके करनेवाले मधुकर मक्षिका (मधु निस्तिष्ठन्ति) मधुको सिद्ध करते हैं अर्थात् नानावृक्षोंके रसोंको लेकर एक मधुररस-वाला मधुद्रव्य बनाते हैं इत्यादि सब पर्य्यायोंमें प्रतिपादन कियागया है जिससे वही प्रकृत सत् देवता सब पर्य्यायों में प्रतिपादन किया गया है इससे **ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा** इत्यादि अर्थ-(इदं सर्वं) यह सब जगत् (ऐतदात्म्यं) इस आत्मामय अर्थात् सबमें यह सत् ब्रह्मही आत्मा-रूपसे विद्यमान है जो ऐसा है (तत्) वह (सत्यं) सत्य है (सः) वह जो सत्य है वह (आत्मा) आत्मा है इत्यादि इस प्रथम पर्य्यायमें कहेगये जो सत्यआदि गुण हैं वह सब पर्य्यायों में ग्रहण कियेगये हैं इससे एक सत ब्रह्मही प्रतिपादित होना निश्चित है कोई **व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत्** और **सैव हि सत्यादयः** इन-दो सूत्रों में दो अधिकरण वर्णन करते हैं पूर्वसूत्र जीव परमात्माके व्यतिहार-विषयमें **योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्** अर्थ-(यः) जो (अहं) मैं हूँ (सः) सो (असौ) यह है (यः असौ) जो यह है (सः अहं) वह मैं हूं इस श्रुतिप्रमाण से वर्णन करते हैं परन्तु **सर्वं खल्विदं ब्रह्म ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्त्वमसि** अर्थ—सब यह ब्रह्म है यह सब इस ब्रह्मात्मक है तदात्मक तू है यह वाक्य सब आत्मभावविषयमें होनेसे यह अपूर्व प्रतिपादनके योग्य नहीं है और इसको आगे **आत्मेत्युपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च** इस सूत्रमें वर्णन किया है इससे यहाँ ऐसा व्याख्यान करना सूत्रकारके आशय से विरुद्ध व अयुक्त है क्योंकि जो सूत्र-कार यहां जो मैं हूँ सो वह है जो वह है सो मैं हूँ वर्णन करते तो आगे इसका

वर्णन निरर्थक होने व पुनरुक्त दोषसे, युक्त न था दूसरे सूत्रके व्याख्यान में **तद्यत् सत्यमसौ स आदित्यः य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिन्निति** अर्थ-वह जो सत्य है वह यह आदित्य है जो यह इस मण्डल में पुरुष है और जो यह दक्षिण नेत्रमें है इस वाक्यमें प्रतिपादित उपासनकी एकता प्रतिपादन करते हैं यह भी अयुक्त है क्योंकि उत्तर-वाक्य में नेत्र व सूर्यके स्थानभेद से एकताके विरुद्धपूर्वही **न वा विशेषात्** इस सूत्रसे विद्याका भेद प्रतिपादन कियागया है इत्यादि हेतुओं से अयुक्त है इससे जैसा व्याख्यान कियागया है यही यथार्थ है ॥ ३७ ॥

छान्दोग्य व वाजसनेयकमें वर्णनकीगयी आकाश शब्द वाच्य उपास्य ब्रह्मकी विद्या एकही होनेके प्रतिपादनमें सू० ३८ से ४० अधि० १६ ।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३८ ॥

अनु०-कामआदि इतरमें उसमें भी आयतन (स्थान) आदिकोंसे ॥ ३८ ॥

भाष्य--छान्दोग्य में यह श्रुति है **अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम् इत्यादि** अर्थ-(अथ) इससे अनन्तर (यत् इदं) जो यह (दहरं) सूक्ष्म (पुण्डरीकं) कमल अर्थात् कमलके सदृश कमलाकार (वेश्म) स्थान अर्थात् अवकाशरूप स्थान (अस्मिन् ब्रह्मपुरे) इस ब्रह्मपुरमें अर्थात् हृदयदेशमें है (अस्मिन्) इसमें हृदयमें कमलके आकारस्थान में (दहरः) सूक्ष्म (अन्तरः आकाशः) मध्य में आकाश अर्थात् प्रकाशमान आकाशवत् व्यापक सूक्ष्म ब्रह्म है इससे (तस्मिन्) उसमें अर्थात् हृदयकमलस्थानमें (यत् अन्तः) जो भीतर विद्यमान है अर्थात् ब्रह्म (तत्) वह (अन्वेष्टव्यः) खोज करने योग्य है परन्तु इस अर्थ से ऐसा अर्थ करना उत्तम है उसमें अर्थात् ब्रह्म में जो अन्तर विद्यमान पापरहित होनाआदि गुण वह अर्थात् ब्रह्म और ब्रह्मके गुणविशेष खोजने योग्य हैं अर्थात् ध्यान करने व विचारने योग्य हैं आकाश शब्दसे ब्रह्मका कथन होजाने से और आकाश जो समीपस्थ है उसको बीचमें छोड़कर उस में इस शब्दका अन्वय हृदयकमलके साथ करना समीचीन ज्ञात नहीं होता कोई ब्रह्मपुर शरीरको कहते हैं और जैसे पुर में किसीका स्थान-विशेष होता है ऐसेही सूक्ष्म हृदयमें कमलके आकारदेशको ब्रह्मका वेश्म (घर) अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्तिका स्थान कहते हैं उसमें साधन व ध्यान से आकाश शब्दवाच्य ब्रह्म खोजकरने योग्य है इत्यादि वाजसनेयकमें यह श्रुति

है स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्त-र्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशान इत्यादि अर्थ-(यः) जो (अयं) यह (प्राणेषु) प्राणोंमें सब इन्द्रियोंमें (विज्ञानमयः) विज्ञानमय है और (यः एषः) जो यह (अन्तर्हृदये आकाशः) हृदयके भीतर आकाश है (तस्मिन्) उसमें (शेते) सोता है (वै) निश्चयसे (सः एषः) सो यह (महान्) व्यापक (अजः) जन्मरहित (आत्मा) आत्मा अर्थात् परमात्मा है वह कैसा है (सर्वस्य वशी) सबका वशमें रखनेवाला (सर्वस्य ईशानः) सबसे विशेष सामर्थ्यवान् सबका स्वामी है इत्यादि इनमें इस शंका की प्राप्ति है कि, इन दोनोंमें विद्यामें भेद है वा नहीं इसके निर्णयके लिये प्रथम पूर्वपक्ष यह है कि, भेद है किस हेतुसे रूपमें भेद होनेसे भेद यह है कि, छान्दोग्यमें **अपहतपाप्मा विजरः** इत्यादि इस वाक्यमें पापरहित जरारहित मृत्यु-रहित शोकरहित क्षुधारहित पिपासारहित सत्यकाम सत्यसंकल्प होना इन आठ गुणोंसे विशिष्ट आकाश उपास्य वर्णन कियागया है वाजसनेयकमें आकाशमें शयनकर्ता वशीहोनाआदि गुणोंसे विशिष्ट उपास्य कहागया है इस रूप-भेद होनेसे विद्यामें भेद होना प्रतीत होता है इसके उत्तर में समाधानके लिये यह सूत्रवाक्य है कामआदि इतरमें उसमें भी स्थानआदिकोंसे इसका व्याख्यान यह है कि, कामआदि अर्थात् सत्यकामआदि विशिष्टही ब्रह्म छान्दोग्य व वाज-सनेयक दोनों में उपास्य है दोनों में कहेहुये गुण दोनों में ग्राह्य हैं किस हेतुसे छान्दोग्य में कहेहुये सत्यकामआदि विशेषण इतर में (अन्यमें) अर्थात् वाज-सनेयक में ग्राह्य हैं और उसमें (वाजसनेयक में) कहेहुये छान्दोग्य में ग्राह्य हैं स्थानआदिकों से, अर्थात् दोनों में एकही समान हृदयस्थान होना सेतु होना धारण करता होना आदि विशेषणों से वही विद्या होना निश्चित होता है वशी होनाआदि वाजसनेयक में जो विशेषण हैं वह छान्दोग्य में पापरहित होना-आदि वर्णन कियेगये आठ विशेषणों में से जो सत्यसंकल्पत्व विशेषण है उसी के विशेष (भेद) हैं इस से वशी होनाआदि सत्यसंकल्पत्वके साथ लगेहुये सत्यकामत्व व अपहतपाप्मत्व (पापरहितहोना) पर्य्यंत विशेषणोंका होना सूचित करते हैं इससे विद्याके रूप में भेद नहीं है और ब्रह्मप्राप्तिरूप फल में भी भेद नहीं है दोनों में ब्रह्मकी प्राप्तिका वर्णन है यथा छान्दोग्य में **परं ज्योति-रुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते** अर्थ- परं ज्योतिको अर्थात् परं ज्योतिरूप ब्रह्मको प्राप्त होकर अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप से सिद्ध होता है अर्थात् मुक्तरूप होता है तथा वाजसनेयक में यह श्रुति है **अभयं वै ब्रह्म भवति** अर्थ-अभय ब्रह्मरूप होता है आकाश शब्द छान्दोग्य में परमात्मा वाचक है यह **दहर उत्तरेभ्यः** इस सूत्रमें निर्णय कियागया है वाजसनेयकमें आकाशमें शयन करने-वाले का स्वतंत्र होना सबको वशमें रखनेवाला होना आदि सुननेसे शयन करने वाला परमात्मा होने में उसके आधारवाचक आकाश शब्दका हृदयके सूक्ष्म अवकाश

वा छिद्रका वाचक होना **तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं** अर्थ– उसके अन्तमें सूक्ष्म सुषिर अर्थात् छिद्र है यह कहनेसे विदित होता है और वाजसनेयकमें सूक्ष्म हृदय आकाश कहनेमें ध्यानस्थान भौतिक आकाशवाचक, आकाश शब्द होने में छान्दोग्यके समान आकाश शब्द ब्रह्मवाचक न होनेमें भी भेद होना सिद्ध नहीं होता सूक्ष्म आकाशरूप हृदयदेश उपासनास्थान व उपास्य व उपासनाफल एकही समान कहेजानेसे विद्या एकही है अब यह आक्षेप है कि, विद्याकी एकता हो परन्तु वाजसनेयकमें वशित्वआदि गुणों वा विशेषणोंके साथ सत्यकामत्वआदिका भी होना ग्रहण कियाजाता है यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि वशित्वआदिका परमार्थरूप होनेका वाजसनेयकहीमें निषेध कियागया है यथा **मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति** इत्यादि अर्थ–(मनसा एव) मनहीसे (अनुद्रष्टव्यं) विचार व जानने योग्य है (इह) इस संसारमें (किञ्चन नाना न अस्ति) कुछ अनेक नहीं है अर्थात् सब एक ब्रह्म है (यः) जो (इह) इसमें (नाना इव) अनेकके समान अद्वितीय ब्रह्मको (पश्यति) देखता है वा जानताहै (सः) वह (मृत्योः) मृत्युसे (मृत्युं) मृत्युको (आप्नोति) प्राप्त होता है इत्यादि उत्तरवाक्योंसे ब्रह्मके निर्विशेष होनेकी प्रतीति होती है इससे स्थूलआदिके समान वशित्वआदि भी निषेधके योग्य विदित होते हैं इसीसे सत्यकामत्वआदि भी निषेधके योग्य समझेजानेसे ब्रह्मके पारमार्थिक गुण न होनेसे मोक्षके अर्थ उपासनों में इसप्रकारके गुणोंका लोप है इसका उत्तर आगे वर्णन करते हैं ॥ ३८ ॥

आदरादलोपः ॥ ३९ ॥

अनु०–आदरसे लोप नहीं है ॥ ३९ ॥

भाष्य–जो प्रमाणान्तर से (अन्य प्रमाण से) ब्रह्मके गुण होना सिद्ध हैं ऐसे छान्दोग्य व बृहदारण्यक में वर्णन कियेगये सत्यकामत्वआदि गुणोंका लोप नहीं है किस हेतुसे लोप नहीं है आदरसे अर्थात् आदर से उनका उपदेश होनेसे, दोनों उपनिषदोंकी श्रुतियों में उसमें जो भीतर है वह खोज करनेयोग्य है, यह आत्मा पापरहित जरारहित मृत्युरहित शोकरहित क्षुधारहित पिपासारहित सत्यकाम सत्यसंकल्प है सबका वश में अर्थात् अपने आधीन रखनेवाला सबका स्वामी सबका ईश्वर सबका अधिपति भूतोंका (प्राणियोंका) रक्षा करनेवाला सब लोकोंकी मर्य्यादा भेद न होनेके लिये मर्य्यादाको धारणकरनेवाला सेतु है इत्यादि विशेषणोंसे मोक्षके अर्थ उपासनोंसे उपास्य ब्रह्मके गुणोंको आदरसहित उपदेश करनेसे इनका लोप नहीं है इनका उपसंहारही करना युक्त है अर्थात् यह ग्रहणही करने योग्य हैं प्रथम छान्दोग्यके इन वाक्यों-

का प्रमाण है **तद्य इह आत्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान् तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति** अर्थ-(तद् इह) उस इस लोकमें (ये) जो लोक (आत्मानं) आत्माको (अननुविद्य) न जानकर अर्थात् आत्मज्ञानको न प्राप्त होकर (च) और (एतान् सत्यान् कामान्) इन सत्यकामोंको अर्थात् जो सत्यसंकल्पत्व विशेषणोंको (अननुविद्य) न जानकर (व्रजन्ति) जाते हैं अर्थात् इस लोकसे शरीर त्यागकर जाते हैं (तेषां) उनका (सर्वेषु लोकेषु) सब लोकोंमें (अकामचारो भवति) कामचार नहीं होता अर्थात् उनका मनोरथ पूर्ण नहीं होता इसप्रकारसे सत्यकामत्वआदि गुणविशिष्ट ब्रह्मके जाननेका उपदेश करके आत्माके न जाननेका निन्दा और गुणविशिष्ट ब्रह्मके जाननेकी आदरणीयता श्रुति देखाती है तथा वाजसनेयक में यह सबका वशी सबका ईश्वर यह भूतोंका अधिपति यह भूतोंकी रक्षा करनेवाला है इसप्रकारसे वारंवार ऐश्वर्यका उपदेश होनेसे गुणोंमें आदरहोना प्रतीत होता है और ऐसेही अन्य श्रुतियों में भी उपदेश है **एकधैवानुद्रष्टव्यं नेह नानाऽस्ति किञ्चन** अर्थ-एकहीप्रकारसे देखने वा जाननेयोग्य है इस संसार में अनेक कुछ नहीं है इत्यादि वाक्य सब ब्रह्महींके कार्यरूप होनेसे कहेगये हैं अर्थात् सब ब्रह्मके कार्यरूप होनेसे व सब एक चिदचिद् शरीरक कारणरूप ब्रह्मात्मक होनेसे एकहीप्रकार जाननेका विधान करके ब्रह्मात्मकत्व ज्ञानरहित पूर्वसिद्ध नानात्वको (अनेक होने को) श्रुति निषेध करती है इसका विशेष व्याख्यान पूर्वही कियागया है और जो ऐसा कहा है **स एष नेति नेत्यात्मा** अर्थ-(सः एषः आत्मा) वह यह आत्मा (न इति न इति) ऐसा नहीं है ऐसा नहीं है इसप्रकारसे कार्यप्रपंचके निषेधसे जानने योग्य है इस वाक्य में इति शब्द जो कहा है उससे यह सूचित किया है कि. प्रमाणान्तर (अन्य प्रमाण) से सिद्ध जो प्रपंचप्रकार कहागया है वैसा ब्रह्म नहीं है अर्थात् सर्वात्मरूप ब्रह्मका प्रपंचसे विलक्षण होना प्रतिपादन कियागया है इसी आशयको आगे श्रुति स्पष्ट प्रतिपादन करती है यथा **अग्राह्यो न हि गृह्यते अशीर्यो न हि शीर्यते असङ्गो न हि सज्यते** इत्यादि अर्थ-(अग्राह्यः न हि गृह्यते) ग्रहणके योग्य नहीं है इससे ग्रहण नहीं कियाजाता है (अशीर्यः न हि शीर्यते) हिंसायोग्य नहीं है इससे हिंसाको नहीं प्राप्त होता (असंगः न हि सज्यते) संगरहित है इससे किसीमें नहीं मिलता अर्थात् आसक्त वा लिप्त नहीं होता इत्यादि आशय यह है कि, विसजातीय होनेसे अर्थात् सजातीयसे विलक्षण होनेसे जिन प्रमाणोंसे अन्य पदार्थ ग्रहण कियेजाते हैं उनसे भिन्नप्रमाणसे ग्राह्य होनेसे अन्य पदार्थोंके प्रमाणोंसे अग्राह्य होनेसे उनसे ग्रहण नहीं कियाजाता है हिंसा योग्य पदार्थोंके सजातीय न होनेसे हिंसाको नहीं प्राप्त होता ऐसेही आगे समझना चाहिये अब यह शङ्का

है कि, जो सत्यकामत्व आदि के चिन्तन से उपासना करना स्वीकार भी कियाजावे तो भी सत्यकाम होनाआदि गुणोंसे विशिष्ट उपासनसे सांसारिक सुख-फल होना सुनाजाता है जैसे पूर्वही श्रुतिवाक्यमें जो आत्मा को न जानकर शरीर त्यागकर जाते हैं उनका सब लोकोंमें कामचार न होना कहा है ऐसेही आत्मा को जानकर जाननेमें सब लोकोंमें कामचार होना अर्थात् जो कामना करै वही प्राप्त होना कहा है इच्छा कियेहुये पदार्थों व सुखको प्राप्त होतेहुये सब लोकों में विचरना वर्णन किया है यथा **तद्य इह आत्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति** अर्थ-जो इस संसार में आत्माको और सत्यकामों को जानकर जाते हैं उनका सब लोकों में कामचार (मनोरथका प्राप्त होना) होता है इसके आगे यह वर्णन किया है कि, पिता माता स्त्री धन यान जो कामना करता है वही उस मुक्त ज्ञानी को इच्छा करतेही प्राप्त होता है यह संसारी फल मोक्षकी इच्छा करनेवाले ब्रह्मकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले को सगुण ब्रह्मउपासना योग्य नहीं है परंज्योति ब्रह्म को प्राप्त होना परविद्या निर्गुण ब्रह्मउपासनका फल है इससे ब्रह्मकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवालेको सत्य कामत्वआदि गुणोंका उपसंहार न करना चाहिये इसका उत्तर आगे सूत्र में वर्णन करते हैं ॥ ३९ ॥

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४० ॥

अनु०-उपस्थितमें इससे उसके वचनसे ॥ ४० ॥

भाष्य-समीप स्थितहुये अर्थात् समीप प्राप्त हुयेको उपस्थित कहते हैं ब्रह्मोपस्थित में अर्थात् ब्रह्मको प्राप्तहुये में सब बंधसे मुक्तहुये अपने शुद्धरूपसे सिद्धहुये जीवात्मा में इससे अर्थात् ब्रह्मकी उपसम्पत्तिहीसे (समीपताकी प्राप्तिहीसे) सब लोकों में कामचार होता है यह उसके वचन से सिद्ध है उपसम्पत्तिसे कामचार होनेके वचनमें यह श्रुति प्रमाण है **परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्य्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति** अर्थ-ब्रह्मउपासक परं ज्योतिरूप ब्रह्मके समीप प्राप्त होकर अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपको प्राप्त होता है वह उत्तम पुरुष होता है (सः) वह (तत्र) उसमें अर्थात् ब्रह्मलोकमें (स्त्रीभिः) स्त्रियोंके साथ अथवा (ज्ञातिभिः) ज्ञातियोंके साथ (वा यानैः) अथवा विमानों वा अन्य वाहनोंसे अर्थात् वाहनोंमें सवार (जक्षन्) हँसतेहुये (क्रीडन् रममाणः) क्रीडा करते रमतेहुये (पर्य्येति) सब स्थानों सब दिशाओं में जाता अर्थात् विहार करता है यह सब इच्छामात्र से मनके संकल्प

से करता है (उपजनं) स्त्री पुरुषके परस्पर गमन (इदं शरीरं) इस शरीरको अर्थात् इस सांसारिक शरीरको व स्त्री पुरुषके समीप गमनको तुच्छ व दुःखहेतु जानकर (न स्मरन्) स्मरण न करताहुआ विहार करता है (सः) वह (स्वराड् भवति) आपही विराजमान ऐश्वर्यवान् होता है (तस्य) उसका (सर्वेषु लोकेषु) सब लोकों में (कामचारः भवति) कामचार अर्थात् इच्छा-चार होता है इससे सब लोकोंमें कामचारको प्राप्त मुक्तसे भोगके योग्य फल प्राप्त होनेसे मोक्षकी इच्छा करनेवाले को सत्यकामत्वआदि गुणोंका उपसंहार करना चाहिये ॥ ४० ॥

कर्म से विद्या व विद्याफल पृथक् होनेके निर्णय में सू० ४१ अधि० १७ ।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रति-बन्धः फलम् ॥ ४१ ॥

अनु०—उनके निर्धारणका (निश्चय से धारण करनेका) नियम नहीं है उसकी दृष्टि (श्रुतिप्रमाण) से जिससे अप्रतिबंध (प्रतिबंध न होना) पृथक् फल होता है ॥ ४१ ॥

भाष्य-ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत अर्थ- (ओम् इति) ओम् ऐसा (एतत् अक्षरम्) इस अक्षर (उद्गीथम् उपासीत) उद्गीथकी उपासना करै इत्यादि कर्मके अङ्ग में आश्रित उपासनाओंके विषय में यह विचार किया-जाता है कि, यह उपासना जुहू (स्रुवा) द्वारा पर्णमयीत्व (पर्णमयी होना) आदिके समान उद्गीथआदिद्वारा नित्य कर्मके अङ्गरूप हैं अथवा गोदोहन-आदिके समान कर्मके साथ इनका अनित्य सम्बंध है अर्थात् जैसे **जुह्वा जुहोति** अर्थ-जुहूसे (स्रुवासे) हवन करता है इस वाक्यमें जुहूको होमका साधन होना-मात्र कहा है परन्तु जुहू किस वस्तुकी यह नहीं कहा प्रकरणान्तरमें यह वाक्य है **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति** अर्थ-(यस्य) जिसकी (पर्णमयी) पत्तोंकी बनीहुई (जुहूः) स्रुवा (भवति) होती है (सः) वह (पापं श्लोकं न शृणोति) पाप कीर्ति को अर्थात् कुयशको नहीं सुनता अर्थात् उसका सुयशही होता है प्रकरणान्तरमें पठित होनेमें भी पर्णमयी होना कर्मका अङ्ग है अर्थात् पर्णमयी होनेका अङ्गके समान कर्म (यज्ञ) में नियम है ऐसेही प्रकरणान्तरमें (अन्य प्रकरणमें) विहित होनेमें भी उद्गीथआदिद्वारा उपासनयज्ञ कर्म के अङ्ग है यज्ञमें उपासनोंका नियम हैं अथवा गोदोहनके समान नित्य अङ्गरूप होनेका नियम नहीं है प्रथम पूर्वपक्ष यह है कि, उपासन

भी कर्मके अङ्ग हैं कर्महीके सङ्ग उनका नियम है और जो विद्याकी प्रशंसा में यह कहा है **यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति** अर्थ--(यत् एव) वही जिसको (विद्यया करोति) ज्ञानसे करता है (श्रद्धया उपनिषदा) श्रद्धा व ब्रह्मउपासनसे (तदेव) वही कर्म (वीर्यवत्तरं भवति) विशेष वा श्रेष्ठफलदायक होता है यह, जिसकी पर्णमयी जुहू होती है वह पापकीर्तिको नहीं सुनता इस वाक्यके समान अर्थ वाद-मात्र है अङ्गी यज्ञ पूर्ण होनेमें फल होता है जुहूमात्र अङ्ग फलदाता नहीं होसक्ता ऐसेही कर्मका अङ्गरूप विद्याकी प्रशंसा है पृथक् फलदाता न होने व अङ्ग होनेसे यज्ञों में उपासना भी नियमसे उपसंहारके योग्य हैं इसके उत्तर में उसके निर्धारणका नियम नहीं है इत्यादि यह सूत्र है इसका आशय यह है कि, उनके अर्थात् उपासनोंके अर्थात् कर्मों में उपासनोंके निर्धारणका (निश्चयसे स्थापन वा ध्यानका) नियम नहीं है किस हेतुसे उसकी (नियम न होनेकी) श्रुति से अर्थात् श्रुति से उपासनके अनुष्ठानका नियम न होना उपलब्ध होता है (ज्ञात होता है) यथा **तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद** अर्थ-(तेन) उससे अर्थात् ओम् इस अक्षर से (उभौ) दोनों (कुरुतः) करते हैं अर्थात् कर्म करते हैं (यः) जो (एतत्) इसको अक्षरको (एवं) इसप्रकारसे अर्थात् रसतम होनाआदि कहेहुये प्रकारसे (वेद) जानता है (च) और (यः) जो (न वेद) नहीं जानता है इसप्रकारसे अज्ञानी उपासना न करनेवालेके लिये भी कर्मके अनुष्ठानकी विधि होनेसे उपासन का अङ्ग होना सिद्ध नहीं होता उपासनका अङ्ग न होना निश्चित होने में कर्मफलसे पृथक्ही उपासनविधिमें वीर्यवत्तर होना कहा है यह निश्चय कियाजाता है वीर्यवत्तर होना कर्मफलही का अप्रतिबंध है अर्थात् प्रतिबंधरहित होना है कर्मफल किसी अन्य प्रबल कर्मके फल से जबतक उसका भोग नहीं होजाता बंधजाता है अर्थात् रुक-जाता है जो कर्म ज्ञान व उपासनासे कियाजाता है उसका प्रतिबंध नहीं होता कर्मका फल जो स्वर्गआदि की प्राप्ति है उससे विलक्षण व प्रतिबंध से रहित होनेसे कर्मसे भिन्नरूपही उपासनका फल है इससे यह कहा है कि, जिससे अप्रति-बंध पृथक् फल होता है अर्थात् अप्रतिबंध फल होनेसे उपासन, कर्मसे भिन्न है इससे कर्मके अङ्गमें आश्रितोंका भी पृथक् फल होनेसे गोदोहनआदिके समान कर्मोंमें उद्गीथआदि उपासनोंका नियमरहित उपसंहार होता है ॥ ४१ ॥

एकही उपास्य विशेष गुणोंसे विशेष प्रकारसे ध्येय वर्णनमें सू० ४२ अ० १८ ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

अनु०-प्रदानके समानही सो कहागया है ॥ ४२ ॥

भाष्य--दहरविद्यामें **तद्य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामान्** अर्थ–जो इस संसारमें आत्माको और सत्यकामोंको अर्थात् सत्यकामत्वआदि गुणोंको जानकर शरीर त्यागकर जाते हैं इत्यादि इसप्रकारसे दहर आकाश परमात्माका उपासन कहकर गुणोंका भी पृथक् उपासन वर्णन किया है इसमें यह संशय है कि, गुणोंके चिन्तनमें भी उन गुणोंसे विशिष्ट होनेसे दहराकाशरूप आत्माका चिन्तन गुणोंके साथ फिर करने योग्य है वा नहीं है पापरहित होनाआदि गुणोंयुक्त गुणी दहराकाश ही होनेसे उसका सदा ही अनुसंधान होसकनेसे गुणोंके लिये उसका चिन्तन फिर करनेकी आकांक्षा नहीं है इसके निर्णयके लिये यह कहा है प्रदानके समान ही वह कहागया है अर्थात् प्रदानके समान आवर्तनही के योग्य है अर्थात् फिर गुणोंके साथ चिन्तनीय है यद्यपि पापरहित होनाआदि गुणोंका गुणी एक दहर आकाश ही है और उसका चिन्तन वा ध्यान प्रथम कहागया है तथापि स्वरूपमात्रसे अर्थात् केवल आनन्दत्वआदि विशिष्ट गुणी स्वरूपमात्र चिन्तनसे सत्यकामत्वआदि गुणोंसे विशिष्टता युक्त चिन्तन भिन्न होनेसे पापरहित जरारहित इत्यादि विशेषणोंसे विशिष्ट उपास्य होना विहित होनेसे पूर्व ही स्वरूपसे अनुसंधान कियेगये की पापरहितत्वआदि विशिष्ट रूपसे अनुसंधान (चिन्तन वा ध्यान) के लिये अनुवृत्ति (फिर उसीका ग्रहण वा होना) करना चाहिये प्रदानके समान यह दृष्टान्त है जैसे त्रिपुरोडाशिनी इष्टिमें (तीन यज्ञभाग देनेके यज्ञ में) यह वाक्य है **इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रियाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे** अर्थ–(इन्द्राय राज्ञे) राजा इन्द्रके लिये (पुरोडाशं) पुरोडाश अर्थात् हविविशेषको (एकादशकपालं) एकादश कपालको (इन्द्रियाधिराजाय) इन्द्रियोंके अधिराजाके लिये (इन्द्राय) इन्द्रके लिये (स्वराज्ञे) स्वयं राजाके लिये देवे वा हवन करे इत्यादि इसमें यद्यपि इन्द्रदेवता एकही है तथापि राजाहोने आदि पृथक् २ गुणोंसे विशिष्ट होनेसे पृथक्के समान पृथक् दान कहा है ऐसेही ध्येयके विशेष गुण अंशके पृथक् होनेसे ध्यान विशेष प्रकारका होता है सो कहागया है अर्थात् जैमिनि सूत्रमें ऐसेही कहागया है सूत्र यह है **नाना वा देवता पृथक्ज्ञानात्** अर्थ–पृथक् (भिन्न) ज्ञानसे अर्थात् गुणभावविशेषसे देवता अनेक हैं वा होते हैं इस सूत्र का ऐसा भी व्याख्यान करते हैं कि, वाजसनेयकमें वाक्आदिसे प्राण को श्रेष्ठ निश्चय किया है अधिदैव अग्निआदिकों के मध्यमें प्राणको श्रेष्ठ कहा है छान्दोग्यमें संवर्गविद्यामें **वायुर्वाव संवर्गः प्राणो वाव संवर्गः** अर्थ--प्राण व वायुको संवर्ग कहा है अर्थात् समान वर्ग होना कहा है इस प्रकारसे भेद व अभेद सुननेसे संशय प्राप्त होता है कि, वायु व प्राणमें भेद है वा नहीं इसमें प्रथम पूर्वपक्षमें तत्त्वसे वायु व प्राणमें भेद न होनेका आक्षेप करके सिद्धान्तमें एकही इन्द्रके विशेषणभेदसे भिन्न पुरोडाश

प्रदानके समान गुणभेद अवस्थाभेदसे वायु व प्राणका भेद कथन है शेष व्याख्यान एकही समान समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

लक्षणोंकी अधिकतासे सब विद्याओंमें नारायण शब्द वाच्य ब्रह्म उपास्य होनेके निरूपण में सू० ४३ अधि० १९ ।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४३ ॥

अनु०–लिङ्गकी अधिकतासे वही अधिक बलवान् है वह भी कहागया है (पूर्वमीमांसामें कहागया है) ॥ ४३ ॥

भाष्य–तैत्तिरीयकमें दहरविद्याके पश्चात् यह वर्णन है **सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वसंभवं । विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं प्रभुमित्यारभ्य सोऽक्षरः परमः स्वराट् इत्यन्तं** अर्थ–(सहस्रशीर्षं देवं) सहस्रों हैं शिर जिसमें ऐसा देव (विश्वाक्षं) अनन्त हैं नेत्र जिसमें (विश्वसंभवं) संसार जिससे उत्पन्न है (विश्वं) विश्वरूप (नारायणं देवं) नारायणदेव (अक्षरम्) अविनाशी (परमं प्रभुं) परम ऐश्वर्यवान समर्थ है यहांसे आरंभ करके (सोऽक्षरः परमः स्वराट्) वह अक्षर उत्कृष्ट स्वयं विराजमान है यहांतक नारायणको वर्णन किया है इसमें सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं आदि में प्रथमाके स्थानमें द्वितीया है अर्थात् वैदिक प्रयोग होनेसे सुप् का व्यत्यय है अन्यथा आगे प्रथमान्त विशेषण जो कहेगये हैं उनके साथ अन्वय नहीं हो सका इससे द्वितीयाको प्रथमाके समान समझना चाहिये इस वाक्यमें यह संशय है कि, इस वाक्यसे पूर्व में प्रकृत (आरंभ कीगयी) विद्याके साथ एकविद्या होनेसे उसमें जो उपास्यविशेष है उसका निश्चय कियाजाता है अथवा सब वेदान्तमें वर्णन कीगयी परविद्याओंमें उपास्यविशेषका निर्धारण है पूर्वपक्ष यह है कि, दहरविद्यामें उपास्यविशेषका निर्धारण है किस हेतुसे प्रकरणसे पूर्वअनुवाकमें दहरविद्याही प्रकृत है व इसप्रकारसे वर्णित है **दहरं विपाप्मं परवेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम् । तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्तस्मिन्यदन्तस्तदुपासितव्यम्** अर्थ–(पुरमध्यसंस्थं) शरीरके मध्यमें स्थित (यत् पुण्डरीकं) जो कमल हृदयकमल (परवेश्मभूतं) परब्रह्मका स्थानरूप (विपाप्मं) पापरहित (दहरं) सूक्ष्म है (तत्रापि) उसमें भी (दहरं) सूक्ष्म (गगनं) आकाश (विशोकः) शोकरहित है (तस्मिन्) उसमें (यदन्तः) जो मध्यमें है (तत् उपासितव्यम्) वह उपासनाके योग्य है इस अनुवाकमें **पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं** इत्यादि अर्थ--कमलकलीके समान हृदय इत्यादिसे हृदयकमलका कथन इस नारायणअनुवाक का दहरविद्यामें उपास्य होनेके निर्धारण अर्थ होनेको पुष्ट करता है अर्थात्

दहरविद्यामें उपदिष्ट हृदयकमलदेशमें दहरविद्यामात्र में नारायण उपास्य है इसके उत्तरमें यह कहा है लिङ्ग (चिह्न) की अधिकता से इत्यादि दहरविद्यामें विशेष निर्धारणका नियम कहना युक्त नहीं है सम्पूर्ण परविद्याओंमें इसके उपास्यविशेष निश्चय करनेके लिये बहुत लिङ्ग अर्थात् चिह्न वा लक्षण देखेजाते हैं ऐसा होनेमें परविद्याओंमें अक्षर शिव शंभु परब्रह्म परंज्योति पर॰ तत्त्व परमात्माआदि शब्दोंसे कहागया उपास्य वस्तु जो है उसको यहां उन शब्दोंसे कहकर उसी को नारायण होना कहा है नारायणही (परमात्माही) सब विद्याओंमें उपास्य स्थूल न होनाआदि से विशेषित आनन्दआदि गुणक परब्रह्म है इसके विशेष निर्णयमें बहुत लिङ्ग (लक्षण) हैं अर्थात् चिन्तनरूप वाक्य बहु प्रकारके हैं और वह लिङ्गप्रकरणसे बलिष्ठ है यह भी कहागया है अर्थात् प्रथम काण्ड (पूर्वमीमांसा) में कहागया है यथा **श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्** अर्थ—श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्याओंके समवायमें अर्थके विप्रकर्ष से (दूर होनेसे) परवालोंकी दुर्बलता है और जो यह कहा है कि, पद्मकोशप्रतीकाश इत्यादि वचन दहरविद्याको शेष होने व दहरविद्या में उपास्य निर्धारणके लिये है यह युक्त नहीं है प्रबलप्रमाण से सब विद्याओं में उपास्य परमात्माके निर्धारणका अर्थ निश्चित होने में दहरविद्यामें भी नारायणको उपास्य होना कहनेसे नारायण शब्दसे वाच्य परमात्मा ब्रह्महीका उपास्य होना सिद्ध होता है **विश्वमेवेदं** इत्यादि में प्रथमाके अर्थ में द्वितीया पूर्वोक्त अनुसार जानना चाहिये क्योंकि आगे सबसे परे नारायणही सर्वत्र उपास्य निर्णय कियागया है यथा **अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः । स ब्रह्म स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराडिति** अर्थ—(अन्तः बहिश्च यत) भीतर व बाहर जो है (तत् सर्वं व्याप्य) उस सबमें व्यापक होकर (नारायणः स्थितः) नारायण स्थित है (सः) वह (ब्रह्म) ब्रह्म है (सः शिवः) वह शिव है (सः इन्द्रः) वह इन्द्र है (सः अक्षरः) वह अविनाशी वा व्यापक है (परमः स्वराट् इति) परम उत्कृष्ट स्वयं विराजमान है इत्यादि ॥ ४३ ॥

मनश्चित आदि अग्नियोंके क्रिया वा विद्यारूप होनेके निरूपणमें

सू० ४४—५० तक अधि० २० ।

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रियामानसवत् ॥ ४४ ॥

अनु०—पूर्वविकल्प प्रकरणसे क्रिया होवै मानसके समान ॥ ४४ ॥

भाष्य-वाजसनेयकमें अग्निरहस्यमें मनश्चितआदि अग्नियोंका वर्णन है **मनश्चितो वाक्चितः प्राणचितश्चक्षुश्चितः कर्मचितोऽग्निश्चित इति** अर्थ- मनश्चित वाक्चित प्राणचित चक्षुश्चित कर्मचित अग्निश्चित है इसप्रकारसे मनकी वृत्तियोंको मनश्चित कहा है ऐसेही वाक्चित आदिको जानना चाहिये मनश्चितके वर्णन में यह श्रुति है **षट्त्रिंशतंसहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चितः** अर्थ--(मनश्चितः) मनश्चित मनसे सम्पादित अर्थात् जोडेगये (षट्त्रिंशतंसहस्राणि) छत्तीस सहस्र (मनोमयान् अर्कान्) मनोमय पूज्यमान (आत्मनः) अपने (अग्नीन्) अग्नियोंको अर्थात् अग्निरूप अपनी वृत्तियोंको (मनः अपश्यत्) मनन देखा अर्थात् जाना ऐसेही वाक्चितआदिका वर्णन है यद्यपि मनकी वृत्तियोंकी सङ्ख्या नहीं होसकी तथापि सौ वर्ष मनुष्यके आयुके स्थापन करके सौ वर्षमें छत्तीस सहस्र दिन होते हैं ३६००० दिनतक शरीरके साथ मनकी वृत्तियोंका व्यापार होनेसे उपचारसे छत्तीस सहस्र संख्या वृत्तियोंकी वर्णन किया है यज्ञरूप कल्पना करिके वृत्तियोंको अग्निरूप प्रतिपादन किया है इस मनश्चितआदि अग्नियोंके वर्णन में इस तर्ककी प्राप्ति है कि, यह मनश्चितआदि अग्निविद्या क्रियामय यज्ञके पीछे कहेजाने से क्रियामय में अनुप्रवेश होनेसे क्रियारूप हैं अथवा विद्यामय यज्ञ वा संकल्पके साथ सम्बंध होनेसे विद्यामय हैं इस में प्रथम पूर्वपक्षमें पूर्वविकल्पप्रकरण से क्रिया होवै मानसके समान यह सूत्र है इसका आशय यह है कि, बुद्धि वा ज्ञानमें अग्निरूप से सम्पादित मनश्चित आदि क्रियामय के प्रकरण से अर्थात् क्रियामय अग्निके समीप उसके प्रकरणमें गृहीत होनेसे यज्ञकर्ताके चिंतने कल्पना कियेगये पूर्वके अर्थात् क्रियामयके विकल्प हैं इससे क्रियारूपही हैं मानसके समान यह दृष्टान्त है अर्थात् जैसे द्वादशाह में अविवाक्यमें दशमें दिन पृथिवीके पात्र से समुद्र व सोम जो प्रजापति देवताके लिये ग्रहण कियेजाते हैं उनका ग्रहण स्थापन सोमका हवन व आहरण अर्थात् हवनसे शेषरहेका ग्रहण उपह्वान शेषके भक्षणके लिये ऋत्विजोंका परस्पर अनुज्ञाकरण व भक्षण सब मनहीसे करनेका विधान है मानसिक करनेसे विद्यारूप होनेमें भी क्रियाके प्रकरणसे क्रियाहीका शेष क्रियाका विकल्परूप होना कहाजाता है ऐसेही इस अग्निकल्पको क्रियारूप समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

अनु०-अतिदेशसे भी ॥ ४६ ॥

भाष्य-अन्यके समान किसीको मानने व अन्यके समान उससे कार्यका विधान करनेको अतिदेश कहते हैं यज्ञ अग्निके साथ मनश्चितआदि

अग्नियोंका विकल्प क्रियारूप होना सूचित करता है यथा यह वाक्य है **तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः** अर्थ-(तेषां) उनके मध्यमें अर्थात् उनमेंसे (एकैकः एव) एक एक ही (तावान्) उतना है अर्थात् समर्थ व फलदाता है (यावान्) जितना (असौ पूर्वः) यह पूर्व है अर्थात् पहिले कहाहुआ क्रियामय यज्ञका अग्नि है इसप्रकार पूर्वमें कहाहुआ इष्टकचित अग्निका वीर्य (सामर्थ्य) मनश्चितआदिकोंमें अतिदेशरूपसे कहाजाता है तुल्य कार्य होनेसे विकल्प है इससे इष्टकचितके समान यज्ञ सिद्ध होनेसे मनश्चितआदि उसके अंगरूप हैं क्रियामय यज्ञके साथ सम्बंध होने व उसके समान कार्यमें विधि होनेसे क्रियारूपही हैं अब इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ४५ ॥

विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च ॥ ४६ ॥

अनु०-है तो विद्याही निर्धारणसे और दर्शनसे ॥ ४६ ॥

भाष्य-तो शब्द सूत्रमें पूर्वपक्ष की व्यावृत्तिके लिये है अर्थात् यह सूचित करनेके लिये है कि, मनश्चितआदिकोंका क्रियामय कहना युक्त नहीं है वह विद्या ही हैं अर्थात् विद्यारूपही हैं किस हेतुसे निर्धारणसे व दर्शनसे अर्थात् श्रुतिमें देखनेसे (श्रुतिप्रमाणसे) प्रथम निर्धारण (निश्चय धारण) इसवाक्य से होता है **ते हैते विद्याचित एव विद्यया हैवैते** अर्थ-(ते ह एते) ते यह (विद्याचित एव) विद्याचित ही हैं (विद्यया ह एव एते) विद्याही से यह हैं वाक् मन व चक्षुआदि व्यापारोंका इष्टका (ईंट) आदिके समान चयन (जोडाना वा एकत्र करना) संभव न होनेसे मनसे सम्पादित अग्नि होनेसे विद्यारूप होना सिद्ध होनेमें भी विद्याचितही हैं विद्याहीसे यह हैं; ऐसा निश्चयसे स्थापन विद्यामय यज्ञके सम्बन्ध वा योगसे विद्यारूपही होना जनानेके लिये है यह निश्चित होता है और श्रुतिप्रमाणसे स्पष्ट विद्यारूप यज्ञ होना देखाजाता है यथा **ते मनसैवाधीयन्त मनसैवाचीयन्त** इत्यादि अर्थ-(ते) ते अग्नि (मनसा एव) मनहीसे (आधीयन्त) आधीन कियेगये (मनसा एव) मनहीसे (अचीयन्त) चुनीगयीं अर्थात् वेदिमें ईंटें चुनीगयीं अर्थात् जोडी वा लगाईगयीं इत्यादि जो कुछ यज्ञमें कर्म कियाजाता है जो कुछ यज्ञसम्बन्धी कर्म है वह मनोमय मनश्चितोंमें मनहीसे कियाजाना कहा है इष्टकाचित अग्नियोंमें जो क्रियामय यज्ञीय कर्म कियाजाता है वह मनश्चित आदि अग्नियोंमें मनोमयही कियाजाता है इस वचनसे यज्ञका भी यहां विद्यामय होना प्रतीत होता है अब इस शंकाकी प्राप्ति है कि, इसमें विधिपद न सुननेसे फलका सम्बन्ध प्रतीत न होनेसे और क्रियामय यज्ञका प्रकरण होनेसे, इनको विद्यारूप

---

१ जिसके लिये वेदिमें ईंटें चुनीजाँय अर्थात् ईंटोंसे वेदि बनायीजाय वह इष्टकचित अग्नि है ।

होनेकी बाधा होती है इससे विद्यामय यज्ञसे सम्बन्ध होनेसे यह विद्यारूप हैं यह कहना युक्त नहीं है अब इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ४६ ॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४७ ॥

अनु०—और श्रुतिआदि अधिक बलवान् होनेसे बाधा नहीं है ॥ ४७ ॥

भाष्य--श्रुति, लिङ्ग व वाक्योंके प्रकरणसे बलीय (अधिक) बलवान् होनेसे श्रुतिसे सिद्ध विद्यारूप यज्ञ व उसके साथ इनका (मनश्चितआदिका) अन्वय (योग) होना दुर्बल प्रकरणसे बाधाको नहीं प्राप्तहोसक्ता श्रुति यह है **ते हैते विद्याचित एव** अर्थ—ते यह विद्याचितही हैं फिर उनको श्रुति विवरण करती है **विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति** अर्थ-(विद्यया ह एव) विद्याहीके साथ अर्थात् विद्यामय यज्ञके साथ सम्बंधको प्राप्त (एते) यह मनश्चितआदि (एवंविदः अर्थात् एवंविदे) ऐसा जाननेवालेके लिये अर्थात् यह विद्याचितही हैं ऐसा जाननेवालेके लिये (चिताः भवन्ति) चुनेगये होते हैं अर्थात् विद्यामययज्ञ करनेवालेके लिये मनश्चितआदिको सदा सब भूत चुनते हैं अर्थात् जोडते हैं मनकी वृत्तियां स्वप्नमें भी जब क्रियाका अभाव होता है होनेसे मनोमय मनवृत्तियों आदिका यज्ञ, बाह्य क्रिया यज्ञसे भिन्न है अब विधि न सुननेसे व प्रकरणसे भिन्न न होनेसे क्रियामयसे भिन्न विद्यामय यज्ञ नहीं है इस शंकाका अन्य हेतुसे समाधान वर्णन करते हैं ॥ ४७ ॥

अनुबंधादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ४८ ॥

अनु०—अनुबंधआदिकोंसे प्रज्ञान्तर (अन्यविद्या) के पृथक् होनेके समान और दृष्ट (ज्ञात) भी है सो ऐसा कहागया है॥४८॥

भाष्य-क्रियामय यज्ञसे यह विद्यामय यज्ञ भिन्न है यह अनुबंधआदि भिन्नता सिद्ध होनेके हेतुओंसे निश्चित होता है अनुबंधसे अभिप्राय यज्ञके अनुबंधी (साथ लगेहुये वा सम्बन्धी) ग्रह (पात्र) स्तोत्रआदिसे हैं मनश्चितआदि में ग्रहआदि अनुबंधियोंको मनहीसे सम्पादन करनेको कहा है यथा **ते मनसैवाधीयन्त मनसैवाचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त** इत्यादि अर्थ—ते अग्नि मनहीसे आधान कियेगये अर्थात् वेदिमें स्थापनाकिये मनहीसे ईंटें चुनी गयीं अर्थात् जैसी संख्या लिखी है उतनी ईंटें वेदिमें जोडी गयीं मनहीसे ग्रह अर्थात् पात्र ग्रहण कियेगये इत्यादि अर्थात् ऐसेही मनहीसे उद्गान स्तुतिपठन सब मनहीसे कहा है इसप्रकारसे क्रिया यज्ञसे भिन्न अनुबंधोंसे विद्यामय यज्ञ

पृथक् है यह सिद्ध होता है जैसे दहर विद्याआदि प्रज्ञान्तरका (अन्य विद्याओंका) क्रियामय यज्ञसे पृथक् होना श्रुतिआदिसे विदित होता है ऐसेही यह भी जानना चाहिये इसप्रकारसे अनुबंधों सहित विद्यामय यज्ञ भिन्न निश्चित होनेमें विधिकी कल्पना कीजाती है क्योंकि अनुवाद स्वरूपोंमें विधिकी कल्पना कियाजाना देखागया है और एकही प्रकरणमें होनेमें भी अपने अनुबंधोंसे युक्तोंका प्रकरण से भिन्न होना दृष्ट भी है यथा राजसूययज्ञप्रकरणपठित आवेष्टिकाप्रकरणसे अधिक व पृथक् होना वर्णन कियागया है सो प्रथम काण्डमें (पूर्वमीमांसामें) जैमिनिसूत्रमें कहागया है **क्रत्वर्थमिति चेन्न वर्णत्रयसंयोगात्** अर्थ--(क्रत्वर्थं) यज्ञके अर्थ यह है (इति चेत्) जो ऐसा कहाजाय (न) नहीं (वर्णत्रयसंयोगात) तीनों वर्णोंके संयोगसे अब इसका विवरण यह है कि, राजसूययज्ञप्रकरणमें आवेष्टिनामक एक इष्टि (यज्ञप्रकार) वर्णन किया है उसमें प्रयोगभेदसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनों वर्णके यजनका विधान है राजसूयप्रकरणमें पठित होनेसे राजसूययज्ञके लिये यह आवेष्टि है जो ऐसा कहाजाय अर्थात् कल्पना कीजाय तो यह युक्त नहीं है आवेष्टि राजसूयप्रकरणमें पठित होनेसे उसका अङ्ग वा शेष नहीं है क्यों नहीं है वर्णत्रय के संयोगसे अर्थात् राजसूयका विधान केवल राजाके लिये श्रुतिमें वर्णन किया है अन्यके लिये नहीं इसमें तीनोंका अधिकार है यथा यह वाक्य है **राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत** अर्थ- राजा स्वाराज्य की (स्वतंत्र अपने राज्यकी) इच्छा करनेवाला राजसूयसे यजन करै और आवेष्टिमें वर्णभेदसे प्रयोगभेद वर्णन किया है प्रयोगभेदसे तीनों वर्णके लिये विधि है वर्णत्रयके अनुबंधसे राजसूयसे पृथक् है ऐसेही मनश्चित आदिकी भिन्नता है ॥ ४८ ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ४९ ॥

अनु०—नहीं समान होनेसे भी उपलब्धिसे मृत्युके समान लोककी प्राप्ति वा सिद्धि नहीं होती ॥ ४९ ॥

भाष्य—जो अतिदेशसे समान धर्म होनेसे क्रियामय यज्ञका अङ्ग वा शेष होनेका पूर्वपक्ष है उसका समाधान इस सूत्रमें वर्णन करते हैं किसी अंशके सामान्यसे अतिदेशकी प्राप्ति होनेसे भी सब अंश वा व्यापारोंमें तुल्यता माननेकी आवश्यकता नहीं होती जिससे मनश्चितआदिको क्रियारूप वा क्रियाका अङ्ग मानना आवश्यक हो इससे उनके क्रिया यज्ञके अङ्ग होनेकी कल्पना नहीं होसकी किस हेतुसे उपलब्धिसे अर्थात् यह उपलब्ध होनेसे कि, किसी अंशसे समान होना कहनेसे सब अंशमें समहोना सिद्ध नहीं होता मृत्युके समान यह

दृष्टान्त है इस दृष्टान्तमें यह श्रुति प्रमाण है **स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः** अर्थ-(वै) निश्चयसे (स एष एव) वह यही (मृत्युः) मृत्यु है (यः एषः) जो यह (एतस्मिन् मण्डले) इस मण्डलमें अर्थात् आदित्यमण्डल में (पुरुषः) पुरुष है तथा **अग्निर्वै मृत्युः** अर्थ-अग्नि मृत्यु है आदित्य व अग्निमें मृत्यु शब्दका प्रयोग समान होनेमें भी सर्वथा सम होनेकी सिद्धि नहीं होती तथा **असौ वाव लोकोऽग्निः** अर्थ-यह लोक अग्नि है इत्यादि लोक व अग्निमें किसी भावविशेष से अग्निकी तुल्यता को मानके अग्निशब्दका प्रयोग किये जानेसे लोककी मुख्य अग्निरूप होनेकी सिद्धि नहीं हो सकी ऐसेही मनश्चितआदिका क्रिया यज्ञरूप वा उसका अङ्ग होना सिद्ध नहीं होता ॥ ४९ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५० ॥

अनु०-और पर ब्राह्मणसे शब्दका उसी विधिपर होना (विद्याही विधिमें होना) प्रयोजन है अधिकतासे अनुबंध है ॥५०॥

भाष्य-अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः अर्थ-यह लोक यह अग्निश्चित है इस परब्राह्मणमें अर्थात् जो मनश्चितआदिके आगे ब्राह्मण है उसमें शब्दका प्रयोजन केवल विद्या विधिपर होनेका पाया-जाता है कर्मविधिपर होना सिद्ध नहीं होता परब्राह्मणमें यह कहा है **विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः** अर्थ-(यत्र) जब (कामाः परागताः) सब कामना दूर हो जाती हैं (तदा) तब (विद्यया आरोहन्ति) विद्यासे (विद्याके प्रभावसे) सर्वोपर ब्रह्मलोकको जाते हैं (तत्र) वहां (दक्षिणा न यन्ति) दक्षिणा नहीं जाते (न अविद्वांसः तपस्विनः) और न ज्ञान व उपासनरहित तपस्वी जाते हैं और पूर्वमें यह कहा है **यदेतन्मण्डलं तपति** जो इस मण्डलको (मोक्षमार्गको) प्राप्त करता है इसप्रकारसे परमें तथा पूर्व में विद्याका विधान करनेसे मध्यमें भी विद्याहीका होना सिद्ध होता है इससे अग्निरहस्य केवल क्रियाविषयक नहीं है जो मनश्चितआदि विद्यामय हैं तो क्रियायज्ञके साथ अनुबंध क्यों किया है इसके उत्तर में अधिकतासे अनुबंध है यह कहा है अर्थात् मनश्चितआदिमें सम्पादनके योग्य अग्निके अङ्गोंकी अधिकता होनेसे क्रियायज्ञके समीप उसके साथ अनुबंध किया है ॥ ५० ॥

अब इस तर्ककी प्राप्ति है कि, जिस जीवके स्वर्ग व मोक्ष प्राप्त होनेके लिये क्रिया व मनश्चितआदि विद्यामयका उपदेश है वह कोई वस्तु देहसे पृथक् है

वा नहीं यह निश्चय होना चाहिये इससे जीवके निरूपणके लिये प्रथम पूर्वपक्ष वर्णन करते हैं—

शरीरसे भिन्न जीवके अस्तित्वनिरूपण में सू० ५१, ५२
अधि० २१ ।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५१ ॥

अनु०—एके शरीरमें आत्माके भावसे आत्माको नहीं मानते ॥ ५१ ॥

भाष्य—आत्माको नहीं मानते इतना सूत्रमें शेष है आक्षेपसे ग्रहण कियाजाता है यद्यपि शब्दप्रमाणसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध है तथापि युक्तिसे आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये प्रथम पूर्वपक्षमें यह कहा है कि, एके लोकायतिक (लोकमें जो देखने सुनने आदिसे ज्ञात होता है उसी मात्रके माननेवाले) देहसे भिन्न आत्माको नहीं मानते किस हेतुसे शरीरमें आत्माके भावसे अर्थात् आत्माके धर्म ज्ञानआदि शरीरही मात्रमें होनेसे शरीरसे भिन्न कहीं ज्ञान सुख दुःखआदिका होना देखा नहीं जाता शरीरहीमें होते हैं विना शरीरके आत्मा व ज्ञानआदिका भिन्न होना कहीं विदित नहीं होता इससे शरीरसे भिन्न आत्मा नहीं है अब इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ५१ ॥

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५२ ॥

अनु०—उसके भावमें भावी (होनेवाले) न होनेसे भेद है (शरीर व जीवमें भेद है) देहके धर्म नहीं है उपलब्धि के समान ॥ ५२ ॥

भाष्य—शरीर व जीवमें भेद है किस हेतुसे उसके अर्थात् शरीरके भाव में (होने में) भावी (होनेवाले) न होनेसे अर्थात् ज्ञान सुख दुःख स्मरणआदि जीव के धर्म शरीरके भाव में भावी न होनेसे अर्थात् रूप आकारआदि जो शरीरके धर्म शरीरके भाव में भावी हैं वह जीवसे रहित मृतक शरीर में भी बने रहते हैं ज्ञानआदि शरीरके होने में अर्थात् रहने में भी न होनेसे शरीरके धर्म नहीं हैं इससे दोनों में भेद है जिसके ज्ञानआदि धर्म हैं वह शरीरसे भिन्न है जो यह शङ्का है कि, विना शरीरके ज्ञानआदिका होना देखा नहीं जाता इस से शरीरही के धर्म हैं इसके समाधान उपलब्धिके समान यह दृष्टान्त है अर्थात् जैसे बाह्य भौतिकपदार्थों में प्रदीपआदि उपकरणोंके होने में रूप आकारआदि की उपलब्धि (प्रत्यक्षता) होती है न होने में नहीं होती इससे रूपआदिका ज्ञान-प्रदीपआदिका धर्म होना सिद्ध नहीं होता ऐसेही अविद्या अवस्था में शरीर

प्रदीपआदिके समान उपकरणमात्र हैं ज्ञानआदि शरीरके धर्म नहीं हैं इससे आत्माका अस्तित्व शरीरसे भिन्न है ॥ ५२ ॥

उद्गीथआदि जिन शाखाओं में कहेगये हैं उनही में ग्राह्य हैं वा सर्वत्र इस विचार में सू० ५३ व ५४ अधि० २२ ।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखास्वहिप्रतिवेदम् ॥ ५३ ॥

अनु०–जिससे कि, उद्गीथआदि प्रतिवेद हैं (प्रत्येक वेद में सम्बद्ध हैं) इससे अङ्ग में अवबद्ध हैं (बंधेहुये हैं) शाखाओं में नहीं अर्थात् शाखाओं में व्यवस्थित नहीं मानना चाहिये अथवा ऐसा अर्थ ग्राह्य है प्रतिवेद यह अङ्गमें अवबद्ध उद्गीथ आदि उपासना, शाखाओं में नहीं अर्थात् शाखाओंमें व्यवस्थित न मानना चाहिये सर्वत्र मानने योग्य हैं ॥ ५३ ॥

भाष्य–उद्गीथआदि यह शब्द सूत्र में शेष है आशय से ग्राह्य है जीव व शरीरभेद प्रतिपादन प्रासङ्गिक कथन को समाप्त करके अब फिर पूर्वही प्रकरणको वर्णन करते हैं **ओमेतदक्षरमुद्गीथमुपासीत लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चित इति** अर्थ–(ओम् एतद् अक्षरम् उद्गीथम्) ओम् इस अक्षर उद्गीथको (उपासीत) उपासन करै (लोकेषु) लोकोंमें (पंचविधं साम उपासीत) पांचप्रकारसे साम की उपासना करै (उक्थम् उक्थम् इति वै प्रजा वदन्ति) उक्थ उक्थ ऐसा जो प्रजा कहते हैं (तद् उक्थम् इदम् एव) वह उक्थ यही है (इयम् एव पृथिवी) यही पृथ्वी है (अयं वाव लोकः) यह निश्चयसे लोक है (एषः अग्निः चितः) यह अग्नि चित है इत्यादि यज्ञके अङ्गमें आश्रित उपासना हैं इनमें यह विचार किया-जाता है कि, यह जिन शाखाओंमें वर्णन कीगई हैं उनहींमें नियत हैं अथवा सब शाखाओंमें इनका सम्बन्ध होता है प्रतिवेदमें स्वरभेद होनेसे उद्गीथआदि में भेद होना विदित होता है उद्गीथ की उपासना करै इसप्रकारसे सामान्यसे जिस शाखामें उपासनकी विधि है उसीमें स्वरविशेषसे युक्त उद्गीथविशेषका सम्बन्ध है इससे जिन शाखाओंमें स्वरविशेषयुक्त उद्गीथआदिका सम्बन्ध-

---

१उद्गीथ शब्दका अर्थ गान है और स्वरसे गान कियेजानेसे सामवेदको भी उद्गीथ कहते हैं ओं यह मुख्य अवयव गाने योग्य मंत्रवाक्यों में होनेसे गानेके स्वरसे उच्चारण कियेगये-ओंको उद्गीथ कहा है उद्गीथ ओम् व उसके अर्थ से वाच्य ब्रह्मको उपासन करै अर्थात् चित्त लगाकर विचार व ध्यान करै ।

विशेष है उनहीमें उनको व्यवस्थित समझना चाहिये इस शङ्काके उत्तरमें प्रति-वेद यह अङ्गमें अवबद्ध इत्यादि सूत्रवाक्य है इसका विवरण यह है कि, प्रति-वेदमें सम्बन्धको प्राप्त उद्गीथआदि अङ्गमें अवबद्ध उपासनाविशेष शाखाओं मात्र में व्यवस्थित नहीं हैं जहां जहां उद्गीथआदि हैं वहां सर्वत्र उनका सम्बन्ध है यद्यपि स्वरभेदसे उद्गीथकी व्यक्तियोंमें भेद प्राप्त होता है तथापि सामान्यसे उद्गीथश्रुति से सब उद्गीथ की व्यक्तियां सम्बंधको प्राप्त हैं इससे कहीं व्यवस्था होनेका प्रमाण नहीं है सब शाखाओं में एकही समान बोध होनेके न्याय से भी सब शाखाओं में यज्ञ एकही है इससे सब शाखाओं में एकही यज्ञ-बुद्धि से ज्ञात बुद्धि में स्थित होनेसे यज्ञके अङ्गरूप उद्गीथआदि भी एकही है इससे सब शाखाओं में समान सम्बंधको प्राप्त होते हैं ॥ ५३ ॥

मंत्र आदिवद्वा विरोधः ॥ ५४ ॥

अनु०–अथवा मंत्रआदिके समान विरोधरहित हैं ॥ ५४ ॥

भाष्य–दूसरे प्रकारसे दृष्टान्त से समाधान वर्णन करते हैं कि, कैसे अन्य शाखाओं में प्राप्त उद्गीथआदिकों में अन्य शाखामें विहित प्रत्ययोंकी प्राप्ति होगी मंत्रआदिके समान विरोध न होनेसे अर्थात् जैसे एक एक शाखा में कहे-गये भी अंगी यज्ञके मंत्रआदि उसी प्रकरण वा अन्य प्रकरणकी श्रुतियों से सब शाखाओं में एकही प्रकारसे विनियोगको प्राप्त होते हैं उनके विनियोग होनेमें विरोध नहीं होता ऐसेही उद्गीथआदि में विरोध नहीं है यथा **अग्नेर्वैहोत्रं** इत्यादि अन्यवेदके मंत्रोंका अन्यवेदमें ग्रहण देखाजाता है जैसा कि, इसका वर्णन पूर्वही सूत्र ३३ के व्याख्यान में कियागया है आदि शब्दसे कर्म गुणका ग्रहण है मंत्रके समान अन्य शाखाओंमें उत्पन्न कर्म गुणोंका अन्य-शाखाओंमें ग्रहण होता है ऐसेही यज्ञके अङ्गमें आश्रित उद्गीथआदि प्रत्यय वा उपासनोंका जिन शाखाओंमें उपदेश है उनसे भिन्न शाखाओंमें भी ग्रहण करना युक्त है सब शाखाओंमें सम्बंध माननं व उपासनोंके विनियोग होनेमें विरोध नहीं है ॥ ५४ ॥

वैश्वानर ब्रह्म समस्तही रूपसे उपास्य होनेके निर्णय में सू० ५५ अधि० २३ ।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ५५ ॥

अनु०–यज्ञके समान समस्तकी श्रेष्ठता है जिससे वैसेही श्रुति देखाती है अर्थात् वर्णन करती है ॥ ५५ ॥

भाष्य–छान्दोग्यमें प्राचीनशाल औपमन्यवआदिके परस्पर विचार करनेकी कथा में वैश्वानर विद्याका (विश्वरूप पुरुष आकारसे ब्रह्मकी उपासनाका) वर्णन है उसमें

स्वर्लोकआदि वैश्वानर परमात्माके अवयव वर्णन कियेगये हैं यथा द्यौर्मूर्द्धा आदित्यश्चक्षुर्वायुः प्राणः इत्यादि अर्थ-(द्यौः मूर्द्धा) स्वर्गलोक शिर है (आदित्यः चक्षुः) सूर्य्य नेत्र हैं (वायुः प्राणः) वायु प्राण है इत्यादि इसमें यह संशय होता है कि, इस त्रैलोक्य शरीरक ब्रह्मउपासनमें व्यस्त ब्रह्मका उपासन करना चाहिये अथवा समस्तका उपासन करना चाहिये आदिमें व्यस्त उपासनका उपदेश होनेसे व्यस्तहीका उपासन करना युक्त विदित होता है क्योंकि प्राचीनशाल औपमन्यवआदि केकय अश्वपतिके पास जाकर यह पूछा है कि, जिस वैश्वानर आत्माकी आप उपासना करते हैं उसको हमसे वर्णन कीजिये केकय अश्वपतिने उनमें से प्रत्येकको अपने उपास्य द्युलोकआदिको शिरआदि व्यस्तोंमें (भिन्न भिन्न अंगोंमें) उपासनको और उन प्रत्येकमें फलको वर्णन किया है और एक एक उपास्य अङ्गको भी वैश्वानर कहा है यथा एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः अर्थ-(एषः सुतेजाः) यह द्युलोक आत्मा वैश्वानर है इससे व्यस्तही की उपासना करनेयोग्य है और समस्त उपासनको अर्थात् सब अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वैश्वानर शरीरके उपासनको इसप्रकारसे वर्णन किया है तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ इत्यादि अर्थ-(तस्य ह वै एतस्य आत्मनः वैश्वानरस्य) उस इस आत्मा वैश्वानरका (मूर्द्धा एव सुतेजाः) मूर्द्धाही अर्थात् शिरही द्युलोक है (चक्षुः विश्वरूपः) नेत्र सूर्य हैं (प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा)प्राण वायु है (सन्देहः) मध्यशरीर (बहुलः) आकाश है (रयिः)जल (बस्तिः) मूत्रस्थान है (पृथिवी एव पादौ) पृथिवी दोनों पद हैं इसप्रकारसे दोनोंका उपदेश होनेसे दोमेंसे किसको श्रेष्ठ समझना चाहिये वा दोनोंको समान समझना चाहिये अथवा एकहीको निश्चित करना चाहिये इसके निर्णयके लिये सूत्रमें कहा है कि, समस्तही की श्रेष्ठता है अर्थात् प्रामाणिकता है क्योंकि समस्तकी एकवाक्यता सिद्ध होती है यथा यह कथा है कि, प्राचीनशालनामक औपमन्यव ([1] उपमन्युके पुत्र) आदि पांच महर्षि वैश्वानर आत्माके जाननेकी इच्छासे उद्दालकके पास गये जब उद्दालक विद्या उपदेश करनेको समर्थ न हुये तब उद्दालकसहित छहों अश्वपति केकयके पास जाकर उक्त प्रकारसे वैश्वानरकी जिज्ञासा की अश्वपति केकयके उपदेश से स्वर्लोकआदिसे पृथिवीपर्य्यन्त शरीरवान् परमात्मा वैश्वानरको उपास्य, जानकर उसके फल सब लोकोंमें सब भूतोंमें सब आत्माओंमें अन्नका भोग करनारूप व ब्रह्म अनुभवको प्राप्तहुये इसप्रकारसे अन्तवाक्यसिद्धान्त से एक वाक्यका होना निश्चित होता है । इसप्रकारसे एक वाक्य होना सिद्ध होने में अवयवविशेषों में उपासन करनेके वचन व फल

---

१ ह वै यह दोनों अव्यय हैं भाषामें इनका अर्थ यथार्थ वाक्यमें वाच्य न होनेसे अनुवाद में इनका अर्थ छोड दिया है ह प्रसिद्धवाचक वै निश्चयवाचक समझना चाहिये ।

का निर्देश, समस्त उपासनका एकदेश में अनुवादमात्र है यह निश्चय किया-जाता है इसमें यज्ञके समान यह दृष्टान्त है जैसे दर्श (अमावस्या) पौर्णमास-आदि हवन वा यज्ञों में सम्पूर्ण अङ्गोंसहित प्रधान प्रयोगही एक समस्तरूपसे विवक्षित है व्यस्तोंके प्रयोगकी विधि नहीं है ऐसेही वैश्वानर समस्तही रूपसे उपास्य है यही व्यस्त उपासनमें अनर्थ वर्णन करतीहुई समस्त उपासनको प्रामाणिक होना श्रुति प्रतिपादन करती है यथा श्रुति में कहा है **मूर्द्धा ते व्यपतिष्यत्** अर्थ-(ते मूर्द्धा) तेरा शिर (व्यपतिष्यत्) गिर जाता इसका व्याख्यान यह है कि, अश्वपति केकय राजाने औपमन्यवआदिसे पृथक् २ प्रथम यह प्रश्न किया कि, तुम कैसा उपासन करते हो प्रथम औपमन्यवने स्वर्लोकके उपासनको वर्णन किया सुनकर उसकी प्रशंसा व फलको कहकर अन्तमें वैश्वानरका शिर मात्र है यह कहकर यह कहा कि, जो तू मेरे पास न आता तो तेरा शिर गिरजाता ऐसेही दूसरों से एक एक अंगकी उपासना सुनकर कहा फिर द्युलोकआदि लोकको शिरआदि सब अङ्गोंको वर्णन करके समस्तरूप से उपासना करनेका उपदेश किया है इससे समस्तही उपासन करना युक्त है कोई यह कहते हैं कि, समस्तकी श्रेष्ठता कहनेसे व्यस्तका भी उपास्य कहना सूत्रकारका आशय होना सिद्ध है श्रेष्ठतामात्रका निषेध करना विदित होता है इसका उत्तर यह है कि, यह कल्पना करना युक्त नहीं है यहां ज्याय-स्त्वशब्द श्रेष्ठतावाचक न ग्रहण करना चाहिये प्रमाणवत्त्व (प्रमाणवान् होना) वाचक है यह अर्थ आचार्यों से गृहीत होने व उत्तमतासे घटित होनेसे मानने योग्य है यदि यह शंका हो कि, भूमविद्यामें यद्यपि भूमा सर्वव्यापकही मुख्य उपास्य है तथापि नामआदि अवान्तर वा अङ्गरूप उपासन व उनका फलभी अङ्गीकार कियाजाता है ऐसेही वैश्वानरविद्यामें भी प्रदेश व अङ्ग-उपासनाको ग्रहण करना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि, भूमविद्यामें तेरा शिर गिरजाताआदि इसप्रकारका कोई अनर्थ व निषेधपर वचन नहीं है इससे दोनोंकी समता नहीं है वैश्वानरविद्यामें समस्तही उपास्य होना मन्तव्य है ॥ ५५ ॥

शब्द व गुणआदिके भेदसे विद्याओंके भेद व अभेद होनेके निर्णयमें सू० ५६ अधि० २४ ।

नानाशब्दादिभेदात् ॥ ५६ ॥

अनु०—नाना शब्दआदिके भेदसे ॥ ५६ ॥

भाष्य—सब ब्रह्मविद्या ब्रह्मप्राप्तिरूप एक मोक्षही फलसम्बंधी एक शाखामें वा अन्य शाखामें प्राप्त जो सत्विद्या भूमविद्या दहरविद्या उपकोसलविद्या शाण्डिल्यविद्या वैश्वानरविद्या आनन्दमयविद्या अक्षरविद्या व अन्य प्राणविद्या-

आदि हैं इनमें यह विचारने योग्य है कि, इनमें विद्या एक है अथवा विद्यामें भेद है प्रथम पूर्वपक्ष यह है कि, विद्या एकही है क्योंकि वेद्य (जानने योग्य) ब्रह्म एकही है वेद्यही विद्याका रूप है इससे रूपकी एकतासे विद्याकी एकता है इसके उत्तरमें सिद्धान्तवर्णनमें यह कहा है कि, नाना शब्दआदिके भेदसे अर्थात् विद्या अनेक हैं किस हेतुसे शब्दआदिके भेदसे आदि शब्दसे अभ्यास संख्या गुण क्रिया नाम ग्रहण कियेजाते हैं यद्यपि जाने उपासन करे इत्यादि शब्द समानअर्थ एकही ब्रह्मविषयक प्रत्ययों (ज्ञानों) के वाचक हैं तथापि पृथक् पृथक् प्रकरणमें कहेगये जगत्का एक कारण होना पापरहित होना आदि विशेषणोंसे विशिष्ट ब्रह्मविषयक प्रत्ययोंकी आवृत्तियोंके बोध करानेवाले हैं शब्दआदि भेदोंसे विधि व उपास्य अंशमात्रमें अभेद होनेमें भी विद्यामें भेद होना सिद्ध होता है ब्रह्मप्राप्तिरूप फलसम्बंधी उपासनविशेषके वर्णन करनेवाले अन्यप्रकरणकी आकांक्षारहित वाक्य प्रत्येक प्रकरणमें विलक्षण विद्याको प्रतिपादन करते हैं यह सिद्ध होता है ॥ ५६ ॥

विद्याके विकल्पवर्णन में सू० ५७ व ५८ अधि० २५ ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५७ ॥

अनु०-विकल्प है अविशिष्ट फल होनेसे (सामान्य फल होनेसे) ॥ ५७ ॥

भाष्य-ब्रह्मकी प्राप्ति जिनका फल है ऐसी सब विद्या दहरविद्या आदिकोंका अनेक होना कहागया अब इन विद्याओंका एक पुरुषमें प्रयोजन होनेसे समुच्चय भी संभव होता है अथवा प्रयोजन न होनेसे विकल्पही मात्र है इसमें क्या युक्त है समुच्चय भी सम्भव होता है क्योंकि एक एक फलवाले भिन्न शास्त्रोंका भी समुच्चय (अनेकको एकमें मिलाना) देखनेमें आता है यथा एकही स्वर्गआदिके आदि साधन अग्निहोत्र दर्श पूर्णमासआदि यज्ञोंका उसी स्वर्गकी अधिकताकी अपेक्षासे एकपुरुषमें समुच्चय होता है ऐसेही इन विद्याओंमें भी ब्रह्मके अनुभवकी अधिकताकी अपेक्षासे समुच्चय होता है इस पक्षके निषेधमें यह कहा है विकल्प है अर्थात् विकल्पहीमात्र है समुच्चय नहीं है किस हेतुसे अविशिष्ट फल होनेसे (विशिष्ट फल न होनेसे) अर्थात् एकही समान फल होनेसे सब ब्रह्मविद्याओंका अधिकतारहित एकसमान अतिशय आनन्दरूप ब्रह्मका अनुभव फल होना सुना॰ जाता है यथा **ब्रह्मविदाप्नोति परं** अर्थ-ब्रह्मका जाननेवाला परं सुखरूप मोक्षको प्राप्त होता है **स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य** अर्थ-वह एक ब्रह्मका आनन्द (श्रोत्रियस्य) वेदके पढ़नेवाले (च अकामहतस्य) व कामनारहितको होता है तथा **यदापश्यः पश्यति रुक्मवर्णम्** इत्यादि श्रुतिवाक्य जिसका अर्थ यह है कि, जब देखनेवाला ज्ञानी

प्रकाशस्वरूप वेदके कारणरूप कर्ता ईश्वर पुरुषको देखता है अर्थात् जानता है तब ज्ञानी पाप व पुण्य को त्याग कर शुद्ध प्रकाशस्वरूप हो परब्रह्मकी समता को प्राप्त होता है यह श्वेताश्वतर उपनिषद्की श्रुति है इसका पाठ व अर्थ पूर्वही लिखायगया है इत्यादि श्रुतिप्रमाणसे अपने व परब्रह्मके स्वरूपको अनुभव करनेवाला अतिशय आनन्दरूप होता है ऐसा ब्रह्मका अनुभव एकही विद्यासे जब प्राप्त होता है तो अन्यसे क्या प्रयोजन है इससे समुच्चय संभव नहीं है स्वर्गआदिको देश काल व स्वरूपसे परिमित होनेसे उनमें देशआदिकी अपेक्षासे अधिकता संभव होनेसे उनकी इच्छा करनेवालेके लिये समुच्चय संभव होता है यहां स्वर्गआदिसे विपरीतस्वरूप ब्रह्ममें वह संभव नहीं होता इससे विद्याओंका विकल्पही है ॥ ५७ ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्व-हेत्वभावात् ॥ ५८ ॥

अनु०—काम्य (कामना योग्य) यथाकाम्य समुच्चय किये-जावे वा नहीं पूर्वहेतुके अभावसे ॥ ५८ ॥

भाष्य—जिस भावसे उपास्यका उपासक ध्यान करेगा उसके समान स्वरूप व सुख भोगको प्राप्त होता है यह फल सब सांसारिक कामनारहित उपासन-विद्याओंमें समान होनेसे विद्याओंका विकल्पमात्र होना कहा है अब काम्य-विद्याओंके समुच्चयविषयमें आक्षेपपूर्वक सिद्धान्त वर्णन करते हैं कि, अब इस शंका की प्राप्ति है कि, काम्यविद्या अर्थात् जिनमें कामना-योग्य पदार्थोंके प्राप्त होनेका फल है यथा यह उपासनका उपदेश है **स य एतमेव वायुं दिशां वत्सं वेद न स पुत्ररोदं रुदिति** अर्थ—(सः यः) वह जो (एतम् एव) इसी (दिशां वत्सं) दिशाओंके वत्सरूप (वायुं) वायु को (वेद) जानता है अर्थात् उपासन करता है (सः) वह (पुत्ररोदं) पुत्र-रोदनको अर्थात् पुत्रनिमित्त रोदनको (न रुदिति) नहीं रोता है अर्थात् पुत्र-मरण वा अन्य पुत्रसम्बंधी शोक उसको नहीं होता इत्यादिमें जिनमें ब्रह्म-प्राप्तिसे भिन्न फल है इनका समुच्चय करना चाहिये वा नहीं इसके निर्णयमें यह उत्तर है समुच्चय करनाचाहिये किस हेतुसे पूर्वहेतुके अभावसे अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति-रूप अविशिष्ट फल होनेके हेतुका अभाव होनेसे विशिष्ट फल होनेसे समुच्चय किये-जायँ यह सूत्रमें शेष है ॥ ५८ ॥

उद्गीथआदि उपासनाओंके नियमरहित यथाकाम ग्राह्य होनेके निरूपण में सू० ५९—६४ अधि० २६ ।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ५९ ॥

अनु०—अङ्गोंमें यथाश्रयभाव है ॥ ५९ ॥

भाष्य–अङ्गोंमें अर्थात् कर्मके अङ्ग उद्गीथआदिकोंमें आश्रित जो उद्गीथ-आदि प्रत्यय वा विद्या हैं वह यज्ञकर्ममें उद्गीथआदिके समान नियमसे ग्रहणके योग्य हैं अथवा यथाकाम (इच्छानुसार) ग्रहणके योग्य हैं इसके निर्णयके लिये प्रथम पूर्वपक्षविषय में यह सूत्र है अंगों में यथाआश्रय भाव है अर्थात् जैसे यज्ञकर्मके अङ्गरूप होनेसे यज्ञमें उपासनोंके आश्रय उद्गीथ-आदि नियमसे ग्रहण कियेजाते हैं ऐसेही उनमें आश्रित उपासना उनके द्वारा यज्ञके अङ्गरूप होनेसे नियमसे ग्रहणके योग्य हैं आश्रित आश्रयके आधीन होते हैं इससे उद्गीथआदि यज्ञके अङ्गों में उद्गीथ प्रत्ययों वा उपासनाओंका यथा-आश्रय (आश्रयके समान) भाव है अर्थात् उनके आश्रयके सदृश उपासनाओं-का भी भाव (अस्तित्व) है अर्थात् उद्गीथके समान उद्गीथआदि उपासना भी यज्ञके अङ्ग यज्ञमें अवश्य ग्राह्य हैं ॥ ५९ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६० ॥

अनु०–शासनसे भी ॥ ६० ॥

भाष्य–शासन से भी (विधान से भी) अर्थात् उद्गीथमुपासीत अर्थ–उद्गीथकी उपासना करे इसप्रकार से उद्गीथके अङ्ग होनेसे उपासन का भी शासन अर्थात् विधान होनेसे उपादानका (ग्रहणका) नियम है ॥ ६० ॥

समाहारात् ॥ ६१ ॥

अनु०–समाहारसे ॥ ६१ ॥

भाष्य–होतृषदनाद्धैवाऽपि दुरुद्गीथमनुसमाहरति अर्थ–(होतृ-षदनात् ह एव) होताके प्रशंसनसे अर्थात् प्रणवसे (दुरुद्गीथम् अपि) दुष्ट उद्गी-थको भी अर्थात् स्वरआदि दोषसे भ्रष्ट वा दूषित उद्गीथको भी (अनुसमा-हरति) पीछे संभार करता है अर्थात् उद्गाता दुरुद्गीथको पीछे प्रणवसे निर्दोष करता है इसप्रकारसे अन्यवेदमें कहेहुये प्रत्ययोंका अन्यवेदमें समाहारसे अर्थात् समाहार कहनेसे श्रुतिनियमसे उपासनोंका उपादान (ग्रहण) सूचित करती है ॥ ६१ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६२ ॥

अनु०–गुण साधारण होनेकी श्रुतिसे ॥ ६२ ॥

---

१ ओम् वा अन्य वेदमंत्रके शब्द जो सामवेदके स्वर व ध्वनिसे पढ़ेजाते हैं उनको उद्गीथ नामसे कहा है और ओम् शब्दआदि से वाच्य अर्थके ज्ञान व ध्यानको उद्गीथ प्रत्यय वा विद्या वा उपासना कहा है ।

भाष्य--उपासनाका गुण व उपासनाका आश्रयरूप ओंकारको तीन वेदमय साधारण होना श्रुति वर्णन करती है **यथा तेनेयं त्रयीविद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति** अर्थ--(तेन) उससे अर्थात् ओंकारसे (इयं त्रयी विद्या) यह त्रयीविद्या अर्थात् ऋग्वेद यजुर्वेद व सामवेद इन तीन वेदोंका समुदायरूप वेदत्रयी विद्या (वर्तते) वर्तमान है (ओम् इति श्रावयति) ओं यह सुनाता है (ओम् इति शंसति) ओं यह प्रशंसा करता है (ओम् इति उद्गायति) ओं यह उद्गान करता है इसप्रकारसे तीनों वेदमें साधारण होनेकी श्रुतिसे उपासनोंका समाहार होना सिद्ध होता है उससे इस शब्दसे प्रकृतका ग्रहण व विचार होनेसे उपासना युक्तही प्रणव सर्वत्र प्राप्त होता है इससे उपासनका प्रणव सहभाव नियम देखने से अर्थात् प्रणवके साथ होनेका नियम देखने से उद्गीथआदि उपासनाओंका उद्गीथआदिके समान नियमसे उपादान (ग्रहण) है वा सिद्ध होता है उद्गीथ आश्रयके साथ उनमें आश्रित प्रत्ययोंका सहभाव (साथ होना) युक्त है अब इस पूर्वपक्षका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ६२ ॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६३ ॥

अनु०--नहीं उनके सहभावकी श्रुति न होनेसे ॥ ६३ ॥

भाष्य--यज्ञों में उद्गीथआदि उपासनाओंका उद्गीथआदिके समान उपादानका नियम नहीं है किस हेतुसे नहीं है उनके साथ होनेकी श्रुति न होनेसे अर्थात् उपासना उद्गीथका अङ्ग है इसप्रकारसे उद्गीथके अङ्ग होनेकी कोई श्रुति नहीं है अङ्ग ही होनेमें सहभावका नियम होता है न होनेमें सहभावका नियम नहीं है यह निश्चित होता है यद्यपि **उद्गीथमुपासीत** अर्थ--उद्गीथको उपासन करै अर्थात् उद्गीथकी उपासना करै इस पदसमुदायमें अन्य अधिकार का होना प्रतीत नहीं होता तथापि उसीके पश्चात् जो यह कहा है कि, वही जो विद्यासे करता है वही अधिक वीर्यवान् होता है इसप्रकारसे यज्ञ के अधिक फल देनेमें समर्थ होने में विद्याको साधन व द्वारा होना प्रतिपादन किया है इससे यज्ञफलसे भिन्नफल साधनरूप होनेसे उद्गीथकी उपासना करै इसप्रकारसे विद्याका विधान कियागया है उपासनाका भिन्न फल का साधन होना सिद्ध होनेसे यज्ञके अङ्गरूप उद्गीथके अङ्गभावसे विद्याका विनियोग होना संभव नहीं होता इससे उपासनके आश्रयकी अपेक्षामें समीपमें उपस्थित उद्गीथ आश्रयमात्र होता है उद्गीथ यज्ञका अङ्गरूप है यज्ञमें प्रयुक्त उद्गीथआदि जिसका आश्रय है ऐसी उपासनाविषयमें यज्ञके अधिकारीही कर्मयज्ञके वीर्यवत्तर होनेकी (अतिशय फल देनेमें समर्थ होनेकी) इच्छा निमित्त यह भिन्न अधिकार है इससे यज्ञ में उनके उपादानका नियम नहीं है वीर्यवत्तर होना यज्ञफलका

अन्य प्रबलकर्मके फलसे न रुकना है वीर्यवत्तर फलकी इच्छा करनेवाला उपासनमें प्रवृत्त होवे अन्यथा नहीं इससे सहभावकी श्रुति न होनेसे यथाकामही उपासनोंका अनुष्ठान कर्तव्य है ॥ ६३ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६४ ॥

अनु०—दर्शनसे भी ॥ ६४ ॥

भाष्य—श्रुति भी उपासनोंके उपादानका नियम नहीं है यह देखाती है श्रुतिसे यह दर्शन होनेसे भी अर्थात् देखनेसे भी यह सिद्ध होता है कि, यथाकाम उपासनोंका अनुष्ठान है उद्गीथआदिके समान यज्ञके अङ्गरूप व उसमें समवायसे आश्रित नहीं है श्रुतिवाक्य यह है **एवंविद्धै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्च ऋत्विजोऽभिरक्षति** अर्थ-(एवंविद् वै) ऐसा जाननेवाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा (यज्ञं) यज्ञको (यजमानं) यजमानको (च) और (सर्वान् ऋत्विजः) सब ऋत्विजोंको (अभिरक्षति) रक्षा करता है इसप्रकारसे श्रुति ब्रह्मके जाननेहीसे सबका रक्षण वर्णन करती है उद्गाताआदिकोंके जाननेके नियम न होनेही में ऐसा एक विशेषसे सबकी रक्षा होना वा कहना संभवित होता है इस प्रमाणसे पूर्वमें कहेहुये समाहारलिङ्गोंका (चिह्न वा लक्षणोंका) प्रायिकत्व होना अर्थात् बहुधा होना विदित होता है सदा होनेका नियम सिद्ध नहीं होता इससे यथाकामही उपासनोंका समुच्चय वा विकल्प है नियम नहीं है यह सिद्धान्त है ॥ ६४ ॥

इति श्रीवेदान्तदर्शनसूत्राणां सानुवाददेशभाषाकृतभाष्ये श्रीमत्प्यारेलालात्मज-बांदामण्डलान्तर्गततरहांत्याख्यग्रामवासिश्रीमत्प्रभुदयालुनिर्मिते तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थपादप्रारंभः ।

पूर्व पादमें विद्याके एकहोने व अनेक होने व गुणोंके उपसंहार करने व न करनेका विचार करके अब इस पादमें विद्यासे पुरुषार्थ सिद्ध होता है अथवा कर्मसे यह निरूपण करते हैं ॥

आत्मज्ञानसे पुरुषार्थ होना निरूपणमें सू० १—२० तक अधि० १ ।

पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

अनु०—इससे पुरुषार्थ होता है शब्दसे (शब्दप्रमाणसे) यह बादरायण आचार्य मानते हैं ॥ १ ॥

भाष्य—इससे वेदान्तविहित आत्मज्ञानसे पुरुषार्थ (मोक्ष) होता है यह बादरायण आचार्य मानते हैं किस हेतुसे शब्दसे अर्थात् शब्दप्रमाणसे यथा तरति

शोकमात्मविद् अर्थ-(आत्मविद्) आत्मा का जाननेवाला (शोकं तरति) शोकको तरता है अर्थात् शोकसे पार होजाता है शोकरहित मुक्तरूप होता है ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति अर्थ-(ब्रह्मविद्) ब्रह्मका जाननेवाला (ब्रह्म एव) ब्रह्मही (भवति) होता है मुक्तअवस्थामें ब्रह्मके समान शुद्ध निर्विकार आनन्द भोगकर्ता होनेसे अभेदके समान मानकर ब्रह्मही होना कहा है ब्रह्मविदाप्नोति परम् अर्थ-ब्रह्मका जाननेवाला (परम् आप्नोति) परब्रह्मको प्राप्त होता है वा परमोक्षको प्राप्त होता है इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मज्ञानहीसे पुरुषार्थ होना सिद्ध होता है अब इसमें पूर्वपक्ष वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

अनु०-शेष होनेसे पुरुषार्थवाद है जैसे औरोंमें यह जैमिनि मानते हैं ॥ २ ॥

भाष्य-विद्यासे पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है यह शब्दसे सिद्ध होता है यथा ब्रह्मका जाननेवाला मोक्षको प्राप्त होता है ऐसा कहना यथार्थ नहीं है कर्मोंमें कर्ता के स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होना भी आवश्यक है इससे कर्ता आत्माके स्वरूपका प्रतिपादन व आत्मज्ञान कर्मका शेष है शेष होनेसे पुरुषार्थवाद है व फलश्रुति अर्थवादमात्र है जैसे अन्य द्रव्यादिकोंमें अर्थवाद है यह जैमिनि आचार्य मानते हैं यथा यह कहा है **द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्** अर्थ-द्रव्य गुण संस्कार व कर्मोपर अर्थ होनेसे फलश्रुति अर्थवाद होगी अर्थात् अर्थवाद मानना चाहिये द्रव्यआदिमें अर्थवादरूप फलप्रतिपादनमें यह श्रुति है **यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति** अर्थ-जिसकी पर्णमयी जुहू अर्थात् पलासमयी हवनप्राय स्रुवाके समान पात्र जुहू होता है वह पापकीर्तिको अर्थात् कुयशको नहीं सुनता इसप्रकारकी फलश्रुतियां जैसे अर्थवाद हैं ऐसेही आत्मज्ञानमें जो फलश्रुति है वह अर्थवाद है. यदि यह शङ्का हो कि, कर्मोंमें कर्ता जीवसे भिन्न मुमुक्षुओंसे प्राप्त होने योग्य वेदान्तवाक्योंमें जानने योग्य परमात्मा उपदेश किया जाता है यह पूर्वही महर्षि सूत्रकारने संभव न होनेसे इतर नहीं है अर्थात् जीव नहीं है. भेद कहनेसे भी, असंभव न होनेसे शरीरवान् नहीं है इत्यादि सूत्रों से प्रतिपादन किया है और **तदेव ब्रह्म तत्त्वमसि** अर्थ-वही ब्रह्म है वह तू है इत्यादि समान अधिकरण होनेसे जीवसे भिन्न ब्रह्म नहीं है इत्यादि अभेदवाक्योंको भी **अधिकं तु भेदनिर्देशात्** अर्थ-भेद कथन से अधिक है अर्थात् जीवसे परमात्मा अधिक है इसप्रकारके वाक्यों से खण्डन किया है और समान अधिकरणका निर्देश अर्थात् एकही धर्मों में जीव व परमात्माका धर्म वर्णन करना भी **ऐतदात्म्यमिदं सर्वं** अर्थ-यह सब जगत् इस आत्मामय अर्थात् परमात्मा

मय है तथा सर्वं खल्विदं ब्रह्म अर्थ--निश्चय यह सब ब्रह्म है इत्यादि वाक्योंसे चेतन अचेतन सब पदार्थका आत्मस्वरूप होने व सबमें अवस्थित होनेके अभिप्रायसे है यथा अवास्थिति से ऐसा काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं इत्यादि सूत्रों से प्रतिपादित है (प्रतिपादन कियागया है) वह अब कैसे यह प्रतिपादन कियाजाता है कि,कर्ता आत्माके स्वरूप उपदेशपर जो वेदान्त शब्द हैं अर्थात् विद्या हैं वह कर्मके अङ्गरूप हैं उत्तर यह है कि, वेदान्तवाक्योंहीमें विद्यासे कर्मकी प्रधानता सूचित करनेवाले लक्षणोंसे पुष्टताको प्राप्तहुये समान अधिकरण होनेके कहनेसे वेदान्तके शब्द, देहसे भिन्न जीवस्वरूपके यथार्थ प्रतिपादनपर हैं यह अवश्य अङ्गीकार करने योग्य है यह पूर्वपक्षीका अभिप्राय है जो यह कहाजाय कि, कर्ताके संस्कारद्वारा वा सम्बंध हेतुसे विद्याका यज्ञमें अनुप्रवेश वा यज्ञका शेष होना मन्तव्य है तो यह कहना असङ्गत है क्योंकि भिन्नलौकिक व वैदिक कर्मोंका एकही कर्ता साधारण होनेसे व्यभिचाररहित यज्ञके सम्बंधी होनेका अभाव नहीं होता और एक कर्ता होनेसे लौकिक कर्मका अङ्ग वैदिक कर्म नहीं समझाजाता ऐसेही यज्ञकर्म व उपासनाका एक कर्ता होनेसे यज्ञकर्मका अङ्ग वा शेष उपासनाको मानना युक्त नहीं है तो ऐसा कहना अयुक्त है लौकिक कर्मकी कर्ताके देहसे भिन्न न होनेहीमें प्राप्ति है व देह रहनेहीतक सम्बंध होनेसे और देहसे भिन्न नित्य आत्माके स्वरूपका यज्ञहीमें उपयोग होनेसे उसके स्वरूपप्रतिपादनद्वारा यज्ञमें अनुप्रवेश कहने में विरोध नहीं होता इससे विद्या यज्ञका शेष होनेसे विद्या से पुरुषार्थकी सिद्धि कहना युक्त नहीं है ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

अनु०—आचार देखनेसे ॥ ३ ॥

भाष्य—स्मृति व इतिहास में ब्रह्मज्ञानियोंका आचार देखनेसे यह सिद्ध होता है कि, विद्या कर्मका अङ्ग है जनकआदि ब्रह्मज्ञानी यज्ञदक्षिणाआदि अनेक कर्मोंको किया है उद्दालकआदिकोंके पुत्र अनुशासनआदि देखनेसे उनका गृहस्थ होना व कर्मसम्बंध होना निश्चित होता है जो केवल विद्या अर्थात् ज्ञानसे पुरुषार्थ सिद्ध होता तो अनेक परिश्रमयुक्त कर्मोंको वह क्यों करते जनकआदिकोंको कर्म करनेसे सिद्धि प्राप्त होनेमें यह स्मृतिवाक्य प्रमाण है **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः** इत्यादि अर्थ– (कर्मणा एव) कर्महीसे (जनकादयः) जनकआदि (संसिद्धिम् आस्थिताः) अच्छेप्रकारसे सिद्धिको प्राप्त हुये हैं इत्यादि इससे विद्या कर्मका अङ्ग है केवल विद्यासे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

अनु०—उसकी श्रुतिसे (श्रुतिप्रमाण होनेसे) ॥ ४ ॥

भाष्य—उसकी विद्या के कर्म के अङ्ग होने की श्रुति होनेसे विद्याका कर्म का अङ्ग होना सिद्ध होता है श्रुति ही विद्या को कर्म का अङ्ग होना वर्णन करती है **यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति** अर्थ-(यत् एव) जिसी को अर्थात् जौनही कर्म को (विद्यया) विद्या से अर्थात् उद्गीथआदि से वा ज्ञान से (श्रद्धया) श्रद्धासे अर्थात् अस्तित्व व आदरबुद्धिसे (उपनिषदा) उपास्य रहस्य देवता के ध्यानसे (करोति) करता है (तत् एव) वही (वीर्यवत्तरम्) अतिशय सामर्थ्यवाला (भवति) होता है अर्थात् अतिशय फलदेनेवाला होता है इसप्रकारके श्रुतिवाक्यसे कर्मका अङ्ग वा शेष होना ज्ञात होनेसे विद्यामात्रसे पुरुषार्थ होना सिद्ध नहीं होता ॥ ४ ॥

समन्वारंभणात् ॥ ५ ॥

अनु०—साथही आरंभ होने वा सम्बंध होनेसे ॥ ५ ॥

भाष्य-तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते अर्थ- (तं) उसके परलोक जानेवालेके (विद्याकर्मणी) विद्या व कर्म दोनों (समन्वारभेते) साथ जाते हैं इस में विद्या व कर्मका साथही सम्बंध होना सिद्ध होता है साथही सम्बंध होनेसे विद्याके स्वतंत्र फल देनेका प्रमाण न होनेसे विद्याका कर्मका अङ्ग होना विदित होता है ॥ ५ ॥

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

अनु०—उस विद्यावान्के विधानसे (कर्मविधानसे) ॥ ६ ॥

भाष्य—विद्यावान्के कर्मविधानसे अर्थात् विद्यावान्के लिये कर्मविधानसे वा विद्यावान्सम्बंधी कर्मविधानसे विद्या कर्मका अङ्ग है यह सिद्ध होता है विद्यावान्के कर्मविधानमें यह श्रुति है **आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः** इत्यादि अर्थ- (आचार्यकुलात्) आचार्यके कुलसे (यथाविधानं) यथाविधान अर्थात् जैसा विधान है उसप्रकारसे (गुरोः कर्मातिशेषेण) गुरुके सेवाआदि कर्म करनेसे अतिशेषकालसे अर्थात् रहेहुये कालमें (वेदं) वेदको (अधीत्य) पढकर (अभिसमावृत्य) व्रतको त्यागकर विवाह करिके (कुटुम्बे) कुटुम्बमें स्थित हो (शुचौ देशे) पवित्रदेश वा स्थानमें (स्वाध्यायम् अधीयानः) वेदपाठको पढतेहुये वा आत्मविचारको चिन्तन करतेहुये व अन्य-विहित कर्मोंको करतेहुये ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है अन्य विहित कर्म करते हुये ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है इतना यह शेष श्रुतिका अर्थ है इसप्रकारसे श्रुति सम्पूर्णवेद पढे व वेदके जाननेवाले ज्ञानवान्को कर्ममें

अधिकार वर्णन करती है इससे विद्या (ज्ञान) का स्वतंत्र फलका हेतु होना सिद्ध नहीं होता जो यह शंका हो कि, वेद पठनमात्रको श्रुतिमें कहा है अर्थज्ञान नहीं कहा तो यह शंका युक्त नहीं है अर्थसहित ही वेदपठनकी विधि है व अर्थसहितही पठन अध्ययन स्थापन कियागया है ॥ ६ ॥

नियमात् ॥ ७ ॥

अनु०—नियमसे ॥ ७ ॥

भाष्य—इससे भी विद्यासे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता कि, कर्मका जीवनपर्य्यंत नियम किया है यथा **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः** अर्थ—(इह) इसमें संसारमें (कर्माणि कुर्वन् एव) कर्मोंको करतेही (शतं समाः) सौ वर्ष (जिजीविषेत्) जीनेकी इच्छा करै इसप्रकारसे आत्मज्ञानी पुरुषके सम्पूर्ण आयुपर्य्यन्त कर्मोंके करनेका नियम होनेसे कर्महीसे फल होना सिद्ध होता है विद्या कर्मका अङ्गही है अब इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

अनु०—अधिक उपदेश होनेसे तो बादरायणका ऐसेही (विद्याहीसे फल होता है ऐसेही) मत है वह श्रुतिमें देखनेसे वा श्रुतिप्रमाणसे ॥ ८ ॥

भाष्य—तो शब्द पूर्वपक्षकी व्यावृत्ति (निवारण) के लिये है कि, विद्याको कर्मका शेष होना वा अङ्ग मानना तो यथार्थ नहीं है विद्याही से पुरुषार्थ सिद्ध होता है किस हेतुसे अधिक उपदेश होनेसे अर्थात् कर्मोंमें कर्ता जीवसे अधिक असंख्येय (सङ्ख्यायोग्य नहीं) कल्याणगुणोंका आकररूप जानने योग्य उपास्य परब्रह्मका उपदेश होनेसे भगवान् बादरायणका विद्यासे फल होता है यही मत है सो वह श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध है श्रुति में जीवमें संभव होने योग्य नहीं ऐसे सम्पूर्ण उत्तम गुण सत्यसंकल्प होना अपने संकल्पसे जगत्की उत्पत्ति स्थिति व लय करना सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता वाक् मनके व्यापारकी सीमासे परिमित न होना शुद्ध परम आनन्दरूप होना आदि अनन्त गुणोंके आकररूप सबके शासनकर्ता जीवोंके अधिपति परब्रह्मके जानने व उपासन करनेका उपदेश श्रुतियोंमें किया है यथा **अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः** अर्थ—पापरहित जरा (वृद्धापन) रहित मृत्युरहित शोकरहित क्षुधारहित पियासरहित सत्यकाम सत्यसंकल्प है **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय,**

तत्तेजोऽसृजत् अर्थ–उसने ईक्षा किया बहुत होऊँ उत्पन्न होऊं, उसने तेज को उत्पन्न किया **यः सर्वज्ञः सर्ववित्** जो सर्वज्ञ है सब में विद्यमान है **पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च** अर्थ–इसकी अर्थात् ब्रह्म की पराशक्ति नानाप्रकार की सुनीजाती है और ज्ञानक्रिया व बलक्रिया स्वाभाविकी सुनीजाती है **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह** अर्थ–जिससे वाणी निवृत्त होती हैं मन से प्राप्त होने योग्य नहीं हैं **एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः** यह सबका ईश्वर है यह सब भूतों का अधिपति है **स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः** अर्थ–वह कारण है और इन्द्रियोंके स्वामी जीव का स्वामी है न इसका कोई उत्पन्न करनेवाला है और न इसका कोई स्वामी है **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः** अर्थ–हे गार्गि ! इस अक्षर (अविनाशी वा व्यापक) ब्रह्म के शासन में अर्थात् आज्ञा में सूर्य व चन्द्रमा धारण कियेगये स्थित हैं तथा स्वर्ग व पृथिवी धारण कियेगये स्थित हैं इत्यादि वाक्यों में उपदेशशब्दों में अविद्याआदि व त्यागने योग्य गुणों से संयुक्त कर्ता जीवात्मा के उपदेश का सम्बंध नहीं है सब वेदान्तविद्या उपास्य परब्रह्मविषयसम्बंधी हैं उसकी प्राप्तिरूप मोक्षफल होना प्रत्येक विद्या में सुनाजाता है इससे विद्या से पुरुषार्थ सिद्ध होना यथार्थ कहागया है ॥ ८ ॥

तुल्यन्तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

अनु०–तुल्यही दर्शन है ॥ ९ ॥

भाष्य–जो यह कहा है कि, ब्रह्मज्ञानियोंका कर्मानुष्ठान देखनेसे विद्या कर्मका अङ्ग है यह युक्त नहीं है ब्रह्मज्ञानियोंका कर्मका अनुष्ठान करना व कर्मका अनुष्ठान न करना दोनोंका तुल्यही दर्शन है अर्थात् जैसे जनकआदि ज्ञानियोंका कर्ममें प्रवृत्त होना देखाजाता है ऐसेही ज्ञानियोंका कर्मका अनुष्ठान न करना किन्तु कर्मका त्याग करना देखाजाता है इससे ब्रह्मज्ञानियोंके लिये कर्मका अनुष्ठान ऐकान्तिक नहीं है इन वाक्योंमें ब्रह्मज्ञानियोंका कर्मत्याग देखाजाता है **तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहुयाञ्चक्रिरे एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्य्यं चरन्ति** अर्थ–(तद्विद्वांसः ऋषयः) वह विद्वान् ऋषि (आहुः) कहते हैं कि, (किमर्था वयं) किस प्रयोजनवाले हम अर्थात् किस प्रयोजनके लिये हम (अध्येष्यामहे) अध्ययनकरेंगे अर्थात् पढ़ेंगे (किमर्था वयं) किसलिये हम (यक्ष्यामहे) दान

देवेंगे वा देवें (तत् एतत्) उसमें यह है अर्थात् उस संन्यास धारण में यह कारण है कि, (ह स्म वै पूर्वे विद्वांसः) निश्चय पूर्वकालमें जो विद्वान् लोग हुये उन्होंने (अग्निहोत्रं) अग्निहोत्रको (न जुहुयाञ्चक्रिरे) हवन नहीं किया अर्थात् अग्निहोत्र यज्ञको नहीं किया, (वै) निश्चयसे (एतम् आत्मानं) इस आत्माको (विदित्वा) जानकर (ब्राह्मणाः) ब्रह्मके जाननेवाले (पुत्रैषणायाः) पुत्रकी इच्छासे (च) और (वित्तैषणायाः) धनकी इच्छासे (च लोकैषणायाः) लोककी इच्छासे (व्युत्थाय) चित्तको उठाकर (अथ) इसके पश्चात् (भिक्षाचर्य्यं चरन्ति) भिक्षाचरण करतेहुये विचरते हैं इसप्रकारके श्रुतिवाक्योंमें कर्मत्याग व पुत्रआदिसे विराग होना देखनेसे विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है क्योंकि विद्या कर्मका अंग होने में विद्या में कर्मका त्याग किसीप्रकारसे सम्भव नहीं होसक्ता अब जो यह कहा है कि, श्रुतिहीं से विद्याका कर्मका अंग होना विदित होता है इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ९ ॥

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

अनु०—सब में संबंधवाली नहीं है अर्थात् सब विद्याविषयवाली नहीं है ॥ १० ॥

भाष्य—जो विद्यासे श्रद्धा व उपनिषद्से कर्म करता है वही कर्म अतिशय फलदायक होता है यह अर्थ प्रतिपादन करनेवाली श्रुति है यह सब विद्याविषयवाली नहीं हैं उद्गीथही विद्याविषयवाली अर्थात् उद्गीथही विद्यासम्बंधिनी है यह आशय नहीं है कि, जो कर्म करता है वह विद्याहीके साथ करता है उद्गीथहीके लिये कहा है कि, जो उद्गीथ विद्याके साथ करता है वही वीर्यवत्तर होता है (अतिशय फलदायक) है सब कर्मके अङ्ग वा कर्मोंके साथ विद्याका सम्बंध होना नहीं कहा अब जो यह कहा है कि, विद्या व कर्मका साथही सम्बंध देखनेसे विद्या कर्मका अङ्ग है इसका उत्तर वर्णन करते हैं॥१०॥

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

अनु०—विभाग है सौके समान ॥ ११ ॥

भाष्य—जो यह कहा है पुरुषके साथ विद्या व कर्म दोनों जाते हैं व साथही फलको आरंभ करते हैं इसमें साथ कहनेमें समुच्चय नहीं समझना चाहिये विभाग समझना चाहिये विद्या व कर्म भिन्न फलवाले होनेसे विद्या अपने फलके लिये साथ जाती है कर्म अपने फलके लिये जाता है इससे विभाग निश्चय करना चाहिये शतके समान अर्थात् जैसे क्षेत्र (खेत) व रत्न बेचनेवाले को दोसौ साथ प्राप्त होते हैं यह कहने में सौ क्षेत्रके लिये व सौ रत्नके लिये ऐसा विभाग होना प्रतीत होता है ऐसेही इसमें भी विभाग जानना चाहिये अथवा

इन दोको सौ देव एक साथही सौ कहनेमें भी पचास एकको और पचास एकको ऐसा विभाग होनेका प्रत्यय होता है ऐसेही विद्या व कर्ममें फलविभाग समझना चाहिये ॥ ११ ॥

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

अनु०—अध्ययन (पठन) मात्रवालेका ॥ १२ ॥

भाष्य—जो यह कहा है कि, विद्यावान् का (विद्यावान्सम्बंधी) कर्मका विधान होनेसे विद्या कर्मका अंग है यह युक्त नहीं है **वेदमधीत्य** अर्थ-वेद को पढ़कर यह कहने से अध्ययन (पठन) मात्रवालेके लिये विधान होनेसे विद्या (ज्ञान) का कर्मका अंग होना सिद्ध नहीं होता अध्ययनविधि ही अर्थके बोधको प्रवृत्त नहीं करती अक्षरोंकी राशिके ग्रहणमात्र में अध्ययन शब्दके अर्थकी पूर्णता वा समाप्ति है यदि यह कहाजाय कि, अध्ययन-विधिही अर्थके बोध होने में प्रवृत्त करती है अर्थसहितही पठन अध्ययन शब्दसे वाच्य होता है तो ऐसा माननेसे भी विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है अर्थज्ञानसे विद्या भिन्न पदार्थ है अर्थात् जैसे ज्योतिष्टोमआदि कर्मके स्वरूप ज्ञानसे फलसाधनरूप उसके कर्मका अनुष्ठान भिन्न वस्तु है ऐसेही अर्थज्ञान-स्वरूप से ब्रह्मस्वरूपका ज्ञान होनेसे ध्यान उपासनआदि शब्दसे वाच्य पुरुषार्थकी साधनरूप विद्या भिन्न है ॥ १२ ॥

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

अनु०—नहीं विशेष न होनेसे ॥ १३ ॥

भाष्य—जो यह कहा है कि, इस संसारमें कर्म करतेही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करै इस उपदेशसे श्रुति आत्मज्ञानीको ज्ञानसे निवृत्त करके जीवनपर्य्यन्त कर्मके अनुष्ठान में नियम करती है यह युक्त नहीं है किस हेतुसे विशेष न होनेसे अर्थात् ज्ञानी सौ वर्ष कर्मकरतेहुये जीनेकी इच्छा करै ऐसा विशेष कथन नहीं है इससे विशेष अवस्थाको प्राप्त ज्ञानीके लिये यह सर्वाकारके योग्य नहीं है क्योंकि विद्वान्को जीवनपर्य्यन्त उपासनाही का अभ्यास कर्तव्य है ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

अनु०—अथवा स्तुतिके लिये अनुमति है ॥ १४ ॥

भाष्य—अथवा **कुर्वन्नेवेह कर्माणि**—यह वाजसनेय उपनिषद्की श्रुति है इससे विद्याका प्रकरण होनेके सामर्थ्यसे ज्ञानिहीके लिये जीवनपर्य्यन्त कर्म करने की विधि माननेमें विद्याकी स्तुतिके लिये सदा कर्म अनुष्ठान करनेकी अनुमति है आगे यह कहा है कि, हे ज्ञानी मनुष्य! कर्म करनेमें भी तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होता यह विद्याकी स्तुति है कि, विद्याके माहात्म्यसे

ज्ञानी सर्वदा कर्म करताहुआ भी कर्मसे लिप्त नहीं होता क्योंकि ज्ञानी संसारीफल-भोगकी इच्छारहित होता है इससे वैदिक कर्म करनेसे भी कर्मफलकी इच्छाके अभावमें कर्म संस्कारका अभाव होता है जो कामनासे कर्म करता है: वही कर्म-संस्कारयुक्त कर्मफलको भोग करता है इससे विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

अनु०—कामकारसे एके (एक शाखावाले) ॥ १५ ॥

भाष्य--कामनात्यागविषयमें वाजसनेयियोंकी श्रुति है उस श्रुतिको काम-कार नामसे कहा है कामकारसे अर्थात् कामकार श्रुतिसे एके शाखावाले गृहस्थ-आश्रमका त्याग कहते हैं गार्हस्थ्य त्यागको कहते हैं यह कर्म व क्रियापद सूत्रमें शेष है श्रुति यह है **एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः** अर्थ-(तत् एतत्) उस संन्यासमें यह कारण है कि, (वै) निश्चयसे (पूर्वे विद्वांसः) उत्तम विद्वान्जन (प्रजां न कामयन्ते स्म) प्रजाकी इच्छा नहीं करते (ह स्म) स्पष्ट प्रसन्नवदन कहते हैं कि, (येषां नः) जिन हमको (अयम् आत्मा) यह आत्मा है (अयं लोकः) यह लोक है ऐसा प्रत्यक्ष है ऐसे हम (प्रजया) पुत्रसे (किं करिष्यामः) क्या करेंगे अर्थात् पुत्रआदिकोंसे कुछ प्रयोजन नहीं है यह श्रुति विद्याका कर्म का अंग न होना सूचित करती है विद्या कर्मका अंग होनेमें गार्हस्थ्यका त्याग व विद्वान्का कामनारहित सबसे विराग होना संभव नहीं है॥ १५ ॥

उपमर्दञ्च ॥ १६ ॥

अनु०—उपमर्दभी (नाश भी) ॥ १६ ॥

भाष्य--पुण्य व पापरूप सम्पूर्ण सांसारिक दुःखके मूल कर्म का ब्रह्म-विद्यासे नाश होना वेदान्त में वर्णित है यथा **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे** अर्थ-(तस्मिन् परावरे दृष्टे) उस सब इन्द्रियआदि विषयोंसे पर निर्गुण और सृष्टि-कर्त्ता होनेआदि गुणों से युक्त अवर अर्थात् सगुण ब्रह्म के दृष्ट होने में अर्थात् ज्ञात होने में (अस्य) इसकी ब्रह्मज्ञानी उपासककी (हृदयग्रन्थिः) हृदयकी गांठ (भिद्यते) खुलजाती है (सर्वसंशयाः) सब संशय (छिद्यन्ते) छिन्न भिन्न होजाते हैं अर्थात् दूर हो जाते हैं (च) और (कर्माणि) सब कर्म (क्षीयन्ते) क्षीण होते हैं इससे विद्याको कर्मका अङ्ग मानना असंगत है क्योंकि अङ्गसे अंगी वा शेषसे शेषीका नाश नहीं होता न ऐसा होना संभव है ॥ १६ ॥

ऊर्द्धरेतस्सु च शब्दे हि[1] ॥ १७ ॥

अनु०—ऊर्द्धरेतोंमें और शब्दमें देखनेके हेतुसे ॥ १७ ॥

भाष्य--ऊर्द्धरेतआश्रमोंमें ब्रह्मविद्या देखनेसे और ऊर्द्धरेतआश्रमोंको शब्दमें देखनेके हेतुसे विद्याकर्मका अंग नहीं है यह सिद्ध होता है ब्रह्म देखनेसे यह शब्द और ऊर्द्धरेत शब्दका फिर पाठ सूत्रमें शेष है आशयसे ग्रहण कियेजाते हैं विद्या कर्मका अंग नहीं है इतनेकी पूर्वसम्बन्धसे अनुवृत्ति ग्रहण कीजाती है अब इसका स्पष्ट व्याख्यान यह है कि, ऊर्द्धरेत आश्रमोंमें ब्रह्मविद्या देखनेसे और उनमें अग्निहोत्र व दर्शपूर्णमासआदि कर्मोंका अभाव होनेसे विद्या कर्मका अंग नहींहै अब यह शङ्का है कि, ऊर्द्धरेतआश्रमही नहीं है क्योंकि वेद में कहीं ऊर्द्धरेतआश्रमोंका वर्णन नहीं है श्रुतिविरुद्ध स्मृतियोंमें कहेगये ऊर्द्धरेत आश्रम प्रमाणके योग्य नहीं है इसका उत्तर यह है शब्दमें देखनेके हेतुसे शब्दमें ऊर्द्धरेत आश्रम कहेगये हैं यथा **त्रयो धर्मस्कंधा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्य्याचार्य्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति** छान्दोग्य प्रपाठक २ खं० २३ । अर्थ–(त्रयः धर्मस्कंधाः) तीन धर्मके स्कंध अर्थात् अवयव वा विभाग हैं (यज्ञः) अग्निहोत्र आदि यज्ञ (अध्ययनं) पढना अर्थात् नियमसे ऋग्वेदआदि का अभ्यास करना (दानं) दान देना (इति प्रथमः) यह प्रथम एक धर्मका स्कंध है यह धर्म गृहस्थसे सम्बंध रखनेसे इससे गृहस्थ आश्रम सूचित किया है (तप एव द्वितीयः)तपही दूसरा है तपसे कृच्छ्र चांद्रायणआदि तप करनेवाला तापस अर्थात् वानप्रस्थका निर्देश है यह दूसरा स्कंध है (अत्यन्तम् आत्मानं) अत्यन्त आत्माको अर्थात् देहको (आचार्य्यकुले अवसादयन् !) आचार्य्य के कुलमें नियमोंसे क्षीण करता हुआ (आचार्य्यकुलवासी ब्रह्मचारी) आचार्य्यकुलमें वासकरनेवाला ब्रह्मचारी (तृतीयः) तीसरा है (सर्वे एते) यह सब अर्थात् यह तीनों (पुण्यलोकाः भवन्ति) पुण्यलोकवाले होते हैं उत्तम सुखप्राप्तिके स्थानमें प्राप्त हो सुखी होते हैं (ब्रह्मसंस्थः) संन्यासी (अमृतत्वम् एति) मोक्षको प्राप्त होता है **ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते** इत्यादि अर्थ–(ये च) और जो (इमे) यह (अरण्ये) वनमें (श्रद्धातप इति उपासते) श्रद्धा व तपको उपासन करते हैं इस वाक्यसे वन में रहनेवाले तापस व संन्यासीका वर्णन ज्ञात होता है **एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत्** अर्थ–(एतम् एव लोकं) इसी ब्रह्मलोकको (इच्छन्तः) इच्छा करतेहुये अर्थात् जानने व प्राप्त होने की इच्छा करतेहुये (प्रव्राजिनः)

---

१ हि शब्द हेतु अर्थ में है इसका अर्थ जिस हेतुसे ऐसा कहाजाताहै परन्तु भाषामें ऐसा अर्थ सूत्रके अनुवादमें उत्तम न होता इससे हेतुसे ऐसा अर्थ रक्खागया है ।

संन्यासी लोग (प्रव्रजन्ति) संन्यासधारण करते हैं (ब्रह्मचर्य्याद् एव) ब्रह्मचर्य्यहीसे (प्रव्रजेत्) संन्यास धारण करे इसप्रकारसे यद्यपि गृहस्थ वानप्रस्थ नामसे स्पष्ट नहीं कहा तथापि श्रुति शब्द व आशयसे चारों आश्रमका वर्णन श्रुतिसे सिद्ध होनेसे ऊर्ध्वरेतआश्रमोंका होना शब्दप्रमाणसे सिद्ध है इससे विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है जीवनपर्य्यन्त कर्म करनेको श्रुतिमें कहा है वह अविरक्त गृहस्थोंके लिये कहा है ॥ १७ ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ॥ १८ ॥

अनु०–विधि न होनेसे और श्रुतिअपवाद (निषेध) भी करती है इससे जैमिनिआचार्य परामर्श (कल्पनामात्र वा अनुवाद) मानते हैं ॥ १८ ॥

भाष्य–**त्रयो धर्मस्कंधाः** अर्थ–तीन धर्मके स्कंध हैं इत्यादि शब्दोंसे ऊर्ध्वरेत आश्रमों के होनेका प्रमाण कहना युक्त नहीं है तीन धर्मस्कंध कहनेसे आश्रमोंका परामर्शमात्र है (अनुवाद[1]मात्र है) आश्रमोंका विधान होना सिद्ध नहीं होता किस हेतुसे सिद्ध नहीं होता विधि न होनेसे अर्थात् तीन धर्मके स्कंध हैं यह कहनेमें विधि वा विधान नहीं है केवल ब्रह्मउपासनकी स्तुतिके लिये धर्मस्कंधोंके प्राप्य फलसे श्रेष्ठफल ब्रह्मसंस्थ मोक्षको प्राप्त होता है यह वर्णन किया है और जो यह वाक्य है **ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते** अर्थ–जो यह वनमें श्रद्धा तपको उपासन करते हैं अर्थात् श्रद्धा व तपयुक्त ब्रह्मकी उपासना करते हैं यह भी देवयानमार्गके विधिपर होनेसे इसमें अन्य आश्रमकी विधि संभव नहीं है इससे अन्य आश्रमोंका होना सिद्ध नहीं होता और स्पष्ट श्रुति अन्यआश्रमोंको अपवादभी करती है अर्थात् निषेध करती है यथा **वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते, आचार्य्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीर्नापुत्रस्य लोकोऽस्ति** अर्थ–(यः एषः) जो यह (अग्निं) अग्निको (उद्वासयते) उठाता है अर्थात् बुझाता है वह (देवानां) विद्वानोंके बीचमें (वीरहा) नष्टाग्नि होता है अर्थात् कर्महीन होता है (आचार्य्याय) आचार्यके लिये (प्रियं धनं) प्रिय धनको (आहृत्य) लाकर समर्पण करके (प्रजातन्तुं) प्रजातन्तुको (मा व्यवच्छेत्सीः) मत तोड़ अर्थात् गृहस्थ आश्रम को त्याग मत कर क्योंकि (अपुत्रस्य लोकः नास्ति) पुत्ररहित का लोक नहीं है अर्थात् पुत्ररहितके लिये लोककी प्राप्ति नहीं है इसप्रकारसे गृहस्थ आश्रमही को उपदेश है अन्य आश्रमोंका तीन धर्मके स्कंध हैं इत्यादि वाक्यसे कल्पनामात्र है स्पष्टविधायक शब्द न होनेसे अन्य आश्रमोंका कहना

1 रुचि बढानेके लिये गुणवर्णनसे स्तुति करना अनुवाद है ।

संदिग्ध (संदेहयुक्त) है इससे आश्रमोंका परामर्शमात्र है अन्य आश्रमोंका होना श्रुतिसे सिद्ध नहीं होता यह जैमिनि आचार्य्य मानते हैं अर्थात् यह जैमिनि आचार्य्यका मत है ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

अनु०—अनुष्ठानके योग्य है यह बादरायण समान होनेकी श्रुतिसे ॥ १९ ॥

भाष्य—गृहस्थआश्रमके समान अन्य आश्रम भी अनुष्ठान के योग्य हैं यह बादरायण आचार्य मानते हैं मानते हैं यह क्रियापद सूत्रमें शेष है किस हेतुसे समान होनेकी श्रुतिसे अर्थात् समान होना श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध होनेसे आशय यह है कि. **त्रयो धर्मस्कंधाः** इस श्रुतिमें गृहस्थ आश्रमका भी स्पष्ट वर्णन वा कोई विधायक शब्द नहीं है इससे अन्य आश्रमोंके समान गृहस्थ आश्रमका भी निश्चय नहीं होता और जो गृहस्थ आश्रमका अनुवाद उसकी प्राप्ति अवश्य अंगीकार योग्य होनेसे संभव होता है ऐसा मत है तो ऐसेही अन्य आश्रमोंके लिये भी मानना युक्त है और ऐसा कहना भी संगत नहीं है कि, यज्ञ अध्ययन दान तप व ब्रह्मचर्य शब्दोंसे गार्हस्थ्य धर्महो कहागया है क्योंकि ब्रह्मचर्य व तप गृहस्थके संभव नहीं है गृहस्थहीके लिये तप व ब्रह्मचर्यका उपदेश माननेमें तीन धर्मके स्कंध हैं इसप्रकारसे तीनका होना ग्रहण करके प्रथम द्वितीय तृतीय यह विभागवचन कहना संभव नहींहै इससे यज्ञ अध्ययन व दानसे गृहस्थआश्रम का कथन है अध्ययन शब्द वेदाभ्यास वाचक है तप शब्द से वैखानस (वानप्रस्थ का ग्रहण है और सन्यासका भी ग्रहण होसक्ता है क्योंकि कायक्लेशरूप तप दोनों में प्रधान है ब्रह्मचारी का धर्म ब्रह्मचर्य शब्द से कहागया है आगे जो ब्रह्मसंस्थ मोक्षको प्राप्त होता है यह कहा है इसमें ब्रह्मसंस्थ शब्द यौगिक है जिसकी ब्रह्ममें संस्थिति हो अर्थात् ब्रह्मध्यान में जिसका चित्त सदा लगारहै वही ब्रह्मसंस्थ है उसको मोक्ष प्राप्त होता है सब आश्रमियों का ब्रह्मसंस्थ होना संभव है संन्यासीमें ब्रह्मसंस्थ होनेके अधिकता होनेसे प्रायः संन्यासी को ब्रह्मसंस्थ कहते हैं वास्तवमें ब्रह्मनिष्ठारहित आश्रमी पुण्यलोकको प्राप्त होते हैं और उनहींमें जो ब्रह्मनिष्ठ होताहै वह मोक्षको प्राप्त होता है इसप्रकारसे श्रुतिके अर्थसे गृहस्थआश्रमके समान ऊर्ध्वरेत आश्रमोंकाभी होना सिद्ध होता है इससे वह भी अनुष्ठानके योग्य हैं और जो यह वनमें श्रद्धा व तपयुक्त उपासना करते हैं वनमें यह शब्द गृहस्थआश्रम से भिन्न तपप्रधान आश्रमों के लिये कहा है देवयानकी विधि वनमें भी उनमें अंगीकार करनेसे आश्रमभेदका निषेध नहीं होता अब परामर्श व विधानपक्षमें गृहस्थ आश्रमके समान अन्य आश्रमोंका भी अनुष्ठानके योग्य होना प्रतिपादन

करिके अब सब आश्रमोंकी विधिही है आश्रमोंका अनुवाद नहीं है यह आगे सूत्रमें प्रतिपादन करते हैं ॥ १९ ॥

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

अनु०-विधिही धारणके समान ॥ २० ॥

भाष्य-आश्रमोंकी विधिही है धारणके समान, धारणके समान इस दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि, जैसे दिष्ट अग्निहोत्रमें यह वाक्य है **अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति** अर्थ--(अधस्तात्) नीचे (समिधं धारयन्) समिधको धारण करते (अनुद्रवेत्) आहवनीय प्रति जाय अर्थात् दिष्ट अग्निहोत्रकर्ममें स्रुवा में डालाहुआ हवि जब आहवनीय अग्नि प्रति लायाजाता है तब पित्र्यहोम में हविके नीचे समिधं का धारण करके अग्नि में हवन करे (देवेभ्यः) देवताओंके लिये (उपरि धारयति) ऊपर धारण करता है अर्थात् देवताके होम में हवनकर्ता समिध को हविके ऊपर धारण करता है । इस में अनुवादस्वरूप होने में भी वाक्यसे ऊपर धारण की प्राप्ति होनेसे विधि आश्रय कीजाती है अर्थात् पूर्व में ऊपर धारण की विधिका वर्णन न होनेसे और पित्र्यहोम में हविके नीचे समिध का धारण करते हैं और देवताओंके लिये ऊपर धारण करता है इतना कहनेसे विधि अर्थात् कर्तव्य का उपदेश न होनेसे ऊपर धारण कहनाही धारण की विधि है ऐसा अंगीकार कियाजाता है सो ऐसेही शेष लक्षण में कहा भी है **विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्** अर्थ-- (धारणे विधिः तु) धारण में विधि ही है (अपूर्वत्वात्) अपूर्व होनेसे, ऐसेही त्रयो धर्मस्कंधाः इस आश्रम के परामर्श (अनुमान वा अनुवादरूप) रूप श्रुति में विधि ही अंगीकार करने योग्य है और जाबालशाखामें आश्रमविधायिनी श्रुति भी है उसको न होने के समान मानकर अन्य संदेह युक्त श्रुतिवाक्यों के निर्णय के लिये महात्मा सूत्रकार आचार्यसे विचार कियागया है आश्रमविधान करनेवाली श्रुति यह है **ब्रह्मचर्य्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा** अर्थ -(ब्रह्मचर्य्यं समाप्य) ब्रह्मचर्य्य को समाप्त करके (गृही भवेत्) गृहस्थ होवै (गृहात् वनी भूत्वा) गृहसे वनी अर्थात् वनमें रहनेवाला वानप्रस्थ होकर (प्रव्रजेत्) संन्यास धारण करे (यदि वा इतरथा) अथवा पक्षान्तरमें अर्थात् अन्य प्रकारसे यह विधि है कि, (ब्रह्मचर्य्यात् एव प्रव्रजेत्) ब्रह्मचर्य्यहीसे

---

१ वा शब्द यहां निश्चय अर्थ में है ।

२ घृत हवन करने योग्य वस्तुको हवि कहते हैं ।

३ यज्ञके अग्निमें हवन कियेगये पदार्थ ईंधन वा साकल्यका नाम समिध है ।

संन्यास धारण करै (गृहाद् वा वनात् वा) अथवा गृहसे अथवा वनसे इसम व उक्तवाक्योंमें आश्रमोंकी प्राप्ति अवश्य मानने योग्य है इसप्रकारसे अन्य आश्रमोंके विधानसे ऋणश्रुति यावज्जीवश्रुति व अपवादश्रुति अविरक्त के विषय में हैं अर्थात् **त्रिभिर्ऋणवान् जायते** अर्थ– तीन ऋणयुक्त उत्पन्न होता है इत्यादि तीन ऋण अर्थात् ऋषिऋण पितृऋण देवऋणोंसे ऋणवान् उत्पन्न होता है यह श्रुति और यावज्जीवश्रुति व अपवादश्रुति पूर्वही वर्णन कीगयी हैं यह श्रुतियां संसारी विषयमें आसक्त विरागरहित पुरुषोंके लिये हैं विरक्तोंके लिये नहीं हैं इससे ऊर्ध्वरेतोंमें ब्रह्मविद्या का विधान होनेसे विद्यासे पुरुषार्थ सिद्ध होता यह सिद्धान्त है ॥ २० ॥

उद्गीथआदिमें रसतम होनेआदि दृष्टि करनेके विधान में सू० २१ व २२ अधि० २ ।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

अनु०—स्तुतिमात्र है उपादानसे यह कहाजाय नहीं अपूर्व होनेसे ॥ २१ ॥

भाष्य—अब यह विचार कियाजाता है कि, **स एष रसानां रसतमः परमः परार्द्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः** अर्थ–(सः एषः) सो यह (यः) जो (परार्द्ध्यः) परमात्माके स्थानयोग्य अर्थात् परमात्माके उपासनका स्थान होने योग्य (अष्टमः) आठवाँ अर्थात् पृथिवीआदि रसोंमें आठवाँ उद्गीथ (ओंकार) है (रसानां रसतमः) रसोंमें अतिश्रेष्ठ रस (परमः) उत्कृष्ट है अर्थात् पूर्व में जो भूतोंका रस पृथिवी पृथिवी के रस जल जलोंके रस औषधि औषधियोंका पुरुष व पुरुषका रस वाणी वाणी का रस ऋक् (ऋग्वेद) व ऋक् का रस साम इन सब में आठवाँ उद्गीथ रसतम है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ साररूप है इस प्रकारके जो वाक्य हैं वह यज्ञ के अंगरूप उद्गीथआदि की स्तुतिपर हैं अथवा उद्गीथआदि में रसतम होनेआदि की दृष्टि से उपासना करने के विधान के लिये हैं इसके निर्णयके लिये सूत्रमें पूर्वपक्ष स्थापनपूर्वक सिद्धान्त वर्णन करने में यह कहा है कि, स्तुतिमात्र है उपादानसे जो यह कहाजाय नहीं अपूर्व होनेसे, इसका आशय यह है कि, जो यह कहाजाय कि, उद्गीथआदिका रसतम होना आदि कहना स्तुतिमात्र है किस हेतुसे यज्ञके अंगरूप उद्गीथ-आदिके उपादान से (ग्रहणसे) अर्थात् यज्ञके अंगरूप उद्गीथआदिको ग्रहण करके उनका रसतम होना आदि प्रतिपादन कियागया है जैसे जुहूआदिका पृथिवीआदि होना प्रतिपादित है अर्थात् इयमेव **पृथिवी जुहूः स्वर्लोक आहवनीयः**

अर्थ—यह पृथिवीही जुहू (स्रुवापात्र) है स्वर्गलोक आहवनीयअग्नि है इत्यादि यहवाक्य जुहू आदिकी स्तुतिमात्रपर हैं ऐसेही यह वाक्य उद्गीथ आदिकी स्तुतिमात्रपर समझना चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि, उद्गीथआदिके उपादानसे उन उद्गीथ-आदिकोंकी स्तुतिमात्रही इन वाक्योंका अभिप्राय है यह कहना युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है अपूर्व होनेसे अर्थात् प्राप्त न होनेसे अर्थात् किसी अन्यप्रमाणसे उद्गीथ आदिका स्तुतिमात्र होना सिद्ध नहीं है जिससे उनके उत्तम होने की बुद्धि उत्पन्न होनेके लिये रसतमआदि होनेका प्रतिपादन समझाजाय और न उद्गीथआदिकी विधि यहां समीपमें प्राप्त है जिससे यही जुहू है स्वर्गलोक आह-वनीय है इत्यादिके समान एक वाक्य होनेसे किसीप्रकारसे उनकी स्तुतिपर होना स्वीकार कियाजाय इससे यज्ञमें वीर्यवत्त्वादि (अतिशय फल होना आदि) फल सिद्ध होनेके लिये उद्गीथ आदिमें रसतम होना आदि दृष्टिका विधानही मानना युक्त है ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

अनु०—भावशब्दसे भी ॥ २२ ॥

भाष्य-उद्गीथमुपासीत उद्गीथकी उपासना करे इत्यादिमें उपासना करे इत्यादि भाव शब्दसे अर्थात् विधि शब्दसे भी विधिपर होना ही ग्राह्य वा मानने योग्य है विधिकी क्रिया होनेहीसे वक्ता का आशयविधि कहनेका निश्चित होता है इससे उपासनके विधानहीके लिये यह श्रुतियां हैं स्तुतिमात्र-पर नहीं हैं ॥ २२ ॥

उपनिषद्सम्बंधी आख्यान विद्यास्तावक होनेके प्रतिपादन में

सू० २३—२४ अधि० ३ ।

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

अनु०—पारिप्लव प्रयोगके अर्थ है यह कहाजाय नहीं विशे-षित होनेसे ॥ २२ ॥

भाष्य-प्रतर्दनो ह दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम अर्थ—प्रतर्दन दिवोदासका पुत्र इन्द्रके प्रियधामको गया तथा याज्ञवल्क्यके दो भार्या थीं इत्यादि जो वेदान्तमें आख्यान (कथा) हैं इनके लिये जो यह कहाजाय कि, यह पारिप्लव प्रयोगके लिये हैं विद्याविशेष प्रतिपादनके लिये नहीं हैं तो यह कहना युक्त नहीं है यह आख्यान विद्याविशेष प्रतिपादनही के लिये हैं किस हेतुसे विशेषित होनेसे यह सूत्रका वाक्यार्थ है अब इसका विवरण यह है कि, अश्वमेध यज्ञमें प्रतिदिन यज्ञकर्म करनेके पश्चात् अवशिष्ट काल (बाकी रहे समय)

के व्यतीत होनेके लिये जो आख्यान कहेजाते हैं उनको पारिप्लवार्थ कहते हैं कालका व्यय पारिप्लव है जैसे अश्वमेधमें दिन दिन प्रति कर्म करनेके पश्चात् जो काल शेष रहता है उसको आख्यानोंसे व्यतीत करते हैं इसके लिये कोई कोई श्रुति आख्यानबोधिका (कथाकी जनानेवाली) कर्मकाण्ड में पठित हैं ऐसेही ज्ञानकाण्ड में भी आख्यानसम्बंधी श्रुतियां कर्मकाण्ड में पारिप्लवार्थ आख्यान के समान पारिप्लवार्थ हैं जो यह कहाजाय तो ऐसा कहना युक्त नहीं है किस हेतुसे विशेषित होनेसे अर्थात् यज्ञ में दिन दिन प्रति आख्यानवचनके ग्रहण होने वा विधि पायेजाने व ज्ञानकाण्ड में ऐसा न होनेसे विशेषित (भेदयुक्त) होनेसे ज्ञानकाण्ड में प्राप्त आख्यान श्रुति पारिप्लवार्थ नहीं हैं उनका विद्याका अंग होना ही मानना युक्त है॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्योपबंधात् ॥ २४ ॥

अनु०—और वैसेही एकवाक्य होनेके सम्बंधसे ॥ २४ ॥

भाष्य--**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः** अर्थ--आत्मा निश्चय देखनेके योग्य है अर्थात् जाननेके योग्य है इत्यादि विधिके साथ एक वाक्य होनेके सम्बंधसे उपनिषद्में जो आख्यानसम्बंधी वाक्य हैं वह विद्याके विधानही के लिये हैं यह सिद्ध होता है इससे वह पारिप्लवार्थ नहीं हैं ॥ २४ ॥

उपासनामें यज्ञआदिके समान अग्निआदिकी अपेक्षा न होनेके वर्णन में सू० २५ अधि० ४ ।

अत एव चाग्नींधनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

अनु०—इसीसे अग्नि ईंधनआदिकी अपेक्षा नहीं है ॥ २५ ॥

भाष्य--ऊर्ध्वरेतआश्रमियोंका विद्याके साथ सम्बंध होना श्रुतिसे विदित होता है जैसा वर्णन कियागया है कि, ब्रह्मसंस्थ मोक्षको प्राप्त होता है जो इस वनमें श्रद्धा तपयुक्त ब्रह्मको उपासन करते हैं ब्रह्मलोक की इच्छा करतेहुये संन्यासी संन्यासको धारण करते हैं इत्यादि इससे ऊर्ध्वरेतोंको अग्नींधनकी अपेक्षा नहीं है अथवा विद्यासे पुरुषार्थ सिद्ध होता है इसीसे उपासकोंको विद्यामें अग्नींधनआदि अर्थात् अग्नि स्थापन करना व अग्नि आधानपूर्वक अग्निहोत्र दर्श पूर्णमासआदि कर्म करनेकी अपेक्षा नहीं है ॥ २५ ॥

अवस्थाविशेषमें विद्यामें कर्मकी अपेक्षा होनेके वर्णनमें सू० २६ अ० ५ ।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

अनु०—सबकी अपेक्षायुक्त भी है यज्ञआदि श्रुतिसे अश्वके समान ॥ २६ ॥

भाष्य--जो विद्या यज्ञआदि कर्मकी अपेक्षारहित मोक्षको साधन करती है तो गृहस्थोंमें भी कर्मकी अपेक्षारहित मोक्षसाधनमें समर्थ होगी इससे गृहस्थको भी कर्मकी अपेक्षा न होना चाहिये इसके समाधानके लिये यह कहा है कि, विद्या सब कर्मोंकी अपेक्षा युक्त है अर्थात् कर्मवान् गृहस्थोंमें अग्निहोत्र-आदि सब कर्मोंकी अपेक्षासहितही विद्या है अर्थात् विद्यामें अग्निहोत्रआदि सब कर्मकी अपेक्षा है किस प्रमाणसे यज्ञआदि श्रुतिसे यथा **तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन** अर्थ-(तम् एतम्) उस इसको अर्थात् ब्रह्मको (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (यज्ञेन) यज्ञसे (दानेन) दानसे (अनाशकेन तपसा) भोजनरहित तपसे (विविदिषन्ति) जाननेकी इच्छा करते हैं यज्ञआदिकोंके ज्ञानसाधन होनेहीमें यज्ञआदिसे ज्ञान प्राप्त होनेकी ब्राह्मण इच्छा करते हैं इससे यज्ञआदिकोंका ज्ञानका साधन होना ज्ञात होता है ज्ञान वाक्यके अर्थज्ञानसे भिन्न पदार्थ है वह ध्यान व उपासनआदिशब्दसे वाच्य स्मृतिरूप अतिशय प्रिय उपास्यको चिन्तन करना है ऐसा ध्यान अनुष्ठान कियेगये परमपुरुषआराधनरूप नित्य नैमित्तिक कर्मोंसे परमपुरुष के अनुग्रहद्वारा उत्पन्न वा प्राप्त होता है इससे यज्ञआदिसे जानने की इच्छा करते हैं ऐसा शास्त्रमें कहागया है इससे कर्मवान् गृहस्थों में यज्ञआदि नित्य नैमित्तिक सब कर्मोंकी अपेक्षा रखनेवाली विद्या है अश्वके समान अर्थात् जैसे पुरुष के गमन (यात्रा) साधनरूप अश्व (घोडा) अपने बन्धसामग्रीकी अपेक्षा रखता है ऐसेही मोक्षसाधनरूप विद्या नित्य व नैमित्तिक कर्मसामग्री की अपेक्षा रखती है कोई आचार्य गृहस्थमात्र का नियम न कहकर ऐसा अर्थ वर्णन करते हैं कि, जबतक विद्याकी उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् ज्ञान प्राप्त नहीं होता तबतक सब कर्मोंकी अपेक्षा है और विद्याके प्राप्त होनेमें किसी कर्मकी अपेक्षा नहीं होती जैसे मार्ग चलनेमें अश्वकी अपेक्षा होती है प्राप्य स्थानके प्राप्त होनेपर फिर अपेक्षा नहीं होती इससे अवस्थाभेदसे कर्मकी अपेक्षा न होना व होना दोनों प्रकारसे वर्णन किया है यद्यपि ऐसा अर्थ ग्राह्य है तथापि गृहस्थ-आश्रम में कर्मकी विशेषता व संन्यासमें यज्ञआदिका सम्बंध न रहनेसे सामा-न्यसे वर्णन करना युक्त नहीं है इससे पूर्वही व्याख्यान उत्तम है ॥ २६ ॥

उपासक ज्ञानीके लिये शम दमआदिका अनुष्ठान आवश्यक होनेके वर्णनमें सू० २७ अधि० ६ ।

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्ग-तया तेषामप्यावश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

अनु०--तो भी शम दमआदि युक्त होवे उसके अङ्ग होनेसे उनकी विधि होनेसे व उनके भी अवश्य अनुष्ठानके योग्य होनेसे ॥ २७ ॥

भाष्य—गृहस्थको शम दमआदिका अनुष्ठान करना चाहिये वा नहीं यह विचार करनेमें यह आक्षेप करके कि, अन्तर व बाह्य इन्द्रिय के व्यापाररूप कर्म जो गृहस्थसे अनुष्ठान कियाजाता है उससे विपरीत शम दमआदि गृहस्थसे अनुष्ठानके योग्य नहींहैं सिद्धान्त यह वर्णन किया है कि,तो भी शम दमआदि युक्त होवे अर्थात् यद्यपि गृहस्थ इन्द्रियोंके व्यापाररूप कर्मोंमें प्रवृत्त होता है तथापि (तो भी) विद्वान् गृहस्थ शम दमआदि युक्त होवे अर्थात् शम दमआदिका साधन करै किस हेतुसे उसके (विद्याके) अङ्गरूप होनेसे उनकी विधि होनेसे अर्थात् शम दम-आदि विद्याके अङ्ग हैं इससे विद्यामें उनकी विधि होनेसे विधिवाक्य यह है त-स्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्म-न्येवात्मानं पश्येत् अर्थ–(तस्मात्) तिससे पूर्व उक्त हेतुसे (एवंविद्) ऐसा जाननेवाला ज्ञानी (शान्तः दान्तः) शांत व इन्द्रियोंको दमन कियाहुआ (उपरतः) विरागको प्राप्त (तितिक्षुः) शीत व उष्ण सहनेवाला (समाहितः) एकाग्रचित्त (भूत्वा) होकर (आत्मनि एव) आत्माहीमें अपनेहीमें (आत्मानं) आत्माको अर्थात् परमात्माको (पश्येत्) देखै इसप्रकारसे विद्याकी प्राप्ति वा सिद्धिके सामग्रीरूप शमआदि विद्याकी सिद्धिके लिये अवश्य अनुष्ठान के योग्य हैं इन्द्रियोंके व्यापाररूप कर्म व शम आदिकोंका भिन्न विषय होनेसे विरोध भी नहीं है गृह आश्रममें विहित कर्मोंमें करणव्यापार (इन्द्रि-योंका व्यापार) होता है और कामनारहित कर्मोंमें प्रयोजनशून्य होनेसे इन्द्रियव्यापार की शांति (निवृत्ति) होती है इससे विद्याके अङ्ग रूप विद्याके उपयोगी शम दमआदि विद्याअभिलाषी गृहस्थसे भी अनुष्ठानके योग्य हैं, अथवा ऐसा भी इस सूत्रका अर्थ व्याख्यानके योग्य है कि, विद्यामें अन्य कर्मकी अपेक्षा न भी हो तथापि विद्याभिलाषीसे विद्याके अङ्ग होनेसे शम दमआदि अवश्य अनुष्ठानके योग्य हैं अर्थात् गृहस्थ वा अन्य आश्रमवाले उपासकको शम दमआदिका अनुष्ठान करना युक्त है ॥ २७ ॥

प्राणनाश होनेकी अवस्थामें अभक्ष्य अन्नके भक्षणके विधा-नमें सू० २८–३१ अ० ७ ।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

अनु०–सब अन्नकी अनुमतिही है प्राणनाश होनेमें वह देखनेसे ॥ २८ ॥

भाष्य—छान्दोग्यमें व वाजसनेयी शाखाओंमें प्राणविद्यामें यह श्रुति है न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतं अर्थ–(ह वै) निश्चयसे (अस्य जग्धं) इसका प्राण जाननेवालेका भक्षित अन्न (अनन्नं) अभक्ष्य अन्न

१ व २. शमयुक्त शान्त व दमयुक्त दान्त है ।

(न भवति) नहीं होता है अर्थात् जो अभक्ष्य भी भक्षण करता है वह भक्ष्यही होता है (अस्य प्रतिगृहीतं) इसका प्रतिगृहीत अर्थात् ग्रहण किया (न अनन्नं) अनन्न अर्थात् अग्राह्य अन्न नहीं होता इसमें यह संशय है कि, यह सब अन्न भक्ष्य व ग्राह्य होनेकी अनुज्ञा शम दमआदिके समान विद्याका अङ्गरूप है अथवा प्राणकी स्तुतिके लिये ऐसा वर्णन है इसका उत्तर यह है कि, सब भक्षण वा ग्रहणकी विधि नहीं है क्योंकि इसमें कोई विधायक शब्द नहीं पायाजाता केवल यह कहनेमें कि, कोई इसका अभक्ष्य अन्न नहीं होता वर्तमानमें वर्णन कियेगये प्राणविद्यानिष्ठके लिये यह कथन है सबके लिये उपदेश वा विधि नहीं है प्राण-विज्ञानकी प्रशंसाके लिये यह अर्थवाद है परन्तु अर्थवादही मात्र माननेमें व सर्वथा श्रुतिमें वर्णित सब अन्न भक्षणकी विधि न होनेमें श्रुतिवाक्य मिथ्या होगा इसके निर्णयमें यह कहाहै कि, सब अन्नकी अनुमति है प्राणनाश होनेमें अर्थात् प्राण-विद्यानिष्ठ वा ज्ञानीके प्राणनाश होनेहीके अवस्थामें सब अन्न भक्ष्य व ग्राह्य होने-का श्रुतिका आशय है सर्वदाके लिये अभक्ष्यका विधान नहीं है किस हेतुसे वह देखने से अर्थात् विपत्तिमें प्राण निकलनेके संशयमें ऋषिका अभक्ष्यभक्षणकरना देखनेसे इसकी कथा यह है कि, एक समयमें पत्थरों की वृष्टिसे सब खेतोंका अन्न नष्ट हो जानेसे कुरुक्षेत्रमें अतिदुर्भिक्ष होनेसे चाक्रायण ऋषि स्त्रीसहित वहांसे देशान्तर को चलेगये इभ्य[1] ग्राम में जाकर बसे वहां अतिक्षुधासे पीडित प्राण निकलने की दशामें इभ्यको माष (उर्द) खातेहुये देखकर उससे भिक्षा मांगी उसने कहा भी कि, जूंठे हैं, ऋषिने लेकर उच्छिष्ट माषको भक्षण किया जब उसने जूंठा पानी पीनेको देनेलगा तब ऋषिने कहा जूंठा पानी पीने योग्य नहीं है इभ्यने कहा क्या माष जूंठे नहीं थे ऋषिने कहा जूंठे थे परन्तु यह न खाता तो मेरे प्राण न रहते जल तडागआदि में मिलसक्ता है वहां पीलूंगा इससे यह सिद्ध होता है कि, प्राण-नाशको प्राप्त होनेके संशयमें क्लेशकी अवस्थामें अभक्ष्यके भक्षणका विधान है स्वस्थ अवस्थामें नहीं है ॥ २८ ॥

अबाधाच्च ॥ २९ ॥

अनु०—बाधा न होनेसे भी ॥ २९ ॥

भाष्य--शास्त्रमें (वेदमें) यह कहा है **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः** इत्यादि अर्थ—आहारकी शुद्धिमें बुद्धिकी शुद्धता होती है इसप्रकारसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये आहारकी शुद्धिका विधान है आहारकी शुद्धिसे अभक्ष्यका निषेध होता है आहारशुद्धिकी बाधा न होनेसे (खण्डन न होनेसे) अभक्ष्यके भक्षणका विधान नहीं है विपत्तिही में सब अन्नके भक्षणकी विधि है ॥ २९ ॥

---

१ इभ्य हाथी चढनेवालेको कहते हैं इभ्योंके ग्राम कहनेसे यह विदित होता है कि, कोई हाथीके रोजगार करनेवाले कोई व्यापारीविशेष थे उनका वह ग्राम था ।

अपि च स्मर्य्यते ॥ ३० ॥

अनु०-स्मरण भी कियाजाता है अर्थात् स्मृति भी वर्णन करती है ॥ ३० ॥

भाष्य-स्मृति भी आपत्कालही में ब्रह्मज्ञानी और अन्योंके भी अभक्ष्य-भक्षण करनेमें दोष न होना वर्णन करती है यथा **प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा** अर्थ-(यतः) जिससे (यः) जो (प्राणसंशयमापन्नः) प्राणसंशयको अर्थात् प्राण जानेके संशयको प्राप्त (अन्नम् अत्ति) अन्नको अर्थात् अभक्ष्य कुत्सित अन्नको खाता है (सः) वह (अम्भसा) जलसे (पद्मपत्रम् इव) कमलपत्रके समान (पापेन) पापसे (न लिप्यते) लिप्त नहीं होता ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

अनु०-शब्द भी इसीसे अकामकारमें है ॥ ३१ ॥

भाष्य-जिससे कि, सब अन्नका भक्षण आपद्विषयमें है इससे शब्द भी सबके अकामकारमें अर्थात् इच्छासे यथारुचि न करनेमें है कामकारमें (इच्छा-अनुसार) करनेका प्रतिषेधक शब्द विद्यमान है यथा कठोंकी संहितामें कामकार के प्रतिषेधमें यह शब्द है **तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबति पाप्मना नोत्सृजा** अर्थ- (पाप्मना नोत्सृजा) मैं पापसे युक्त न होऊं ऐसा विचारता है (तस्मात्) तिससे (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (सुरां न पिबति) मदिराको नहीं पीता है इत्यादि ॥ ३१ ॥

केवल आश्रमनिष्ठों से भी यज्ञआदिकर्म अनुष्ठानके योग्य होनेके निर्णयमें सू० ३२-३५ अ० ८ ।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

अनु०-और विहित होनेहीसे आश्रमकर्म भी ॥ ३२ ॥

भाष्य-यज्ञआदि कर्म ब्रह्मविद्याके साधनरूपविद्यामें अपेक्षित हैं यह वर्णन कियागया है अब यह विचार करनेमें कि, विद्याके साधन होनेसे मुमुक्षुओंको यज्ञआदि कर्म करनेका उपदेश है परंतु जो मुमुक्षु नहीं हैं केवल आश्रमी हैं उनको भी यज्ञआदि का अनुष्ठान करना चाहिये अथवा नहीं यह शंका होती है कि, केवल आश्रम रहजानेमें आश्रममात्रका फल अनित्य होने व विद्याका नित्य होनेसे नित्य व अनित्यके संयोगमें विरोध होगा इससे नित्य फलवाली विद्याके अङ्ग वा साधन-रूप यज्ञआदिकोंका केवल आश्रमधर्म होना संभव नहीं होता इसके समाधानके लिये यह कहा है विहित होनेसे आश्रमकर्म भी अर्थात् यज्ञआदिरूप आश्र-

म कर्म भी होता है अर्थात् केवल आश्रमियोंसे भी यज्ञआदि अनुष्ठानके योग्य हैं किस हेतुसे **यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति** अर्थ–जीवनपर्य्यन्त अग्निहोत्र को हवन करे इत्यादि श्रुतिसे विहित होनेसे और **तमेतं वेदानुवचनेन** इत्यादि अर्थ–उस इस ब्रह्मको वेदके वचनसे इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिसे विद्याके अङ्ग-रूप होना विहित होनेसे विद्याके शेष वा अङ्गरूपसे भी अनुष्ठानके योग्य हैं इससे यह कहा है ॥ ३२ ॥

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

अनु०–सहकारी होनेसे भी ॥ ३३ ॥

भाष्य–यज्ञआदि कर्म विद्याकी उत्पत्तिके द्वारा होनेसे विद्याके सहकारी होते हैं जैसा कि, पूर्वोक्त श्रुतिमें यह कहा है कि, ब्राह्मण उस ब्रह्मको वेदके वचनअनुसार यज्ञ दान व तपसे जाननेकी इच्छा करते हैं सहकारी होनेसे (साधन रूप वा उपयोगी होनेसे) भी अनुष्ठानके योग्य हैं और नित्य अनित्य संयोगविरोधकी शंका न करना चाहिये क्योंकि कर्ममें भेद न होनेमें भी संयोगमें भेद होनेसे दोष प्राप्त नहीं होता अर्थात् आश्रमधर्म व विद्या दो भिन्न पदार्थोंमेंसे आश्रममें जीवनपर्य्यन्त नित्यसंयोग होने व विद्यामें विद्याकी उत्पत्ति होनेतक अनित्य संयोग होनेके भेदसे दोष नहीं है एकहीमें एकही प्रकारकी अवस्थामें दो विरुद्धका योग असंभव होता है भेद होनेमें दोष नहीं होता ॥ ३३ ॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

अनु०–सर्वथा वेही उभयलिङ्ग (दोनोंमें प्रमाण) होनेसे ॥ ३४ ॥

भाष्य–सर्वथा विद्याके लिये व आश्रमके लिये भी आवश्यक होनेसे वेही अर्थात् यज्ञआदि कर्मही अनुष्ठानके योग्य हैं किस प्रमाणसे उभयलिङ्ग होनेसे अर्थात् दोनों आश्रम व विद्यामें यज्ञआदि शब्दोंका विनियोग होनेसे यज्ञआदिके अनुष्ठानका लक्षण वा प्रमाण होनेसे ॥ ३४ ॥

अनभिभवञ्च दर्शयति ॥ ३५ ॥

अनु०–अनभिभवको भी देखाती है (श्रुति देखाती है) ॥ ३५ ॥

भाष्य–**धर्मेण पापमपनुदति** अर्थ–(धर्मेण) धर्मसे (पापं) पापको (अपनुदति) दूर करता वा नाश करता है इत्यादि वाक्योंसे उनही यज्ञआदि धर्मों को कहकर उनसे विद्याके अनभिभवको अर्थात् पापकर्मोंसे विद्याकी उत्पत्तिके रोक न होनेको श्रुति देखाती है अर्थात् वर्णन करती है **अहरहरनुष्ठीयमानैर्यज्ञादिभिर्विशुद्धेऽन्तःकरणे प्रत्यहं प्रकृष्य-माणा विद्योत्पद्यते** अर्थ–(अहः अहः) दिन दिन प्रति (अनुष्ठीयमानैः) अनुष्ठान कियेगये (यज्ञादिभिः) यज्ञआदिकोंसे यज्ञआदि उत्तम कर्मोंसे

(विशुद्धे अन्तःकरणे) शुद्ध हुये अन्तःकरण में (प्रत्यहं) प्रतिदिन (प्रकृष्यमाणा विद्या) उत्कृष्टता वा वृद्धिको प्राप्त होनेवाली विद्या (उत्पद्यते) उत्पन्न होती है इससे दोनोंमें यज्ञआदिका आदर है ॥ ३५ ॥

आश्रमधर्मरहितोंको ब्रह्मविद्यामें अधिकार होनेके वर्णनमें सू० ३६ से ३९ अधि० ९ ।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

अनु०—मध्यवालोंका भी है (मध्यवालोंका भी अधिकार है) उसके (अधिकारके) देखनेसे ॥ ३६ ॥

भाष्य--चारों आश्रमवालोंका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है और विद्याके सहकारी आश्रमोंके धर्म वर्णन कियेगये इससे जो आश्रमधर्मरहित ज्ञानी व आश्रमियोंके मध्यवाले विधुर (द्रव्यसम्पत्रहित) आदि हैं उनको अधिकार है वा नहीं है इस विषयमें विद्यामें आश्रमधर्म कर्तव्य होने व जो आश्रमी नहीं हैं उन में आश्रम धर्म न होनेसे उनको अधिकार नहीं है ऐसी शङ्का प्राप्त होनेमें शङ्का की निवृत्ति व सिद्धान्त विज्ञापनके लिये यह कहा है कि, मध्यवर्ती आश्रमरहितोंका भी विद्यामें अधिकार ही है किस प्रमाणसे उसके अर्थात् अधिकारके देखने से यह देखाजाता है कि, रैक भीष्म सम्वर्तआदि आश्रमरहित भी ब्रह्मविद्यानिष्ठ हुये हैं आश्रमधर्मोंहीसे विद्याका अधिकार कहना युक्त नहीं है क्योंकि यज्ञ दान तपसे ब्रह्मके जाननेकी इच्छा करते हैं यह जो वर्णन किया है यह ऐकान्तिक नहीं है जैसे ऊर्ध्वरेतोंमें ब्रह्मनिष्ठ होना देखनेसे अग्निहोत्रआदिसे भिन्नही साधनोंसे विद्याका होना ग्रहण कियाजाता है ऐसेही आश्रमरहितों में भी विद्या होना आश्रमनियमरहित जप दान श्रद्धासे उपासनद्वारा निश्चय करना चाहिये ॥ ३७ ॥

अपि स्मर्य्यते ॥ ३७ ॥

अनु०—स्मरणभी कियाजाता है अर्थात् स्मृतिसे भी जानाजाता है ॥ ३७ ॥

भाष्य—सम्वर्तआदिको विना आश्रम कर्म महायोगी होना इतिहास स्मृतिमें वर्णन किया है इससे विना आश्रम कर्मविद्याका अधिकार होना सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

अनु०—विशेषोंसे (विशेष धर्मोंसे) अनुग्रह भी सुनाजाता है ॥ ३८ ॥

भाष्य--केवल स्मृतिसे सिद्ध करने योग्य नहीं है जो आश्रममें नियत नहीं है ऐसे धर्मविशेषोंसे विद्याका अनुग्रह श्रुतिसे सिद्ध होता है यथा **तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्येत्** अर्थ-तपसे ब्रह्मचर्यसे श्रद्धासे विद्यासे (आत्मानं) आत्माको (अन्विष्येत्) खोजकरै इत्यादि ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गात् ॥ ३९ ॥

अनु०—इससे इतरही श्रेष्ठ है लिङ्गसे ॥ ३९ ॥

भाष्य--इससे अर्थात् आश्रमी न होनेसे इतर (अन्य) आश्रमी होनाही श्रेष्ठ है आश्रमरहित होना आपत्‌विषयक है शक्तिमान्‌को आश्रमी होनाही उचित है लिङ्गसे अर्थात् स्मृतिसे स्मृतिवाक्य यह है **अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः** अर्थ-(द्विजः) ब्राह्मण (एकं दिनम् अपि) एक दिन भी (अनाश्रमी न तिष्ठेत्) आश्रमरहित न रहै ब्रह्मचर्य्यसे निवृत्त हुये स्त्री मरेहुये वित्तसे वैराग्य प्राप्त न हुयेको स्त्री प्राप्त न होना आपत् है इत्यादि आपत् जानना चाहिये ॥ ३९ ॥

नैष्ठिकआदि आश्रमोंसे पतितहुयेके अधिकार होने वा न होनेके निरूपण में सू० ४०–४३ अधि० १० ।

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

अनु०—उसमें हुयेका (नैष्ठिकआदि आश्रम में प्राप्त हुयेका) उसका (आश्रमका) अभाव नहीं है उनके (नैष्ठिकोंके) रूपोंके अभावोंसे नियम होनेसे जैमिनिका भी मत है ॥४०॥

भाष्य--ऊर्ध्वरेत[1] आश्रम हैं यह सिद्ध कियागया अब ऊर्ध्वरेत जो नैष्ठिक वैखानस (वानप्रस्थ) व परिव्राजक (संन्यास) आश्रम हैं उनसे पतितोंको भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है वा नहीं है यह विचार करने में ऐसा ज्ञात होता है कि, जैसे आश्रमरहितोंका अधिकार है ऐसेही आश्रमोंसे पतितहुयों का भी अधिकार होना संभव होता है इसमें सिद्धान्त जनाने के लिये यह कहा है कि, नैष्ठिकआदि आश्रममें प्राप्तहुयेको अर्थात् नैष्ठिकआदि आश्रममें निष्ठका जो नैष्ठिकआदि कोई आश्रम है उसका अभाव नहीं है अर्थात् जो नैष्ठिकआदि आश्रममें प्राप्तहुआ उसको फिर उस आश्रमसे रहित होकर रहनेका अभाव है अर्थात् निषेध है किस हेतु वा

---

१ गृहस्थ आश्रमसे भिन्न जिन आश्रमोंमें स्त्रीके साथ प्रसङ्ग न करने व अन्यप्रकारसे भी इच्छासे वीर्य पतित न करनेका नियम ग्रहण कियाजाता है वह ऊर्ध्वरेत आश्रम हैं ।

प्रमाणसे उनके रूपोंको अर्थात् आश्रमरूप धर्मोंके अभावोंसे नियम होनेसे अर्थात् आश्रमसे पतित होनेमें आमश्र रूपोंके (आश्रमरूप धर्मोंके) अभाव होनेके हेतुओंसे शास्त्रसे नियम होनेसे, नियम होनेमें यह श्रुति प्रमाण है **ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्** अर्थ–तीसरा ब्रह्मचारी आचार्यकुलमें रहनेवाला आचार्यकुलमें वेद अध्ययन व परिश्रममें शरीरको शिथिल करताहुआ वास करता है **अरण्यमियात्ततो न पुनरेयात्** अर्थ–(अरण्यं) वनको (इयात्) जाय (ततः) वहांसे (पुनः) फिर (न एयात्) न आवै अर्थात् फिर लौटकर तप छोडकर गृहस्थ न बनै ग्राममें वास व विषयासक्तोंका संग न करै इत्यादि वाक्योंसे नैष्ठिक वानप्रस्थ व संन्यासआश्रम धारण करके अपने पूर्वआश्रमको फिर धारण न करनेका नियम होनेसे धारण कियेहुये उक्त आश्रमोंका अभाव नहीं है इससे आश्रमरहितोंके समान आश्रम ग्रहण कियेहुयेका आश्रमधर्मरहित होनेका अभाव है इससे आश्रमसे पतितोंका ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है अथवा जब सब आश्रमोंके लिये अधिकार कहा है तब ब्रह्मविद्याविषयक अधिकारनिरूपण ग्रहण न करके केवल श्रेष्ठ आश्रमको प्राप्तहुयेको फिर नीचे आश्रम ग्रहणकरनेके निषेधमें यह सूत्रवाक्यको समझना चाहिये क्योंकि ब्रह्मचर्य्यको समाप्त करके गृही हो गृहीसे वनी हो वनी होकर संन्यास धारण करै अन्यपक्षमें यह कहा है ब्रह्मचर्य्यसे संन्यास धारण करै इत्यादि इसप्रकारसे ब्रह्मविद्याके विशेष उपयोगी ऊपरके आश्रमोंमें जानेका विधान है परन्तु संन्यास त्यागकर वानप्रस्थ तथा वानप्रस्थसे गृहस्थ होनेकी विधि नहीं है इससे नैष्ठिकआदि आश्रमनिष्ठको फिर उस आश्रमका अभाव नहीं है यही जैमिनि आचार्यका भी मत है अब यह पूर्वपक्ष है कि, नैष्ठिकआदि ब्रह्मचर्य्यसे पतितहुयोंका प्रायश्चित्तसे शुद्ध होनेमें अधिकार होना संभव है क्योंकि अधिकारलक्षणमें अवकीर्णी (मैथुन में वीर्यत्याग करनेवाले) ब्रह्मचारीके लिये प्रायश्चित्त निरूपण कियागया है इससे प्रायश्चित्तसे शुद्ध होकर नैष्ठिक फिर फिर ब्रह्मविद्याका अधिकारी होगा इसका उत्तर वर्णन करते हैं॥ ४०॥

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात्॥४१॥

अनु०–आधिकारिक भी नहीं है पतनके अनुमानसे व उसके योग न होनेसे ॥ ४१ ॥

भाष्य–जो ब्रह्मचारी प्रमादसे अवकीर्णी (योनिमें वीर्य छोड़नेवाला) हो तो उसका प्रायश्चित्त प्रायश्चित्तअधिकारलक्षणमें निरूपण कियागया है वह आधिकारिक (अधिकारलक्षणमें कहागया) भी प्रायश्चित्त अपने आश्रमसे भ्रष्ट नैष्ठिकआदिकोंके लिये नहीं है अर्थात् जो वेदपठन के लिये व्रत धारण किये ब्रह्मचारी है उसके लिये अवकीर्णी होनेमें प्रायश्चित्त का विधान है जो नैष्ठिक-

ब्रह्मविद्यामें निष्ठ ब्रह्मचारी है उसके पतित होने व अवकीर्णी होनेमें प्रायश्चित्त नहीं है क्यों नहीं है पतन होनेके अनुमानसे अर्थात् स्मृतिप्रमाण से और नैष्ठिकके साथ प्रायश्चित्तका योग न होनेसे यह स्मृतिवाक्य है **आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः । प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा** अर्थ--(यः नैष्ठिकं धर्मम् आरूढः) जो नैष्ठिकधर्ममें आरूढ (प्रच्यवते) पतित होता है अर्थात् अवकीर्णी होता है (सः) वह (आत्महा) आत्मघाती (येन) जिससे अर्थात् जिस प्रायश्चित्त से (पुनः शुध्येत्) फिर शुद्ध हो उस (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्तको (न पश्यामि) मैं नहीं जानता हूँ ॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

अनु०--उपपूर्व है एके भाव (होना) भी मानते हैं भोजनके समान सो उक्त है (कहागया है) ॥ ४२ ॥

भाष्य--एके आचार्य नैष्ठिकब्रह्मचारीके स्त्रीगमन करनेके पातक को उपपूर्व[1] अर्थात् उपपातक मानते हैं महापातक नहीं मानते और इसके प्रायश्चित्तका होना भी मानते हैं भोजनके समान अर्थात् जैसे मांसभक्षण करने व मद्यपान करनेसे व्रत भ्रष्ट होनेमें प्रायश्चित्त से शुद्ध होना कहा है ऐसेही अवकीर्णी भी प्रायश्चित्तसे शुद्ध होजाता है और विद्याका अधिकारी होसक्ता है गुरुस्त्रियोंमें गमन करना महापातक है इससे वह भिन्न है उससे शरीर शुद्ध होनेका विधान नहीं है अवकीर्णी होना उपपातकका प्रायश्चित्त ब्रह्मचारी के लिये कहा है ब्रह्मचारी शब्द सब ब्रह्मचारियोंके लिये वाच्य होनेसे ब्रह्मचारीमात्रके प्रायश्चित्तकी विधि है विशेषता नहीं है ॥४२ ॥

बहिस्तूभयथा स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

अनु०--दोनों प्रकारसे बाहर करनेयोग्य है स्मृतिसे व आचारसे ॥ ४३ ॥

भाष्य--ऊर्द्धरेता अपने आश्रमसे भ्रष्ट होनेमें दोनों प्रकारसे उपपातक होने अथवा महापातक होनेमें स्मृतिसे (स्मृतिप्रमाणसे) व शिष्ट महात्मा ब्रह्मविद्या अधिकारियोंके आचारसे प्रायश्चित्त करनेमें भी भ्रष्ट बाहर निकालदेने योग्य है अर्थात् उक्त प्रकारसे स्मृतिमें प्रायश्चित्त का निषेध किया है इससे और शिष्टोंके आचारसे विरुद्ध होनेसे पतित शिष्टोंके साथ व्यवहार यज्ञ अध्ययन करने योग्य न होनेसे शिष्टोंके मण्डलसे बाहर करने योग्य हैं ॥ ४३ ॥

---

१ उपशब्द जिसके पहिले हो वह उपपूर्व है पातक शब्दके पूर्व अर्थात् पहिले उपशब्द लगानेसे उपपातक ऐसा शब्द होता है इससे उपपातक को उपपूर्व कहा है न्यून पातकको उपपातक कहते हैं ।

कर्मफल स्वामीको प्राप्त होनेके वर्णनमें सू० ४४ व ४५ अ० ११ ।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

अनु०—स्वामीका (स्वामीका कर्म) है फलश्रुतिसे यह आत्रेय मानते हैं ॥ ४४ ॥

भाष्य--कर्मके अङ्गमें आश्रित उद्गीथआदि उपासनोंमें यह संशय होता है कि, यह यजमानके कर्म हैं अथवा ऋत्विजों के कर्म हैं क्योंकि ऋत्विज करते हैं इससे ऋत्विजों का कर्म होना चाहिये परन्तु श्रुति में फल यजमानको होना वर्णित है इससे यजमानका होना संभव होता है क्योंकि जिसका कर्म उसीको फल होना चाहिये परन्तु अन्यके कियेसे अन्यको फल होना व अन्यका कर्म अङ्गीकार करना युक्त नहीं है इसमें आत्रेयके मतको महात्मा सूत्रकार वर्णन करते हैं कि, आत्रेय आचार्य स्वामीका कर्म है यह मानते हैं फलश्रुतिसे (फल वर्णन करनेवाली श्रुतिके प्रमाणसे) श्रुति यह है **वर्षति हास्मै वर्षयाति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविधं सामो-पास्ते** अर्थ–(यः विद्वान्) जो विद्वान् (वृष्टौ) वृष्टिमें (एवं) इसप्रकार से (एतत् पंचविधं साम) इस पांचप्रकारसे कहेहुये सामको अर्थात् सामवेदको अथवा सामवेदमें कहे अनुसार उपास्यको (उपास्ते) उपासन करता है (अस्मै) इस उपासक के लिये (वर्षति वर्षयति) बरसता है बरसाता है अर्थात् आपसे बरसता है अथवा वृष्टि न होनेमें उपासनफल उपासकके लिये बरसाता है इत्यादि वाक्योंसे उपासना व फल दोनोंका एकमें आश्रित होना देखनेसे व उद्गीथआदि उपासनोंका, यज्ञफलका अतिशय होना रूप फल यजमानमें आश्रित होना सुन-नेसे अर्थात् यजमान ही के लिये होना सुननेसे यजमान ही के कर्म हैं ऋत्विजों का अपनेलिये स्वतंत्र कर्ता न होनेसे उनका कर्म स्वामी ही का कर्म है स्वामी की आज्ञासे स्वामीके अङ्गरूप ऋत्विज कर्म करते हैं ॥ ४४ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परि-क्रियते ॥ ४५ ॥

अनु०—ऋत्विक्का कर्म है यह औडुलोमि मानते हैं इस हेतु से कि, उसके लिये अर्थात् यज्ञके सांग (अंगोंसहित) सिद्ध होनेके लिये ऋत्विक्[1] धन देकर वर्ण कियाजाता है ॥ ४५ ॥

भाष्य—उद्गीथआदि उपासन ऋत्विक्का कर्म है क्योंकि सांग यज्ञकर्म

---

[1] जिससे यजमान धन देकर यज्ञ कराता है उस यजमानके लिये यज्ञ करनेवालोंको ऋत्वि-क् कहते हैं बहुत ऋत्विक् ऋत्विज कहेजाते हैं ।

सिद्ध होनेके लिये ऋत्विक् परिक्रय कियाजाता है अर्थात् धन देकर ऋत्विक् यज्ञकर्मके लिये यजमानसे नियत कियाजाता है इससे उद्गीथआदि उपासन दियेहुये अधिकार को प्राप्तहुये अधिकारसे प्रवृत्त ऋत्विजोंके कर्म हैं परन्तु स्वामीके निमित्त प्रवृत्त होनेसे ऋत्विजोंके कर्मका फल यजमानको प्राप्त होता है जैसे स्वामीके लिये गोदोहनका फल दुग्ध स्वामीको प्राप्त होता है परन्तु दुहना कर्म दुहनेवालेही का होता है ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं अपने लिये न करनेसे ऋत्विजोंके साथ फलका सम्बंध नहीं होता कर्ताभी यजमानही है जिसकी आज्ञासे ऋत्विज करते हैं इससे उपासना व फलका सम्बंध एक यजमानहीमें आश्रित होनेसे विरोध नहीं है ॥ ४५ ॥

ज्ञानवानके मौनविधिवर्णनमें सू० ४६–४८ अ० १२ ।

सहकार्य्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४६ ॥

अनु०–विद्यावान्सम्बंधी विधिआदि के समान पक्षसे तीसरी (तीसरे पक्षमें) अन्य सहकारी (सहायकारी उपयोगी) विधि है॥४६॥

भाष्य–बृहदारण्यक में यह श्रुति है **तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिरमौनञ्च मौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः** अर्थ–(तस्मात्) तिससे अर्थात् जिससे कि, पूर्वही ब्राह्मण ब्रह्मको जानकर सब सांसारिक विषयसुखकी इच्छाका त्यागकर भिक्षाचरण किया है तिससे अबभी (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (पाण्डित्यं) पाण्डित्यको अर्थात् पण्डा बुद्धि (वेद पढनेसे उत्पन्न ब्रह्मबुद्धि) वाला जो पण्डित है उसके भावको अर्थात् उसके धर्म ज्ञानको (निर्विद्य) निश्चयसे प्राप्त करके (बाल्येन) बालभावसे) तिष्ठासेत्) स्थित होनेकी इच्छाकरै (बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्य) बाल्य अर्थात् बालभाव वा ज्ञानबलत्वको व पाण्डित्यको निश्चयसे प्राप्त करिके (मुनिः) मुनि (मननशील) होता है (अथ) इसके अनन्तर (अमौनञ्च मौनञ्च निर्विद्य) अमौनको अर्थात् मननरहित केवल ध्यान मात्र वृत्ति को और मननवृत्तिको निश्चय प्राप्त करके (ब्राह्मणः) ब्राह्मण होता है अर्थात् ब्रह्मको साक्षात् कियाहुआ ब्रह्मको जाननेवाला होता है इसमें यह विचारने योग्य है कि, बाल्य व पाण्डित्यके समान मौनका भी विधान है अथवा

१ तद्वतः शब्दका अर्थ, अनुवादमें विद्यावान्का यह रक्खा है तद्वतः शब्दका शब्दार्थ उसयुक्त है उस शब्दसे पूर्वमें कहीहुई विद्याका निर्देश है इससे उस शब्दके स्थानमें विद्यावत् शब्दके साथ योजित करनेसे विद्यावतः शब्द समझना चाहिये विद्यावतः का अर्थ विद्यावान्का यह होता है ।

नहीं है मौन व पाण्डित्य दोनों शब्दोंका ज्ञान अर्थ होनेसे पाण्डित्यको प्राप्त करिके इस वाक्यमें जो विहित ज्ञान है उसीको फिर अन्य शब्दसे अथ मुनि हो यह कहा है मौनकी (मुनि होनेकी) विधि नहीं है क्योंकि विधि शब्द इस वाक्यमें सुना नहीं जाता मुनि होना कहना अनुवाद वा प्रशंसावाद है इसके निर्णयके लिये यह कहा है कि, विद्यावान् के लिये पक्षसे तीसरी अन्य सहकारी विधि है अर्थात् पाण्डित्य व बाल्यके समान तीसरे पक्षमें अन्य विद्याकी सहकारी तीसरी मौनकी विधि है विधिआदिके समान विधिसे अभिप्राय यज्ञआदिसे है अर्थात् सब आश्रमधर्म शम दमआदि विधिशब्दसे कहेजाते हैं और आदिशब्दसे श्रवण मनन ग्रहण किये जाते हैं जैसे विधिआदि अर्थात् यज्ञआदि शम दम-आदि व श्रवण मनन विद्याके सहकारी हैं ऐसेही पाण्डित्य बाल्य व मौन यह तीन विद्याके अन्य सहकारी हैं जो यह कहा है कि, पाण्डित्य शब्दसे मौन भी आजाता है यह युक्त नहीं है मुनि शब्दका अतिशय ज्ञान अर्थ होने व मननसे मुनि यह व्युत्पत्ति संभव होनेसे पण्डित व मुनिमें भेद है इससे पाण्डित्य व मौनमें भी भेद है इससे बाल्य व पाण्डित्यकी अपेक्षासे तीसरा अतिशय ज्ञान रूप मौनकी विधि है यद्यपि बाल्य व पाण्डित्यहीमें विधिका श्रवण है मौनके लिये विधि नहीं है तथापि अपूर्व होनेसे प्रथम प्राप्त न होनेसे यहां मौनकी विधिही मानने योग्य है इससे जैसे **तमेतं वेदानुवचनेन,** इस पूर्वहीं कही हुई श्रुतिमें वेदके वचन अनुसार यज्ञ दान तपसे ब्रह्मके जाननेका उपदेश होनेसे यज्ञआदि तथा शान्तो दान्त इत्यादि इस उक्त श्रुतिसे शम दमआदि और श्रोतव्यो मन्तव्यो इससे श्रवण व मनन इन विद्यासहकारियोंकी विधि है इनही विधिआदि अर्थात् यज्ञआदिके समान **तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य** इत्यादि इस श्रुतिमें पाण्डित्य बाल्य व तीसरे मौन अन्य विद्याके सहकारी की विधि है अब यह शंका है कि, जो पाण्डित्य बाल्य व मौनसहित विद्या ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन कही जाती है तो छान्दोग्यमें जीवनपर्य्यन्त गृहस्थही रहनेका क्यों वर्णन किया है अर्थात् **अभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे** अर्थ-(अभिसमावृत्य) ब्रह्मचर्य्य समाप्तकर गुरुकी आज्ञाको प्राप्त होकर (कुटुम्बे) कुटुम्बमें अर्थात् गृहस्थआश्रममें (शुचौ देशे) पवित्र देश अर्थात् पवित्रस्थानमें यहांसे आरंभ करके वेद अध्ययन उत्तम कर्म करते हुये समय व्यतीत करना वर्णन करके ऐसा वर्णन किया है **स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकम-भिसम्पद्यते** अर्थ-(सः) वह गृहस्थ (खलु यावत् आयुषं) निश्चयसे आयु-पर्य्यन्त अर्थात् शरीर रहनेतक (एवं वर्तयन्) ऐसा करतेहुये मरणेपर (ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते) ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है इसप्रकारसे सम्पूर्ण आयु-गत होनेतक गृहस्थही आश्रममें रहनेकी विधि निश्चित होती है इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ४६ ॥

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४७ ॥

अनु०—सबमें भावसे (होनेसे) तो गृहस्थको ग्रहण है ॥४७॥

भाष्य—सम्पूर्ण आश्रमोंमें विद्या (ज्ञान) के होनेसे गृहीका भी ग्रहण व अंगीकार है अर्थात् सब आश्रमोंमें विद्याका होना जनानेके लिये यह वर्णन है कि, जो गृही भी इसप्रकारसे आयुपर्य्यन्त आचरण कर्ता हुआ शरीरको त्याग-करता है वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है यह आशय नहीं है कि, गृहस्थआश्रमसे भिन्न आश्रम नहीं है अन्य आश्रमको ग्रहण न करै क्योंकि इसी वाक्यसम्बंध में ब्राह्मण पुत्र धन व लोककी इच्छासे चित्तको उठाकर भिक्षाटन करते हैं इसप्रकारसे संन्यास धर्मको प्रतिपादन करके **तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य** अर्थ—तिससे ब्राह्मण पाण्डित्यको प्राप्त करके इत्यादिसे संन्यास धर्मकी स्थिति हेतुक मौन तीसरा सहकारीका विधान किया है ॥ ४७ ॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४८ ॥

अनु०—मौनके समान इतरोंका (अन्योंका) भी उपदेश होनेसे ॥ ४८ ॥

भाष्य—सब इच्छाओंसे रहित भिक्षाचरणपूर्वक मौनका (संन्यासका) उपदेश सब आश्रमोंके धर्मोंके जनानेके लिये है किस हेतुसे मौनके समान अन्य आश्रमोंका भी उपदेश होनेसे अर्थात् ऐसेही मौन उपदेशके समान अन्य आश्रम धर्मवालोंको भी **त्रयो धर्मस्कंधाः** तीन धर्मके स्कंध हैं यहांसे आरंभ करिके **ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति** अर्थ—ब्रह्ममें निष्ठ मोक्ष को प्राप्त होता है इसप्रकारसे ब्रह्मप्राप्तिका उपदेश होनेसे सब आश्रमवालोंमें से कोई ब्रह्मसंस्थ हो वह मोक्षको प्राप्त होता है यह पूर्वही प्रतिपादन कियागया है इससे यज्ञआदि सब आश्रम-धर्मोंके समान पाण्डित्यआदि प्राप्त करके तीसरी विद्या सहकारी मौनविधि का उपदेश (संन्यासका उपदेश) यथार्थ है ॥ ४८ ॥

अपने भावको प्रकट न करतेहुये ज्ञानीके बालके समान स्थित होनेके वर्णन में सू० ४९ अधि० १३ ।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ४९ ॥

अनु०—प्रकट वा स्पष्ट न करता हुआ, योग वा सम्बंध होनेसे ॥ ४९ ॥

भाष्य—**तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्** अर्थ-तिससे ब्राह्मण पाण्डित्यको लाभ करके बाल्यसे स्थित होनेकी इच्छा करै इस वाक्यमें ज्ञानी का बाल्य ग्रहण करना वर्णित है बाल्य शब्दका अर्थ बाल (बालक)

का भाव वा बालका कर्म है इसमें यह निश्चय होना चाहिये कि, सर्वथा बालकका ऐसा कर्म व भाव धारण करनेका अभिप्राय है अथवा किसी विशेष अंशमें बालके समान ज्ञानीको होना चाहिये बालभाव अवस्थाआदि विशेषका ग्रहण संभव न होनेसे बालका कर्मही ग्रहण योग्य समझाजाता है परन्तु इसमें भी बालके समान जो इच्छा हो वह ज्ञानीको करना अथवा दम्भआदिरहित होना मात्र ग्रहण करना चाहिये यह विचार करने में विशेष विधि वा शब्द न होनेसे सबका ग्राह्य होना विदित होता है इस तर्क वा संशयके समाधानके लिये यह कहा है कि, प्रकट न करता हुआ अर्थात् अपने आशय को प्रकट न करता हुआ बालकके समान मनहीमें समझता हुआ ज्ञानी वर्तमान रहै यह बालभावसे स्थित रहना कहनेका आशय है बालकके समान भक्ष्य अभक्ष्यभक्षण व मूत्र पुरीष करनेआदिसे अभिप्राय नहीं है किस हेतुसे बालभावसे स्थित रहनेकी इच्छा करै इस विधि में इसी आशयका सम्बंध व योग होनेसे अन्य अज्ञानता अशान्तताआदि बालकके स्वभाव व कर्मविद्याके विरोधियोंका योग होना संभव न होनेसे व श्रुतिविरुद्ध होनेसे श्रुति यह है **नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् । आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः** इत्यादि अर्थ-जो दुष्ट आचरणों से विरागको नहीं प्राप्त हुआ अर्थात् दुष्ट कर्मोंको त्याग नहीं किया जो शान्त नहीं है जो एकाग्रचित्त नहीं है जो शान्तमन नहीं है वह ब्रह्मको नहीं प्राप्त होता प्रज्ञानहीसे इस ब्रह्मको ज्ञानी प्राप्त होवै वा प्राप्त होता है भोजनकी शुद्धता में बुद्धिकी शुद्धता होती है इत्यादि ॥ ४९ ॥

इस जन्म वा जन्मान्तरमें उपासनाके फल प्राप्त होनेके वर्णनमें

सू० ५० अ० १४ ।

ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबंधे तद्दर्शनात् ॥ ५० ॥

अनु०--ऐहिक (इसी जन्मसम्बंधी वा सांसारिक) प्रस्तुत प्रतिबंध न होनेमें वह देखनेसे ॥ ५० ॥

भाष्य--विद्या दो प्रकारकी होती है सांसारिक ऐश्वर्य फलवाली व मुक्तिफलवाली दोमेंसे ऐश्वर्य्य फल अपने साधनरूप पुण्य कर्मोंसे पुण्य कर्मोंके पश्चात्ही उत्पन्न होता है अथवा पश्चात् व कालान्तरमें भी होनेसे नियम नहीं है यह संशय है चिन्तनसे ऐसा विदित होता है कि, साधन सिद्ध होनेमें विलम्ब होनेका कोई हेतु न होनेसे साधनरूप पुण्यकर्मोंके समाप्त होते ही फल होता है इसमें सिद्धान्त जनानेके लिये यह कहा है कि, सांसारिक ऐश्वर्यफल देनेवाला उपासन प्रस्तुत

१ इस श्रुतिका अर्थ पूर्वही लिखागया है इससे यहां भावार्थ लिखागया है शब्दक्रमसे अर्थ नहीं लिखागया ।

प्रतिबंध न होनेमें अर्थात् प्रबल कर्मान्तर (अन्य कर्म) से प्रतिबन्ध (रोक) न होनेसे कर्मके समाप्त होनेके पश्चात्ही फल होता है और प्रतिबन्ध होनेमें उसके पीछे कालान्तर में होता है इससे नियम नहीं है किस हेतुसे वह देखनेसे अर्थात् प्रबल अन्य कर्मसे कर्मफलमें प्रतिबंध होनेका श्रुति में देखनेसे निश्चय कियाजाता है क्योंकि श्रुतिमें यदेव श्रद्धया करोति इत्यादि वाक्यमें यह वर्णन किया है कि, जो विद्यासे श्रद्धासे व उपनिषद्से (उपास्यके ध्यानसे) करता है वही अतिवीर्यवत् होता है अर्थात् उसके फलका प्रतिबंधक (रोकनेवाला) कोई कर्म नहीं होसक्ता इसप्रकारसे उद्गीथविद्यायुक्त कर्मही के फलका प्रतिबंध नहीं होता अन्यका प्रबल कर्मसे प्रतिबंध होता है यह सिद्ध होता है किसी पुस्तकमें सूत्रका ऐसा पाठ देखा जाता है **ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबंधे तद्दर्शनात्** अर्थ–ऐहिक भी प्रतिबंध न होनेमें उसके देखनेसे इस सूत्रका इसप्रकारसे भी व्याख्यान करना युक्त है कि, अन्यकर्मसे प्रतिबंध (रोक) न होनेमें यज्ञआदि उत्तम कर्मका ऐहिक (इसी जन्ममें होनेवाला) भी ज्ञानफल प्राप्त होता है और प्रतिबंध होनेमें जन्मान्तरमें ज्ञान उदय होता है किस प्रमाणसे उसके (ज्ञान उत्पत्तिके) देखनेसे अर्थात् इस जन्म व जन्मान्तर में ज्ञानकी उत्पत्ति देखनेसे आशय यह है कि, उत्तम कर्म व उपासन करनेवालोंको इसी जन्ममें ज्ञान व विशेष सामर्थ्य होना देखनेसे और जन्मान्तरके कर्म व साधनसे वामदेव ऋषिने गर्भही में यह कहा है कि, मैं मनु हुआ सूर्य हुआ ऐसा शब्दप्रमाण से गर्भही में ज्ञान होना देखनेसे यह निश्चित होता है कि, कर्मान्तरके प्रतिबंध होनेके कारणसे जन्मान्तरमें उत्तम कर्म धर्मका फल ज्ञान प्राप्त होता है इससे इसी जन्ममें फल होनेका नियम नहीं है पूर्वजन्मसंस्कार उत्तम होने व इस जन्ममें भी उत्तम कर्म व साधनमें प्रवृत्त होनेमें इसी जन्ममें भी ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ॥ ५० ॥

मुक्त फलके कालनियम न होने अर्थात् ज्ञात न होनेके वर्णनमें सू० ५१ अ० १५ ।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५१ ॥

अनु०–ऐसेही मुक्तिफलका नियम नहीं है उसकी अवस्थाके निश्चयसे उसकी अवस्थाके निश्चयसे ॥ ५१ ॥

भाष्य–जैसे कर्म व उपासनफल ऐश्वर्य वा ज्ञान कर्मान्तरके प्रतिबंधसे इसी जन्ममें होने का नियम नहीं है ऐसेही मुक्तिफलवाले उपासनके भी अपने

साधनरूप अतिशय (अधिकता) को प्राप्त कर्मोंसे उत्पन्न होनेमें कालका नियम नहीं है उसकी पूर्वके समान प्रतिबंधके अभाव अर्थात् प्रतिबंधकी समाप्तिरूप अवस्थाके निश्चय होनेसे अर्थात् पूर्वके समान वही हेतु इसमें भी शीघ्र व बहुत काल पीछे वा इसी जन्म व जन्मान्तर में होनेका निश्चय होनेसे । इसमें यह अधिक शङ्का है कि, मुक्तिफलवाली विद्याके साधनरूप कर्मके प्रबल होनेसे प्रतिबंधका होना संभव नहीं है इसका उत्तर यह है कि, उसमें भी ब्रह्मज्ञानी के पूर्व कियेहुये प्रबल अधर्मकर्मका होना संभव होनेसे प्रतिबंधका भी होना संभव है और सब उपासक व साधकोंको फलरूप आत्मज्ञान व विशेष सामर्थ्य की प्राप्ति समान कालके नियम व समानरूपसे दृष्ट न होनेसे मुक्तिफल उपासन-निष्ठ ज्ञानी व उपासनमें भी प्रतिबंधका होना निश्चित होता है इसीसे गीतामें श्रीकृष्णजीने कहा है **अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिं** अर्थ—जब अनेक जन्मकी सिद्धि होती है तब उस अनेक जन्मकी सिद्धिसे परमगतिको प्राप्त होता है जबतक प्रतिबंधक कर्म रहते हैं तबतक मोक्ष न होनेसे अनेक जन्मतक कर्म-सम्बन्ध रहता है इससे विशेष कालका नियम ज्ञात नहीं होता दो बार उसकी अवस्थाके निश्चयसे यह कहना अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ ५१ ॥

इति श्रीवेदान्तदर्शनसूत्राणां सानुवाददेशभाषाकृतभाष्ये श्रीमत्प्यारेलाला-त्मजबांदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीमत्प्रभुदयालु-निर्मिते तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

ॐ परमात्मने नमः ।

अथ चतुर्थाध्यायप्रारंभः ।

तृतीयाध्यायमें साधनों सहित विद्याका निरूपण कियागया अब विद्या-स्वरूप शोधनपूर्वक विद्या का फल प्रतिपादन कियाजाता है ब्रह्मप्राप्तिसाधन-रूप ब्रह्मज्ञान प्रतिपादनमें यह वेदान्तवाक्य हैं **ब्रह्मविदाप्नोति परं** अर्थ—(ब्रह्मविद्) ब्रह्मका जाननेवाला (परं) परब्रह्मको वा मोक्षको (आप्नोति) प्राप्त होता है **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति** अर्थ—(तम् एव) उसीको अर्थात् परब्रह्महीको (विदित्वा) जानकर (अतिमृत्युं) मोक्षको (एति) प्राप्त होता है **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** अर्थ—(ब्रह्म वेद) ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्मका जाननेवाला (ब्रह्म एव भवति) ब्रह्मही होता है इत्यादि वाक्योंमें विहित जो ब्रह्मका जानना है इसमें यह संशय है कि, एकवार ब्रह्मको सुनकर वा मनसे विचारकर जान लेना शास्त्रके कहनेका तात्पर्य है कि, बारंब जानने

व स्मरण करनेका है इन वाक्योंमें जाननेमात्रका विधान होनेसे अनेकवार आवृत्ति करनेमें प्रमाण न होनेसे एकवार जानलेनेमात्रहीका उपदेश होना विदित होता है ऐसे संशय निवारण करने व सिद्धान्त जनानेके लिये महात्मा सूत्रकार यह वर्णन करते हैं ।

उपास्यके अनेक वार स्मरण व ध्यान वर्णन करनेके विषयमें

सू० १ पा० २ अ० १ ।

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

अनु०—अनेकवार आवृत्ति (प्रत्यय वा ज्ञानोंकी आवृत्ति) करना चाहिये उपदेशसे अथवा प्रत्ययोंकी आवृत्ति करना चाहिये अनेकवारके उपदेशसे ॥ १ ॥

भाष्य—परमात्माके स्वरूपज्ञानकी अनेकवार आवृत्ति करना चाहिये अर्थात् वारंवार चिन्तन करना चाहिये किस हेतुसे उपदेशसे अर्थात् ध्यान व उपासन अर्थहीमें ध्यान व उपासनके पर्य्यायमें वेदन(जानने)का उपदेश होनेसे, उसका पर्य्याय होना(एकही अर्थवाचक होना) वेदन उपासन व ध्यान इन शब्दोंका एकही विषयमें अर्थात् वेदनके (जाननेके) उपदेशपर वाक्योंमें प्रयोग होनेसे विदित होता है यथा **मनो ब्रह्मेत्युपासीत** अर्थ—(मनः ब्रह्म) मन ब्रह्म है (इति उपासीत) ऐसा उपासन करै इसप्रकारसे उपासकके लिये जो अर्थ आरंभमें कहागया है वहीं **भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद** अर्थ—(यः) जो(एवं वेद)ऐसा जानताहै अर्थात् मनमें ब्रह्मका अभ्यास करके मन ब्रह्म है ऐसा जानता है वह (कीर्त्या)कीर्तिसे (यशसा)यशसे (ब्रह्मवर्चसेन) ब्रह्मतेजसे (भाति च तपति च) प्रकाशमान व ऐश्वर्यवान् होता है इस अंतवाक्यमें जानना अर्थ—अंगीकार किया-गया है तथा **यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः** अर्थ-(यः)जो (तत्) उसको अर्थात् उस जानने योग्य तत्त्वको (वेद) जानता है (यत) जिसको (सः) वह अर्थात् रैक (वेद) जानता है उसके ज्ञानमें भी रैकके समान सब धर्म व धर्मफल अन्तर्गत होते हैं (मया) मुझसे (सः) रैक व (एतत्) यह जानने योग्य ब्रह्म दोनों (उक्तः) कहेगये ऐसा एक हंसने दूसरे हंससे रैकके ज्ञानकी प्रशंसा किया यह कथा छान्दोग्य उपनिषद् में है इसका संक्षेप वर्णन

---

१ फिर कहेहुयेको कहने व जानेहुयेको स्मरण करनेआदि अर्थात् उसीको फिर करने वा होनेको आवृत्ति कहते हैं ।

२ यहां वैदिक प्रयोग होनेसे लिङ्गका व्यत्यय है उभय शब्दका आक्षेप करिके उभयं उक्तं ऐसा समझकर दोनों कहेजानेका अर्थ समझना चाहिये अथवा सः उक्तः एतत् उक्तं ऐसा कहनेके स्थानमें सः व एतत् दोनोंके लिये उक्तः ऐसा कहा है ।

प्रथम अध्यायके तृतीयपाद ३४ सूत्रके व्याख्यानमें लिखागया है इस वाक्यमें वेदन (जानने) के अर्थ में रैकका ज्ञान कहागया है ऐसे रैकके ज्ञानकी प्रशंसा हंससे जानश्रुति सुनकर रैकके पास जाकर यह प्रार्थना किया है **अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से** अर्थ-(भगवः) हे भगवन् ! (एतां देवतां यां देवतां) इस देवताको जिस देवताको (उपास्से) उपासन करते हो अर्थात् जिस देवताकी आप उपासना करते हैं उसका (मे) मुझे (अनुशाधि) उपदेश कीजिये यहां जिसका जानना पूर्ववाक्यमें कहा है उसीका उपासन यहां कहा है इससे वेदन व उपासन शब्द एकही अर्थवाचक प्रतीत होते हैं तथा **ब्रह्मविदाप्नोति परं** अर्थ-ब्रह्मका जाननेवाला परंपदको प्राप्त होता है इत्यादि वाक्यके समान अर्थवाले वाक्योंमें यथा **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** अर्थ-आत्मा निश्चयसे (द्रष्टव्यः) देखने योग्य अर्थात् जाननेयोग्य (श्रोतव्यः) सुनने योग्य (मन्तव्यः) मानने योग्य (निदिध्यासितव्यः) ध्यानकी ईक्षा करने योग्य है **तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः** अर्थ-(ध्यायमानः) ध्यान करताहुआ (तं निष्कलं) उस अवयवरहित अर्थात् निराकार रूपरहित ब्रह्मको (पश्यति) देखता है इत्यादि में ध्यान करनेवालेसे जानना वर्णन किया-गया है ध्यान चिन्तन है व स्मृतिकी सन्ततिरूप है स्मृतिमात्र नहीं है उपासनाका भी यही निरन्तर एकाग्र चित्तवृत्ति होना अर्थ है दोनोंका एकही अर्थ होनेसे ब्रह्मका जाननेवाला ब्रह्मही होता है तथा **ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः** अर्थ-(देवं ज्ञात्वा) देवताको अर्थात् ब्रह्मदेवताको जानकर (सर्वपाशैः) सब बंधनोंसे (मुच्यते) छूट जाता है इत्यादिमें वेदनआदि शब्दोंका अनेकवार आवृत्त सन्तत स्मरणहीका अर्थ है यह निश्चय कियाजाता है कोई आत्मा देखने योग्य सुनने योग्य है इत्यादि इस वाक्यको संशयहेतु स्थापन करके कि, इसमें एक वार जानने सुननेआदिका उपदेश है वा आवृत्ति करना चाहिये उत्तरमें अनेक वारका उपदेश होना सिद्धान्त वर्णन करते हैं परन्तु यह वाक्य उत्तरपक्षहीके लिये युक्त समझकर पूर्वपक्षमें इसको योजित नहीं किया क्योंकि दो विरुद्धमें एकका सम्बंध नहीं हो सक्ता ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

अनु०-लिङ्गसे (स्मृतिसे) भी ॥ २ ॥

भाष्य-लिङ्ग शब्द यहां स्मृतिवाचक है अनुमान शब्दके समान लिङ्ग शब्द भी स्मृति अर्थ का बोधक है स्मृतिसे भी यही अर्थ निश्चित होता है कि, मोक्ष-साधनरूप वेदन (ज्ञान) स्मृति सन्ततिरूप है अर्थात् स्मरणका लगातार बना रहना है इसमें यह वाक्य प्रमाण है **तद्रूपप्रत्यये चैका सन्ततिश्चान्य-**

निःस्पृहा। तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा अर्थ-(तद्रूपप्रत्यये) उसके स्वरूपज्ञानमें (एका सन्ततिः) एकतार लगा रहना स्मरण न छूटना (च) और (अन्यनिःस्पृहा) अन्यकी स्पृहा न होना उपास्यहीमात्रमें जो चित्तका रहना है (तद् ध्यानं) वह ध्यान है (तथा) वैसेही (प्रथमैः षड्भिः अङ्गैः) प्रथम छः अङ्गोंसे अर्थात् योगके आठ अङ्गोंमेंसे पहिलेके जो यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार व धारणा यह छः अङ्ग हैं उनसे (निष्पाद्यते) सिद्ध कियाजाता है इससे अनेकवार आवृत्तही (आवृत्तिको प्राप्तही) वेदन शास्त्रका आशय है इत्यावृत्त्यधिकरणम् ॥ २ ॥

अपने आत्माहीमें ब्रह्मभाव करनेके विषयमें सू० ३ अ० २।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

अनु०-आत्मा यही उपास्य है यह अंगीकार करते हैं और ग्रहण कराते हैं ॥ ३ ॥

भाष्य-अब यह विचार कियाजाता है कि, उपास्य ब्रह्म उपासना करनेवालेसे अपनेसे अन्य मानके उपासना करने योग्य है अथवा अपने आत्माही भावसे उपास्य (उपासनके योग्य) है पूर्वपक्ष यह है कि, अन्य भावसे युक्त है क्योंकि उपासन करनेवाले जीवात्मासे ब्रह्म भिन्न पदार्थ है भिन्न पदार्थ होना पूर्वही **अधिकन्तु भेदनिर्देशात्** अर्थ-भेद कहनेसे अधिक है **अधिकोपदेशात्** अर्थ-अधिक होनेके उपदेशसे **नेतरोनुपपत्तेः** अर्थ-संभव न होनेसे इतर अर्थात् जीव नहीं है इत्यादि सूत्रोंसे प्रतिपादन कियागया है जैसा ब्रह्म है वैसेही उपासन करना चाहिये जैसा नहीं है वैसा उपासन करनेमें उसकी प्राप्तिभी श्रुतिप्रमाणसे अन्यथारूप होगी अर्थात् **यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति** अर्थ-(अस्मिन् लोके) इस लोकमें (पुरुषः) पुरुष (यथाक्रतुः) जैसा संकल्प वा ध्यान करनेवाला (भवति) होता है (तथा) वैसेही (इतः प्रेत्य) इस शरीरसे शरीरान्तर वा लोकान्तरमें जाकर (भवति) होता है इस श्रुतिप्रमाणसे अन्यथारूप होगी इससे भिन्नही मानकर उपासना करनेयोग्य है इसका उत्तर यह है आत्मा यही उपास्य है अर्थात् उपासन करनेवाला यही ब्रह्मभावसे उपास्य है उपासक जीवात्मा अपने शरीरका जैसे आपही आत्मा है ऐसेही अपने आत्माका भी परं ब्रह्म आत्मा है ऐसेही उपासन करै किस प्रमाणसे ऐसा उपासन करै ऐसेही सब पूर्व उपासना करनेवाले अंगीकार करते हैं यथा **त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि** अर्थ-(भगवः देवते) हे भगवति देवते ! (त्वं वा अहम् अस्मि) तू मैं ही हूं (अहं वै त्वम् असि) मैं तूही है उपासन करनेवालेसे भिन्नरूप ब्रह्मको उपासना करनेवाले कैसे यह स्वीकार करते हैं कि, मैं हूँ

इस शंकाके समाधानके लिये यह कहा है ग्रहण भी कराते हैं अर्थात् यह अर्थ विरोधरहित उपासकोंको वेदान्त वाक्य ग्रहण कराते हैं यथा **य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः** अर्थ–जो आत्मामें स्थित हुआ आत्मासे भिन्न है जिसको आत्मा (जीवात्मा) नहीं जानता है जिसका आत्मा शरीर है जो भीतर स्थित हुआ आत्माको नियममें रखता है अर्थात् नियन्ता है वह अन्तर्यामी अमृत (मरणरहित) वा मोक्षसुखरूप तेरा आत्मा है तथा **सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः** अर्थ–हे सोम्य ! यह सब प्रजा (सन्मूलाः) सत् ब्रह्म कारणवाली (सदायतनाः) सत् स्थानवाली (सत्प्रतिष्ठाः) सत्ही आधारवाली हैं अर्थात् यह सब प्रजा सत् ब्रह्मकारणसे उत्पन्न सत्ही इनका स्थान है सत्हीमें आश्रित हैं **ऐतदात्म्यमिदं सर्वं** अर्थ–इस आत्मामय यह सब जगत् है **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** अर्थ–यह सब जगत् ब्रह्मही है **तज्जलानिति** अर्थ–यह सब जगत् उससे उत्पन्न होता है उसमें लीन होता है उसमें चेष्टा करता है तज्जलान् इतने शब्दका इतना अर्थ कैसे होता है यह संस्कृतमें लिखते हैं तस्माज्जायते इति तज्जं तस्मिन् लीयते इति तल्लं तस्मिन् अनिति चेष्टते इति तदनं तज्जश्च तल्लश्च तदनश्च तज्जलान् इसप्रकारसे व्युत्पत्ति वा निरुक्ति करनेसे उक्त अर्थ होता है सब चित् अचित् वस्तुके उससे उत्पन्न होने उसमें लीन होने उसमें चेष्टा करने उससे नियाम्य (नियम कियेजाने योग्य) होने उसके शरीर होनेसे यह ब्रह्म सबका आत्मा है इससे वह तेरा आत्मा है इससे जैसे प्रतिशरीरमें प्राप्त जीवात्माका अपने शरीरमें आत्मा होनेहीसे मैं मनुष्य हूँ यह कहनेमें मैं इस शब्द व प्रत्ययका अनुसंधान होता है ऐसेही परमात्माके जीवात्माके भी आत्मा होनेसे उसको भी मैं यही अनुसंधान करना (भाव धारण करना) युक्त है इसप्रकारसे शास्त्रवाक्योंसे प्रतिपादित सब बुद्धियोंका एक ब्रह्महीमें निष्ठ (निश्चयसे स्थित) होनेसे सब शब्दोंका एक ब्रह्महीमें निष्ठ होना स्वीकार करनेवाले उपासकोंने हे देवते ! तू मैं हूँ मैं तू ही है ऐसा परस्पर मेल व एक होना कहा है और **अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद** अर्थ–(यः) जो (अन्यां देवताम् उपास्ते) अन्य देवताकी उपासना करता है (असौ अन्यः) यह अन्य है (अहम् अन्यः अस्मि) मैं अन्य हूँ (इति) ऐसा जानता है (सः) वह (न वेद) नहीं जानता है अर्थात् अज्ञान है इत्यादि इसप्रकारसे अन्य होनेके अनुसंधान का निषेध है अपनेही आत्मारूप होनेके अनुसंधानसे अन्य होनेके अनुसंधानका निषेध रक्खागया है और अपने शरीरसे अपने आत्माके अधिक होनेके अनुसंधानके समान अपने आत्मासे भी परमात्माके अधिक होनेके अनुसंधानसे

भिन्नरूपसे अनुसंधानका विधान भी स्थापन कियागया वा रक्खागया है भावा-न्तरसे दोनोंमें विरोध नहीं है ब्रह्मके अधिक होनेमें भी ब्रह्मके जीवके आत्मा होनेसे व जीवके ब्रह्मके शरीर होनेसे शरीरी व शरीरके समुदायरूप एकभाव ग्रहण करके निषेधवाक्यमें अपने व ब्रह्ममें अन्यभाव ग्रहण करनेका उपासनामें निषेध किया है और भेद माननेवालेको अल्पज्ञ व अज्ञान कहा है इससे उपा-सना करनेवालेके आत्मा ही भावसे ब्रह्म उपास्य है यह सिद्धान्त है उत्कृष्ट प्रेममें भी प्रियके साथ भेदबुद्धिका अभाव होता है इससे अतिप्रेमसे ब्रह्मरूप ही अपनेको देखनेका उपदेश होने और ध्यान व सङ्कल्पअनुसार फल प्राप्त होना श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध होनेसे ब्रह्मप्राप्ति होने व ब्रह्मअवस्था व सुख प्राप्त होनेके लिये ब्रह्मभावहीसे उपासन करना आकांक्षित होनेसे अभेदभावसे उपा-सना करना युक्त है ॥ ३ ॥

प्रतीकमें अध्यास करने न करनेके निरूपणमें सू० ४ व ५
अधिकरण ३ ।

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

अनु०—प्रतीकमें नहीं जिससे वह (उपासक) प्रतीक नहीं है ॥ ४ ॥

भाष्य—**मनो ब्रह्मेत्युपासीत** अर्थ—मन ब्रह्म है ऐसी उपासना करै **आकाशो ब्रह्म** अर्थ—आकाश ब्रह्म है (छा० । ३ । १८) **आदित्यो ब्रह्म** अर्थ—सूर्य ब्रह्म है (छा० । ३ । १९) **स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते** अर्थ—वह जो नाम ब्रह्म है ऐसा उपासन करता है (छा० ७ । ५) ऐसेही अन्य जो प्रतीक उपासन हैं उनमें आत्माभावका अनुसंधान करना चाहिये अथवा न करना चाहिये यह संदेह निवारण व सिद्धान्त निश्चित होनेके लिये यह कहा है कि, प्रतीक में नहीं अर्थात् प्रतीकमें आत्मभावका (आत्मरूपका) अनुसंधान न करना चाहिये अर्थात प्रतीकको आत्मा मानकर उपासना न करना चाहिये किस हेतुसे न करना चाहिये जिससे कि, वह अर्थात् उपासकका आत्मा प्रतीक नहीं है चित् अचित् वस्तु सब ब्रह्मका कार्य होनेसे कारणरूप ब्रह्म सर्व कार्य पदार्थोंमें भी विद्यमान होनेसे कार्यरूप प्रतीकमें ब्रह्मका अध्यास करिके ब्रह्मके उपासन को श्रुति उपदेश करती है जीवात्माके साथ कारण कार्य सम्बंध न होनेसे मनआदि सब कार्यवस्तु ब्रह्म प्रतीकरूपसे वर्णन कियेगयोंसे जीवात्मा भिन्न है इससे उपासक जीवका आत्मा प्रतीक नहीं है और प्रतीकमें अपने आत्मा होनेका अनु-संधान करनेमें अर्थात् प्रतीकको अपना आत्मारूप मानके उपासन करनेमें प्रतीकही उपास्य होता है ब्रह्म उपास्य नहीं होता प्रतीक कार्यपदार्थों के उपा-

मन व उसके फलसे कल्याण प्राप्त न होनेसे प्रतीकमें आत्मभावका अनु-संधान करने योग्य है जो वस्तु ब्रह्म नहीं है उसमें ब्रह्मदृष्टिसे अनुसंधान करनेको प्रतीकोपासन कहते हैं और जिसमें ब्रह्मकी दृष्टि अर्थात् ब्रह्मका अध्यास कियाजाता है यथा मन सूर्यआदि यह प्रतीक कहेजाते हैं अब इस शंका की प्राप्ति है कि, मन ब्रह्म है सूर्य ब्रह्म है इत्यादि उपदेशसे मन व सूर्यआदिको जो ब्रह्म मानकर उपासना करनेका विधान है इसमें मनआदि ब्रह्म हैं ऐसेही मनआदि ब्रह्मदृष्टिसे उपासना करने योग्य है अथवा ब्रह्म मन है ब्रह्म सूर्य है इसप्रकारसे ब्रह्ममें मनआदि दृष्टिसे भी उपासना करना चाहिये इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

अनु०—ब्रह्मदृष्टि युक्त है श्रेष्ठतासे ॥ ५ ॥

भाष्य—ब्रह्मदृष्टि युक्त है अर्थात् मनआदिकोंमें ब्रह्मदृष्टिही करना (ब्रह्महीका अध्यास करना) युक्त है ब्रह्ममें मनआदिकी दृष्टि करना युक्त नहीं है क्यों ब्रह्मही की दृष्टि युक्त है श्रेष्ठतासे अर्थात् मन आदिसे ब्रह्मकी श्रेष्ठतासे निकृष्टमें उत्कृष्टका अध्यास करना निकृष्टमें उत्तम श्रेष्ठ फलके लिये होताहै उत्कृष्टमें निकृष्टका अध्यास अर्थात् निकृष्टकी दृष्टि उत्तमताकी हानिकारी होती है यथा उत्कृष्ट राजामें सेवक दृष्टि करना ऐश्वर्यहानि व निकृष्टतारूप है और सेवकमें राजाकी दृष्टि करना श्रेष्ठता व ऐश्वर्यके लिये है इससे ब्रह्मके उत्कर्ष होनेसे उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) ब्रह्महीकी दृष्टि मन-आदिमें करना श्रेयकारी है उपासकको संकल्प व ध्यानसे कियेहुये उपासनाके अनुरूप फल होता है उत्कृष्टसे निकृष्टदशामें होना निकृष्ट फल होना किसीको इष्ट नहीं होता इससे उत्कृष्ट फलके लिये ब्रह्मही की दृष्टि करना चाहिये ॥ ५ ॥

कर्माङ्ग उद्गीथआदिमें आदित्यआदि मति करनेके वर्णन में

सू० ६ अ० ४ ।

आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

अनु०—आदित्यआदि मतिही अंगमें संभव न होनेसे ॥ ६ ॥

भाष्य—**य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत** अर्थ—(यः एव असौ) जोई यह (तपति) प्रकाश करता व ताप करता है अर्थात् सूर्य है (तम् उद्गीथं) उस उद्गीथको (उपासीत) उपासन करै अर्थात् उद्गीथकी उपासना करै **लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत** अर्थ—लोकोंमें पांच प्रकारसे सामकी उपासना करै इत्यादि कर्मके अंगमें आश्रित उपासनोंमें यह संशय है कि, कर्मके अङ्ग उद्गीथ-

---

१ प्रतीक शब्दका अर्थ अवयव वा अंगका है सूर्यआदि उपासनाके लिये ब्रह्मके एक देश हैं इससे प्रतीक शब्दसे कहेजाते हैं ।

आदिमें आदित्यआदिकी दृष्टि करना चाहिये अथवा आदित्यआदिकोंमें उद्गीथआदि दृष्टि करना चाहिये, प्रथम पूर्वपक्ष यह है कि, निकृष्टमें उत्कृष्ट दृष्टि करना उचित है यह सिद्धान्त निश्चित कियागया है उद्गीथआदि फलसाधनरूप कर्मके अङ्ग होनेसे फलसिद्धिके हेतु होनेसे आदित्य (सूर्य्य) आदिकोंसे उत्कृष्ट है इससे आदित्यआदिकोंमें उद्गीथआदि दृष्टि करना चाहिये इसका उत्तर यह है आदित्यआदि मतिही अङ्गमें संभव होनेसे अर्थात् यज्ञके अङ्गमें उद्गीथआदिमें आदित्यआदि मतीं अर्थात् दृष्टियाँ करने योग्य हैं किस हेतुसे संभव होनेसे अर्थात् आदित्यआदिकोंहीका उत्कृष्ट होना संभव होने वा सिद्ध होनेसे क्योंकि आदित्यआदि देवताके आराधनद्वारा कर्मोंका फलसाधन होना सिद्ध होता है इससे आदित्यआदिकोंकी दृष्टि अर्थात् आदित्यआदिकोंका अध्यास उद्गीथ आदि अङ्गमें करना युक्त है ॥ ६ ॥

उपासनामें आसन नियत होनेके वर्णनमें सू० ७ से ११ अधि० ५ ।

आसीनः सम्भवात् ॥ ७ ॥

अनु०—आसीन हो (बैठाहुआ स्थित हो) सम्भव होनेसे ॥ ७ ॥

भाष्य—मोक्षसाधनरूप ज्ञानका जो ध्यान व उपासन नामसे वाच्य होना वर्णन कियागया है अब उस उपासन वा ध्यानका अनुष्ठान किस प्रकारसे करना चाहिये यह जाननेके लिये यह कहा है कि, आसीन हो (आसनमें स्थित हो) उपासना करै किस हेतुसे संभव होनेसे अर्थात् आसीनहीका एकाग्र चित्त होना संभव होनेसे क्योंकि चलनेमें चित्तका विक्षेप होता है पडनेमें निद्रा वा आलस्यकी प्राप्ति होती है इससे आसीन होकर उपासना करना चाहिये ॥ ७ ॥

ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

अनु०—ध्यानसे भी ॥ ८ ॥

भाष्य—उपासना ध्यानरूप होनेसे ध्यानसे अर्थात् उपास्यमात्रके चिन्तनमें चित्तको एकाग्र करने व अन्य पदार्थके स्मरण व ज्ञानसे चित्तके रोकनेसे उपासना होती है अथवा ऐसा अर्थ ग्राह्य है कि, एक वस्तुमें चित्त लगाने व समान प्रत्यय प्रवाह करने अर्थात् एकही प्रकारसे ध्यान लगाये रहनेमें अङ्गका शिथिल होना दृष्टिका इधर उधर न जाना बैठे ध्यान करते हुये बकआदिमें देखाजाता है बकआदि ध्यानसे भी आसीन हो ध्यान करना युक्त है यह सिद्ध होता है ॥ ८ ॥

अचलत्वञ्चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

अनु०—अचल होनेकी अपेक्षा करके ॥ ९ ॥

भाष्य–निश्चल होनेकी अपेक्षा करिके अर्थात् ध्यानमें अचल होनेकी आवश्यकताका आशय ग्रहण करिकै पृथिवीआदि स्थिरतासे दृष्ट पदार्थोंको ध्यान करतेहुयेके समान श्रुतिमें कहा है यथा **ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायन्तीव पर्वताः** अर्थ–ध्यान करतेके समान पृथिवी ध्यान करतेहुयेके समान आकाश ध्यान करतेहुयेके समान पर्वत हैं इससे ध्यानमें पृथिवी आकाश पर्वतके समान अचल होना अपेक्षित है यह सूचित होता है ऐसा अचल होना उपासकके आसीनही होनेमें संभव है ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

अनु०–स्मरण भी करते हैं ॥ १० ॥

भाष्य–आसीनही का ध्यान स्मरण भी करते हैं अर्थात् शिष्टजन उपासनाका अङ्ग आसन स्मृतिवाक्योंमें वर्णन करते हैं यथा **शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः** अर्थ–(शुचौ देशे) पवित्र देशमें (आत्मनः स्थिरम् आसनं) शरीरके स्थिर आसनको (प्रतिष्ठाप्य) स्थापन करके इत्यादि **उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये** अर्थ–(आसनं उपविश्य) आसनमें बैठकर (आत्मविशुद्धये) आत्माकी शुद्धताके लिये (योगं युञ्ज्यात्) योगाभ्यास करै योगदर्शनमें भी पद्मआसनआदि आसनविशेषका उपदेश किया है ॥ १० ॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

अनु०–जहां एकाग्रता हो वहां विशेष न होनेसे ॥ ११ ॥

भाष्य–दिशा देशकालका नियमविशेष न होनेसे जहां जिस स्थान जिस समयमें चित्तकी एकाग्रता हो वहां उपासना करै वही उपासनका देश व काल है जो यह कहा है **समे शुचौ देशे शर्कराविह्निवालुकाविविवर्जिते** अर्थ–पवित्र सम (बराबर) कंकर अग्नि वालूआदिरहित देशमें अर्थात् स्थानमें इत्यादि एकाग्रताहीके अभिप्रायसे कहा है कि, कंकरआदि शरीरको क्लेश देनेवाले व चित्तके विक्षेप करनेवाले वस्तुसे रहित सम देशमें चित्तकी एकाग्रतामें विघ्न न हो कोई देशविशेष कहनेका आशय नहीं है ॥ ११ ॥

मरणपर्य्यंत उपासनाके अभ्यासविषयमें सू० १२ अ० ६ ।

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

अनु०–मरणपर्य्यन्त उसमें भी जिससे दृष्ट (देखा गया) है ॥ १२ ॥

भाष्य–एकही दिन वा कुछ कालतक कबतक उपासना करना चाहिये यह नियम ज्ञात नहीं होता इससे यह सिद्धान्त वर्णन किया है कि, मरणपर्य्यन्त

उपासनाका अभ्यास करना चाहिये किस हेतुसे जिससे कि, उसमें भी (मरनेमें भी) दृष्ट है अर्थात् श्रुतिप्रमाणसे देखागया है कि, जैसा ध्यान व भाव मरण समयमें चित्तमें रहता है वैसेही जीवकी गति होती है अन्त्यके प्रत्यय (ज्ञान) वशसे अदृष्ट फलकी प्राप्ति होती है इसमें यह श्रुति प्रमाण है **यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति** अर्थ-जैसा इस लोकमें पुरुष संकल्प वा ध्यान करता है वैसेही इस शरीरसे गमन करनेके पश्चात् अर्थात् मरनेके पश्चात् होता है इससे इष्टका ध्यान मरणपर्य्यंत करै और उत्तम बुद्धिको धारण करै अथवा जिससे उसमें (श्रुतिमें) भी जीवनपर्य्यन्त उपासना करनेमें ब्रह्मलोकफलप्राप्ति दृष्ट है इससे मरणपर्य्यन्त करना चाहिये यथा यह श्रुति है **स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते** अर्थ-वह उपासक इसप्रकारसे सम्पूर्ण आयु मरनेतक करताहुआ ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

ज्ञानीके पाप नाश होने व फिर उसका योग न होनेके वर्णनमें सू० १३ अधि० ७ ।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

अनु०-उसके (विद्याके) प्राप्त होनेमें उत्तर व पूर्वपापोंके अश्लेष (योग न होना) व विनाश होते हैं उनके (अश्लेष व विनाशके) कथनसे ॥ १३ ॥

भाष्य-विद्याके स्वरूपका शोधन करिके विद्याके फलको विचार करते हैं ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें पुरुषके उत्तर व पूर्व पापोंके अश्लेष (मिल न होना) व विनाश सुने जातेहैं जैसा इस श्रुतिमें वर्णित हैं **यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते** अर्थ-(यथा) जैसे (पुष्करपलाशे) कमल व छ्यूलमें (आपः) जल (न श्लिष्यन्ते) नहीं मिलते अर्थात् जैसे कमल व पलाश (छ्यूल) के पत्तोंमें जलका योग नहीं होता अर्थात् जल नहीं लगता (एवं) ऐसेही (एवंविदि) ऐसा जाननेवालेमें अर्थात् जैसा ब्रह्म वर्णन कियागया है ऐसा जाननेवाले ज्ञानीमें (पापं कर्म) पाप कर्म (न श्लिष्यते) नहीं लगता ऐसा ज्ञान प्राप्त होनेके उत्तर (पीछे) हुये कर्मका अश्लेष (न लगना) वर्णन किया है और पूर्व कर्मके नाश होनेमें यह श्रुतिवाक्य है **यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते** अर्थ-(यथा) जैसे (इषीकातूलं) सरपत वा सरई का भुवा (अग्नौ प्रोतं) अग्निमें प्राप्तहुआ

(प्रदूयेत) भस्म होजाय (एवं) ऐसेही (ह अस्य) इसके ब्रह्मज्ञानीके (सर्वे पाप्मानः) सब पाप (प्रदूयन्ते) भस्म होजाते हैं वा जल जाते हैं तथा **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे** अर्थ-उस परकारणरूप सब विकारगुणोंसे पर व सृष्टि उत्पत्तिआदि गुणोंसहित अवररूप ब्रह्मके दृष्ट होने अर्थात् ज्ञात होनेमें इसके ज्ञानीके सब कर्म क्षीण होजाते हैं इसप्रकारसे ज्ञान होनेमें जो अश्लेष व विनाश कहेगये हैं इनमें यह संशय होता है कि, ऐसा अश्लेष व विनाश होना संभव है वा नहीं इसमें प्रथम पूर्वपक्ष यह है कि, ऐसा होना संभव नहीं है क्योंकि कर्मभोगके विषयमें यह कहा है **नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि** अर्थ-(कल्पकोटिशतैः अपि) सैकड़ों कोटि कल्प व्यतीत होनेमें भी (अभुक्तं कर्म) विना भोग कियाहुआ कर्म (न क्षीयते) क्षीण नहीं होता वा क्षयको नहीं प्राप्त होता विना भोग कर्मका क्षय माननेमें इस शास्त्रवाक्यके विरुद्ध होगा अश्लेष व विनाशका कहना केवल मोक्षसाधनरूप विद्या (ज्ञान) की स्तुतिके लिये है इसके उत्तरमें यह सूत्रवाक्य है कि, विद्याकी प्राप्तिमें उत्तर व पूर्वपापोंके अश्लेष व विनाश होते हैं किस हेतुसे विद्याके माहात्म्यसे अश्लेष व विनाश व्यपदेशसे (कथनसे) अर्थात श्रुतिमें **एवंविदि पाप्मकर्म न श्लिष्यते** अर्थ-ऐसे ब्रह्मके जाननेवालेमें पाप कर्म नहीं लगता तथा **अस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते** अर्थ-इस ब्रह्मज्ञानीके सब पाप जल जाते हैं जो यह कहा है कि, विना भोग कर्मका क्षय नहीं होता इससे कुछ शास्त्रमें विरोध नहीं होता ब्रह्मज्ञान न होनेकी अवस्थामें सैकड़ों कोटि कल्प गत होनेमें भी विना भोग कर्मका क्षय नहीं होता इससे कर्मका विषय विद्यासे भिन्न है कर्ममें जो फल उत्पन्न करनेका दृढ सामर्थ्य है वह विद्याका विषय नहीं है उत्पन्न हुई विद्याका जो पूर्व कियेहुये पापोंकी जो फल उत्पन्न करनेकी शक्ति है उसके विनाशकरने व उत्पन्न होनेवाले कर्मोंकी जो फल उत्पन्न करनेकी शक्ति है उसके रोंक करनेका सामर्थ्य है उसको अश्लेष व विनाश शब्दोंसे श्रुति प्रतिपादन करती है जैसे एकमें उष्णता (गरमी) व उष्णतानाशक धर्म होना विरुद्ध व असंभव है परन्तु अग्निकी उष्णता व जलकी उष्णता निवारणशक्ति दोनों प्रमाणरूपोंका विषयभेद होनेसे प्रामाण्य है ऐसेही विषयभेद होनेसे ज्ञान होनेमें अश्लेष व विनाशमें कुछ विरोध नहीं है अश्लेष व विनाशका विशेष आशय यह निश्चय करने योग्य है कि, पूर्व कियेहुये पापपुरुषको वैदिककर्म में (वेदविहित कर्ममें) अयोग्यता और अपने सजातीय (पापजातिके) कर्मोंमें प्रवृत्त होनेकी रुचि व निकृष्टताको करते हैं पापोंकी शक्ति परमात्मामें प्रीति होनेको रोकना है ऐसी पापोंकी शक्तिकी उत्पत्ति जो पुरुष में वैदिक कर्मकी अयोग्यता वासनाकी निकृष्टताकी हेतु होती है उसको विद्याका रोकना पुरुषमें उसका मेल न होनेदेना

अश्लेष है और पापकी उत्पन्न हुई व पुरुषमें प्राप्त हुई शक्तिका विनाश करना विनाश है ॥ १३ ॥

पापके समान पुण्यका भी मेल न होनेके वर्णनमें सू० १४ अ०८ ।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

अनु०—शरीरपात होनेमें (मरनेमें) तो अन्यकाभी असंश्लेष (योग न होना) होता है ॥ १४ ॥

भाष्य—पूर्व व उत्तर पापोंका नाश व अश्लेष वर्णन कियागया अन्यका अर्थात् पापसे अन्य दूसरा जो पुण्य है उसका भी ऐसेही कहे पापके अश्लेष व विनाशके समान विद्याके प्रभावसे असंश्लेष होता है क्योंकि पुण्य भी विद्याके फल मोक्षका विरोधी है यथा श्रुतिमें सुकृत व दुष्कृत (पुण्य व पाप) दोनों को कहकर यह कहा है **सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते** अर्थ-(सर्वे पाप्मानः) सब पाप हैं (अतः) इससे (निवर्तन्ते) निवृत्त होते हैं मुमुक्षुके लिये सुकृत (पुण्य) भी अनिष्ट होनेसे सुकृतको भी पाप शब्दसे कहा है कर्मसंस्कारके विना नाशहुये पाप हो वा पुण्य हो कर्मका फल अवश्य होगा कर्मफल भोग प्राप्त होनेमें मोक्षका अभाव होता है ब्रह्मज्ञान होनेमें जब दोनों प्रकारके कर्मोंका नाश होता है तब उपासनाका फल ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष लाभ होता है ब्रह्मज्ञान होनेमें विना पाप पुण्यकी विशेषता कर्ममात्रका नाश होना श्रुतिमें कहा है यथा यह श्रुति है **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि इत्यादि** अर्थ- इसके ब्रह्मज्ञानीके सब कर्म क्षीण होजाते हैं इत्यादि यह श्रुति पूरी अर्थसहित पूर्वही लिखीगयी है ॥ १४ ॥

संचित कर्ममात्र ज्ञानीके विना भोग क्षीण होने प्रारब्धकर्म भोगहीसे क्षीण होनेके वर्णनमें सू० १५ अधि० ९ ।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

अनु०—जिनसे कार्य आरंभ नहीं कियागया वे ही पूर्ववाले उसकी (शरीरपातकी) अवधिसे (अवधिश्रुतिप्रमाणसे) ॥ १५ ॥

भाष्य—अब यह संदेह निवृत्ति होनेके लिये कि, **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि** अर्थ- इसके (ज्ञानीके) कर्म क्षीण होते हैं ऐसा श्रुतिमें ज्ञानीके सब कर्म क्षीण होते हैं वर्णित होनेसे विशेषतारहित सब कर्मोंका नाश होना विदित होता है और विना कर्मसम्बंध शरीरकी स्थिति संभव नहीं है क्योंकि कर्मफल भोगहीके लिये शरीरकी उत्पत्ति व स्थिति है जो ज्ञान होनेमें ज्ञानीके सब कर्म नष्ट होजाते हैं तो ब्रह्मज्ञान होतेही ज्ञानीका शरीर विना कर्मफल भोग-

सम्बंधके, न रहना चाहियें परन्तु ज्ञान होनेपर भी शरीर रहनेसे कर्मोंका रहना अनुमित होता है इससे सब कर्मोंका नाश होना जो श्रुतिमें कहा है वह निश्चित नहीं होता यह कहा है कि, अनारब्ध कार्य अर्थात् जिन कर्मोंसे कार्य आरंभ नहीं कियागया अर्थात् जो अपने कार्यरूप फल प्राप्त करनेमें प्रवृत्त नहीं हुये वेही पूर्ववाले सञ्चित पुण्य व पापकर्म नष्ट होते हैं जो प्रारब्धकर्म पुण्य पाप हैं अर्थात् जिनके फलभोगके लिये ज्ञानीका विद्यमान शरीर निर्मित हुआ है और वह अपने फलमें विद्यमान शरीरमें प्रवृत्त हैं उनका नाश शरीरके अन्त होनेतक फलभोग होजानेही में होता है किस हेतुसे उसकी अर्थात् शरीरपात-रूप मरणकी अवधि (मर्यादा) होनेसे अर्थात् श्रुतिसे प्रारब्धकर्मोंके रहनेतक शरीर रहना सिद्ध होनेसे ज्ञानीके शरीरत्याग होनेतक उनकी अवधि होनेसे श्रुति यह है **तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये** अर्थ-(तस्य) उसका ज्ञानीका (तावत् एव) तभीतक (चिरं) विलम्ब है (यावत्) जबतक (न विमोक्ष्ये न विमुच्यते) नहीं छूटता है अर्थात् कर्मोंसे नहीं छूटता शरीरको त्याग नहीं करता (अथ) शरीरत्याग करने व कर्मोंसे छूटनेपर (सम्पत्स्ये सम्पद्यते) ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् मुक्त होता है इससे कर्मसंस्कार रहनेतक शरीरकी स्थिति सिद्ध होनेसे सञ्चित सब कर्म ज्ञानके उत्पन्न होनेसे नष्ट होते हैं यह कर्मोंका नाश वर्णन करनेवाली श्रुतिका अभिप्राय है प्रारब्ध कर्मसे ज्ञान व विद्यमान शरीरकी स्थिति होती है उनका भोग शरीर त्याग होनेतक होजानेसे सब कर्म ज्ञानीके नष्ट होजाते हैं इससे अनारब्ध कार्यही पुण्य पापका ज्ञानसे क्षय होता है यह सिद्धान्त है ॥ १५ ॥

अग्निहोत्रआदि कर्मका अश्लेष न होने व अनुष्ठानके योग्य होनेके वर्णनमें सू० १६–१८ अ० १० ।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

अनु०–अग्निहोत्रआदि तो उसी कार्यके लिये हैं उसके देखनेसे ॥ १६ ॥

भाष्य–पुण्यका भी पापके समान अश्लेष होता है अर्थात् विद्या बलसे सुकृतका असंश्लेष होता है यह कहागया है इसमें नित्य नैमित्तिक कर्म अग्नि-होत्रआदि जो आश्रमधर्म हैं वह भी पुण्य कर्म होनेसे उनके फलका भी अश्लेष होनेसे ज्ञानको प्राप्त आश्रमीके अग्निहोत्रआदि कर्म करनेका भी निषेध होना विदित होता है इस शङ्कानिवृत्तिके लिये यह कहा है कि, अग्निहोत्रआदि

---

१ वैदिक प्रयोग होनेसे लकार व पुरुषका व्यत्यय होनेसे विमोक्ष्येको विमुच्यते व सम्पत्स्येको सम्पद्यते समझना चाहिये ।

तो उस कार्यहीके लिये हैं अर्थात् विद्या कार्यहीके लिये है अथवा विद्या का जो कार्य मोक्ष है उसी कार्यके लिये अग्निहोत्रआदि भी हैं इससे उनके फलका अश्लेष असंभव होनेसे अग्निहोत्रआदि अवश्य अनुष्ठान करने योग्य हैं उनके अनुष्ठानका निषेध नहीं है किस हेतुसे अग्निहोत्रआदिका ज्ञानकार्य होना सिद्ध होता है उसके देखनेसे अर्थात् श्रुतिमें उसका विधान देखनेसे अर्थात् श्रुतिप्रमाण होनेसे यथा **तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा इत्यादि** अर्थ–उस (उक्त) इस (जिसका अभी वर्णन होरहा है) ब्रह्मको वेदके वचन अनुसार ब्राह्मण जाननेकी इच्छा करते हैं यज्ञसे दानसे तपसे इत्यादि अर्थात् यज्ञआदि कर्मद्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं इत्यादि श्रुतियोंसे अग्निहोत्रआदिका विद्याका साधन होना सिद्ध होता है अन्यथा आश्रमकर्मके लोप होनेमें उत्तम कर्मोंके विना अनुष्ठान किये अन्तःकरण शुद्ध न होनेसे विद्याकी उत्पत्तिही न होगी विद्याके न होनेमें मोक्ष न होगा इससे अग्निहोत्रआदि आश्रमधर्म उत्तम कर्म अवश्य करना चाहिये यद्यपि मोक्ष कर्मरहित होनेहीमें होता है परन्तु प्रथम अन्तःकरणकी शुद्धता यज्ञआदि उत्तम कर्म व धर्ममें प्रवृत्त होनेसे होती है और अन्तःकरण शुद्ध होनेमें ज्ञानकी उत्पत्ति व उपासनामें चित्तकी स्थिरता होती हो इससे वेद विहित कर्म ज्ञानका उपयोगी व मोक्षका भी हेतु होनेसे अनुष्ठानके योग्य है १६॥

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

अनु०–इससे अन्य भी है उसके विषयमें एकोंके (एकै शाखावालोंके) मतमें दोनोंका अथवा एकोंका वचन है यह दोनोंका (सिद्धान्त है) ॥ १७ ॥

भाष्य–इससे अर्थात् वेदविहित अग्निहोत्रआदि पुण्यकर्म ज्ञान उत्पन्न होनेके हेतुओंसे अन्य भी कर्म वृष्टि होने अन्न उत्पन्न होने पुत्रआदि प्राप्त होनेके निमित्त कियेगये पुण्य (उत्तम) कर्म हैं उनके विषयमें एकै शाखावालोंके (शाट्यायन शाखावालोंके) मतमें पापके समान दोनोंका अर्थात् पूर्व व उत्तरवाले पुण्यकर्मोंका विद्यासे अश्लेष व विनाश होता है अथवा उसी अन्य कर्मके विषयमें एकै शाखावालोंका यह वचन है **सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति** अर्थ–सुहृद (मित्र) पुण्यको प्राप्त होते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञानीके साथ जो प्रेम व मित्रता करते हैं वह ब्रह्मज्ञानीके अन्य पुण्यकर्मको प्राप्त होते हैं इससे जो वृष्टि अन्न पुत्रआदिकी कामनासे कर्म किये जाते हैं व ज्ञानके उपयोगी नहीं होते उनहीके अश्लेष व विनाशको श्रुति वर्णन करती है यह दोनोंका अर्थात् जैमिनि व बादरायण आचार्यका सिद्धान्त है परन्तु यह दूसरे प्रकारका अर्थ युक्तिविरुद्ध ज्ञात होता है इससे पूर्वोक्तही अर्थ उत्तम है उत्तरोक्त भी ग्राह्य

होना संभव है अथवा ज्ञानीके कर्मोंका अश्लेष व विनाश सम्बंधरहित सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति का यह अर्थ ग्रहण करना युक्त है कि,ब्रह्मज्ञानीके मित्र उत्तम बुद्धिवाले होनेसे उत्तम कर्मको प्राप्त होते हैं वा विद्वान्‌की मित्रतासे सत्संगसे उत्तम कर्म करने लगते हैं ऐसेही द्वेष करनेवालोंके लिये इसके विपरीत अर्थ ग्रहण करना व मानना युक्त है विज्ञानीके साथ मित्रता व द्वेष करनाही साधु व असाधु (उत्तम व अनुत्तम) कर्म हैं उनको प्राप्त होना सुहृद् व द्वेष करनेवालोंका कहना भी संभव है अब अनुष्ठित कर्मके फलका भी प्रतिबंध (रोक) होता है यह पूर्वही कहागया है उसको स्मरण कराते हैं ॥ १७ ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

अनु०–जिससे वही जो विद्यासे करता है ॥ १८ ॥

भाष्य–यदेवं विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति जो कर्म विद्यासहित (ज्ञान वा उपासनासहित) करता है वही अतिशय फलदायक प्रबल होता है इस प्रकारसे उद्गीथ विद्याके साथ यज्ञकर्म कियेगयेके फलका प्रतिबंध (अन्यकर्मसे रोक वा बंधन) न होना कहनेसे अनुष्ठित कर्मके भी फलका प्रतिबंध होना सूचित होता है जिससे अज्ञानसे अनुष्ठित कर्मके फलका प्रतिबंध होता है ज्ञानसहितही कियाहुआ कर्म प्रबल होता है उसके फलका अन्यकर्मसे प्रतिबंध नहीं होता इससे अज्ञानविषयमें आसक्तसे अनुष्ठित कर्मके प्रतिबंध फलविषयमें यह श्रुति है सुहृदः साधुकृत्याम् इत्यादि सुहृद् पुण्यको प्राप्त होते हैं ऐसा शाट्यायन शाखावाले कहते हैं ॥ १८ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥ १९ ॥

अनु०–भोगसे अन्य दोको क्षयकरके ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

भाष्य–अनारब्ध कार्य जो पाप व पुण्यरूप सञ्चित कर्म हैं विद्याके सामर्थ्यसे उनका नाश होना कहागया है अन्य दो जो आरब्ध कार्य (जिनके हेतुसे ज्ञानीका विद्यमान शरीर भोगके लिये उत्पन्न हुआ है) पाप पुण्य हैं उनको शरीरके नाश होनेतक भोगसे क्षय करके ब्रह्मको प्राप्त होता है जैसा कि, श्रुतिमें कहा है तस्य[1] तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये[2] अर्थ–उसका ब्रह्मज्ञानीका तभीतक विलम्ब है जबतक शरीर सम्बंधसे नहीं छूटता इसके उपरान्त मोक्षको प्राप्त होता है अथवा ऐसा आशय व्याख्यानके योग्य है कि, जो कर्म विद्या होनेके पूर्वही फल प्राप्तकरने योग्य होगये व फलदेनेमें प्रवृत्त

---

१ व २ यह छान्दोग्यकी श्रुतियां हैं ।

हैं उनका एकही शरीरमें भोग्य योग्य होवेंमें उस शरीरके अन्तमें अथवा अन्य शरीरमें भोगकरके ब्रह्मको प्राप्त होता है क्योंकि जबतक शरीरसे नहीं छूटता है ऐसा श्रुतिमें नहीं कहा, नहीं छूटता है इतनाही कहनेसे प्रारब्ध कर्म भोगसे नहीं छूटता है ऐसा अर्थ ग्राह्य है परन्तु यद्यपि शरीर शब्द नहीं कहागया तथापि आरब्ध कार्य कहनेसे विद्यमान शरीर भोगके लिये आरब्ध (आरंभ कियागया) प्रत्यक्षसे विदित होता है इससे जिन कर्मोंसे जिनके भोगके लिये शरीर आरब्ध है उनका आरब्ध कार्य वाच्य होना यथार्थ है अन्यका आरब्ध कार्य होना विदित व सिद्ध न होनेसे पूर्वही अर्थ विशेष ग्रहणके योग्य है ॥

इति श्रीमत्प्रभुदयालुविरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयपादप्रारंभः ।

अब ज्ञानीकी गति किस प्रकारसे होती है यह विचार कियाजाता है ब्रह्मकी उपासना करनेवाला ज्ञानी मरणके पश्चात् देवयानमार्गसे गमन करके ब्रह्मको प्राप्त होता है प्रथम उत्क्रान्ति वर्णनका अर्थात् जीवआत्माका शरीर त्यागकर जानेका वर्णन करते हैं ॥

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अनु०—वाक् मनमें देखनेसे शब्दसेभी ॥ १ ॥

भाष्य—प्राणगमनविषयमें यह श्रुति है **अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्** अर्थ—हे सोम्य (अस्य प्रयतः) इस जानेवाले अर्थात् शरीरसे निकलकर जानेवाले (पुरुषस्य) पुरुषकी (वाक्) वाणी (मनसि) मनमें (सम्पद्यते) प्राप्त होती है अर्थात् लीन होती है (मनः प्राणे) मन प्राणमें प्राप्त होता है (प्राणः तेजसि) प्राण तेजमें (तेजः परस्यां देवतायाम्) तेज परदेवतामें इसमें यह संशय है कि, इस श्रुतिमें जो वाक्को मनमें लीन होना कहा है वाक्शब्दसे वाक् की वृत्ति कहनेका आशय है वा वाक्हीके लीन होनेका वर्णन है वृत्तिमात्र लीन होनेके विषयमें श्रुति होना संभव होता है क्योंकि कार्य अपने कारणमें लीन होता है मन वाक्का कारण नहीं है इससे वाक्स्वरूपका मनमें लीन होना संभव नहीं है वाक्आदिकी वृत्तियां मनके अधीन हैं इससे वृत्तियोंका लीन होना सम्भवित है परन्तु वृत्तिशब्द श्रुतिमें न होनेसे निश्चित नहीं होता इस संशय निवृत्त होनेके लिये यह कहा है कि, वाक् (वाक्स्वरूपही) मनमें लीन होती है किस हेतुसे देखनेसे अर्थात् यह देखाजाता है कि, मरणसमयमें वाक्इन्द्रिय प्रथम नष्ट

होनेपर भी मनकी वृत्ति विद्यमान रहती है वाक्की वृत्तिमात्रका नाश होना व वाक् रहनेका किसीप्रकारसे सिद्ध नहीं होता और शब्दसे वाक्का मनमें प्राप्त होना कहा है कि, वाक् मनमें प्राप्त होती है इससे वाक्ही को लीन होना कहा है वृत्तिमात्रको श्रुति नहीं कहती जो वाक्की प्रकृति न होनेसे लीन होना युक्त नहीं है यह शंका हो तो इसका उत्तर यह है कि, श्रुतिमेंभी लीन होना नहीं कहा कहा प्राप्त होना कहा है मनसे पृथक् वाक् न रहना मनके साथ संयुक्त होना यही लीन होना है मनरूप होनेसे अभिप्राय नहीं है इससे वाक्का मनमें प्राप्त होना कहना युक्त है ॥ १ ॥

अत एव सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

अनु०–इसीसे सब वाक्के सदृश वा पीछे ॥ २ ॥

भाष्य–जिससे वाकका मनके साथ संयोगमात्र होता है लय नहीं होता इसीसे वाक्के संयोग होनेके पीछे वाक्के समान सब इन्द्रियोंका मनके साथ संयोग होता है मनसे पृथक् अपने कार्य करनेवाले इन्द्रिय नहीं रहते कोई आचार्य वृत्तिद्वारा इन्द्रियोंका मनमें लय होना मानते हैं ॥ २ ॥

मनकी प्राणमें प्राप्ति होनेके वर्णनमें सू० ३ अ० २ ।

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

अनु०–वह मन प्राणमें उत्तरसे (वाक्से उत्तर कथित होनेसे) ॥ ३ ॥

भाष्य--वह सब इन्द्रियों संयुक्त मन प्राणमें प्राप्त होता है अर्थात् प्राणमें मिलता है किस प्रमाणसे वाक्का मनमें लीन होना अर्थात् संयुक्त होना सिद्ध होता है वाक्का मनमें प्राप्त होना कहनेके उत्तर (पीछे) **मनः प्राणे** अर्थ–मन प्राणमें प्राप्त होता है यह वाक्य होनेसे, अब अधिक शङ्का यह है कि, श्रुतिमें **अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणः** अर्थ–हे सोम्य! अन्नमय मन है जलमय प्राण है इस श्रुतिसे अन्नका कार्य मन व जलका कार्य प्राण होना सिद्ध होता है और यह वाक्य होनेसे **ता आपोऽन्नमसृजन्त** अर्थ--उन जलोंने अन्नको उत्पन्न किया जलका कार्य अन्न सिद्ध होता है इससे अन्नमय मन जलमय प्राणका कार्यही है उसका अपनी प्रकृति प्राणमें लीन होना युक्त है इससे लीन होना कहना यथार्थ है इसका उत्तर यह है कि, जलका कार्य अन्न व अन्नका कार्य मन इसप्रकारसे कार्यके कार्य होनेमें आदिकारण जल होनेसे जलका कार्य होना माननेपरभी जलके कार्य प्राणमें मनका लय होना सिद्ध नहीं होसक्ता क्योंकि घट शरावआदि एकही कारण पृथिवीके कार्य होनेपरभी

घट शरावआदि कार्योंमें कारण कार्य सम्बंध नहीं होता न एक दूसरेमें लीन होसक्ते हैं इससे मनका सर्वथा लीन होना कहना असङ्गत है और मनआदि इन्द्रियोंका अहङ्कारका कार्य होना सांख्यस्मृतिमें श्रुतिप्रमाणसे वर्णन कियागया है यथा **आहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि** अर्थ- अहङ्कारके कार्य होनेकी श्रुतिसे भौतिक (भूतोंका कार्य) इन्द्रिय नहीं है यद्यपि इस कालमें वेदके शाखाओंके लुप्त होजानेसे इन्द्रियोंका आहङ्कारिकत्व वर्णन करनेवाली श्रुति नहीं मिलती तथापि महात्मा कपिलाचार्यके वाक्यसे मानने योग्य है इन्द्रियोंके आहङ्कारिक होनेसे वाक्आदि का अन्नमय होना आदि कहना लाक्षणिक अर्थसे है ऐसा मानना चाहिये इससे वाक्आदि इन्द्रियोंका मनके साथ संयुक्त व मनका संयोग प्राणमें होना-आदि मानना चाहिये अथवा वृत्ति व वृत्तिमान्‌का अभेदभाव ग्रहण करके वाक्-आदिका वृत्तिमात्रसे मनआदिमें लीन होनाभी वाच्य होसक्ता है सर्वथा लयहोना मानने योग्य नहीं है ॥ ३ ॥

प्राण तेजमें प्राप्तहोनेके वर्णनमें सू० ४ अ० ३ ।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

अनु०—वह अध्यक्षमें उसके उपगमआदिसे ॥ ४ ॥

भाष्य--वह प्राण अध्यक्ष (स्वामी) में प्राप्त होता है अर्थात् सब इन्द्रियोंके स्वामीमें प्राप्त होता है किस प्रमाणसे यह सिद्ध होता है उसके अर्थात् प्राणके जीवमें उपगम (समीपप्राप्ति) होनाआदिसे यथा प्राणका जीवमें प्राप्तहोना इस श्रुतिमें कहागया है **एवमात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति** अर्थ-(एवं) इसप्रकारसे (आत्मानं) आत्माको (अन्तकाले) अन्तकालमें (सर्वे प्राणाः) सब प्राण (अभिसमायन्ति) प्राप्त होते हैं वा जाकर मिलते हैं आदि शब्दसे जीवके साथ प्राणका शरीरसे निकलनाआदि जो श्रुतिमें कहा है उससे अभिप्राय है यथा यह श्रुति है **तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति** अर्थ-(प्राणः) प्राण (तम् उत्क्रामन्तं) उस निकलते हुयेके अर्थात् निकलते हुये जीवके (अनूत्क्रामति) पीछे लगाहुया निकलता है अर्थात् जीवके साथ निकलता है और ऐसेही प्राणके पीछे अन्य वाक्आदि सब इन्द्रियोंका जाना वा निकलना श्रुतिमें वर्णित है यथा **तमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति** अर्थ-उस निकलते वा जातेहुये मुख्यप्राण के पीछे सब अन्य प्राण अर्थात् सब इन्द्रिय निकलते हैं और प्राणकी स्थितिभी जीवके साथ और अन्य इन्द्रियोंकी स्थिति प्राणके साथ है इससे वाक्आदि मनपर्य्यन्त सब इन्द्रियोंका प्राणमें व प्राणका जीव आत्मामें मिलना वा उपचारसे लीन होना और सबका जीवमें संयुक्त हो जीवके साथ शरीर त्यागकर जाना सिद्ध होता है इससे श्रुतिमें जो मनका प्राणमें लय होना कहनेके पश्चात् प्राणका तेजमें लयहोना

कहा है वह जीवमें संयुक्त होकर जीवसहित तेजमें प्राप्त होनेको प्राणस्तेजसि अर्थ—प्राण तेजमें यह कहा है जैसे गंगाके साथ मिलकर भी यमुनाके समुद्रमें जाने में यमुना समुद्रमें जाती है यह कहनेमें विरोध नहीं होता ऐसेही प्राणका अध्यक्ष (जीव) में प्राप्त होना जो अन्य श्रुतिमें कहा है विना उसके कहे प्राण तेजमें प्राप्त होता है यह कहने में विरोध नहीं है ॥ ४ ॥

तेजआदि सब भूतोंसहित जीवके वर्णनमें सू० ५ व ६अधि० ४ ।

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

अनु०—भूतोंमें उसकी श्रुतिसे ॥ ५ ॥

भाष्य—प्राण तेजमें प्राप्त होता है यह कहनेमें जीवसहित प्राण तेजमें प्राप्त होना कहागया यह समझना चाहिये अब तेजमें प्राप्त होना जो कहा है इसमें यद्यपि तेजमात्र कहा है परन्तु तेजहीमात्र न समझना चाहिये सब भूतोंसे मिला हुआ तेज कहना निश्चय करना चाहिये यह सिद्धान्त जनानेके लिये यह कहा है भूतोंमें अर्थात् तेजआदि भूतोंमें प्राण, जीवसहित प्राप्त होता है तेज शब्द उपलक्षणमात्रके लिये है किस प्रमाणसे सब भूतोंमें प्राप्त होता है उसकी (जानेवाले जीवके सब भूतोंमय होनेकी) श्रुति होनेसे यथा यह श्रुति है **पृथिवीमय आपोमयस्तेजोमयः** अर्थ—पृथिवीमय है जलमय है तेजमय है इत्यादि इससे जीवसहित प्राण वा प्राणसहित जीव तेजमें अर्थात् तेजके साथ मिलेहुये भूतोंमें प्राप्त होता है यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये अब इस शंकाकी प्राप्ति है कि, तेजमें प्राप्त होता है ऐसा एक तेजमात्र कहनेमें तेजके साथ मिलेहुये सब भूत कैसे ग्राह्य होसके हैं इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ ५ ॥

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

अनु०—नहीं एकमें संभव न होनेसे जिससे कि, श्रुति देखाती है अर्थात् वर्णन करती है ॥ ६ ॥

भाष्य—एक तेजहीमात्रमें अन्य शरीरमें जानेवाला जीव स्थित नहीं हो सक्ता क्योंकि एक भूत से शरीर कार्य नहीं होसक्ता जिन तेजआदि सूक्ष्म भूतोंसे संयुक्त शरीर त्यागकर जीव जाता है वही अन्य शरीर उत्पन्न होनेवालेके बीजरूप होते हैं शरीर अनेक भूतोंसे बनता है इससे तेजमात्र कहनेसे सब भूतोंसहित तेज ग्रहण करना युक्त है जैसे पंचाग्निविद्यामें भी **आपः पुरुषवचसो भवन्ति** अर्थ—जल पुरुषशब्दवाच्य होते हैं इस वाक्यमें जलमात्र कहनेपर भी महात्मा सूत्रकार शरीरके पृथिवी जल तेज तीन भूतोंसे बनाहुआ होनेके हेतुसे पृथिवी तेज सहितही जलका कहना स्वीकार किया है जैसा पूर्वही

ण्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् इस सूत्रमें वर्णन कियागया है एक भूतसे शरीरका होना संभव नहीं है जिससे कि, अर्थात् इस कारणसे कि, श्रुति एकसे शरीरका न होना देखाती है अर्थात् सूचित करती है श्रुति यह है **तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि** अर्थ-उनमेंसे अर्थात् पृथिवी जल तेजोंमेंसे एक एकको त्रिवृत् त्रिवृत् तीनसे मिला हुआ करूं अर्थात् नाम व रूपके प्रकट करनेके लिये ब्रह्मने पृथिवी जल व तेज तीनोंको परस्पर मिश्रित करके प्रत्येकको तीन भूतों युक्त किया यह छान्दोग्य उपनिषद्में वर्णन है तथा मनुस्मृतिमें कहा है **अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः । ताभिः सार्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः** अर्थ-(दशार्धानां तु) पांच भूतोंकी (याः) जो (अविनाशिन्यः अण्व्यः मात्राः) नाशरहित अतिसूक्ष्म मात्रा हैं अर्थात् परमाणु हैं (ताभिः सार्धं) उन सहित (इदं सर्वं) यह सब अर्थात् जड चेतन मिश्रित कार्यरूप जगत् (अनुपूर्वशः) पूर्वकल्पके समान (संभवति) उत्पन्न होता है इससे एक भूतसे शरीर कार्यका होना संभव न होनेसे सब भूतोंमें जीवसहित प्राण मिलता है यह सिद्धान्त है ॥ ६ ॥

ज्ञानी व अज्ञानीकी उत्क्रान्तिमात्र एक सम होनेके वर्णन में सू० ७-१३ अधि० ५ ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य ॥ ७ ॥

अनु०-आसृति उपक्रमसे पूर्व अर्थात् मोक्षमार्गरूप मूर्द्धन्य नाडीद्वार प्रवेश प्राप्त होनेतक उत्क्रान्ति समान है मोक्ष होना भी दग्ध न करके (शरीर व इन्द्रियसम्बंधके कारण कर्मबीजको दग्ध न करके) ॥ ७ ॥

भाष्य-अब यह विचार करनेमें कि, यह उत्क्रान्ति (जीवका शरीर त्याग करके जाना) विद्वान् (ज्ञानी) और अविद्वान् (ज्ञानको न प्राप्त हुआ कर्ममात्रमें प्रवृत्त) दोनोंकी एकही समान अथवा अविद्वान्हीकी वाक् मनमें लीन होनेआदि उत्क्रमसे उत्क्रान्ति होती है ॥ अविद्वान्हीकी ऐसी गति होती है ऐसा बुद्धिमें प्राप्त होता है क्योंकि विद्वान्की विना उत्क्रान्तिही शरीरत्यागस्थानहीमें मुक्ति अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति श्रुतिमें कहा है यथा **यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते** अर्थ-(यदा) जब (अस्य) इसके अर्थात् ब्रह्मज्ञानीके (ये हृदि स्थिताः कामाः) जो हृदयमें स्थित मनोरथ हैं वह (सर्वे) सब (प्रमुच्यन्ते) छूट जाते हैं (अथ) तब छूटनेपर (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतः भवति) मुक्त होता है (अत्र) यहीं अर्थात् इसी संसारहीमें (ब्रह्मसमश्नुते) ब्रह्मको प्राप्त हो ब्रह्म-

सुखको भोग करता है इस तर्कके समाधानके लिये यह कहा है कि, मूर्द्धन्य नाडीद्वारमें प्रवेश प्राप्त होनेतक अर्थात् मूर्द्धन्यनाडीमें प्रवेश करके प्राणत्याग होनेसे पूर्व (पहिले) अर्थात् नेत्रआदि अन्य शरीरदेशसे प्राण निकलनेतक मूर्द्धन्यनाडी द्वारा गमन न करनेतक ज्ञानी व अज्ञानी दोनोंकी वाक् मनमें प्राप्त होनेआदि क्रमसे उत्क्रान्ति एकही समान है इसका विवरण यह है कि, ब्रह्मज्ञानीके मोक्ष प्राप्त होनेका मार्ग मूर्द्धन्य (शिरकी) नाडीसे प्राणत्यागकर अर्चिरादि मार्गसे जाना है इसका वर्णन आगे होगा जबतक मरण-समयमें उस नाडीमें प्राणका प्रवेश व उस नाडीसे प्राणका गमन नहीं होता तबतक विद्वान्‌की उत्क्रान्तिभी अविद्वान्‌हीके समान एकही क्रमसे होती है, जो यह कहा है कि, जब सब कामनाओंसे रहित होजाता है तब मनुष्य यहीं मुक्त होता है यह मुक्तहोनाभी प्रारब्धकर्मको दग्ध न करिके शरीर इन्द्रियोंको धारण किये विद्वान्‌को मुक्तहोना कहना है अर्थात् जो परमज्ञानवान् सब विषयवासनाओं-से रहित होगया है सञ्चित कर्मोंका पूर्वही कहे हुये प्रकारसे अश्लेष व विनाश होगया है निरन्तर ब्रह्मनिष्ठ उपासनावेलामें अपने यह अनुभव करता है कि,मैं ब्रह्ममें प्राप्त ब्रह्मरूप आनन्दमय हूं वह यहीं मुक्त है परन्तु प्रारब्ध कर्म बीजके दग्ध न होनेसे उसके दग्ध न होनेतक शरीरमें स्थित है उसके विषयमें कर्म दग्ध न करके यहीं मुक्त होना कहा है कोई आचार्य मुक्त होना दग्ध न कारिके इसका व्याख्यान इसप्रकारसे करते हैं कि, अविद्याआदि क्लेश बीजको दग्ध न करके आपेक्षिक मोक्ष होना है परन्तु अविद्याआदि जो मोक्षके विरोधी बंधके कारण हैं उनकी विद्यमानतामें मोक्ष होना व मोक्ष जो उनके नाश होनेही में होता है उसके होनेमें अविद्याआदिका विद्यमान रहना असंभव होनेसे ऐसा व्याख्यान अयुक्त है जबतक अविद्याआदि हैं तबतक मोक्षसे भिन्न शुभकर्मके समान उपासना यथोचित न होनेसे शुभगति सुखप्राप्तिआदि फल होना वाच्य होसक्ता है मोक्ष होना कहनाही असङ्गत व शास्त्रविरुद्ध है ॥ ७ ॥

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

अनु०–वह लय न होनेसे पूर्व अदग्ध प्रारब्धबीजहीका है संसार कथनसे ॥ ८ ॥

भाष्य–वह अर्थात् मोक्ष होना ब्रह्ममें लय होने अर्थात् प्राप्त होनेतक अदग्ध (न भस्म हुये अर्थात् नष्टहुये) प्रारब्ध बीज शरीरवान् उपासक ज्ञानीही का है किस हेतुसे ब्रह्ममें प्राप्त होनेतक संसारकथनसे अर्थात् अर्चिरादि मार्ग से जाकर देशविशेषमें ब्रह्मको प्राप्त होना जो आगे वर्णन करेंगे उस अवस्था प्राप्त होनेतक श्रुतिमें देहसंबंधरूप विद्वान्‌का संसारकथन होनेसे यथा तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये अर्थ-

उसको अर्थात् विद्वान्को तभीतक विलम्ब है जबतक शरीरसम्बंध नहीं छूटता है इसके उपरान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है अथवा ऐसा अर्थ ग्राह्य है कि, उसका (उपासक ज्ञानीका) ब्रह्ममें प्राप्त होनेतक संसार कथनसे अर्थात् जबतक पूर्णज्ञान अवस्थाको प्राप्त उपासनासाधनमें सिद्धताको प्राप्त हो ब्रह्मकी प्राप्तिरूप मोक्ष लाभ नहीं करता तबतक मोक्ष फल प्राप्ति योग्य उपासन वा ज्ञान न होनेसे ज्ञानी संसारदशासे रहित नहीं होता इससे ब्रह्मप्राप्तितक ज्ञानीकोभी संसारदशा निवृत्त नहीं होती कर्मसंस्कार रहनेसे शरीर व इन्द्रियोंका सम्बंध होता है॥८॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

अनु०—सूक्ष्म अनुवर्त्तमान होता है प्रमाणसे वैसेही उपलब्धि होनेसे ॥ ९ ॥

भाष्य—ज्ञानीके स्थूल शरीरके त्याग होनेपर सूक्ष्म शरीर रहता है यह कैसे सिद्ध होता है प्रमाणसे वैसी उपलब्धि (प्राप्ति) होनेसे अर्थात् वैसेही प्रमाण होनेसे यथा **देवयानेन गच्छतो विदुषस्तं प्रति ब्रूयात्सत्यं ब्रूयात्** अर्थ–(देवयानेन) देवयानसे देवयान मार्गसे (गच्छतः विदुषः) जातेहुये विद्वान्को (तं प्रति) उससे (ब्रूयात्) कहै (सत्यं ब्रूयात्) सत्यको कहै इसप्रकारसे चन्द्रमाके साथ सम्वाद कहनेसे शरीरका होना ज्ञात होनेसे सूक्ष्म शरीर ज्ञानीक बना रहता है यह निश्चित होता है इससे बिना ब्रह्मको प्राप्त हुये ज्ञानीका बन्ध दग्ध नहीं होता ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अनु०—इससे उपमर्दनके साथ नहीं है ॥ १० ॥

भाष्य—इससे सूक्ष्म शरीर रहनेसे शरीरसम्बंधसहित ज्ञानीको जो यह श्रुतिमें कहा है कि, जब इसके हृदयमें स्थित सब मनोरथ छूट जाते हैं तब सब मनोरथोंसे रहित मनुष्य मुक्त होता है ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है यह बंधके उपमर्दन (नाश) के साथ मोक्ष कहनेके विषयमें नहीं है शरीरसम्बंध रहते हुये कोई मुक्त नहीं होसक्ता क्योंकि कर्मबीज दग्ध न होनेहीसे शरीरकी स्थिति रहती है कर्मसंस्कार व शरीरसम्बंधके साथ कर्मफल भोगका सम्बंध रहत है इससे शरीरवान् ज्ञानीको जीवन्मुक्त शब्द जो कहाजाता है वह लाक्षणिक प्रयोग है अर्थात् उपचारसे कहना है जबतक ज्ञानी उपासनामें उत्कृष्टता लाभ नहीं करता तबतक ब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् संसारसे मुक्ति नहीं होती और तबतक स्थूल शरीर त्याग होनेमें सूक्ष्म शरीर जो फिर स्थूल शरीरका कारण होता है वह बना रहता है जो यह कहाजाय कि, स्थूल शरीरसे भिन्न एक सूक्ष्म शरीर होनेमेंभी क्या प्रमाण है इसका उत्तर आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष उष्मा ॥ ११ ॥

अनु०—इसीकी यह उष्मा (गरमी) ज्ञात होनेसे ॥ ११ ॥

भाष्य—इसीकी सूक्ष्म शरीरहीकी उष्मा स्थूल शरीरमें रहती है जबतक सूक्ष्म शरीरसहित जीव इस स्थूल शरीरमें रहता है तभीतक उष्मा (गरमी) शरीरमें रहती है मृतक शरीरमें जब सूक्ष्म शरीर तेजकी विशेषतायुक्त नहीं रहता तब रूपआदिसहित विद्यमान स्थूल शरीरमें उष्मा नहीं रहती इससे सूक्ष्म शरीर भिन्नही है उस सहित स्थूल शरीर त्यागकर जीव गमन करता है यह शरीर त्यागकर जानारूप उत्क्रान्ति मूर्द्धन्य नाडीद्वारा गमनकर ब्रह्ममें प्राप्त होनेकी अवस्था प्राप्त होनेतक विद्वान् व अविद्वान्की समानही है ॥ ११ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १२ ॥

अनु०—प्रतिषेधसे जो यह कहाजाय नहीं जीवसे जिससे कि, एकोंके वाक्यमें स्पष्ट है ॥ १२ ॥

भाष्य—विद्वान्की भी उत्क्रान्ति अविद्वान्के समान है यह कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि विद्वान्की उत्क्रान्तिका प्रतिषेध है बृहदारण्यक उपनिषद्में ऐसा वर्णन है कि, मरणसमयमें चक्षु (नेत्र) आदि सब इन्द्रिय अपने अपने स्थानको त्यागकर आत्माको प्राप्त होते हैं आत्मा उन तेजमात्रा अर्थात् तेज अवयवरूप इन्द्रियोंको ग्रहण करके अर्थात् साथ लेकर उनसहित हृदयस्थानमें जो कमलके आकार सूक्ष्म आकाश है उसमें प्राप्त होता है उस समय इन्द्रियोंके स्थान त्यागनेसे नेत्रआदि इन्द्रियोंसे बाह्य वस्तुको नहीं देखता स्वप्नके समान हृदयस्थानमें देखता है हृदयच्छिद्र जो प्राणसहित जीवके निकलनेका द्वार है वह उस समय इन्द्रिय व आत्माके तेजसे प्रकाशित होता है उससे आत्मा निकलता है यथा यह वाक्य है **तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति** अर्थ—(तेन प्रद्योतेन) उस प्रकाशित नाडीद्वारसे (एषः आत्मा) यह आत्मा (निष्क्रामति) निकलता है इसप्रकारसे आत्माके निकलते आत्माके साथ प्राण व प्राणके साथ सब इन्द्रियोंका निकलना व जीवके साथ ज्ञान व कर्मसंस्कार साथ जाना व कर्मानुसार जीवका अन्य शरीर धारण करना व पुण्यविशेषसे पितृ गंधर्व देवताआदि लोकोंको प्राप्त हो सुखभोग करना व पुण्यकर्मके अन्त होनेमें फिर इस लोकमें आना वर्णन किया है ऐसा कामनासंयुक्त अविद्वान्के

---

१ नेत्रआदि इन्द्रियोंसे रूपआदि जैसे तेजसे रूप प्रकाशित होता है प्रकाशित होनेसे इन्द्रियोंको तेजमात्रा कहा है क्योंकि विना चक्षु इन्द्रियके प्रकाश नेत्रगोलक बनेरहने व बाह्य तेज होनेमें रूपका ज्ञान नहीं होता अंधकार में रक्खे हुये पदार्थके समान रूप प्रकाशित नहीं होता चक्षुइन्द्रियहीसे रूप प्रकाशित होता है ऐसेही अपने अपने विषयके प्रकाशक अन्य इन्द्रिय होनेसे इन्द्रियोंको तेजमात्रा कहा है ।

विषयमें वर्णन करिके कामनारहित विद्वान्के विषयमें यह वर्णन किया है **अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति** अर्थ-(अथ) इसके अनन्तर (यः) जो (अकामयमानः अकामः) कामना न करताहुआ कामना-रहित (निष्कामः) जिससे कामना दूर होगई हैं ऐसा (आप्तकामः) परिपूर्ण काम (आत्मकामः) आत्माकी कामना करनेवाला होता है (तस्य प्राणाः) उसके प्राण (न उत्क्रामन्ति) निकल कर नहीं जाते (ब्रह्म एव सन्) ब्रह्मही हो (ब्रह्म अप्येति) ब्रह्ममें प्राप्त होता है इसप्रकारसे विद्वान्की उत्क्रान्तिका निषेध श्रुतिमें देखाजाता है तथा इससे पूर्वमें भी आर्तभाग व याज्ञवल्क्यके सम्वादमें विज्ञानीकी उत्क्रान्तिका निषेध पाया जाता है आर्तभागने यह प्रश्न किया कि, जब यह पुरुष मरता है तब इसके प्राण उत्क्रमण करते हैं वा नहीं इस प्रश्नपर याज्ञवल्क्यके उत्तरमें यह वाक्य है **नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवलीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मानो मृतः शेते** अर्थ-(न इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः) ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा नहीं (अत्र एव समवलीयन्ते) यहीं लीन हो जाते हैं अर्थात् यहीं शरीरदेशहीमें ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं (सः) वह देह (उच्छ्वयति) वायु भरनेसे बढता है व (आध्मानः) वायु भरनेसे शब्द करता (मृतः शेते) मराहुआ पडा रहता है इन वाक्योंसे विद्वान् यहीं मोक्षको प्राप्त होता है यह सिद्ध होने व उत्क्रान्तिके प्रतिषेधसे विद्वान्के प्राणोंकी उत्क्रान्ति नहीं होती जो यह कहा जाय वा आक्षेप कियाजाय तो इसका उत्तर यह है कि, नहीं यह कहना युक्त नहीं है क्यों युक्त नहीं है जीवसे अर्थात् जीवसे उत्क्रान्तिका प्रतिषेध होनेसे शरीरसे प्रतिषेध न होनेसे, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते इस श्रुतिमें उस शब्दसे कामना न करनेवाला निष्काम शारीर (शरीरधारी जीव) जो प्रकृत है वही समझा जाता है शरीर शब्द जो श्रुतिमें नहीं है उसको ग्रहण करना केवल कल्पनामात्र है श्रुतिवाक्यका अर्थ नहीं है जो यह शंका हो कि, जीवसे उत्क्रान्तिका अर्थ ग्रहणके योग्य नहीं है क्योंकि श्रुतिमें (तस्य) उसके ऐसा कहा है (तस्मात्) उससे ऐसा नहीं कहा उसके कहनेसे प्राणोंका सम्बंधी जीवका होना कहागया है उससे ऐसा नहीं कहागया कि, जीवसे प्राणोंकी उत्क्रान्ति होना स्वीकार किया जाय उत्क्रान्तिका अपादान शरीरही है तो इसका उत्तर यह है कि, जो शरीर शब्दही नहीं है उसके ग्रहणसे शारीर (जीव) जो श्रुतिमें पठित है उसका ग्रहण करना युक्त है केवल इतना भेद जो है कि, उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते ऐसा कहनेमें जीवसे उत्क्रान्तिका निषेध मानना उचित था यहां श्रुतिमें उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते ऐसा कहा है इससे जीवके प्राण शरीरसे उत्क्रमण नहीं करते यही समझना चाहिये तो यह कोई शंका विशेष नहीं है जो शरीर शब्द श्रुतिमें नहीं है आक्षेपसे उसके

ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है उसके (जीवके) प्राण उत्क्रमण नहीं करते अर्थात् उसके प्राण उससे (जीवसे) उत्क्रमण नहीं करते ऐसा अर्थ ग्राह्य है और षष्ठी अपादानके अर्थमें वाच्य होसकी है यथा नटस्य शृणोति अर्थ-नटके सुनता है अर्थात् नटके कहेको सुनता है इसका दूसरा अर्थ यह समझाजाता है कि, नटसे कहेहुयेको सुनता है इससे के, व से, के कहनेमें विशेष भेद नहीं है और अन्य हेतुसे भी यह बाद करने योग्य नहीं है किस हेतुसे नहीं है इसके प्रमाणके लिये यह कहा है जिससे कि, एके माध्यन्दिनोंके शाखामें स्पष्ट शारीर (जीव) होसे उत्क्रान्तिका निषेध है उसमें ऐसा पाठ है **योऽकामो निष्काम-आप्तकाम आत्मयामो न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति** अर्थ-जो कामनारहित निष्काम आप्तकाम आत्मकाम (आत्महीको चाहनेवाला) अर्थात् सांसारिक विषयोंसे विरक्त है (तस्मात्) उससे (प्राणाः न उत्क्रामन्ति) प्राण उत्क्रमण नहीं करते इस श्रुति व पूर्वश्रुतिमें अकाम निष्काम आप्तकाम शब्द जो कहा है इनका भेद इसप्रकारसे समझना चाहिये कि, अकाम शब्दका अर्थ कामनारहित व निष्काम उसको कहते हैं कि, जिससे कामना अलग होगईहों और आप्तकामका अर्थ जिसको किसी पदार्थ की आकांक्षा न हो ऐसे प्राप्त हुये मनोरथका है अकाम मनुष्य कब होता है जब निष्काम होता है अर्थात् जब कामनाओंका सम्बंध उससे छूट जाता है इससे अकाम व निष्काम कहा है अर्थात् अकाम क्यों है निष्काम है इससे निष्काम कब होता है जब आप्तकाम होता है क्योंकि आप्तकाम होनेसे किसी इष्ट पदार्थके अभाव न होनेसे निष्काम होता है इससे आप्तकाम कहा है सब मनोरथोंसे रहित आत्मामात्रको चाहनेवाला आत्मज्ञाननिष्ठ आत्मकाम कहाजाता है अर्थात् अकाम निष्काम आप्तकाम हो अन्तमें जब सब विषयोंको त्यागकर केवल आत्माको चाहता है तब केवल आत्मज्ञानमें निष्ठ होता है इससे आत्मकामको कहकर ज्ञानके फलको वर्णन किया है इस श्रुतिमें स्पष्ट जीवसे उत्क्रान्तिका निषेध किया है इससे जीवसे निषेध है शरीरसे निषेध नहीं है अब इस शंकाकी प्राप्ति है कि, शारीर (जीव) से प्राणोंकी उत्क्रान्तिका प्रसङ्ग न होनेसे उसका प्रतिषेध संभव नहीं होता है इसका उत्तर यह है कि, यह जो श्रुतिमें कहा है कि, ज्ञानीको तभी-तक विलम्ब है जबतक शरीरसम्बंध नहीं छूटता शरीरत्याग होनेपर ब्रह्मको प्राप्त होता है इसमें यह विदित होता है कि. शरीरसे ज्ञानीके वियोग होनेके समयमें प्राणोंका भी वियोग होजाता है परन्तु शरीरके साथही प्राणोंका (प्राण व इन्द्रियोंका) वियोग होनेसे देवयान मार्गसे गमन करिके ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होसकी इससे यह कहा है कि, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते अर्थात् देवयान मार्गसे जाकर ब्रह्मकी प्राप्ति होनेसे पहिले ज्ञानी जीवसे भी प्राण उत्क्रमण नहीं करते अर्थात् अलग नहीं होते जब जीव ब्रह्ममें प्राप्त होता है तब ब्रह्ममें सब

प्राण इन्द्रियोंका लय होजाता है आर्तभागका प्रश्न भी जो उपासक विद्वान्के विषयमें है उसमें भी यही निर्णय समझना चाहिये श्रीरामानुजाचार्य इस सूत्रको इसप्रकारसे व्याख्यान किया है इस व्याख्यानसे यह तो सिद्ध हो जाता है कि, शरीरसे उत्क्रान्तिका निषेध नहीं है जीवसे उत्क्रान्तिका निषेध है शरीरसे उत्क्रान्ति प्राणोंकी होती है परन्तु **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति** इस वाक्य में **ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति** अर्थ-ब्रह्मही हो ब्रह्ममें प्राप्त वा लीन होते हैं तथा आर्तभागके प्रश्नके उत्तरमें **अत्रैव समव-लीयन्ते** अर्थ-यहीं लीन होते हैं इन वाक्यअवयवोंका जो उत्क्रान्तिअर्थके विरुद्ध अर्थके सूचक हैं कुछ परिहार वर्णन नहीं किया श्रीशङ्कराचार्यजी इस सूत्र-वाक्यमेंसे **प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्** इतनेको एक सूत्र पूर्वपक्ष-विषयक व **स्पष्टो ह्येकेषाम्** इतना दूसरा सूत्र उत्तरपक्षमें लिखकर विद्वान्की उत्क्रान्ति नहीं होती यह सिद्धान्त वर्णन किया है पूर्वपक्षका व्याख्यान एकही समान समझना चाहिये **स्पष्टो ह्येकेषाम्** अर्थ-जिससे कि, एकोंके वाक्य वा मतमें स्पष्ट है इस उत्तरसूत्रको इसप्रकारसे व्याख्यान करते हैं कि, यह जो कहा है कि, परब्रह्मके जाननेवालेकी भी देहसे उत्क्रान्ति होती है यह युक्त नहीं है देहहीसे उत्क्रान्ति होनेका प्रतिषेध है जीवसे नहीं है किस प्रमाणसे देहसे उत्क्रान्तिका प्रतिषेध है जिससे कि, देहसे उत्क्रान्ति होना स्पष्ट एके शाखावाले वर्णन करते हैं यथा आर्तभागके प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि, उत्क्रान्ति नहीं होती यहीं प्राण लीन होते हैं यह प्रतिज्ञा करके यह कहा है कि, वह वायु पूर्ण होनेसे बढता है शब्द करता है शब्द करनेवाला मरा हुआ सोता है इसमें वह शब्दसे शरीरहीका ग्रहण होता है क्योंकि बढना शब्द करना आदि देहहीके धर्म होसक्ते हैं जीवके नहीं होसक्ते और जो श्रुतिमें **न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति** अर्थ-उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते उससे शब्द कहा है यद्यपि वाक्यमें जीवके वर्णनसे जीवहीके उससे शब्द कथित होना विदित होता है तथापि शरीर व शरीरीको अभेद उपचारसे देहहीसे उत्क्रमणका प्रतिषेध है जीवसे नहीं है सर्वव्यापक ब्रह्मको आत्मभावसे देखते हुये सब कामना व कर्मोंसे रहित ब्रह्मज्ञानीकी गति व उत्क्रान्ति संभव नहीं होती और यहीं लीन होते हैं यहीं ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ऐसे वाक्य, गति (लोकान्तरका गमन) व उत्क्रान्ति (शरीरसे निकलकर मार्गविशेषसे जाना) के अभावको सूचित करते हैं अब हमारा विचार यह है कि, जीवहीसे प्राणोंकी उत्क्रांतिका निषेध है शरीरसे निषेध नहीं है जैसा कि, पूर्वव्याख्यानमें वर्णन कियागया है श्रुतिमें **अत्रैव समवलीयन्ते** अर्थ-इसीमें लीन होते हैं यह कहनेसे यहीं वा इसी देश वा स्थान कहनेका आशय नहीं है इसी ज्ञानदृष्टिसे प्रत्यक्ष व्यापक ब्रह्ममें लीन होते हैं ऐसा अर्थ ग्राह्य है जैसा कि, अन्य उपनिषद्वाक्य

में अयमात्मा अर्थ-यह आत्मा एतद्ब्रह्म यह ब्रह्म ऐसा प्रत्यक्षके समान ब्रह्मको कहा है ऐसेही अत्रैव शब्द जिसका अर्थ यहीं वा इसी में होता है कहना व समझना चाहिये यहीं अर्थ जो देशसम्बंधी है ग्रहण न करके इसीमें यह अर्थ ग्रहण करना चाहिये महात्मा सूत्रकारका भी शरीरस्थानहीमें ब्रह्ममें लीन होना अर्थ ग्रहण करने-का आशय विदित नहीं होता क्योंकि सूत्रवाक्यमें शरीरसे निषेध नहीं है शारीरसे (शरीरवान् जीवसे) है ऐसा कहकर जिससे कि,एकोंके वचनसे स्पष्ट है, यह कहना शारीरसे निषेध होनेहीकी पुष्टताके लिये हेतु है यह वाक्यके शब्दोंके सम्बंधसे निश्चित होता है शारीरसे प्रतिषेध है इसके विरुद्ध पक्षमें जिससे अर्थात् क्योंकि एकोंसे वाक्यसे स्पष्ट है ऐसा कहना घटित नहीं होता अपनी कल्पनासे उपरसे शब्द योजित करके हेतु घटित करना काल्पनिकही ज्ञात होता है महात्मा सूत्र-कारका अर्चिरादि मार्गसे गमन करिके विद्वान् ब्रह्मलोकमें प्राप्त होता है यही सिद्धान्त है यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र एक व्यापकको प्राप्तिके लिये देशविशेषमें आनेकी आवश्यकता नहीं है ऐसा ज्ञात होता है परन्तु विचारसे देशविशेषमें आनेका हेतु निश्चित होता है वह यह है कि, शरीरदेश मलमूत्रमिश्रित व मनुष्यलोक जो अनेक उत्कृष्ट व निकृष्ट पदार्थों संयुक्त ब्रह्मदेश है इससे उत्कृष्ट पदार्थ व सामर्थ्य आनन्दसामर्थ्यसंयुक्त जो ब्रह्मदेश है वह मुक्त पुरुषोंके लिये विशेषित व नियत है इससे देवयान मार्गसे देशविशेषको जानाही उत्तम फलरूप है. जो यह कहा जाय कि, ब्रह्मका कोई देश उत्तम व निकृष्ट नहीं है और मुक्त भी ब्रह्महीरूप हो जाता है इससे देशविशेषका नियत करना अयुक्त है तो इसका उत्तर यह है कि, यह कहना यथार्थ नहीं है जगत् कार्यसे पर जो ब्रह्मका देश है उसकी विशेषता व उत्कृष्टता श्रुतिसे सिद्ध है श्रुति यह है **एतावानस्य महि-मा अतो ज्यायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्या-मृतं दिवि** अर्थ-(अस्य) इसका अर्थात् ज्ञानसे प्रत्यक्ष इस सर्वव्यापक ब्रह्मका (एतावान्) इतना जितना यह भूत भविष्यत् व वर्तमान कालमें विद्यमान जगत् है सब (महिमा) महिमा है अर्थात् विभूति है यह कहनेसे जगत्रूप महिमा परिमाणमात्र ब्रह्म भी न मान लिया जाय इस आशयसे यह कहा है (अतः) इससे अर्थात् इस कार्यरूप जगत्से (पुरुषः ज्यायान्) पुरुष ब्रह्म अधिक है अधिकताके वर्णनमें यह कहा है (विश्वा भूतानि) सब भूत आका-शसे पृथिवीपर्यन्त सब भूत (अस्य) इसका अर्थात् ब्रह्म पुरुषका (पादः) एक पाद (अंश) हैं अर्थात् सब जगत् एक अंशमें वर्तमान हैं (अस्य दिवि) इसके प्रकाशस्वरूपमें (अमृतं) मोक्षसुख है और (त्रिपाद्) तीन पाद हैं अथवा (अस्य दिवि) इसके प्रकाशस्वरूपमें (त्रिपात् अमृतं) तीन पाद मोक्षरूप हैं अर्थात् प्रकाश्यमान जगत्से इसकी प्रकाशक विभूति त्रिगुण है इस श्रुतिमें स्पष्ट इस भौतिक जगत्से परे ब्रह्मके प्रकाशरूप व मोक्षसुखरूप लोक वा विभूतिको उत्तम

वर्णन किया है इससे देशका नियत होना युक्त है और ब्रह्ममें लीन होना व ब्रह्मरूप होना यह कहना लाक्षणिक वा गौण है अर्थात् ब्रह्मके समान सुखभोक्ता जगद्व्यापार छोड़कर सब सांसारिक जीवोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट सामर्थ्यवान् होना शुद्ध व निर्विकारता साधर्म्यसे ब्रह्ममें प्राप्त उससे भिन्न न रहना यही ब्रह्ममें लीन होना व ब्रह्मरूप होना है जो ऐसा कहा जाय कि नहीं सर्वथा ब्रह्मही रूप होनेसे ब्रह्मरूप होना कहा है तो यह यथार्थ नहीं है जैसे सब पदार्थका कारण ब्रह्म है व सब प्रलयमें उसमें लीन होजाते हैं एक सत् शब्दमात्रसे वाच्य अद्वितीय ब्रह्म रहता है ऐसा श्रुतिमें कहा गया है परन्तु सब जीव अपने भिन्न भिन्न संस्कारयुक्त रहते हैं और सृष्टिकी आदिमें अपने कर्मसंस्कारसे भिन्न भिन्न रूप आकारजातिसे उत्पन्न होते हैं ऐसेही मुक्तोंका लीन होना व भिन्न रहना समझना चाहिये ब्रह्ममें सब जड चेतन का लीन होना श्रुतिमें कहा है मुक्तही मात्रकी विशेषता नहीं है इससे मुक्तअवस्थामें जो उत्कृष्टता सामर्थ्य लोकान्तरका विहार इच्छाचार होना जैसा आगे वर्णन करेंगे और जो मोक्ष अवस्थाका सुख है वह शरीरदेशमात्रमें लीन होकर रहजानेमें नहीं होगा एक देशमें जहां लीन हुआ वहां रहनेमें महाकारागारके समान है जो इच्छाचारी हो विचरता है तो प्रथम वहीं लीन होनेकी विशेषतासे क्या फल है जो यह कहा जाय कि, मुक्त पुरुष भिन्न नहीं रहता ब्रह्मही होजाता है तो मुक्ति शब्दका अर्थ जीवका नाश हुआ नाश हुयेका कुछ लाभ नहीं होसक्ता व नाशका उपाय भी कर्तव्य नहीं है नाश सिद्ध होनेमें उत्पत्ति भी सिद्ध होनेसे जीवकी अनित्यता सिद्ध होती है यह श्रुतिविरुद्ध है इससे वहीं शरीरदेशमें लीन होना व सर्वथा ब्रह्मरूपही होना मोक्ष नहीं है इससे अर्चिरादि मार्गसे विद्वान्का गमन होता है यह सिद्ध है ॥ १२ ॥

स्मर्यते च ॥ १३ ॥

अनु०—स्मरण भी किया जाता है अर्थात् स्मृतिसे भी जानाजाता है ॥ १३ ॥

भाष्य—स्मृतिमें भी मूर्द्धन्य नाडीसे विद्वान्की उत्क्रान्तिका वर्णन है यथा **ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्य्यमण्डलम् । ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्** अर्थ—(तेषाम्) उन नाडियोंके मध्यमें (यः एकः) जो एक (ऊर्ध्वं स्थितः) ऊपरको स्थित है (तेन) उससे (सूर्यमण्डलं) सूर्य्यमण्डलको (भित्त्वा) भेदन करके (ब्रह्मलोकम् अतिक्रम्य) ब्रह्माके लोकको उल्लंघन करिके (परां गतिं) परम गतिको अर्थात् मोक्षको (याति) प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

इन्द्रिय व प्राणका परमात्मामें लय होनेके वर्णनमें सू० १४ अधि० ६ ।

तानि परे तथा ह्याह ॥ १४ ॥

अनु०—वह परमात्मामें वैसेही श्रुति कहती है ॥ १४ ॥

भाष्य-इन्द्रिय व प्राणसहित जीव उत्क्रान्तिसमयमें तेजआदि भूतोंमें प्राप्त होता है यह कहा गया अब यह विचार करनेमें कि, वह तेजआदि सूक्ष्म भूत कर्म व ज्ञानके अनुसार अपने कार्यके लिये जाते हैं अथवा परमात्मामें लीन होते हैं परमात्मामें लय होनेमें सुख दुःख भोगरूप कार्य होना विदित नहीं होता इससे कर्म व विद्याअनुसार भोगके लिये जाते हैं ऐसा बुद्धिमें प्राप्त होनेमें सिद्धान्त जनानेके लिये यह कहा है कि, वह तेजआदि भूत परमात्मामें प्राप्त होते हैं किस हेतुसे वैसही श्रुति कहती है अर्थात् श्रुति तेज आदि भूतोंका परमात्मामें लीन होना कहती है कि, **तेजः परस्यां देवतायाम्** अर्थ–तेज परदेवतामें लीन होता है जैसा श्रुति कहती है उसीके अनुरूप कार्य कल्पना करने योग्य है सुषुप्ति व प्रलयमें जैसे परमात्मामें लय होनेसे सुख व दुःख भोगके परिश्रमसे विश्राम होता है ऐसेही इसमें भी समझना चाहिये ॥ १४ ॥

विभाग व्यवहारके योग्य न होनेरूप लय वर्णनमें सू० १५ अ० ७।

अविभागो वचनात् ॥ १५ ॥

अनु०—विभागरहित है वचनसे (वचनके योगसे) ॥ १५ ॥

भाष्य-अब यह विचार करनमें कि, यह जो कहा है कि, तेज परदेवतामें लीन होता है यह लय कार्यका कारणमें लय होनके समान है अथवा वाक्का मनमें अविभागरूप अर्थात् विभाग ज्ञात न होनेरूप लय होता है ऐसा समझमें आता है कि, परमात्मा सब भूतोंका योनि होनेसे कारणमें प्राप्तिरूप लय होता है इसमें सिद्धान्त जनानेके लिये यह कहाहै कि, अविभागरूप है किस हेतुसे वचनसे अर्थात् **तेजः परस्यां देवतायाम्** अर्थ–तेज परदेवतामें इसमें भी वाक् मनमें प्राप्त होता है इस वचनके योगसे अर्थात् वाक् मनमें लय होती है इत्यादि वचन संसर्गविशेषवाची है इसमें जिनका लय कहा गया है वह वाक्-आदि लयके समान एक वचन वा वाक्यके सम्बंधसे संसर्गही विशेषका कथन है इसके विरुद्धके कहनेमें प्रमाण न होने व उत्क्रान्तिवेलामें कारणमें लय होनेका प्रयोजन न होनसे कारणमें लय होना मानना युक्त नहीं है अविभागरूप अर्थात् पृथक् व्यवहार न होनेके योग्य संसर्गहीरूप लयका कथन है ॥ १५ ॥

उपासककी उत्क्रान्तिमें विशेषता वर्णनमें सू० १६ अधि० ८।

तदोकोग्रज्वलनन्तत्प्रकाशितद्वारो विद्या-सामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दा-नुगृहीतः शताधिकया ॥ १६ ॥

अनु०—उसके स्थानका अग्रज्वलन जो है उससे प्रकाशित-द्वार हृदयके प्रेमभावसे अनुग्रहको प्राप्त सौ से अधिक मूर्द्धन्य-नाडीसे विद्याके सामर्थ्यसे उसके शेष गति व अनुस्मृति योगसे गमन करता है ॥ १६ ॥

भाष्य—अब पूर्वही जो यह कहा है कि, आसृत्युपक्रमसे पूर्व अर्थात् मोक्ष-मार्गरूप मूर्द्धन्यनाडीद्वार प्रवेश प्राप्त होनेतक विद्वान् व अविद्वान् दोनोंकी समान गति होती है इससे मूर्द्धन्यनाडीसे विद्वान्के गमनकी विशेषता सूचित किया है उस मूर्द्धन्यनाडीको यहां वर्णन करते हैं कि, उसके स्थानका अग्रज्व-लन जो है अर्थात् उसका जीवात्माका स्थान जो हृदय है उसके अग्र (आगे)मूर्द्धन्य नाडीका मुख है उत्क्रान्तिसमयमें सब इन्द्रिय व तेजआदि भूतोंसहित ब्रह्मज्ञानीका आत्मा उसके सन्मुख समीप प्राप्त होता है उस समय आत्मा व इन्द्रियोंके तेज-से उस नाडी मुखमें प्रकाश प्राप्त होता है ऐसा जो आत्माके स्थान हृदयके आगे नाडी मुखमें ज्वलन (प्रकाश) है उससे प्रकाशित है द्वार अर्थात् मूर्द्धन्य नाडीका द्वार जिसको ऐसा विद्वान् हृदयके प्रेमभावसे ब्रह्मसे अनुग्रहको प्राप्त विद्याके अर्थात् उपासनाके सामर्थ्यसे और उसकी विद्याकी शेष गति जो मूर्द्ध-न्य नाडीसम्बंधिनी गति है उसकी अनुस्मृति अर्थात् अनुस्मरण योगसे संख्यामें सौसे अधिक एकसौ एक जो मूर्द्धन्य नाडी है उससे गमन करता है इतरजनोंके समान अन्य इन्द्रियोंसे गमन नहीं करता मूर्द्धन्य नाडीसे अर्थात् जो हृदयसे कण्ठके नीचे हो नासिकाके बीच दक्षिण तालुसे ब्रह्मरंध्रको प्राप्त सुषुम्णा नाडी सूर्यकी किरणोंसे मिली सूर्यकी किरणरूप रहती है उपासकके जानेको ब्रह्मलोकका मार्ग है उससे विद्वान् उत्क्रमण करिके मोक्षको प्राप्त होता है ऐसा श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध है छान्दोग्य उपनिषद्में यह श्रुति है **शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति** अर्थ--(हृदयस्य नाड्यः) हृदयकी नाडियां (शतं च एका च) सौ और एक अर्थात् एकसो एक हैं (तासां) उनमेंसे (एका) एक (मूर्द्धानम् अभिनिःसृता) शिरको निकली है अर्थात् उपर शिरको गई है (तया) उससे (ऊर्ध्वम् आयन्) उपरको जाता हुआ अर्थात् जानेवाला (अमृ-

तत्वं) मोक्षको (एति) प्राप्त होता है (विष्वङ्) नाना प्रकारकी (अन्याः) अन्य नाडियां (उत्क्रमणे भवंति) उत्क्रमण अर्थ होती हैं अर्थात् अन्य जीव जो विद्वान् नहीं हैं उनके उत्क्रमणके लिये हैं मोक्षके लिये नहीं हैं ॥ १६ ॥

रश्मिअनुसार विद्वानके गमनके वर्णनमें सू० १७ अ० ९ ।

रश्म्यनुसारी ॥ १७ ॥

अनु०–रश्मिअनुसारी होता है ॥ १७ ॥

भाष्य–रश्मिअनुसारी होता है अर्थात् रश्मि जो किरणें हैं उनके अनुसार जाता है अर्थात् सूर्यके किरणोंके साथ विद्वान्का आत्मा मूर्द्धन्य नाडीसे निकलकर सूर्यमण्डलको जाता है जैसा कि, इस श्रुतिमें वर्णन किया है **अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते** अर्थ–(अथ यत्र) अथ जब (एतस्मात् शरीरात्) इस शरीरसे (उत्क्रामति) उत्क्रमण करता है अर्थात् आत्मा शरीरसे निकलता है अथ (एतैः एव रश्मिभिः) तब इसके पश्चात् इनही किरणोंसे (ऊर्ध्वम् आक्रमते) ऊपरको जाता है अब इस शंका की प्राप्ति है कि, दिनको मरण होनेमें तो रश्मियों (किरणों) के अनुसार जाना संभव है रात्रिको रश्मियोंके न होनेसे रश्मि अनुसार जाना असंभव है इसके समाधानके लिये यह कहा है कि, रश्मिअनुसारी होताहै अर्थात् रात्रि हो वा दिन रश्मिअनुसारही विद्वान् ऊपरको जाता है इन किरणों सेही ऊपरको जाता है ऐसा श्रुतिमें कहनेसे निश्चित होता है रात्रिको किरणोंके न होनेकी शंका करना युक्त नहीं है क्योंकि रात्रिको सूर्य्यमण्डल पृथिवीके अन्य भागमें प्रकाश करताही रहता है इस भागमें आड होजानेसे अंधकार हो जाता है ग्रीष्मऋतुमें रात्रिमें भी सूर्य्यकी रश्मियोंकी उष्णता रहने व मेघोंसे आच्छादित (ढके हुये) सूर्य्यकी रश्मियोंकी उष्णता प्राप्त होनेसे रात्रिको भी रश्मियोंका सम्बंध होना ज्ञात होता है हेमन्त ऋतुआदिमें शीतके अधिकतासे न्यून उष्णताका बोध नहीं होता इस युक्तिसे अधिक मुख्य शब्द प्रमाण है श्रुतिमें निरन्तर शरीर रहनेतक नाडियों व रश्मियोंके सम्बंधका वर्णन है यथा **अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते ता अमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः** अर्थ–रश्मियोंके वर्णनका सम्बंध पूर्वसे होनेसे रश्मियोंका ग्रहण होता है जो रश्मियां (अमुष्मात् आदित्यात्) इस सूर्य्यसे (प्रतायन्ते) सन्तानको प्राप्त होती हैं अर्थात् लगातार भूलोकमें प्रसरती हैं (ताः) वह (आसु नाडीषु) इन शरीरकी नाडियोंमें (सृप्ताः) प्राप्त हैं वा प्राप्त होती हैं और जो (आभ्यः नाडीभ्यः) इन नाडियोंसे (प्रतायन्ते) सन्तानको प्राप्त होती हैं (ताः) वह (अमुष्मिन् आदित्ये) इस सूर्य्यमें (सृप्ताः भवन्ति) प्राप्त होती हैं इससे रात्रिमें भी रश्मियोंके

सम्भव होनेसे रात्रिमें भी शरीरत्याग किये हुये विद्वान्की रश्मि अनुसारही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

रात्रिमें मरणेमें भी विद्वान्को ब्रह्मप्राप्ति फल होनेके वर्णनमें

सू० १८ अ० १० ।

निशि नेति चेन्न सम्बंधस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १८ ॥

अनु०–रात्रिको न हो यह कहा जाय नहीं जबतक देह है तबतक सम्बंधके होनेसे श्रुति भी जनाती है ॥ १८ ॥

भाष्य–इस सूत्रका व्याख्यान एक प्रकारसे यही है जो पूर्वसूत्रमें वर्णन किया गया है कि, जो रात्रिमें रश्मिअनुसारी नहीं होगा यह शंका हो तो शरीर रहनेतक रश्मियों व नाड़ियोंका परस्पर सम्बंध रहनेसे रात्रिको भी विद्वान् रश्मिअनुसारी होता है यह श्रुति कहती है दूसरे प्रकारसे यह व्याख्यान है कि, सूर्य्यों की रश्मियोंके सम्भव होनेमें भी रात्रिके मरे हुयेको ब्रह्मकी प्राप्ति होना संभव नहीं है क्योंकि, स्मृतिमें रात्रिका मरणा निन्दित वर्णन किया है यथा **दिवा च शुक्लपक्षश्च उत्तरायणमेव च । मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतन्तु गर्हितम्** अर्थ–दिन व शुक्लपक्ष और उत्तरायण भी (मुमूर्षतां) मरणेकी इच्छा करनेवालोंको अर्थात् मरणेवालोंको (प्रशस्तानि) उत्तम हैं और इसके विपरीत (गर्हितम्) निन्दित हैं इससे रात्रिमें मरणेसे ब्रह्मकी प्राप्ति न होगी जो यह शंका हो तो उत्तर यह है नहीं देह रहनेतक सम्बंध होनेसे अर्थात् जैसा पूर्वही वर्णन कियागया है सञ्चित कर्मोंका जिनके फलभोगका आरंभ नहीं हुआ विद्याके सम्बंधसे नाश होने व होनेवाले कर्मोंके फलका अश्लेष होनेसे प्रारब्ध कर्ममात्र शरीर रहनेतक रहता है शरीरत्याग होनेपर कोई कर्म अधोगतिको प्राप्त करनेवाला न रहनेसे और श्रुतिमें भी शरीरसम्बंध न छूटनेतक मोक्षमें विलम्ब होना कहनेसे रात्रि दिन विद्वान्को ब्रह्म प्राप्तिके लिये एकही समान है रात्रिमें कुछ हानि नहीं है ॥ १८ ॥

दक्षिणायनमें भी शरीरत्याग करनेमें विद्वान्की मुक्तिवर्णनमें

सू० १९ व २० अधि ११ ।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ १९ ॥

अनु०–इसीसे दक्षिणायनमें भी ॥ १९ ॥

भाष्य–रात्रिके मरणेमें भी ज्ञानीके ब्रह्मकी प्राप्ति होनेमें जो यह हेतु कहा

गया है कि, ज्ञानीके शरीर रहनेतक कर्मसम्बंध रहता है उपरान्त कर्मक्षय होनेसे रात्रि दिनका नियम नहीं है इसी हेतुसे दक्षिणायनमें भी मरणेसे ज्ञानीकी मुक्ति होना समझना चाहिये रात्रि व दक्षिणायन होनेसे ज्ञानका फल नहीं रुक-सकता है अब यह शङ्का है कि, दक्षिणायनके मरणेमें स्मृतिमें फिर संसार आगमन वर्णन किया है उत्तरायणके मरणको उत्तम कहा है और इतिहाससे भीष्म आदि ब्रह्मनिष्ठोंको उत्तरायणकी प्रतीक्षा होना विदित होनेसे दक्षिणायनमें मरे हुयेको ब्रह्मकी प्राप्ति संभव नहीं होती तो इसका उत्तर यह है कि, बंधको हेतु अविद्या व कर्मके अभावमें विद्वान्को विद्याका फल जबही शरीर त्याग करेगा प्राप्त होगा रात्रि व दक्षिणायन फलके प्रतिबंधक नहीं होसकते भीष्मआदि जो योगके प्रभावसे अपनी इच्छासे मरणेवाले थे उन्होंने धर्ममें प्रवृत्त करनेके लिये और उत्तरायणकी उत्तमता देखानेके लिये उत्तरायणमें प्राण त्यागनेका विचार किया है अब यह शंका है कि, विद्वान्के लिये भी फिर संसारमें आगमन होने व न होनेके हेतुसे कालविशेषकी विधि देखी जाती है यथा गीतामें श्रीकृष्ण चंद्रजीने अर्जुनसे कहा है **अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते । एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः** अर्थ-अग्नि ज्योति दिन शुक्लपक्ष छः महीना उत्तरायण जो हैं (तत्र) उनमें (प्रयाताः) जानेवाले (ब्रह्म विदः जनाः) ब्रह्मके जाननेवाले जन (ब्रह्म गच्छन्ति) ब्रह्मको प्राप्त होते हैं धूम रात्रि तथा कृष्णपक्ष छः महीना दक्षिणायन जो हैं उनमें जानेवाला योगी (चान्द्रमसं ज्योतिः प्राप्य) चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्तहोकर फिर निवृत्त होता है (एते शुक्लकृष्णे जगतः गती शाश्वते मते) सनातन मतमें यह शुक्ल व कृष्ण दो संसारकी गति हैं (एकया) एकसे (अनावृत्तिं याति) अनावृत्तिको प्राप्त होता है फिर लौटकर संसारमें नहीं आता (अन्यया) अन्यसे (पुनः आवर्तते) फिर लौटकर संसारमें प्राप्त होता है अब इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ १९ ॥

योगिनः प्रतिस्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २० ॥

अनु०-योगियों प्रति स्मरण किया जाता है यह स्मार्त हैं (स्मृतिविषयरूप स्मरणयोग्य हैं) ॥ २० ॥

भाष्य-यह योगियोंके मरणके कालविषयमें स्मरण नहीं किया जाता अर्थात् स्मृतिमें नहीं कहा गया देवयान व पितृयान यह गति (स्मार्ते) स्मरणके योग्य स्मृतिमें कही गई हैं अर्थात् ध्यानमें इन मार्गोंका प्रतिदिन स्मरण करें अर्थात् ध्यान करें यह उपदेश है क्योंकि इसके आगे भी यह कहा है नैते

सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति अर्थ-हे अर्जुन ! (एते सृती जानन्योगी) इन दो मार्गोंको जानता हुआ योगी (न मुह्यति) मोहको नहीं प्राप्त होता है अग्नि ज्योति धूम रात्रि यह शब्द भी देवयान व पितृयानमार्ग सूचित करते हैं क्योंकि अग्निज्योति धूम इनका काल होना संभव नहीं है इससे अग्नि-ज्योति शब्दसे अर्चिरादि मार्गको जनाया है इससे यह निश्चित होता है कि, विद्यानिष्ठोंके लिये देवयान मार्गकी अनुस्मृतिका विधान किया है मरणेवालोंके लिये कालविशेषका वर्णन नहीं है ॥ २० ॥

इति श्रीवेदान्तसूत्राणां भाष्ये श्रीप्रभुदयालुनिर्मिते
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयःपादः ॥ २ ॥

ॐ परमात्मने नमः ।

अथ तृतीयपादप्रारंभः ।

पूर्वपादमें उत्क्रान्तिका व विद्वान्‌की नाडीविशेषसे गति होना कहा गया अब इस पादमें विद्वान्‌के जानेका जो अर्चिरादि मार्ग है उसका विशेष वर्णन व निर्णय किया जाता है ॥

ब्रह्मलोकको जानेके लिये एकही अर्चिरादि मार्ग होनेके वर्णनमें सू० १ अ० १।

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

अनु०-अर्चिरादिसे उसकी प्रसिद्धिसे ॥ १ ॥

भाष्य-विद्वान् अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोकको जाता है यह कैसे निश्चित होता है उसकी प्रसिद्धिसे (श्रुतियोंसे अर्चिरादि मार्ग ब्रह्मको प्राप्त होनेकी प्रसिद्ध होनेसे) अब यह विचारणीय है कि, श्रुतियोंमें कई प्रकारसे मार्गका वर्णन है छान्दोग्यमें ऐसा वर्णन है **यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते** अर्थ-जैसे कमल व पलाश (ढ्यूल) में जल नहीं लगते ऐसेही ऐसे जाननेवालेमें पाप कर्म नहीं लगता ऐसा आरंभमें कहकर ब्रह्मविद्याका उपदेश करिके ऐसा वर्णन किया है **अथ यदु चास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदु च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते** अर्थ-प्रथम यह वर्णन किया है कि, जो ब्रह्मको इस प्रकारसे जानता है वह सब

लोकोंमें प्रकाशित होता है इसके उपरान्त विद्वान्की गति वर्णन करनेमें यह कहा है (अथ) इससे अनन्तर (यत् उ च अस्मिन्) चाहे इसमें अर्थात् मरेहुये इस वर्णन किये गये विद्वान्में (शव्यं) मृतक कर्म (कुर्वन्ति) करते हैं (यत् अर्थात् यदि उ च न) और चाहे नहीं करते अर्थात् सब कर्म किया जाय वा न किया जाय सब विद्वान् (आर्चिषम् एव) अर्चिहीको अर्थात् अर्चि जो तेज शिखा है उसीको अर्थात् तेजअभिमानी देवताको (अभिसंभवन्ति) प्राप्त होते हैं (अर्चिषः अहः) अर्चिसे दिनको अर्थात् दिनअभिमानी देवताको (अह्नः आपूर्य्यमाणपक्षं) दिनसे पूर्णहुये पक्ष अर्थात् शुक्लपक्षअभिमानीदेवताको (आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षट् मासान् उदङ् एति तान्) पूर्णहुये पक्षसे छः महीनोंको जिनमें उत्तर दिशाको सूर्य्य जाता है उनको अर्थात् छःमहीना अभिमानी उत्तरायण देवताको (मासेभ्यः) महीनोंसे (संवत्सरं) सम्वत्सर देवताको (संवत्सराद् आदित्यं) सम्वत्सरसे सूर्य्यको (आदित्यात् चन्द्रमसं) सूर्य्यसे चंद्रमाको (चन्द्रमसः विद्युतं) चन्द्रमासे विद्युत् अर्थात् बिजुलीको प्राप्त होते हैं (तत् कोऽर्थः तस्मात्) उस स्थानसे अर्थात् विद्युत् अभिमानी देवता लोकसे (अमानवः पुरुषः) जो मानवी सृष्टिसे नहीं है ऐसा जो पुरुष है (सः) वह (एतान्) इनको अर्थात् विद्वान् उपासकोंको (ब्रह्म गमयति) ब्रह्मको प्राप्त करता है (अथ एषः) अथ यह (देवपथः ब्रह्मपथः) देवमार्ग ब्रह्ममार्ग है (एतेन प्रतिपद्यमाना) इससे ब्रह्मको प्राप्तहुये (इमं मानवम् आवर्तम्) इस मनुष्यसम्बन्धी आवर्तको (न आवर्तन्ते) आवर्तन नहीं करते अर्थात् मनुसम्बन्धी सृष्टिमें फिर आकर जन्म मरणको नहीं प्राप्त होते इसी छान्दोग्यमें अष्टम प्रपाठकमें यह कहा है **अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते**. अर्थ–इनही रश्मियोंसे ऊपरको जाता है कौषीतकी देवयानमार्गको अन्य प्रकारसे वर्णन करते हैं यथा **स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकमिति** अर्थ–(सः) वह विद्वान् (एतं देवयानम् पन्थानम् आपद्य) इस देवयान मार्गको प्राप्त होकर (अग्निलोकम्) अग्निलोकको (आगच्छति) आता है वहांसे वह वायु लोकको वह वरुण लोकको वह आदित्य लोकको वह इन्द्रलोकको वह प्रजापतिलोकको वह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है वाजसनेयकमें ऐसा वर्णन करिके कि, जो इसप्रकारसे इस ब्रह्मको जानते हैं और जो यह वनमें श्रद्धा व सत्यको उपासन करते हैं उपासकोंकी गतिको इसप्रकारसे वर्णन किया है **तेऽर्चिषम**-

---

१ जहां अभिमानी देवताशब्द नहीं लिखागया वहां भी अभिमानी देवता शब्द आदित्य आदिके साथ पूर्वके समान समझना चाहिये यथा आदित्यको यह कहनेमें आदित्यअभिमानी देवताको यह समझना चाहिये ॥

२ अर्चिशब्द व अग्निशब्दका एकही अर्थ ग्राह्य है ।

भिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽहरह्न आपूर्य्यमाणपक्षमापूर्य्यमाणपक्षा-द्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति तान्मासान्मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं वैद्युतात्पुरुषोऽमानवः स एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति इस श्रुतिमें मास शब्दतक तो जो क्रम छान्दोग्यश्रुतिका है वही वर्णन है आगे कुछ भेद है इसमें पूर्णहुये पक्षसे जिन छः महीनोंको उत्तरायण सूर्य प्राप्त होता है उन महीनोंसे देवलोकको देवलोकसे आदित्यको आदित्यसे वैद्युतको वैद्युतसे जो अमानव पुरुष वह आकर इन उपासकोंको ब्रह्मलोकों को प्राप्त करताहै उसीमें फिर अन्यप्रकारसे वर्णन कियाहै यथा **यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा वाडम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खम्** इत्यादि अर्थ–(यदा वै पुरुषः) जब पुरुष (अस्माद् लोकाद् प्रैति) इस लोकसे शरीर त्यागकर जाताहै (सः) वह पुरुष (वायुम् आगच्छति) वायुको जाता है (सः) वह वायु (तत्र) उसमें अर्थात् अपने आत्मामें (तस्मै) उस प्राप्त हुये विद्वान्के लिये (विजिहीते) अवयवों को दूरकरताहै अर्थात् विद्वा-

१ इस उपनिषद् वाक्यमें सूर्यसे ऊपर चन्द्रलोक तथा 'अथयदु चास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति' इत्यादि इस पूर्वोक्त वाक्यमें चन्द्रमासे ऊपर विद्युत्लोक लिखाहै प्रत्यक्षसे इसके विपरीत विद्युत्, मेघसम्बंधी होनेसे चन्द्र व सूर्य दोनोंसे नीचे विदित होता है, चन्द्रलोक भी शिरोमणिसिद्धान्तके इस वाक्यानुसार "आच्छादयत्यर्कमिन्दुर्विधुं भूमिभाः" जिसका अर्थ यह है कि, "सूर्यको चन्द्रमा आच्छादन करता है चन्द्रमाको भूमिकी छाया अर्थात् सूर्यग्रहणमें चन्द्रमा सूर्यको छिपाताहै यही सूर्यग्रहण है व चन्द्रग्रहणमें चन्द्रमामें भूमिकी छाया पडती है" चन्द्रलोकका सूर्यलोकके नीचे होना सिद्ध होताहै क्योंकि सूर्यके ऊपर चन्द्रके होनेमें चन्द्रमासे सूर्यका आच्छादित होनारूप ग्रहणका होना संभव नहीं होता उपनिषद् वाक्य व शिरोमणिसिद्धान्तवाक्य व प्रत्यक्षमें विरोध होनेकी निवृत्तिके लिये उत्तरपक्ष यह है कि,प्रथम जब यह सिद्ध हो कि, उपनिषद्वक्ता भूमिस्थ हो पृथिवीसे जानेवाले जीवोंके मार्ग वर्णनमें उक्त वाक्यको कहा है तब विरोध होनेकी शङ्का होसक्ती है अन्यथा नहीं, यदि पृथिवीसे कहना स्वीकार किया जाय तो ऊर्ध्व शब्दका अर्थ वह दिशासम्बंधी ऊपरका अर्थ न लेना चाहिये किन्तु कालसम्बंधी ऊपरका अर्थ ग्रहण करना चाहिये अर्थात् सूर्य लोकको प्राप्त होता है उससे अर्थात् उसके उपरान्त वा उससे आगे सूर्य धरातलसे किसी दिशामें विद्यमान चन्द्रलोकको प्राप्त होताहै इत्यादि यदि ऐसा अर्थ न ग्रहण कियाजाय तो प्रत्यक्षसे विदित् होते हुये विद्युत् व चन्द्रसे अन्य विद्युत् व चन्द्रलोक का कथन मन्तव्य है क्योंकि परस्पर विरोधमें दो आप्तवाक्योंमें से एकका असत्य होना अयुक्त असंभव व अनिष्ट है इससे उक्त प्रकारसे ऊर्ध्व शब्दका अर्थ ग्राह्य है विशेष हेतुसे मार्गका ऊंचा नीचा होना वा ऊंचेसे नीचेको आकर फिर मार्गमें आगे चलनेमें कुछ दोषविशेष मानने योग्य नहीं है ।

नूको मार्ग देनेके लिये छिद्र करताहै कैसा छिद्र करताहै (यथा रथचक्रस्य खं) जैसे रथके चक्रका छिद्र (तेन) उससे अर्थात् उस छिद्रसे (सः) वह विद्वान् (ऊर्ध्वम् आक्रमते) ऊपर को जाताहै (सः आदित्यम् आगच्छति) वह सूर्य्यको प्राप्तहोताहै (सः) वह आदित्य (तत्र) उस अपने आत्मामें (तस्मै) उस ज्ञानीके लिये (यथा आडम्बरस्य खं विजिहीते) आडम्बर नामक बाजा विशेषके छिद्रके समान छिद्र करता है (तेन) उस छिद्रसे (सः) वह विद्वान् (ऊर्ध्वम् आक्रमते) ऊपरको जाताहै (सः) वह विद्वान् (चन्द्रमसम् आगच्छति) चन्द्रमाको प्राप्त होताहै (सः तत्र तस्मै यथा दुन्दुभेः खं) वह अपने लोकमें उस विद्वान्के मार्गकेलिये दुन्दुभीके छिद्रके समान छिद्र करताहै इन श्रुतिवाक्योंमें यह संशय होताहै कि, इन श्रुतियोंमें अनेकमार्गोंका प्रतिपादन है वा एकही मार्गके अनेक विशेषण हैं इसके निर्णयके लिये यह कहा है अर्चिरादिसे उसकी प्रसिद्धिसे अर्थात् विद्वान् अर्चिरादि एकही मार्गसे जाते हैं क्योंकि उसकी सब वेदान्तवाक्योंमें प्रसिद्धि है अर्थात् उसी एकका न्यून व अधिकभावसे सर्वत्र प्रतिपादन है जैसे विद्याके गुणोंका उपसंहार होताहै अर्थात् अन्य शाखामें कहेहुये गुण अन्यशाखामें ग्रहण किये जातेहैं ऐसेही अर्चिरादिमें जहां न्यून वर्णन हो वहां अन्यश्रुतिसे अधिक वर्णन कियेगये भागको ग्रहण करलेना चाहिये छान्दोग्यमें उपकोसलविद्यामें व पञ्चाग्निविद्यामें एकहीरूपसे वर्णन कियागयाहै वाजसनेयकमें पञ्चाग्निविद्यामें वैसेही अर्चिरादिको कुछ न्यूनतासे वर्णन किया है इससे उसमेंभी वही मार्ग होना प्रतीत होताहै अन्य श्रुतियोंमेंभी अग्नि आदित्य एकही समान वर्णन कियेगये विदित होते हैं ॥ १ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

अनु०–वायुको संवत्सरसे अविशेष व विशेषसे ॥ २ ॥

भाष्य–अर्चिरादिमार्गसे विद्वान् जातेहैं यह वर्णन कियागया अर्चिरादिमार्गमें छन्दोग मास व आदित्यके मध्यमें संवत्सरको कहते हैं अर्थात् मासोंसे संवत्सरको संवत्सरसे आदित्यको प्राप्तहोतेहैं ऐसा कहतेहैं वाजसनेयी इन दोनोंके मध्यमें देवलोकको वर्णन करते हैं अर्थात् मासोंसे (महीनोंसे) देवलोकको देवलोकसे आदित्यको ऐसा कहतेहैं मार्ग एकही होनेसे दोनोंमें दोनों जो जिसमें नहीं वर्णन कियागया उसको उसमें ग्रहणकरना चाहिये अब महीनोंके उपरान्त सन्निवेशित करनेयोग्य संवत्सर व देवलोकको किस क्रमसे श्रुतिमें ग्रहण करनाचाहिये यह विचार करनेमें यह सिद्धान्त समझनाचाहिये कि, श्रुतिमें न्यूनकालवालोंसे आगे अधिककालवालोंका वर्णन है यथा अर्चिसे दिन, दिनसे पक्ष, पक्षसे मास आदि इसी क्रमसे मासके आगे संवत्सर, संवत्सरसे आगे देवलोक निवेशित

करने योग्य है अब वाजसनेयी जो ऐसा वर्णन करते हैं कि, जब पुरुष इस लों-कसे शरीर त्यागकर जाता है वह वायुको जाता है अपने लोकमें सर्वत्र व्यापक वायु अपने आत्मामें विद्वान्के जानेके लिये रथके चक्रके समान छिद्र करता है उस छिद्रसे विद्वान् ऊपरको जाताहै वहांसे आदित्यको प्राप्त होता है इत्यादि इसमें आदित्यसे पूर्व वायुको वर्णन करतेहैं कौषीतकी ऐसा व-र्णन करते हैं कि, वह इस देवयानमार्गको प्राप्तहोकर अग्निलोकको जाता है वह वायुलोकको जाताहै इत्यादि जैसा कि, पूर्वही श्रुतिमें वर्णन कियागया है इस में अग्निशब्दसे कहागया अर्चिसे आगे वायुको कहाहै कौषीतकियोंके पाठके क्रमसे अर्चिसे परे जो वायु है वाजसनेयी उससे आगे जाकर आदित्यको प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं जैसा पूर्वही वाजसनेयियोंकी श्रुतिमें लिखागया है स ऊर्ध्व-माक्रमते स आदित्यमागच्छति इसमें पाठक्रमसे आदित्यसे पूर्व वायु का प्रवेश निश्चय कियाजाताहै इससे आदित्यसे पूर्व (पीछे) व संवत्सरसे ऊर्ध्व (ऊपर) अर्थात् आगे देवलोक व वायु दो प्राप्तहोतेहैं अब इन दोमें यह वि-चारने योग्य है कि, इन दोमेंसे जिसमें चाहे उसमें पहिले व अन्यमें पीछे यथे-ष्ट (जैसी इच्छा हो) क्रमसे विद्वान् गमन करताहै अथवा संवत्सरसे आगे दे-वलोकमें होकर वायुको प्राप्त होताहै परन्तु कोई विशेष हेतु न होनेसे व संव-त्सर व आदित्यके मध्यमें देवलोक व वायु दोनो प्राप्तहोनेसे दोमेंसे किसको प्रथम व किसको पश्चात् प्राप्य (प्राप्तहोनेयोग्य) मानना चाहिये यह निश्चित नहीं होता यह संदेह निवृत्त होनेके लिये सूत्रमें यह कहाहै वायुको संवत्सर से अर्थात् संवत्सरसे वायुको प्राप्त होताहै यह निश्चय करना चाहिये किस हेतुसे अविशेष व विशेषसे अर्थात् अविशेष व विशेषसे वायुमात्रही कथित होनेसे आशय यह है कि, देवलोक किसी विशेषदेवताका वाचक शब्द नहीं है देवता वा देवताओंका लोक देवलोकशब्दसे वाच्य होताहै इससे अविशेष (सामान्य) है वायुदेवताका लोक देवलोक वाच्य होसक्ताहै इससे वायुविशेष होने व देवलोक अविशेष होनेसे संवत्सरसे आगे वायुहीको कहना मानने योग्य है ।

तडित्से ऊपर वरुणआदिके सन्निवेश वर्णनमें सू० ३ अ० ३ ।

तडितोऽधिवरुणःसम्बन्धात् ॥ ३ ॥

अनु०—तडित्से ऊपर वरुण है (वरुण निवेशके योग्य है) सम्बन्धसे ॥ ३ ॥

भाष्य—कौषीतकियोंकी यह श्रुति है स एतं देवयानं पन्थानमाप-द्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्य-लोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं अर्थ—वह इस देव-

यान मार्गको प्राप्तहोकर अग्निलोकको आता है वह वायुलोकको वरुणलोकको आदित्यलोकको इन्द्रलोकको प्रजापतिलोकको ब्रह्मलोकको प्राप्तहोता है इसमें अर्चिशब्दका पर्याय अग्निलोक शब्द प्रथम कहागया है संवत्सरसे ऊपर वायुका निवेश कहागया और इस श्रुतिमें प्राप्त पाठक्रमभेदसे देवलोकसे आदित्यको आदित्यसे चन्द्रमाको ऐसे वाजसनेयकमें कही हुई श्रुतिके क्रमसे देवलोकशब्दसे कहेहुये वायु से ऊपर आदित्यका भी सन्निवेश सिद्ध है अब वरुण इन्द्रआदिमें यह विचार करने योग्य है कि, यह वरुणआदि पाठ के अनुसार वायुसे ऊपर निवेशित करनेके योग्य है अथवा विद्युत्से ऊपर अर्चिरादि सबमें अर्चिसे दिन इत्यादि श्रुतिक्रमसम्बंध होनेसे व विद्युत्के पर होनेसे और वहांसे अमानव पुरुष इनको ब्रह्मको प्राप्त करताहै ऐसा वर्णन होनेसे कहीं अवकाश प्राप्त न होने में उपदेश वृथा न होनेके लिये किसीके अवश्य बाध्य होनेमें पाठक्रमके अनुकूल वायुसे आगे वरुण का सन्निवेश करना चाहिये और वायु व आदित्यका क्रमबाध्य होनेसे इसी स्थानमें इन्द्र व प्रजापतिभी निवेशित करने योग्य हैं ऐसा तर्कप्राप्त होनेमें सिद्धान्त यह वर्णन कियाहै कि, तडित्से अर्थात् विद्युत्से ऊपर अर्थात् आगे वरुण निवेशित करने योग्य है किस हेतुसे सम्बन्धसे अर्थात् मेघोंके उदरमें विद्युत्के वर्तमान होने व मेघके स्वामी वरुण हैं इससे विद्युत्का वरुणके साथ सम्बन्ध है वरुणआदिकोंका उपदेश जिसमें वृथा न हो इसलिये कहीं अवश्य निवेशित करनेयोग्य होनेमें पाठक्रमसे अर्थक्रम बलवान् है इससे विद्युत्से ऊपर वरुण निवेशित करने योग्य है अर्थात् विद्युल्लोक जो आदित्य व चन्द्रलोकके ऊपर वर्णित और उससे आगे अमानव पुरुषका लेजाना कहाहै उसके ऊपर वरुणका निवेश जलके स्वामी होनेके सम्बंधसे करनाचाहिये और उपदेश किये इन्द्र प्रजापतिकाभी अवश्य निवेशके योग्य होनेसे व वरुणके ऊपर उपदेश कियेजानेसे वरुणके ऊपर इन्द्र व प्रजापतिका निवेश करना चाहिये अब अर्चिरादि मार्ग वर्णनकरनेवाली श्रुतियोंके वचनोंका उपसंहार करके ब्रह्मलोकपर्य्यन्त इस क्रमसे मार्गका होना सिद्धान्त समझनाचाहिये प्रथम अर्चि वा अग्नि उससे दिन दिनसे शुक्लपक्ष शुक्ल पक्षसे उत्तरायण उत्तरायणसे संवत्सर संवत्सरसे वायु वायुसे आदित्य आदित्यसे चन्द्र चन्द्रसे विद्युत विद्युत्से वरुण वरुणसे इन्द्र इन्द्रसे प्रजापतिलोकको प्राप्तहोताहै और विद्युल्लोकसे विद्युत् रूप अमानव पुरुष वरुणआदिलोकसे ब्रह्मको प्राप्त करता है उक्त अर्चिरादि मार्गको क्रमसे पूर्ण इस श्लोकमें वर्णन किया है **अर्चिरहस्सितपक्षानुदगयनाब्दमरुदर्केन्दून्। अपि वैद्युतवरुणेन्द्रप्रजापतीनातिवाहिकानाहुः** क्रमस अर्थ इसका प्रथम ऊपर वर्णन करदियागयाहै ॥ ३ ॥

आतिवाहिक होनेके वर्णनमें सू० ४ व ५ अ० ४ ।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

अनु०—आतिवाहिक हैं उसके लक्षणसे ॥ ४ ॥

भाष्य—अब यह विचार कियाजाता है कि, यह अर्चिआदि मार्गके चिह्नरूप है अथवा भोगके स्थान है अथवा ब्रह्मकी प्राप्तिकी इच्छाकरनेवाले ज्ञानियोंको ब्रह्मलोकको लेजानेवाले हैं मार्ग बतानेका ऐसा उपदेश होनेसे मार्गके चिह्न होना विदित होते हैं अर्थात् जैसे कोई मार्ग बतानेवाला किसी ग्राम वा नगर जानेवालेसे कहताहै कि यहांसे निकलकर वा यहांसे आगे अमुक वृक्ष अमुक नाम की नदी अमुकपर्वतसे जाना अथवा मार्गमें अमुक अमुक वृक्ष नदी पर्वत हैं ऐसेही अर्चिआदिका कथन है फिर यह भी संशय होता है कि, दिनआदि कालविशेष प्रसिद्ध हैं इससे यह मार्गके चिह्न नहीं होसके अग्निलोकको प्राप्त होता है ऐसा लोकशब्दसे वाच्य अर्चिआदिका भोगस्थान होना संभव होता है इसमें क्या निश्चय करना चाहिये ऐसे संशय निवृत्त होने व सिद्धान्त विज्ञापनके लिये सूत्रमें यह कहाहै आतिवाहिक है अर्थात् अर्चिआदि ब्रह्मसे नियुक्त ज्ञानी पुरुषोंके आतिवाहिक (लेजानेवाले) हैं किस प्रमाणसे उसके (लेजानेके) लक्षणसे अर्थात् अमानव पुरुष लेजाता है यह विद्युतलोकसे उपरान्त अन्तमें स्पष्ट कहाहै यही सम्बन्ध पूर्वमें भी अनुमान से निश्चय किया जाता है अग्निआदि शब्दसे अग्निआदिअभिमानी देवताओंका कथन है जैसे **तत्तेज ऐक्षत** अर्थ—उस तेजने ईक्षाकिया इत्यादि श्रुतिवाक्यसे निश्चित होताहै क्योंकि जड तेजका ईक्षा करना असंभवहै अब यह शङ्का है कि, विद्युत्ही लोकवाले पुरुषका लेजाना कहाहै उसके आगे कहेगये वरुण आदिकोंका आतिवाहिक होनेके साथ सम्बंध कैसे होसक्ता है इसका समाधान वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

अनु०—वैद्युतहीसे वहांसे उसकी श्रुतिसे ॥ ५ ॥

भाष्य—वैद्युतहीसे विद्युत् लोकवालेही अमानव पुरुषसे वहांसे विद्युत् लोकसे ज्ञानी ब्रह्मलोकको प्राप्त कियाजाता है किस प्रमाणसे उसकी श्रुतिसे वैद्युत अमानवकी यह श्रुति होनेसे **स एनान्ब्रह्म गमयति** अर्थ—वह इनको ब्रह्मलोकको लेजाता है वरुणआदि अमानव पुरुषके अनुग्राहक होते हैं इससे उनका भी आतिवाहिक होनेमें सम्बंध होनेसे आतिवाहिक होना उपचारसे कहना युक्त है ॥ ५ ॥

कार्यब्रह्मके उपासनमात्रमें गति होने वा परब्रह्म उपासनमें भी इस निरूपणमें सू० ६–१५ अ०५ ।

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ६ ॥

अनु०–कार्यको (कार्यब्रह्मको) प्राप्त करते हैं यह बादरि आचार्य मानते हैं उसकी गति संभव होनेसे ॥ ६ ॥

भाष्य–ज्ञानियोंको आतिवाहिक अमानव पुरुष ब्रह्मको प्राप्त करता है यह जो श्रुतिमें कहा है इसमें बादरि आचार्य ऐसा मानते हैं कि, जो कार्य ब्रह्मके अर्थात् कार्यगुणों संयुक्त हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मके उपासक हैं उनहीको आतिवाहिक कार्यब्रह्मको प्राप्त करता है अर्थात् कार्यब्रह्मलोकको ले जाता है किस हेतुसे उसकी कार्यब्रह्मके उपासककी गति संभव होनेसे क्योंकि जो सर्वत्र परिपूर्ण सर्वव्यापक सबका आत्मारूप परब्रह्म है और सर्वव्यापकता आदि गुणोंके स्मरणपूर्वक उपासक उस परब्रह्मकी उपासना करता है उसको ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये देशान्तर में जानेकी आवश्यकता नहीं है अप्राप्तकी प्राप्तिके लिये जाना संभव है इससे हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मके उपासकका देशविशेष में वर्तमान ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये जाना संभव होता है इससे अर्चिरादिक आतिवाहिकगण कार्यब्रह्मको प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ७ ॥

अनु०–विशेषित होनेसे भी ॥ ७ ॥

भाष्य–**स एतान्ब्रह्मलोकान्गमयति** अर्थ–(सः) वह अमानव पुरुष (एतान्) इन उपासकोंको (ब्रह्मलोकान्) ब्रह्मलोकोंको (गमयति) लेजाता है वा प्राप्त करता है इस श्रुतिवाक्यमें लोक शब्दसे व बहुवचन होनेसे लोकविशेषवर्ती ब्रह्मको प्राप्त करता है यह विशेषता विदित होती है बहुवचन परब्रह्मका विशेषण नहीं होसक्ता **प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये** अर्थ–प्रजापतिकी सभामें स्थानको प्राप्त होऊं इस श्रुतिसे ब्रह्माकी उपासना करनेसे ब्रह्माके लोकको प्राप्त करता है ऐसा कहना होसक्ता है क्योंकि लोकशब्दवाच्य होना व ब्रह्माके समीप जाना घटित होसक्ता है अब यह शंका है कि, जो ब्रह्मलोक कहनेसे ब्रह्माके कहनेका आशय होता तो **स एनान्ब्रह्म गमयति** ऐसा पाठ न होता **स एनान्ब्रह्माणं गमयति** ऐसा निर्देश वा श्रुतिका पाठ होता इसका उत्तर आगे वर्णन करते हैं ॥ ७ ॥

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ८ ॥

अनु०–समीप होनेसे वह कथन है ॥ ८ ॥

भाष्य–प्रथम सृष्टिकी आदिमें ब्रह्मा नामक देवताविशेष शक्तिविशेष-

युक्तको परब्रह्मने उत्पन्न किया है जैसा श्रुतिवाक्यसे सिद्ध है **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं** अर्थ—जो ब्रह्माको प्रथम उत्पन्न करता है ब्रह्मसे पहिले ब्रह्माही उत्पन्न होने व विशेष सामर्थ्य होनेसे ब्रह्मकी समीपता व ब्रह्मके समान विशेष सामर्थ्य होनेसे ब्रह्मके समान मानके ब्रह्माको ब्रह्म शब्दसे कहा है यदि ऐसा भी मानलियाजावे कि, ब्रह्माके लोकको ब्रह्मलोक कहा है तो श्रुतिमें जो यह कहा है कि, यह देवमार्ग है यह ब्रह्ममार्ग है इससे ब्रह्मको प्राप्त हुये फिर मनुष्यलोकमें नहीं आते तथा उससे ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हुआ मोक्षको प्राप्त होता है इस प्रकारसे फिर जन्म न होना व मोक्ष होना कहनेसे फिर संसारमें आनेका अभाव पायाजाता है और ब्रह्माका महाप्रलयमें नाश होना शास्त्रमें कहा गया है इससे ब्रह्मा नित्य नहीं है और ब्रह्माके लोकमें प्राप्तहुओंकी फिर संसारमें आवृत्ति (फिर लौटकर आना) भी होता है जैसा कि, अर्जुनसे श्रीकृष्णचन्द्रजीने कहा है **आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन** अर्थ—हे अर्जुन ! ब्रह्मके भुवनतक अर्थात् ब्रह्मलोकतक प्राप्त फिर जन्म मरणदशा व संसार में प्राप्तहोते हैं इससे अनावृत्ति जो श्रुतिमें कहा है वह ब्रह्माके लोकमें प्राप्तहुओंको नहीं होसक्ती इससे कार्यब्रह्मको प्राप्तकरता है यह कहना युक्त नहीं है इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ ८ ॥

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥९॥

अनु०—कार्यलोकके नाश होनेमें उसके स्वामीके साथ इससे (इस कार्यलोकसे) परब्रह्मको प्राप्त होता है कहनेसे (अनावृत्ति कहनेसे) ॥ ९ ॥

भाष्य—कार्यब्रह्मलोकके नाश होनेपर उस लोकके स्वामी जिसके अधिकारका अन्त होगयाहै ऐसे हिरण्यगर्भ परब्रह्म ज्ञानी सिद्धके साथ आप उपासकभी ब्रह्मज्ञानको प्राप्तहुआ इस कार्यब्रह्मलोकसे परब्रह्मको प्राप्तहोता है इससे अर्चिरादि मार्गसे गयेहुयेका मोक्ष होना व फिर आवृत्ति न होना कहा है इससे क्रमसे परब्रह्म प्राप्तिरूप मुक्ति होनेसे अर्चिरादि मार्गसे गमनकियेहुयेकी अनावृत्तिका श्रुतिमें प्रतिपादन है ॥९ ॥

स्मृतेश्च ॥ १० ॥

स्मृतिसेभी ॥ १० ॥

भाष्य—स्मृतिसे भी यही अर्थ निश्चित होता है स्मृतिमें कहाहै **ब्रह्मणा सहते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानःप्रविशन्ति परं पदम् ।** अर्थ—(प्रतिसञ्चरं सम्प्राप्ते) महाप्रलय प्राप्तहोनेमें (परस्य) परके अर्थात् ब्रह्माके (अन्ते) अन्त होनेमें (ब्रह्मणा सह) ब्रह्माके साथ (ते सर्वे कृतात्मानः) वह सब कृतार्थात्मा अर्थात् ब्रह्मलोकमें उत्पन्न परब्रह्मज्ञानसे शुद्धहुए आत्मा (परं पदं प्रवि-

शन्ति) परंपदको प्राप्तहोते हैं अर्थात् परब्रह्ममें लीन वा प्राप्तहोतेहैं इससे कार्यब्रह्मके उपासना करनेवालोंहीको आतिवाहिक अर्चिरादिक गण ब्रह्म-लोकको प्राप्त करता है यह बादरि आचार्यका मत है अब जैमिनि आचार्य्यका मत वर्णन करते हैं ॥ १० ॥

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ ११ ॥

अनु०—परब्रह्मको उपासकको प्राप्त करता है यह जैमिनि आचार्य मानते हैं मुख्य होनेसे ॥ ११ ॥

भाष्य—अर्चिरादि आतिवाहिकगण परब्रह्महीके उपासकोंको प्राप्त करता है वह पुरुष अमानव इनको ब्रह्मको प्राप्त करता है ऐसे श्रुतिवाक्यमें ब्रह्मशब्द परब्रह्महीके लिये कहा है किस हेतुसे मुख्य होनेसे अर्थात् ब्रह्म शब्द परब्रह्महीमें मुख्य है इससे ऐसा जैमिनि आचार्यका मत है मुख्य होना कहनेका आशय यह है कि, हिरण्यगर्भआदि कार्यरूपमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग किसी प्रमाणसे निश्चय होनेमें भी गौण वा लाक्षणिकही होना सिद्ध होता है परब्रह्ममें मुख्य है गौण व मुख्यमेंसे मुख्यही ग्राह्य है और गमनका असंभव होना भी कहना युक्त नहीं है परब्रह्मके सर्वव्यापक होनेमें भी विशिष्ट देशहीमें प्राप्त हुये ज्ञानीकी अविद्यानिवृत्ति शास्त्रसे ज्ञात होनेसे विशेषदेशमें ब्रह्मकी प्राप्ति मानने योग्य है जैसे विद्याकी उत्पत्तिके लिये वर्ण व आश्रमके धर्म शौच आचार देश व कालकी अपेक्षा **तमेतं वेदानुवचनेन यज्ञेन दानेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति** अर्थ—उस इस ब्रह्मको वेदके वचन अनुसार यज्ञसे दानसे तपसे ब्राह्मण जाननेकी इच्छा करतेहैं ऐसे शास्त्रके वचनसे निश्चय कियाजाताहै ऐसेही पूर्ण अविद्या निवृत्तिरूप विद्या (ज्ञान) की सिद्धिविशिष्ट देशकी प्राप्तिकी अपेक्षा रखतीहै ऐसा गतिवर्णन करनेवाले शास्त्रवाक्यसे निश्चय कियाजाता है विद्वान्की उत्क्रान्तिके प्रतिषेधका परिहार पूर्वेही वर्णन कियागयाहै अब लोकशब्द व बहुवचनसे अर्थात् ब्रह्म-लोकों ऐसा कहनेसे परब्रह्मका प्राप्य होना निश्चित नहीं होता कार्य-ब्रह्म होनेकी प्रतीति होतीहै इस पूर्वपक्षका उत्तर यह है कि, ब्रह्मलोक शब्दका अर्थ ब्रह्मका लोक ऐसा यहां ग्राह्य नहींहै कर्मधारय समाससे ब्रह्मही लोक है ऐसा अर्थ ग्राह्य है और अर्थका एकहोना निश्चित होनेमें ब्रह्मलोकान् (ब्रह्म-लोकोंको) ऐसा जो बहुवचन कहाहै इसको **अदितिःपाशान्** इत्यादि इस श्रुतिमें एकवचनके स्थानमें पाशान् ऐसा बहुवचन कहनेके समान समझकर ब्रह्मलोकको ऐसा एकहीवचनका अर्थ ग्रहण करना चाहिये सर्वव्यापक सत्यसंकल्प परब्रह्मकी इच्छासे कल्पित मायाके कार्यसे रहित जो ब्रह्मरूप

१ अदितिः पाशान् इत्यादि यह तैत्तिरीयक शाखाकी संहितामें तृतीयकाण्ड प्रथम प्रपाठक चतुर्थ अनुवाक की श्रुति वा मंत्र है यह मंत्र अन्य शाखाओंमें भी है किसी शाखामें—

अनुपम सुखभोग करनेके लोक हैं वह अनेक होनेपरभी एक ब्रह्महीरूप होनेसे एकही ब्रह्मलोक मानने योग्य है बहुवचन कथनमात्र है ॥ ११ ॥

दर्शनाच्च ॥ १२ ॥

अनु०—दर्शनसे भी ॥ १२ ॥

भाष्य—श्रुतिदर्शनसे भी मूर्द्धन्य नाडीसे गमन करके विद्वान्का परब्रह्ममें प्राप्त होना सिद्ध होता है श्रुति यह है **एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते** अर्थ—यह प्रसन्नआत्मा ज्ञानी इस शरीरसे उठकर अर्थात् शरीर त्याग कर परं ज्योतिको अर्थात् परं ज्योतिरूप परब्रह्मको प्राप्त होकर अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूपको प्राप्त होता है अब जो यह कहा है कि. **प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये** अर्थ—प्रजापतिकी सभामें स्थानको प्राप्त होऊं इस प्रकारके श्रुतिवाक्यसे अर्चिरादि मार्गसे गये हुये ज्ञानीका कार्य ब्रह्ममें प्राप्त होनेका संकल्प विदित होता है इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ १२ ॥

न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः ॥ १३ ॥

अनु०—और न कार्यमें प्रत्यभिसंधि (प्राप्त होनेका संकल्प) है ॥ १३ ॥

भाष्य—मैं प्रजापतिकी सभाको प्राप्त होऊं यह प्रत्यभिसंधि कार्य्य है हिरण्यगर्भ में नहीं है परब्रह्महीमें है अर्थात् हिरण्यगर्भमें प्राप्तहोनेके लिये नहीं है परब्रह्महीमें प्राप्त होनेके लिये है यह वाक्यशेषसे निश्चित होताहै क्योंकि **प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये** अर्थ—मैं प्रजापतिकी सभामें स्थानको प्राप्त होऊं इस संकल्पवाक्यमें कहाहै **यशोहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां** अर्थ—(अहं) मैं (ब्राह्मणानां यशः भवामि) ब्राह्मणोंका यश होऊं अर्थात् आत्मा होऊं तथा (राज्ञां यशः विशां यशः) क्षत्रियोंका यश होऊं वैश्योंका यश

—पाशं ऐसा एकवचन और किसीमें पाशान् ऐसा बहु वचन का पाठ है परन्तु पशुपाश एकही विवक्षित होनेसे जहां बहुवचन है वहां भी एकही वचन मन्तव्य है नवम अध्याय तृतीय पादमें पूर्व मीमांसाशास्त्रमें इसका विशेष रूपसे निरूपण है श्रुति या मंत्रमें वैदिक प्रयोगोंमें ‘व्यत्ययो बहुलं’ इस पाणिनिसूत्रसे व इसके व्याख्यानमें महर्षि पतञ्जलि भाष्यकारके कृत विवरणसे विभक्ति लिङ्ग आदिका बहुल करके व्यत्यय होना विज्ञापित कियागया है इससे यहां वचनका व्यत्यय समझना चाहिये वैदिकप्रयोगमें एकवचनके स्थानमें बहुवचन प्रयुक्त होना अयुक्त नहीं है वैदिक प्रयोगोंमें अर्थाशहीकी विशेष मुख्यता है अर्थके अनुकूल न होनेमें अर्थांश यथार्थ घटित न होनेमें लिंगआदिका व्यत्यय वैदिकप्रयोगोंमें ज्ञात होता है और ऋषियोंके वचनानुसार ऐसेही श्रुतियोंके अर्थ व व्याख्यानमें ग्राह्य है ।

होऊं इस प्रकारसे सब अविद्यासे रहित सबका आत्मारूप होनेका संकल्प है तथा **अश्व इवरोमाणि विधूय पापं** इत्यादि अर्थ–जैसे घोडा रोमों को झाडकर निर्मल होताहै ऐसेही विद्वान् पापको त्यागकर ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है सबपापोंसे रहित होनेसे और यह भी आगे कहा है **धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवानि** अर्थ–(धूत्वा शरीरं) शरीरको त्यागकर कृतार्थात्मा (अकृतं) ब्रह्मलोकको मैं प्राप्तहोऊं अकृत (जो कार्य रूप नहींहै) ऐसे ब्रह्मलोकको प्राप्तहोनेसे परब्रह्महीके उपासकोंको अर्चिरादि अतिवाहिकगण परब्रह्मको प्राप्तकरते हैं ऐसा जैमिनि आचार्य्यका मत है अब बादरायण आचार्य अपना मत आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥ १३ ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा च दोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १४ ॥

अनु०–प्रतीक आलम्बन न करनेवालोंको लेजाता है यह बादरायण आचार्य मानते हैं दोनों प्रकारसे दोष होनेसे और उसका सङ्कल्प भी हेतु है ॥ १४ ॥

भाष्य–जो प्रतीकको आलम्बन नहीं करते उनको अर्चिरादि आतिवाहिक गण लेजाता है यह भगवान् बादरायण आचार्य मानते हैं कार्यब्रह्मकी उपासना करनेवालोंको लेजाता है यह पक्ष संभव नहीं होता परब्रह्महीके उपासकोंको ले जाता है यह भी नियम नहीं है प्रतीक आलम्बन न करनेवालोंको लेजाता है यह सिद्धान्त है अर्थात् जो परब्रह्मको उपासन करते हैं और जो आत्माको प्रकृतिसे भिन्न ब्रह्मात्मक मानकर उपासन करते हैं उन दोनों विधिसे उपासन: करनेवालोंको लेजाता है जो लोग ब्रह्मको कार्यके अन्तर्गत रूप नाम आदिकको प्रतीक आलम्बन करके उनमें देवदत्तआदिमें सिंहआदि दृष्टि करनेके समान ब्रह्मदृष्टि वा भावकरके अथवा केवल नाम रूप आकार वस्तु वा नामआदि युक्त कार्य वस्तुमें उनहीके स्वरूपको उपासन करतेहैं उनको नहीं लेजाता है किस हेतुसे कार्यउपासकोंको लेजाताहै यह पक्ष संभव नहीं होता और परब्रह्महीके उपासकोंको लेजाता है यह भी नियम नहीं है दोनों प्रकारसे दोष होनेसे अर्थात् कार्यब्रह्मको उपासन करनेवालोंको लेजाता है इस पक्षमें **अस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य** इत्यादि अर्थ–इस शरीरसे उठकर अर्थात् शरीरको त्यागकर परंज्योतिको अर्थात् परं प्रकाशस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त होकर इत्यादिक श्रुतियोंमें विरोध होगा क्योंकि सङ्कल्प व उपासना अनुसार फल प्राप्तहोता है इससे कार्यब्रह्मका उपासक परब्रह्ममें नहीं प्राप्त होसक्ता और परब्रह्महीके उपासकोंको लेजाता है

इस नियममें भी यह जो श्रुति है **तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्तीति** अर्थ–उनमेंसे अर्थात् उक्त गृहस्थोंमेंसे जो इस प्रकारसे जैसा कहीगयी है पञ्चाग्निविद्याको जानते हैं अर्थात् उपासन करते हैं वह और जो यह अर्थात् वानप्रस्थ संन्यासी जो वनमें श्रद्धा व तपको उपासन करते हैं वह अर्चि को अर्थात् अर्चिरादि मार्ग को प्राप्त होते हैं यह मिथ्या होगी इससे दोनों पक्षों में दोष है इससे उक्त प्रकारसे दोनोंप्रकारके उपासकोंको लेजाता है इसमें उपासकका संकल्प अर्थात् भाव वा ध्यान हेतु है जैसा उपासन करता है वैसेही प्राप्तहोताहै यथा यह श्रुतिवाक्य प्रमाण है **यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति** अर्थ-जैसा संकल्पकरनेवाला इस लोकमें पुरुष होताहै वैसेही इस शरीरको त्यागकर इस लोकसे जाकर परलोकमें होता है अर्थात् जैसा संकल्प करना चाहिये वा चित्तका भाव रहता है उसी प्रकारकी अवस्था वा दशाको मरणेके पश्चात् प्राप्त होता है इस न्यायसे पंचाग्निविद्याके जाननेवालेकी भी अर्चिरादि मार्गसे गति होने व अर्चिरादि मार्गसे गयेहुयेको ब्रह्मकी प्राप्ति और फिर उसकी आवृत्ति न होनेका श्रुति प्रमाण होनेसे प्रकृतिसे संयोगरहित आत्माको ब्रह्मात्मक ध्यान करनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है यह सिद्धान्त है नाम आदिसे प्राणपर्य्यन्त प्रतीक आलम्बनकरके उपासन करनेवालोंको दोनोंप्रकारसे ब्रह्मप्राप्तिके लिये श्रुतिसे सिद्ध उपासनोंके अभावसे अचित् (जड) वस्तु मिश्रित उपासनमें यथाक्रतुश्रुतिप्रमाणसे अर्चिरादि मार्गकी व ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती इसीको श्रुतिभी जनाती है यह आगे सूत्रमें वर्णन करते हैं ॥१४॥

विशेषञ्च दर्शयति ॥ १५ ॥

अनु०–और विशेष को श्रुति जनाती है ॥ १५ ॥

भाष्य–श्रुतिमें नामआदिके उपासनोंमें जहांतक नामआदिकी प्राप्ति है वहांतक उपासकको फल प्राप्तिकी मर्यादा को वर्णन किया है और नामआदिसे प्राणपर्य्यन्त प्रतीकोंको एक एक से एकएकको अधिक वर्णन किया है और जिससे जो अधिक है उससे अधिकके उपासनमें अधिक फल व न्यून में न्यून फल प्राप्त होना वर्णन किया है यथा छान्दोग्यमें यह वर्णन किया है **यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति** अर्थ–प्रथम यह कहकर कि, जो नामको ब्रह्म मानकर नामप्रतीकमें ब्रह्मको उपासन करता है उसको यह फल प्राप्त होना वर्णन कियाहै कि, (यावत् नाम्नः गतं) जहांतक नामका गोचर है अर्थात् जहांतक नामकी प्राप्ति है (तत्र) उसमें (अस्य) इसका अर्थात् उपासकका (कामचारः भवति) कामचार होता है अर्थात् इच्छाअनुसार जहांतक नामका सम्बंध है वह सब जानता समझता है यह

सुनकर फिर नारदने प्रश्न किया कि, नामसे अधिक क्या है सनत्कुमारने कहा वाक्, नामसे अधिक वाक्को व नामके उपासनसे अधिक फल वाक् के उपासनमें वर्णन कियाहै ऐसेही फिर प्रश्न करनेमें वाक्से मनको मनसे संकल्पको इत्यादिको एक एकसे अधिक व उपास्य व उपासनफल वर्णन कियाहै इसप्रकारसे नामआदिसे प्राणपर्य्यन्त उपासीनोंको (उपासकोंको) गतिकी अपेक्षारहित परिमित फलविशेष होनेको श्रुति वर्णनकरतीहै इस से जडमिश्रित वा केवलचेतन वस्तुको ब्रह्मदृष्टिसे अथवा विना ब्रह्मदृष्टिके जो उपासन करते हैं उनको आतिवाहिकगण ब्रह्मलोकको नहीं लेजाता केवल परब्रह्म उपासकोंको और प्रकृतिसे वियोगको प्राप्त ब्रह्मात्मक भावसे आत्माको उपासनकरनेवालोंको आतिवाहिकगण लेजाताहै यह सिद्धान्त है ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्प्रभुदयालुना ससूत्रानुवाददेशभाषया विरचिते शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

ॐ परमात्मने नमः ।

अथ चतुर्थपादप्रारंभः ।

तृतीयपादमें परब्रह्म उपासकों व प्रकृतिसे भिन्न ब्रह्मात्मकभावसे आत्माको उपासकोंकी अर्चिरादिमार्गसे ब्रह्मकी प्राप्तिको वर्णन कियागया अब इस पादमें मुक्तिअवस्थाके स्वरूप व मुक्तोंके ऐश्वर्यप्रकारको वर्णन करतेहैं—

मुक्तपुरुषके स्वरूपवर्णनमें सू० १—३ अ० १।

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ १ ॥

अनु०—प्राप्त होकर जिस अवस्थाको प्राप्त होता है वह स्वरूपका (अपने रूपका) आविर्भाव (प्रकट होना) है अपने यह शब्द होनेसे ॥ १ ॥

भाष्य— छान्दोग्यमें यह श्रुति है एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते अर्थ— ऐसेही अर्थात् जैसे आकाशसे पृथक् हो उठकर वर्षाकालमें मेघ विद्युत्आदि अपने अपने स्वरूपसे प्रकट होतेहैं यह कहागयाहै ऐसेही यह ज्ञानवान् प्रसन्न आत्मा इस शरीरसे उठकर अर्थात् पृथक् होकर परंज्योति स्वरूप परमात्माको प्राप्तहोकर अपने रूपसे सिद्ध होताहै अर्थात् शरीर आदिसे विलक्षण निज शुद्ध चेतनरूपसे प्रकट होताहै इस श्रुतिमें यह संश-

य होनेमें कि, इस शरीरत्यागके पश्चात् ब्रह्ममें प्राप्त हुयेका जो रूप प्रकटहोगा कहाहै वह देवताआदिके रूपके समान साध्यरूपसे सम्बंध होना इस श्रुतिवाक्यसे प्रतिपादन किया जाताहै अथवा स्वाभाविक स्वरूपका आविर्भाव (प्रकटता) होताहै यह अनुमित होताहै कि, साध्यरूपसे सम्बंधहोना युक्त है अन्यथा मोक्षशास्त्रका अपुरुषार्थबोधक होना सिद्ध होगा क्यों कि स्वरूपका आपसे पुरुषार्थ होना देखा नहीं जाता अर्थात् सुषुप्तिमें देह इंद्रियोंके व्यापारोंके शान्त होनेमें केवल आत्मा अपने स्वरूपसे स्थित होता है परन्तु पुरुषार्थ होना सिद्ध नहीं होता और परब्रह्म प्राप्तहुयेका दुःखनिवृत्तिहोनामात्र पुरुषार्थ नहीं है जिससे स्वरूपका आविर्भावही मोक्षहै यह कहाजाय क्योंकि अकथनीय अनन्तसुखरूप ब्रह्मप्राप्ति वा ब्रह्मानन्द मोक्ष है यथा तैत्तिरीयक उपनिषद्की श्रुतिमें वर्णन है **ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य** अर्थ-(प्रजापतेः ये शतम् आनन्दाः) ब्रह्माका जो आनन्द है वैसे सौ आनन्द जो हैं अर्थात् वैसे सौ आनन्द एकत्र करनेमें जो आनन्द हो (सः एकः) वह एक (ब्रह्मणः आनन्दः) ब्रह्मका आनन्द है (सः च) और वही (श्रोत्रियस्य अकामहतस्य) वेदज्ञ कामनारहित ज्ञानीका आनन्द है तथा **रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति** अर्थ-(अयं) यह ब्रह्मज्ञानी (रसम् एव लब्ध्वा) आनन्द रसहीको अर्थात् आनन्दरसरूप ब्रह्महीको प्राप्त होकर (आनन्दी भवति) आनन्दवान् होता है और अपरिच्छिन्न आनन्दरूप चैतन्य ही आत्माका स्वरूप कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा होनेमें वह संसारदशामें अविद्या से तिरोहित (छिपा) परब्रह्मको प्राप्त हुये ज्ञानी का प्रकट होता है ऐसा कहना ही असंगत है क्योंकि ज्ञानस्वरूपका तिरोधान (छिपाव वा छिप जाना) होना असंभव है प्रकाशका पर्य्याय ही रूपज्ञानका तिरोधान उसका विनाशही है और प्रकाशमात्रका आनन्दहोनाभी संभव नहीं होता है क्योंकि सुखस्वरूपताही आनन्दस्वरूपता है और सुखस्वरूप होना आत्माके अनुकूल होना है प्रकाशमात्र आत्मा कहनेवालेके मत में किसका प्रकाश अनुकूल जानने योग्य होवै यह प्रकाशमात्रवादीको किसी प्रकारसे प्रतिपादन करना कठिन है स्वरूपकी प्राप्तिमात्र साध्यहोनेसे स्वरूपके नित्यसिद्ध होनेसे ब्रह्मके समीप वा ब्रह्मके प्राप्त हुये को अपने स्वरूपसे सिद्ध होताहै यह कहना अनर्थक होगा इस से अपूर्व साध्यरूपसे सम्बंधको प्राप्त होताहै इसप्रकारसे सिद्ध होताहै यह कहना मुख्यार्थ ही होता है अपने रूपसे जो कहाहै यह भी ऐसा समझनेसे कि, अपने असाधारण एकान्त आनन्दसे सिद्ध होताहै सङ्गत वा घटित है ऐसा आक्षेप प्राप्त होनेमें यह उत्तर है कि, प्राप्त होकर आवि-

भाव है अर्थात् यह जीव आत्मा अर्चिरादि मार्गसे परंज्योतिको अर्थात् परम प्रकाशस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होकर जिस दशाविशेषको प्राप्त है वह अपूर्व आकारकी उत्पत्तिरूप नहीं है स्वरूपका आविर्भावरूप है किस हेतुसे स्वशब्दके अर्थात् अपने शब्दके कहनेसे अर्थात् अपने रूपसे प्रकट होता है ऐसा श्रुति में कहनेसे आगन्तुक देह ग्रहण करना मानने में अपने रूपसे यह विशेषण अनर्थक होगा जो यह कहा है कि, स्वरूपके नित्य प्राप्त होनेसे प्राप्त होकर अपने रूपसे प्रकट होता है यह वचन अनर्थक है इसका उत्तर आगे वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

अनु०-मुक्त है प्रतिज्ञानसे (प्रतिज्ञासे) ॥ २ ॥

भाष्य-कर्मसम्बंध व कर्मसम्बंधसे हुये देहआदिसे मुक्त ज्ञानी स्वाभाविक रूपसे अवस्थित यहां अपने रूपसे प्रकट होना कहा है इससे जो नित्य स्वरूपको प्राप्त भी है परन्तु कर्म व अविद्यासे स्वरूप तिरोहित है उसके स्वरूपके तिरोधानकी निवृत्तिरूप प्रकटता यहाँ श्रुतिमें कहीहै. किस हेतुसे यह निश्चित होता है प्रतिज्ञानसे (प्रतिज्ञासे) अर्थात् जो आत्मा है ऐसा जीवात्मा प्रकरणकी आदिमें प्रकृत है उसको जागरित आदि तीन अवस्थासे रहित व पुण्य व पापके कारण रूप कर्मसे विनिर्मुक्त (छूटेहुये) रूपसे प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञासे प्रजापतिने इन्द्रसे इन्द्रके यथार्थ बोध-न होनेमें यह कहा है **एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि** अर्थ-(एतं तु एव) इसीको (ते) तेरे लिये (भूयः अनुव्याख्यास्यामि) फिर व्याख्यान करूंगा ऐसा वारंवार कहकर यह वर्णन किया है **एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय** इत्यादिवाक्यसे यह वर्णन कियाहै कि, यह जीवात्मा शरीर त्याग कर ब्रह्मको प्राप्त होकर अपने स्वरूपसे प्रकट होता है इस प्रकारसे प्रतिज्ञा करने और उसके व्याख्यान करनेसे इससे कर्मसे बंधहुये जीवकी परंज्योतिको प्राप्तहोकर बंधनिवृत्तिरूप जो मुक्ति है वह अपने स्वरूपसे प्रकट होताहै वा अपने स्वरूपको प्राप्त होता है यह कहा गया है अब जो यह कहाहै कि, सुषुप्ति में आत्माके स्वरूपका पुरुषार्थ होना न देखनेसे ब्रह्मको प्राप्तहोनेमें स्वरूपका आविर्भाव होता है ऐसा मोक्षका उपदेश अपुरुषार्थका बोधक होगा इससे देवताआदिकी अवस्थाके समान सुखसम्बंधी अवस्थान्तरकी प्राप्ति स्वरूपकी सिद्धि वा प्रकटता है इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

अनु०—आत्मा है प्रकरणसे ॥ ३ ॥

भाष्य—स्वरूपहीसे यह आत्मा पापरहित होने आदिसे सत्यसंकल्प होनेपर्य्यन्त गुणों से युक्त है यह प्रकरणसे निश्चित होता वा सिद्ध होता है यथा प्रकरण में यह कहा है **य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः** अर्थ—जो आत्मा पापरहित जरारहित मृत्युरहित शोकरहित क्षुधारहित पिपासारहित सत्यकाम सत्यसंकल्प है यह प्रजापतिके वाक्यका क्रम है यह प्रकरण जीवात्मा विषयमें **उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु** इस सूत्रके व्याख्यानमें प्रतिपादन किया गया है इससे पापरहित होना आदि स्वरूपही यह आत्मा संसारदशामें कर्मनामक अविद्यासे तिरोहित हुआ है स्वरूप जिसका ऐसा परं ज्योति परमात्माको प्राप्त होकर आविर्भूत स्वरूप होताहै इससे पापरहित होना आदि जीवात्माके स्वाभाविक गुण परमात्मामें प्राप्त हुए आत्माके प्रकट होतेहैं उत्पन्न नहीं होते जैसे मल धोने व स्वच्छकरनेसे जो मणिमें ज्योति वा चमक होती है वह छिपाहुआ मणिहीका गुणरूप मणिहीमें प्रकट होतीहै उत्पन्न नहीं होती ऐसेही दोषनाश होनेमें ज्ञान आनन्द आदि गुण आत्माके प्रकटमात्र होते हैं ॥ ३ ॥

परमात्मासे मुक्तके विभागरहित होनेके वर्णनमें सू० ४ अधि० २ ।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

अनु०—अविभागसे दृष्ट होनेसे ॥ ४ ॥

भाष्य—अब यह विचार करनेमें कि, परंज्योतिको प्राप्त सम्बंधसे मुक्त जीवात्मा ब्रह्मही होजाता है वा ब्रह्मसे भिन्न रहता है क्या निश्चय करना चाहिये क्योंकि श्रुतिमें ऐसा वर्णन है **सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता** अर्थ—(सः) वह ब्रह्मज्ञानी (विपश्चिता ब्रह्मणा सह) परमज्ञानवान् ब्रह्मके साथ (सर्वान् कामान्) सब कामोंको (अश्नुते) भोग करताहै. तथा **यदा पश्यः पश्यति रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् तदा विद्वान् पुण्य पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति** अर्थ—(यदा पश्यः) जब देखनेवाला (रुक्मवर्णं) प्रकाशरूप (योनिं) सबके कारण (कर्तारम् ईशं ब्रह्मपुरुषं) कर्ता ईश ब्रह्म पुरुषको (पश्यति) देखता है अर्थात् ज्ञानसे प्रत्यक्ष करता है (तदा) तब (निरञ्जनः विद्वान्) माया व अज्ञानरहित विद्वान् (परमं साम्यम् उपैति) ब्रह्मकी अतिसमताको प्राप्त होता है इसप्रकारसे सम होना कहनेसे पृथक् रहना विदित होता है इसके निर्णयमें यह कहा है अविभागसे अर्थात् विभागरहित रूपसे दृष्ट होनेसे अर्थात् श्रुति

प्रमाण दृष्ट होनेसे **यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुष-मुपैति दिव्यम्** अर्थ-(यथा स्यन्दमानाः नद्यः) जैसे बहतीहुई नदियां (नामरूपे विहाय) नाम व रूपको छोडकर (समुद्रे अस्तं गच्छन्ति) समुद्रमें अदृष्ट होजाती हैं (तथा) वैसेही विद्वान् (नामरूपाद्विमुक्तः) नाम व रूप से रहित हुआ (परात् परं दिव्यं पुरुषं) उत्कृष्टसे उत्कृष्ट दिव्य पुरुषको (उपैति) प्राप्त होता है तथा **ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति** अर्थ-ब्रह्मही हो ब्रह्ममें प्राप्त होता है इत्यादि आशय यह है कि, अति साधर्म्यसे ब्रह्महीके समान ज्ञातहोनेसे पृथक् ज्ञात न होनेसे अविभागरूपसे स्थित होता है जैसे नदियां अपने जल परमाणुओंसे समुद्रमें प्राप्त भिन्न रहनेपरभी समानरूप जातिगुण होनेसे विभाग रहित रूपसे स्थित होती हैं उनका विभाग व्यवहारयोग्य नहीं होता ऐसेही मुक्त पुरुष अविभाग रूपसे स्थित होता है व्यवहारके योग्य न होनेसे अभेदप्रतिपादन है सर्वथा अभेद कहनेका आशय ग्राह्य नहीं है यह वक्ष्य-माण सूत्रों व अन्य श्रुतियों से निश्चित होता है सम व समधर्म होनेका कथन ब्रह्महीके प्रकारका जीवस्वरूप होनेसे है अर्थात् श्रुति देवताआदिकोंके प्राकृतरूपसे रहित होनेसे ब्रह्मके समान जीवकी शुद्धताको प्रतिपादन कर-तीहै और यह श्रुति ऐसे ब्रह्मप्रकाररूपही जीवात्माका प्रकारि ब्रह्मके साथ ब्रह्मगुणोंके अनुभवको प्रतिपादन करती है ब्रह्म प्रकारताहीसे मुक्तात्माके अविभाग कहनेसे **संकल्पादेव तच्छ्रुतेः** जो आगे सूत्र वर्णन किया है उसमें विरोध नहीं प्राप्त होता तथा **अधिकं तु भेदनिर्देशात् अधिको-पदेशात्** इत्यादिसूत्रों में विरोध नहीं होता अन्यथा विरोधकी प्राप्ती है यह सूत्र मुक्तकी अवस्था निरूपणमें है इसके व्याख्यान में मुक्तके परमात्मासे विभाग-रहित होनेमें जो व्याख्यान कर्ता **तत्त्वमसि ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्** इत्यादि श्रुतियोंका प्रमाण देते हैं सो यथार्थ घटित न होनेसे युक्त नहीं है क्योंकि मुक्तकी अवस्था निरूपणमात्र में उपदेश उपदेश्य उपदेशक जिज्ञासु शिष्यका सम्बंध न होनेसे तत्त्वमसि आदिके ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है मुक्ति अवस्थामात्र सम्बंधि श्रुतिवाक्योंका उदाहरण युक्त है अब आगे मुक्तके स्वरूपनिर्णय में आचार्योंके मतोंको वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

ब्रह्ममें प्राप्त हो मुक्तके ब्रह्मरूप होनेके निरूपण में

सू० ५-७ अ० ३ ।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

अनु०-ब्राह्मरूपसे प्रकट होता है यह जैमिनि आचार्य मानते हैं उपन्यासआदिसे ॥ ५ ॥

भाष्य—परं ज्योतिरूप परमात्माको प्राप्तहो तिरोधान निवृत्त हुये जीवा-त्माके स्वरूपका आविर्भाव होता है यह कहा गया अब जिस स्वरूपसे आत्मा प्रकट होता है उसके निर्णयमें आचार्योंका मत वर्णन करते हैं ब्राह्मरूपसे (ब्रह्मके रूप वा ब्रह्मसमरूपसे) प्रकट होता है अर्थात् ब्रह्मका जो रूप पापरहित होना आदि सत्यसङ्कल्पपर्य्यन्त तथा सर्वज्ञ सर्वेश्वर होना है उस अपने रूपसे प्रकट होता है यह जैमिनि आचार्य मानते हैं क्यों मानते हैं उपन्यास (स्थापन) आदिसे अर्थात् छान्दोग्यमें दहरवाक्य में पापरहित होना व सत्यसंकल्प होना आदि ब्रह्मके गुण वर्णन कियेगये हैं वही प्रजापतिवाक्यमें आत्मामें स्थापन किये गये हैं यथा **य आत्माऽपहतपाप्मा** अर्थ—जो आत्मा पापरहित है इत्यादिसे सत्यसंकल्प होने पर्य्यन्त वर्णन किया है और आदिशब्दसे सत्यसंकल्पत्व आदिके अधीन जो **जक्षन्क्रीडन्रममाणः** इत्यादि अर्थात् प्रसन्न हँसते वा नाना प्रकारके पदार्थोंका भोग करते क्रीडा करते रमता हुआ विहार करता है इत्यादि जो वाक्यमें कहा है वह ग्रहण किये जाते हैं तथा **तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति** इत्यादि अर्थ—(तस्य) उसका मुक्त आत्माका सब लोकोंमें कामचार होता है अर्थात् जिस लोकको वह सङ्कल्प वा कामना करता है वह उसको प्राप्त होता है यह ब्राह्म गुणोंके उपन्यासआदिसे ब्राह्मरूपसे मुक्त सिद्ध होता है अर्थात् ब्रह्मरूपको प्राप्त होता है ऐसा जैमिनि आचार्यका मत है ॥ ५ ॥

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडु-लोमिः ॥ ६ ॥

अनु०—चैतन्य है तदात्मक होनेसे (चैतन्यआत्मक होनेसे) उसमात्रसे (चैतन्यमात्रसे) प्रकट होता है यह औडुलोमि आचार्य मानते हैं ॥ ६ ॥

भाष्य—आत्मा चैतन्यरूप है चैतन्यमात्र स्वरूपसे प्रकट होता है यह औडुलोमि आचार्य मानते हैं किस हेतुसे चैतन्यात्मक होनेसे अर्थात् जीवात्माके चैतन्यात्मक होनेसे यथा श्रुति में कहा है **स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव विज्ञानघन एव** अर्थ—(सः) वह आत्मा (यथा सैन्धवघनः) जैसे सैन्धव लवणका पिण्ड (अनन्तरः अबाह्यः) बाहर व भीतर (कृत्स्नः) सम्पूर्ण (रसघनः) रसहीका पिण्ड है (एवं) ऐसेही (वै अरे अयम् आत्मा) निश्चयसे अरे यह आत्मा (अनन्तरः अबाह्यः कृत्स्नः) बाहर व भीतर सम्पूर्ण (प्रज्ञानघन एव) प्रज्ञानहीकी मूर्ति है अर्थात् विज्ञानमूर्तिही

है इस श्रुतिवाक्यसे विज्ञानमात्रही इस आत्माका स्वरूप है यह सिद्ध होता है इससे इसमें अन्य गुण मुख्य न होनेसे पापरहित होना आदि शब्द विकार सुख दुःखआदि अविद्याआत्मक धर्मोंकी व्यावृत्तिके लिये अर्थात् निवारण करनेके लिये हैं इससे चैतन्य (ज्ञान) मात्रस्वरूपसे आविर्भाव होता है यह औडुलोमि आचार्यका मत है अब महात्मा बादरायण अपने मतसे सिद्धान्तको वर्णन करते हैं ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

अनु०—ऐसा माननेमें भी उपन्याससे (स्थापनसे) पूर्वभावसे विरोध नहीं है यह बादरायण आचार्य मानते हैं ॥ ७ ॥

भाष्य—ऐसा मानने में भी अर्थात् विज्ञानमात्र स्वरूप मानने वा प्रतिपादन करनेमें भी सत्यकामत्वआदि गुणोंके पूर्वमें होनेसे अर्थात् पूर्वमें कहेहुये सत्यकामत्वआदि गुणोंमें विरोध नहीं है यह बादरायण आचार्य मानते हैं किस हेतुसे उपन्याससे पूर्वहोनेसे अर्थात् उपन्यास : प्रमाणसे सिद्ध पूर्वमें कहे हुये समान प्रमाणवाले पापरहित होना सत्यसंकल्प होना आदि गुणोंके विद्यमान होने से अर्थात् विज्ञानघन होनेके प्रमाणके तुल्य प्रमाणवाले सत्यकामत्वआदिकोंके विद्यमान होनेसे उनमें विरोध वा बाधा नहीं होसक्ती अब विज्ञानमात्र होना अंगीकार करनेमें भी विरोध नहीं है ऐसा कहनेसे विज्ञानमात्रही आत्माका स्वरूप होना अंगीकारनेका अभिप्राय है ऐसा न समझना चाहिये अर्थात् विज्ञानघन ही है इत्यादि कहनेसे ज्ञानमात्रही है अन्य कुछ नहीं हैं ऐसा अर्थ प्रतिपादन नहीं कियाजाता विज्ञानघनही है अर्थात् विज्ञानमूर्तिही है यह कहनेका आशय यह है कि, सम्पूर्ण आत्मा ज्ञानस्वरूपही है जड वस्तुका व जडताका कुछभी सम्बंध उसके स्वरूपमें नहीं है आपही ज्ञान वा प्रकाशस्वरूप है उसका प्रकाश अन्यके अधीन नहीं है यही अर्थ वाक्यसे भी व्यक्त होता है **स यथा सैन्धवघनः** इत्यादि इस उक्त वाक्यका अर्थ यह है कि, जैसे सैन्धव लवणका पिण्ड बाहर भीतर सब रसमूर्तिही है ऐसेही यह आत्मा बाहर भीतर सब प्रज्ञानमूर्ति ही है इसप्रकारसे धर्मी स्वरूप जीवात्माके सम्पूर्ण विज्ञानमूर्ति होनेमें जो पापरहित होना सत्यसंकल्पहोना आदि धर्मोंका सम्बंध अन्यवाक्यसे सिद्ध होता है उसमें विरोध नहीं होता जैसे सैन्धवका पिण्ड सम्पूर्ण रसरूप होनेसे रसना (जिह्वा) इंद्रियसे ज्ञात होनेमें नेत्रआदिसे ज्ञात वा प्रत्यक्ष हुये रूप व काठिन्य (कठिनता) आदिमें विरोध नहीं प्राप्त होता रूप काठिन्यआदि भी सत्य हैं ऐसेही प्रज्ञानघनमें पापरहित होनाआदि समझना चाहिये वाक्यका तात्पर्य यह है कि, जैसे रस-

वान् आम्रफल आदिकोंमें त्वक् (बकला) आदिमें रसविशेष नहीं होता ऐसा सैन्धव में नहीं है सैन्धवपिण्ड सब भीतर बाहर एकही रसमय है ऐसेही आत्मा सब विज्ञानस्वरूपही है अर्थात् स्वप्रकाशस्वरूप (अपनेही प्रकाशसे प्रकाशितस्वरूप) है ॥ ७ ॥

मुक्तोंके संकल्पसे भोग्य वस्तु प्राप्त होनेके वर्णन में सू० ८ व ९ अधि० ४ ।

सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

अनु०–संकल्पहीसे उसकी (सङ्कल्पसे होनेकी) श्रुतिसे ॥ ८ ॥

भाष्य–मुक्त पुरुष परब्रह्ममें प्राप्त होकर ज्ञानस्वरूप पापरहित होना आदिसे सत्यसङ्कल्प होनेपर्य्यन्त गुणोंसे युक्त होता है ऐसा वर्णन किया गया अब श्रुतिमें मुक्तके संकल्पसे हुये कार्य इस प्रकारसे वर्णित हैं **स तत्र पर्य्येति जक्षन्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा** अर्थ–वह मुक्तात्मा वहां ब्रह्मलोकमें हंसते हुये प्रसन्न स्त्रियोंके साथ वा अपने सम्बंधीजनोंके साथ क्रीडा करता हुआ वाहनोंमें सब दिशाओं व स्थानोंमें विहार करता है इसमें यह जाननेकी इच्छा होती है कि, मुक्तको जो ज्ञाति विमानआदि की प्राप्ति होती है उसमें कोई प्रयत्न करनेकी आवश्यकता होतीहै अथवा जैसे परमेश्वरकी इच्छामात्र से सब सृष्टि होतीहै ऐसेही जिस पदार्थकी मुक्त पुरुष इच्छा करताहै वह इच्छा-मात्रसे प्राप्तहोताहै लोकमें यह देखनेसे कि, राजाआदि जो कार्यकरनेमें समर्थ हैं वह किसी कार्यके सिद्धकरनेमें आप वा अपने भृत्यद्वारा प्रयत्न अवश्य करतेहैं ऐसेही मुक्तको प्रयत्नकरनेकी आवश्यकता होना अनुमान कियाजाताहै परन्तु निश्चय नहीं होता कि, सिद्धान्त क्या है इससे सिद्धान्त विज्ञापनके लिये यह कहाहै कि, सङ्कल्पहीसे अर्थात् सङ्कल्पहीसे सब पदार्थ प्राप्त होतेहैं किस प्रमाणसे संकल्पसे होनेकी श्रुति होनेसे श्रुति यह है **स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति** अर्थ–जो वह मुक्त पितृलोक की इच्छा करनेवाला होताहै अर्थात् पिताजनोंकी इच्छा करता है तो उसके सङ्कल्प-हीसे पितर उठते हैं अर्थात् प्रकट होते हैं ऐसेही सब भोग्य पदार्थोंके लिये इस श्रुतिके आगे छान्दोग्यमें वर्णन किया है कि, मातृलोक स्त्रीलोक वादित्र (बाजा) गान विमान जिस जिसकी इच्छा करता है मुक्तके सङ्कल्पहीसे सब प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

---

१ यह छान्दोग्यकी श्रुति है ।

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

अनु०-इसीसे अनन्याधिपति है ॥ ९ ॥

भाष्य-मुक्त जो संकल्प करता है वही प्राप्त होता है इसीसे मुक्त अनन्याधिपति है जिसका कोई अधिपति (स्वामी) न हो उसको अनन्याधिपति कहते हैं जिसका कोई अधिपति होताहै वह विधि निषेधके योग्य होता है विधि निषेधके योग्य होनेमें संकल्प पूर्ण होनेमें बाधा होती है पराधीन कभी सत्यसंकल्प नहीं होसक्ता मुक्त पुरुष को परब्रह्म स्वतंत्र अपने समान सत्यसङ्कल्प करता है इससे अनन्याधिपति होता है इसीसे श्रुतिमें कहा है **स स्वराड् भवति** अर्थ-वह मुक्त आपही ऐश्वर्यवान् राजा होता है ईश्वर अपने उपासकको अनुग्रहसे स्वतंत्र परम सामर्थ्यवान् करता है मुक्तब्रह्मको अपना आत्मारूप अभिन्नभावसे देखाता है अन्य कोई सांसारिक उसके समान समर्थ नहीं होता इससे ब्रह्मसे अभेदभाव ग्रहणकरके उपचारसे अनन्याधिपति कहा है ॥ ९ ॥

मुक्तपुरुषके शरीरआदि होने वा न होनेके निर्णयमें

सू० १०-१५ अ० ५।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

अनु०-अभावको बादरि आचार्य कहते हैं जिससे कि, श्रुति ऐसे ही कहती है ॥ १० ॥

भाष्य-मुक्त पुरुषके शरीर व इंद्रिय होते हैं अथवा नहीं होते इस विषय में प्रथम बादरि आचार्यका मत वर्णन करते हैं बादरि आचार्य शरीर व इन्द्रियोंका अभाव (न होना) कहते हैं जिससे कि, श्रुति ऐसेही कहती है अर्थात् इस हेतुसे कि, श्रुतिमें ऐसेही वर्णन है श्रुतिमें कहा है **अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः** अर्थ-शरीररहित सन्तको दुःख सुख स्पर्श नहीं करते इससे दुःख सुखरहित मुक्तका शरीररहित होना ज्ञात होताहै और मुक्तके विषय में ऐसा भी श्रुतिमें वर्णन है **मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते ब्रह्मलोके** अर्थ-मनसे इन कामों को देखते हुये ब्रह्मलोकमें रमता है इससे भी शरीर इन्द्रियोंका न होना विदित होता है क्योंकि जो शरीर इन्द्रिय होते तो मनसे देखता हुआ रमता है ऐसा विशेषण नहीं होता इससे मोक्षमें शरीर व इन्द्रियोंका अभाव है ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

अनु०-भावको जैमिनि आचार्य मानते हैं विकल्प श्रुति में कहनेसे ॥ ११ ॥

भाष्य-जैमिनि आचार्य मनके समान मुक्त पुरुषके शरीर वइन्द्रियोंके भावको (होनेको) मानते हैं क्यों मानते हैं श्रुतिमें विकल्प वर्णन होनेसे यथा श्रुतिमें कहा है **सएकधा भवति त्रिधा भवति पंचधा भवति सप्तधा भवति** अर्थ-वह एक प्रकार का होता है तीन प्रकारका पांच प्रकारका होता है सात प्रकारका होता है एक अखण्ड आत्माका अनेक प्रकार का होना असंभव है शरीरसम्बंधहीसे अनेक होना संभव है इससे शरीर व इन्द्रियसहित आत्मा रहता है जो अशरीर होना कहा है वह कर्मनिमित्तसे हुये शरीरके अभावको कहा है क्योंकि वही शरीर सुख दुःख का हेतु है अब बादरायण अपने मतसे सिद्धान्तको वर्णन करते हैं ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

अनु०-इससे बादरायण आचार्य द्वादशाहके समान दोनों प्रकारसे मानते हैं ॥ १२ ॥

भाष्य-इससे दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके होनेसे बादरायण आचार्य (व्यासजी) दोनों प्रकारसे मानते हैं जब मुक्त शरीरसहित होनेको सङ्कल्प करता है तब शरीररहित होता है जब शरीररहित होनेका सङ्कल्प करता है तब शरीरयुक्त होता है इससे दोनोंप्रकारकी श्रुति चरितार्थ होती हैं जैसे श्रुतिमें द्वादशाह (बारह दिनके) यज्ञका विधान किया है बहुत यजमानोंके सङ्कल्पसे व एक यजमानके सङ्कल्पसे दोनों प्रकारसे द्वादशाह होता है जो बहुत यजमानोंके सङ्कल्पसे होताहै उसको सत्र और जो एकके सङ्कल्पसे होताहै उसको अहीन कहते हैं दोनों प्रकारके विधानमें यह वाक्य है **द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयुः** अर्थ- (ऋद्धिकामाः) ऋद्धिकी इच्छा करनेवाले (द्वादशाहम् उपेयुः) द्वादशाहको यजन करें तथा **द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्** अर्थ- (प्रजाकामं) प्रजाकी इच्छाकरनेवालेको (द्वादशाहेन याजयेत्) द्वादशाहसे यजन करावै दोनों प्रकारकी विधिसे संकल्पभेदसे सत्र अथवा अहीन द्वादशाह होताहै ऐसेही मुक्तका संकल्पभेदसे सशरीर व अशरीर होनेसे निश्चय करना चाहिये अपने संकल्पहीसे उत्पन्न कियेहुये शरीर व इन्द्रियोंसे शरीर व इन्द्रियवान् होने व सङ्कल्पहीसे शरीरआदिसे रहित होनेसे एकही प्रकारसे रहनेका नियम नहीं है ॥ १२ ॥

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

अनु०-तनुके अभावमें स्वप्नके समान संभव होनेसे ॥ १३ ॥

भाष्य-जब मुक्तके इन्द्रियोंसहित तनु (शरीर) नहीं होता तब जैसे स्वप्नमें विना शरीर व इन्द्रियोंके अनेक प्रकारके पदार्थ देखता व भोग

करता है ऐसेही मुक्त इच्छा करता व अनेक सुख फलदायक पदार्थोंको प्राप्त होता है स्वप्नके समान होना क्यों निश्चय किया जाता है संभव होनेसे अर्थात् स्वप्नके समान अनुमानसे संभव होनेसे ऐसा निश्चय किया जाता है ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

अनु०-भावमें (होनेमें) जाग्रत्के समान ॥ १४ ॥

भाष्य-शरीर व इंद्रियोंके होनेमें जैसे जागनेकी अवस्थामें जीव शरीर व इन्द्रियोंके सम्बन्ध से अनेकप्रकारके भोग करते हैं ऐसेही मुक्त अपने संकल्पसे अनेक प्रकारके पदार्थोंको प्राप्तकरके आनन्दभोग करताहै अब इस शंकाकी प्राप्ति है कि, श्रुतिमें जो मुक्तको ऐसा वर्णन कियाहै कि, दो तीन आदि अनेक प्रकारसे होताहै एक जीवका अनेक शरीर धारण करना अनेक प्रकारका होना संभव नहीं होता इसका समाधान वर्णनकरते हैं ॥ १४ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

अनु०-प्रदीपके समान आवेश होताहै जिससे वैसेही श्रुति जनातीहै ॥ १५ ॥

भाष्य-जैसे एकही देशमें वर्तमान प्रदीप अपनी प्रभासे अन्यदेशमें आवेश करताहै अर्थात् प्रवेशकरता वा प्राप्त होता है ऐसेही प्रदीपके प्रवेशके समान आत्माका प्रवेश समझनाचाहिये एक देशमेंभी स्थित आत्मा अपने प्रकाशरूप चैतन्यसे अन्यदेशके पदार्थोंमें प्राप्त व उनमें प्रवेश करताहै जैसे एकही देहमें हृदयआदि एकदेशवर्ती होनेपरभी अपने चैतन्य गुणकी व्याप्तिसे जीवात्मा सब देहका अभिमानी होताहै ऐसेही मुक्तमें एक देशमें स्थित होनेमें अनेक देशमें व्यापक होना समझना चाहिये बद्ध व मुक्तमें इतनी विशेषता है कि, बद्धका ज्ञान कर्मोंसे संकुचित देहके भीतर ही रहता है आत्माके अभिमान व संकल्प अनुसार अन्य देहोंमें व्याप्त नहीं होता मुक्त पुरुष जिसका ज्ञान संकुचित नहीं है वह यथासङ्कल्प अन्य देहों व अन्य देशोंमें व्याप्त होता है इससे एक जीवका अनेक शरीरोंमें व्यापक होना असंभव व अयुक्त नहीं है ऐसेही श्रुति वर्णन करती है **वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते** अर्थ -वालके अग्रभागके सौ भाग किये हुयेमें से जो एक भाग है वह सौ भागसे कल्पना किये गये का जो भाग है अर्थात् उसके सौ भागमें से जो उसका एक भाग है वह जीव जानने योग्य है अर्थात् उस परिमाणका जीव है वही जीव अनन्त होनेके लिये कल्पना किया जाता है बद्धका कर्म नियामक होता है अविद्याग्रस्त अवस्थामें वालके अग्रभागका दशसहस्रवां भाग जीवका परिमाण कहाहै वही अणुपरिमाणवाला जीव ब्रह्मज्ञान होनेसे ब्रह्मको प्राप्त होनेमें

अनन्त होनेके लिये कल्पना किया जाता है अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिसे सर्वत्र ज्ञान प्राप्त होनेसे अनंत ज्ञानवाला होताहै उसके ज्ञानके कहीं न रुकने व कोई उसकी सीमा ज्ञात न होनेसे अनन्त होनेके लिये कल्पना कियाजाताहै अब इस शङ्काकी प्राप्ति है कि, जो परब्रह्मको प्राप्तहोताहै वह सर्वथा ज्ञानरहित होजाताहै बाहर भीतर कुछ नहीं जानता ऐसा श्रुतिमें कहाहै यथा **प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्** अर्थ-यह जीव प्राज्ञ आत्मासे अर्थात् परमात्मा से मिलाहुआ न बाहर कुछ जानता है न भीतर जानता है जब परमात्मामें मिलनेसे सब ज्ञानका लोप होना श्रुति कहती है तब मुक्तका सर्वज्ञ होना कैसे वाच्य होसक्ताहै इसका उत्तर वर्णन करते हैं ॥ १५ ॥

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतंहि ॥ १६ ॥

अनु०-सुषुप्ति व मरण दोनोंमेंसे अन्यकी अपेक्षा करिकै अर्थात् इन दोमेंसे एकके आशयको लेकर यह वचन है जिस्से कि, व्यक्तकियागया है ॥ १६ ॥

भाष्य-श्रुतिमें जो ब्रह्मकी प्राप्तिमें ज्ञानका लोपहोना व बाहर भीतर कुछ न जानना कहाहै यह वचन सुषुप्ति व मरण दोमेंसे किसीएक अन्यकी अपेक्षासे कहाहै अर्थात् कहीं सुषुप्तिके विषयमें कहीं मरणके विषयमें कहा है मुक्तके विषयमें यह वचन नहीं है किस हेतुसे नहीं है जिससे कि, मुक्तका सर्वज्ञत्व श्रुतिसे व्यक्त वा प्रकट किया गया है जो यह संशय हो कि, सम्पत्तिशब्दका अर्थ प्रायः लीन होनेका ग्रहण किया जाता है मरणका अर्थ कैसे होसक्ता है तो मरणमें भी सब इन्द्रियोंका क्रमसे एक दूसरेमें प्राप्त होने वा लीन होनेमें सम्पत्ति होनेका प्रयोग है इससे मरण भी सम्पत्तिशब्दसे वाच्य है यथा **वाङ्मनसि सम्पद्यते** अर्थ--वाक् मनमें लीन होती है इत्यादि मरणवर्णनविषयक श्रुतिवाक्यमें सम्पद्यते शब्द जो सम्पत्ति होनेके अर्थका वाचक है देखाजाता है सुषुप्ति व मरणहीमें ज्ञानका लोप होना इस वाक्यसे निश्चय करना चाहिये कि, छान्दोग्यमें प्रजापतिने इन्द्रको आत्माका ऐसा उपदेश किया है कि, जो सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त प्रसन्न जब स्वप्नको भी नहीं देखता सब इन्द्रियोंरहित शान्त स्थित होता है वह आत्मा है इन्द्र सुनकर चले गये फिर यह दोष विचारकर कि, जब सुषुप्तिमें न अपनेको जानता है न अन्य भूतोंको जानता है तो विनाशहीको प्राप्त होजाता है वा नष्टके समान होजाता है इससे सुषुप्त आत्मा जाननेसे कुछ फल मैं नहीं देखताहूं ऐसा विचार कर फिर इन्द्र प्रजापतिके पास गये इत्यादि इस प्रकारसे सुषुप्ति समयमें ज्ञानरहित होना कहा है इसी इन्द्रके उपदेशवाक्यमें मुक्तके अधिकारमें ऐसा वर्णन किया है **स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते ब्रह्म-**

लोके अर्थ-(सः वै एषः) वह यह मुक्त आत्मा (दिव्येन चक्षुषा) दिव्यनेत्रसे (मनसा एतान् कामान् पश्यन्) मनसे इन कामोंको काम्य पदार्थोंको देखते हुये (ब्रह्मलोके रमते) ब्रह्मलोकमें रमता है तथा **सर्वं पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति** अर्थ- (पश्यः) देखनेवाला आत्मा (सर्वं पश्यति) सबको देखता है (सर्वशः सर्वम् आप्नोति) सब प्रकारसे सबको प्राप्त होता है इस प्रकारसे आत्माको सर्वज्ञ होना वर्णन किया है मरण में बोधरहित होनेके वर्णन में यह वाक्य है **एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति** अर्थ-(एतेभ्यः भूतेभ्यः समुत्थाय) इन भूतोंसे उठकर अर्थात् शरीर को त्यागकर पृथिवीआदि भूतोंसे पृथक् होकर (तानि एव) उनही भूतोंको जिनके संगमें प्राप्त रहा व उनसे अलग हुआ (अनुविनश्यति) पीछे नहीं देखता है अर्थात् नहीं जानता है इससे प्राज्ञसे मिला हुआ बाहर भीतर कुछ नहीं जानता है यह वचन सुषुप्ति वा मरणके विषयमें है इस सूत्रका ऐसा भी व्याख्यान करते हैं कि, देखना व विहार करना आदि जो वर्णन है इसमें यह शंका प्राप्त होती है कि, ऐसे श्रुतिवाक्य जो हैं कि, **यत्र त्वस्य स[illegible]त्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं विजानीयात्** अर्थ-जिस अवस्थामें [illegible] ज्ञानीका आत्मारूपही होगया कोई भेद न रहा तब किससे [illegible] वे किससे किसको जाने इत्यादि तथा उक्त श्रुतिमें जैसा कहा [illegible] अन्य[illegible] आत्मासे मिलाहुआ बाहर भीतर कुछ नहीं जानता इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें प्राप्त मुक्तका अनेकरूप होना विरुद्ध प्रतीत होता है इसके उत्तरमें सूत्रमें यह कहा है कि, सुषुप्ति व कैवल्य मोक्ष दोनोंमेंसे अन्य अवस्थाकी अपेक्षा करके यह अन्यके ज्ञान न होनेका वचन है जैसा कि, किससे किसको देखे प्राज्ञ आत्मामें मिला किसीको नहीं जानता ब्रह्मही हो ब्रह्ममें लीन होता है ऐसा श्रुतिवाक्योंसे व्यक्त किया गया है यह जो मुक्तोंके अनेक शरीर धारणकरने व पदार्थोंके भोग करनेका वर्णन है यह कार्यब्रह्मके उपासन अपराविद्या के फलमें स्वर्गआदि भोग व ऐश्वर्यका वर्णन है कैवल्यका वर्णन नहीं है ऐसा व्याख्यान युक्त नहीं है क्योंकि सुषुप्तिमें अज्ञान अवस्थामें प्राज्ञमें मिलनेसे अन्यका ज्ञान न होना संभव है परन्तु अविद्यासे निवृत्त हुआ ब्रह्ममें प्राप्तहुआ मुक्त जो ऐसा होता है कि, कुछ नहीं जानता तो मोक्षअवस्था निकृष्टहोना सिद्ध होगी जो कैवल्यमें ब्रह्मरूपही मुक्तका होना मानाजाय तो सर्वज्ञ होनाचाहिये अज्ञ न होना चाहिये और त्रिकालज्ञ होनेसे यहभी ज्ञान होना चाहिये कि, अमुकनामक शरीरधारी मैं अब ब्रह्म हूं जो यह कहाजाय कि, सब आत्मस्वरूप देखनेसे कुछ आत्मासे पृथक् न होनेसे अन्यको नहीं जानता तो इसी न्यायसे श्रुतिसे सब जगत् ब्रह्मात्मक सिद्ध होने व ब्रह्मसे भिन्न न होनेसे ब्रह्मकोभी किसी पदार्थका ज्ञान न होना चाहिये ऐसा होनेमें ब्रह्मकी सर्वज्ञतामात्रमें हानि न होगी सर्वथा ब्रह्म होनेमें ज्ञान-

स्वरूप ब्रह्मका नाशही होना सिद्ध होगा इससे मुक्तको ज्ञान न होना दूसरेको न जानना कहना असङ्गत है किससे किसको देखे इसका आशय यह नहीं है कि, कोई वस्तुही नहीं है कि, जिसको देखे आशय यह है कि, ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मके ध्यान व प्रेममें मग्न ब्रह्मसे भिन्न अपनेको नहीं समझता और सबको ब्रह्मात्मक देखता है तब मुख्यता ब्रह्मकी होनेसे और ब्रह्मभिन्न कुछ न होनेसे अन्यको न होनेके समान जानकर सब ब्रह्म वा आत्माही है ऐसा अनुभव करता है ऐसेही कहीं उपचार व कहीं मुख्य अर्थसे ऐसी श्रुतियोंका अर्थ ग्रहण करना चाहिये इससे सूत्रका पूर्वही व्याख्यान युक्त है ॥ १६ ॥

मुक्तके ऐश्वर्य व भोगवर्णनमें सू० १७–२२ अ० ६ ।

जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

अनु०–जगत् आदि व्यापारको वर्जकरके प्रकरणसे व सन्निहित न होनेसे ॥ १७ ॥

भाष्य–मुक्तके सत्यसंकल्प सत्यकाम होना सुननेसे यह संशय होता है कि, मुक्तमें ब्रह्मके समान सृष्टि उत्पत्ति करने आदिका भी सामर्थ्य होता है वा नहीं होता क्योंकि सत्यसंकल्प होनेमें जगत्की उत्पत्ति आदिकी भी शक्ति होना संभव है और श्रुतिमें भी **निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति** अर्थ–निरंजन अविद्यारहित मुक्त परमात्माके साथ परम समताको प्राप्त होता है परन्तु सृष्टि उत्पत्ति वर्णन करनेवाली श्रुतियोंमें ब्रह्महीसे उत्पत्तिआदिका वर्णन है इस संशयनिवृत्ति करनेके लिये यह कहा है कि, जगत्व्यापारको वर्जके अर्थात् जगत् की उत्पत्ति स्थिति व नाशको छोडके सम्पूर्ण तिरोधान जिसका नष्ट होगया है ऐसे मुक्तका ब्रह्मका अनुभवरूप ऐश्वर्य प्राप्त होता है ब्रह्मके अनुग्रहसे सत्यसंकल्पत्वआदि की भोग्य भौतिक पदार्थोंमें प्राप्ति होती है भूतसृष्टिमें मुक्तोंकी शक्ति नहीं होती अर्थात् वह अपने सङ्कल्पसे महत्तत्त्वआदि व आकाशआदि भूतोंको आदिसृष्टिमें उत्पन्न नहीं कर सकते यह कैसे निश्चित होताहै प्रकरणसे व सन्निहित न होनेसे अर्थात् जगत्के नियम करने व उत्पत्तिआदि वर्णनके प्रकरणमें परब्रह्महीसे उत्पत्तिआदिका वर्णन है यथा **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म**[1] अर्थ–जिससे यह सब भूत उत्पन्न होतेहैं जिससे उत्पन्न हुए जीते हैं जिसमें जाते व लीन होतेहैं उसके जाननेकी इच्छा कर वह ब्रह्म है तथा **सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**[2] अर्थ–हे सौम्य! इस सृष्टिसे पहिले यह जगत् सत्शब्दवाच्य एक ब्रह्मही अद्वितीय था ऐसा कहकर **तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय तत्तेजोऽसृजत**[3] अर्थ–उसने ईक्षा किया मैं बहुत होऊं उत्पन्न होऊं उसने तेजको उत्पन्न किया तथा सृष्टिसे पहिले एक ब्रह्मही था ऐसा कहकर यह वर्णन कियाहै **सऐक्षत**[4]

---

१ यह तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति है । २–३ यह छान्दोग्य की श्रुति है । ४ यह ऐतरेयकी श्रुति है ।

लोकान्नुसृजा इति स इमाँल्लोकानसृजत अर्थ-उसने ईक्षा किया कि, लोकोंको उत्पन्न करूं उसने इन लोकोंको उत्पन्न किया इत्यादि श्रुति-योंमें ब्रह्महीसे जगत् की उत्पत्तिआदिका वर्णन है और यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरः इत्यादि अर्थ-जो पृथिवीमें रहता हुआ पृथिवी के मध्यमें विद्यमान है यहांसे आरंभ करिके य आत्मनि तिष्ठन् अर्थ-जो आत्मामें रहता हुआ विद्यमान है इस प्रकारसे पृथिवीआदि भूतों व आत्मा व सम्पूर्ण जगत्के पदार्थोंका उत्पन्न करनेवाला सबका नियम करनेवाला सबका अन्तर्यामी प्रकरणमें वर्णन किया गया है इससे और सन्नि-हित न होनेसे अर्थात् इन सृष्टि उत्पत्तिआदि व सम्पूर्ण जगत्के नियम करनेआदि प्रसंगों में मुक्तका सन्निधान (योग व समीपता) नहीं है मुक्तके सन्निहित न होनेसे जगत्व्यापारको मुक्त नहीं करसक्ता यह सिद्धान्त है ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशान्नेतिचेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः१८

अनु०-प्रत्यक्ष उपदेश होनेसे नहीं है यह कहा जाय नहीं आधिकारिक मण्डलों में स्थित भोगोंके कहनेसे ॥ १८॥

भाष्य-श्रुतियोंमें ऐसा वर्णन है स स्वराड्भवति अर्थ-वह अर्थात् मुक्त आ-पही ऐश्वर्यवान् राजा होताहै तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति अर्थ-उसका सब लोकोंमें कामचार होताहै अर्थात् उसको सब लोक इच्छामात्रसे प्राप्त होतेहैं इसप्रकारसे प्रत्यक्षसे श्रुति मुक्तका जगत्व्यापारमें समर्थ हो-ना वर्णन करतीहै आपही स्वतंत्र ऐश्वर्यवान् विराजमान कहती है इससे जगत्व्यापार वर्जके यह कहना युक्त नहीं है जो ऐसी शंका हो वा ऐसा कहाजाय तो इसका उत्तर यह है कि नहीं. अधिकारिकोंके (अधिकारोंमें नियुक्त ब्रह्माआदिकोंके) मण्डलोंमें (लोकोंमें) स्थित जो भोग हैं उनके कह-नेसे अर्थात् ब्रह्माआदि लोकोंमें प्राप्त जो भोग हैं वह सब मुक्तके संकल्पमा-त्रसे प्राप्तहोनेसे अतिउत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्तहोनेसे उसको आपही ऐश्वर्यवान् व सब लोकोंमें कामचार होताहै ऐसा कहाहै जगत्व्यापारमें समर्थ हो-नेसे नहीं कहा अब यह शंका है कि,जो संसारी पुरुषोंके समान मुक्तभी सांसारिक विषयोंके समान विकारके अन्तर्वर्ती भोगोंको भोग करताहै तो बद्धसंसारी जीवके भोगके समान मुक्तकेभी भोग्य पदार्थ नाशवान् व अल्प होना चाहिये इसका समाधान आगे सूत्रमें वर्णन करतेहैं ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितमाह ॥ १९ ॥

अनु०-विकारावर्ति भी वैसे ही स्थितिको श्रुति कहतीहै १९

भाष्य-विकार जो जन्मआदिक है उसमें जो वर्तमान न हो वह विकारावर्ति है सम्पूर्ण विकाररहित सम्पूर्ण कल्याण गुणोंका स्थान जिससे अधिक और कोई आनन्द नहीं है ऐसा अतिशय आनन्दस्वरूप विभूतिसंयुक्त सकल कल्याणगुणरूप परब्रह्मको मुक्त अनुभव करता है उस परब्रह्मकी विभूति

(ऐश्वर्य) के अन्तर्गत होनेसे सब विकारवर्ति लोकभी मुक्तको भोग्य होते हैं क्योंकि वैसेही परब्रह्म निर्विकार जिससे अधिक आनन्द नहीं है ऐसे आनन्दरूपमें अनुभव करतेहुये मुक्तकी स्थितिको श्रुति वर्णन करती है यथा तैत्तिरीय उपनिषद्में यह श्रुति है **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति रसो वै सः रसो ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति** अर्थ-(यदा हि एव) जबही (एषः) यह जीवात्मा (एतस्मिन् अदृश्ये) इस निर्विकार (अनात्म्ये) शरीररहित (अनिरुक्ते) आकृतिरूपसे वाच्य नहीं (अनिलयने) आश्रयरहित सर्वाधार ब्रह्ममें (प्रतिष्ठाम् अभयं) स्थितिको अभयको (विन्दते) लाभकरता है अर्थात् निर्भयताके साथ ब्रह्ममें स्थितिको प्राप्त होता है इसके अनन्तर (सः अभयं गतः भवति) वह ब्रह्ममें प्राप्त पुरुष मुक्तिको प्राप्त होता है (सः वै रसः) वह अर्थात ब्रह्म निश्चयसे आनन्दरसरूप है (रसः हि एव) आनन्दरस सब प्रकारसे तृप्तिके हेतुरूप ब्रह्महीको (लब्ध्वा) पाकर (आनन्दी भवति) आनन्दयुक्त होता है इत्यादि श्रुतियां मुक्तकी ब्रह्ममें स्थिति होनेको वर्णन करती हैं ब्रह्मकी विभूतिरूप जगत् ब्रह्महीमें वर्तमान रहता है यथा यह श्रुति है **तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे** इत्यादि अर्थ-(तस्मिन्) उस ब्रह्ममें (सर्वे लोकाः श्रिताः) सब लोक आश्रित हैं अर्थात् ब्रह्मही आधार में स्थित हैं इत्यादि इससे विभूतिसंयुक्त ब्रह्मरूपको अनुभव करता हुआ मुक्त पुरुष विकारके अन्तर वर्तमान आधिकारिकोंके लोकों में प्राप्त भोगोंको भी भोग करता है इससे सब लोकोंमें कामचार होता है इत्यादि शब्दसे मुक्तका सङ्कल्पहीमात्रसे भोग होना कहा जाता है मुक्तका व्यापार जगत् होना वर्णित नहीं है ॥ १९ ॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

अनु०-ऐसेही श्रुति स्मृति जनाती वा वर्णन करती हैं ॥ २० ॥

भाष्य-यह मुक्त जीवात्मा जो परब्रह्मसे नियम्य (नियममें प्राप्तकियेजानेयोग्य) है उससे ऐसे महान् जगत् व्यापाररूप नियमका होना संभव नहीं होताहै सबके नियन्ता ब्रह्महीका यह जगद्व्यापार है ऐसेही श्रुति स्मृति वर्णन करतीहैं यथा **भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः** अर्थ- इस ब्रह्मके भयसे वायु सबको पवित्र करता वा अपना कार्य करताहै इसके भयसे सूर्य उदय होताहै इसके भयसे अग्नि व इन्द्र अपना अपना कार्य करतेहैं और पाँचवें मृत्यु दौडताहै नियत कालमें सब प्राणियोंके निकट जाताहै अपने नियतकार्यको करताहै अथवा जिसपर परमेश्वरकी अनुग्रह है उससे मृत्युभी भयसे दूर भागताहै उसका मृत्यु कुछ नहीं करसक्ता तथा **एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः** इत्यादि अर्थ-हे गार्गि ! इस अविनाशी व्यापक

१ जो देखने योग्य न हो उसको अदृश्य कहतेहैं विकारवान् शरीरआदि युक्तही देखने योग्य होताहै इससे निर्विकार यह अर्थ लिखागयाहै ।

ब्रह्मकी आज्ञामें धारण किये गये सूर्य व चन्द्रमा स्थित रहते हैं इत्यादि तथा मनुस्मृतिका यह वाक्य है **ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् । महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः** अर्थ–(ततः) उसके अनन्तर अर्थात् प्रलयके अन्त होनेपर (वृत्तौजाः) नहीं रोकको प्राप्त है ओज अर्थात् सृष्टिसामर्थ्य जिसका (ऐसा तमोनुदः) प्रकृतिका प्रेरक (स्वयंभूः) अपनी इच्छासे प्रकट होनेवाला किसीसे उत्पन्न नहीं (अव्यक्तः) अतिसूक्ष्म बाह्य इन्द्रियोंसे जानने योग्य नहीं (भगवान्) परमात्मा (इदं महाभूतादि) इस महाभूत आकाशआदिरूप जगत् को (व्यञ्जयन्) प्रकटकरता हुआ अर्थात् सूक्ष्म अवस्था में प्राप्तको स्थूलरूपसे प्रकाशित करता हुआ (प्रादुरासीत्) प्रकाशित हुआ परमात्माको प्रकाशित हुआ कहनेका यह आशय है कि, सृष्टिही द्वारा उसके होनेका निश्चय होता है इससे यह कहा है कि, महाभूतोंको प्रकाशित करता हुआ प्रकाशित वा प्रकटहुआ इससे परब्रह्महीसे जगत्का उत्पन्न होना सिद्धहोता है मुक्तको जगत्की सृष्टिआदिका सामर्थ्य नहीं होता और मुक्तको सत्यसङ्कल्पत्वआदिपूर्वक जो आनन्द होता है वह परब्रह्महीके अनुग्रह वा नियमसे होताहै उसमेंभी कारण ब्रह्मही है यह श्रुति वर्णन करती है श्रुति यह है **एष ह्येवानन्दयाति** अर्थ–यह ब्रह्मही आनन्दित करताहै इत्यादि इससे यद्यपि पापरहित होनाआदि सत्यसङ्कल्पहोना पर्य्यन्त गुणगण स्वाभाविक ही जीवात्माके मोक्षमें प्रकट होतेहैं तथापि जीवका ऐसा होना परब्रह्मके आधीन है उसके उपासनहीसे मोक्ष अवस्था प्राप्तहोनेसे मोक्षमेंभी आधीन होना अनुमित होने व श्रुतिसे निश्चित होनेसे जगत्व्यापारकी शक्तिरहित मुक्तका सत्यसङ्कल्पहोना व परब्रह्मके सम होना सिद्ध होताहै ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च ॥ २१ ॥

अनु०–भोगमात्र समहोनेके लिङ्गसे ॥ २१ ॥

भाष्य–भोगमात्रमें ब्रह्मकी समता श्रुतिमें प्रतिपादन होनेके लिङ्गसे (चिह्न वा लक्षणसे जगत् उत्पन्नकरनेआदिका सामर्थ्यरहित मुक्तका सत्यसंकल्पत्वआदि ब्रह्मके समानगुण प्राप्त होतेहैं यह सिद्ध होताहै अर्थात् श्रुतिमें **सोश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितः** अर्थ–(सः विपश्चितः) वह ज्ञानी मुक्तआत्मा (ब्रह्मणा सह) ब्रह्मके साथ (सर्वान् कामान् अश्नुते) सब काम्य पदार्थोंको भोग करताहै इत्यादि इसप्रकारसे ब्रह्मके साथ ब्रह्मके समान आनन्द भोगमात्र होना प्रतिपादनसे जगत्सृष्टिआदि करनेमें ब्रह्मके समान न कहनेसभी जगत्व्यापाररहित मुक्तको ऐश्वर्य प्राप्त होताहै यह निश्चित होताहै अब इस शङ्काकी प्राप्ति है कि, उक्तप्रकारसे मुक्तका ऐश्वर्य परब्रह्मके आधीन होनेसे परब्रह्मके संकल्पसे फिर मुक्तसे संसारमें आगमन होना संभव होताहै तथा अन्यलोकसे जैसे फिर संसारमें आना श्रुतिमें पुण्य क्षीण होनेपर वर्णन कियाहै इस प्रकारसे संभव होने से व ऐश्वर्यका भी अन्त होना देखनेसे ऐश्वर्यको प्राप्त मुक्तकाभी ऐश्वर्यभोगके अन्तमें संसारमें आगमन होना संभव होताहै और मुक्तका आगमन न

---

१ वृत्तशब्दका अर्थ अप्रतिहत अर्थात् बाधा वा घातको न प्राप्त हुआहै इससे ऐसा अर्थ होताहै वृत्तमप्रतिहतमोजः सृष्टिसामर्थ्यं यस्य स तथा ।

होना सुना जाताहै इससे तत्त्वका निश्चय नहीं होता इसके समाधानकेलिये महर्षि सूत्रकार यह उत्तर वर्णन करते हैं ॥ २० ॥

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिश्शब्दात् ॥ २२ ॥

अनु०-आवृत्ति नहीं है शब्दसे आवृत्ति नहींहै शब्दसे ॥ २२ ॥

भाष्य-मुक्तकी आवृत्ति (फिर लौटआना) नहीं होती यह शब्दसे (शब्दप्रमाणसे) अर्थात् श्रुतिसे सिद्ध है यथा छान्दोग्यउपनिषद्में प्रथम ऐसा वर्णन करिके कि, नियमसे वेदको पढकर गुरुसे धर्मजिज्ञासाको समाप्तकर धर्मसे वेदविहित स्त्रीको ग्रहण करके कुटुम्बमें स्थित हो वेदानुसार कर्म व धर्म में प्रवृत्तहो पवित्र स्थानमें नियत कियेहुये कालमें एकान्त वेदका अभ्यास व विचार करताहुआ धर्मयुक्त पुत्रों वा शिष्योंको धर्मकी शिक्षा देता हुआ व धर्ममें योजित करता हुआ सब इन्द्रियोंके विषयोंसे चित्तको खींचकर सबसे प्रिय ब्रह्ममें अतिप्रेमसे स्थिरकर उपासना करता हुआ किसी जीवको दुःख न देता हुआ जो सम्पूर्ण आयुको व्यतीत करता है उसको मोक्ष फल प्राप्त होना इस प्रकारसे वर्णन किया है **स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते** अर्थ-(खलु सः) निश्चयसे वह (यावदायुषं) संपूर्ण आयु मरणतक (एवं वर्तयन्) इसप्रकारसे करताहुआ (ब्रह्मलोकम् अभिसम्पद्यते) ब्रह्मलोक को प्राप्त होताहै (न च पुनः आवर्तते) और फिर संसारमें नहीं आता इस श्रुतिसे अन्य श्रुतिवाक्योंसे सिद्ध वानप्रस्थ व संन्यास आश्रमका अभाव सिद्ध नहीं होता आशय यह है कि, मोक्ष वनमें रहने व संन्यासआश्रमही ग्रहणसे नहीं होता ब्रह्मनिष्ठ होनेसे होताहै जो गृहस्थ उक्तप्रकारसे जीवनपर्य्यन्त धर्माचरण व श्रद्धा व प्रेमसे उपासना करताहै वह मोक्षको प्राप्तहो फिर संसारमें नहीं आता इस से मुक्तकी फिर आवृत्ति नहीं होती यह शब्दसे सिद्ध है महर्षि व्यासजीका आवृत्ति नहीं होती शब्दसे यह कहकर समाप्त करने से मुक्तका फिर आगमन नहीं होता यही सिद्धान्त है और फिर आगमन होनेके विषयमें जो यह आक्षेप है कि, ब्रह्मके आधीन होने व ऐश्वर्यका अन्तहोना संभव होनेसे मुक्तकी आवृत्ति होना संभव है इसका उत्तर यह है लौकिक बुद्धिका विषय न होनेसे इसमें शब्दप्रमाणही ग्राह्य है सूत्रका व्याख्यान इतनाही है परन्तु इससे अधिक निर्णय यह है कि, कोई आचार्य इस हेतुसे कि, मुक्तकी जो आवृत्ति न होवे तो जीवोंके मुक्त होते आने व फिर उनके संसारमें न आनेसे किसी कालमें सब जीव मुक्त होजानेपर सृष्टि प्रलय होनेका भी सम्बंध टूटजायगा परन्तु श्रुतिसे सृष्टिप्रवाह अनादि है जैसा कि, पूर्वही वर्णन कियागयाहै इससे ऐसा मानना अयुक्त व श्रुतिविरुद्ध है मुक्तका फिर आगमन होता है श्रुतिमें आवृत्ति नहीं होती ऐसा वर्णन है यह इस हेतुसे है कि, मुक्तोंकी कल्पांतरतक फिर संसार में आवृत्ति नहीं होती अन्य लोकोंसे कल्पान्तरतक अनेकवार पुण्य क्षीण होनेपर चन्द्रलोकआदिकोंमें प्राप्तहुओंकी आवृत्ति होती है इससे अन्य लोकोंसे आवृत्ति होना ब्रह्मलोकसे आवृत्ति न होना श्रुतिमें कहा है

ऐसेही शतपथ ब्राह्मणके श्रुतिवाक्यसे सिद्ध होता है श्रुति यह है **तेषा-मुपासकानामिहास्मिन्कल्पे पुनरावृत्तिर्नास्ति कल्पान्तरे तु पु-नरावर्त्तन्त एव** अर्थ-(तेषाम् उपासकानाम्) उन ब्रह्मउपासकोंकी) इह) इस संसारमें (अस्मिन्कल्पे) इस कल्पमें (पुनः आवृत्तिः नास्ति) फिर आवृत्ति नहीं है अर्थात् फिर आवृत्ति नहीं होती (कल्पान्तरे तु) कल्पा-न्तरमें तो (पुनः आवर्तन्ते एव) फिर संसारमें आतेही हैं इससे कल्पान्तरमें (अन्यकल्पमें) आवृत्ति होना सिद्ध होता है और यह युक्तिके भी अनुकूल है जो यह शङ्का हो कि, जब मोक्षसे भी आवृत्ति होतीहै तो उसके लिये क्यों विशेष यत्न व परिश्रम करना चाहिये तो उत्तर यह है कि, एक दिनके सुख-विशेषके लिये व एक घडीके लिये प्रयत्न करना देखा जाता है एक कल्पान्त-तक महाआनन्द, जिसके समान कहीं किसी लोकमें आनन्द नहीं है प्राप्त रहना सब सुखोंसे उत्कृष्ट व दीर्घकालसम्बंधी आनन्द है और मुक्त पुरुषकी आवृत्ति भी होती है तो वह देवयोनि वा उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होताहै इससे अवश्य ऐसे महाआनन्दके लिये जो देवताओंको दुर्लभ है और जो इतने कालतक प्राप्त रहता है कि, जिसके मध्यमें ७१ मन्वन्तर और सत्ययुग, त्रेता, द्वापर व कलि-युग चारों जिस एक चतुर्युगी शब्दसे वाच्य होते हैं ऐसी एक सहस्र चतुर्युगी व्यतीत होजाती है प्रयत्न व साधन करना चाहिये जो यह शङ्का होवे कि, सब कर्मोंके नाश होनेपर मुक्ति होती है कर्मके अभावमें फिर संसारमें मुक्तका आग-मन होना मानना युक्त नहीं है क्योंकि विना कर्मके सम्बंध शरीरका धारण व सुख दुःखका भोग होना असंभव है तो इसका उत्तर यह है कि, मोक्षमें भी मनका सम्बंध रहना श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध होताहै श्रुति यह है **यदा पञ्चाव-तिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्** अर्थ-(यदा) जब (पञ्च ज्ञानानि) पांच ज्ञान वा पांच प्रकारके ज्ञान अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह पांच विषयोंके ज्ञान जो श्रोत्र आदि पांच शारीरिक बाह्य इन्द्रियोंसे ग्राह्य हैं शरीर व बाह्य इन्द्रियोंके अभाव होनेमें मुक्त पुरुषोंके (मनसा सह) मनके साथ (अवतिष्ठन्ते) रहते हैं अर्थात् सब श्रोत्रआदि बाह्य इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले ज्ञान मनसे होतेहैं (च) और (बुद्धिः न विचेष्टेत) बुद्धि चेष्टा न करै वा नहीं करती है ऐसी जो अवस्था वा गति है (तां) उसको (परमां गतिम् आहुः) परम गति अर्थात् मोक्ष कहते हैं इस श्रुतिसे जब मनका रहना सिद्ध होता है तब मानसिक कर्म होना भी संभव है यद्यपि यह तर्क उत्पन्न होताहै कि, परमानन्द ब्रह्मानन्द व परमैश्वर्यके होते हुये मुक्त पुरुष सांसारिक सुखकी इच्छा क्यों करैगा जिससे मानसिक कर्मसे फिर संसारमें आवृत्ति होगी परन्तु विचार करनेसे मनकी गति ऐसी अनुभूत व सिद्ध होतीहै कि, उत्तम अवस्थाको प्राप्तका भी मन उस उत्तम अवस्थासे व उत्तम पदार्थके भोग से उससे नीच अवस्था व नीच पदार्थकी ओर उसमें किसी सुखभोग स्मरणसे ढुल जाता वा चलायमान होजाता है जैसे धनाढ्य व राजाओंको नाना प्रकारके व्यञ्जन व अतिउत्तम भोजन प्राप्त होते हुये भी किसी समय तले वा भुँजे हुये चनाके सोंधापनके स्मरणसे चनोंके चर्वणकी मनसे इच्छा

होती है इत्यादि इससे ब्रह्मसुख प्राप्त होनेमें भी सांसारिक सुख व ऐश्वर्यके स्मरणसे मनका उसकी ओर झुकजाना संभव है और संकल्पअनुसार संसारमें फिर आवृत्ति होना युक्त है और उक्त श्रुतिप्रमाणसे भी कल्पान्तरमें मुक्तोंका पुनरागमन सिद्ध होता है अब इस शङ्का की प्राप्ति है कि,एक पुरुषकी मुक्ति इस कालमें हुई व एककी प्रलयहोनेके कुछकाल शेष रहने में हुई और एककी प्रलयमें हुई और कल्पान्तरमें सबकी फिर संसारमें आवृत्ति हुई तो एकका दीर्घकालतक सुखभोग व अन्यका उससे न्यूनकालतक सुखभोग समान होना व सबकी फिर समान गति होना न्यायविरुद्ध व अयुक्त विदित होता है इसका समाधान इसप्रकारसे निश्चय करनेके योग्य है कि, योग वा उपासना यह भी मानसिक कर्म व परिमितकालके साधन हैं कालके अवच्छेद (हद वा परिमाण) युक्त कर्म व उपासनोंका अनन्त फल नहीं हो सक्ता इससे उपासनासे प्राप्त मोक्षफलका भी अन्त होना युक्तिसे ज्ञात होता है और उक्त श्रुतिप्रमाणसे भी सिद्ध होता है इससे कल्पान्तरमें मुक्तों की संसारमें आवृत्ति होना मन्तव्य है यह यथार्थ है कि, जो अभी मुक्त हुये और जो बहुत काल पीछे मुक्त हुये कल्पान्तरमें व मोक्षसुखभोग में सबकी समान गति नहीं होसक्ती इसमें यह सिद्धान्त स्वीकार करना युक्त है कि, महाप्रलय होनेके पश्चात् जब पुण्य व पापकर्मसंस्कारवाले सब जीव अपने कर्मसंस्कारसहित परमात्मामें प्राप्त रहते हैं सृष्टिके अभावसे किसीका संसारमें आगमन नहीं होता ऐसाही जिन मुक्तोंका अन्यमुक्तोंसे पूर्वही वा प्रथम परमानन्दभोगका समय व्यतीत होगया है वह भी उस मोक्षसुख व परमानन्दको न प्राप्तहोने वा अधिकारमें न्यून होनेपरभी सृष्टि होनेतक परमात्माहीमें लीन वा तारतम्यसे सुखभोग करते हुये परमात्मामें प्राप्त रहते हैं सृष्टिकी आदिमें भी जो उत्कृष्ट सुख व ऐश्वर्यके योग्य हैं वह ब्रह्मा विष्णुआदि पुरुषविशेष उत्कृष्ट सुख, ऐश्वर्य व सामर्थ्यवाले होतेहैं अन्य उनसे न्यून अन्य देवता, सिद्ध व महर्षियोंकी अवस्थाको प्राप्त होते हैं महात्मा सूत्रकार द्वितीय अध्यायके प्रथम पादमें **न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात** इत्यादि इस सूत्रमें जीवोंके कर्मोंका अनादि होना वर्णन कियाहै अनादि कर्मका अन्त होना मानना भी युक्ति व हेतुविरुद्ध है मनका सम्बंध नित्य रहनेहीमें कर्मका अनादि सम्बंध होना अनुमेय है कर्म अनादि न होनेमें प्रथम सृष्टिका होना व ब्रह्मका जीव होना अथवा शुद्ध वा ब्रह्ममें प्राप्त जीवोंका संसारी होना असंभव होगा कर्मको अनादि मान कर सृष्टिउत्पत्तिमें जिस प्रकारसे सब जीवोंका शरीर धारण व संसारमें आगमन माना जाता है ऐसेही मुक्तोंकी फिर कल्पान्तरमें संसारमें आवृत्ति माननेमें दोष नहीं है प्रत्युत युक्ति व प्रमाणसे सिद्ध है । यद्यपि श्रुति व युक्तिसे ऐसा विदित होता है परन्तु श्रुतिमें यथासङ्कल्प फल प्राप्त होना प्रतिपादित होनेके प्रमाण व विश्वाससे विशेष श्रद्धा प्रीतिका हेतु व श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध आवृत्तिका न होना प्रतिपादन के योग्य है और आवृत्ति न होनेमेंभी इसप्रकारसे युक्ति व हेतु कहने योग्य है कि, जैसे सम्पूर्ण कल्याणगुणोंका एकही स्थान जगत्के जन्मआदिका कारण सब वस्तुओंसे विलक्षण सर्वज्ञ सत्यसंकल्प आश्रितजनकी वत्सलता व अनुग्र-

हका सागर परमकरुणावान् सम व अधिक होनेकी सम्भावनारहित परब्रह्म-नामक परम पुरुष है ऐसा शब्द प्रमाणसे सिद्ध होताहै ऐसेही नित्य प्रतिदिन अनुष्ठान कियेगये आश्रमधर्मोंसे अनुगृहीत अपने उपासनरूप आराधनसे प्रसन्नहो उपासकोंको अनादिकालसे प्रवृत्त अनन्त दुस्तर कर्मोंकी सञ्चयरूप अविद्यासे निवृत्त कर जिससे अधिक कोई आनन्द नहीं है ऐसे अपने तत्त्वअनुभवरूप अतिशय आनन्दको प्राप्तकरके फिर संसारमें उपासकको आवर्तित नहीं करताहै यह भी शब्दसे सिद्ध होताहै शब्दप्रमाण जैसा ऊपर वर्णन किया गयाहै यह है **स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते** अर्थ—वह सम्पूर्ण इसप्रकारसे वर्तताहुआ अर्थात् धर्माचरण व उपासन करताहुआ ब्रह्मलोकको प्राप्तहोताहै और फिर संसारमें नहीं आता इत्यादि जिसके सब कर्मबंध क्षीणहोगयेहैं व सङ्कोचरहित परमज्ञानको प्राप्त परब्रह्महीका अनुभव करना यही एक जिसका स्वभाव है ऐसे उस ब्रह्मानन्दको अनुभव करतेहुयेको अर्थात् एकही परमप्रिय जिससे अधिक कोई आनन्द नहीं है ऐसे अतिशय आनन्दरूप ब्रह्मको अनुभव करतेहुयेको अन्यकी अपेक्षा होना और उसका अन्य अर्थके लिये आरंभ करनाआदि असंभव होनेसे फिर आवृत्ति होनेकी शङ्का न करनाचाहिये और परमपुरुष सत्यसङ्कल्प अतिआश्रितप्रिय अनुग्रहपात्र ज्ञानीको अपने ऐश्वर्य व आनन्दमें प्राप्तकरके फिर संसारमें उसको पतित न करैगा इस अनुमान व श्रुतिप्रमाणसे मुक्तकी आवृत्ति नहीं होती ऐसा कहा है परन्तु युक्तिविशेषसे व शब्दसे पूर्वही व्याख्यान स्थित रहताहै यदि तर्कको प्रधान न मानकर शब्दप्रमाणमें तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है ऐसा भाव जो श्रद्धासे धारणकरके सूत्रकारके "अनावृत्तिः शब्दात्" इस वचन व पूर्वोक्त छान्दोग्य उपनिषद् वाक्यका प्रमाण व पुनरागमन न होनेमें जो युक्ति वर्णन कियाहै स्वीकार करलेवै तो अनावृत्ति माननाभी अयुक्त व प्रमाणरहित नहीं है और श्रद्धा व अनुरागके लिये उत्तम है दोमेंसे किसीप्रकारसे मानै मोक्षअवस्था परम उत्कृष्ट व परमानन्द-फलप्राप्तिरूप है इससे उसकी प्राप्तिके लिये परमात्माका उपासन करना व आत्मज्ञान लाभ करना यह सबसे मुख्य व परम पुरुषार्थ है यह सिद्धान्त है आवृत्ति नहीं शब्दसे ऐसा दो बार कहना समाप्ति सूचित करनेके लिये है ।

इति श्रीमत्प्यारेलालात्मजवाँदामण्डलान्तर्गततेरहीत्याख्यग्रामवासिश्रीमत्प्रभुदयालुविरचिते ससूत्रानुवाद देशभाषयोक्तशारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ॥ ४ ॥ समाप्तश्चाध्यायश्चतुर्थः । शास्त्रञ्चेदं पूर्तिमगमत् ।

नमः परमात्मने मङ्गलस्वरूपाय सर्वसिद्धिप्रदाय

ओं ३ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

---

१ आश्रमधर्मोंके पश्चात् चित्तशुद्ध होनेपर ब्रह्मआराधनमें चित्त एकाग्र होता है आश्रमधर्महीसे चित्तशुद्ध उपासनाके योग्य होता है इससे आश्रमधर्मोंसे अनुगृहीत ऐसा कहा है.

वेदान्ततत्त्वप्रकाशभाष्यके शुद्धिपत्रका.

विज्ञापन.

वेदान्ततत्त्वप्रकाशभाष्यमें दृष्टिदोषसे प्रायः शब्द अशुद्ध छपगयेहैं मात्रा छूटजाने वा ह्रस्व दीर्घ होजाने आदिकी ऐसी अशुद्धियाँ जो साधारण पढनेमें शब्द व अर्थ-के सम्बंधसे ज्ञात होतीहैं उनकीभी शुद्धता कीगयीहै. परन्तु इस विचारसे कि, साधारण समुझमें आनेसे स्वयंभी अर्थज्ञ महाशय शुद्ध करलेवैंगे उनमें विशेषदृष्टि नहींदीगयी शब्दछूटजाने या आगे पीछे छपजाने, पुनर्वार छपजाने आदि विशेषअशुद्धियोंकी शुद्धता विशेष कीगयीहै. चाहिये कि पढनेसे पहिले शुद्धिपत्र देखकर शुद्धकरलीजिये और कहीं मात्रा अनुस्वारआदिकी ऐसी अशुद्धियाँ जैसे, हैंके स्थानमें है मेंके स्थानमें म इत्यादि रहजावैं तौ स्वयं अर्थज्ञान व सम्बंधसे शुद्ध करलेनाचाहिये ।

वेदान्ततत्वप्रकाशभाष्यका शुद्धिपत्र.

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२	२३	उतने पृथक्	उन्होंने पृथक्
१६	२५	चेतना	चेतन
२०	१५	दृष्टता	दृढता
२३	२३व२४	शेषिकशब्द	शेषिशब्द
२६	९	तदात्मक त्वमसि तत्त्वमसि	तदात्मकस्त्वमसि तत्त्वमसि
२६	१५	नहा जानता	नहीं जानता
२९	८	प्रेरण	प्रेरणा
३१	१२	वेऐवही	व ऐसही
३१	३१	दुःखक	दुःखका
३३	६	ब्रह्मविट्	ब्रह्मविद्
३४	२०	नीव	जीव
३५	१४	करं	करै
३६	११	वशेष	विशेष
३६	३०	ब्रह्मस्वरपही	ब्रह्मस्वरूपही
३८	३०	स्वरूपको अपेक्षा	स्वरूपकी अपेक्षा
४०	१६	उपागी है	उपयोगी हैं
४४	२१	संसारा	संसारी
४५	४	ब्रह्मैव ब्रह्मस्वरूप	(ब्रह्मैव) ब्रह्मस्वरूप
४६	२४	का वर्ण	कोवर्णन
४७	१	हाते हैं	होते हैं
४७	३१	इच्छाहोनेसे	ईक्षा होनेसे
४८	१	छन्दाग्य	छान्दोग्य
४८	१५	वारण	कारण
५०	१०	(प्राणं) प्राणको	(प्राणान्) प्राणोंको
५१	२८	उत्कृष्ट नाम	नाम उत्कृष्ट
५२	२५	कवार	कगार
६५	२१	ब्रह्म आनन्द	ब्रह्मानन्द
६५	२४	ब्रह्म आनन्द	ब्रह्मानन्द
६७	२२	श्रुतिने	श्रुतिमें
६७	२९	इसम	इसमें

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६९	२	मयमत्यय	मयट्प्रत्यय
७०	३	कियाहै ब्रह्मको	कियाहै शङ्का ब्रह्मको
७१	१	कोहै	काहै
७१	३१	वागी	वाणी
७३	९	नन्दमय	आनन्दमय
७३	१५	इसस	इससे
७४	२	हाते	होते
७५	४	सद्ध	सिद्ध
७६	११	य एसोन्तराक्षिणि	य एषोन्तराक्षिणि
७९	२८	जा	जो
८४	७	रप	रूप
८६	१	वर्णनकियेगये ह	वर्णनकियेगयेहैं
८६	५	चलागया	चलागयाहै
८६	७व८	पहिले व पीछे	(पहिले व पीछे)
८७	१०	अल्प	अन्य
८९	५	स्वप्रकाशस्वरूपमें	(स्वप्रकाशस्वरूपमें)
८९	१८	यदतपरो	यदतःपरो
९१	४	प्रतिपादनपरहै	प्रतिपादनपरहैं
९३	५	योजत	योजित
९४	१२	अमृतरूपको उपासनाकर	अमृतरूपको उपासनकर वा अमृतरूपकी उपासनाकर
९४	३०	मनिनपत्यये	मनिन्प्रत्यये
९६	१६	लान न होने	लीन नहोने
९६	२५	इन्द्रन	इन्द्रने
९७	५व६	जानेगा	जानेगा
९७	२६	शरार	शरीर
९८	१८	ब्रह्मका	(ब्रह्मका)
१०१	३२	पासना	उपासना
१०२	२८	स्वनेह	व स्नेह
१०५	९	उपास्थ	उपास्य
१०५	१७	कहा	कहाहै
१०६	१	अन्तरात्मने	अन्तरात्मन्
१०६	६	प्रकाशनय	प्रकाशमय

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१०७	१०	सूची	सूजी
१०९	१६	धरणकर्ता	धारणकर्ता
१०९	२३	शिष्टोंके प्रयोग	शिष्टोंके व्यवहार व प्रयोग
११०	१४व१५	दोके होनेसे वा भेदका	दोके होने वा भेदका
११०	१८	भिन्नहैं	भिन्नहैं
१११	३१	स्थानं परार्द्धं	स्थानं परार्द्धं
११४	१९	पलकोही	पलकों ही
११४	२१	थानी	स्थानी
११६	९	हुय	हुये
११६	१७	अज्ञानियोका	अज्ञानियोंको
११७	३०	अग्नियोंमे अभिमानी	अग्नियोंके अभिमानी
११८	३	कहगे	कहेंगे
११८	२७व२८	गति वर्णन कियाहै	गतिको वर्णन कियाहै
११९	१८	गतिको वर्णन कीजाती	गति वर्णन कीजातीहै
१२०	११	उपासक ऐसी गति	उपासककी ऐसी गति
१२५	१५	उसका वर्णन	उसके वर्णन
१२५	१८	होनेका	होनेको
१२७	७	यह	यहाँ
१२८	३	वा होताहै	वा होता
१२९	२	रूपन्याय	रूपन्यास
१३०	२२	शरीर	शारीर (जीव)
१३१	२३	सिद्ध होताहै	सिद्ध होती है
१३२	२७	शरीर मध्यमे	शरीरके मध्यमें
१३३	२१	असंभव	संभव
१३३	३०	भत अग्नि	भूत अग्नि
१३८	१४	इस उपचारसे	इससे उपचारसे
१३८	२३	गुथी होतीहै	गुथी होतीहैं
१३९	११	इससे ब्रह्मज्ञानी	इसके ब्रह्मज्ञानी
१४०	१३	अल्पज्ञान	अल्पज्ञ वा अल्पज्ञानवान
१४१	१३	संगको लिये	सङ्गको किये
१४३	६	क	कि
१४३	३१	लक्षणसे	लक्षणासे
१४४	७	विना ग्रण्ण	विना ग्रण्णही

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१४४	२८	ब्रह्महीं है भिन्न अन्य	ब्रह्मही है व ब्रह्मसे भिन्नअन्य
१४५	२२	भेदबुद्धि नही	भेदबुद्धि न रही
१४५	२३	किस कारण	किस करण
१४५	२५	व्यवहारक	व्यवहारका
१४८	३	ईर्क्षति	ईक्षाति
१४८	१३	वां	वा
१४९	१६	वा किसी	व किसी
१४९	२४	ब्रह्महीको माप्त हैं	ब्रह्महीको माप्त होता है
१५०	२४	वह यह है	वे यह हैं
१५०	३३	धान	ध्यान
१५०	३४	समें	उसमें
१५१	१८	आलम्ब	अवलम्ब
१५१	२४	हाता है	होता है
१५१	३४	उत्तर यहां है	उत्तर यही है
१५१	२५	इससेभी परमेश्वरही	इससेभी दहर परमेश्वरही
१५४	२	मर्य्योदा धारण	मर्य्यादाका धारण
१५४	२५	इतरपरामर्शाव	इतरपरामर्शात्
१५४	२६व२७	तौ नहीं संभव न होनेसे	नहीं संभव न होनेसे
१५५	३	ज्योतीरूपं सम्पद्य	ज्योतिरुपसम्पद्य
१५५	२७	वर्णित है	वर्णित हैं
१५९	७व८	होनेको	होनेहीको
१६०	१	लक्ष्यकरनेको	लक्ष्यकरनेका
१६१	३२	क्लेशोंमे	क्लेशोंसे
१६२	३२	सिद्धहोनेका ज्ञातहोने	सिद्धहोने वा ज्ञातहोने
१६२	८	सर्वेपि	सर्गेपि
१६२	११	अनुतेस्तस्यच	अनुकृतेस्तस्यच
१६२	१२	जिसको तुमने	वह जिसको तुमने
१६५	१८	उससे	उनसे
१७१	२४	लयहोता	लयहोती
१७२	२२	तस्मैः	तस्मै
१७४	१५	इसामकार	इसीमकार
१७४	२९	वन देवताओं	उन देवताओं
१७५	२६	मकाशभान	मकाशवान

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१७६	३२	जिसके स्थानमे	जिससे के स्थानमें
१७७	२१	राजसूय यज्ञो	राजसूय यज्ञ
१७९	१२	नीचकर्म आचरणवाले	नीचकर्म व आचरणवाले
१८१	३३	इतनोको	इतनेको
१८३	७	लगी २	लगी
१८३	१०	जानतीहै	जानतीहूँ
१८४	१२	होहै	होताहै
१८४	२६	संबंध	संबद्ध
१८५	२	शूद्रशब्दसे	शूद्रशब्दके
१८५	१२	अभक्ष्यभषण	अभक्ष्यभक्षण
१८५	३१	जघन्यं वर्ण	जघन्यं जघन्यं वर्ण
१८६	३	जघन्य	जघन्य जघन्य वर्ण
१८६	४	नीचे	नीचे नीचे
१८७	२७	नवणतो	न वर्णतो
१८७	३४	(वर्णतःजनकात् वा)	(वर्णतःजनकात्)
१८८	३२	निषेध जब शूद्रहुआ सुनने	निषेध हुआ जब शूद्र सुनने
१८९	८	पढना सुनना	पढाना व सुनाना
१९१	३३	वे शब्दों	व शब्दों
१९२	२३	भाष्यार्थः	अथ भाषार्थः
१९२	२६	वेदवाणी वा उपदेश	वेदवाणीका उपदेश
१९३	८	होतीहै	होती रहै
१९३	१८	सबर्णों	सब वर्णों
१९४	१	शरीरके बिचमें	शरीरके बीचमें
१९४	१०	को कांपने	केकांपने
१९६	१	वह उक्त	यह उक्त
१९६	१२	प्रकाशमान	प्रकाशवान्
१९७	२५	प्राप्तहोना	प्राप्तहोता हूं
१९८	५	यह मुक्तात्मा	यहांमुक्तात्मा
१९९	३	यह मत्यभिज्ञान	यहाँमत्यभिज्ञान
२००	२	क्षेत्रजका	क्षेत्रज्ञका
२००	२	क्षेत्रज प्राज्ञ	क्षेत्रज्ञ प्राज्ञ
२०१	३	श्रष्ठ	श्रेष्ठ
२०१	१५	कार्यरूप है व ब्रह्मका	कार्यरूप व ब्रह्मका

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२०२	११	प्रधानवाचक कारणहोनेमें संशय	प्रधानवाचक व प्रधानकारण होनेकेसंशय
२०२	२५	वक्यार्थ	वाक्यार्थ
२०४	२	कियेहैं	कियेहै
२०४	१२	अर्थ है	अर्थ हैं
२०४	३४	द्रष्टा देखनेवाला साक्षी व नियन्ता	द्रष्टा (देखनेवाला साक्षी व नियन्ता)
२०५	१४	कपिलमत	कापिलमत (कपिलका मत)
२०५	१७	व असंभव व कहना अयुक्त है	व कहना असंभव व अयुक्त है
२०८	१३	उनके जानने	उसके जानने
२०८	१४	इसमे	इससे
२०८	२८	यह भी	यहाँ भी
२०९	३	अशब्दमें स्पर्श	अशब्दमस्पर्शआदि यह श्रुति
२०९	८	तीम्र वर	तीन वर
२०९	१३	नचिकेताके तीनरात्रितक	नचिकेताकेआने व तीनरात्रितक
२०९	२८	कोई मानतेहैं	कोई ऐसा मानतेहैं
२०९	३०	निश्चयको जान	निश्चयको जानूं
२१०	३१	एके	एकैं
२१२	१०	कुछनही रहा तो	कुछनहींरहता
२१२	२४	इनिष्ट	अनिष्ट
२१४	२९	अनुशेत	अनुशेते
२१६	१४	जिसके	जिससे कि
२१६	१८	रगौं	रंगौं
२१८	८	जाते, ध्यान योगानुगता	जो, ते ध्यानयोगानुगता
२१९	२९	समहको	समूहको
२२२	९	(जानेवाली)	(जनानेवाली)
२२२	३०	पंचजन	पञ्च पञ्चजन
२२४	१०	इससे	इसमें
२२६	१०	वालके	वालाके
२२७	१५	सहाप्यति	सहाप्येति
२२९	१२	परहै	परहैं
२३०	१७	न कुछजान	न कुछजाना
२३१	१०	अपने नियत	अपने अपने नियत

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३२	३	दहरहै	इसमें अन्तर आकाश दहरहै
२३३	१७	मयमे	मध्यमें
२३३	३०	जिस कारण	जिस करण
२३३	३२	किस कारण	किसकरण
२३४	६	तिसवित्त	जिस वित्त
२३४	१०	उपायको मार्थना	उपायकी मार्थना
२३६	१	सर्वविदित	सबविदित
२३६	१६	जैस	जैसे
२३७	११	व शब्द मानतेहै	शब्द व मानतेहैं
२३८	२८	ज्योतिको समीपता	ज्योतिकी समीपता
२४०	९	मवेशकरनेसे जीवात्मामें	मवेशकरनेमें वा जीवात्मामें
२४०	१४	अपहतपामा	अपहतपाप्मा
२४२	१२	ज्ञानहोनेसे	ज्ञात होनेसे
२४४	२५	उनकेजानने	उसके जानने
२४४	३४	उपादा	(उपादान)
२४७	५	नियममें रहता	नियममें रखता
२४९	३	प्रकृतिका	मकृतिको
२४९	१५	व्याख्यानकरने	व्याख्यान न करने
२४९	२३	मकाशमान	मकाशवान्
२५०	१४	तात्तरीय	तैत्तिरीय
२५१	१	जगतरूकिया	जगत्रूपकिया
२५२	३४	ब्रह्ममें	ब्रह्मनें
२५४	१२	लक्षणसे	लक्षणासे
२५६	१	स्मृतिबलसे मतिषेधकरनेका पक्ष इसमकारसे स्मृतिही बलसे	इसमकारसे स्मृतिबलसे मतिषेध करनेका पक्ष स्मृतिही बलसे
२५६	११	त्रिवृत्तकारणसेउत्पन्न करनेकी	त्रिवृत्तकरणसे उत्पन्न, अण्ड उत्पन्नकरनेकी
२५७	४	शरीरहै	शरीरहैं
२५७	१६	अपेक्ष्य अर्थात्	अपेक्ष्यहै अर्थात्
२५९	११	रूपआदिकार्य	रूपआदि गुणकार्य
२५९	२१	दुःख होनेमें	दुःखी होनेमें
२६०	२४	ये पूर्वोक्ति	वे पूर्वोक्त
२६१	३४	विशेष अनुगतिसे	विशेष व अनुगतिसे

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२६१	९	जाननेके लिये	जनानेके लिये
२६१	३३	वाक्यविशे	वाक्यविशेष
२६२	५	कारणतत्व	कारणत्व
२६२	२८	आर	और
२६३	६	आक्षेपकी विलक्षणता	आक्षेपका, कि विलक्षण होनेसे
२६३	१३	न यहकहाजाय	यह कहाजाय
२६४	१६	व पुरुषार्थ	व अपुरुषार्थ
२६४	१७व१८	विद्यमान	विद्यमान व्यापक है
२६७	६	शरीरसे को उत्पन्न	शरीरसे सृष्टिको उत्पन्न
२६७	२१	अनेक शरीरमें	अनेक शरीरोंमें
२६९	२व३	कर्तृत्वआदि पुरुषमें होतेहैं और पुरुषकी सन्निधिसे प्रकृतिके अर्थात् प्रधानके धर्म कर्तृत्व आदि पुरुषमें होतेहैं और पुरुषकी सन्निधि (समीपता) से पुरुषकी चेतनतारूप धर्म	कर्तृत्वआदि पुरुषमें होतेहैं और पुरुषकी सन्निधि (समीपता) से पुरुषकी चेतनतारूप धर्म
२७१	१	अर्थात्	अर्थात्
२७१	३४	व करण व कार्य	व कारण व कार्य
२७२	४	परीक्षास	परीक्षासे
२७२	५	सिद्ध होता	सिद्ध होताहै
२७२	१६	व शक्ति व शक्तिमान	वा शक्ति व शक्तिमान्
२७३	२	भोत्का	भोक्ता
२७४	३	दोषसे	दोषोंसे
२७५	२७	भाष्य, उससे भिन्नता नहींहै आरंभणशब्द आदिसे अर्थात् आरंभणशब्दादि वाक्योंसे ; उससे अर्थात् कारणसे	भाष्य, उससे अर्थात् कारणसे
२७६	१५	आलम्बन	अवलम्बन
२७७	१०	नित्यकार्य	अनित्यकार्य

१ और पुरुषकी सन्निधिसे प्रकृतिके अर्थात् प्रधानके धर्म कर्तृत्वआदि पुरुषमें होतेहैं इतने शब्द निरर्थक पुनर्वार दृष्टिदोषसे छपगयेहैं । २ भाष्य शब्दके पश्चात् उससे शब्दसे वाक्योंसे यहाँतक सूत्रका अनुवाद है दृष्टिदोषसे भाष्यमें छप गयाहै भाष्यमें यह वाक्य निरर्थक है भाष्यको इससे रहित पढना चाहिये ।

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२७८	४	मात्रालम्बन	मात्रावलम्बन
२७८	२६	सुवर्णका मृत्तिका	सुवर्ण मृत्तिका
२७९	५	समाधान	समान
२७९	१०	आदिहै	आदिहैं
२८२	१०	जीवसे	जीवमें
२८२	३०	अल्प अङ्कुर	अन्य अन्य अङ्कुर
२८५	१४	परिणाम	परिमाण
२८५	२०	प्रत्यक्ष होता	प्रत्यक्ष होती
२८६	१२	कल्पितहै	कल्पितहैं
२८८	७	अन्यदेशकाल	अन्यदेश व अन्यकाल
२८८	२३	भेटनही सक्ता	भेंट नहींसक्ता
२८८	२८	होनेसे आदि	होने आदि
२८९	१९	आदिक	आदिका
२८९	२९	खण्डित हैं	खण्डित है
२९०	१२	और उसका प्रकाशक निर्विशेष होने	और जो उसके निर्विशेषहोने
२९०	१९	किसी किसी पुरुष	किसीपुरुष
२९०	२४	अंगीकारहोना करनेसे	अंगीकारकरनेसे
२९१	१६	प्रत्यक्षआदिक	प्रत्यक्षआदिका
२९२	११	नित्य प्रवाह रहनाचाहिये	नित्यप्रवाह न रहना चाहिये
२९४	१८	निर्दोर	निर्दोष
२९४	३३	जो शंका होवै	जो यह शंका होवै
२९५	१	अविद्यासे विलक्षण	अविद्यासे ब्रह्मका विलक्षण
२९५	७	वस्तुमेंभी	वस्तुसेभी
२९५	१२	समुझन	समुझना
२९६	२६	तेजआदि विविधि गये तेजआदि विविधि विचित्र स्वरूप	तेजआदि विविधि विचित्र स्वरूप
२९७	२२	गुणोंका आकार	गुणोंका आकर
३००	१	हमजाने	हमजानैं
३००	२१	व्यवहारको योग्यता	व्यवहारकी योग्यता
३००	३३	अवस्थभेद	अवस्थाभेद
३०१	१	युवत्व	युवात्व
३०२	२२	निश्चयकरताहै	निश्चयकराताहै

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३०३	१	(असदएवं)	(असदएव)
३०३	१६	रहेहुयेवाक्यशेषसे	रहेहुयेवाक्यसे
३०३	२३	कैसेकरना	कैसेकरता
३०३	२९	सत्ही इसमकार	सत्हीथा इसमकार
३०३	३०	वाक्यहै	वाक्यहैं
३०४	३	घटरूप मृत्तिकाहै	घटरूप मृत्तिका नहींहै
३०४	२४	प्रसंगहोना	प्रसंगहोगा
३०४	२५	जीवहै तत्वमसि	जीवहै उसको तत्त्वमसि
३०८	१४	आपीतौ	अपीतौ
३११	१६	कारणरहित	करणरहित
३१२	७	अभिमाय नहींहै मत्यक्षमलक	अभिमायनहींहै कि मत्यक्षमूलक
३१२	१८	लाकिक	लौकिक
३१२	१९	नहींहोती	नहींहोता
३१२	२४	सामर्थ्यद्वारा	सामर्थ्यही द्वारा
३१२	३१	तोअर्थ	जो अर्थ
३१३	१०	धर्मोंका एकधर्मा	धर्मोंका एकधर्मी
३२३	२८	सुखरूपहै	सुखरूपहैं
३१७	२४	प्रयाजन	प्रयोजन
३१९	९	मजाओंसे संहार	मजाओंके संहार
३२०	१व२	ग्रत्यहै	ग्राह्यहै
३२०	१४	मसंगहोना	मसंग होगा
३२०	१६	सिद्ध होता	सिद्ध होताहै
३२१	२५	हाजावे	होजावैं
३२२	१६	समझाजाय	समझीजाय
३२३	२९	आर जस	और जैसे
३२४	१६	मधानहै	मधान हैं
३२५	८	जलौंको मध्य	जलौंके मध्य
३२६	८	अभाव होनेके	अभाव होनेसे
३२६	१३	मवर्तक अपेक्षाकी योग्य	प्रवर्तक व निवर्तक अपेक्षाकी योग्य
३२६	१८	ग्राह्य सूत्र	ग्राह्यहैं सूत्र
३२७	१५	समुझताहै	समझाताहै
३२७	१६	मवर्तक करने	मवृत्त करने

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३२७	२३	संभव न होनेसे	संभव न होनेसे भी
३२८	१७	प्रयोजक कहतेहैं	प्रयोजन कहतेहैं
३२८	३०	भोग्य और पुरुषको	भोग्य होना और पुरुषको
३२९	५	पुरुषका वध	पुरुषका बंध
३२९	१४	होने समान	होनेके समान
३३०	२५	अणुक	त्र्यणुक
३३१	६	समानजीव	समान जातीय
३३१	७	विषयभी	विषयमें भी
३३१	२६	परिणामभेद	परिमाणभेद
३३४	३	माने जावैं तौ निवृत्तिकी नित्यता	माने जावैं तौ प्रवृत्तिकी नित्यता व निवृत्तिस्वभाव माने जावै तौ निवृत्तिकी नित्यता
३३४	२०	मृत्तिका आदि	विना मृत्तिका आदि
३३५	४	कहते हैं	कहते हो
३३६	१०	सर्व वाह्य विजानसे अनुमान	सब वाह्य वस्तु विज्ञानसे अनुमेय
३३६	१६	स्वभाववाले आप्य	स्वभाववाले पार्थिवपरमाणु, स्पर्श, रूप, रस, स्वभाववाले आप्य
३३६	२०	संधान	संघात
३३६	२५	शरीर नित्यविषय	शरीर इन्द्रियविषय
३३७	१	अणुओंके वा	अणुओंका वा
३३७	१६	नभक	नामक
३३७	२२	सिद्धहै	सिद्धहैं
३३८	१५	हेतुहोना	हेतुहोगा
३३८	३१	यह संहति	यहाँ संहति
३३९	२४	होती है	होती हैं
३३९	२७	यक्ति	युक्ति
३४०	११व१२	वायुघटआकाश	वायु व आकाश
३४०	१३	द्रव्यको होना	द्रव्यका होना
३४०	३२व३३	(भेद होनेसे)	(भेद न होनेसे)
३४१	७	वाधिक न होनें	बाधित न होने
३४२	११	ज्ञात न माननें	ज्ञाता न मानने
३४३	१९	नहीं होना	नहीं होता
३४३	२८	नहीं होना	नहीं होता

पृष्ठ	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३४४	१३	कारणविषम	कारणनियम
३४४	१६	वहीं हुई	वई हुई
३४५	२४	एकदूसरे संबंधरहित	एकदूसरेसे सम्बंधरहित
३४७	२२	ज्ञात होना	ज्ञाता होना
३४९	४	अणु है	अणु हैं
३४९	१६	कुछनहींहै	कुछहै व कुछनहींहै
३५०	२४	(सिकडने फैलने) से	(सिकुडने व फैलनेसे)
३५३	१७	चक्षुइन्द्रियआदिके	चक्षुआदि इन्द्रिय
३५४	१६	भागवतमत युक्त नहीं है वा असंगतहै	भागवतमत युक्त नहीं है भागवतमत युक्त नहीं है वा असंगतहै यहशब्द
३५५	११	ब्रह्मही रूपहै	ब्रह्मही रूपहैं
३५६	४	परके अर्थात्	परके अर्थ अर्थात्
३५६	१०	(अनादिः अनन्ता)	(अनादिः च अनन्तः)
३५७	१	यह ज्ञात होताहै	यह ज्ञातहोता
३५७	३	आवश्यकता नही	आवश्यकता नथी
३५७	२६	चारौविदामें	चारौ वेदोंमें
३५७	२०	उपदेशके होनेसे	उपदेशक होनेसे
३५७	३३	समझादेखें तौ	समझा देवै तौ
३५८	२४	आकाशका उत्पत्ति	आकाशकी उत्पत्ति
३५९	१७	व्यापकउत्पन्न होना	व्यापकका उत्पन्नहोना
३५९	२७	अमृत अर्थात्	अमृतहै अर्थात्
३६१	१२व१२	सम्बंध नहोनेसे विज्ञात नहोनेमें प्रतिज्ञाकी हानि	सम्बंध नहोनेसे विज्ञात नहोगा विज्ञात नहोनेमें प्रतिज्ञाकी हानि
३६१	१४	ब्रह्मआत्माके	ब्रह्मात्मक
३६१	२५	विभाग लोकके समान	विभागहै लोकके समान
३६२	२९	ब्रह्मसभिन्न	ब्रह्मसे भिन्न
३६३	२६	आकाश शरीरवत् ब्रह्म आत्मस्वरूप	आकाश, शरीरवत् स्थूल, ब्रह्म आत्मस्वरूप
३६४	३	व्याख्यान	व्याख्यात
३६४	४	जिनको उत्पत्ति	जिनकी उत्पत्ति
३६५	५	तेजसे इससे	तेज इससे
३६६	८	हेओंसे	हेतुओंसे

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३६८	१३	मकट ब्रह्म	मकृत ब्रह्म
३६८	१७	शंकाहै	शंकाहो
३६८	२०	होता तौ	होताहै तौ
३६९	३१	उसने (श्रुतियोंसे)	उनसे (श्रुतियोंसे)
३७०	३	एकविज्ञान सबका विज्ञानसे होता है	एकविज्ञानसे (एकके विज्ञानसे सबका विज्ञान होता है
३७१	२५व२६	अपुरुषार्थोंका होनेको	अपुरुषार्थों के होनेको
३७२	३२	और जो अविद्या उपाधिक	जो अविद्या उपाधिक
३७४	३	विस्तार करता अर्थात्	विस्तार करता है अर्थात्
३७६	६	कियेहै	कियाहै
३७६	९व१०	जीवसेहै	जीवसे अन्य जो प्राज्ञ परमात्माहै
३७६	१३	प्रज्ञात्मा	प्राज्ञात्मा
३७६	२७	सौ अणु	सौ खण्ड
३७८	३	होतेह	होते हैं
३८०	२	मूर्छाम	मूर्छामें
३८०	११	युवा अवस्थाहीमें होनेसे युवा अवस्थाहीमें होनेसे युवा अवस्थाहीमें मकट	युवा अवस्थाहीमें होनेसे युवा अवस्थाहीमें मकट
३८०	३०	एक साथ होगी	एकसाथ होंगी
३८०	३१	हत आत्मा हानम	हेतु आत्मा होनेमें
३८१	२०	जावके	जीवके
३८१	२१	मन्यत हन्तु	मन्यते हन्तुं
३८२	१५	कर्तृत्वता	कर्तृता
३८२	२५	आत्माके कर्ता	आत्माको कर्ता
३८३	३१	वा होना	का होना
३८५	२४	वृथा जीवको	वृथा होगा, जीवका
३८६	३	करताहै	कराताहै
३८६	४	उद्योग करता	उद्योग करता है
३८८	४	सिद्ध होता है	सिद्ध होते हैं
३८८	४	वर्णन करती है	वर्णन करती हैं
३८८	३३	सुखरूपहै	सुखरूप हैं
३८८	३४	करिके	कहिके
३८९	७	स्मृतिमें	स्मृतिमें भी

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३८९	१९व२०	विशिष्ट वस्तुमें विशेषणके अंश व विशेष्यको अंशी कहते विशेषणहै विशेष्य दोनोंके अंश व अंशी होनेमें	विशिष्टवस्तुमें विशेषणको अंश व विशेष्यको अंशी कहते हैं विशेषण विशेष्य दोनोंके अंश व अंशी होनेमें
३९०	१९	अनुज्ञापरिहारा	अनुज्ञापरिहारौ
३९०	३०	अधर्मी अभिशस्त (जिसका लोकमें अपवाद है) उसका	जो अधर्मी अभिशस्त (जिसका लोकमें अपवादहो) है उसका
३९३	१	प्रदेशा	प्रदेशौं
३९३	३	व्यतिहार	व्यतिकर
३९५	७	उसीको	उसीका
३९५	११	वर्तन किया	वर्णन किया
३९५	१६	मुख्य है	मुख्या है
३९६	१७	पूर्वपक्षसें	पूर्वपक्षमें
३९७	२८	पायु गुदा	पायु (गुदा)
३९७	२८	बोध होनेका करना	बोध होनेका करण
३९९	३१	कहलेनेमें	कहनेमें
४००	१३	नेत्रआदिके इन्द्रियोंके	नेत्रआदि इन्द्रियोंके
४००	१६	साथ नेत्र आदि	साथ अर्थात् नेत्रआदि
४००	३२	निकलनेलगा सब इन्द्रिय	निकलनेलगा तब सब इन्द्रिय
४०२	३	व्यापकम	व्यापकमें
४०२	१६व१७	अधिष्ठान है यह अधिष्ठाता है यह	अधिष्ठाताहै यह
४०४	२२	अर्थम	अर्थमें
४०५	१७	नाम व रूपक	नाम व रूपका
४०५	२४	वर्णनसे अन्तर	वर्णनसे अनन्तर
४०५	२७	(सा इयं)	(सा इयं देवता)
४०५	३२	मध्यम	मध्यमें
४०७	१०	विधीयेते	विधीयते
४०७	२२	पृथिवीका	पृथिवीका है
४०८	१व२	रूपका कर्म	रूपका व्याकरण कर्म
४११	३१	प्रत्येक आत्मक	प्रत्येक व्यात्मक
४१३	३२	श्रद्धामें शब्द श्रुतिमें	श्रद्धाशब्द श्रुतिमें
४१४	२९	चन्द्रमको	चन्द्रमाको
४१५	११	हाहै	होता है

शुद्धिपत्र ।

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४१७	९	भोगाका	भोगोंको
४१८	२४	मिथ्या इससे	मिथ्या होगा इससे
४१९	१	(मकटता) होता है	(मकटता) होती है
४१९	८	अमेघ	अभ्र (मेघ)
४२३	३३	विषयको कहते है	विषयको मकृत कहते हैं
४२७	९	(धाम)	(धान्य)
४२७	२५	यहाँ मसिद्ध	यह मसिद्ध
४२८	८	योनियोंसे	योनियोंमें
४२९	८	होता है	होना है
४२९	२९	स्वमप्रथान	स्वमप्रस्थान
४३०	२९	सोते हुयामें	सोते हुयोंमें
४३०	३१	कर्ताका	कर्ताको
४३०	३१	तद्व	तद्व
४३३	२	अशुभही शूचक	अशुभ सूचक
४३४	८	माप्तनाम	प्राप्त स्वपिति नाम
४३५	२०	क इह	त इह
४३७	२१	आत्मामें रहता हुआ	जो आत्मामें रहता हुआ
४३७	३२	पियासा रहित	पिपासा रहित
४३८	१९	वाक्यमेंभी	वाक्यमें जीवको भी
४३८	२५	मत्येक वचन न होनेसे	मत्येकमें उसके वचन न होनेसे
४३९	९	जो वस्तुस्वरूप होवे	जो वस्तुस्वरूपही सुख दुःखरूप होवे
४४०	५	जीवात्मा है (स्वादु)	जीवात्मा (स्वादु)
४४१	८	(दोनोंमकारके लक्षणयुक्तहै)	(दोनोंमकारके लक्षणयुक्त) है
४४६	४	पृथकसोना	पृथक् होना
४४९	७	पश्यात	पश्यति
४५१	२५	अहिकुण्डके	अहिकुण्डलके
४५३	१६	कहने जन्मजरा	कहने व जन्मजरा
४६०	१०	मानते मानते हैं	मानते हैं
४६०	३१	विद्याओं व	विद्याओं वा
४६३	१९	इशी अधिकारण	इसी अधिकरण
४६४	१	स्वाध्यायक	स्वाध्यायके
४६५	१६	होनेसे व यज्ञमे	होनेसे यज्ञमें

पृष्ठ	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३.६८	२१	परोवरीस्त्व	परोवरीयस्त्व
४७१	४	आधीन	अधीन
४७३	५	उनके अर्थ	उनसे अर्थ
४७४	२२	होसक्का तौ	होसका है तौ
४७८	९	छिलके भीतर	छिलकेके भीतर
४७९	१	मारंभम	मारम्भमें
४८२	२९	भद है	भेदहै
४८५	३४	छटकर	छूटकर
४८६	३३	तथापि उपसर्ग	तथापि उप उपसर्ग
४९०	९	श्रुतिक	श्रुतिका
४९०	१३	संभव नहीं	संभव नहीं है
४९५	४	(अनण्ह)	(अनण्वं)
४९७	२५	उत्तरम	उत्तरमें
४९८	११	नाशमान	नाशवान्
४९८	१५	अताऽन्यद्	अतोऽन्यद्
४९८	३४	अपेक्षित	आपेक्षिक
४९९	८	उत्तमे	उत्तरमें
५००	३२व३३	होन गुण विशिष्ट	होने गुणविशिष्ट
५०१	१०	ब्रह्मस्वरूपम	ब्रह्मस्वरूपमें
५०१	१५	अनन्तर आत्मा	अन्तर आत्मा
५०६	९	न जाननेका निन्दा	न जाननेकी निन्दा
५१२	१५	दहर विद्याको शेष	दहर विद्याके शेष
५१३	९	वृत्तियाको	वृत्तियोंको
५१४	१८व१९	(जोडाना)	(जोडना)
५१४	३१	इनको विद्यारूप	इनके विद्यारूप
५२४	६	स्वर्ग आदिको	स्वर्गआदिके
५२६	११	देखसे	देखनेसे
५२८	२७	असंभव न होनेसे	असंभव होनेसे
५३७	२७	आम	आश्रम
५३९	१४	आयकीजाती	आश्रय कीजाती
५४०	८	सिद्ध होता	सिद्ध होता है
५४३	१९	माक्ष	मोक्ष
५४३	२५	यद्यापि	यद्यपि

पृष्ठे	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम्
५४७	११	तपये	तपसे
५५१	१०	एके	एकें
५५३	३	उपासन दियेहुये अधिकार	उपासनमें दिये हुये अधिकार
५५७	५	वाक्यने	वाक्यमें
५५७	७	वीर्यवन	वीर्यवान्
५५८	३२	वारंव	वारंवार
५५९	२१	प्रकाशमान	प्रकाशवान्
५६४	२	करनेयोग्य है	करनेयोग्य नहीं है
५७१	१६	होती हो	होती है
५७७	५	त्रिवृत्त तीनसे मिला हुआ	त्रिवृत्त (तीनसे मिलाहुआ)
५७८	१४	अपने यह अनुभव	अपनेमें यह अनुभव
५८३	१४	जीवहीके	जीवहीको
५८४	९	एकौंसे वाक्यसे	एकौंके वाक्यसे
५९०	७	बंधको हेतु	बंधके हेतु
५९२	४	सवकर्म	शवकर्म
५९४	२१	होते हैं १	होते हैं १ सम्वत्सरसे आगे वायुलोकको प्राप्त होनेके वर्णनमें सू० २ अधि० २
६०१	१७	कार्य है हिरण्यगर्भ	कार्यरूप हिरण्यगर्भ
६०३	१५	जैसा संकल्प करना चाहिये वा चित्तका भाव रहता है	जैसा संकल्प वा चित्तका भाव रहता है रहता है अर्थात् जैसा पुरुष संकल्प करता है वा जैसा पुरुषके चित्तका भाव रहता है
६०४	१६व१७	आत्मको उपासकौंकी	आत्माके उपासकौंकी
६०७	८	उत्तराचेदाविर्भूत	उत्तराच्चेदाविर्भूत
६०७	२०	समबंधसे	सवबंधसे
६०८	१७	यह श्रुतिसे	सह श्रुति (सहशब्दसे ब्रह्म के साथ सवकाम व आनन्द भोग कहनेवाली श्रुति)
६१०	१९	अंगीकारनेका	अङ्गीकारकरनेका

वेदान्तदर्शन—शुद्धिपत्र

	पंक्तिः	अशुद्धम् ।	शुद्धम्
३	१४,१५ व १६	जब मुक्त शरीरसहित होनेका संकल्प करताहै तब शरीररहित होता है जब शरीररहित होनेका सङ्कल्प करता है तब शरीर युक्त होता है	जब मुक्त शरीरसहित होनेका सङ्कल्प करता है तब शरीर युक्त होता है जब शरीर रहित होनेका संकल्प करता है तब शरीर रहित होता है
६१३	२६	सशरीर अशरीर होनेसे	सशरीर अशरीर होना
६२०	२२	मुक्तसे	मुक्तका
६२५	९	वह सम्पूर्ण इसप्रकारसे	वह सम्पूर्ण आयु इसप्रकारसे